आचार-शास्त्र पर लिखी गई अधिकांश पुस्तकों
ां पाश्चात्य परंपरा को एकांगी महत्व मिला है।
भारतीय परंपरा के तथ्यों का इनमें नितान्त संक्षिप्त
अथवा सतही विवरण रहता है। डा० सागरमल
जैन ने आचार-दर्शन पर जैन, बौद्ध और गीता की
सामग्री का जैसा समग्र और सर्वांगीण अध्ययन
प्रस्तुत किया है, वह सराहनीय है। वैदिक, जैन
और बौद्ध विचारणाओं की प्रस्तुति, समुचित
पृष्ठभूमि और ऐतिहासिक विकासक्रम में होने के
कारण, उनके सही स्वरूप को समझने में सहायक है।
जिस ईमानदारी और वैज्ञानिक निष्पक्षता के साथ
डा० जैन ने तुलनात्मक विवेचन किया है उससे
उनकी यह कृति धर्म, दर्शन और संस्कृति के
क्षेत्रों में लेखकों और शोधकर्ताओं के लिये
अनुकरणीय पदचिह्न बनेगी।

प्रोफेसर लल्लनजी गोपाल
एम. ए., डी. फिल. (इलाहाबाद), पी एच. डी (लन्दन)
प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व
संकाय प्रमुख, कला संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५

प्राकृत भारती प्रकाशन : २० :

जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन

भाग २

(व्यावहारिक पक्ष)

लेखक
डा० सागरमल जैन
निदेशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी
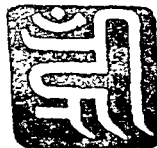
राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

प्रकाशक

राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर (राजस्थान)

प्राप्तिस्थान

१. नरेन्द्रकुमार सागरमल सराफा, शाजापुर (म० प्र०)

२. मोतीलाल बनारसीदास, चौक वाराणसी–१

३. पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान, आई० टी० आई० रोड, वाराणसी-५

४. राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, यति श्यामलालजी का उपाश्रय, मोतीसिंह भोमियों का रास्ता, जयपुर–३०२००२

प्रकाशन वर्ष

सन् १९८२

वीर निर्वाण सं० २५०९

मूल्य : सत्तर रुपये

Rs. 70.00

मुद्रक

बाबूलाल जैन फागुल्ल

महावीर प्रेस,

भेलूपुर, वाराणसी–५

सौहार्द्र, सौजन्य एवं संयम

की

प्रतिमूर्ति

परम सारस्वत

डॉ० चन्द्रप्रकाश ब्रह्मो

के

पावन कर कमलों

में

सादर सविनय

समर्पित

प्रकाशकीय

प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, (राजस्थान) के द्वारा 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, द्वितीय भाग (व्यवहार-पक्ष)' नामक पुस्तक प्रकाशित करते हुए हमें अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

आज के युग में जिस सामाजिक चेतना, सहिष्णुता और सह-अस्तित्व की आवश्यकता है, उसके लिए धर्मों का समन्वयात्मक दृष्टि से निष्पक्ष तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है, ताकि धर्मों के बीच बढ़ती हुई खाई को पाटा जा सके और प्रत्येक धर्म के वास्तविक स्वरूप का बोध हो सके। इस दृष्टिविन्दु को लक्ष्य में रखकर पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के निदेशक एवं भारतीय धर्म-दर्शन के प्रमुख विद्वान् डा० सागरमल जैन ने जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों पर एक वृहद्काय शोध-प्रवन्ध आज से लगभग [१५ वर्ष पूर्व लिखा था। उसी के व्यावहारिक पक्ष से सम्बन्धित अध्यायों से प्रस्तुत ग्रन्थ की सामग्री का प्रणयन किया गया है। इस भाग में समत्वयोग, त्रिविध साधना मार्ग, सामाजिक नैतिकता, गृहस्थ धर्म, श्रमण धर्म, आध्यात्मिक विकास यात्रा आदि विषयों पर विद्वान् लेखक ने तुलनात्मक दृष्टि से विस्तार से विचार किया है। लेखक की दृष्टि निष्पक्ष, उदार, संतुलित एवं समन्वयात्मक है। आशा है विद्वत्जन उनके इस व्यापक अध्ययन से लाभान्वित होंगे।

प्राकृत भारती द्वारा इसके पूर्व भी भारतीय धर्म, आचारशास्त्र एवं प्राकृत भाषा के १९ ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है, उसी क्रम में यह उसका २०वाँ प्रकाशन है। इसके प्रकाशन में हमें विभिन्न लोगों का विविध रूपों में जो सहयोग मिला है उसके लिए हम उन सबके आभारी हैं। महावीर प्रेस, भेलूपुर ने इसके मुद्रण कार्य को सुन्दर एवं कलापूर्ण ढंग से पूर्ण किया, एतदर्थ हम उनके भी आभारी हैं।

देवेन्द्रराज मेहता — सचिव
विनयसागर — संयुक्त सचिव

प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर (राजस्थान)

पुरोवाक्

युगों से मानव मस्तिष्क इस प्रश्न का समाधान खोजता रहा है कि उसके जीवन का परम श्रेय क्या है ? मानवीय चिन्तन ने इस सन्दर्भ में जो-जो उत्तर सुझाये उन्हीं से समग्र पूर्व एवं पश्चिम के आचार दर्शनों का निर्माण हुआ है। किन्तु देश, काल, परिस्थिति एवं व्यक्तिगत विभिन्नताओं के कारण जो भिन्न-भिन्न उत्तर मानव मस्तिष्क में प्रकटित हुए, उनसे अलग-अलग आचार दर्शनों का जन्म हुआ। आचार के सम्बन्ध में इन विभिन्न दृष्टिकोणों की उपस्थिति ने चिन्तनशील मानव मस्तिष्क के सामने एक नयी समस्या प्रस्तुत की कि आचार सम्बन्धी इन विभिन्न विचार परम्पराओं में सत्य के अधिक निकट कौन है ? फलस्वरूप उन सबका सुव्यवस्थित रूप में तुलनात्मक और समालोचनात्मक अध्ययन आवश्यक हुआ ताकि उनके गुण-दोषों की समीक्षा की जा सके और मानवीय जीवन-प्रणाली की दृष्टि से उनका समुचित मूल्यांकन किया जा सके।

भारत में तुलनात्मक अध्ययन की स्थिति

पाश्चात्य नैतिक विचारणाओं के सन्दर्भ में ऐसा प्रयास बहुत पहले से होता रहा है और वर्तमान युग तक वह काफी व्यवस्थित और विकसित हो गया है। लेकिन जहाँ तक भारतीय नैतिक विचार परम्परा का प्रश्न है, यह पारस्परिक तुलनात्मक और समीक्षात्मक अध्ययन अधिक गहराई से नहीं हो पाया है। जो कुछ थोड़ा-बहुत हुआ वह मात्र दार्शनिक आलोचनाओं अथवा पारस्परिक छीटाकशी की दृष्टि से हुआ। प्रत्येक नैतिक परम्परा की आलोचना अपनी श्रेष्ठता के प्रतिपादन एवं विपक्ष की हीनता के प्रदर्शन के निमित्त की गयी, जिसमें वास्तविकता को समझने का प्रयास नहीं होकर मात्र मताग्रह और दुराग्रह ही अधिक था। इसी कारण कभी-कभी अपने विपक्ष के सिद्धान्त को इतने भ्रान्तरूप में प्रस्तुत किया गया कि जो उसकी सैद्धान्तिक मान्यताओं से फलित ही नहीं होता है। सिद्धान्तों की मूलात्मा को समझने का प्रयास ही नहीं किया गया वरन् उसके बाह्य कलेवर का हीनतापूर्ण विश्लेषण मात्र किया गया। जैनागम सूत्रकृतांग में बौद्ध दृष्टिकोण को और बौद्धागम अंगुत्तरनिकाय एवं मज्झिमनिकाय में जैन दृष्टिकोण को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है वह इस बात का पर्याप्त प्रमाण है। यह तो हमारा सबसे बड़ा दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि साम्प्रदायिक व्यामोह के कारण हमने विभिन्न साम्प्रदायिक नैतिक-मान्यताओं के मध्य रही हुई एकरूपता को प्रकट करने का कभी प्रयास ही नहीं किया। संगीत सब वही गा रहे थे फिर भी अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग था जो सब मिलकर इतना बेसुरा हो गया था कि सामान्य एवं विद्वत्-

जन संगीत के उस सम-स्वर को मधुरता का रसास्वादन नहीं कर सके। कृष्ण, बुद्ध और महावीर आदि महापुरुषों एवं भारतीय ऋषि-महर्षियों के नैतिक उपदेशों की वह पवित्र धरोहर जिसे उन्होंने अपनी बौद्धिक प्रतिभा एवं सतत साधना के अनुभवों से प्राप्त किया था, जो मानव जाति के लिए चिर-सौख्य एवं शाश्वत् शांति का संदेश लेकर अवतरित हुई थी, मानव उसका सही मूल्यांकन नहीं कर सका। मानव ने यद्यपि उनके इस महान् वरदान को धर्मवाणी या भगवद्वाणी के रूप में श्रद्धा से देखा, उसकी पूजा प्रतिष्ठा की, उसे सुनहले वस्त्रों में आवद्ध कर भव्य मंदिरों और मठों में सुरक्षित रखा। कुछ ने श्रद्धावश उसका नित्य पाठ किया लेकिन हरिभद्रसूरी और गांधी जैसे विरले ही थे, जिन्होंने उसके समस्वरों को सुना, उसके मर्म तक पहुँचने की कोशिश की और उसकी एकरूपता का दर्शन कर, उसे जीवन में उतारा। किन्तु अधिकांश ने उसे साम्प्रदायिकता का जामा पहनाया और परिणाम यह हुआ कि मानव जाति के प्रति दिये गये वे सार्वभौम नैतिक संदेश एक संकुचित क्षेत्र में आवद्ध हो गये। साथ ही अपने विचारों के श्रेष्ठत्व के प्रतिपादन के व्यामोह में उस पर ऐसी सांप्रदायिक व्याख्याएँ लिखी गयीं जिनके परिणामस्वरूप विशेष आचार के नियम इतने उभर आये कि उनमें नैतिकता की मूलात्मा पूर्णतया दब सी गई।

सद्भाग्य से पाश्चात्य विचार परम्परा की जिज्ञासु वृत्ति के कारण वर्तमान युग में असाम्प्रदायिक आधारों पर भारतीय धर्मों का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। यह प्रयास भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों प्रकार के विद्वानों द्वारा किया गया। जिन पाश्चात्य विचारकों ने भारतीय आचार दर्शन का समग्ररूप में तुलनात्मक और समालोचनात्मक अध्ययन किया उनमें मेकेन्जी और हापकिन्स प्रमुख हैं। मेकेन्जी ने 'हिन्दू एथिक्स' तथा हापकिन्स ने 'दि एथिक्स आफ इण्डिया' नामक ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थकारों के दृष्टिकोण में भारतीय सम्प्रदायों के साम्प्रदायिक व्यामोह का तो अभाव था लेकिन एक दूसरे प्रकार का व्यामोह था, और वह था ईसाई धर्म एवं पाश्चात्य विचार परम्परा की श्रेष्ठता का। दूसरे उपरोक्त विचारक भारतीय आचार परम्परा के स्रोत ग्रन्थों के इतने निकट नहीं थे, जितना उनका अध्येता एक भारतीय हो सकता था।

जिन भारतीय विचारकों ने इस सन्दर्भ में लिखा उनमें श्री शिव स्वामी अय्यर का 'दि इव्होल्यूशन आफ हिन्दू मारल आइडियल्स' नामक व्याख्यान ग्रंथ है, जिसमें भारतीय नैतिक चिन्तना के आचार नियमों का सामान्य रूप में विवेचन है, किन्तु जैन और बौद्ध दृष्टिकोणों का इसमें अभाव-सा ही है। भारतीय आचार दर्शन के अन्य ग्रन्थों में सुश्री सूरमादास गुप्ता का 'दि डेव्हलपमेन्ट आफ मारल फिलासफी इन इण्डिया' नामक शोध प्रबन्ध उल्लेखनीय है। इसमें विभिन्न दर्शनों के नैतिक सिद्धान्तों का विवरणात्मक संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण है। लेखिका की दृष्टि में समालोचनात्मक और तुलनात्मक

विवेचन अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं रहा है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथ श्री सुशीलकुमार मैत्रा का 'एथिक्स आफ दि हिन्दूज' है; इस ग्रंथ में विवेचन शैली की काफी नवीनता है और तुलनात्मक और समालोचनात्मक दृष्टिकोण का निर्वाह भी सन्तोषप्रद रूप में हुआ है। आदरणीय तिलकजी का गीता रहस्य यद्यपि गीता पर एक टीका है लेकिन उसके पूर्व भाग में उन्होंने भारतीय नैतिकता की जो व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं वे वस्तुतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश से प्रकाशित पद्मभूषण डॉ० भीखनलालजी आत्रेय का 'भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास' नामक विशालकाय ग्रंथ भी इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास माना जा सकता है, यद्यपि इसमें भी विद्वान् लेखक ने तुलनात्मक एवं समालोचनात्मक दृष्टि एवं सैद्धान्तिक विवेचना को अधिक महत्त्व नहीं दिया है। ग्रंथ के अधिकांश भाग में विभिन्न भारतीय विचारकों के नैतिक उपदेशों का संकलन है, फिर भी ग्रन्थ के अन्तिम भाग में विद्वान् लेखक द्वारा जो कुछ लिखा गया है वह युगीन सन्दर्भ मे भारतीय नैतिकता को समझने का एक महत्त्वपूर्ण साधन अवश्य है। इसी प्रकार लन्दन से प्रकाशित (१९६५) श्री ईश्वरचन्द्र का 'इथिकल फिलासफी आफ इण्डिया' नामक ग्रन्थ भी भारतीय नीतिशास्त्र के अध्ययन का एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जा सकता है। लेकिन उपरोक्त दोनों ग्रन्थोंमें भी तुलनात्मक दृष्टि का अधिक विकास नहीं देखा जाता है। जहाँ तक जैनाचार के विवेचन का प्रश्न है उसे इन समस्त ग्रंथों में सामान्यतया १५-२० पृष्ठों से अधिक का स्थान उपलब्ध होना सम्भव ही नहीं था। दूसरे जैन आचारदर्शन और बौद्ध आचारदर्शन में निहित समानताओं की चर्चा तो शायद ही कभी उठी हो। इसी प्रकार गीता की नैतिक मान्यताओं का जैन और बौद्ध परम्परा से कितना साम्य है यह विषय भी अछूता ही रहा है।

जहां तक जैन आचार दर्शन के स्वतंत्र एवं व्यापक अध्ययन का प्रश्न है कुछ प्रारम्भिक प्रयासों को छोड़कर यह क्षेत्र भी अछूता ही रहा है। जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा पर आदरणीय सातकाडी मुकर्जी, डॉ० टाटिया, डा० पद्मराजे, डा० हरिसत्य भट्टाचार्य के ग्रन्थ उपलब्ध हैं। जैन मनोविज्ञान पर भी डा० मोहनलाल मेहता और डा० कलघाटगी के ग्रन्थ उपलब्ध हैं। जबकि जैन आचार दर्शन पर स्वतंत्र प से किसी भी ग्रन्थ का अभाव ही था, यद्यपि डा० शान्ताराम भालचन्द्र देव का न मुनियों के आचार पर एक विशाल-काय शोध प्रबन्ध अवश्य उपलब्ध था, लेकिन समें भी आचार दर्शन की सैद्धान्तिक समीक्षाओं का अभाव ही है। संयोग से जब कि ह प्रबन्ध अपनी पूर्णता की ओर था तब ही डा० मेहता का 'जैन आचार' नामक न्थ भी प्रकाश में आया, यद्यपि इसमें भी आचार दर्शन की सैद्धान्तिक समस्याओं पर विशेष विचार नहीं हुआ है। ग्रन्थकार ने अपने को आचार के सामान्य नियमों की विवेचना तक ही सीमित रखा है। यद्यपि यह प्रसन्नता का विषय है कि इस प्रबन्ध के अन्तिम टंकण के पूर्व ही डॉ० सोगानी का 'एथिकल डाक्ट्रिन इन जैनिज्म (१९६७)', एवं

जन संगीत के उस सम-स्वर की मधुरता का रसास्वादन नहीं कर सके। कृष्ण, बुद्ध और महावीर आदि महापुरुषों एवं भारतीय ऋषि-महर्षियों के नैतिक उपदेशों की वह पवित्र धरोहर जिसे उन्होंने अपनी बौद्धिक प्रतिभा एवं सतत साधना के अनुभवों से प्राप्त किया था, जो मानव जाति के लिए चिर-सौख्य एवं शाश्वत् शांति का संदेश लेकर अवतरित हुई थी, मानव उसका सही मूल्यांकन नहीं कर सका। मानव ने यद्यपि उनके इस महान् वरदान को धर्मवाणी या भगवद्वाणी के रूप में श्रद्धा से देखा, उसकी पूजा प्रतिष्ठा की, उसे सुनहले वस्त्रों में आबद्ध कर भव्य मंदिरों और मठों में सुरक्षित रखा। कुछ ने श्रद्धावश उसका नित्य पाठ किया लेकिन हरिभद्रसूरी और गांधी जैसे विरले ही थे, जिन्होंने उसके समस्वरों को सुना, उसके मर्म तक पहुँचने की कोशिश की और उसकी एकरूपता का दर्शन कर, उसे जीवन में उतारा। किन्तु अधिकांश ने उसे साम्प्रदायिकता का जामा पहनाया और परिणाम यह हुआ कि मानव जाति के प्रति दिये गये वे सार्वभौम नैतिक संदेश एक संकुचित क्षेत्र में आबद्ध हो गये। साथ ही अपने विचारों के श्रेष्ठत्व के प्रतिपादन के व्यामोह में उस पर ऐसी सांप्रदायिक व्याख्याएँ लिखी गयीं जिनके परिणामस्वरूप विशेष आचार के नियम इतने उभर आये कि उनमें नैतिकता की मूलात्मा पूर्णतया दब सी गई।

सद्भाग्य से पाश्चात्य विचार परम्परा की जिज्ञासु वृत्ति के कारण वर्तमान युग में असाम्प्रदायिक आधारों पर भारतीय धर्मों का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। यह प्रयास भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों प्रकार के विद्वानों द्वारा किया गया। जिन पाश्चात्य विचारकों ने भारतीय आचार दर्शन का समग्ररूप में तुलनात्मक और समालोचनात्मक अध्ययन किया उनमें मेकेन्जी और हापकिन्स प्रमुख हैं। मेकेन्जी ने 'हिन्दू एथिक्स' तथा हापकिन्स ने 'दि एथिक्स आफ इण्डिया' नामक ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थकारों के दृष्टिकोण में भारतीय सम्प्रदायों के साम्प्रदायिक व्यामोह का तो अभाव था लेकिन एक दूसरे प्रकार का व्यामोह था, और वह था ईसाई धर्म एवं पाश्चात्य विचार परम्परा की श्रेष्ठता का। दूसरे उपरोक्त विचारक भारतीय आचार परम्परा के स्रोत ग्रन्थों के इतने निकट नहीं थे, जितना उनका अध्येता एक भारतीय हो सकता था।

जिन भारतीय विचारकों ने इस सन्दर्भ में लिखा उनमें श्री शिव स्वामी अय्यर का 'दि इव्होल्यूशन आफ हिन्दू मारल आइडियल्स' नामक व्याख्यान ग्रंथ है, जिसमें भारतीय नैतिक चिन्तना के आचार नियमों का सामान्य रूप में विवेचन है, किन्तु जैन और बौद्ध दृष्टिकोणों का इसमें अभाव-सा ही है। भारतीय आचार दर्शन के अन्य ग्रन्थों में सुश्री सूरमादास गुप्ता का 'दि डेव्हलपमेन्ट आफ मारल फिलासफी इन इण्डिया' नामक शोध प्रबन्ध उल्लेखनीय है। इसमें विभिन्न दर्शनों के नैतिक सिद्धान्तों का विवरणात्मक संक्षिप्त प्रस्तुतीकरण है। लेखिका की दृष्टि में समालोचनात्मक और तुलनात्मक

विवेचन अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं रहा है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथ श्री सुशीलकुमार मैत्रा का 'एथिक्स आफ दि हिन्दूज' है; इस ग्रंथ में विवेचन शैली की काफी नवीनता है और तुलनात्मक और समालोचनात्मक दृष्टिकोण का निर्वाह भी सन्तोषप्रद रूप में हुआ है। आदरणीय तिलकजी का गीता रहस्य यद्यपि गीता पर एक टीका है लेकिन उसके पूर्व भाग में उन्होंने भारतीय नैतिकता की जो व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं वे वस्तुतः सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश से प्रकाशित पद्मभूषण डॉ० भीखनलालजी आत्रेय का 'भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास' नामक विशालकाय ग्रंथ भी इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास माना जा सकता है, यद्यपि इसमें भी विद्वान् लेखक ने तुलनात्मक एवं समालोचनात्मक दृष्टि एवं सैद्धान्तिक विवेचना को अधिक महत्त्व नहीं दिया है। ग्रंथ के अधिकांश भाग में विभिन्न भारतीय विचारकों के नैतिक उपदेशों का संकलन है, फिर भी ग्रन्थ के अन्तिम भाग में विद्वान् लेखक द्वारा जो कुछ लिखा गया है वह युगीन सन्दर्भ में भारतीय नैतिकता को समझने का एक महत्त्वपूर्ण साधन अवश्य है। इसी प्रकार लन्दन से प्रकाशित (१९६५) श्री ईश्वरचन्द्र का 'इथिकल फिलासफी आफ इण्डिया' नामक ग्रन्थ भी भारतीय नीतिशास्त्र के अध्ययन का एक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जा सकता है। लेकिन उपरोक्त दोनों ग्रन्थोंमें भी तुलनात्मक दृष्टि का अधिक विकास नहीं देखा जाता है। जहाँ तक जैनाचार के विवेचन का प्रश्न है उसे इन समस्त ग्रंथों में सामान्यतया १५-२० पृष्ठों से अधिक का स्थान उपलब्ध होना सम्भव ही नहीं था। दूसरे जैन आचारदर्शन और बौद्ध आचारदर्शन में निहित समानताओं की चर्चा तो शायद ही कभी उठी हो। इसी प्रकार गीता की नैतिक मान्यताओं का जैन और बौद्ध परम्परा से कितना साम्य है यह विषय भी अछूता ही रहा है।

जहां तक जैन आचार दर्शन के स्वतंत्र एवं व्यापक अध्ययन का प्रश्न है कुछ प्रारम्भिक प्रयासों को छोड़कर यह क्षेत्र भी अछूता ही रहा है। जैन दर्शन की तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा पर आदरणीय सातकाडी मुकर्जी, डॉ० टाटिया, डा० पद्मराजे, डा० हरिसत्य भट्टाचार्य के ग्रन्थ उपलब्ध हैं। जैन मनोविज्ञान पर भी डा० मोहनलाल मेहता और डा० कलघाटगी के ग्रन्थ उपलब्ध हैं। जबकि जैन आचार दर्शन पर स्वतंत्र रूप से किसी भी ग्रन्थ का अभाव ही था, यद्यपि डा० शान्ताराम भालचन्द्र देव का जैन मुनियों के आचार पर एक विशाल-काय शोध प्रबन्ध अवश्य उपलब्ध था, लेकिन उसमें भी आचार दर्शन की सैद्धान्तिक समीक्षाओं का अभाव ही है। संयोग से जब कि यह प्रबन्ध अपनी पूर्णता की ओर था तब ही डा० मेहता का 'जैन आचार' नामक ग्रन्थ भी प्रकाश में आया, यद्यपि इसमें भी आचार दर्शन की सैद्धान्तिक समस्याओं पर विशेष विचार नहीं हुआ है। ग्रन्थकार ने अपने को आचार के सामान्य नियमों की विवेचना तक ही सीमित रखा है। यद्यपि यह प्रसन्नता का विषय है कि इस प्रबन्ध के अन्तिम टंकण के पूर्व ही डॉ० सोगानी का 'एथिकल डाक्ट्रिन इन जैनिज्म (१९६७)', एवं

डा० भार्गव का 'जैन एथिक्स' (१९६८) नामक शोध प्रवन्ध प्रकाशित हो गये हैं। यद्यपि उनमें भी नैतिकता की सैद्धान्तिक समस्याओं पर विस्तृत रूप से कोई विवेचन उपलव्ध नहीं होता है। साथ ही तुलनात्मक दृष्टि से भी कुछ विशेप विचार उपलव्ध नहीं होते, जो कुछ तुलना हुई है वह अधिकांश रूप से तात्त्विक प्रश्नों के सन्दर्भ में ही है, तुलनात्मक समीक्षा का तो अभाव ही है। विद्वान् लेखकों ने तुलना की दृष्टि से केवल दिशा संकेत मात्र ही दिये हैं। पाश्चात्य आचार दर्शन की अधिकांश नैतिक समस्याओं का इन ग्रन्थों में कोई विशेप विवेचन उपलव्ध नहीं है। फिर भी ये ग्रन्थ जैन आचार दर्शन के क्षेत्र में अभी तक जो शोध साहित्य का अभाव था उसकी पूर्ति अवश्य करते हैं।

दूसरी महत्त्वपूर्ण वात यह है कि पाश्चात्य विचारणा में नैतिक प्रमापक के प्रश्न को लेकर जिस ढंग से विभिन्न नैतिक धारणाओं का विकास हुआ है उसी ढंग पर हमारे यहां की नैतिक धारणाओं का अध्ययन नहीं हुआ है, मात्र श्री सुशील कुमार मैत्रा ने अपने ग्रन्थ के परिशिष्ट में इस ढंग से एक प्रयास अवश्य किया है। इस प्रकार तुलनात्मक एवं समन्वयात्मक परिप्रेक्ष्य में भारतीय आचार दर्शनों के अध्ययन की आवश्यकता अभी भी बनी हुई है। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी दिशा में एक प्रयास है।

समन्वयात्मक परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक की आवश्यकता

भारतीय चिन्तकों ने जीवन के विभिन्न पहलुओं को काफी सूक्ष्म दृष्टि से परखा है। पाश्चात्य परम्परा के विभिन्न नैतिक सिद्धान्त जो आज अपनी मौलिकता का दावा करते हैं भारतीय नैतिक चिन्तन में बिखरे हुए पड़े हैं। आवश्यकता इस बात की नहीं है कि किसी नये नैतिक सिद्धान्त की स्थापना की जाय। वरन् आवश्यकता यह है कि, इन बिखरे हुए विचारकणों को एकत्रित कर समन्वित रूप में प्रस्तुत किया जाय, जिससे वर्तमान मानव, आचरण के क्षेत्र में सम्यक् दिशा निर्देश प्राप्त कर सके। इस प्रकार समन्वयात्मक दृष्टि से भारतीय आचार दर्शनों का पारस्परिक तुलनात्मक अध्ययन और पाश्चात्य समीक्षात्मक प्रणाली के आधार पर उनका निष्पक्ष समालोचन अपेक्षित है। प्रौढ़ अध्ययन की दृष्टि से अभी तक यह क्षेत्र उपेक्षित ही रहा है। प्रस्तुत गवेषणा में हमने इस दिशा में यथाशक्य प्रयास करने का प्रयत्न किया है। प्रस्तुत प्रबन्ध में जैन आचार दर्शन के अध्ययन के साथ-साथ उसकी निकटवर्ती दो आचार प्रणालियों से तुलना करने का भी यथासम्भव प्रयास किया गया है।

वस्तुतः समन्वयात्मक भूमिका ही एक ऐसी भूमिका है जो सत्य के अधिक निकट हो सकती है। एक अध्येता जिस सत्य को पाना चाहता है वह उसे किसी वाद विशेप के आग्रह में नहीं मिल सकता है। सत्य अपने अधिक पूर्ण रूप में आग्रह में नहीं, अनाग्रह में प्रकट होता, विरोध में नहीं, समन्वय में प्रकट होता है। जैन दार्शनिक कहते हैं विभिन्न दृष्टिकोण, जो अपने अलग-अलग रूपों में असत्य (मिथ्या) कहे जाते हैं वे

ही समन्वित होने पर सत्य हो जाते हैं।[1] एकांगी विचार कण जब समन्वय के सूत्र में ग्रथित हो जाते हैं तो सत्य का प्रकटन कर देते हैं। अपने-अपने पक्ष में ही प्रतिबद्ध सभी दृष्टिकोण असम्यक् (असत्य) होते हैं परन्तु परस्पर सापेक्ष होकर समन्वित रूप में वे ही सम्यक् (सत्य) बन जाते हैं।[2] वर्तमान युग में अध्ययन की जिस दिशा की आवश्यकता है, उसे इस समन्वयात्मक भूमिका पर आरूढ़ होना चाहिए और यह कार्य उस तुलनात्मक अध्ययन प्रणाली के द्वारा ही सम्भव हो सकता है जो निष्पक्ष एवं समन्वयात्मक दृष्टि को आगे रखकर इस क्षेत्र में प्रविष्ट होती है।

प्रस्तुत गवेषणा की अध्ययन दृष्टि

प्रस्तुत गवेषणा में तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से हमने जिस दृष्टिकोण को अपनाया है, उसे अधिक स्पष्ट कर देना आवश्यक है। तुलनात्मक अध्ययन का एक रूप वह होता है जिसमें प्रतिपक्ष की असंगतियों को स्पष्ट किया जाता है, पक्ष से उसकी भिन्नता प्रकट की जाती है और अन्त में पक्ष की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया जाता है। तुलनात्मक अध्ययन का दूसरा स्वरूप वह है जिसमें तुलनीय परम्पराओं में निहित साम्य को प्रकट किया जाता है और पारस्परिक विरोध में भी निहित समन्वय के सूत्र खोजने का प्रयास किया जाता है। प्रस्तुत गवेषणा में हमने मुख्यतया इस दूसरे रूप को ही अपनाया है।

हमारे इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपनाने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि तुलनीय आचार दर्शनों में भिन्नता या विरोध के सूत्र नहीं हैं। वास्तविकता यह है कि परस्पर विरोध खोजने और प्रतिपक्ष की असंगतियों का निर्देशन करने के प्रयास तो बहुत हुए हैं। स्वपक्ष के मण्डन और परपक्ष के खण्डन में हमारे पूर्वज विद्वानों ने बहुत ही शक्ति एवं श्रम का व्यय किया है, पारस्परिक विरोध और असंगतियों को स्पष्ट करने के लिए हमारे पास विपुल साहित्य है चाहे वह संस्कृत भाषा में ही क्यों न हो। लेकिन समन्वय की भूमिका को तैयार करने के लिए कुछ भी नहीं किया गया है, संस्कृत भाषा में भी हरिभद्र के 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' जैसे एकाध अपवाद छोड़कर ऐसे साहित्य का अभाव ही है। अतः यह आवश्यक है कि समन्वयात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन करने की परम्परा को अपनाकर उनमें परिलक्षित होने वाली एकता को प्रकट किया जाय ताकि मानव जाति के टूटे हुए सूत्रों को पुनः जोड़ा जा सके और विभिन्न परम्पराओं को एक दूसरे के निकट लाया जा सके।

सम्भवतः विद्वत् वर्ग का यह आक्षेप हो सकता है कि परस्पर भिन्न दार्शनिक भित्तियों पर खड़े इन आचार दर्शनों में निहित विरोध की उपेक्षा कर उनके साम्य पर बल देना एक प्रकार का पूर्वाग्रह ही कहा जायेगा, जबकि शोध विद्यार्थी का

---

१. विशेषावश्यक भाष्य-९५४। २. सन्मतितर्क प्रकरण १।१२।

कार्य तो यह है कि विना किसी पूर्वाग्रह के तुलनात्मक अध्ययन में, विरोध या साम्य जो भी उसे मिले, प्रकट कर दे। विरोध की उपेक्षा कर साम्य पर बल देने में मेरा कोई पूर्वाग्रह नहीं है। प्रश्न पूर्वाग्रह का नहीं, अध्ययन की दृष्टि के चयन का है। हम तो मात्र यही चाहते हैं कि विरोधों और विभिन्नताओं में भी साम्यता के जो सूत्र रहे हुए हैं, उन्हें प्रस्तुत अध्ययन के द्वारा प्रकट कर दिया जावे। हमने विरोधों की उपेक्षा कर साम्य को अभिप्रकट करने के लिए जो समन्वयात्मक प्रयास प्रस्तुत गवेषणा में किया है, उसका कारण पूर्वाग्रह नहीं वरन् हमारे अध्ययन की दिशा का निर्धारण है।

जैसा कि हम पूर्व में बता चुके हैं हमारे समन्वयात्मक दृष्टि से किये गये इस तुलनात्मक अध्ययन का प्रमुख दृष्टिकोण, जैन आचार दर्शन की, गीता और बौद्ध आचार दर्शन से जो सन्निकटता और साम्यता है, उसे अभिव्यक्त करना है। अध्ययन की इस समन्वयात्मक दृष्टि के कारण ही प्रतिलक्षित होने वाले मूलभूत दार्शनिक विरोध विवेचना की दृष्टि से उपेक्षित से रहे हैं। यद्यपि समालोच्य परम्पराओं में दर्शनिक दृष्टि-भेद हैं, फिर भी उन विभिन्न आधारों पर निकाले गये नैतिक निष्कर्ष इतने समान हैं कि वे अध्येता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किये विना रहते हैं। यही कारण था कि समन्वयात्मक दृष्टि से अध्ययन करने के लिए हमने इनकी तत्त्वमीमांसा के स्थान पर आचारमीमांसा का चयन किया है। क्योंकि यह एक ऐसा पक्ष है जहाँ तीनों धाराएँ एक दूसरे से मिलकर उस पवित्र त्रिवेणी संगम का निर्माण करती हैं जिसमें अवगाहन कर आज भी मानव जाति अपने चिर-संतापों से परिनिवृत हो शान्ति-लाभ कर सकती है।

अध्ययन दृष्टि के सम्बन्ध में एक बात और भी कह देना आवश्यक है वह यह कि समग्र अध्ययन में जैन आचार दर्शन को मुख्य भूमिका में एवं गीता और बौद्ध आचार दर्शन को परिपार्श्व में रखा गया है। अतः यह स्वाभाविक है कि बौद्ध एवं गीता के आचार दर्शन का विवेचन उतनी गहराई और विस्तार से न हो पाया है जितनी कि उनके बारे में स्वतन्त्र अध्ययन की दृष्टि से अपेक्षा की जा सकती है। लेकिन इसका कारण भी हमारी उपेक्षावृत्ति नहीं होकर अध्ययन की दृष्टि ही है।

अध्ययन के विषय के चयन के सम्बन्ध में

सम्भवतः यह प्रश्न उठता है कि तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों को ही क्यों चुना गया? इस चयन के पीछे मुख्य दृष्टिकोण यह है कि भारत के सांस्कृतिक परिवेश के निर्माण में जिन परम्पराओं का मौलिक योगदान रहा हो तथा जो आज भी जीवन्त परम्पराओं के रूप में भारतीय एवं अन्य देशों के जन-जीवन पर अपना प्रभाव बनाये हुए हैं, उन्हें ही अध्ययन का विषय बनाया जाय। ताकि तुलनात्मक अध्ययन के माध्यम से उनकी आचार-निष्ठ एकरूपता को अभिव्यक्त किया

जा सके, जो उन्हें एक दूसरे के निकट लाने में सहायक हो। प्राचीन काल की निवृत्ति प्रधान श्रमण और प्रवृत्ति प्रधान वैदिक परम्पराएँ ही भारतीय सांस्कृतिक परिवेश का निर्माण करने वाली प्रमुख परम्पराएँ हैं। इन दोनों के पारस्परिक प्रभाव एवं समन्वय से ही वर्तमान भारतीय संस्कृति का विकास हुआ है। इनके पारस्परिक समन्वय ने निम्न तीन दिशाएँ ग्रहण की थी :—

१. समन्वय का एक रूप था जिसमें निवृत्ति प्रधान और प्रवृत्ति गौण थी। यह 'निवृत्यात्मक-प्रवृत्ति' का मार्ग था। जीवन्त आचार दर्शनों के रूप में इसका प्रतिनिधित्व जैन परम्परा करती है।

२. समन्वय का दूसरा रूप था जिसमें प्रवृत्ति प्रधान और निवृत्ति गौण थी। यह 'प्रवृत्यात्मक निवृत्ति' का मार्ग था, जिसका प्रतिनिधित्व गीता से प्रभावित आचार दर्शन की वर्तमान हिन्दू परम्परा करती है।

३. समन्वय का तीसरा रूप था प्रवृत्ति और निवृत्ति की अतियों से बचकर मध्यम मार्ग पर चलना ; इसका दिशा निर्देश भगवान् बुद्ध ने किया। उनके आचार दर्शन में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का समान स्थान था। उसमें परिवार के त्याग के अर्थ में निवृत्ति का स्थान था तो सामाजिक कल्याण के अर्थ में प्रवृत्ति का। साथ ही मध्यम मार्ग के रूप में संन्यास की सारी कठोरता समाप्त हो गयी थी।

वस्तुतः उपरोक्त तीनों विचारणाएँ अपने समन्वित रूप में समग्र भारतीय आचार परम्परा की पृष्ठभूमि तैयार करती हैं। वर्तमान युग तक इनके वाह्य रूप में अनेक परिवर्तन होते रहे फिर भी इनकी पृष्ठभूमि बहुत कुछ वही बनी रही है। आज भी यह तीनों परम्पराएँ भारतीय नैतिक चिन्तन के एक पूर्ण स्वरूप का प्रतिपादन करने में समर्थ हैं। यही नहीं तीनों परम्पराएँ अपने आन्तरिक रूप में एक दूसरे के इतनी निकट हैं कि अपने अध्येता को तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने को प्रेरित कर देती हैं।

अध्ययन सामग्री एवं क्षेत्र

उपरोक्त तीनों परम्पराओं में से जैन परम्परा में आचार दर्शन की दृष्टि से भी सैद्धान्तिक रूप में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ है। यद्यपि आगमों की अपेक्षा पश्चकालीन ग्रन्थों में आचार सम्बन्धी नियमों में थोड़े-बहुत व्यावहारिक परिवर्तन अवश्य परिलक्षित होते हैं। फिर भी जैन परम्परा की यह विशिष्टता है कि इतनी लम्बी समयावधि में वह अपने मूल केन्द्र से अधिक दूर नहीं हो पायी। आज भी वह निवृत्यात्मक प्रवृत्ति के अपने मूल स्वरूप से इधर-उधर कहीं नहीं भटकी है। पश्चकालीन ग्रन्थों में भी आगम के विचारों का ही विकास देखा जाता है। अतः अध्ययन की दृष्टि से मूल आगमों के साथ-साथ परवर्ती आचार्यों के ग्रन्थों एवं दृष्टिकोणों का उपयोग भी किया गया है।

ईशावास्योपनिषद् एवं गीता की मूलभूत धारणा पर जिस हिन्दू आचार परम्परा का विकास हुआ उसमें सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दृष्टि से वर्तमान काल तक अनेक परिवर्तन हुए और परिणामस्वरूप विभिन्न मान्यताएँ बनीं जो एक दूसरे के विरोध में खड़ी रहीं। अतः प्रस्तुत गवेषणा में उन सबको सम्मिलित करना न तो उचित था, न सम्भव ही। इसलिए हिन्दू आचार परम्परा के प्रतिनिधि के रूप में गीता का चयन करना ही उचित प्रतीत हुआ, क्योंकि हिन्दू परम्परा के आधारभूत ग्रन्थों में उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं गीता की प्रस्थानत्रयी ही प्रमाण भूत है। चाहे हिन्दू परम्परा में कितने ही पारस्परिक विरोध हों, चाहे हिन्दू आचार की परिधियाँ अनेक हों फिर भी केन्द्र सबका एक ही है। सभी अपने पक्ष का समर्थन प्रस्थानत्रयी के आधार पर करने का प्रयास करते हैं। इस प्रकार गीता आज भी सभी की श्रद्धेय है और हिन्दू आचार दर्शन का प्रतिनिधित्व करने में समर्थ है। डा० राधाकृष्णन् लिखते हैं, "यह (गीता) हिन्दू धर्म के किसी एक सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व नहीं करती वरन् समग्र रूप में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करती है।[१]" अतः तुलनात्मक दृष्टि से गीता का अधिक उपयोग किया गया है फिर भी गीता के संक्षिप्त ग्रन्थ होने के कारण तुलनात्मक साम्यता को स्पष्ट करने के लिए यथावसर उपनिषदों, स्मृतिग्रन्थों तथा महाभारत का भी उपयोग किया है।

बौद्धाचार परम्परा ने जिस मध्यम मार्ग का उपदेश दिया था, वह उचित समाधान तो था, लेकिन व्यावहारिक जीवन में निवृत्ति और प्रवृत्ति के मध्य उस समतौल को बनाये रखना सहज नहीं था। परिणाम यह हुआ कि बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद वह समतौल विचलित हो गया। एक पक्ष का झुकाव निवृत्ति की ओर अधिक हुआ और वह हीनयान (छोटा वाहन) कहलाया है क्योंकि निवृत्यात्मक साधना में अधिक लोगों को लगा पाना संभव नहीं था। दूसरी ओर जो पक्ष प्रवृत्ति की ओर झुका एवं जिसने जन कल्याण के मार्ग को अपनाया, वह महायान (बड़ा वाहन) कहलाया। एक बार इस समतौल का विचलन होने के बाद बौद्ध परम्परा अपनी मध्यस्थिति को पुनः नहीं लौट पायी, वरन् विभिन्न अवान्तर सम्प्रदायों (निकायों) में विभाजित होती चली गयी। प्रस्तुत तुलनात्मक गवेषणा में बौद्ध दर्शन को उस विस्तृत समग्र रूप में समेट पाना असम्भव है। दूसरे उन निकायों की पारस्परिक दूरी इतनी अधिक है, कि तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से वे अधिक उपयोगी नहीं रह जातीं; अतः प्रस्तुत गवेषणा में बौद्ध दर्शन से तात्पर्य प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन से ही है। प्राचीन बौद्ध पालि साहित्य में वर्णित आचार परम्पराओं से आज का बौद्ध समाज चाहे कितना ही दूर क्यों नहीं हो फिर भी आचार दर्शन सम्बन्धी समस्याओं के हल खोजने में आज भी उसकी दृष्टि

१. भगवद्गीता (राधाकृष्णन्), पृ० १४।

उस ओर जाती अवश्य है । दूसरे वह साहित्य जैनाचार दर्शन सम्बन्धी प्राचीन आगम साहित्य से कालिक साम्यता भी रखता है । अतः प्रस्तुत गवेषणा में उसे ही बौद्ध परम्परा के अध्ययन का मुख्य आधार बनाया है । यद्यपि विशुद्धिमग्ग जैसे स्थविरवादी और बोधिचर्यावतार तथा लंकावतार जैसे महायानी ग्रन्थों का तुलना की दृष्टि से यथासम्भव उपयोग किया गया है ।

प्रस्तुत गवेषणा में जिन महापुरुषों, विचारकों, लेखकों, गुरुजनों एवं मित्रों का सहयोग रहा है उन सबके प्रति आभार प्रदर्शित करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ ।

सर्वप्रथम मैं उन महापुरुषों के प्रति विनयवत् हूँ जिन्होंने मानव जीवन की मूलभूत समस्याओं को गहराई से परखा और उनके निराकरण के लिए मानव को मार्ग-दर्शन प्रदान किया । कृष्ण, बुद्ध और महावीर एवं अनेकानेक ऋषि-महर्षियों के उपदेशों की यह पवित्र धरोहर, जिसे उन्होंने अपनी प्रज्ञा एवं साधना के द्वारा प्राप्त कर मानव कल्याण के लिए जन-जन में प्रसारित किया था, आज भी हमारे लिए मार्गदर्शक हैं और हम उनके प्रति श्रद्धावनत् हैं ।

लेकिन महापुरुषों के ये उपदेश, आज देववाणी संस्कृत, पालि एवं प्राकृत में जिस रूप में हमें संकलित मिलते हैं, हम इनके संकलनकर्ताओं के प्रति आभारी हैं, जिनके परिश्रम के फलस्वरूप वह पवित्र थाती सुरक्षित रहकर आज हमें उपलब्ध हो सकी है ।

सम्प्रति युग के उन प्रबुद्ध विचारकों के प्रति भी आभार प्रकट करना आवश्यक है जिन्होंने बुद्ध, महावीर और कृष्ण के मन्तव्यों को युगीन सन्दर्भ में विस्तारपूर्वक विवेचित एवं विश्लेषित किया है । इस रूप में जैन दर्शन के मर्मज्ञ पं० सुखलालजी, उपाध्याय अमरमुनि जी, मुनि नथमलजी, प्रो० दलसुखभाई मालवणिया, बौद्ध दर्शन के अधिकारी विद्वान् धर्मानन्द कौसम्बी एवं अन्य अनेक विद्वानों एवं लेखकों का भी मैं आभारी हूँ जिनके साहित्य ने मेरे चिन्तन को दिशा निर्देश दिया है ।

मैं जैन दर्शन पर शोध करने वाले डॉ० टाटिया, डॉ० पद्म राजे, डॉ० मोहन लाल मेहता, डॉ० कलघटगी एवं डॉ० कमल चन्द सोगानी एवं डॉ० दयानन्द भार्गव आदि उन सभी विद्वानों का भी आभारी हूँ जिनके शोध ग्रन्थों ने मुझे न केवल विषय और शैली के समझने में मार्गदर्शन दिया वरन् जैन ग्रन्थों के अनेक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भों को बिना प्रयास के मेरे लिए उपलब्ध भी कराया है । इसी प्रकार मैं अभिधानराजेन्द्रकोश जैसे कोश निर्माताओं और सूक्ति त्रिवेणी एवं महावीर वाणी जैसे कुछ प्रामाणिक सूक्ति संग्राहकों के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ, जिनके कारण अनेक सन्दर्भ अल्प प्रयास में ही उपलब्ध हो सके हैं । इन सबके अतिरिक्त मैं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के उन

लेखकों के प्रति भी आभारी हूँ जिनके विचारों से प्रस्तुत गवेषणा में लाभान्वित हुआ हूँ।

उन गुरुजनों के प्रति, जिनके व्यक्तिगत स्नेह, प्रोत्साहन एवं मार्गदर्शन ने मुझे इस कार्य में सहयोग दिया है, श्रद्धा प्रकट करना भी मेरा अनिवार्य कर्तव्य है। सर्वप्रथम मैं सौहार्द्र, सौजन्य एवं संयम की मूर्ति श्रद्धेय गुरुवर्य डा० सी० पी० ब्रह्मो का अत्यन्त ही अभारी हूँ जिन्होंने निर्देशक के नाम से विलग रहकर भी इस शोध के निर्देशन का सम्पूर्ण भार अपनी वृद्धावस्था में भी वहन किया है। अपने स्वास्थ्य की चिन्ता नहीं करते हुए भी उन्होंने प्रस्तुत गवेषणा के अनेक अंशों को ध्यानपूर्वक पढ़ा या सुना एवं यथावसर उसमें सुधार एवं संशोधन के लिए निर्देश भी किया। मैं नहीं समझता हूँ कि केवल शाब्दिक आभार प्रकट करने मात्र से मैं उनके प्रति अपने दायित्व से उऋण हो सकता हूँ। जिनके चरणों में बैठकर दर्शन और आचार विज्ञान का ज्ञान अर्जित कर सका और जिनकी प्रेरणा एवं जिनके सहयोग से यह महत् कार्य सम्पन्न कर सका उनके प्रति कैसे आभार प्रकट करूं यह मैं नहीं समझ पा रहा हूँ। मैं तो मात्र उनके गुरुऋण के सूद की यह अंशिका विनयवत् हो उन्हें प्रस्तुत कर रहा हूँ।

प्रस्तुत गवेषणा के निर्देशक डा० सदाशिव बनर्जी का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिनकी आत्मीयता, सहयोग एवं निर्देशन से मैं लाभान्वित हुआ हूँ और जिनका मृदु, निश्छल एवं सरल स्वभाव सदैव ही उनके प्रति मेरी श्रद्धा का केन्द्र रहा है। विद्वत्वर्य डॉ० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, देहली विश्वविद्यालय का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने प्रस्तुत शोध-कार्य के कुछ अंशों को सुनकर एवं मार्गनिर्देश देकर मुझे लाभान्वित किया है।

प्राकृत भारती संस्थान के सचिव श्री देवेन्द्रराज मेहता एवं श्री विनयसागरजी का भी मैं अत्यन्त अभारी हूँ, जिनके सहयोग से यह प्रकाशन सम्भव हो सका है। महावीर प्रेस ने जिस तत्परता और सुन्दरता से यह कार्य सम्पन्न किया है उसके लिए उनके प्रति आभार व्यक्त करना भी मेरा कर्तव्य है। मित्रवर् श्री जमनालालजी जैन ने इसकी प्रेस कापी तैयार करने में सहयोग प्रदान किया है अतः उनके प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। मैं पार्श्वनाथ विद्याश्रम परिवार के डा० हरिहर सिंह, श्री मोहन लाल जी, श्री मंगल प्रकाश मेहता तथा शोध छात्र श्री रविशंकर मिश्र, श्री अरुण कुमार सिंह, श्री भिखारी राम यादव और श्री विजयकुमार जैन का आभारी हूँ, जिनसे विविधरूपों में सहायता प्राप्त होती रही है। अन्त में पत्नी श्रीमती कमला जैन का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिसके त्याग एवं सेवा भाव ने मुझे पारिवारिक उलझनों से मुक्त रखकर विद्या की उपासना का अवसर दिया।

इस सम्पूर्ण प्रयास में मेरा अपना कुछ भी नहीं है, सभी कुछ गुरुजनों का दिया

हुआ है, इसमें मैं अपनी मौलिकता का भी क्या दावा करूँ ? मैंने तो अनेकानेक महापुरुषों, ऋषियों, सन्तों, विचारकों एवं लेखकों के शब्द एवं विचार-सुमनों का संचय कर मां सरस्वती के समर्पण के हेतु इस माला का ग्रथन किया है, इसमें जो कुछ मानव के लिए उत्तम हितकारक एवं कल्याणकारक तत्त्व हैं, वे सब उनके हैं। हां, यह संभव है कि मेरी अल्पमति एवं मलिनता के कारण इसमें दोष आगये हों, उन दोषों का उत्तरदायित्व मेरा अपना है।

यदत्र सौष्ठवं किंचित्तद्गुर्वोरेव मे न हि।
यदत्रासौष्ठवं किंचित्तन्ममैव तयोर्न हि॥

वीर निर्वाण दिवस—दीपावली
१५ नवम्बर, १९८२

सागरमल जैन

विषय-सूची

अध्याय : १५ गृहस्थधर्म

अध्याय : १९ गृहस्थधर्म

अध्याय १७ जैन आचार के नियम ३२५–३८७

●

भूमिका

डॉ० सागरमल जैन ने जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शन का गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत कर धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन को एक नवीन सार्थकता प्रदान की है। आज कल बहु-आयामिता तुलनात्मक अध्ययन की दिशा बन चुकी है। अवश्य ही एक सीमा तक उसकी भी उपयोगिता है, किन्तु उसमें विषय की मात्र पल्लवग्राहिता और ज्ञान का सतहीपन बना रहता है। इसके विपरीत डॉ० जैन ने उसे विषय की दृष्टि से नीति एवं आचार केन्द्रित तथा क्षेत्र की दृष्टि से विशेषतः जैनागम, पालि त्रिपिटक और गीता केन्द्रित किया है। इससे उन्होंने अध्ययन के अपने निष्कर्षों को गम्भीर एवं दिशानिर्देशक बना दिया है। अवश्य ही तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र में यह ग्रन्थ एक महत्त्वपूर्ण निदर्शन प्रस्तुत करता है।

आज की सम्पूर्ण वैश्विक परिस्थिति में शिक्षा का उद्देश्य मानव-संस्कृति का अध्ययन ही हो सकता है। इस प्रकार के अध्ययन में भारतीय संस्कृति के अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतवर्ष में हजारों-हजार वर्षों से अनेकानेक मानव जातियों ने अपनी प्रज्ञा, प्रतिभा, शील-सदाचार, कलाएँ और सौन्दर्य भावनाओं को, जो विविध और व्यापक आयामों में विकसित किया है, वह सम्पूर्ण मानव जाति की धरोहर है। इस प्रसंग में यह कहना भी गलत न होगा कि कालसागर के ज्वार-भाटे में हमारे सांस्कृतिक इतिहास के जितने तत्त्व विलीन हो गये, उनके भी विविध अवशेष हमारे वर्तमान विराट् जातीय जीवन के अन्तस्तल में कहीं न कहीं अपने निजी स्वरूप में या कुछ रूपान्तरित होकर हमारी वासनाओं, भावों, प्रवृत्तियों एवं रागात्मक सम्बन्धों के बीच अंगीकृत रहते हुए अर्धनिद्रित या जाग्रत रूप में वर्तमान हैं। इस विराट्-संस्कृति का जैसे-जैसे चतुर्दिक् एवं पुंखानुपुंख अध्ययन बढ़ेगा, वैसे-वैसे यह तथ्य स्पष्ट होगा कि भारतीय संस्कृति की वास्तविक अर्हता उसके विश्व-संस्कृति होने में है। इस पूरी गरिमा के बावजूद यह भी एक दुर्भाग्यपूर्ण तथ्य है कि इतिहास के क्रूर आघातों ने उस गरिमा को वहन करने की क्षमता को हम से आज छीन ली है। यह सम्भव नहीं है कि विराट् भारतीय संस्कृति की संवेदनशीलता क्षुद्र भारतीय हृदय और अनुदार मन में समा सके। यही कारण है कि हमने सांस्कृतिक अध्ययन के राजमार्ग को भी आज एक पगडंडी बना दी है। फलतः विश्वविद्यालयों और उच्च शिक्षासंस्थानों में भारतीय संस्कृति के नाम पर विद्वानों द्वारा जो कुछ अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है, उसकी एक घिसी-पिटी लीक है, जो वेद, उपनिषद्, सूत्र, स्मृति, रामायण, महाभारत

एवं पुराणों को स्पर्श करती हुई गुजरती है। उनकी दृष्टि में भारतीय संस्कृति के अध्ययन की मात्र इतनी ही इयत्ता है। फलतः इतने मात्र से वे अपने को कृतकृत्य और अपने अध्ययन को परिपूर्ण मान लेते हैं। पालि और प्राकृतों के बीच बहुजन भारतीय समाज का हजारों-हजार वर्षों का सांस्कृतिक वैभव सुरक्षित है। उसके माध्यम से ही विश्व के गोलार्ध तक भारतीयों का मानवीय सन्देश पहुँच सका था। अध्ययन एवं अनुसंधान के क्षेत्र में भी उन धाराओं के प्रति उपेक्षा की वृत्ति कितनी आत्मघाती है, यह कहने की बात नहीं है। इस परिप्रेक्ष्य में लेखक ने जैन, बौद्ध और गीता के अध्ययन में भारतीय संस्कृति के त्रिविध स्रोतों का प्रत्यक्षतः उपयोग कर भारतीय आचार दर्शन की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का पूरा ध्यान रखते हुए प्रामाणिकता के साथ गम्भीर तथ्यों को उजागर किया है। यही उनके ग्रन्थ की विशेषता है।

डॉ० जैन पाश्चात्य नीतिशास्त्र के सफल अध्यापक रहे हैं, इसलिए उन्होंने जगह-जगह पर नीति सम्बन्धी उन प्रमुख प्रश्नों को भी स्थान दिया है जिनका समाधान एवं विवेचन नई पाश्चात्य पद्धति को ध्यान में रखकर प्राचीन भारतीय शास्त्रों के सन्दर्भ में होना चाहिए था। वस्तुतः इस दिशा में उनके विश्लेषण और निष्कर्ष उनके गम्भीर अध्ययन और चिन्तन के परिणाम हैं। इस ग्रन्थ के सम्पूर्ण वक्तव्य का प्रमुख केन्द्र-बिन्दु समता या समत्वयोग है, जिससे अनुप्राणित इनके समस्त विश्लेषण और निष्कर्ष हैं, जिनका आवश्यक सन्निवेश ग्रन्थ में किया गया है। समतामूलक आचारपक्ष की प्रामाणिकता के लिए यह आवश्यक था कि सम्यक्त्व क्या है ? और उसके निर्धारक तत्त्व क्या हैं ? उनका विवेचन किया जाए। मिथ्या, भ्रम या अन्धविश्वास से सम्यक्त्व को व्यावृत्त करने के लिए यह भी अनिवार्य हो जाता है कि एक ओर तो मिथ्या दृष्टियों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण हो और दूसरी ओर सम्यक्त्व का सत्य की अवधारणा के साथ जो अकाट्य सम्बन्ध है, उसका स्पष्टीकरण किया जाए। सम्यक्त्व का सत्य के साथ जैसे अविसंवाद आवश्यक है, वैसे ही सम्यक्त्व के कारण या साधनों की विशुद्धि और उनकी तथ्यात्मकता के साथ सुसंगति का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस दिशा में तपस् और योग-साधना का विश्लेषण एवं परीक्षण आवश्यक हो जाता है। लेखक ने बड़ी कुशलता से इन मूलभूत मुद्दों पर जैन, बौद्ध तथा गीता के दार्शनिक निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं।

मूलतः नीति का प्रश्न आध्यात्मिक या भावात्मक नहीं है, अपितु सामाजिक एवं व्यावहारिक है। कम से कम उसकी परीक्षा की भूमि अवश्य ही समाज है। भारतीय संस्कृति के वैराग्यवाद के सम्बन्ध में ऐसी धारणा बन गई है कि वैराग्यवाद का पर्यवसान सामाजिक समस्याओं से पलायन में होता है। यद्यपि यह आक्षेप सम्पूर्ण भारतीय जीवन दृष्टियों पर है, तथापि विशेषकर श्रमणधाराओं और वेदान्त पर इसका समर्थन आधुनिक विचारकों द्वारा भी किया गया है। भारतीय नीति एवं आचार-दर्शन के

क्षेत्र में अध्ययन करने वाले सभी लोगों के समक्ष यह एक बड़ी चुनौती है, जिसका समाधान पक्षपात और आवेश से नहीं, अपितु तथ्य और विवेक से ही सम्भव होगा। डॉ० जैन ने इस प्रश्न को महत्त्व दिया है और उसके समाधान के लिए अपरिचित एवं अल्प परिचित तथ्यों को प्रस्तुत करने की सफल चेष्टा की है। इसके लिए उन्होंने प्रवृत्ति एवं निवृत्ति धाराओं के क्षेत्र और उनकी सीमाओं को रेखांकित किया है। उनके बीच की अविरोधी तात्त्विक मान्यताओं को भी उजागर किया है। भारतीय धर्मों में सामाजिकता और नैतिकता का उत्स क्या है, वह कौन सा केन्द्रीय तत्त्व है, जिस विन्दु के चतुर्दिक् नीति या नैतिक व्यवहार आत्मलाभ करते हैं? इन प्रश्नों के निर्णय के लिए डॉ० सागरमल जैन ने सामाजिकता और सामाजिक चेतना का विशद् विश्लेषण किया है। इसी दिशा में उन्होंने अहिंसा की केन्द्रियता को, उसके निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों रूपों को स्पष्ट किया है।

भारतीय चिन्तन की विशिष्टता को प्रकट करने के लिए सामाजिक चेतना का विश्लेषण करते हुए डॉ० जैन ने 'अति सामाजिकता' के स्वर की चर्चा की है। अवश्य ही इनकी अति सामाजिकता का अर्थ असामाजिकता नहीं है। यह मात्र वैयक्तिकता और सामाजिकता के द्वन्द्व से उबारने के लिए उनसे अतीत तथा उनको अपने में आत्मसात् करने वाला, उनसे भी उत्कृष्ट अध्यात्मप्रधान नैतिक स्तर बताने मात्र के लिए अंगीकृत है। प्रायः सभी भारतीय विचारधाराओं में इस उच्च स्तर की ओर अनेकधा संकेत किया गया है 'को विधिः को निषेधः'। सभी भारतीय चिन्तन धाराएँ व्यक्तिवादी हैं, यह भी एक प्रचलित धारणा है। डॉ० जैन ने इसके निराकरण के लिए वैयक्तिकता और सामाजिकता को परिभाषित किया है और उन्हें एक ही व्यक्तित्व के दो पक्ष बताये हैं। उनका उद्गम राग और द्वेष की वृत्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया के बीच माना है। इसी आधार पर वह यह निष्कर्ष फलित करते हैं कि वीतराग एवं वीतद्वेष अतिसामाजिक होता है, असामाजिक नहीं। सामाजिकता और वैयक्तिकता के विरोध परिहार के लिए यह आवश्यक था कि स्वहित एवं लोकहित तथा स्वधर्म और परधर्म को खुलकर व्याख्यायित किया जाय। लेखक ने भारतीय धर्मों की तीनों शाखाओं में स्वहित और लोकहित का समन्वय दिखाया है। लोकहित की अवधारणा का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध है, विशेषकर प्राचीन धर्म-संस्कृति वाले देशों में, जैसा कि भारतवर्ष। यदि स्वधर्म वैयक्तिक है तो वह लोकहित के लिए कितनी मात्रा में प्रेरणाप्रद होगा? इसी प्रकार यदि साधना के स्तरों के आधार पर भी विचार किया जाए, जैसा डॉ० जैन ने किया है, तब भी वह व्यक्ति के क्षेत्र से बाहर नहीं जाता। गीता में परधर्म की भयावहता की जो मान्यता है, वह भी कैसे सामाजिक होगी? स्वधर्म के रूप में वर्णधर्म को क्या लोकहित के अर्थ में सामाजिक कहा जा सकता है? इस पर गहराई से विचार किया जाना चाहिए।

इस ग्रन्थ में विचारार्थ जितने विषयों का समावेश किया गया है, उनका प्रस्थान बिन्दु है—जैन धर्म-दर्शन। उसे मुख्यता प्रदान कर बौद्ध मान्यताओं और गीता के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इस स्थिति में प्रस्तावित विचारों को जैन-दृष्टि की पूर्व मान्यताओं ने प्रभावित किया है। इस ग्रन्थ की यह एक स्वाभाविक सीमा है। किन्तु इन प्रतिबद्धताओं के बीच कुछ ऐसे प्रश्न उठते हैं, जिनकी ओर विद्वानों का ध्यान जाना चाहिए।

प्राचीन भारतीय दर्शनों की प्रतिबद्धता है–नित्यवाद। बौद्धदर्शन एक प्रकार से इसका अपवाद है। नित्यवादी दृष्टि का एक भरा-पूरा परिवार होता है, जिसमें आत्मवादी एवं ईश्वरवादी मान्यताएँ भी होती हैं। इस मान्यता के अनुसार नित्य आत्मा ही मनुष्य का अपना स्वभाव है। रागद्वेष आदि कषायों के कारण वह स्वभाव-च्युत या केन्द्रच्युत है। समत्व आत्मा का स्वरूप है। इस सत्य का ज्ञान न होने से ही वह बाह्य विषमताओं से प्रभावित होकर अनेकानेक द्वन्द्वों के बीच उलझा रहता है। नीति की चरितार्थता इसमें है कि वह द्वन्द्वों, विषमताओं से जनित संघर्षों से बचाकर व्यक्ति को आत्मसमता में यथावत् प्रतिष्ठित कर दे। इस पूरी मान्यता की पृष्ठभूमि में यदि यह प्रश्न किया जाए कि नैतिक मूल्यों का उत्स क्या है? तो इसका सहज उत्तर होगा—समत्व प्राप्त करना अर्थात् आत्मा की शुद्ध दशा को प्राप्त कर लेना। इसीलिए वे व्यवहार नैतिक कहे जाएँगे, जो आत्मसमता प्राप्त करा दें। द्वन्द्वों के जगत् में रहने वाला व्यक्ति क्यों आत्मसमता की प्राप्ति के लिए प्रेरित होगा? इस प्रश्न का आत्मसमतावादी उत्तर है कि व्यक्ति का मूलभूत स्वभाव यतः आत्मसमता है, अतः अपने स्वभावगत साम्यावस्था की दशा में जाने के लिए वह चेष्टा करता है। यदि यह प्रश्न किया जाए कि आपके उपर्युक्त कथन की प्रामाणिकता का आधार क्या है? तो उत्तर होगा सम्यग्ज्ञान। ज्ञान के सम्यक्त्व के निर्धारण का आधार है सत्य। सत्य क्या है? आत्मसमता। आत्मा ध्रुव सत्य है, जो न साध्य है और न साधन। प्रश्नोत्तर का वह चक्रक नित्यवाद के विश्वास बिन्दु के चारों ओर घूमता रहता है। इन पूरी प्रतिज्ञाओं का निरीक्षण या प्रामाण्य सामाजिक एवं व्यावहारिक भूमि पर सम्भव नहीं है।

स्पष्ट है कि नीतिगत प्रश्न सामाजिक एवं धार्मिक है, जिसे व्यवहार एवं तर्क की कोटि में आना चाहिए। इसीलिए विषमताओं और द्वन्द्वों के बीच उसकी वरणीयता एवं वरीयता का निर्धारण करना होता है। उसका उत्स समाज है और उसका आदर्श भी सामाजिक मान्यताएँ ही हैं, जिनकी समाज में श्रेष्ठता स्वीकार की गई है। ये सब परिवर्तनशील परिस्थिययियों और अपेक्षाओं में उत्पन्न होते हैं और उन्हीं के द्वारा अच्छे या बुरे निर्धारित भी होते हैं। नैतिक और सामाजिक मूल्यों की तात्विकता का अर्थ मात्र इतना ही है कि वह छोटे-छोटे स्वार्थों से प्रेरित एवं तात्कालिक नहीं हैं।

नित्यवाद के साथ नैतिक प्रश्नों को जोड़ने का एक दुष्परिणाम यह भी है कि एक स्थिति में पापी एवं दुराचारी भी नैतिक हो जाता है, यदि वह ईश्वर का अनन्त भक्त है या यह ज्ञात हो कि व्यक्ति अपने प्रयासों से परमात्मा में विलीन होता है। इन सबके बावजूद नित्यवादी अवधारणा में भी यम, नियम, आत्मौपम्य, करुणा, सेवा, त्याग आदि गुणों को महत्त्व दिया गया है और उसके पक्ष में विपुल शास्त्रों की रचना भी की गई है इन्हें परम पुरुषार्थ या परमार्थ स्वीकार नहीं किया गया है। इन गुणों को सामान्य धर्म या नीति की कोटि में रखा जाता है। वास्तव में इन गुणों का ऐहिकता से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। भारतीय सन्दर्भ में उन्हें कथंचित् आध्यात्मिकता से भी जोड़ा गया है और उसे मूल्य प्रदान किया गया है किन्तु ऐसा करने में इसकी पूरी सावधानी रखनी होगी कि नीति कहीं अध्यात्म में डूब न जाय और अपने स्वयं का महत्त्व न खो दे। इसके लिए नीति के सन्दर्भ में अध्यात्म की चरितार्थता ऐहिकता के क्षेत्र में मानी जानी चाहिए। यदि अध्यात्म का ऐहिकता-निरपेक्ष स्वतन्त्र अस्तित्व है तो विवेक-पूर्वक उसे नीति और कर्म से पृथक् रखना होगा।

कर्मवाद भी एक दूसरी मान्यता है जो नित्यवादी धारणाओं से प्रभावित है, यद्यपि उसकी निर्बाध व्याख्या नित्यवाद में सम्भव नहीं होती। नित्यवाद के विरुद्ध कर्मवाद नीतिनिर्धारक मान्यता है, जिसमें आत्मा और ईश्वर न मानने पर भी बौद्ध कर्मवादी हैं। परलोकवाद को स्वीकार करने के कारण नीति की ऐहिकतावादी व्याख्या कर सकना बौद्ध के लिए कठिन है। कर्म एवं कर्मफल की ऐहिकतावादी व्याख्या न कर सकने के कारण ही कर्म परलोकवाद से मिलकर रहस्य एवं विश्वास बन गया! वह मनुष्य के लिए भार बन चुका है। यही कारण है कि अध्यात्मवादियों के लिए कर्मबन्धन बन गया, क्योंकि उसका समाधान कठिन था, फलतः उससे निवृत्त हो जाने को ही पुरुषार्थ माना जाने लगा।

कर्मवाद का घनिष्ठ सम्बन्ध कार्यकारणभाव से है। कार्यकारण के बीच जितनी मात्रा में स्थिर एवं नित्य तत्त्व सन्निविष्ट किये जायेंगे, उतनी मात्रा में ही कर्मवाद का नीतिनिर्धारक रूप कम होता जायगा। इस प्रसंग से व्यक्ति और समाज के बीच के सम्बन्धों का यदि विश्लेषण किया जाए तो ज्ञात होगा कि आत्मा, ईश्वर और परलोक आदि की मान्यताएँ किस प्रकार उन दोनों के बीच तार्किक आधार पर स्वतन्त्र सम्बन्ध नहीं बनने देती एवं अपूर्ण किसी प्रकार के नित्य तत्त्वों के न मानने के कारण बौद्ध तथा नित्य के साथ अनित्य को भी स्थान देने के कारण जैन इस स्थिति में हैं कि वे यथा-सम्भव कर्म की स्वतन्त्र व्याख्या कर सकें। यही कारण है कि उन धाराओं में एतत्-सम्बन्धी विपुल साहित्य का निर्माण हुआ, जो वैदिकों में सम्भव नहीं हो सकता था। व्यक्तित्व के निर्माण में यदि सामाजिक उपादान कारण नहीं हैं, या आवश्यक मात्रा से कम हैं, तो नित्यवाद एवं परलोकवाद के प्रभाव में व्यक्ति समाजनिरपेक्ष, एवं स्वतन्त्र क्यों नहीं हो जाएगा? उस दार्शनिक स्थिति में भी नित्यवादियों द्वारा विधि-निषेध से

अतीत आत्मवेत्ता महापुरुष के द्वारा लोकसंग्रह या लोककल्याण आदर्श प्रस्तुत कराया जाता है, किन्तु वह उसकी व्यक्तिगत श्रेष्ठता अथवा व्यक्तिगत मौज या लीला से अधिक नहीं माना जा सकता। वास्तव में उस निष्प्रयोजन व्यक्ति को प्रयोजन देना तार्किक नहीं रह जाता। बौद्धों के बोधिसत्व आदर्श में अन्यों से जो कुछ भिन्नता दिखाई पड़ती है, उसके पीछे बौद्धों की सम्पूर्णतः अनित्यवादी परिवर्तनशील कार्यकारण की व्याख्या है, किन्तु वहाँ भी कुछ विश्वासों के कारण परिवर्तनवादी कार्यकारण सिद्धान्त के बावजूद उस आधार पर नीति की अपेक्षित व्याख्या नहीं की जा सकी है।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है भारतीय आदर्शों का, जो सम्पूर्ण जीवन को प्रयोजनवत्ता प्रदान करते हैं। उसमें श्रेष्ठतम है निर्वाण या मोक्ष। संक्षेप में निर्वाण प्रापंचिक द्वन्द्वों एवं दुःखों से विमुक्त है। इसका घनिष्ठ सम्बन्ध व्यक्ति के साथ है, जो महत्त्वपूर्ण है; किन्तु सब कुछ नहीं है। इसका निर्णय लेना होगा कि मोक्ष की अवधारणा कितनी सामाजिक है। जितनी मात्रा में वह सामाजिक होगा, उतनी मात्रा में ही व्यवहार को नैतिक मूल्य प्रदान करने में समर्थ होगा। यदि मोक्ष समाज-निरपेक्ष है तो उसका स्तर नितान्त भिन्न होगा। इस स्थिति में स्वयं चाहे वह उत्कृष्ट एवं महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, किन्तु वह नैतिकता की समस्याओं से व्यक्ति में उदासीनता लाएगा। इसी परिप्रेक्ष्य में भारतीय दर्शनों पर पलायनवादी होने का आक्षेप किया जाता है। यह आक्षेप निर्मूल नहीं है, अतः उपेक्षणीय भी नहीं है। कम से कम बौद्ध और जैन दर्शनों की मान्यताओं के बीच नवीन दृष्टि से नीति सम्बन्धी अध्ययन करने की अधिक सम्भावना है, आवश्यकता है उस दिशा में चिन्तन की। इसी अर्थ में डा० जैन का ग्रन्थ दिशा-निर्देशक है।

जगन्नाथ उपाध्याय
भूतपूर्व श्रमण विद्या संकायाध्यक्ष
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

आभार

श्रमण विद्या के प्रकाण्ड विद्वान् प्रोफेसर पं० जगन्नाथ जी उपाध्याय ने हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर ग्रन्थ का समग्रतया अवलोकन कर भूमिका लिखने की कृपा की, एतदर्थ हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

साधना मार्ग खण्ड

- समत्व योग
- त्रिविध साधना मार्ग
- अविद्या (मिथ्यात्व)
- सम्यग्दर्शन
- सम्यग्ज्ञान (ज्ञान योग)
- सम्यक् चारित्र
- सम्यक् तप तथा योग-मार्ग
- निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग

अतीत आत्मवेत्ता महापुरुष के द्वारा लोकसंग्रह या लोककल्याण आदर्श प्रस्तुत कराया जाता है, किन्तु वह उसकी व्यक्तिगत श्रेष्ठता अथवा व्यक्तिगत मौज या लीला से अधिक नहीं माना जा सकता। वास्तव में उस निष्प्रयोजन व्यक्ति को प्रयोजन देना तार्किक नहीं रह जाता। बौद्धों के बोधिसत्व आदर्श में अन्यों से जो कुछ भिन्नता दिखाई पड़ती है, उसके पीछे बौद्धों की सम्पूर्णतः अनित्यवादी परिवर्तनशील कार्यकारण की व्याख्या है, किन्तु वहाँ भी कुछ विश्वासों के कारण परिवर्तनवादी कार्यकारण सिद्धान्त के बावजूद उस आधार पर नीति की अपेक्षित व्याख्या नहीं की जा सकी है।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है भारतीय आदर्शों का, जो सम्पूर्ण जीवन को प्रयोजनवत्ता प्रदान करते हैं। उसमें श्रेष्ठतम है निर्वाण या मोक्ष। संक्षेप में निर्वाण प्रापंचिक द्वन्द्वों एवं दुःखों से विमुक्त है। इसका घनिष्ठ सम्बन्ध व्यक्ति के साथ है, जो महत्त्वपूर्ण है; किन्तु सब कुछ नहीं है। इसका निर्णय लेना होगा कि मोक्ष की अवधारणा कितनी सामाजिक है। जितनी मात्रा में वह सामाजिक होगा, उतनी मात्रा में ही व्यवहार को नैतिक मूल्य प्रदान करने में समर्थ होगा। यदि मोक्ष समाज-निरपेक्ष है तो उसका स्तर नितान्त भिन्न होगा। इस स्थिति में स्वयं चाहे वह उत्कृष्ट एवं महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, किन्तु वह नैतिकता की समस्याओं से व्यक्ति में उदासीनता लाएगा। इसी परिप्रेक्ष्य में भारतीय दर्शनों पर पलायनवादी होने का आक्षेप किया जाता है। यह आक्षेप निर्मूल नहीं है, अतः उपेक्षणीय भी नहीं है। कम से कम बौद्ध और जैन दर्शनों की मान्यताओं के बीच नवीन दृष्टि से नीति सम्बन्धी अध्ययन करने की अधिक सम्भावना है, आवश्यकता है उस दिशा में चिन्तन की। इसी अर्थ में डा० जैन का ग्रन्थ दिशा-निर्देशक है।

जगन्नाथ उपाध्याय
भूतपूर्व श्रमण विद्या संकायाध्यक्ष
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

आभार

श्रमण विद्या के प्रकाण्ड विद्वान् प्रोफेसर पं० जगन्नाथ जी उपाध्याय ने हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर ग्रन्थ का समग्रतया अवलोकन कर भूमिका लिखने की कृपा की, एतदर्थ हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

डॉ० सागरमल जैन
देवेन्द्रराज मेहता I.A.S.

साधना मार्ग खण्ड

- समत्व योग
- त्रिविध साधना मार्ग
- अविद्या (मिथ्यात्व)
- सम्यग्दर्शन
- सम्यग्ज्ञान (ज्ञान योग)
- सम्यक् चारित्र
- सम्यक् तप तथा योग-मार्ग
- निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग

अतीत आत्मवेत्ता महापुरुष के द्वारा लोकसंग्रह या लोककल्याण आदर्श प्रस्तुत कराया जाता है, किन्तु वह उसकी व्यक्तिगत श्रेष्ठता अथवा व्यक्तिगत मौज या लीला से अधिक नहीं माना जा सकता। वास्तव में उस निष्प्रयोजन व्यक्ति को प्रयोजन देना तार्किक नहीं रह जाता। बौद्धों के बोधिसत्व आदर्श में अन्यों से जो कुछ भिन्नता दिखाई पड़ती है, उसके पीछे बौद्धों की सम्पूर्णतः अनित्यवादी परिवर्तनशील कार्यकारण की व्याख्या है, किन्तु वहाँ भी कुछ विश्वासों के कारण परिवर्तनवादी कार्यकारण सिद्धान्त के बावजूद उस आधार पर नीति की अपेक्षित व्याख्या नहीं की जा सकी है।

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है भारतीय आदर्शों का, जो सम्पूर्ण जीवन को प्रयोजनवत्ता प्रदान करते हैं। उसमें श्रेष्ठतम है निर्वाण या मोक्ष। संक्षेप में निर्वाण प्रापंचिक द्वन्द्वों एवं दुःखों से विमुक्त है। इसका घनिष्ठ सम्बन्ध व्यक्ति के साथ है, जो महत्त्वपूर्ण है; किन्तु सब कुछ नहीं है। इसका निर्णय लेना होगा कि मोक्ष की अवधारणा कितनी सामाजिक है। जितनी मात्रा में वह सामाजिक होगा, उतनी मात्रा में ही व्यवहार को नैतिक मूल्य प्रदान करने में समर्थ होगा। यदि मोक्ष समाज-निरपेक्ष है तो उसका स्तर नितान्त भिन्न होगा। इस स्थिति में स्वयं चाहे वह उत्कृष्ट एवं महत्त्वपूर्ण क्यों न हो, किन्तु वह नैतिकता की समस्याओं से व्यक्ति में उदासीनता लाएगा। इसी परिप्रेक्ष्य में भारतीय दर्शनों पर पलायनवादी होने का आक्षेप किया जाता है। यह आक्षेप निर्मूल नहीं है, अतः उपेक्षणीय भी नहीं है। कम से कम बौद्ध और जैन दर्शनों की मान्यताओं के बीच नवीन दृष्टि से नीति सम्बन्धी अध्ययन करने की अधिक सम्भावना है, आवश्यकता है उस दिशा में चिन्तन की। इसी अर्थ में डा० जैन का ग्रन्थ दिशा-निर्देशक है।

जगन्नाथ उपाध्याय
भूतपूर्व श्रमण विद्या संकायाध्यक्ष
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

आभार

श्रमण विद्या के प्रकाण्ड विद्वान् प्रोफेसर पं० जगन्नाथ जी उपाध्याय ने हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर ग्रन्थ का समग्रतया अवलोकन कर भूमिका लिखने की कृपा की, एतदर्थ हम उनके अत्यन्त आभारी हैं।

डॉ० सागरमल जैन
देवेन्द्रराज मेहता I.A.S.

१ समत्वयोग

१. नैतिक साधना का केन्द्रीय तत्त्व समत्व-योग

समत्व की साधना ही सम्पूर्ण आचार-दर्शन का सार है। आचारगत सब विधि-निषेध और प्रयास इसी के लिए हैं। जहाँ जहाँ जीवन है, चेतना है, वहाँ वहाँ समत्व बनाए रखने के प्रयास दृष्टिगोचर होते हैं। चैतसिक जीवन का मूल स्वभाव यह है कि वह बाह्य एवं आन्तरिक उत्तेजनाओं एवं संवेदनाओं से उत्पन्न विक्षोभों को समाप्त कर साम्यावस्था बनाये रखने की कोशिश करता है। फ्रायड लिखते हैं कि चैतसिक जीवन और सम्भवतया स्नायविक जीवन की भी प्रमुख प्रवृत्ति है—आन्तरिक उद्दीपकों के तनाव को समाप्त करना एवं साम्यावस्था को बनाये रखने के लिये सदैव प्रयासशील रहना।[1] एक लघु कीट भी अपने को वातावरण से समायोजित करने का प्रयास करता है। चेतन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह सदैव समत्व-केन्द्र की ओर बढ़ना चाहता है। समत्व के हेतु प्रयास करना ही जीवन का सारतत्त्व है।

सतत शारीरिक एवं प्राणमय जीवन के अभ्यास के कारण चेतन बाह्य उत्तेजनाओं एवं संवेदनाओं से प्रभावित होने की प्रवृत्ति विकसित कर लेता है। परिणाम स्वरूप चेतन जीवनोपयोगी अन्य पदार्थों में ममत्व का आरोपण कर अपने सहज समत्व-केन्द्र का परित्याग करता है। सतत अभ्यास एवं स्व-स्वरूप का अज्ञान ही उसे समत्व के केन्द्र से च्युत करके बाह्य पदार्थों में आसक्त बना देता है। चेतन अपने शुद्ध द्रष्टाभाव या साक्षीपन को भूल कर बाह्य वातावरणजन्य परिवर्तनों से अपने को प्रभावित समझने लगता है। वह शरीर, परिवार एवं संसार के अन्य पदार्थों के प्रति ममत्व रखता है और इन पर-पदार्थों की प्राप्ति-अप्राप्ति या संयोग-वियोग में अपने को सुखी दुःखी मानता है। उसमें 'पर' के प्रति आकर्षण या विकर्षण का भाव उत्पन्न होता वह 'पर' के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इसी रागात्मक [illegible] से वह बन्धन या दुःख को प्राप्त होता है। 'पर' में आत्म-बुद्धि से प्राणी में [illegible] इच्छाओं, वासनाओं, कामनाओं एवं उद्वेगों का जन्म होता है। प्राणी इनके [illegible]त हो कर इनकी पूर्ति व तृप्ति के लिए सदैव आकुल बना रहता है। यह आकुलता

[1] [illegible]ond the Pleasure Principle—S. Freud, उद्धृत-अध्यात्मयोग और चित्त-विकलन, पृ० २४६

ही उसके दुःख का मूल कारण है। यद्यपि वह इच्छाओं की पूर्ति के द्वारा उन्हें शान्त करना चाहता है, परन्तु नयी-नयी कामनाओं के उत्पन्न होते रहने से वह सदैव ही आकुल या अशान्त बना रहता है और बाह्य जगत् में उनकी पूर्ति के लिए मारा-मारा फिरता है। यह आसक्ति या राग न केवल उसे समत्व के स्वकेन्द्र से च्युत करता है, वरन् उसे बाह्य पदार्थों के आकर्षण क्षेत्र में खींचकर उसमें एक तनाव भी उत्पन्न कर देता है और इससे चेतना दो केन्द्रों में बँट जाती है। आचारांगसूत्र में कहा है, यह मनुष्य अनेकचित्त है, अर्थात् अनेकानेक कामनाओं के कारण मनुष्य का मन बिखरा हुआ रहता है। वह अपनी कामनाओं की पूर्ति क्या करना चाहता है, एक तरह छलनी को जल से भरना चाहता है।[1] इन दो स्तरों पर चेतना में दोहरा संघर्ष उत्पन्न हो जाता है— १. चेतना के आदर्शात्मक और वासनात्मक पक्षों में (इसे मनोविज्ञान में 'ईड' और 'सुपर इगो' का संघर्ष कहा है) तथा २. हमारे वासनात्मक पक्ष का उस बाह्य परिवेश के साथ, जिसमें वह अपनी वासनाओं की पूर्ति चाहता है। इस विकेन्द्रीकरण और तज्जनित संघर्ष में आत्मा की सारी शक्तियाँ बिखर जाती हैं, कुण्ठित हो जाती हैं।

नैतिक साधना का कार्य इसी संघर्ष को समाप्त कर चेतन समत्व को यथावत् कर देना है, ताकि उस केन्द्रीकरण द्वारा वह अपनी ऊर्जाओं को जोड़कर आत्मशक्ति का यथार्थ प्रकटन कर सके।

एक अन्य दृष्टि से विचार करे तो हम बाह्य जगत् में रस लेने के लिए जैसे ही उसमें अपना आरोपण करते हैं, वैसे ही एक प्रकार का द्वैत प्रकट हो जाता है, जिसमें हम अपनेपन का आरोपण करते हैं, आसक्ति रखते हैं, वह हमारे लिए 'स्व' बन जाता है और उससे भिन्न या विरोधी 'पर' बन जाता है। आत्मा की समत्व के केन्द्र से च्युति ही उसे इन 'स्व' और 'पर' के दो विभागों में बाँट देती है। नैतिक चिन्तन में इन्हें हम क्रमशः राग और द्वेष कहते हैं। राग आकर्षण का सिद्धान्त है और द्वेष विकर्षण का। अपना-पराया, राग-द्वेष अथवा आकर्षण-विकर्षण के कारण हमारी चेतना में सदैव ही तनाव, संघर्ष अथवा द्वन्द्व बना रहता है, यद्यपि चेतना या आत्मा अपनी स्वाभाविक शक्ति के द्वारा सदैव साम्यावस्था या संतुलन बनाने का प्रयास करती रहती है। लेकिन राग एवं द्वेष किसी भी स्थायी सन्तुलन की अवस्था को सम्भव नहीं होने देते। यही कारण है कि भारतीय नैतिकता में राग-द्वेष से ऊपर उठना सम्यक जीवन की अनिवार्य शर्त मानी गई है।

भारतीय नैतिक चिन्तन सदैव ही इस दृष्टि से जागरूक रहा है। जैन नैतिकता का वीतरागता या समत्वयोग (समभाव) का आदर्श और बौद्ध नैतिकता का सम्यक् समाधि या वीततृष्णता का आदर्श राग-द्वेष के इस द्वन्द्व से ऊपर उठकर समत्व

---

१. आचारांग, १।३।२।११४

(साम्यावस्था) में स्थायी अवस्थिति ही है। गीता का नैतिक आदर्श भी इस द्वन्द्वातीत साम्यावस्था की उपलब्धि है। क्योंकि वही अबन्धन की अवस्था है।[१] गीता के अनुसार इच्छा (राग) एवं द्वेष से समुत्पन्न यह द्वन्द्व ही अज्ञान है, मोह है। इस द्वन्द्व से ऊपर उठकर ही परमात्मा की आराधना सम्भव होती है।[२] जो इस द्वन्द्व से विमुक्त हो जाता है वही परमपद मोक्ष या निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।[३] इस प्रकार राग-द्वेषातीत समत्व-प्राप्ति की दिशा में प्रयत्न ही समालोच्य आचार-दर्शनों की नैतिक साधना का केन्द्रीय तत्त्व है।

§ २. जैन-आचारदर्शन में समत्व-योग

जैन-विचार में नैतिक एवं आध्यात्मिक साधना के मार्ग को समत्व-योग कह सकते हैं। इसे जैन पारिभाषिक शब्दावली में सामायिक कहा जाता है। समग्र जैन नैतिक तथा आध्यात्मिक साधना को एक ही शब्द में समत्व की साधना कह सकते हैं। सामायिक शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक अय् धातु से बना है। अय् धातु के तीन अर्थ हैं—ज्ञान, गमन और प्रापण। ज्ञान शब्द विवेक-बुद्धि का, गमन शब्द आचरण या क्रिया का और प्रापण शब्द प्राप्ति या उपलब्धि का द्योतक है। सम् उपसर्ग उनकी सम्यक् या उचितता का बोध कराता है। सम्यक् की प्राप्ति ही सम्यक्त्व या सम्यक्दर्शन है। कुछ विचारकों के अनुसार सम्यक् क्रिया विधि-पक्ष में सम्यक्चारित्र और भावपक्ष में सम्यग्दर्शन (श्रद्धा) है। दूसरे कुछ विचारकों की दृष्टि में सम्यक् ज्ञान शब्द में दर्शन भी अन्तर्निहित है। सम् का एक अर्थ रागद्वेष से अतीत अवस्था भी है और अय् धातु का प्रापण या प्राप्तिपरक अर्थ लेने पर उसका अर्थ होगा राग-द्वेष से अतीत अवस्था की प्राप्ति, जो प्रकारान्तर से मुक्ति का सूचक है। इस प्रकार सामायिक (समत्वयोग) शब्द एक ओर सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप त्रिविध साधना-पथ को अपने में समाहित किये हुए है तो दूसरी ओर इस त्रिविध साधना-पथ के साध्य (मुक्ति) से भी समन्वित है।

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में सामायिक के तीन प्रकार बताये हैं:—१. सम्यक्त्व-सामायिक, २. श्रुत-सामायिक और ३. चारित्र-सामायिक। चारित्र सामायिक के श्रमण और गृहस्थ साधकों के आचार के आधार पर दो भेद किये हैं।[४] सम्यक्त्व सामायिक का अर्थ सम्यग्दर्शन, श्रुत-सामायिक का अर्थ सम्यग्ज्ञान और चारित्र सामायिक का अर्थ सम्यक्चारित्र है। इन्हें आधुनिक मनोवैज्ञानिक भाषा में चित्तवृत्ति का समत्व, बुद्धि का समत्व और आचरण का समत्व कह सकते हैं। इस प्रकार जैन-विचार का साधना-पथ वस्तुतः समत्वयोग की साधना ही है, जो मानव-चेतना के तीन

१. गीता ४।१२
२. वही, ७।२७-२८
३. वही, १५।५
४. आवश्यकनिर्युक्ति ७९६

पक्ष भाव, ज्ञान और संकल्प के आधार पर त्रिविध बन गया है। भाव, ज्ञान और संकल्प को सम बनाने का प्रयास ही समत्व-योग की साधना है।

जैन दर्शन में विषमता (दुःख) का कारण

यदि हम यह कहें कि जैनधर्म के अनुसार जीवन का साध्य समत्व का संस्थापन है, समत्व-योग की साधना है, तो सबसे पहले हमें यह जान लेना है कि समत्व से च्युति का कारण क्या है ? जैन-दर्शन में मोहजनित आसक्ति ही आत्मा के अपने स्वकेन्द्र से च्युति का कारण है। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि मोह-क्षोभ से रहित आत्मा की अवस्था सम है[1], अर्थात् मोह और क्षोभ से युक्त चेतना या आत्मा की अवस्था ही विषमता है। पंडित सुखलालजी का कथन है कि "शारीरिक एवं प्राणमय जीवन के अभ्यास के कारण चेतन अपने सहज समत्व-केन्द्र का परित्याग करता है। वह जैसे-जैसे अन्य पदार्थों में रस लेता है, वैसे-वैसे जीवनोपयोगी अन्य पदार्थों में अपने अस्तित्व (ममत्व) का आरोपण करने लगता है। यह उसका स्वयं अपने बारे में मोह या अज्ञान है। यह अज्ञान ही उसे समत्व-केन्द्र में से च्युत करके इतर परिमित वस्तुओं में रस लेने वाला बना देता है। यह रस (आसक्ति) ही रागद्वेष जैसे क्लेशों का प्रेरक तत्त्व है। इस तरह चित्त का वृत्तिचक्र अज्ञान एवं क्लेशों के आवरण से इतना अधिक आवृत्त एवं अवरुद्ध हो जाता है कि उसके कारण जीवन प्रवाह-पतित ही बना रहता है—अज्ञान, अविद्या अथवा मोह, जिसे ज्ञेयावरण भी कहते हैं, चेतनगत समत्व-केन्द्र को ही आवृत्त करता है, जबकि उसमें पैदा होने वाला क्लेश चक्र, (रागादि भाव) बाह्य वस्तुओं में ही प्रवृत्त रहता है।[2] सारी विषमताएँ कर्म-जनित हैं और कर्म राग-द्वेष जनित हैं। इस प्रकार आत्मा का राग-द्वेष से युक्त होना ही विषमता है, दुःख है, वेदना है और यही दुःख विषमता का कारण भी है। समत्व या राग-द्वेष से अतीत अवस्था आत्मा की स्वभाव-दशा है। राग-द्वेष से युक्त होना विभाव-दशा है, परपरिणति है। इस प्रकार परपरिणति, विभाव या विषमभाव का कारण रागात्मकता या आसक्ति है। आसक्ति से प्राणी स्व से बाहर चेतना से भिन्न पदार्थों या परपदार्थों की प्राप्ति या अप्राप्ति में सुख की कल्पना करने लगता है। इस प्रकार चेतन बाह्य कारणों से अपने भीतर विचलन उत्पन्न करता है, पदार्थों के संयोग-वियोग या लाभ-अलाभ में सुख-दुःख की कल्पना करने लगता है। चित्तवृत्ति बहिर्मुख हो जाती है, सुख की खोज में बाहर भटकती रहती है। यह बहिर्मुख चित्तवृत्ति चिन्ता, आकुलता, विक्षोभ आदि उत्पन्न करती है और चेतना या आत्मा का सन्तुलन भंग कर देती है। यही चित्त या आत्मा की विषमावस्था समग्र दोषों एवं अनैतिक आचरणों की जन्म-भूमि है। विषम भाव या राग-द्वेष होने से कामना, वासना, मूर्च्छा, अहंकार, पराश्रयता, आकुलता, निर्दयता, संकीर्णता, स्वार्थ-

---

१. प्रवचनसार, १।५ २. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ८६

परता, सुख-लोलुपता आदि दोषों की वृद्धि होती रहती है जो व्यक्ति, परिवार, समाज एवं विश्व के लिए विषमताओं का कारण बनती है। संकीर्णता, स्वार्थपरता एवं सुख-लोलुपता के कारण व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से येन केन प्रकारेण अपना स्वार्थ साधना चाहता है। उसके इन कृत्यों एवं प्रवृत्तियों से परिजन, समाज, देश व विश्व का अहित होता है। प्रतिक्रियास्वरूप दोहरा संघर्ष पैदा होता है। एक ओर उसकी वासनाओं के मध्य आन्तरिक संघर्ष चलता रहता है, तो दूसरी ओर उसका बाह्य वातावरण से अर्थात् समाज, देश और विश्व से संघर्ष चलता रहता है।

इसी संघर्ष की समाप्ति के लिए और विषमताओं से ऊपर उठने के लिए समत्व-योग की साधना आवश्यक है। समत्व-योग राग-द्वेष-जन्य चेतना की सभी विकृतियाँ दूर कर आत्मा को अपनी स्वभाव-दशा में अथवा उसके अपने स्व-स्वरूप में प्रतिष्ठित करता है।

जैनधर्म में समत्व-योग का महत्व

समत्व-योग के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए जैनागमों में कहा गया है कि व्यक्ति चाहे दिगम्बर हो या श्वेताम्बर, बौद्ध हो अथवा अन्य किसी मत का, जो भी समभाव में स्थित होगा वह निस्संदेह मोक्ष प्राप्त करेगा।[१] एक आदमी प्रतिदिन लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान करता है और दूसरा समत्व-योग की साधना करता है, किन्तु वह स्वर्ण-मुद्राओं का दानी व्यक्ति समत्व-योग के साधक की समानता नहीं कर सकता।[२] करोड़ों जन्म तक निरन्तर उग्र तपश्चरण करनेवाला साधक जिन कर्मों को नष्ट नहीं कर सकता, उनको समभाव का साधक मात्र आधे ही क्षण में नष्ट कर डालता है।[3] चाहे कोई कितना ही तीव्र तप तपे, जप जपे अथवा मुनि-वेश धारण कर स्थूल क्रियाकाण्ड-रूप चारित्र का पालन करे, परन्तु समताभाव के बिना न किसी को मोक्ष हुआ है और न होगा।[४] जो भी साधक अतीतकाल में मोक्ष गए हैं, वर्तमान में जा रहे हैं, और भविष्य में जायेंगे, यह सब समत्वयोग का प्रभाव है।[५] आचार्य हेमचन्द्र समभाव की साधना को राग-विजय का मार्ग बताते हुए कहते हैं कि तीव्र आनन्द को उत्पन्न करने वाले समभाव रूपी जल में अवगाहन करने वाले पुरुषों का राग-द्वेष रूपी मल सहज नष्ट हो जाता है।[६] समताभाव के अवलम्बन से अन्तर्मुहूर्त में मनुष्य जिन कर्मों का नाश कर डालता है, वे तीव्र तपश्चर्या से करोड़ों जन्मों में भी नहीं नष्ट हो सकते।[७] जैसे आपस में

---

१. सेयम्बरो वा आसम्बरो वा बुद्धो वा तहेव अन्नो वा।
समभावभावियप्पा लहइ मुक्खं न संदेहो ॥—हरिभद्र

२-५. सामायिक सूत्र (अमरमुनि) पृ० ६३ पर उद्धृत।

६-७. योगशास्त्र, ४।५०-५३।

चिपकी हुई वस्तुएँ बांस आदि की सलाई से पृथक् की जाती हैं, उसी प्रकार परस्पर बद्ध-कर्म और जीव को साधु समत्वभाव की शलाका से पृथक् कर देते हैं।[१] समभाव रूप सूर्य के द्वारा राग-द्वेष और मोह का अंधकार नष्ट कर देने पर योगी अपनी आत्मा में परमात्मा का स्वरूप देखने लगते हैं।[२]

जैनधर्म में समत्वयोग का अर्थ

समत्वयोग का प्रयोग हम जिस अर्थ में कर रहे हैं उसके प्राकृत पर्यायवाची शब्द हैं—सामाइय या समाहि। जैन आचार्यों ने इन शब्दों की जो अनेक व्याख्याएँ की हैं, उनके आधार पर समत्व-योग का स्पष्ट अर्थ बोध हो सकता है।

१. सम अर्थात् राग और द्वेष की वृत्तियों से रहित मनःस्थिति प्राप्त करना समत्वयोग (सामायिक) है।

२. शम (जिसका प्राकृत रूप भी सम है) अर्थात् क्रोधादि कषायों को शमित (शांत) करना समत्वयोग है।

३. सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखना समत्वयोग है।

४. सम का अर्थ एकीभाव है और अय का अर्थ गमन है अर्थात् एकीभाव के द्वारा बहिर्मुखता (परपरिणति) का त्यागकर अन्तर्मुख होना। दूसरे शब्दों में आत्मा का स्वस्वरूप में रमण करना या स्वभाव-दशा में स्थित होना ही समत्वयोग है।

५. सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखना समत्वयोग है।

६. सम शब्द का अर्थ अच्छा है और अयन शब्द का अर्थ आचरण है, अतः अच्छा या शुभ आचरण भी समत्वयोग (सामायिक) है।[३]

नियमसार[६] और अनुयोगद्वारसूत्र[७] में आचार्यों ने इस समत्व की साधना के स्वरूप का बहुत ही स्पष्ट वर्णन किया है। सर्व पापकर्मों से निवृत्ति, समस्त इन्द्रियों का सुसमाहित होना, सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव एवं आत्मवत् दृष्टि, तप, संयम और नियमों के रूप में सदैव ही आत्मा का सान्निध्य, समस्त राग और द्वेषजन्य विकृतियों का अभाव, आर्त एवं रौद्र चिन्तन, हास्य, रति, अरति, शोक, घृणा, भय एवं कामवासना आदि मनोविकारों की अनुपस्थिति और प्रशस्त विचार ही आर्हत् दर्शन में समत्व का स्वरूप है।

१-४. योगशास्त्र, ४।५०-५३।

५. (अ) सामायिकसूत्र (अमरमुनिजी), पृ० २७-२८।
(ब) विशेषावश्यकभाष्य—३४७७-३४८३।

६. नियमसार, १२२-१३३

७. अनुयोगद्वार, १२७-१२८

जैन आगमों में समत्वयोग का निर्देश

जैनागमों में समत्वयोग सम्बन्धी अनेक निर्देश यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं, जिनमें से कुछ यहाँ प्रस्तुत हैं। आर्य महापुरुषों ने समभाव में धर्म कहा है।[१] साधक न जीने की आकांक्षा करे और न मरने की कामना करे। वह जीवन और मरण दोनों में किसी तरह की आसक्ति न रखे, समभाव से रहे।[२] शरीर और इन्द्रियों के क्लान्त होने पर भी साधक समभाव रखे। इधर-उधर गति एवं हलचल करता हुआ भी साधक निंद्य नहीं है, यदि वह अन्तरंग में अविचल एवं समाहित है।[३] अतः साधक मन को ऊँचा-नीचा (डांवाडोल) न करे।[४] साधक को अन्दर और बाहर सभी ग्रन्थियों (बन्धनरूप गाँठों) से मुक्त होकर जीवन-यात्रा पूरी करनी चाहिए।[५] जो समस्त प्राणियों के प्रति समभाव रखता है, वही श्रमण है।[६] समता से ही श्रमण कहलाता है।[७] तृण और कनक (स्वर्ण) में जब समान बुद्धि (समभाव) रहती है, तभी उसे प्रव्रज्या कहा जाता है।[८] जो न राग करता है, न द्वेष वही वस्तुतः मध्यस्थ (सम) है, शेष सब अमध्यस्थ हैं।[९] अतः साधक सदैव विचार करे कि सब प्राणियों के प्रति मेरा समभाव है, किसी से मेरा वैर नहीं है।[१०] क्योंकि चेतना (आत्मा) चाहे वह हाथी के शरीर में हो, मनुष्यके शरीर में हो या कुन्थुआ के शरीर में हो, चेतन तत्त्व की दृष्टि से समान ही है।[११] इस प्रकार जैन आचार-दर्शन का निर्देश यही है कि आन्तरिक वृत्तियों में तथा सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जीवन-मरण आदि परिस्थितियों में सदैव समभाव रखना चाहिए और जगत् के सभी प्राणियों को आत्मवत् समझकर व्यवहार करना चाहिए। संक्षेप में विचारों के क्षेत्र में समभाव का अर्थ है तृष्णा, आसक्ति तथा राग-द्वेष के प्रत्ययों से ऊपर उठना और आचरण के क्षेत्र में समभाव का अर्थ है जगत् के सभी प्राणियों को अपने समान मानकर उनके प्रति आत्मवत् व्यवहार करना; यही जैन नैतिकता की समत्वयोग की साधना है।

३. बौद्ध आचार-दर्शन में समत्व-योग

बौद्ध आचार-दर्शन में साधना का जो अष्टांगिक मार्ग है उसमें प्रत्येक साधन-पक्ष का सम या सम्यक् होना आवश्यक है। बौद्ध-दर्शन में समत्व प्रत्येक साधन-पक्ष का अनिवार्य अंग है। पालिभाषा का 'सम्मा' शब्द सम् और सम्यक् दोनों अर्थों को अव-

---

१. आचारांग, १।८।३।२ २. वही, १।८।८।४ ३. वही, १।८।८।१४
४. वही, २।३।१ ५. वही, १।८।८।११ ६. प्रश्नव्याकरणसूत्र, २।४
७. उत्तराध्ययन २५।३२ ८. बोधपाहुड, ४७ ९. आवश्यकनिर्युक्ति, ८०४
१०. नियमसार, १०४ ११. भगवतीसूत्र, ७।८

धारणा करता है। यदि सम्यक् शब्द का अर्थ 'अच्छा' ग्रहण करते हैं तो प्रश्न यह होगा कि अच्छे से क्या तात्पर्य है ? वस्तुतः बौद्ध-दर्शन में इनके सम्यक् होने का तात्पर्य यही हो सकता है कि ये साधन व्यक्ति को राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठने की दिशा में कितने सहायक हैं। इनका सम्यक्त्व राग-द्वेष की वृत्तियों के कम करने में है अथवा सम्यक् होने का अर्थ है राग-द्वेष और मोह से रहित होना। राग-द्वेष का प्रहाण ही समत्व-योग की साधना का प्रयास है।

बौद्ध अष्टांग आर्य मार्ग में अन्तिम सम्यक् समाधि है। यदि हम समाधि को व्यापक अर्थ में ग्रहण करें तो निश्चित ही वह मात्र ध्यान की एक अवस्था न होकर चित्तवृत्ति का 'समत्व' है, चित्त का राग-द्वेष से शून्य होना है और इस अर्थ में वह जैन-परम्परा की 'समाहि' (समाधि-सामायिक) से भी अधिक दूर नहीं है। सूत्रकृतांगचूर्णि में कहा गया है कि राग-द्वेष का परित्याग समाधि है[१]। वस्तुतः जब तक चित्तवृत्तियाँ सम नहीं होतीं, तब तक समाधि-लाभ संभव नहीं। भगवान् बुद्ध ने कहा है, जिन्होंने धर्मों को ठीक प्रकार से जान लिया है, जो किसी मत, पक्ष या वाद में नहीं हैं, वे सम्बुद्ध हैं, समद्रष्टा हैं और विषम स्थिति में भी उनका आचरण सम रहता है[२]। बुद्धि, दृष्टि और आचरण के साथ लगा हुआ सम् प्रत्यय बौद्ध-दर्शन में समत्वयोग का प्रतीक है जो बुद्धि, मन और आचरण तीनों को सम बनाने का निर्देश देता है। संयुत्तनिकाय में कहा है, 'आर्यों का मार्ग सम है, आर्य विषमस्थिति में भी सम का आचरण करते हैं[3]। धम्मपद में बुद्ध कहते हैं, जो समत्व-बुद्धि से आचरण करता है तथा जिसकी वासनाएँ शान्त हो गयी हैं—'जो जितेन्द्रिय है, संयम एवं ब्रह्मचर्य का पालन करता है, सभी प्राणियों के प्रति दण्ड का त्याग कर चुका है अर्थात् सभी के प्रति मैत्रीभाव रखता है, किसी को कष्ट नहीं देता है, ऐसा व्यक्ति चाहे वह आभूषणों को धारण करने वाला गृहस्थ ही क्यों न हो, वस्तुतः श्रमण है, भिक्षुक है[४]। जैन-विचारणा में 'सम' का अर्थ कषायों का उपशम है। इस अर्थ में भी बौद्ध विचारणा समत्वयोग का समर्थन करती है। मज्झिमनिकाय में कहा गया है—'राग-द्वेष एवं मोह का उपशम ही परम आर्य-उपशम है[५]। बौद्ध परम्परा में भी जैन परम्परा के समान ही यह स्वीकार किया गया है कि समता का आचरण करनेवाला ही श्रमण है[६]। समत्व का अर्थ आत्मवत् दृष्टि स्वीकार करने पर भी बौद्ध विचारणा में उसका स्थान निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है। सुत्तनिपात में कहा गया है कि 'जैसा मैं हूँ वैसे ही जगत् के सभी प्राणी हैं, इसलिए सभी प्राणियों को

---

१. सूत्रकृतांगचूर्णि, १।२।२ २. संयुत्तनिकाय, १।१।८ ३. वही, १।२।६
४. धम्मपद, १४२ ५. मज्झिमनिकाय, ३।४०।२
६. धम्मपद ३८८ तुलना कीजिए—उत्तराध्ययन, २५।३२

अपने समान समझकर आचरण करे'।[१] समत्व का अर्थ राग द्वेष का प्रहाण या राग-द्वेष की शून्यता करने पर भी उसका बौद्ध विचारणा में समत्वयोग का महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध होता है। उदान में कहा गया है कि राग-द्वेष और मोह का क्षय होने से निर्वाण प्राप्त होता है।[२] बौद्ध-दर्शन में वर्णित चार ब्रह्मविहार अथवा भावनाओं में भी समत्व-योग का चिन्तन परिलक्षित होता है। मैत्री, करुणा और मुदिता (प्रमोद) भावनाओं का मुख्य आधार आत्मवत् दृष्टि है इसी प्रकार माध्यस्थ भावना या उपेक्षा के लिए सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय, लौह-कांचन में समभाव का होना आवश्यक है। वस्तुतः बौद्ध विचारणा जिस माध्यस्थवृत्ति पर बल देती है, वह समत्वयोग ही है।

४. गीता के आचार-दर्शन में समत्वयोग

गीता के आचार-दर्शन का मूल स्वर भी समत्वयोग की साधना है। गीता को योग-शास्त्र कहा गया है। योग शब्द युज् धातु से बना है, युज् धातु दो अर्थों में आता है। उसका एक अर्थ है जोड़ना, संयोजित करना और दूसरे अर्थ है संतुलित करना, मनः स्थिरता। गीता दोनों अर्थों में उसे स्वीकार करती है। पहले अर्थ में जो जोड़ता है, वह योग है अथवा जिसके द्वारा जुड़ा जाता है या जो जुड़ता है वह योग है,[३] अर्थात् जो आत्मा को परमात्मा से जोड़ता है वह योग है। दूसरे अर्थ में योग वह अवस्था है जिसमें मनःस्थिरता होती है।[४] डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में योग का अर्थ है अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को एक जगह इकट्ठा करना, उन्हें संतुलित करना और बढ़ाना।[५] गीता सर्वांगपूर्ण योग-शास्त्र प्रस्तुत करती है। लेकिन प्रश्न उठता है कि गीता का यह योग क्या है? गीता योग शब्द का प्रयोग कभी ज्ञान के साथ, कभी कर्म के साथ और कभी भक्ति अथवा ध्यान के अर्थ में करती है। अतः यह निश्चय कर पाना अत्यन्त कठिन है कि गीता में योग का कौन-सा रूप मान्य है। यदि गीता एक योग-शास्त्र है तो ज्ञानयोग का शास्त्र है या कर्मयोग का शास्त्र है अथवा भक्तियोग का शास्त्र है? यह विवाद का विषय रहा है। आचार्य शंकर के अनुसार गीता ज्ञानयोग का प्रतिपादन करती है।[६] तिलक उसे कर्मयोग-शास्त्र कहते हैं। वे लिखते हैं कि यह निर्विवाद सिद्ध है कि गीता में योग शब्द प्रवृत्ति-मार्ग अर्थात् कर्मयोग के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।[७] श्री रामानुजाचार्य, निम्बार्क और श्री वल्लभाचार्य के अनुसार गीता का प्रतिपाद्य विषय भक्तियोग है।[८] गांधीजी उसे अनासक्तियोग कहकर कर्म और भक्ति का समन्वय करते

---

१. सुत्तनिपात, ३।३७।७
२. उदान, ८।६
३. युज्यते एतदिति योगः, युज्यते अनेन इति योगः, युज्येत तस्मिन् इति योगः
४. योगसूत्र, १।२
५. भगवद्गीता (रा०), पृ० ५५
६. गीता (शां०), २।११
७. गीतारहस्य, पृ० ६०
८. गीता (रामा०), १।१ पूर्व कथन

हैं। डॉ० राधाकृष्णन् उसमें प्रतिपादित ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग को एक-दूसरे का पूरक मानते हैं।[1]

लेकिन गीता में योग का यथार्थ स्वरूप क्या है, इसका उत्तर गीता के गम्भीर अध्ययन से मिल जाता है। गीताकार ज्ञानयोग, कर्मयोग, और भक्तियोग शब्दों का उपयोग करता है, लेकिन समस्त गीता शास्त्र में योग की दो ही व्याख्याएँ मिलती हैं:— १. समत्वं योग उच्यते (२।४८) और २. योगः कर्मसु कौशलम् (२।५०)। अतः इन दोनों व्याख्याओं के आधार पर ही यह निश्चित करना होगा कि गीताकार की दृष्टि में योग शब्द का यथार्थ स्वरूप क्या है ? गीता की पुष्पिका से प्रकट है कि गीता एक योग-शास्त्र है अर्थात् वह यथार्थ को आदर्श से जोड़ने की कला है, आदर्श और यथार्थ में सन्तुलन लाती है। हमारे भीतर का असन्तुलन दो स्तरों पर है, जीवन में दोहरा संघर्ष चल रहा है। एक चेतना के शुभ और अशुभ पक्षों में और दूसरा हमारे बहिर्मुखी स्व और बाह्य वातावरण के मध्य। गीता योग की इन दो व्याख्याओं के द्वारा इन दोनों संघर्षो में विजयश्री प्राप्त करने का संदेश देती है। संघर्ष के उस रूप की, जो हमारी चेतना के ही शुभ या अशुभ पक्षमें या हमारी आदर्शात्मक और वासनात्मक आत्मा के मध्य चल रहा है, पूर्णतः समाप्ति के लिए मानसिक समत्व की आवश्यकता होगी। यहाँ योग का अर्थ है 'समत्वयोग' क्योंकि इस स्तर पर कर्म की कोई आवश्यकता नहीं है। यहाँ योग हमारी वासनात्मक आत्मा को परिष्कृत कर उसे आदर्शात्मा या परमात्मा से जोड़ने की कला है। यह योग आध्यात्मिक योग है, मन की स्थिरता है, विकल्पों एवं विकारों की शून्यता है। यहाँ पर योग का लक्ष्य हमारे अपने ही अन्दर है। यह एक आन्तरिक समायोजन है, वैचारिक एवं मानसिक समत्व है। लेकिन उस संघर्ष की समाप्ति के लिए जो कि व्यक्ति और उसके वातावरण के मध्य है, कर्म-योग की आवश्यकता होगी। यहाँ योग की व्याख्या होगी 'योगः कर्मसु कौशलम्' यहाँ योग युक्ति है, उपाय है जिसके द्वारा व्यक्ति वातावरण में निहित अपने भौतिक लक्ष्य की प्राप्ति करता है। यह योग का व्यावहारिक पक्ष है जिसमें जीवन के व्यावहारिक स्तर पर समायोजन किया जाता है।

वस्तुतः मनुष्य न निरी आध्यात्मिक सत्ता है और न निरी भौतिक सत्ता है। उसमें शरीर के रूप में भौतिकता है और चेतना के रूप में आध्यात्मिकता है। यह भी सही है कि मनुष्य ही जगत् में एक ऐसा प्राणी है जिसमें जड़ पर चेतन के शासन का सर्वाधिक विकास हुआ है। फिर भी मानवीय चेतना को जिस भौतिक आवरण में रहना पड़ रहा है, वह उसकी नितांत अवहेलना नहीं कर सकती। यही कारण है कि मानवीय चेतना को दो स्तरों पर समायोजन करना होता है—१. चैतसिक (आध्यात्मिक)

---

१. भगवद्गीता (रा०), पृ० ८२

स्तर पर और २. भौतिक स्तर पर। गीताकार द्वारा प्रस्तुत योग की उपर्युक्त दो व्याख्याएँ क्रमशः इन दो स्तरों के सन्दर्भ में है। वैचारिक या चैतसिक स्तर पर जिस योग की साधना व्यक्ति को करनी है, वह समत्वयोग है। भौतिक स्तर पर जिस योग की साधना का उपदेश गीता में है वह कर्म कौशल का योग है।

तिलक ने गीता और अन्य ग्रन्थों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि योग शब्द का अर्थ युक्ति, उपाय और साधन भी है[१]। चाहे हम योग शब्द का अर्थ जोड़नेवाला[२] स्वीकारें या तिलक के अनुसार युक्ति या उपाय मानें[३], दोनों ही स्थितियों में योग शब्द साधन के अर्थ में ही प्रयुक्त किया जाता है। लेकिन योग शब्द केवल साधन के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। जब हम योग शब्द का अर्थ मनःस्थिरता[४] करते हैं तो वह साधन के रूप में नहीं होता है, वरन् वह स्वतः साध्य ही होता है। यह मानना भ्रमपूर्ण होगा कि गीता में चित्त-समाधि या समत्व के अर्थ में योग शब्द का प्रयोग नही है। स्वयं तिलकजी ही लिखते हैं कि गीता में योग, योगी, अथवा योग शब्द से बने हुए सामासिक शब्द लगभग अस्सी बार आये हैं, परन्तु चार पाँच स्थानों के सिवा (६।१२-२३) योग शब्द से 'पातंजल योग' (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः) अर्थ कहीं भी अभिप्रेत नहीं है—सिर्फ युक्ति, साधन, कुशलता, उपाय, जोड़, मेल यही अर्थ कुछ हेर-फेर से समूची गीता में पाये जाते हैं[५]। इससे इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि गीता में योग शब्द मन की स्थिरता या समत्व के अर्थ मे भी प्रयुक्त हुआ है। साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि गीता दो अर्थों में योग शब्द का उपयोग करती है, एक साधन के अर्थ में दूसरे साध्य के अर्थ में। जब गीता योग शब्द की व्याख्या 'योगः कर्मसु कौशलम्' के अर्थ में करती है, तो यह साधन-योग की व्याख्या है। वस्तुतः हमारे भौतिक स्तर पर अथवा चेतना और भौतिक जगत् (व्यक्ति और वातावरण) के मध्य जिस समायोजन की आवश्यकता है, वहाँ पर योग शब्द का यही अर्थ विवक्षित है। तिलक भी लिखते हैं एक ही कर्म को करने के अनेक योग या उपाय हो सकते हैं, परन्तु उनमें से जो उपाय या साधन उत्तम हो उसीको योग कहते हैं[६]। योगः कर्मसु कौशलम् की व्याख्या भी यही कहती है कि कर्म में कुशलता योग है। किसी क्रिया या कर्म को कुशलता पूर्वक सम्पादित करना योग है। इस व्याख्या से यह भी स्पष्ट है कि इसमें योग कर्म का एक साधन है जो उसकी कुशलता में निहित है अर्थात् योग कर्म के लिए है। गीता की योग शब्द की दूसरी व्याख्या 'समत्वं योग उच्यते' का सीधा अर्थ यही है कि 'समत्व को योग कहते हैं।' यहाँ पर योग साधन नहीं, साध्य है। इस प्रकार गीता योग शब्द की द्विविध व्याख्या प्रस्तुत करती है, एक साधन योग की और दूसरी साध्य-योग की।

---

१. अमरकोश, ३।३।२२, गीतारहस्य, पृ० ५६-५९
२-३. गीता (शां०) १०।७
४. योगसूत्र, १।२
५-६. गीतारहस्य, पृ० ५७

इसका अर्थ यह भी है कि योग दो प्रकार का है—१. साधन-योग और २. साध्य-योग। गीता जब ज्ञानयोग, कर्मयोग या भक्तियोग का विवेचन करती है तो ये उसकी साधन योग की व्याख्याएँ हैं। साधन अनेक हो सकते हैं ज्ञान, कर्म और भक्ति सभी साधन-योग हैं, साध्य-योग नहीं। लेकिन समत्वयोग साध्य-योग है। यह प्रश्न फिर भी उठाया जा सकता है कि समत्व योग को ही साध्य योग क्यों माना जाये, वह भी साधन योग क्यों नहीं हो सकता हैं ? इसके लिए हमारे तर्क इस प्रकार हैं :—

१. ज्ञान, कर्म, भक्ति और ध्यान सभी 'समत्व' के लिए होते हैं, क्योंकि यदि ज्ञान, कर्म, भक्ति या ध्यान स्वयं साध्य होते तो इनकी यथार्थता या शुभत्व स्वयं इनमें ही निहित होता। लेकिन गीता यह बताती है कि बिना समत्व के ज्ञान, यथार्थ ज्ञान नहीं बनता, जो समत्वदृष्टि रखता है वही ज्ञानी है[1]; बिना समत्व के कर्म अकर्म नहीं बनता। समत्व के अभाव में कर्म का बन्धकत्व बना रहता है, लेकिन जो सिद्धि और असिद्धि में समत्व से युक्त होता है, उसके लिए कर्म बन्धक नहीं बनते[2]। इसी प्रकार वह भक्त भी सच्चा भक्त नहीं है, जिसमें समत्व का अभाव है। समत्वभाव से यथार्थ भक्ति की उपलब्धि होती है[3]।

समत्व के आदर्श से युक्त होने पर ही ज्ञान, कर्म और भक्ति अपनी यथार्थता को पाते हैं। समत्व वह 'सार' है, जिसकी उपस्थिति में ज्ञान, कर्म और भक्ति का कोई मूल्य या अर्थ है। वस्तुतः ज्ञान, कर्म और भक्ति जबतक समत्व से युक्त नहीं होते हैं, उनमें समत्व की अवधारणा नहीं होती है, तबतक ज्ञान मात्र ज्ञान रहता है, वह ज्ञान-योग नहीं होता। कर्म मात्र कर्म रहता है, कर्मयोग नहीं बनता और भक्ति भी मात्र श्रद्धा या भक्ति ही रहती है, वह भक्तियोग नहीं बनती है, क्योंकि इन सबमें हम में निहित परमात्मा से जोड़ने की सामर्थ्य नहीं आती। 'समत्व' ही वह शक्ति है जिससे ज्ञान ज्ञानयोग के रूप में, भक्ति भक्तियोग के रूप में और कर्म कर्मयोग के रूप में बदल जाता है। जैन परम्परा में भी ज्ञान, दर्शन (श्रद्धा) और चारित्र (कर्म) जबतक समत्व से युक्त नहीं होते, सम्यक् नहीं बनते और जबतक ये सम्यक् नहीं बनते, तबतक मोक्षमार्ग के अंग नहीं होते हैं।

२. गीता के अनुसार मानव का साध्य परमात्मा की प्राप्ति है, और गीता का परमात्मा या ब्रह्म 'सम' है[4]। जिनका मन 'समभाव' में स्थित है वे तो संसार में रहते हुए भी मुक्त हैं क्योंकि ब्रह्म भी निर्दोष एवं सम है। वे उसी समत्व में स्थित हैं जो ब्रह्म हैं और इसलिए वे ब्रह्म में ही हैं।[5] इसे स्पष्ट रूप में यों कह सकते हैं कि जो 'समत्व' में स्थित हैं वे ब्रह्म में स्थित हैं, क्योंकि 'सम' ही ब्रह्म है। गीता में ईश्वर के

१. गीता, ५।१८ २. वही, ४।२२ ३. वही, ८।५४
४. वही, ५।१९, गीता (शां) ५।१८ ५. गीता, ५।१९

इस समत्व रूप का प्रतिपादन है। नवें अध्याय में कृष्ण कहते हैं कि मैं सभी प्राणियों में 'सम' के रूप में स्थित हूँ[१]। तेरहवें अध्याय में कहा है कि सम-रूप परमेश्वर सभी प्राणियों में स्थित है; प्राणियों के विनाश से भी उसका नाश नहीं होता है जो इस समत्व के रूप में उसको देखता है वही वास्तविक ज्ञानी है, क्योंकि सभी में समरूप में स्थित परमेश्वर को समभाव से देखता हुआ वह अपने द्वारा अपना ही घात नहीं करता अर्थात् अपने समत्वमय या वीतराग स्वभाव को नष्ट नहीं होने देता और मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

३. गीता के छठे अध्याय में परमयोगी के स्वरूप के वर्णन में यह धारणा और भी स्पष्ट हो जाती है। गीताकार जब कभी ज्ञान, कर्म या भक्तियोग में तुलना करता है तो वह उनकी तुलनात्मक श्रेष्ठता या कनिष्ठता का प्रतिपादन करता है, जैसे कर्म-संन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है[3], भक्तों में ज्ञानी-भक्त मुझे प्रिय है[४]।

लेकिन वह न तो ज्ञानयोगी को परमयोगी कहता है, न कर्मयोगी को परमयोगी कहता है और न भक्त को ही परमयोगी कहता है, वरन् उसकी दृष्टि में परमयोगी तो वह है जो सर्वत्र समत्व का दर्शन करता है[५]। गीताकार की दृष्टि में योगी की पहचान तो समत्व ही है। वह कहता है 'योग से युक्त आत्मा वही है जो समदर्शी है।'[६] समत्व की साधना करनेवाला योगी ही सच्चा योगी है। चाहे साधन के रूप में ज्ञान, कर्म या भक्ति हो यदि उनसे समत्व नहीं आता, तो वे योग नहीं हैं।

४. गीता का यथार्थ योग समत्व-योग है, इस बात की सिद्धि का एक अन्य प्रमाण भी है। गीता के छठे अध्याय में अर्जुन स्वयं ही यह कठिनाई उपस्थित करता है कि 'हे कृष्ण, आपने यह समत्वभाव (मन की समता) रूप योग कहा है, मुझे मन की चंचलता के कारण इस समत्वयोग का कोई स्थिर आधार दिखलाई नहीं देता है[७], अर्थात् मन की चंचलता के कारण इस समत्व को पाना सम्भव नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि गीताकार का मूल उपदेश तो इसी समत्व-योग का है, लेकिन यह समत्व मन की चंचलता के कारण सहज नहीं होता है। अतः मन की चंचलता को समाप्त करने के लिए ज्ञान, कर्म, तप, ध्यान और भक्ति के साधन बताये गये हैं। आगे श्रीकृष्ण जब यह कहते हैं कि हे अर्जुन, तपस्वी, ज्ञानी, कर्मकाण्डी सभी से योगी अधिक है अतः तू योगी हो जा[८], तो यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि गीताकार का उद्देश्य ज्ञान, कर्म, भक्ति अथवा तप की साधना का उपदेश देना मात्र नहीं

---

१. गीता, ९।२९ २. वही, १३।२७-२८ ३. वही, ५।२
४. वही, ७।१७ ५. वही, ६।३२ ६. वही, ६।२९
७. वही, ६।३२ ८. वही, ६।४६

इसका अर्थ यह भी है कि योग दो प्रकार का है—१. साधन-योग और २. साध्य-योग। गीता जब ज्ञानयोग, कर्मयोग या भक्तियोग का विवेचन करती है तो ये उसकी साधन योग की व्याख्याएँ है। साधन अनेक हो सकते हैं ज्ञान, कर्म और भक्ति सभी साधन-योग हैं, साध्य-योग नहीं। लेकिन समत्वयोग साध्य-योग है। यह प्रश्न फिर भी उठाया जा सकता है कि समत्व योग को ही साध्य योग क्यों माना जाये, वह भी साधन योग क्यों नहीं हो सकता हैं ? इसके लिए हमारे तर्क इस प्रकार हैं :—

१. ज्ञान, कर्म, भक्ति और ध्यान सभी 'समत्व' के लिए होते हैं, क्योंकि यदि ज्ञान, कर्म, भक्ति या ध्यान स्वयं साध्य होते तो इनकी यथार्थता या शुभत्व स्वयं इनमें ही निहित होता। लेकिन गीता यह बताती है कि बिना समत्व के ज्ञान, यथार्थ ज्ञान नहीं बनता, जो समत्वदृष्टि रखता है वही ज्ञानी है[1]; बिना समत्व के कर्म अकर्म नहीं बनता। समत्व के अभाव में कर्म का बन्धकत्व बना रहता है, लेकिन जो सिद्धि और असिद्धि में समत्व से युक्त होता है, उसके लिए कर्म बन्धक नहीं बनते[2]। इसी प्रकार वह भक्त भी सच्चा भक्त नहीं है, जिसमें समत्व का अभाव है। समत्वभाव से यथार्थ भक्ति की उपलब्धि होती है[3]।

समत्व के आदर्श से युक्त होने पर ही ज्ञान, कर्म और भक्ति अपनी यथार्थता को पाते हैं। समत्व वह 'सार' है, जिसकी उपस्थिति में ज्ञान, कर्म और भक्ति का कोई मूल्य या अर्थ है। वस्तुतः ज्ञान, कर्म और भक्ति जबतक समत्व से युक्त नहीं होते हैं, उनमें समत्व की अवधारणा नहीं होती है, तबतक ज्ञान मात्र ज्ञान रहता है, वह ज्ञान-योग नहीं होता। कर्म मात्र कर्म रहता है, कर्मयोग नहीं बनता और भक्ति भी मात्र श्रद्धा या भक्ति ही रहती है, वह भक्तियोग नहीं बनती है, क्योंकि इन सबमें हम में निहित परमात्मा से जोड़ने की सामर्थ्य नहीं आती। 'समत्व' ही वह शक्ति है जिससे ज्ञान ज्ञानयोग के रूप में, भक्ति भक्तियोग के रूप में और कर्म कर्मयोग के रूप में बदल जाता है। जैन परम्परा में भी ज्ञान, दर्शन (श्रद्धा) और चारित्र (कर्म) जबतक समत्व से युक्त नहीं होते, सम्यक् नहीं बनते और जबतक ये सम्यक् नहीं बनते, तबतक मोक्षमार्ग के अंग नहीं होते हैं।

२. गीता के अनुसार मानव का साध्य परमात्मा की प्राप्ति है, और गीता का परमात्मा या ब्रह्म 'सम' है[4]। जिनका मन 'समभाव' में स्थित है वे तो संसार में रहते हुए भी मुक्त हैं क्योंकि ब्रह्म भी निर्दोष एवं सम है। वे उसी समत्व में स्थित हैं जो ब्रह्म हैं और इसलिए वे ब्रह्म में ही हैं।[5] इसे स्पष्ट रूप में यों कह सकते हैं कि जो 'समत्व' में स्थित हैं वे ब्रह्म में स्थित हैं, क्योंकि 'सम' ही ब्रह्म है। गीता में ईश्वर के

---

१. गीता, ५।१८ २. वही, ४।२२ ३. वही, ८।५४
४. वही, ५।१९, गीता (शां) ५।१८ ५. गीता, ५।१९

इस समत्व रूप का प्रतिपादन है। नवें अध्याय में कृष्ण कहते हैं कि मैं सभी प्राणियों में 'सम' के रूप में स्थित हूँ[1]। तेरहवें अध्याय में कहा है कि सम-रूप परमेश्वर सभी प्राणियों में स्थित हैं; प्राणियों के विनाश से भी उसका नाश नहीं होता है जो इस समत्व के रूप में उसको देखता है वही वास्तविक ज्ञानी है, क्योंकि सभी में समरूप में स्थित परमेश्वर को समभाव से देखता हुआ वह अपने द्वारा अपना ही घात नहीं करता अर्थात् अपने समत्वमय या वीतराग स्वभाव को नष्ट नहीं होने देता और मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

३. गीता के छठे अध्याय में परमयोगी के स्वरूप के वर्णन में यह धारणा और भी स्पष्ट हो जाती है। गीताकार जब कभी ज्ञान, कर्म या भक्तियोग में तुलना करता है तो वह उनकी तुलनात्मक श्रेष्ठता या कनिष्ठता का प्रतिपादन करता है, जैसे कर्म-संन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है[3], भक्तों में ज्ञानी-भक्त मुझे प्रिय है[4]।

लेकिन वह न तो ज्ञानयोगी को परमयोगी कहता है, न कर्मयोगी को परमयोगी कहता है और न भक्त को ही परमयोगी कहता है, वरन् उसकी दृष्टि में परमयोगी तो वह है जो सर्वत्र समत्व का दर्शन करता है[5]। गीताकार की दृष्टि में योगी की पहचान तो समत्व ही है। वह कहता है 'योग से युक्त आत्मा वही है जो समदर्शी है।'[6] समत्व की साधना करनेवाला योगी ही सच्चा योगी है। चाहे साधन के रूप में ज्ञान, कर्म या भक्ति हो यदि उनसे समत्व नहीं आता, तो वे योग नहीं हैं।

४. गीता का यथार्थ योग समत्व-योग है, इस बात की सिद्धि का एक अन्य प्रमाण भी है। गीता के छठे अध्याय में अर्जुन स्वयं ही यह कठिनाई उपस्थित करता है कि 'हे कृष्ण, आपने यह समत्वभाव (मन की समता) रूप योग कहा है, मुझे मन की चंचलता के कारण इस समत्वयोग का कोई स्थिर आधार दिखलाई नहीं देता है[7], अर्थात् मन की चंचलता के कारण इस समत्व को पाना सम्भव नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि गीताकार का मूल उपदेश तो इसी समत्व-योग का है, लेकिन यह समत्व मन की चंचलता के कारण सहज नहीं होता है। अतः मन की चंचलता को समाप्त करने के लिए ज्ञान, कर्म, तप, ध्यान और भक्ति के साधन बताये गये हैं। आगे श्रीकृष्ण जब यह कहते हैं कि हे अर्जुन, तपस्वी, ज्ञानी, कर्मकाण्डी सभी से योगी अधिक है अतः तू योगी हो जा[8], तो यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि गीता-कार का उद्देश्य ज्ञान, कर्म, भक्ति अथवा तप की साधना का उपदेश देना मात्र नहीं

---

१. गीता, ९।२९ २. वही, १३।२७-२८ ३. वही, ५।२
४. वही, ७।१७ ५. वही, ६।३२ ६. वही, ६।२९
७. वही, ६।३२ ८. वही, ६।४६

है। यदि ज्ञान, कर्म, भक्ति या तप रूप साधना का प्रतिपादन करना ही गीताकार का अन्तिम लक्ष्य होता, तो अर्जुन को ज्ञानी, तपस्वी, कर्मयोगी या भक्त बनने का उपदेश दिया जाता, न कि योगी बनने का। दूसरे, यदि गीताकार का योग से तात्पर्य कर्म-कौशल या कर्मयोग, ज्ञानयोग, तप (ध्यान) योग अथवा भक्तियोग ही होता तो इनमें पारस्परिक तुलना होनी चाहिए थी; लेकिन इन सबसे भिन्न एवं श्रेष्ठ यह योग कौन-सा है जिसके श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन गीताकार करता है एवं जिसे अंगीकार करने का अर्जुन को उपदेश देता है ? वह योग समत्व-योग ही है, जिसके श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन किया गया है। समत्व-योग में योग शब्द का अर्थ 'जोड़ना' नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्था में समत्व-योग भी साधन-योग होगा, साध्य-योग नहीं। ध्यान या समाधि भी समत्व-योग का साधन है।[1]

गीता में समत्व का अर्थ

गीता के समत्व-योग को समझने के लिए यह देखना होगा कि समत्व का गीता में क्या अर्थ है ? आचार्य शंकर लिखते हैं कि समत्व का अर्थ तुल्यता है, आत्मवत् दृष्टि है, जैसे मुझे सुख प्रिय एवं अनुकूल है और दुःख अप्रिय एवं प्रतिकूल है वैसे ही जगत् के समस्त प्राणियों को सुख अनुकूल है और दुःख अप्रिय एवं प्रतिकूल है। इस प्रकार जो सब प्राणियों में अपने ही समान सुख एवं दुःख को तुल्यभाव से अनुकूल एवं प्रतिकूल रूप में देखता है, किसी के भी प्रतिकूल आचरण नहीं करता, वही समदर्शी है। सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखना समत्व है।[2] लेकिन समत्व न केवल तुल्यदृष्टि या आत्मवत् दृष्टि है, वरन् मध्यस्थ दृष्टि, वीतराग दृष्टि एवं अनासक्त दृष्टि भी है। सुख-दुःख आदि जीवन के सभी अनुकूल और प्रतिकूल संयोगों में समभाव रखना, मान और अपमान, सिद्धि और असिद्धि में मन का विचलित नहीं होना, शत्रु और मित्र दोनों में माध्यस्थवृत्ति, आसक्ति और राग-द्वेष का अभाव ही समत्वयोग है। वैचारिक दृष्टि से पक्षाग्रह एवं संकल्प-विकल्पों से मानस का मुक्त होना ही समत्व है।

गीता में समत्व-योग की शिक्षा

गीता में अनेक स्थलों पर समत्व-योग की शिक्षा दी गयी है। श्रीकृष्ण कहते हैं, हे अर्जुन, जो सुख-दुःख में समभाव रखता है उस धीर (समभावी) व्यक्ति को इन्द्रियों के सुख-दुःखादि विषय व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष या अमृतत्व का अधिकारी होता है।[3] सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि में समत्वभाव धारण कर, फिर यदि तू युद्ध करेगा तो पाप नहीं लगेगा, क्योंकि जो समत्व से युक्त होता है उससे कोई पाप ही नहीं होता है।[4] हे अर्जुन, आसक्ति का त्याग कर, सिद्धि एवं असिद्धि में समभाव

---

१. गीता २।४३ २. गीता (शां०), ६।३२ ३. गीता २।१५

४. वही, २।३८, तुलना कीजिए—आचारांग, १।३।२

रखकर, समत्व से युक्त हो; तू कर्मों का आचरण कर, क्योंकि यह समत्व ही योग है।[1] समत्व-बुद्धियोग से सकाम-कर्म अति तुच्छ है, इसलिए हे अर्जुन, समत्व-बुद्धियोग का आश्रय ले क्योंकि फल की वासना अर्थात् आसक्ति रखनेवाले अत्यन्त दीन हैं।[2] समत्व-बुद्धि से युक्त पुरुष पाप और पुण्य दोनों से अलिप्त रहता है (अर्थात् समभाव होनेपर कर्म बन्धन कारक नहीं होते)। इसलिए समत्व-बुद्धियोग के लिए ही चेष्टा कर, समत्व बुद्धिरूप योग ही कर्म-बन्धन से छूटने का उपाय है, पाप-पुण्य से बचकर अना-सक्त एवं साम्यबुद्धि से कर्म करने की कुशलता ही योग है।[3] जो स्वाभाविक उप-लब्धियों में सन्तुष्ट है, राग-द्वेष एवं ईर्ष्या से रहित निर्द्वन्द्व एवं सिद्धि-असिद्धि में समभाव से युक्त है, वह जीवन के सामान्य व्यापारों को करते हुए भी बन्धन में नहीं आता है।[4] हे अर्जुन, अनेक प्रकार के सिद्धान्तों से विचलित तेरी बुद्धि जब समावि-युक्त हो निश्चल एवं स्थिर हो जायेगी, तब तू समत्वयोग को प्राप्त हो जायेगा।[5] जो भी प्राणी अपनी वासनात्मक आत्मा को जीतकर शीत और उष्ण, मान और अपमान, सुख और दुःख जैसी विरोधी स्थितियों में भी सदैव प्रशान्त रहता है अर्थात् समभाव रखता है वह परमात्मा में स्थित है।[6] जिसकी आत्मा तत्त्वज्ञान एवं आत्मज्ञान से तृप्त है जो अनासक्त एवं संयमी है, जो लौह एवं कांचन दोनों में समानभाव रखता है, वही योगी योग (समत्व-योग) से युक्त है, ऐसा कहा जाता है।[7] जो व्यक्ति सुहृदय, मित्र, शत्रु, तटस्थ, मध्यस्थ, द्वेषी एवं बन्धु में तथा धर्मात्मा एवं पापियों में समभाव रखता है, वही अति श्रेष्ठ है अथवा वही मुक्ति को प्राप्त करता है।[8] जो सभी प्राणियों को अपनी आत्मा में एवं अपनी आत्मा को सभी प्राणियों में देखता है अर्थात् सभी को समभाव से देखता है वही युक्तात्मा है।[9] जो सुख-दुःखादि अवस्थाओं में सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समभाव से देखता है, वही परमयोगी है।[10] जो अपनी इन्द्रियों के समूह को भलीभाँति संयमित करके सर्वत्र समत्वबुद्धि से सभी प्राणियों के कल्याण में निरत है, वह परमात्मा को ही प्राप्त कर लेता है।[11] जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों के फल का त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है।[12] जो पुरुष शत्रु-मित्र में और मान-अपमान में सम है तथा सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वों में सम है और सब संसार में आसक्ति से रहित है[13] तथा जो निन्दा-स्तुति को

---

१. गीता २।४८ २. वही, २।४९ ३. वही, २।५०
४. वही, ४।२३ ५. वही, २।५३ ६. वही, ६।७
७. वही, ६।८ ८. वही, ६।९ (पाठान्तर-विमुच्यते) ९. वही, ६।२९
१०. वही, ६।३२ ११. वही, १२।४ १२. वही, १२।१७
१३. वही ६।७

समान समझने वाला और मननशील है, अर्थात् ईश्वर के स्वरूप का निरन्तर मनन करनेवाला है एवं जिस किस प्रकार से भी मात्र शरीर का निर्वाह होने में सदा ही सन्तुष्ट है और रहने के स्थान में ममता से रहित है, वह स्थिर-बुद्धिवाला, भक्तिमान पुरुष मुझे प्रिय है।[१] इस प्रकार जानकर, जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में नाशरहित परमेश्वर को, समभाव से स्थित देखता है, वह वही देखता है।[२] क्योंकि वह पुरुष सबमें समभाव से स्थित हुए परमेश्वर को देखता हुआ अपने द्वारा आपको नष्ट नहीं करता है, अर्थात् शरीर का नाश होने से अपनी आत्मा का नाश नहीं मानता है, इससे वह परमगति को प्राप्त होता है।[३]

समत्व के अभाव में ज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं है चाहे वह ज्ञान कितना ही विशाल क्यों न हो। वह ज्ञान योग नहीं है। समत्व-दर्शन यथार्थ ज्ञान का अनिवार्य अंग है। समदर्शी ही सच्चा पण्डित या ज्ञानी है।[४] ज्ञान की सार्थकता और ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य समत्व-दर्शन है।[५] समत्वमय ब्रह्म या ईश्वर जो हम सब में निहित है, उसका बोध कराना ही ज्ञान और दर्शन की सार्थकता है। इसी प्रकार समत्व भावना के उदय से भक्ति का सच्चा स्वरूप प्रगट होता है। जो समदर्शी होता है वह परम भक्ति को प्राप्त करता है। गीता के अठारहवें अध्याय में कृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि जो समत्वभाव में स्थित होता है वह मेरी परमभक्ति को प्राप्त करता है।[६] बारहवें अध्याय में सच्चे भक्त का लक्षण भी समत्व वृत्ति का उदय माना गया है।[७] जब समत्वभाव का उदय होता है तभी व्यक्ति का कर्म अकर्म बनता है। समत्व-वृत्ति से युक्त होकर किया गया कोई भी आचरण बन्धनकारी नहीं होता, उस आचरण से व्यक्ति पापको प्राप्त नहीं होता।[८] इस प्रकार ध्यान-योग का परम साध्य भी वैचारिक समत्व है। समाधि की एक परिभाषा यह भी हो सकती है कि जिसके द्वारा चित्त का समत्व प्राप्त किया जाता है, वह समाधि है।[९]

ज्ञान, कर्म, भक्ति और ध्यान सभी समत्व को प्राप्त करने के लिए हैं। जब वे समत्व से युक्त हो जाते हैं, तब अपने सच्चे स्वरूपको प्रकट करते हैं। ज्ञान यथार्थ ज्ञान बन जाता है, भक्ति परम भक्ति हो जाती है, कर्म अकर्म हो जाता है और ध्यान निर्विकल्प समाधि का लाभ कर लेता है।

५. समत्वयोग का व्यवहार पक्ष

समत्वयोग का तात्पर्य चेतना का संघर्ष या द्वन्द्व से ऊपर उठ जाना है। वह

---

१. गीता १२।१९ २. वही, १३।२७ ३. वही, १३।२८
४. वही, ५।१८ ५. वही, १३।२७-२८ ६. वही, १८।५४
७. वही, १२।१७-१९ ८. वही, २।३८ ९. वही, २।५३

निराकुल, निर्द्वन्द्व और निर्विकल्प दशा का सूचक है। समत्व-योग जीवन के विविध पक्षों में एक ऐसा सांग सन्तुलन है जिसमें न केवल चैतसिक एवं वैयक्तिक जीवन के संघर्ष समाप्त होते हैं, वरन् सामाजिक जीवन के संघर्ष भी समाप्त हो जाते हैं, शर्त यह है कि समाज के सभी सदस्य उसकी साधना में प्रयत्नशील हों।

समत्वयोग में इन्द्रियाँ अपना कार्य तो करती हैं, लेकिन उनमें भोगासक्ति नहीं होती है और न इन्द्रियों के विषयों की अनुभूति चेतना में राग और द्वेष को जन्म देती है। चिन्तन तो होता है, किन्तु उससे पक्षवाद और वैचारिक दुराग्रहों का निर्माण नहीं होता। मन अपना कार्य तो करता है, लेकिन वह चेतना के सम्मुख जिसे प्रस्तुत करता है, उसे रंगीन नहीं बनाता है। आत्मा विशुद्ध द्रष्टा होता है। जीवन के सभी पक्ष अपना अपना कार्य विशुद्ध रूप में बिना किसी संघर्ष के करते हैं।

मनुष्य का अपने परिवेश के साथ जो संघर्ष है, उसके कारण के रूप में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति इतनी प्रमुख नहीं है जितनी कि व्यक्ति की भोगासक्ति। संघर्ष की तीव्रता आसक्ति की तीव्रता के साथ बढ़ती जाती है। प्रकृत-जीवन जीना न तो इतना जटिल है और न इतना संघर्षपूर्ण ही। व्यक्ति का आन्तरिक संघर्ष जो उसकी विभिन्न आकांक्षाओं और वासनाओं के कारण होता है उसके पीछे भी व्यक्ति की तृष्णा या आसक्ति ही प्रमुख है।

इसी प्रकार वैचारिक जगत् का सारा संघर्ष आग्रह, पक्ष या दृष्टि के कारण है। वाद, पक्ष या दृष्टि एक ओर सत्य को सीमित करती है, दूसरी ओर आग्रह से सत्य के अन्य अनन्त पहलू आवृत रह जाते हैं। भोगासक्ति स्वार्थों की संकीर्णता को जन्म देती है और आग्रहवृत्ति वैचारिक संकीर्णता को जन्म देती है। संकीर्णता चाहे वह हितों की हो या विचारों की, संघर्ष को जन्म देती है। समस्त सामाजिक संघर्षों के मूल में यही हितों की या विचारों की संकीर्णता काम कर रही है।

जब आसक्ति, लोभ या राग के रूप में पक्ष उपस्थित होता है तो द्वेष या घृणा के रूप में प्रतिपक्ष भी उपस्थित हो जाता है। पक्ष और प्रतिपक्ष की यह उपस्थिति आंतरिक संघर्ष का कारण होती है। समत्वयोग राग और द्वेष के द्वन्द्व से ऊपर उठाकर वीतरागता की ओर ले जाता है। वह आन्तरिक सन्तुलन है। व्यक्ति के लिए यह आन्तरिक सन्तुलन ही प्रमुख है। आन्तरिक सन्तुलन की उपस्थिति में बाह्य जागतिक विक्षोभ विचलित नहीं कर सकते हैं।

जब व्यक्ति आन्तरिक सन्तुलन से युक्त होता है तो उसके आचार-विचार और व्यवहार में भी वह सन्तुलन प्रकट हो जाता है। उसका कोई भी व्यवहार या आचार बाह्य असन्तुलन का कारण नहीं बनता है। आचार और विचार हमारे मन के बाह्य प्रकटन हैं, व्यक्ति के मानस का बाह्य जगत् में प्रतिबिम्ब हैं। जिसमें आन्तरिक सन्तुलन या समत्व है, उसके आचार और विचार भी समत्वपूर्ण होते हैं। इतना ही नहीं,

वह विश्व-व्यवहार में एक सांग सन्तुलन स्थापित करने के लिए भी प्रयत्नशील होता है, उसका सन्तुलित व्यक्तित्व विश्व-व्यवहार को प्रभावित भी करता है एवं उसके द्वारा सामाजिक जीवन का निर्माण भी हो सकता है। फिर भी सामाजिक जीवन में ऐसा व्यक्तित्व एक मात्र कारक नहीं होता, अतः उसके प्रयास सदैव ही सफल हों यह अनिवार्य नहीं है। सामाजिक समत्व की संस्थापना समत्वयोग का साध्य तो है, लेकिन उसकी सिद्धि वैयक्तिक समत्व पर नहीं, वरन् समाज के सभी सदस्यों के सामूहिक प्रयत्नों पर निर्भर है। फिर भी समत्व योगी के व्यवहार से न तो सामाजिक संघर्ष उत्पन्न होता है और न बाह्य संघर्षों, क्षुब्धताओं और कठिनाईयों से वह अपने मानस को विचलित होने देता है। समत्वयोग का मूल केन्द्र आन्तरिक संतुलन या समत्व है, जो कि राग और द्वेष के प्रहाण से उपलब्ध होता है।

समत्व योग भारतीय साधना का केन्द्रीय तत्त्व है लेकिन इस समत्व की उपलब्धि कैसे हो सकती है यह विचारणीय है। सर्वप्रथम तो जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार-दर्शन समत्व की उपलब्धि के लिए त्रिविध साधना पथ का प्रतिपादन करते हैं। चेतना के ज्ञान, भाव और संकल्प पक्ष को समत्त्व से युक्त या सम्यक् बनाने हेतु जहाँ जैन दर्शन सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र का प्रतिपादन करता है वहीं बौद्ध दर्शन प्रज्ञा, शील और समाधि का और गीता ज्ञानयोग कर्मयोग और भक्तियोग का प्रतिपादन करती है। केवल इतना ही नहीं, अपितु इन आचार दर्शनों ने हमारे व्यावहारिक और सामाजिक जीवन की समता के लिये भी कुछ दिशा निर्देशक सूत्र प्रस्तुत किये हैं। हमारे व्यावहारिक जीवन की विषमताएँ तीन हैं—१. आसक्ति २. आग्रह और ३. अधिकार भावना। यही वैयक्तिक जीवन की विषमताएँ सामाजिक जीवन में वर्ग-विद्वेष शोषकवृत्ति और धार्मिक एवं राजनैतिक मतान्धता को जन्म देती हैं और परिणाम स्वरूप हिंसा, युद्ध और वर्ग संघर्ष पनपते हैं। इन विषमताओं के कारण उद्भूत संघर्षों को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) व्यक्ति का आन्तरिक संघर्ष—जो आदर्श और वासना के मध्य है, यह इच्छाओं का संघर्ष है। इसे चैतसिक विषमता कहा जा सकता है। इसका सम्बन्ध व्यक्ति स्वयं से है।

(२) व्यक्ति और वातावरण का संघर्ष—व्यक्ति अपनी शारीरिक आवश्यकताओं और अन्य इच्छाओं की पूर्ति बाह्य जगत् में करता है। अनन्त इच्छा और सीमित पूर्ति के साधन इस संघर्ष को जन्म देते हैं। यह आर्थिक संघर्ष अथवा मनो-भौतिक संघर्ष है।

(३) व्यक्ति और समाज का संघर्ष—व्यक्ति अपने अहंकार की तुष्टि समाज में करता है, उस अहंकार को पोषण देने के लिए अनेक मिथ्या विश्वासों का समाज में सृजन करता है। यहीं वैचारिक संघर्ष का जन्म होता है। ऊँच-नीच का भाव, धार्मिक मतान्धता और विभिन्न वाद उसी के परिणाम हैं।

(४) समाज और समाज का संघर्ष—जब व्यक्ति सामान्य हितों और सामान्य वैचारिक विश्वासों के आधार पर समूह या गुट बनाता है तो सामाजिक संघर्षों का उदय होता है। इसका आधार आर्थिक और वैचारिक दोनों ही हो सकता है।

समत्वयोग का व्यवहार पक्ष और जैन दृष्टि

जैसा कि हमने पूर्व में देखा कि इन समग्र संघर्षों का मूल हेतु आसक्ति, आग्रह और संग्रह वृत्ति में निहित है। अतः जैन दार्शनिकों ने उनके निराकरण के हेतु अनासक्ति, अनाग्रह, अहिंसा तथा असंग्रह के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। वस्तुतः व्यावहारिक दृष्टि से चित्तवृत्ति का समत्व, अनासक्ति या वीतरागता में, बुद्धि का समत्व अनाग्रह या अनेकान्त में और आचरण का समत्व अहिंसा एवं अपरिग्रह में निहित है। अनासक्ति, अनेकान्त, अहिंसा और अपरिग्रह के सिद्धान्त ही जैनदर्शन में समत्वयोग की साधना के चार आधार स्तम्भ हैं। जैन-दर्शन के समत्वयोग की साधना को व्यावहारिक दृष्टि से निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

समत्वयोग के निष्ठासूत्र

(अ) संघर्ष के निराकरण का प्रयत्न ही जीवन के विकास का सच्चा अर्थ—समत्वयोग का पहला सूत्र है संघर्ष नहीं, संघर्ष या तनाव को समाप्त करना ही वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन की प्रगति का सच्चा स्वरूप है। अस्तित्व के लिए संघर्ष के स्थान पर जैन-दर्शन संघर्ष के निराकरण में अस्तित्व का सूत्र प्रस्तुत करता है। जीवन संघर्ष में नहीं वरन् उसके निराकरण में है। जैन-दर्शन न तो इस सिद्धान्त में आस्था रखता है कि जीवन के लिए संघर्ष आवश्यक है और न यह मानता है कि "जीओ और जीने दो" का नारा ही पर्याप्त है। उसका सिद्धान्त है जीवन के लिए जीवन का विनाश नहीं, वरन् जीवन के द्वारा जीवन का विकास या कल्याण (परस्परोपग्रहो जीवानाम्—तत्त्वार्थसूत्र) जीवन का नियम संघर्ष का नियम नहीं वरन् परस्पर सहकार का नियम है।

(ब) सभी मनुष्यों की मौलिक समानता पर आस्था :—आत्मा की दृष्टि से सभी प्राणी समान हैं, यह जैनदर्शन की प्रमुख मान्यता है। इसके साथ ही जैन आचार्यों ने मानव जाति की एकता को भी स्वीकार किया है। वर्ण, जाति, सम्प्रदाय और आर्थिक आधारों पर मनुष्यों में भेद करना मनुष्यों की मौलिक समता को दृष्टि से ओझल करना है। सभी मनुष्य, मनुष्य-समाज में समान अधिकारों से युक्त हैं। यह निष्ठा साम्ययोग के सामाजिक सन्दर्भ का आवश्यक अंग है। इसके मूल में सभी मनुष्यों को समान अधिकार से युक्त समझने की धारणा रही हुई है। यह सामाजिक न्याय का आधार है जो सामाजिक संघर्ष को समाप्त करता है।

समत्वयोग के क्रियान्वयन के चार सूत्र—

(१) **वृत्ति में अनासक्ति** :—अनासक्त जीवन-दृष्टि का निर्माण यह समत्वयोग की

श्रद्धा और समाधि दोनों समान इसलिए हैं कि दोनों में चित्त विकल्प नहीं होते हैं। समाधि या श्रद्धा को सम्यक् दर्शन से और प्रज्ञा को सम्यक्-ज्ञान से तुलनीय माना जा सकता है। बौद्ध दर्शन का अष्टांग मार्ग सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-वाणी, सम्यक्-कर्मान्त, सम्यक्-आजीव, सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति और सम्यक्-समाधि है। इनमें सम्यक्-वाचा, सम्यक्-कर्मान्त और सम्यक्-आजीव इन तीनों का अन्तर्भाव शील में, सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति और सम्यक्-समाधि इन तीनों का अन्तर्भाव चित्त, श्रद्धा या समाधि में और सम्यक्-संकल्प और सम्यक्-दृष्टि इन दो का अन्तर्भाव प्रज्ञा में होता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन में भी मौलिक रूप से त्रिविध साधना मार्ग ही प्ररूपित है।

गीता का त्रिविध साधना-मार्ग—गीता में भी ज्ञान, कर्म और भक्ति के रूप में त्रिविध साधना-मार्ग का उल्लेख है। इन्हें ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग के नाम से भी अभिहित किया गया है। यद्यपि गीता में ध्यानयोग का भी उल्लेख है। जिस प्रकार जैन-दर्शन में तप का स्वतन्त्र विवेचन होते हुए भी उसे सम्यक्चारित्र के अन्तर्भूत लिया गया है उसी प्रकार गीता में भी ध्यानयोग को कर्मयोग के अधीन माना जा सकता है। गीता में प्रसंगान्तर से मोक्ष की उपलब्धि के साधन के रूप में प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा का भी उल्लेख है।[1] इनमें प्रणिपात श्रद्धा या भक्ति का, परिप्रश्न ज्ञान का और सेवा कर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। योग-दर्शन में भी ज्ञानयोग, भक्तियोग और क्रियायोग के रूप में इसी त्रिविध साधना मार्ग का प्रस्तुतीकरण हुआ है। वैदिक परम्परा में इस त्रिविध साधना मार्ग के प्रस्तुतीकरण के पीछे एक दार्शनिक दृष्टि रही है। उसमें परमसत्ता या ब्रह्म के तीन पक्ष सत्य, सुन्दर और शिव माने गये हैं। ब्रह्म जो कि नैतिक जीवन का साध्य है इन तीन पक्षों से युक्त है और इन तीनों की उपलब्धि के लिए ही त्रिविध साधना-मार्ग का विधान किया गया है। सत्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान, सुन्दर की उपलब्धि के लिए भाव या श्रद्धा और शिव की उपलब्धि के लिए सेवा या कर्म माने गये हैं। उपनिषदों में श्रवण, मनन और निदिध्यासन के रूप में भी त्रिविध साधना-मार्ग निरूपित है। गहराई से देखें तो श्रवण श्रद्धा, मनन ज्ञान और निदिध्यासन कर्म के अन्तर्गत् आ जाते हैं। इस प्रकार वैदिक परम्परा में भी त्रिविध साधना-मार्ग का विधान है।

पाश्चात्य चिन्तन में त्रिविध साधना-पथ—पाश्चात्य परम्परा में तीन नैतिक आदेश उपलब्ध होते हैं—१. स्वयं को जानो (Know Thyself), २. स्वयं को स्वीकार करो (Accept Thyself) और ३. स्वयं ही बन जाओ (Be Thyself)।[2] पाश्चात्य चिन्तन के तीन नैतिक आदेश ज्ञान दर्शन और चारित्र के समकक्ष ही हैं।

---

१. गीता ४।३४, ४।३९

२. साइकोलाजी एन्ड मारल्स, पृ० १८०

आत्मज्ञान में ज्ञान का तत्त्व, आत्म-स्वीकृति में श्रद्धा का तत्त्व और आत्म-निर्माण में चारित्र का तत्त्व स्वीकृत ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि त्रिविध साधना-मार्ग के विधान में जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परायें ही नहीं, पाश्चात्य विचारक भी एकमत हैं। तुलनात्मक रूप में उन्हें निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है :—

जैन-दर्शन	बौद्ध-दर्शन	गीता	उपनिषद्	पाश्चात्य-दर्शन
सम्यग्ज्ञान	प्रज्ञा	ज्ञान, परिप्रश्न	मनन	Know Thyself
सम्यग्दर्शन	श्रद्धा, चित्त, समाधि	श्रद्धा, प्रणिपात	श्रवण	Accept Thyself
सम्यक्चारित्र	शील, वीर्य	कर्म, सेवा	निदिध्यासन	Be Thyself

साधन-त्रय का परस्पर सम्बन्ध—जैन आचार्यों ने नैतिक साधना के लिए इन तीनों साधना-मार्गों को एक साथ स्वीकार किया है। उनके अनुसार नैतिक साधना की पूर्णता त्रिविध साधनापथ के समग्र परिपालन में ही सम्भव है। जैन-विचारक तीनों के समवेत से ही मुक्ति मानते हैं। उनके अनुसार न अकेला ज्ञान, न अकेला कर्म और न अकेली भक्ति मुक्ति देने में समर्थ है। जब कि कुछ भारतीय विचारकों ने इनमें से किसी एक को ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन मान लिया है। आचार्य शंकर केवल ज्ञान से और रामानुज केवल भक्ति से मुक्ति की संभावना को स्वीकार करते हैं, लेकिन जैन-दार्शनिक ऐसी किसी एकान्तवादिता में नहीं पड़ते हैं। उनके अनुसार तो ज्ञान, कर्म और भक्ति की समवेत साधना में ही मोक्ष-सिद्धि संभव है। इनमें से किसी एक के अभाव में मोक्ष या नैतिक साध्य की प्राप्ति सम्भव नहीं। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और जिसमें ज्ञान नहीं है उसका आचरण सम्यक् नहीं होता और सम्यक् आचरण के अभाव में आसक्ति से मुक्त नहीं हुआ जाता है और जो आसक्ति से मुक्त नहीं उसका निर्वाण या मोक्ष नहीं होता।[1] इस प्रकार शास्त्रकार यह स्पष्ट कर देता है कि निर्वाण या नैतिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए इन तीनों की एक साथ आवश्यकता है। वस्तुतः नैतिक साध्य के रूप में जिस पूर्णता को स्वीकार किया गया है वह चेतना के किसी एक पक्ष की पूर्णता नहीं, वरन् तीनों पक्षों की पूर्णता है और इसके लिए साधना के तीनों पक्ष आवश्यक हैं।

यद्यपि नैतिक साधना के लिए सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र या शील, समाधि और प्रज्ञा अथवा श्रद्धा, ज्ञान और कर्म तीनों आवश्यक हैं, लेकिन इनमें साधना की दृष्टि से एक पूर्वापरता का क्रम भी है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का पूर्वापर सम्बन्ध—ज्ञान और दर्शन की पूर्वापरता को लेकर जैन विचारणा में काफी विवाद रहा है। कुछ आचार्य दर्शन को प्राथमिक

१. उत्तराध्ययन, २८।३०

मानते हैं तो कुछ ज्ञान को, कुछ ने दोनों का यौगपद्य (समानान्तरता) स्वीकार किया है। यद्यपि आचार-मीमांसा की दृष्टि से दर्शन की प्राथमिकता ही प्रबल रही है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता।[1] इस प्रकार ज्ञान की अपेक्षा दर्शन को प्राथमिकता दी गयी है। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति ने भी अपने ग्रन्थ में दर्शन को ज्ञान और चारित्र के पहले स्थान दिया है।[2] आचार्य कुन्दकुन्द दर्शनपाहुड में कहते हैं कि धर्म (साधनामार्ग) दर्शन-प्रधान है।[3]

लेकिन दूसरी ओर कुछ सन्दर्भ ऐसे भी हैं जिनमें ज्ञान को प्रथम माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र में, उसी अध्याय में मोक्ष-मार्ग की विवेचना में जो क्रम है उसमें ज्ञान का स्थान प्रथम है।[4] वस्तुतः साधनात्मक जीवन की दृष्टि से भी ज्ञान और दर्शन में किसे प्राथमिक माना जाय, यह निर्णय करना सहज नहीं है। इस विवाद के मूल में यह तथ्य है कि श्रद्धावादी दृष्टिकोण सम्यग्दर्शन को प्रथम स्थान देता है, जब कि ज्ञानवादी दृष्टिकोण श्रद्धा के सम्यक् होने के लिए ज्ञान की प्राथमिकता को स्वीकार करता है। वस्तुतः इस विवाद में कोई ऐकान्तिक निर्णय लेना अनुचित ही होगा। यहाँ समन्वय-वादी दृष्टिकोण ही संगत होगा। नवतत्त्वप्रकरण में ऐसा ही समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है जहाँ दोनों को एकदूसरे का पूर्वापर बताया है। कहा है कि जो जीवादि नव पदार्थों को यथार्थ रूप से जानता है उसे सम्यक्त्व होता है। इस प्रकार ज्ञान को दर्शन के पूर्व बताया गया है, लेकिन अगली पंक्ति में ही ज्ञानाभाव में केवल श्रद्धा से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति मान ली गयी है और कहा गया है कि जो वस्तुतत्त्व को स्वतः नहीं जानता हुआ भी उसके प्रति भाव से श्रद्धा करता है उसे सम्यक्त्व हो जाता है।[5]

हम अपने दृष्टिकोण से इनमें से किसे प्रथम स्थान दें, इसका निर्णय करने के पूर्व दर्शन शब्द के अर्थ का निश्चय कर लेना जरूरी है। दर्शन शब्द के दो अर्थ हैं— १. यथार्थ दृष्टिकोण और २. श्रद्धा। यदि हम दर्शन का यथार्थ दृष्टिकोणपरक अर्थ लेते हैं तो हमें साधना-मार्ग की दृष्टि से उसे प्रथम स्थान देना चाहिए। क्योंकि यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण ही मिथ्या है, अयथार्थ है तो न तो उसका ज्ञान सम्यक् (यथार्थ) होगा और न चारित्र ही। यथार्थ दृष्टि के अभाव में यदि ज्ञान और चारित्र सम्यक् प्रतीत भी हो, तो भी वे सम्यक् नहीं कहे जा सकते। वह तो संयोगिक प्रसंग मात्र है। ऐसा साधक दिग्भ्रांत भी हो सकता है जिसकी दृष्टि ही दूषित है, वह क्या सत्य को जानेगा और उसका आचरण करेगा ? दूसरी ओर यदि हम सम्यग्दर्शन का श्रद्धापरक

---

१. उत्तराध्ययन २८।३०
२. तत्त्वार्थसूत्र, १।१
३. दर्शनपाहुड, २
४. उत्तराध्ययन, २८।२
५. नवतत्त्वप्रकरण, १ उद्धृत—आत्मसाधना संग्रह, पृ० १५१

अर्थ लेते हैं तो उसका स्थान ज्ञान के पश्चात् ही होगा। क्योंकि अविचल श्रद्धा तो ज्ञान के बाद ही उत्पन्न हो सकती है। उत्तराध्ययनसूत्र में भी दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ करते समय उसे ज्ञान के बाद ही स्थान दिया गया है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ज्ञान से पदार्थ (तत्त्व) स्वरूप को जाने और दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा करे।[1] व्यक्ति के स्वानुभव (ज्ञान) के पश्चात् ही जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसमें जो स्थायित्व होता है वह ज्ञानाभाव में प्राप्त हुई श्रद्धा से नहीं हो सकता। ज्ञानाभाव में जो श्रद्धा होती है, उसमें संशय होने की सम्भावना हो सकती है। ऐसी श्रद्धा यथार्थ श्रद्धा नहीं वरन् अन्ध श्रद्धा ही हो सकती है। जिन-प्रणीत तत्त्वों में भी यथार्थ श्रद्धा तो उनके स्वानुभव एवं तार्किक परीक्षण के पश्चात् ही हो सकती है। यद्यपि साधना के लिए, आचरण के लिए श्रद्धा अनिवार्य तत्त्व है, लेकिन वह ज्ञान-प्रसूत होनी चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा है कि धर्म की समीक्षा प्रज्ञा के द्वारा करे, तर्क से तत्त्व का विश्लेषण करे।[2]

इस प्रकार यथार्थ दृष्टिपरक अर्थ में सम्यग्दर्शन को ज्ञान के पूर्व लेना चाहिए, जब कि श्रद्धापरक अर्थ में उसे ज्ञान के पश्चात् स्थान देना चाहिए।

बौद्ध-विचारणा में ज्ञान और श्रद्धा का सम्बन्ध—बौद्ध-विचारणा ने सम्यग्दर्शन या सम्यग्दृष्टि शब्द का यथार्थ दृष्टिकोणपरक अर्थ स्वीकारा है और अष्टांगिक साधना-मार्ग में उसे प्रथम स्थान दिया है। यद्यपि अष्टांग साधना-मार्ग में ज्ञान का कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं है, तथापि वह सम्यग्दृष्टि में ही समाहित है। आंशिक रूप में उसे सम्यक् स्मृति के अधीन भी माना जा सकता है। तथापि बौद्ध साधना के त्रिविध मार्ग शील, समाधि, प्रज्ञा में ज्ञान को स्वतन्त्र स्थान भी प्रदान करते हैं। चाहे बुद्ध ने आत्मदीप एवं आत्मशरण के स्वर्णिम सूत्र का उद्घोष कर श्रद्धा की अपेक्षा स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाया हो, फिर भी बौद्ध आचार-दर्शन में श्रद्धा का महत्त्वपूर्ण स्थान सभी युगों में रहा है। सुत्तनिपात में आलवक यक्ष के प्रति बुद्ध स्वयं कहते हैं कि मनुष्य का श्रेष्ठ धन श्रद्धा है।[3] मनुष्य श्रद्धा से इस संसाररूप बाढ़ को पार करता है।[4] इतना ही नहीं, ज्ञान की उपलब्धि के साधन के रूप में श्रद्धा को स्वीकार करके बुद्ध गीता की विचारणा के अत्यधिक निकट आ जाते हैं। गीता के समान ही बुद्ध सुत्तनिपात में आलवक यक्ष से कहते हैं, "निर्वाण की ओर ले जानेवाले अर्हतों के धर्म में श्रद्धा रखनेवाला अप्रमत्त और विचक्षण पुरुष प्रज्ञा प्राप्त करता है।"[5] 'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं' और 'सद्दहानो लभते पञ्ञ' का शब्द-साम्य दोनों आचार-दर्शनों में निकटता देखनेवाले विद्वानों के लिए विशेषरूप से द्रष्टव्य है।

लेकिन यदि हम श्रद्धा को आस्था के अर्थ में ग्रहण करते हैं तो बुद्ध की दृष्टि में

१. उत्तराध्ययन, २८।३५
२. वही, २३।२५
३. सुत्तनिपात, १०।२
४. वही, १०।४
५. वही, १०।६

प्रज्ञा प्रथम है और श्रद्धा द्वितीय स्थान पर। संयुत्तनिकाय में बुद्ध कहते हैं कि श्रद्धा पुरुष की साथी है और प्रज्ञा उस पर नियन्त्रण करती है।[१] इस प्रकार श्रद्धा पर विवेक का स्थान स्वीकार किया गया है। बुद्ध कहते हैं, श्रद्धा से ज्ञान बड़ा है।[२] इस प्रकार बुद्ध की दृष्टि में ज्ञान का महत्त्व अधिक सिद्ध होता है। यद्यपि बुद्ध श्रद्धा के महत्त्व को और ज्ञान-प्राप्ति के लिए उसकी आवश्यकता को स्वीकार करते हैं, तथापि जहाँ श्रद्धा और ज्ञान में किसी की श्रेष्ठता का प्रश्न आता है वे ज्ञान (प्रज्ञा) की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं। बौद्ध-साहित्य में बहुचर्चित कालामसुत्त भी इसका प्रमाण है। कालामों को उपदेश देते हुए बुद्ध स्वविवेक को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। वे कहते हैं 'हे कालामों, तुम किसी बात को इसलिए स्वीकार मत करो कि यह बात अनुश्रुत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह बात परम्परागत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह बात इसी प्रकार कही गई है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह हमारे धर्म-ग्रंथ (पिटक) के अनुकूल है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह तर्क-सम्मत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह न्याय (शास्त्र) सम्मत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि इसका आकार-प्रकार (कथन का ढंग) सुन्दर है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह हमारे मत के अनुकूल है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि कहने वाले का व्यक्तित्व आकर्षक है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि कहने वाला श्रमण हमारा पूज्य है। हे कालामों, (यदि) तुम जब आत्मानुभव से अपने आप ही यह जानो कि ये बातें अकुशल हैं, ये बातें सदोष हैं, ये बातें विज्ञ पुरुषों द्वारा निंदित हैं, इन बातों के अनुसार चलने से अहित होता है, दुःख होता है—तो हे कालामों, तुम उन बातों को छोड़ दो'।[३] बुद्ध का उपर्युक्त कथन श्रद्धा के ऊपर मानवीय विवेक की श्रेष्ठता का प्रतिपादक है।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि बुद्ध मानवीय प्रज्ञा को श्रद्धा से पूर्णतया निर्मुक्त कर देते हैं। बुद्ध की दृष्टि में ज्ञानविहीन श्रद्धा मनुष्य के स्वविवेक रूपी चक्षु को समाप्त कर उसे अन्धा बना देती है और श्रद्धा-विहीन ज्ञान मनुष्य को संशय और तर्क के मरुस्थल में भटका देता है। इस मानवीय प्रकृति का विश्लेषण करते हुए विसुद्धिमग्ग में कहा है कि बलवान् श्रद्धावाला किन्तु मन्द प्रज्ञा वाला व्यक्ति बिना सोचे-समझे हर कहीं विश्वास कर लेता है और बलवान् प्रज्ञावाला किन्तु मन्द श्रद्धावाला व्यक्ति कुतार्किक (धूर्त) हो जाता है, वह औषधि से उत्पन्न होनेवाले रोग के समान ही असाध्य होता है।[४] इस प्रकार बुद्ध श्रद्धा और विवेक के मध्य एक समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान से युक्त श्रद्धा और श्रद्धा से युक्त ज्ञान ही साधना के क्षेत्र में सच्चे दिशा-निर्देशक हो सकते हैं।

---

१. संयुत्तनिकाय, १।१।५९ २. वही, ४।४१।८
३. अंगुत्तरनिकाय, ३।६५ ४. गीता, ४।३९

गीता में श्रद्धा और ज्ञान का सम्बन्ध—गीता के अनुसार श्रद्धा को ही प्रथम स्थान देना होगा। गीताकार कहता है कि श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता है।[1] यद्यपि गीता में ज्ञान की महिमा गायी गयी है, लेकिन ज्ञान श्रद्धा के ऊपर अपना स्थान नहीं बना पाया है, वह श्रद्धा की प्राप्ति का एक साधन ही है। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि निरन्तर मेरे ध्यान में लीन और प्रीतिपूर्वक भजने वाले लोगों को मैं बुद्धियोग प्रदान करता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं।[2] यहाँ ज्ञान को श्रद्धा का परिणाम माना गया है। इस प्रकार गीता यह स्वीकार करती है कि यदि साधक मात्र श्रद्धा या भक्ति का सम्बल लेकर साधना के क्षेत्र में आगे बढ़े तो ज्ञान उसे ईश्वरीय अनुकम्पा के रूप में प्राप्त हो जाता है। कृष्ण कहते हैं कि श्रद्धायुक्त भक्तजनों पर अनुग्रह करने के लिए मैं स्वयं उनके अन्तःकरण में स्थित होकर अज्ञानजन्य अन्धकार को ज्ञानरूपी प्रकाश से नष्ट कर देता हूँ।[3] इस प्रकार गीता में ज्ञान के स्थान पर साधना की दृष्टि से श्रद्धा ही प्राथमिक सिद्ध होती है।

लेकिन जैन-विचारणा में यह स्थिति नहीं है। यद्यपि उसमें श्रद्धा का काफी माहात्म्य निरूपित है और कभी तो वह गीता के अति निकट आकर यह भी कह देती है कि दर्शन (श्रद्धा) की विशुद्धि से ज्ञान की विशुद्धि हो ही जाती है अर्थात् श्रद्धा के सम्यक् होने पर सम्यक् ज्ञान उपलब्ध हो ही जाता है, फिर भी उसमें श्रद्धा ज्ञान और स्वानुभव के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। इसके पीछे जो कारण है वह यह कि गीता में श्रद्धेय इतना समर्थ माना गया है कि वह अपने उपासक के हृदय में ज्ञान की आभा को प्रकाशित कर सकता है, जबकि जैन-विचारणा में श्रद्धेय (उपास्य) उपासक को अपनी ओर से कुछ भी देने में असमर्थ है, साधक को स्वयं ही ज्ञान उपलब्ध करना होता है।

सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का पूर्वापर सम्बन्ध—चारित्र और ज्ञान-दर्शन के पूर्वापर सम्बन्ध को लेकर जैन-विचारणा में कोई विवाद नहीं है। चारित्र की अपेक्षा ज्ञान और दर्शन को प्राथमिकता प्रदान की गई है। चारित्र साधना-मार्ग में गति है जब ज्ञान साधना पथ का बोध है और दर्शन यह विश्वास जाग्रत करता है कि यह पथ उसे अपने लक्ष्य की ओर ले जानेवाला है। सामान्य पथिक भी यदि पथ के ज्ञान एवं इस दृढ़ विश्वास के अभाव में कि वह पथ उसके वांछित लक्ष्य को जाता है, अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता, तो फिर आध्यात्मिक साधना मार्ग का पथिक बिना ज्ञान और आस्था (श्रद्धा) के कैसे आगे बढ़ सकता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि ज्ञान से (यथार्थ साधना मार्ग को) जाने, दर्शन के द्वारा उस पर विश्वास करे और चारित्र से उस साधना मार्ग पर आचरण करता हुआ तप से अपनी आत्मा का परिशोधन करे।[4]

१. गीता, १०।१०
२. वही, १०।२१
३. विसुद्धिमग्ग, ४।४७
४. उत्तराध्ययन, २८।३५

यद्यपि लक्ष्य के पाने के लिए चारित्ररूप प्रयास आवश्यक है, लेकिन प्रयास को लक्ष्योन्मुख और सम्यक् होना चाहिए। मात्र अन्धे प्रयासों से लक्ष्य प्राप्त नहीं होता। यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ नहीं है तो ज्ञान यथार्थ नहीं होगा और ज्ञान के यथार्थ नहीं होने पर चारित्र या आचरण भी यथार्थ नहीं होगा। इसलिये जैन आगमों में चारित्र से दर्शन (श्रद्धा) की प्राथमिकता बताते हुए कहा गया है कि सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यक्चारित्र नहीं होता।[१] भक्तपरिज्ञा मे कहा गया है कि दर्शन से भ्रष्ट (पतित) ही वास्तविक भ्रष्ट है, चारित्र से भ्रष्ट भ्रष्ट नहीं है, क्योंकि जो दर्शन से युक्त है वह संसार में अधिक परिभ्रमण नहीं करता जबकि दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति संसार से मुक्त नहीं होता! कदाचित् चारित्र से रहित सिद्ध भी हो जावे, लेकिन दर्शन से रहित कभी भी मुक्त नहीं होता[२]। वस्तुतः दृष्टिकोण या श्रद्धा ही एक ऐसा तत्त्व है जो व्यक्ति के ज्ञान और आचरण का सही दिशा-निर्देश करता है। आचार्य भद्रबाहु आचारांगनिर्युक्ति में कहते हैं कि सम्यक् दृष्टि से ही तप, ज्ञान और सदाचरण सफल होते हैं।[3] संत आनन्दघन दर्शन की महत्ता को सिद्ध करते हुए अनन्तजिन के स्तवन में कहते हैं—

शुद्ध श्रद्धा बिना सर्व किरिया करी,
छार (राख) पर लीपणुं तेह जाणो रे।

बौद्ध-दर्शन और गीता का दृष्टिकोण—जैन-दर्शन के समान बौद्ध-दर्शन और गीता में भी श्रद्धा को आचरण का पूर्ववर्ती माना गया है। संयुत्तनिकाय में बुद्ध कहते हैं कि श्रद्धा पूर्वक दिया हुआ दान ही प्रशंसनीय है।[४] आचार्य भद्रबाहु और आनन्दघन तथा भगवान् बुद्ध के उपर्युक्त दृष्टिकोण के समान ही गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन, बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है वह सभी असत् (असम्यक्) कहा जाता है वह—न तो इस लोक में लाभदायक है न परलोक में।[५] तैत्तिरीय उपनिषद् में भी यही कहा गया है कि जो भी दानादि कर्म करना चाहिए उन्हें श्रद्धापूर्वक ही करना चाहिए, अश्रद्धापूर्वक नहीं।[६] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराएँ आचरण के पूर्व श्रद्धा को स्थान देती हैं। वस्तुतः श्रद्धा आचरण के अन्तस् में निहित एक ऐसा तत्त्व है जो कर्म को उचितता प्रदान करता है। नैतिक जीवन के क्षेत्र में वह एक आन्तरिक अंकुश के रूप में कार्य करती है और इसलिए वह कर्म से प्रथम है।

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्वापरता—जैन-विचारकों ने चारित्र को ज्ञान के बाद ही रखा है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि जो जीव और अजीव के

१. उत्तराध्ययन, २८।२९
२. भक्तपरिज्ञा, ६५-६६
३. आचारांगनिर्युक्ति, २२१
४. संयुत्तनिकाय १।१।३३
५. गीता, १७।२८
६. तैत्तिरीय उपनिषद् शिक्षावल्ली

स्वरूप को नहीं जानता, ऐसा जीव और अजीव के विषय में अज्ञानी साधक क्या धर्म (संयम) का आचरण करेगा ?[१] उत्तराध्ययनसूत्र में भी यही कहा है कि सम्यग्ज्ञान के अभाव में सदाचरण नहीं होता।[२] इस प्रकार जैन-दर्शन ज्ञान को चारित्र के पूर्व मानता है। जैन दार्शनिक यह तो स्वीकार करते हैं कि सम्यक् आचरण के पूर्व सम्यक् ज्ञान का होना आवश्यक है, फिर भी वे यह स्वीकार नहीं करते हैं कि अकेला ज्ञान ही मुक्ति का साधन है। ज्ञान आचरण का पूर्ववर्ती अवश्य है यह भी स्वीकार किया गया है कि ज्ञान के अभाव में चारित्र सम्यक् नहीं हो सकता।[३] लेकिन यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या ज्ञान ही मोक्ष का मूल हेतु है ?

साधन-त्रय में ज्ञान का स्थान—जैनाचार्य अमृतचन्द्रसूरि ज्ञान की चारित्र से पूर्वता को सिद्ध करते हुए एक चरम सीमा स्पर्श कर लेते हैं। वे अपनी समयसार टीका में लिखते हैं कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है, क्योंकि ज्ञान का अभाव होने से अज्ञानियों में अंतरंग व्रत, नियम, सदाचरण और तपस्या आदि की उपस्थिति होते हुए भी मोक्ष का अभाव है। क्योंकि अज्ञान तो बन्ध का हेतु है, जबकि ज्ञानी में ज्ञान का सद्भाव होने से बाह्य व्रत, नियम, सदाचरण, तप आदि की अनुपस्थिति होने पर भी मोक्ष का सद्भाव है।[४] आचार्य शंकर भी यह मानते हैं कि एक ही कार्य ज्ञान के अभाव में बन्धन का हेतु और ज्ञान की उपस्थिति में मोक्ष का हेतु होता है। इससे यही सिद्ध होता है कि कर्म नहीं, ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है।[५] आचार्य अमृतचन्द्र भी ज्ञान को त्रिविध साधनों में प्रमुख मानते हैं। उनकी दृष्टि में सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र भी ज्ञान के ही रूप हैं। वे लिखते हैं कि मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं। जीवादि तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान रूप से तो जो ज्ञान है वह तो सम्यग्दर्शन है और उनका ज्ञान-स्वभाव से ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है तथा रागादि के त्याग-स्वभाव से ज्ञान का होना सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार ज्ञान ही परमार्थतः मोक्ष का कारण है।[६] यहां पर आचार्य दर्शन और चारित्र को ज्ञान के अन्य दो पक्षों के रूप में सिद्ध कर मात्र ज्ञान को ही मोक्ष का हेतु सिद्ध करते हैं। उनके दृष्टिकोण के अनुसार दर्शन और चारित्र भी ज्ञानात्मक हैं, ज्ञान की ही पर्यायें हैं। यद्यपि यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि आचार्य मात्र ज्ञान की उपस्थिति में मोक्ष के सद्भाव की कल्पना करते हैं, फिर भी वे अन्तरंग चारित्र की उपस्थिति से इनकार नहीं करते हैं। अन्तरंग चारित्र तो कषाय आदि के क्षय के रूप में सभी साधकों में उपस्थित होता है। साधक और साध्य विवेचन में हम देखते हैं कि साधक आत्मा पारमार्थिक दृष्टि से ज्ञानमय ही है

१. दशवैकालिक ४।१२
२. उत्तराध्ययन २८।३०
३. व्यवहारभाष्य, ७।२१७
४. समयसारटीका, १५३
५. गीता (शां०), अ० ५ पीठिका
६. समयसारटीका, १५५

और वही ज्ञानमय आत्मा उसका साध्य है। इस प्रकार ज्ञानस्वभावमय आत्मा ही मोक्ष का उपादान कारण है। क्योंकि जो ज्ञान है, वह आत्मा है और जो आत्मा है वह ज्ञान है।[1] अतः मोक्ष का हेतु ज्ञान ही सिद्ध होता है।[2]

इस प्रकार जैन-आचार्यों ने साधन-त्रय में ज्ञान को अत्यधिक महत्त्व दिया है। आचार्य अमृतचन्द्र का उपर्युक्त दृष्टिकोण तो जैन-दर्शन को शंकर के निकट खड़ा कर देता है। फिर भी यह मानना कि जैन-दृष्टि में ज्ञान ही मात्र मुक्ति का साधन है जैन-विचारणा के मौलिक मन्तव्य से दूर होना है। यद्यपि जैन साधना में ज्ञान मोक्ष-प्राप्ति का प्राथमिक एवं अनिवार्य कारण है, फिर भी वह एक मात्र कारण नहीं माना जा सकता। ज्ञानाभाव में मुक्ति सम्भव नहीं है, किन्तु मात्र ज्ञान से भी मुक्ति सम्भव नहीं है। जैन-आचार्यों ने ज्ञान को मुक्ति का अनिवार्य कारण स्वीकार करते हुए यह बताया कि श्रद्धा और चारित्र का आदर्शोन्मुख एवं सम्यक् होने के लिए ज्ञान महत्त्वपूर्ण तथ्य है, सम्यग्ज्ञान के अभाव में श्रद्धा अन्धश्रद्धा होगी और चारित्र या सदाचरण एक ऐसी कागजी मुद्रा के समान होगा, जिसका चाहे बाह्य मूल्य हो, लेकिन आन्तरिक मूल्य शून्य ही है। आचार्य कुन्दकुन्द, जो ज्ञानवादी परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं वे भी स्पष्ट कहते हैं कि कोरे ज्ञान से निर्वाण नहीं होता यदि श्रद्धा न हो और केवल श्रद्धा से भी निर्वाण नहीं होता यदि संयम (सदाचरण) न हो।[3]

जैन-दार्शनिक शंकर के समान न तो यह स्वीकार करते हैं कि मात्र ज्ञान से मुक्ति हो सकती है, न रामानुज प्रभृति भक्तिमार्ग के आचार्यो के समान यह स्वीकार करते हैं कि मात्र भक्ति से मुक्ति होती है। उन्हें मीमांसा दर्शन की यह मान्यता भी ग्राह्य नहीं है कि मात्र कर्म से मुक्ति हो सकती है। वे तो श्रद्धासमन्वित ज्ञान और कर्म दोनों से मुक्ति की सम्भावना स्वीकार करते हैं।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का पूर्वापर सम्बन्ध भी ऐकांतिक नहीं—जैन विचारणा के अनुसार साधन-त्रय में एक क्रम तो माना गया है यद्यपि इस क्रम को भी ऐकान्तिक रूप में स्वीकार करना उसकी स्याद्वाद की धारणा का अतिक्रमण ही होगा। क्योंकि जहाँ आचरण के सम्यक् होने के लिए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन आवश्यक हैं वहीं दूसरी ओर सम्यग्ज्ञान एवं दर्शन की उपलब्धि के पूर्व भी आचरण का सम्यक् होना आवश्यक है। जैनदर्शन के अनुसार जबतक तीव्रतम (अनन्तानुबन्धी) क्रोध, मान, माया और लोभ चार कषायें समाप्त नहीं होती तब तक सम्यक्-दर्शन और ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता। आचार्य शंकर ने भी ज्ञान की प्राप्ति के पूर्व वैराग्य का होना आवश्यक माना है। इस प्रकार सदाचरण और संयम के तत्त्व सम्यक्-दर्शन और ज्ञान की

---

१. समयसार, १० २. समयसारटीका, १५१

३. प्रवचनसार, चारित्राधिकार, ३

उपलब्धि के पूर्ववर्ती भी सिद्ध होते हैं। दूसरे, इस क्रम या पूर्वापरता के आधार पर भी साधन-त्रय में किसी एक को श्रेष्ठ मानना और दूसरे को गौण मानना जैनदर्शन को स्वीकृत नहीं है। वस्तुतः साधन-त्रय मानवीय चेतना के तीन पक्षों के रूप में ही साधना-मार्ग का निर्माण करते हैं। चेतना के इन तीन पक्षों में जैसी पारस्परिक प्रभावकता और अवियोज्य सम्बन्ध रहा है, वैसी ही पारस्परिक प्रभावकता और अवियोज्य सम्बन्ध इन तीनों पक्षों में भी है।

ज्ञान और क्रिया के सहयोग से मुक्ति—साधना-मार्ग में ज्ञान और क्रिया (विहित आचरण) के श्रेष्ठत्व को लेकर विवाद चला आ रहा है। वैदिक युग में जहाँ विहित आचरण की प्रधानता रही है वहाँ औपनिषदिक युग में ज्ञान पर बल दिया जाने लगा। भारतीय चिन्तकों के समक्ष प्राचीन समय से ही यह समस्या रही है कि ज्ञान और क्रिया के बीच साधना का यथार्थ तत्त्व क्या है ? जैन-परम्परा ने प्रारम्भ से ही साधना-मार्ग में ज्ञान और क्रिया का समन्वय किया है। पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती युग में जब श्रमण परम्परा देहदण्डन-परक तप-साधना में और वैदिक परम्परा यज्ञयागपरक क्रियाकाण्डों में ही साधना की इतिश्री मानकर साधना के मात्र आचरणात्मक पक्ष पर बल देने लगी थीं, तो उन्होंने उसे ज्ञान से समन्वित करने का प्रयास किया था। महावीर और उनके बाद जैन-विचारकों ने भी ज्ञान और आचरण दोनों से समन्वित साधना-पथ का उपदेश दिया। जैन-विचारकों का यह स्पष्ट निर्देश था कि मुक्ति न तो मात्र ज्ञान से प्राप्त हो सकती है और न केवल सदाचरण से। ज्ञानमार्गी औपनिषदिक एवं सांख्य परम्पराओं की समीक्षा करते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा गया कि 'कुछ विचारक मानते हैं कि पाप का त्याग किए बिना ही मात्र आर्यतत्त्व (यथार्थता) को जानकर ही आत्मा सभी दुःखों से छूट जाती है—लेकिन बन्धन और मुक्ति के सिद्धान्त में विश्वास करने वाले ये विचारक संयम का आचरण नहीं करते हुए केवल वचनों से ही आत्मा को आश्वासन देते हैं।[1] सूत्रकृतांग में कहा है कि मनुष्य चाहे वह ब्राह्मण हो, भिक्षुक हो, अनेक शास्त्रों का जानकार हो अथवा अपने को धार्मिक प्रकट करता हो यदि उसका आचरण अच्छा नहीं है तो वह अपने कर्मों के कारण दुःखी ही होगा।[2] अनेक भाषाओं एवं शास्त्रों का ज्ञान आत्मा को शरणभूत नहीं होता। मन्त्रादि विद्या भी उसे कैसे बचा सकती है ? असद् आचरण में अनुरक्त अपने आप को पंडित मानने वाले लोग वस्तुतः मूर्ख ही हैं।[3] आवश्यकनिर्युक्ति में ज्ञान और चारित्र के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन विस्तृत रूप में है। उसके कुछ अंश इस समस्या का हल खोजने में हमारे सहायक हो सकेंगे। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि 'आचरणविहीन अनेक शास्त्रों के ज्ञाता भी संसार-समुद्र से पार नहीं होते। मात्र शास्त्रीय ज्ञान से, बिना आचरण के कोई

१. उत्तराध्ययन, ६।९-१०   २. सूत्रकृतांग, २।१।७
३. उत्तराध्ययन, ६।११

मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जिस प्रकार निपुण चालक भी वायु या गति की क्रिया के अभाव में जहाज को इच्छित किनारे पर नहीं पहुँचा सकता वैसे ही ज्ञानी आत्मा भी तप-संयम रूप सदाचरण के अभाव में मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।[1] मात्र जान लेने से कार्य-सिद्धि नहीं होती। तैरना जानते हुए भी कोई कायचेष्टा नहीं करे तो डूब जाता है, वैसे ही शास्त्रों को जानते हुए भी जो धर्म का आचरण नहीं करता, वह डूब जाता है।[2] जैसे चन्दन ढोने वाला चन्दन से लाभान्वित नहीं होता, मात्र भार-वाहक ही बना रहता है वैसे ही आचरण से हीन ज्ञानी ज्ञान के भार का वाहक मात्र है, इससे उसे कोई लाभ नहीं होता।[3] ज्ञान और क्रिया के पारस्परिक सम्बन्ध को लोक-प्रसिद्ध अंध-पंगु न्याय के आधार पर स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जैसे वन में दावानल लगने पर पंगु उसे देखते हुए भी गति के अभाव में जल मरता है और अन्धा सम्यक् मार्ग न खोज पाने के कारण जल मरता है वैसे ही आचरणविहीन ज्ञान पंगु के समान है और ज्ञानचक्षु विहीन आचरण अन्धे के समान है। आचरणविहीन ज्ञान और ज्ञान-विहीन आचरण दोनों निरर्थक हैं और संसार रूपी दावानल से साधक को बचाने में असमर्थ हैं। जिस प्रकार एक चक्र से रथ नहीं चलता, अकेला अन्धा अकेला पंगु इच्छित साध्य तक नहीं पहुँचते, वैसे ही मात्र ज्ञान अथवा मात्र क्रिया से मुक्ति नहीं होती, वरन् दोनों के सहयोग से मुक्ति होती है।[4] भगवतीसूत्र में ज्ञान और क्रिया में से किसी एक को स्वीकार करने की विचारणा को मिथ्या विचारणा कहा गया है।[5] महावीर ने साधक की दृष्टि से ज्ञान और क्रिया के पारस्परिक सम्बन्ध की एक चतुर्भंगी का कथन इसी संदर्भ में किया है—

१. कुछ व्यक्ति ज्ञान सम्पन्न हैं, लेकिन चारित्र-सम्पन्न नहीं हैं।
२. कुछ व्यक्ति चारित्र सम्पन्न हैं, लेकिन ज्ञान-सम्पन्न नहीं हैं।
३. कुछ व्यक्ति न ज्ञान सम्पन्न हैं, न चारित्र सम्पन्न हैं।
४. कुछ व्यक्ति ज्ञान सम्पन्न भी हैं और चारित्र-सम्पन्न भी हैं।

महावीर ने इनमें से सच्चा साधक उसे ही कहा जो ज्ञान और क्रिया, श्रुत और शील दोनों से सम्पन्न है। इसी को स्पष्ट करने के लिए एक निम्न रूपक भी दिया जाता है—

१. कुछ मुद्रायें ऐसी होती हैं जिनमें धातु भी खोटी है मुद्रांकन भी ठीक नहीं है।
२. कुछ मुद्राएँ ऐसी होती हैं जिनमें धातु तो शुद्ध है लेकिन मुद्रांकन ठीक नहीं है।
३. कुछ मुद्राएँ ऐसी हैं जिनमें धातु अशुद्ध है लेकिन मुद्रांकन ठीक है।
४. कुछ मुद्राएँ ऐसी हैं जिनमें धातु भी शुद्ध है और मुद्रांकन भी ठीक है।

१. आवश्यकनिर्युक्ति, ९५-९७
२. वही, ११५१-५४
३. वही, १००
४. वही १०१-१०२
५. भगवतीसूत्र ८।१०।४१

बाजार में वही मुद्रा ग्राह्य होती है जिसमें धातु भी शुद्ध होती है और मुद्रांकन भी ठीक होता है। इसी प्रकार सच्चा साधक वही होता है जो ज्ञान-सम्पन्न भी हो और चारित्र सम्पन्न भी हो। इस प्रकार जैन-विचारणा यह बताती है कि ज्ञान और क्रिया दोनों ही नैतिक साधना के लिए आवश्यक हैं। ज्ञान और चारित्र दोनों की समवेत-साधना से ही दुःख का क्षय होता है। क्रियाशून्य ज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया दोनों ही एकान्त हैं और एकान्त होने के कारण जैन-दर्शन की अनेकान्तवादी विचारणा के अनुकूल नहीं हैं।

वैदिक-परम्परा में ज्ञान और क्रिया के समन्वय से मुक्ति—जैन-परम्परा के समान वैदिक-परम्परा में भी ज्ञान और क्रिया दोनों के समन्वय में ही मुक्ति की सम्भावना मानी गयी है। नृसिंहपुराण में भी आवश्यकनिर्युक्ति के समान सुन्दर रूपकों के द्वारा इसे सिद्ध किया गया है। कहा गया है कि जैसे रथहीन अश्व और अश्वहीन रथ अनुपयोगी हैं वैसे ही विद्या-विहीन तप और तप-विहीन विद्या निरर्थक हैं। जैसे दो पंखों के कारण पक्षी की गति होती है वैसे ही ज्ञान और कर्म दोनों के सहयोग से मुक्ति होती है।[1] क्रियाविहीन ज्ञान और ज्ञानविहीन क्रिया दोनों निरर्थक हैं।[2] यद्यपि गीता ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा दोनों को ही स्वतन्त्ररूप से मुक्ति का मार्ग बताती है। गीता के अनुसार व्यक्ति ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग तीनों में से किसी एक के द्वारा भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है, जब कि जैन परम्परा में इनके समवेत में ही मुक्ति मानी गयी है।

बौद्ध-विचारणा में प्रज्ञा और शील का सम्बन्ध—जैन-दर्शन के समान बौद्ध-दर्शन भी न केवल ज्ञान (प्रज्ञा) की उपादेयता स्वीकार करता है और न केवल आचरण की। उसकी दृष्टि में भी ज्ञानशून्य आचरण और क्रियाशून्य ज्ञान निर्वाण-मार्ग में सहायक नहीं हैं। उसने सम्यग्दृष्टि और सम्यक्स्मृति के साथ ही सम्यक्-वाचा, सम्यक्-आजीव और सम्यक्-कर्मान्त को स्वीकार कर इसी तथ्य की पुष्टि की है कि प्रज्ञा और शील के समन्वय में ही मुक्ति है। बुद्ध ने क्रियाशून्य ज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया दोनों को अपूर्ण माना है। जातक में कहा गया है कि आचरणरहित श्रुत से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता।[3] दूसरी ओर बुद्ध की दृष्टि में नैतिक आचरण अथवा कर्म चित्त की एकाग्रता के लिए हैं। वे एक साधन हैं और इसलिए परमसाध्य नहीं हो सकते। मात्र शीलव्रत-परामर्श अथवा ज्ञानशून्य क्रियाएँ बौद्ध-साधना का लक्ष्य नहीं है, प्रज्ञा की प्राप्ति ही एक ऐसा तथ्य है, जिससे नैतिक आचरण बनता है। डा० टी० आर० व्ही० मूर्ति ने शान्तिदेव की बोधिचर्यावतार की पंजिका एवं अष्टसहस्रिका से भी इस कथन की पुष्टि के लिए

---

१. नृसिंहपुराण, ६१।९।११ २. उद्धृत दी क्वेस्ट आफ्टर परफेक्शन, पृ० ६३
३. जातक, ५।३७३।१२७

प्रमाण उपस्थित किये हैं।[1] बौद्ध-विचारणा में शील और प्रज्ञा दोनों का समान रूप से महत्व स्वीकार किया गया है। सुत्तपिटक के ग्रन्थ थेरगाथा में कहा गया है—"संसार में शील ही श्रेष्ठ है, प्रज्ञा ही उत्तम है। मनुष्यों और देवों में शील और प्रज्ञा से ही वास्तविक विजय होती है।[2]

भगवान् बुद्ध ने शील और प्रज्ञा में एक सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। दीघनिकाय में कहा है कि शील से प्रज्ञा प्रक्षालित होती है और प्रज्ञा (ज्ञान) से शील (चारित्र) प्रक्षालित होता है। जहाँ शील है वहाँ प्रज्ञा है और जहाँ प्रज्ञा है वहाँ शील है।[3] इस प्रकार बुद्ध की दृष्टि में शीलविहीन प्रज्ञा और प्रज्ञाविहीन शील दोनों ही असम्यक् हैं। जो ज्ञान और आचरण दोनों से समन्वित हैं, वही सब देवताओं और मनुष्यों में श्रेष्ठ है।[4] आचरण के द्वारा ही प्रज्ञा की शोभा बढ़ती है।[5] इस प्रकार बुद्ध भी प्रज्ञा और शील के समन्वय में निर्वाण की उपलब्धि संभव मानते हैं। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन शील पर और परवर्ती बौद्ध दर्शन प्रज्ञा पर अधिक बल देता रहा है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार—जैन परम्परा में साधन-त्रय के समवेत में ही मोक्ष की निष्पत्ति मानी गई है। वैदिक परम्परा में ज्ञान-निष्ठा, कर्मनिष्ठा और भक्तिमार्ग ये तीनों ही अलग-अलग मोक्ष के साधन माने जाते रहे हैं और इन आधारों पर वैदिक परम्परा में स्वतन्त्र सम्प्रदायों का उदय भी हुआ है। वैदिक परम्परा में प्रारम्भ से ही कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग की धाराएँ अलग अलग रूप में प्रवाहित होती रही हैं। भागवत सम्प्रदाय के उदय के साथ भक्तिमार्ग एक नई निष्ठा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इस प्रकार वेदों का कर्ममार्ग, उपनिषदों का ज्ञानमार्ग और भागवत सम्प्रदाय का भक्ति-मार्ग तथा इनके साथ साथ ही योगसम्प्रदाय का ध्यान-मार्ग सभी एक-दूसरे से स्वतन्त्र रूप में मोक्षमार्ग समझे जाते रहे हैं। सम्भवतः गीता एक ऐसी रचना अवश्य है जो इन सभी साधना विधियों को स्वीकार करती है। यद्यपि गीताकार ने इन विभिन्न धाराओं को समेटने का प्रयत्न तो किया, लेकिन वह उनको समन्वित नहीं कर पाया यही कारण था कि परवर्ती टीकाकारों ने अपने पूर्व-संस्कारों के कारण गीता को इनमें से किसी एक साधना-मार्ग का प्रतिपादक बताने का प्रयास किया और गीता में निर्देशित साधना के दूसरे मार्गों को गौण बताया। शंकर ने ज्ञान को, रामानुज ने भक्ति को, तिलक ने कर्म को गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय माना।

लेकिन जैन-विचारकों ने इस त्रिविध साधना-पथ को समवेत रूप में ही मोक्ष का

---

१. दी सेन्ट्रल फिलासफी आफ बुद्धिज्म, पृ० ३०–३१
२. थेरगाथा, १।७० ३. दीघनिकाय, १।४।४
४. मज्झिमनिकाय, २।३।५ ५. अंगुत्तरनिकाय तीसरा निपात पृ० १०४

कारण माना और यह बताया कि ये तीनों एक-दूसरे से अलग होकर नहीं, वरन् समवेत रूप में ही मोक्ष को प्राप्त करा सकते हैं। उसने तीनों को समान माना और उनमें से किसी को भी एक के अधीन बनाने का प्रयास नहीं किया। हमें इस भ्रांति से बचना होगा कि श्रद्धा, ज्ञान और आचरण ये स्वतन्त्र रूप में नैतिक पूर्णता के मार्ग हो सकते हैं। मानवीय व्यक्तित्व और नैतिकसाध्य एक पूर्णता है और उसे समवेत रूप में ही पाया जा सकता है।

बौद्ध-परम्परा और जैन परम्परा दोनों ही एकांगी दृष्टिकोण नहीं रखते हैं। बौद्ध-परम्परा में भी शील, समाधि और प्रज्ञा अथवा प्रज्ञा, श्रद्धा और वीर्य को समवेत रूप में ही निर्वाण का कारण माना गया है। इस प्रकार बौद्ध और जैन परम्पराएँ न केवल अपने साधन-मार्ग के प्रतिपादन में, वरन् साधन-त्रय के बलाबल के विषय में भी समान दृष्टिकोण रखती हैं।

वस्तुतः नैतिक साध्य का स्वरूप और मानवीय प्रकृति, दोनों ही यह बताते हैं कि त्रिविध साधना-मार्ग अपने समवेत रूप में ही नैतिक पूर्णता की प्राप्ति करा सकता है। यहाँ इस त्रिविध साधना-पथ का मानवीय प्रकृति और नैतिक साध्य से क्या सम्बन्ध है इसे स्पष्ट कर लेना उपयुक्त होगा।

मानवीय प्रकृति और त्रिविध साधना-पथ—मानवीय चेतना के तीन कार्य हैं—१. जानना; २. अनुभव करना और ३. संकल्प करना। हमारी चेतना का ज्ञानात्मक पक्ष न केवल जानना चाहता है, वरन् वह सत्य को ही जानना चाहता है। ज्ञानात्मक चेतना निरन्तर सत्य की खोज में रहती है। अतः जिस विधि से हमारी ज्ञानात्मक चेतना सत्य को उपलब्ध कर सके उसे ही सम्यक् ज्ञान कहा गया है। सम्यक् ज्ञान चेतना के ज्ञानात्मक पक्ष को सत्य की उपलब्धि की दिशा में ले जाता है। चेतना का दूसरा पक्ष अनुभूति के रूप में आनन्द की खोज करता है। सम्यग्दर्शन चेतना में राग-द्वेषात्मक जो तनाव हैं, उन्हें समाप्त कर उसे आनन्द प्रदान करता है। चेतना का तीसरा संकल्पनात्मक पक्ष शक्ति की उपलब्धि और कल्याण की क्रियान्वित चाहता है। सम्यक्चारित्र संकल्प को कल्याण के मार्ग में नियोजित कर शिव की उपलब्धि करता है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र का यह त्रिविध साधना-पथ चेतना के तीनों पक्षों को सही दिशा में निर्देशित कर उनके वांछित लक्ष्य सत्, सुन्दर और शिव अथवा अनन्त ज्ञान, आनन्द और शक्ति की उपलब्धि कराता है। वस्तुतः जीवन के साध्य को उपलब्ध करा देना ही इस त्रिविध साधना-पथ का कार्य है। जीवन का साध्य अनन्त एवं पूर्ण ज्ञान, अक्षय आनन्द और अनन्त शक्ति की उपलब्धि है, जिसे त्रिविध साधना-पथ के तीनों अंगों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। चेतना के ज्ञानात्मक पक्ष को सम्यक्ज्ञान की दिशा में नियोजित कर ज्ञान की पूर्णता को, चेतना के भावात्मक पक्ष को सम्यग्दर्शन में नियोजित कर अक्षय आनन्द की और चेतना के संकल्पात्मक पक्ष को

सम्यक्चारित्र में नियोजित कर अनन्त शक्ति की उपलब्धि की जा सकती है। वस्तुतः जैन आचार-दर्शन में साध्य, साधक और साधना-पथ तीनों में अभेद माना गया है। ज्ञान, अनुभूति और संकल्पमय चेतना साधक है और यही चेतना के तीनों पक्ष सम्यक् दिशा में नियोजित होने पर साधना-पथ कहलाते हैं और इन तीनों पक्षों की पूर्णता ही साध्य है। साधक, साध्य और साधना-पथ भिन्न-भिन्न नहीं, वरन् चेतना की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। उनमें अभेद माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में और आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में इस अभेद को अत्यन्त मार्मिक शब्दों में स्पष्ट किया है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में कहते हैं कि यह आत्मा ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र है।[1] आचार्य हेमचन्द्र इसी अभेद को स्पष्ट करते हुए योगशास्त्र में कहते हैं कि आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है, क्योंकि आत्मा इसी रूप में शरीर में स्थित है।[2] आचार्य ने यह कहकर कि आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र के रूप में शरीर में स्थित है, मानवीय मनोवैज्ञानिक प्रकृति को ही स्पष्ट किया है। ज्ञान, चेतना और संकल्प तीनों सम्यक् होकर साधना-पथ का निर्माण कर देते हैं और यही पूर्ण होकर साध्य बन जाते हैं। इस प्रकार जैन आचार-दर्शन में साधक, साधना-पथ और साध्य में अभेद है।

मानवीय चेतना के उपर्युक्त तीनों पक्ष जब सम्यक् दिशा में नियोजित होते हैं तो वे साधना-मार्ग कहे जाते हैं और जब वे असम्यक् दिशा में या गलत दिशा में नियोजित होते हैं तो बन्धन या पतन के कारण बन जाते हैं। इन तीनों पक्षों की गलत दिशा में गति ही मिथ्यात्व और सही दिशा में गति सम्यक्त्व कही जाती है। वस्तुतः सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए मिथ्यात्व (अविद्या) का विसर्जन आवश्यक है। क्योंकि मिथ्यात्व ही अनैतिकता या दुराचार का मूल है। मिथ्यात्व का आवरण हटने पर सम्यक्त्व रूपी सूर्य का प्रकाश होता है।

●

३ अविद्या (मिथ्यात्व)

जैनागमों में अज्ञान और अयथार्थ ज्ञान दोनों के लिए 'मिथ्यात्व' शब्द का प्रयोग हुआ है। यही नहीं, कुछ सन्दर्भों में अज्ञान, अयथार्थ ज्ञान, मिथ्यात्व और मोह समान अर्थ में भी प्रयुक्त हुए हैं। यहाँ अज्ञान शब्द का प्रयोग एक विस्तृत अर्थ में किया जा रहा है जिसमें उक्त शब्दों का अर्थ भी निहित है। नैतिक दृष्टि से अज्ञान नैतिक आदर्श के यथार्थ ज्ञान के अभाव और शुभाशुभ विवेक की कमी को व्यक्त करता है। जब तक मनुष्य को स्व-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं होता—अर्थात् मैं क्या हूँ, मेरा आदर्श क्या है, या मुझे क्या प्राप्त करना है? तब तक वह नैतिक जीवन में प्रविष्ट नहीं हो सकता। जैन विचारक कहते हैं कि जो आत्मा को नहीं जानता, जड़ पदार्थों को नहीं जानता, वह संयम का कैसे पालन (नैतिक साधना) करेगा?[१]

ऋषिभाषितसूत्र में तरुण साधक अर्हत् ऋषि गाथापतिपुत्र कहते हैं—अज्ञान ही बहुत बड़ा दुःख है। अज्ञान से ही भय (दुःख) का जन्म होता है, समस्त देहधारियों के लिए भव-परम्परा का मूल विविधरूपों में व्याप्त अज्ञान ही है। जन्म, जरा और मृत्यु, शोक, मान और अपमान सभी जीवात्मा के अज्ञान से उत्पन्न हुए हैं। संसार का प्रवाह (संतति) अज्ञानमूलक है।[२]

भारतीय नैतिक चिन्तन में मात्र कर्मों की शुभाशुभता पर ही विचार नहीं किया गया, वरन् शुभाशुभ कर्मों का कारण जानने का भी प्रयास किया गया है। क्यों एक व्यक्ति अशुभ कृत्यों की ओर प्रेरित होता है और क्यों दूसरा व्यक्ति शुभकृत्यों की ओर प्रेरित होता है? गीता में अर्जुन यह प्रश्न उठाता है कि हे कृष्ण, नहीं चाहते हुए भी किसकी प्रेरणा से प्रेरित हो यह पुरुष पाप-कर्म में नियोजित होता है।[३]

जैन-दर्शन के अनुसार इसका उत्तर यह है कि मिथ्यात्व ही अशुभ की ओर प्रवृत्ति करने का कारण है।[४] बुद्ध का भी कहना है कि मिथ्यात्व ही अशुभाचरण और सम्यक् दृष्टि ही सदाचरण का कारण है।[५] गीता कहती है कि रजोगुण से समुद्भव काम ही ज्ञान को आवृत्तकर व्यक्ति को बलात् पाप-कर्म की ओर प्रेरित करता है। इस प्रकार

१. दशवैकालिक, ४।१२
२. इसिभासियाइंसुत्त, गहावइज्जं नामज्झयणं
३. गीता, ३।३६
४. इसिभासियाइंसुत्त, २१।३
५. अंगुत्तरनिकाय, १।१७

बौद्ध, जैन और गीता के तीनों आचार-दर्शन इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि अनैतिक आचरण में प्रवृत्ति का कारण मिथ्या दृष्टिकोण है।

मिथ्यात्व का अर्थ—जैन-विचारकों की दृष्टि में वस्तुतत्त्व का अपने यथार्थ स्वरूप में बोध न होना ही मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व लक्ष्य-विमुखता है, तत्त्वरुचि का अभाव है अथवा सत्य के प्रति जिज्ञासा या अभीप्सा का अभाव है। बुद्ध ने अविद्या को वह स्थिति माना है जिसके कारण व्यक्ति परमार्थ को सम्यक् रूप से नहीं जान पाता। बुद्ध कहते हैं, आस्वाद दोष और मोक्ष को यथार्थतः नहीं जानता है यही अविद्या है।[1] मिथ्या स्वभाव को स्पष्ट करते हुए बुद्ध कहते हैं, जो मिथ्यादृष्टि है—मिथ्यासमाधि है—इसीको मिथ्या स्वभाव कहते हैं।[2] मिथ्यात्व एक ऐसा दृष्टिकोण हैं जो सत्य की दिशा से विमुख है। संक्षेप में मिथ्यात्व असत्याभिरुचि है, राग और द्वेष के कारण दृष्टिकोण का विकृत हो जाना है।

जैन-दर्शन में मिथ्यात्व के प्रकार—आचार्य पूज्यपाद ने मिथ्यात्व को उत्पत्ति की दृष्टि से दो प्रकार का बताया है—१. नैसर्गिक (अनर्जित) अर्थात् मोहकर्म के उदय से होने वाला तथा २. परोपदेश पूर्वक अर्थात् मिथ्याधारणा वाले लोगों के उपदेश से स्वीकार किया जाने वाला। यह अर्जित मिथ्यात्व चार प्रकार का है—(अ) क्रियावादी—आत्मा को कर्ता मानना, (ब) अक्रियावादी—आत्मा को अकर्ता मानना, (स) अज्ञानी—सत्य की प्राप्ति को संभव नहीं मानना, (द) वैनयिक—रूढ़ परम्पराओं को स्वीकार करना।

स्वरूप की दृष्टि से जैनागमों में मिथ्यात्व के पाँच प्रकार भी वर्णित हैं[3]—

१. **एकान्त**—जैन तत्त्वज्ञान में वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक माना गया है। उसमें मात्र अनन्त गुण ही नहीं होते है वरन् गुणों के विरोधी युगल भी होते हैं। अतः वस्तुतत्त्व का एकांगी ज्ञान पूर्ण सत्य को प्रकट नहीं करता। वह आंशिक सत्य होता है, पूर्ण सत्य नहीं। आंशिक सत्य जब पूर्ण सत्य मान लिया जाता है तो वह मिथ्यात्व हो जाता है। न केवल जैन-विचारणा, वरन् बौद्ध-विचारणा में भी ऐकान्तिक ज्ञान को मिथ्या कहा गया है। बुद्ध कहते हैं—'भारद्वाज! सत्यानुरक्षक विज्ञ पुरुष को एकांश से यह निष्ठा करना योग्य नहीं है कि यही सत्य है और बाकी सब मिथ्या है।' बुद्ध इस सारे कथन में इसी बात पर जोर देते हैं कि सापेक्ष कथन के रूप में ही सत्यानुरक्षण होता है, अन्य प्रकार से नहीं।[4] उदान में भी कहा है कि जो एकांतदर्शी हैं वे ही विवाद करते हैं।[5]

---

१. संयुत्तनिकाय, २१।३।३।८
२. वही, ४३।३।१
३. तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धिटीका (पूज्यपाद), ८।१
४. मज्झिमनिकाय चंकिसुत्त २।५।५ पृ० ४००
५. उदान, ६।४

२. **विपरीत**—वस्तुतत्त्व को स्वरूप में ग्रहण न कर विपरीत रूप में ग्रहण करना भी मिथ्यात्व है। प्रश्न हो सकता है कि जब वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक है और उसमें विरोधी धर्म भी हैं तो सामान्य व्यक्ति, जिसका ज्ञान अंशग्राही है, इस विपरीत ग्रहण के दोष से कैसे बच सकता है, क्योंकि उसने वस्तुतत्त्व के जिस पक्ष को ग्रहण किया उसका विरोधी धर्म भी उसमें उपस्थित है अतः उसका समस्त ग्रहण विपरीत ही होगा! इस विचार में भ्रान्ति यह है कि यद्यपि वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, लेकिन यह तो सामान्य कथन है। एक अपेक्षा से वस्तु में दो विरोधी धर्म नहीं होते, एक ही अपेक्षा से आत्मा को नित्य और अनित्य नहीं माना जाता है। आत्मा द्रव्यार्थिक दृष्टि से नित्य है तो पर्यायार्थिक दृष्टि से अनित्य है, अतः आत्मा को पर्यायार्थिक दृष्टि से भी नित्य मानना विपरीत ग्रहण रूप मिथ्यात्व है। बुद्ध ने भी विपरीत ग्रहण को मिथ्यादृष्टित्व माना है और विभिन्न प्रकार के विपरीत ग्रहणों को स्पष्ट किया है।[1] गीता में भी विपरीत ग्रहण को अज्ञान कहा गया है। अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म के रूप में मानने वाली बुद्धि को गीता में तामस कहा गया है (गीता, १८।३२)

३. **वैनयिक**—बिना बौद्धिक गवेषणा के परम्परागत तथ्यों, धारणाओं, नियमोपनियमों को स्वीकार कर लेना वैनयिक मिथ्यात्व है। यह एक प्रकार की रूढ़िवादिता है। वैनयिक मिथ्यात्व को बौद्ध दृष्टि से शीलव्रत-परामर्श भी कहा जा सकता है। इसे हम कर्मकाण्डी मनोवृत्ति भी कह सकते हैं। गीता में इस प्रकार के रूढ़-व्यवहार की निन्दा की गयी है। गीता कहती है ऐसी क्रियाएँ जन्म-मरण को बढ़ानेवाली और त्रिगुणात्मक होती हैं।[2]

४. **संशय**—संशयावस्था को भी जैन-विचारणा में मिथ्यात्व या अयथार्थता माना गया है। यद्यपि जैन-दार्शनिकों की दृष्टि में संशय को नैतिक विकास की दृष्टि से अनुपादेय माना गया है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि जैन-विचारकों ने संशय को इस कोटि में रखकर उसके मूल्य को भूला दिया है। जैन-विचारक भी आज के वैज्ञानिकों की तरह संशय को ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक मानते हैं। जैनागम आचारांगसूत्र में कहा गया है, जो संशय को जानता है वही संसार के स्वरूप का परिज्ञाता होता है, जो संशय को नहीं जानता वह संसार के स्वरूप का भी परिज्ञाता नहीं हो सकता है।[3] लेकिन साधनामय जीवन में संशय से ऊपर उठना होता है। आचार्य आत्मारामजी आचारांगसूत्र की टीका में लिखते हैं, संशय ज्ञान कराने में सहायक है, परन्तु यदि वह जिज्ञासा की सरल भावना का परित्याग करके केवल संदेह करने की कुटिल वृत्ति अपनाता है तो वह पतन का कारण बन जाता है।[4] संशय वह स्थिति है जिसमें प्राणी सत्

---

१. अंगुत्तरनिकाय, १।११ २. गीता, २।४२–४५

३. आचारांग, १।५।१।१४४ ४. आचारांग-हिन्दीटीका, प्रथम भाग, पृ० ४०९

और असत् की कोई निश्चित धारणा नहीं रखता। यह अनिर्णय की अवस्था है। सांशयिक ज्ञान सत्य होते हुए भी मिथ्या है। नैतिक दृष्टि से ऐसा साधक कब पथ-भ्रष्ट हो सकता है, कहा नहीं जा सकता। वह तो लक्ष्योन्मुखता और लक्ष्यविमुखता के मध्य हिंडोले की भांति झूलता हुआ अपना समय व्यर्थ गँवाता है। गीता भी यही कहती है कि संशय की अवस्था में लक्ष्य प्राप्त नहीं होता। संशयी आत्मा विनाश को ही प्राप्त होता है।[1]

५. अज्ञान—जैन विचारकों ने अज्ञान को पूर्वाग्रह, विपरीत-ग्रहण, संशय और ऐकान्तिक ज्ञान से पृथक् माना है। उपर्युक्त चारों मिथ्यात्व के विधायक पक्ष कहे जा सकते हैं। क्योंकि इनमें ज्ञान तो उपस्थित है, लेकिन वह अयथार्थ है। इनमें ज्ञानाभाव नहीं, वरन् ज्ञान की अयथार्थता है, जबकि अज्ञान ज्ञानाभाव है। अतः वह मिथ्यात्व का निषेधात्मक पक्ष प्रस्तुत करता है। अज्ञान नैतिक-साधन का सब से अधिक बाधक तत्त्व है, क्योंकि ज्ञानाभाव में व्यक्ति को अपने लक्ष्य का भान नहीं हो सकता है, न वह कर्तव्याकर्तव्य का विचार कर सकता है। शुभाशुभ में विवेक करने की क्षमता का अभाव अज्ञान ही है। ऐसे अज्ञान की अवस्था में नैतिक आचरण संभव नहीं होता।

मिथ्यात्व के २५ भेद—मिथ्यात्व के २५ भेदों का उल्लेख प्रतिक्रमणसूत्र में है जिसमें से १० भेदों का उल्लेख स्थानांगसूत्र में है, शेष मिथ्यात्व के भेदों का वर्णन मूलागम ग्रन्थों में यत्रतत्र बिखरा हुआ मिलता है। ये २५ भेद इस प्रकार हैं—

(१) धर्म को अधर्म समझना, (२) अधर्म को धर्म समझना, (३) संसार (बंधन) के मार्ग को मुक्ति का मार्ग समझना, (४) मुक्ति के मार्ग को बन्धन का मार्ग समझना, (५) जड़ पदार्थों को चेतन (जीव) समझना, (६) आत्मतत्त्व (जीव) को जड़ पदार्थ (अजीव) समझना, (७) असम्यक् आचरण करनेवालों को साधु समझना, (८) सम्यक् आचरण करनेवाले को असाधु समझना, (९) मुक्तात्मा को बद्ध मानना, (१०) राग-द्वेष से युक्त को मुक्त समझना।[2] (११) आभिग्रहिक मिथ्यात्व-परम्परागत रूप में प्राप्त धारणाओं को बिना समीक्षा के अपना लेना अथवा उससे जकड़े रहना। (१२) अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व—सत्य को जानते हुए भी उसे स्वीकार नहीं करना अथवा सभी मतों को समान मूल्य का समझना। (१३) आभिनिवेशिक मिथ्यात्व—अभिमान की रक्षा के निमित्त असत्य मान्यता को हठपूर्वक पकड़े रहना। (१४) सांशयिक मिथ्यात्व—संशय ग्रस्त बने रहकर सत्य का निश्चय नहीं कर पाना। (१५) अनाभोग मिथ्यात्व—विवेक अथवा ज्ञान क्षमता का अभाव। (१६) लौकिक मिथ्यात्व—लोक रूढ़ि में अविचार पूर्वक बँधे रहना। (१७) लोकोत्तर मिथ्यात्व—पारलौकिक उपलब्धियों के निमित्त स्वार्थवश धर्म-साधना करना। (१८) कुप्रवचन मिथ्यात्व—मिथ्या दार्शनिक विचारणाओं को ग्रहण करना। (१९) न्यून मिथ्यात्व—पूर्ण सत्य को आंशिक सत्य अथवा तत्त्व स्वरूप

१. गीता ४।४० २. स्थानांग १०, तुलना कीजिए—अंगुत्तरनिकाय, १।१०-१२

को अंशतः अथवा न्यून मानना। (२०) अधिक मिथ्यात्व—आंशिक सत्य को उससे अधिक अथवा पूर्ण सत्य समझ लेना। (२१) विपरीत मिथ्यात्व—वस्तुतत्त्व को उसके विपरीत रूप में समझना। (२२) अक्रिया मिथ्यात्व—आत्मा को ऐकान्तिक रूप से अक्रिय मानना अथवा ज्ञान को महत्त्व देकर आचरण के प्रति उपेक्षा रखना। (२३) अज्ञान मिथ्यात्व—ज्ञान अथवा विवेक का अभाव। (२४) अविनय मिथ्यात्व—पूज्य वर्ग के प्रति समुचित सम्मान प्रकट न करना अथवा उनकी आज्ञाओं का परिपालन न करना। (२५) आशातना मिथ्यात्व—पूज्य वर्ग की निन्दा और आलोचना करना।

अविनय और आशातना को मिथ्यात्व इसलिए कहा गया कि इनकी उपस्थिति से व्यक्ति गुरुजनों का यथोचित सम्मान नहीं करता है और फलस्वरूप उनसे मिलने वाले यथार्थ बोध से वंचित रहता है।

बौद्ध-दर्शन में मिथ्यात्व के प्रकार—भगवान् बुद्ध ने सद्धर्म की विनाशक कुछ धारणाओं का विवेचन अंगुत्तरनिकाय[1] में किया है जो कि जैन विचारणा के मिथ्यात्व की धारणा के बहुत निकट है। तुलना के लिए यहाँ उनकी संक्षिप्त सूची प्रस्तुत की जा रही है जिसके आधार पर यह जाना जा सके कि दोनों विचार-परम्पराओं में कितना अधिक साम्य है।

१. धर्म को अधर्म बताना, २. अधर्म को धर्म बताना, ३. भिक्षु अनियम (अविनय) को भिक्षुनियम (विनय) बताना, ४. भिक्षुनियम को अनियम बताना, ५. तथागत (बुद्ध) द्वारा अभाषित को तथागत भाषित कहना, ६. तथागत द्वारा भाषित को अभाषित कहना, ७. तथागत द्वारा अनाचरित को आचरित कहना, ८. तथागत द्वारा आचरित को अनाचरित कहना, ९. तथागत द्वारा नहीं बनाये हुए (अप्रज्ञप्त) नियम को प्रज्ञप्त कहना, १०. तथागत द्वारा प्रज्ञप्त (बनाये हुए नियम) को अप्रज्ञप्त बताना, ११. अनपराध को अपराध कहना, १२. अपराध को अनपराध कहना, १३. लघु अपराध को गुरु अपराध कहना, १४. गुरु अपराध को लघु अपराध कहना, १५. गम्भीर अपराध को अगम्भीर कहना, १६. अगम्भीर अपराध को गम्भीर कहना, १७. निर्विशेष अपराध को सविशेष कहना, १८. सविशेष अपराध को निर्विशेष कहना, १९. प्रायश्चित्त योग्य (सप्रतिकर्म) आपत्ति को प्रायश्चित्त के अयोग्य कहना, २०. प्रायश्चित्त के अयोग्य (अप्रतिकर्म) आपत्ति को प्रायश्चित्त के योग्य (सप्रतिकर्म) कहना।

गीता में अज्ञान—गीता के मोह, अज्ञान या तामस ज्ञान ही मिथ्यात्व कहे जा सकते हैं। इस आधार पर गीता में मिथ्यात्व का निम्न स्वरूप उपलब्ध होता है—१. परमात्मा लोक का सर्जन करने वाला, कर्म का कर्ता एवं कर्मों के फल का संयोग करनेवाला है अथवा वह किसी के पाप-पुण्य को ग्रहण करता है, यह मानना अज्ञान है (५-१४-१५)। २. प्रमाद, आलस्य और निद्रा अज्ञान है (१४-८)। ३. धन, परिवार

१. अंगुत्तरनिकाय, १।१०-१२

एवं दान का अहंकार करना अज्ञान है (१६-१५) ४. विपरीत ज्ञान के द्वारा क्षणभंगुर या नाशवान शरीर में आत्मबुद्धि रखना तामसिक ज्ञान है (१८–२२)। इसी प्रकार असद् का ग्रहण, अशुभ आचरण (१६–१०) और संशयात्मकता को भी गीता में अज्ञान कहा गया है।

पाश्चात्य दर्शन में मिथ्यात्व का प्रत्यय—मिथ्यात्व यथार्थता के बोध में बाधक तत्त्व है। वह एक ऐसा रंगीन चश्मा है जो वस्तुतत्त्व का अयथार्थ अथवा भ्रान्त रूप ही प्रकट करता है। भारत के ही नहीं, पाश्चात्य विचारकों ने भी सत्य के जिज्ञासु को मिथ्या धारणाओं से परे रहने का संकेत किया है। पाश्चात्य दर्शन के नवयुग के प्रतिनिधि फ्रांसिस बेकन शुद्ध और निर्दोष ज्ञान की प्राप्ति के लिए मानस को निम्न चार मिथ्या धारणाओं से मुक्त रखने का निर्देश करते है। चार मिथ्या धारणाएँ ये हैं—

१. **जातिगत मिथ्या धारणाएँ** (Idola Trbius)—सामाजिक संस्कारों से प्राप्त मिथ्या धारणाएँ।

२. **व्यक्तिगत मिथ्या विश्वास** (Idola Specus)—व्यक्ति के द्वारा बनाई गई मिथ्या धारणाएँ (पूर्वाग्रह)।

३. **बाजारू मिथ्या विश्वास** (Idola Fori)—असंगत अर्थ आदि।

४. **रंगमंच की भ्रान्ति** (Idola Theatri)—मिथ्या सिद्धांत या मान्यताएँ।

वे कहते हैं इन मिथ्या विश्वासों (पूर्वाग्रहों) से मानस को मुक्त कर ही ज्ञान को यथार्थ और निर्दोष रूप में ग्रहण करना चाहिए।[1]

जैन-दर्शन में अविद्या का स्वरूप—जैन-दर्शन में अविद्या का पर्यायवाची शब्द 'मोह' भी है। मोह सत् के संबंध में यथार्थ दृष्टि को विकृत कर गलत मार्ग-दर्शन करता है और असम्यक् आचरण के लिए प्रेरित करता है। परमार्थ और सत्य के संबंध में जो अनेक भ्रान्त धारणाएँ बनती हैं और परिणामतः जो दुराचरण होता है उसका आधार मोह ही है। मिथ्यात्व, मोह या अविद्या के कारण व्यक्ति की दृष्टि दूषित होती है और परम-मूल्यों के संबंध में भ्रान्त धारणाएँ बन जाती हैं। वह उन्हें ही परममूल्य मान लेता है, जो कि वस्तुतः परममूल्य या सर्वोच्च मूल्य नहीं होते हैं।

अविद्या और विद्या का अन्तर करते हुए समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जो पुरुष अपने से अन्य पर-द्रव्य (सचित्त-स्त्रीपुत्रादि, अचित्त-स्वर्णरजतादि, मिश्र-ग्रामनगरादि) को ऐसा समझे कि 'मेरे हैं, ये मेरे पूर्व में थे इनका मैं भी पहले था तथा ये मेरे आगामी होंगे, मैं भी इनका आगामी होऊँगा' ऐसा झूठा आत्मविकल्प करता है वह मूढ है और जो पुरुष परमार्थ को जानता हुआ ऐसा झूठा विकल्प नहीं करता वह मूढ़ नहीं है, ज्ञानी है।[2]

---

१. हिस्ट्री आफ फिलासफी (थिली), पृ० २८७

२. समयसार, २०, २१, २२, तु० गीता १६।१३

जैन-दर्शन में अविद्या या मिथ्यात्व केवल आत्मनिष्ठ (Subjective) ही नहीं है, वरन् वह वस्तुनिष्ठ भी है। जैन-दर्शन में मिथ्यात्व का अर्थ है—ज्ञान का अभाव या विपरीत ज्ञान। उसमें एकांत या निरपेक्ष दृष्टि को भी मिथ्यात्व कहा गया है। तत्त्व का सापेक्ष ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है और ऐकांतिक दृष्टिकोण मिथ्याज्ञान है। दूसरे, जैन-दर्शन में अकेला मिथ्यात्व ही बन्धन का कारण नहीं है। बन्धन का प्रमुख कारण होते हुए भी वह सर्वस्व नहीं है। मिथ्यादर्शन के कारण ज्ञान दूपित होता है और ज्ञान के दूषित होने से चारित्र दूपित होता है। इस प्रकार मिथ्यात्व अनैतिक जीवन का प्रारम्भिक बिन्दु है और अनैतिक आचरण उसकी अन्तिम परिणति है। नैतिक जीवन के लिए मिथ्यात्व से मुक्त होना आवश्यक है, क्योंकि जब तक दृष्टि दूपित है ज्ञान भी दूपित होगा और जब तक ज्ञान दूषित है तब तक आचरण भी सम्यक् या नैतिक नहीं हो सकता। नैतिक जीवन की प्रगति के लिए प्रथम शर्त है मिथ्यात्व से मुक्त होना।

जैन-दार्शनिकों की दृष्टि में मिथ्यात्व की पूर्व-कोटि का पता नहीं लगाया जा सकता, यद्यपि वह अनादि है किन्तु वह अनन्त नहीं। जैन-दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो भव्य जीवों की अपेक्षा से मिथ्यात्व अनादि और सान्त है और अभव्य जीवों की अपेक्षा से वह अनादि और अनन्त है। आत्मा पर अविद्या या मिथ्यात्व का आवरण कबसे है, इसका पता नहीं लगाया जा सकता, यद्यपि अविद्या या मिथ्यात्व से मुक्ति पायी जा सकती है। जैन-दर्शन में मिथ्यात्व का मूल 'कर्म' और 'कर्म' का मूल मिथ्यात्व है। एक ओर मिथ्यात्व का कारण अनैतिकता है तो दूसरी ओर अनैतिकता का कारण मिथ्यात्व है। इसी प्रकार सम्यक्त्व का कारण नैतिकता और नैतिक का कारण सम्यक्त्व है। नैतिक आचरण के परिणामस्वरूप सम्यक्त्व या यथार्थ दृष्टिकोण का उद्‌भव होता है। सम्यक्त्व या यथार्थ दृष्टिकोण के कारण नैतिक आचरण होता है।

बौद्ध-दर्शन में अविद्या का स्वरूप—बौद्ध-दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद की प्रथम कड़ी अविद्या ही मानी गयी है। अविद्या से उत्पन्न व्यक्तित्व ही जीवन का मूलभूत पाप है। जन्म-मरण की परम्परा और दुःख का मूल अविद्या है। जैसे जैन-दर्शन में मिथ्यात्व की पूर्वकोटि नहीं जानी जा सकती, वैसे ही बौद्ध-दर्शन में भी अविद्या की पूर्वकोटि नहीं जानी जा सकती। यह एक ऐसी सत्ता है जिसे समझना कठिन है। हमें बिना अधिक गहराई में गये इसके अस्तित्व को स्वीकार कर लेना होगा। उसमें अविद्या वर्तमान जीवन की अनिवार्य पूर्ववर्ती अवस्था है, इसके पूर्व कुछ नहीं; क्योंकि जन्म-मरण की प्रक्रिया का कहीं आरम्भ नहीं खोजा जा सकता। लेकिन दूसरी ओर इसके अस्तित्व से इनकार भी नहीं किया जा सकता। स्वयं जीवन या जन्म-मरण की परम्परा इसका प्रमाण है कि अविद्या उपस्थित है। अविद्या का उद्‌भव कैसे होता है यह नहीं बताया जा सकता। अश्वघोप के अनुसार, "तथता" से ही अविद्या का जन्म होता है।[1] डॉ० राधाकृष्णन्

१. उद्धृत-जैन स्टडीज, पृ० १३३

की दृष्टि में बौद्ध-दर्शन में अविद्या उस परम सत्ता, जिसे आलयविज्ञान, तथागतगर्भ, शून्यता, धर्मधातु एवं तथता कहा गया है, की वह शक्ति है जो विश्व के भीतर से व्यक्तिगत जीवनों की शृंखला को उत्पन्न करती है। यह यथार्थ सत्ता के ही अन्दर विद्यमान निषेधात्मक तत्त्व है। हमारी सीमित बुद्धि इसकी तह में इससे अधिक और प्रवेश नहीं कर सकती।[1]

सामान्यतया अविद्या का अर्थ चार आर्यसत्यों का ज्ञानाभाव है। माध्यमिक एवं विज्ञानवादी विचारकों के अनुसार इन्द्रियानुभूति के विषय—इस जगत् की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, यह परतंत्र एवं सापेक्ष है, इसे यथार्थ मान लेना ही अविद्या है। दूसरे शब्दों में अयथार्थ अनेकता को यथार्थ मान लेना ही अविद्या का कार्य है। इसी में वैयक्तिक अहं का प्रादुर्भाव होता है और यहीं तृष्णा का जन्म होता है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार भी अविद्या और तृष्णा (अनैतिकता) में पारस्परिक कार्य-कारण संबंध है। अविद्या के कारण तृष्णा और तृष्णा के कारण अविद्या उत्पन्न होती है। जिस प्रकार जैन-दर्शन में मोह के दो रूप दर्शन-मोह और चारित्र-मोह हैं, उसी प्रकार बौद्ध-दर्शन में अविद्या के दो कार्य ज्ञेयावरण एवं क्लेशावरण हैं। ज्ञेयावरण की तुलना दर्शन-मोह से और क्लेशावरण की तुलना चारित्र-मोह से की जा सकती है। जिस प्रकार वैदिक परम्परा में माया को अनिर्वचनीय कहा गया है, उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा में भी अविद्या सत् और असत् दोनों ही कोटियों से परे है। विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के सम्प्रदायों की दृष्टि में नानारूपात्मक जगत् को परमार्थ मान लेना अविद्या है। मैत्रेयनाथ ने अभूतपरिकल्प (अनेकता का ज्ञान) का विवेचन करते हुए कहा कि उसे सत् और असत् दोनों ही नहीं कहा जा सकता। वह सत् इसलिए नहीं है क्योंकि परमार्थ में अनेकता या द्वैत का कोई अस्तित्व नहीं है और वह असत् इसलिए नहीं है कि उसके प्रहाण से निर्वाण का लाभ होता है।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध-दर्शन के परवर्ती सम्प्रदायों में अविद्या का स्वरूप बहुत-कुछ वेदान्तिक माया के समान बन गया है।

बौद्ध-दर्शन की अविद्या की समीक्षा—बौद्ध-दर्शन के विज्ञानवादी और शून्यवादी सम्प्रदायों में अविद्या का जो स्वरूप निर्दिष्ट है वह आलोचना का विषय ही रहा है। विज्ञानवादी और शून्यवादी विचारक अपने निरपेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर इन्द्रियानुभूति के विषयों को अविद्या या वासना के काल्पनिक प्रत्यय मानते हैं। दूसरे, उनके अनुसार अविद्या आत्मनिष्ठ (Subjective) है। जैन दार्शनिकों ने उनकी इस मान्यता को अनुचित ही माना है, क्योंकि प्रथमतः अनुभव के विषयों को अनादि अविद्या के काल्पनिक प्रत्यय मानकर इन्द्रियानुभूति के ज्ञान को असत्य बताया गया है। जैन दार्शनिकों की दृष्टि में इन्द्रियानुभूति के विषयों को असत् नहीं माना जा सकता;

---

१. भारतीय दर्शन, पृ० ३८२-३८३

२. जैन स्टडीज, पृ० १३२-१३३ पर उद्धृत।

क्योंकि वे तर्क और अनुभव दोनों को ही यथार्थ मानकर चलते हैं। उनके अनुसार तार्किक ज्ञान (बौद्धिक ज्ञान) और अनुभूत्यात्मक ज्ञान दोनों ही यथार्थता का बोध करा सकते हैं। बौद्ध-दार्शनिकों की यह धारणा कि अविद्या केवल आत्मगत है, जैन-दार्शनिकों को स्वीकार नहीं है। वे अविद्या का वस्तुगत आधार भी मानते हैं। उनकी दृष्टि में बौद्ध दृष्टिकोण एकांगी है। बौद्ध-दर्शन की अविद्या की विस्तृत समीक्षा डॉ० नथमल टाँटिया ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन जैन फिलासफी' में की है।[१]

गीता एवं वेदान्त में अविद्या का स्वरूप—गीता में अविद्या, अज्ञान और माया शब्द का प्रयोग हुआ है। गीता में अज्ञान और माया का सामान्यतया दो भिन्न अर्थों में ही प्रयोग हुआ है। अज्ञान वैयक्तिक है, और माया ईश्वरीय शक्ति है। गीता में अज्ञान का अर्थ परमात्मा के उस वास्तविक स्वरूप के ज्ञान का अभाव है जिस रूप में वह जगत् में व्याप्त होते हुए भी उससे परे है। गीता में अज्ञान शब्द विपरीत ज्ञान, मोह, अनेकता को यथार्थ मान लेना आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। ज्ञान के सात्त्विक, राजस और तामस प्रकारों का विवेचन करते हुए गीता में स्पष्ट बताया गया है कि अनेकता को यथार्थ माननेवाला दृष्टिकोण या ज्ञान राजस है, इसी प्रकार यह मानना कि परमतत्त्व मात्र इतना ही है यह ज्ञान तामस है।[२] गीता में माया को व्यक्ति के दुःख एवं बन्धन का कारण कहा गया है, क्योंकि यह एक भ्रान्त आंशिक चेतना का पोषण करती है और उस रूप में पूर्ण यथार्थता का ग्रहण सम्भव नहीं होता। फिर भी माया ईश्वर की एक ऐसी कार्यकारी शक्ति भी है जिसके माध्यम से परमात्मा इस नानारूपात्मक जगत् में अपने को अभिव्यक्त करता है। वैयक्तिक दृष्टि से माया परमार्थ का आवरण कर व्यक्ति को उसके यथार्थ ज्ञान से वंचित करती है, जब कि परमसत्ता की अपेक्षा से वह उसकी एक शक्ति ही सिद्ध होती है।

वेदान्त-दर्शन में अविद्या का अर्थ अद्वय परमार्थ में अनेकता की कल्पना है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि जो अद्वय में अनेकता का दर्शन करता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है।[३] इसके विपरीत अनेकता में एकता का दर्शन सच्चा ज्ञान है। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि जो सभी को परमात्मा में और परमात्मा में सभी को स्थित देखता है उस एकत्वदर्शी को न विजुगुप्सा होती है और न उसे कोई मोह या शोक होता है।[४] वेदान्त परम्परा में अविद्या जगत् के प्रति आसक्ति एवं मिथ्या दृष्टिकोण है और माया एक ऐसी शक्ति है जिससे यह अनेकतामय जगत् अस्तित्ववान् प्रतीत होता है। माया इस नानारूपात्मक जगत् का आधार है और अविद्या हमें उससे बाँधे रखती है। वेदान्त-दर्शन में माया अद्वय अविकार्य परमसत्ता की जगत् के रूप में

---

१. विस्तृत विवेचन के लिए देखिए, जैन स्टडीज, पृ० १२६-१३७ एवं २०१-२१५

२. गीता १८।२१-२२

३. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।४।१९

४. ईशावास्योपनिषद्, ६–७

की दृष्टि में बौद्ध-दर्शन में अविद्या उस परम सत्ता, जिसे आलयविज्ञान, तथागतगर्भ शून्यता, धर्मधातु एवं तथता कहा गया है, की वह शक्ति है जो विश्व के भीतर से व्यक्तिगत जीवनों की श्रृंखला को उत्पन्न करती है। यह यथार्थ सत्ता के ही अन्दर विद्यमान निषेधात्मक तत्त्व है। हमारी सीमित बुद्धि इसकी तह में इससे अधिक और प्रवेश नहीं कर सकती।[१]

सामान्यतया अविद्या का अर्थ चार आर्यसत्यों का ज्ञानाभाव है। माध्यमिक एवं विज्ञानवादी विचारकों के अनुसार इन्द्रियानुभूति के विषय—इस जगत् की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, यह परतंत्र एवं सापेक्ष है, इसे यथार्थ मान लेना ही अविद्या है। दूसरे शब्दों में अयथार्थ अनेकता को यथार्थ मान लेना ही अविद्या का कार्य है। इसी में वैयक्तिक अहं का प्रादुर्भाव होता है और यहीं तृष्णा का जन्म होता है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार भी अविद्या और तृष्णा (अनैतिकता) में पारस्परिक कार्य-कारण संबंध है। अविद्या के कारण तृष्णा और तृष्णा के कारण अविद्या उत्पन्न होती है। जिस प्रकार जैन-दर्शन में मोह के दो रूप दर्शन-मोह और चारित्र-मोह हैं, उसी प्रकार बौद्ध-दर्शन में अविद्या के दो कार्य ज्ञेयावरण एवं क्लेशावरण हैं। ज्ञेयावरण की तुलना दर्शन-मोह से और क्लेशावरण की तुलना चारित्र-मोह से की जा सकती है। जिस प्रकार वैदिक परम्परा में माया को अनिर्वचनीय कहा गया है, उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा में भी अविद्या सत् और असत् दोनों ही कोटियों से परे है। विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के सम्प्रदायों की दृष्टि में नानारूपात्मक जगत् को परमार्थ मान लेना अविद्या है। मैत्रैयनाथ ने अभूतपरिकल्प (अनेकता का ज्ञान) का विवेचन करते हुए कहा कि उसे सत् और असत् दोनों ही नहीं कहा जा सकता। वह सत् इसलिए नहीं है क्योंकि परमार्थ में अनेकता या द्वैत का कोई अस्तित्व नहीं है और वह असत् इसलिए नहीं है कि उसके प्रहाण से निर्वाण का लाभ होता है।[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध-दर्शन के परवर्ती सम्प्रदायों में अविद्या का स्वरूप बहुत-कुछ वेदान्तिक माया के समान बन गया है।

बौद्ध-दर्शन की अविद्या की समीक्षा—बौद्ध-दर्शन के विज्ञानवादी और शून्यवादी सम्प्रदायों में अविद्या का जो स्वरूप निर्दिष्ट है वह आलोचना का विषय ही रहा है। विज्ञानवादी और शून्यवादी विचारक अपने निरपेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर इन्द्रियानुभूति के विषयों को अविद्या या वासना के काल्पनिक प्रत्यय मानते हैं। दूसरे, उनके अनुसार अविद्या आत्मनिष्ठ (Subjective) है। जैन दार्शनिकों ने उनकी इस मान्यता को अनुचित ही माना है, क्योंकि प्रथमतः अनुभव के विषयों को अनादि अविद्या के काल्पनिक प्रत्यय मानकर इन्द्रियानुभूति के ज्ञान को असत्य बताया गया है। जैन दार्शनिकों की दृष्टि में इन्द्रियानुभूति के विषयों को असत् नहीं माना जा सकता;

१. भारतीय दर्शन, पृ० ३८२-३८३

२. जैन स्टडीज, पृ० १३२-१३३ पर उद्धृत।

क्योंकि वे तर्क और अनुभव दोनों को ही यथार्थ मानकर चलते हैं। उनके अनुसार तार्किक ज्ञान (बौद्धिक ज्ञान) और अनुभूत्यात्मक ज्ञान दोनों ही यथार्थता का बोध करा सकते हैं। बौद्ध-दार्शनिकों की यह धारणा कि अविद्या केवल आत्मगत है, जैन-दार्शनिकों को स्वीकार नहीं है। वे अविद्या का वस्तुगत आधार भी मानते हैं। उनकी दृष्टि में बौद्ध दृष्टिकोण एकांगी है। बौद्ध-दर्शन की अविद्या की विस्तृत समीक्षा डॉ० नथमल टांटिया ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन जैन फिलासफी' में की है।[१]

गीता एवं वेदान्त में अविद्या का स्वरूप—गीता में अविद्या, अज्ञान और माया शब्द का प्रयोग हुआ है। गीता में अज्ञान और माया का सामान्यतया दो भिन्न अर्थों में ही प्रयोग हुआ है। अज्ञान वैयक्तिक है, और माया ईश्वरीय शक्ति है। गीता में अज्ञान का अर्थ परमात्मा के उस वास्तविक स्वरूप के ज्ञान का अभाव है जिस रूप में वह जगत् में व्याप्त होते हुए भी उससे परे है। गीता में अज्ञान शब्द विपरीत ज्ञान, मोह, अनेकता को यथार्थ मान लेना आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। ज्ञान के सात्त्विक, राजस और तामस प्रकारों का विवेचन करते हुए गीता में स्पष्ट बताया गया है कि अनेकता को यथार्थ माननेवाला दृष्टिकोण या ज्ञान राजस है, इसी प्रकार यह मानना कि परमतत्त्व मात्र इतना ही है यह ज्ञान तामस है।[२] गीता में माया को व्यक्ति के दुःख एवं बन्धन का कारण कहा गया है, क्योंकि यह एक भ्रान्त आंशिक चेतना का पोषण करती है और उस रूप में पूर्ण यथार्थता का ग्रहण सम्भव नहीं होता। फिर भी माया ईश्वर की एक ऐसी कार्यकारी शक्ति भी है जिसके माध्यम से परमात्मा इस नानारूपात्मक जगत् में अपने को अभिव्यक्त करता है। वैयक्तिक दृष्टि से माया परमार्थ का आवरण कर व्यक्ति को उसके यथार्थ ज्ञान से वंचित करती है, जब कि परमसत्ता की अपेक्षा से वह उसकी एक शक्ति ही सिद्ध होती है।

वेदान्त-दर्शन में अविद्या का अर्थ अद्वय परमार्थ में अनेकता की कल्पना है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि जो अद्वय में अनेकता का दर्शन करता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है।[३] इसके विपरीत अनेकता में एकता का दर्शन सच्चा ज्ञान है। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि जो सभी को परमात्मा में और परमात्मा में सभी को स्थित देखता है उस एकत्वदर्शी को न विजुगुप्सा होती है और न उसे कोई मोह या शोक होता है।[४] वेदान्त परम्परा में अविद्या जगत् के प्रति आसक्ति एवं मिथ्या दृष्टिकोण है और माया एक ऐसी शक्ति है जिससे यह अनेकतामय जगत् अस्तित्ववान् प्रतीत होता है। माया इस नानारूपात्मक जगत् का आधार है और अविद्या हमें उससे बांधे रखती है। वेदान्त-दर्शन में माया अद्वय अविकार्य परमसत्ता की जगत् के रूप में

---

१. विस्तृत विवेचन के लिए देखिए, जैन स्टडीज, पृ० १२६-१३७ एवं २०१-२१५

२. गीता १८।२१-२२

३. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।४।१९

४. ईशावास्योपनिषद्, ६–७

प्रतीति है। वेदान्त में माया न तो सत् है और न असत् है, उसे चतुष्कोटि विनिर्मुक्त कहा गया हैं।[1] वह सत् इसलिए नहीं है कि उसका निरसन किया जा सकता है। वह असत् इसलिए नहीं है कि उसके आधार पर व्यवहार होता है। वेदान्त दर्शन में माया जगत् की व्याख्या और उसकी उत्पत्ति का सिद्धान्त है और अविद्या वैयक्तिक आसक्ति है।

वेदान्त की माया की समीक्षा—वेदान्त-दर्शन में माया एक अर्ध सत्य है जबकि तार्किक दृष्टि से माया या तो सत्य हो सकती है या असत्य। जैन दार्शनिकों के अनुसार सत्य सापेक्ष अवश्य हो सकता है लेकिन अर्ध सत्य (Quasi-Real) ऐसी कोई अवस्था नहीं हो सकती। यदि अद्वय परमार्थ को नानारूपात्मक मानना अविद्या है, तो जैन-दार्शनिकों को यह दृष्टिकोण स्वीकार नहीं है। यद्यपि जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराएँ अविद्या की इस व्याख्या में एकमत हैं कि अविद्या या मोह का अर्थ है अनात्म या 'पर' में आत्म-बुद्धि।

उपसंहार—अज्ञान, अविद्या या मोह ही सम्यक् प्रगति में सबसे बड़ा अवरोध है। हमारे क्षुद्र व्यक्तित्व और परमात्मत्व के बीच सबसे बड़ी बाधा है। उसके हटते ही हम अपने को अपने में ही उपस्थित परमात्मा के निकट खड़ा पाते हैं। फिर भी प्रश्न यह है कि इस अविद्या या मिथ्यात्व से मुक्ति कैसे हो? वस्तुतः अविद्या से मुक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं कि हम अविद्या या अज्ञान को हटाने का प्रयत्न करें, क्योंकि उसके हटाने के सारे प्रयास वैसे ही निरर्थक होंगे जैसे कोई अंधकार को हटाने का प्रयत्न करे। जैसे प्रकाश के होते ही अंधकार समाप्त हो जाता है वैसे ही ज्ञान रूप प्रकाश या सम्यग्दृष्टि के उत्पन्न होते ही अज्ञान या अविद्या का अंधकार समाप्त हो जाता है। आवश्यकता इस बात की नहीं कि हम अविद्या या मिथ्यात्व को हटाने का प्रयत्न करें, वरन् आवश्यकता इस बात की है कि हम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की ज्योति को प्रज्ज्वलित करें ताकि अविद्या या अज्ञान का तामिस्र (अन्धकार) समाप्त हो जाय।

■

४

सम्यक्-दर्शन

जैन-परम्परा में सम्यक्-दर्शन, सम्यक्त्व एवं सम्यक्-दृष्टि शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में हुआ है। यद्यपि आचार्य जिनभद्र ने विशेषावश्यकभाष्य में सम्यक्त्व और सम्यक्-दर्शन के भिन्न भिन्न अर्थों का निर्देश किया है।[1] सम्यक्त्व वह है जिसके कारण श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र सम्यक् बनते हैं। सम्यक्त्व का अर्थ-विस्तार सम्यक् दर्शन से अधिक व्यापक है, फिर भी सामान्यतया सम्यक् दर्शन और सम्यक्त्व शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त किये गये हैं। वैसे सम्यग्दर्शन शब्द में सम्यक्त्व निहित ही है।

सम्यक्त्व का अर्थ—सामान्य रूप में सम्यक् या सम्यक्त्व शब्द सत्यता या यथार्थता का परिचायक है, जिसे 'उचितता' भी कह सकते हैं। सम्यक्त्व का एक अर्थ तत्त्व-रुचि है।[2] इस अर्थ में सम्यक्त्व सत्याभिरुचि या सत्य की अभीप्सा है। उपर्युक्त दोनों अर्थों में सम्यक्-दर्शन या सम्यक्त्व नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है। जैन नैतिकता का चरम आदर्श आत्मा के यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि है, लेकिन यथार्थ की उपलब्धि भी तो यथार्थ से सम्भव होती है। यदि हमारा साध्य 'यथार्थता' की उपलब्धि है, तो उसका साधन भी यथार्थ ही चाहिए। जैन-विचारणा साध्य और साधन की एकरूपता में विश्वास करती है। वह यह मानती है कि अनुचित साधन से प्राप्त किया गया लक्ष्य भी अनुचित ही है। सम्यक् को सम्यक् से ही प्राप्त करना होता है, असम्यक् से जो भी मिलता है या प्राप्त किया जाता है, वह भी असम्यक् ही होता है। अतः आत्मा के यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति के लिये जिन साधनों का विधान किया गया, उनका सम्यक् होना आवश्यक माना गया। वस्तुतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र का नैतिक मूल्य उनके सम्यक् होने में है और तभी वे मुक्ति या निर्वाण के साधन बनते हैं। यदि ज्ञान, दर्शन और चारित्र मिथ्या होते हैं तो बन्धन का कारण बनते हैं। बन्धन-मुक्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र पर निर्भर नहीं, वरन् उनके सम्यक् और मिथ्यापन पर आधारित है।

आचार्य जिनभद्र के अनुसार यदि सम्यक्त्व का अर्थ तत्त्वरुचि या सत्याभीप्सा लेते हैं तो सम्यक्त्व का नैतिक साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध होता है। नैतिकता की साधना आदर्शोन्मुख गति है, लेकिन जिसके कारण वह गति है, साधना है, वह तो सत्याभीप्सा ही है। साधक में जबतक सत्याभीप्सा या तत्त्व रुचि जागृत नहीं होती,

---

१. विशेषावश्यक भाष्य, १७८७-९० २. अभिधानराजेन्द्र, खण्ड ५, पृष्ठ २४२५

प्रतीति है। वेदान्त में माया न तो सत् है और न असत् है, उसे चतुष्कोटि विनिर्मुक्त कहा गया है।[1] वह सत् इसलिए नहीं है कि उसका निरसन किया जा सकता है। वह असत् इसलिए नही है कि उसके आधार पर व्यवहार होता है। वेदान्त दर्शन में माया जगत् की व्याख्या और उसकी उत्पत्ति का सिद्धान्त है और अविद्या वैयक्तिक आसक्ति है।

वेदान्त की माया की समीक्षा—वेदान्त-दर्शन में माया एक अर्ध सत्य है जबकि तार्किक दृष्टि से माया या तो सत्य हो सकती है या असत्य। जैन दार्शनिकों के अनुसार सत्य सापेक्ष अवश्य हो सकता है लेकिन अर्ध सत्य (Quasi-Real) ऐसी कोई अवस्था नहीं हो सकती। यदि अद्वय परमार्थ को नानारूपात्मक मानना अविद्या है, तो जैन-दार्शनिकों को यह दृष्टिकोण स्वीकार नहीं है। यद्यपि जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराएँ अविद्या की इस व्याख्या में एकमत हैं कि अविद्या या मोह का अर्थ है अनात्म या 'पर' में आत्म-बुद्धि।

उपसंहार—अज्ञान, अविद्या या मोह ही सम्यक् प्रगति में सबसे बड़ा अवरोध है। हमारे क्षुद्र व्यक्तित्व और परमात्मत्व के बीच सबसे बड़ी बाधा है। उसके हटते ही हम अपने को अपने में ही उपस्थित परमात्मा के निकट खड़ा पाते हैं। फिर भी प्रश्न यह है कि इस अविद्या या मिथ्यात्व से मुक्ति कैसे हो? वस्तुतः अविद्या से मुक्ति के लिए यह आवश्यक नहीं कि हम अविद्या या अज्ञान को हटाने का प्रयत्न करें, क्योंकि उसके हटाने के सारे प्रयास वैसे ही निरर्थक होंगे जैसे कोई अंधकार को हटाने का प्रयत्न करे। जैसे प्रकाश के होते ही अंधकार समाप्त हो जाता है वैसे ही ज्ञान रूप प्रकाश या सम्यग्दृष्टि के उत्पन्न होते ही अज्ञान या अविद्या का अंधकार समाप्त हो जाता है। आवश्यकता इस बात की नहीं कि हम अविद्या या मिथ्यात्व को हटाने का प्रयत्न करें, वरन् आवश्यकता इस बात की है कि हम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की ज्योति को प्रज्ज्वलित करें ताकि अविद्या या अज्ञान का तामिस्र (अन्धकार) समाप्त हो जाय।

■

जैन-परम्परा में सम्यक्-दर्शन, सम्यक्त्व एवं सम्यक्-दृष्टि शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में हुआ है। यद्यपि आचार्य जिनभद्र ने विशेषावश्यकभाष्य में सम्यक्त्व और सम्यक्-दर्शन के भिन्न भिन्न अर्थों का निर्देश किया है।[1] सम्यक्त्व वह है जिसके कारण श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र सम्यक् बनते हैं। सम्यक्त्व का अर्थ-विस्तार सम्यक् दर्शन से अधिक व्यापक है, फिर भी सामान्यतया सम्यक् दर्शन और सम्यक्त्व शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त किये गये हैं। वैसे सम्यग्दर्शन शब्द में सम्यक्त्व निहित ही है।

सम्यक्त्व का अर्थ—सामान्य रूप में सम्यक् या सम्यक्त्व शब्द सत्यता या यथार्थता का परिचायक है, जिसे 'उचितता' भी कह सकते हैं। सम्यक्त्व का एक अर्थ तत्त्व-रुचि है।[2] इस अर्थ में सम्यक्त्व सत्याभिरुचि या सत्य की अभीप्सा है। उपर्युक्त दोनों अर्थों में सम्यक्-दर्शन या सम्यक्त्व नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है। जैन नैतिकता का चरम आदर्श आत्मा के यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि है, लेकिन यथार्थ की उपलब्धि भी तो यथार्थ से सम्भव होती है। यदि हमारा साध्य 'यथार्थता' की उपलब्धि है, तो उसका साधन भी यथार्थ ही चाहिए। जैन-विचारणा साध्य और साधन की एकरूपता में विश्वास करती है। वह यह मानती है कि अनुचित साधन से प्राप्त किया गया लक्ष्य भी अनुचित ही है। सम्यक् को सम्यक् से ही प्राप्त करना होता है, असम्यक् से जो भी मिलता है या प्राप्त किया जाता है, वह भी असम्यक् ही होता है। अतः आत्मा के यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति के लिये जिन साधनों का विधान किया गया, उनका सम्यक् होना आवश्यक माना गया। वस्तुतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र का नैतिक मूल्य उनके सम्यक् होने में है और तभी वे मुक्ति या निर्वाण के साधन बनते हैं। यदि ज्ञान, दर्शन और चारित्र मिथ्या होते हैं तो बन्धन का कारण बनते हैं। बन्धन-मुक्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र पर निर्भर नहीं, वरन् उनके सम्यक् और मिथ्यापन पर आधारित है।

आचार्य जिनभद्र के अनुसार यदि सम्यक्त्व का अर्थ तत्त्वरुचि या सत्याभीप्सा लेते हैं तो सम्यक्त्व का नैतिक साधना में महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध होता है। नैतिकता की साधना आदर्शोन्मुख गति है, लेकिन जिसके कारण वह गति है, साधना है, वह तो सत्याभीप्सा ही है। साधक में जबतक सत्याभीप्सा या तत्त्व रुचि जागृत नहीं होती,

१. विशेषावश्यक भाष्य, १७८७-९० २. अभिधानराजेन्द्र, खण्ड ५, पृष्ठ २४२५

तबतक वह नैतिक प्रगति की ओर अग्रसर ही नहीं हो सकता। सत्य की प्यास ही ऐसा तत्त्व है जो साधक को साधना-मार्ग में प्रेरित करता है, प्यासा ही पानी की खोज करता है, तत्त्व-रुचि या सत्याभीप्सा से युक्त व्यक्ति ही आदर्श की प्राप्ति के लिए साधना करता है। उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यक्त्व के दोनों अर्थों को समन्वित कर दिया गया है। ग्रंथकर्ता की दृष्टि में यद्यपि सम्यक्त्व यथार्थता की अभिव्यक्ति करता है, लेकिन यथार्थता की जिससे उपलब्धि होती है उसके लिये सत्याभीप्सा या रुचि आवश्यक है।

दर्शन का अर्थ—''दर्शन शब्द भी जैनागमों में अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। जीवादि पदार्थों के स्वरूप देखना, जानना, श्रद्धा करना 'दर्शन' है।[१] सामान्यतया दर्शन शब्द देखने के अर्थ में व्यवहृत होता है, लेकिन यहाँ दर्शन शब्द का अर्थ मात्र नेत्रजन्य बोध नहीं है। उसमें इन्द्रिय-बोध, मन-बोध और आत्म-बोध सभी सम्मिलित हैं। दर्शन शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में जैन-परम्परा में काफी विवाद रहा है। दर्शन को ज्ञान से अलग करते हुए विचारकों ने दर्शन को अन्तर्बोध या प्रज्ञा और ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान कहा है।[२] नैतिक जीवन की दृष्टि से विचार करने पर दर्शन शब्द का दृष्टिकोणपरक अर्थ किया गया है।[3] दर्शन शब्द के स्थान पर 'दृष्टि' शब्द का प्रयोग, उसके दृष्टिकोणपरक अर्थ का द्योतक है। प्राचीन जैन आगमों में दर्शन शब्द के स्थान पर दृष्टि शब्द का प्रयोग अधिक मिलता है। तत्त्वार्थसूत्र[४] और उत्तराध्ययनसूत्र[५] में दर्शन शब्द का अर्थ 'तत्त्वश्रद्धा' है। परवर्ती जैन साहित्य में दर्शन शब्द देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा या भक्ति के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।[६] इस प्रकार जैन परम्परा में सम्यक् दर्शन अपने में तत्त्व-साक्षात्कार, आत्म-साक्षात्कार, अन्तर्बोध, दृष्टिकोण, श्रद्धा और भक्ति आदि अर्थों को समेटे हुए है। इन पर थोड़ी गहराई से विचार करना अपेक्षित है।

सम्यक्-दर्शन के विभिन्न अर्थ

सम्यक्-दर्शन शब्द के विभिन्न अर्थों पर विचार करने से पहले हमें यह देखना होगा कि इनमें से कौन-सा अर्थ ऐतिहासिक दृष्टि से प्रथम था और उसके पश्चात् किन-किन ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण यही शब्द अपने दूसरे अर्थ में प्रयुक्त हुआ। प्रथमतः हम देखते हैं कि बुद्ध और महावीर के समय में प्रत्येक धर्म-प्रवर्तक अपने सिद्धान्त को सम्यक्-दृष्टि और दूसरे के सिद्धान्त को मिथ्यादृष्टि कहता था। बौद्धागमों में ६२ मिथ्यादृष्टियों एवं जैनागम सूत्रकृतांग में ३६३ मिथ्यादृष्टियों का उल्लेख मिलता है। लेकिन वहाँ पर मिथ्यादृष्टि शब्द अश्रद्धा अथवा मिथ्या श्रद्धा के अर्थ में नहीं, वरन्

१. अभिधानराजेन्द्र, खण्ड ५, पृ० २४२५
२. सम प्राब्लेम्स् इन जैन साइकोलाजी पृ० ३२
३. अभिधानराजेन्द्र, खण्ड ८, पृ० २५२५
४. तत्त्वार्थसूत्र १।२
५. उत्तराध्ययन, २८।३५
६. सामायिकसूत्र—सम्यक्त्व पाठ

गलत दृष्टिकोण के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। बाद में जब यह प्रश्न उठा कि गलत दृष्टिकोण को किस सन्दर्भ में माना जाय, तो कहा गया कि जीव (आत्मतत्त्व) और जगत् के सम्बन्ध में जो गलत दृष्टिकोण है, वही मिथ्यादर्शन या मिथ्यादृष्टि है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि से तात्पर्य हुआ आत्मा और जगत् के विषय में गलत दृष्टिकोण। उस युग में प्रत्येक धर्म प्रवर्तक आत्मा और जगत् के स्वरूप के विषय में अपने दृष्टिकोण को सम्यक्-दृष्टि अथवा सम्यग्दर्शन तथा विरोधी के दृष्टिकोण को मिथ्यादृष्टि अथवा मिथ्या-दर्शन कहता था। बाद में प्रत्येक सम्प्रदाय जीवन और जगत् सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण पर विश्वास करने को सम्यग्दृष्टि कहने लगा और जो लोग विपरीत मान्यता रखते थे उनको मिथ्यादृष्टि कहने लगा। इस प्रकार सम्यक्दर्शन शब्द तत्त्वार्थ (जीव और जगत् के स्वरूप के) श्रद्धान के अर्थ में रूढ़ हुआ। लेकिन तत्त्वार्थश्रद्धान के अर्थ में भी सम्यक्-दर्शन शब्द अपने मूल अर्थ से अधिक दूर नहीं हुआ था, यद्यपि उसकी भावनागत दिशा बदल चुकी थी। उसमें श्रद्धा का तत्त्व प्रविष्ट हो गया था; लेकिन वह श्रद्धा थी तत्त्व स्वरूप के प्रति। वैयक्तिक श्रद्धा का विकास बाद की बात थी। श्रमण-परम्परा में लम्बे समय तक सम्यग्दर्शन का दृष्टिकोणपरक अर्थ ही ग्राह्य रहा था जो बाद में तत्त्वार्थश्रद्धान के रूप में विकसित हुआ। यहाँ तक तो श्रद्धा में बौद्धिक पक्ष निहित था, श्रद्धा ज्ञानात्मक थी। लेकिन जैसे-जैसे भागवत सम्प्रदाय का विकास हुआ, उसका प्रभाव जैन और बौद्ध श्रमण-परम्पराओं पर भी पड़ा। तत्त्वार्थ की श्रद्धा बुद्ध और जिन पर केन्द्रित होने लगी और वह ज्ञानात्मक से भावात्मक और निर्वैयक्तिक से वैयक्तिक बन गयी। इसने जैन और बौद्ध परम्पराओं में भक्ति के तत्त्व का वपन किया।[1] आगम एवं पिटक ग्रंथों के संकलन एवं लिपिबद्ध होने तक यह सब कुछ हो चुका था। अतः आगम और पिटक ग्रंथों में सम्यक्दर्शन के ये सभी अर्थ उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः सम्यक्-दर्शन का भाषा-शास्त्रीय विवेचन पर आधारित यथार्थ दृष्टिकोणपरक अर्थ ही उसका प्रथम एवं मूल अर्थ है, लेकिन यथार्थ दृष्टिकोण तो मात्र वीतराग पुरुष का ही हो सकता है। जहाँ तक व्यक्ति राग और द्वेष से युक्त है, उसका दृष्टिकोण यथार्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार का सम्यक्-दर्शन या यथार्थ दृष्टिकोण तो साधनावस्था में सम्भव नहीं है, क्योंकि साधना की अवस्था सराग अवस्था है। साधक आत्मा में राग-द्वेष की उपस्थिति होती है, साधक तो साधना ही इसलिए कर रहा है कि वह इन दोनों से मुक्त हो। इस प्रकार यथार्थ दृष्टिकोण तो मात्र सिद्धावस्था में होगा। लेकिन यथार्थ दृष्टिकोण की आवश्यकता तो साधक के लिए है, सिद्ध को तो वह स्वाभाविक रूप में प्राप्त है। यथार्थ दृष्टिकोण के अभाव में व्यक्ति का व्यवहार तथा साधना सम्यक् नहीं हो सकती। क्योंकि अयथार्थ दृष्टिकोण ज्ञान और जीवन के व्यवहार को सम्यक् नहीं बना सकता। यहाँ एक समस्या

---

१. देखिये, स्थानांग ५।२

उत्पन्न होती है कि यथार्थ दृष्टिकोण का साधानात्मक जीवन में अभाव होता है और बिना यथार्थ दृष्टिकोण के साधना हो नहीं सकती। यह समस्या एक ऐसी स्थिति में डाल देती है जहाँ हमें साधना-मार्ग की सम्भावना को ही अस्वीकृत करना होता है। यथार्थ दृष्टिकोण के बिना साधना सम्भव नहीं और यथार्थ दृष्टिकोण साधना-काल में हो नहीं सकता।

लेकिन इस धारणा में भ्रान्ति है। साधना-मार्ग के लिए या दृष्टिकोण की यथार्थता के लिए, दृष्टि का राग-द्वेष से पूर्ण विमुक्त होना आवश्यक नहीं है; मात्र इतना आवश्यक है कि व्यक्ति अयथार्थता और उसके कारण को जाने। ऐसा साधक यथार्थता को न जानते हुए भी सम्यग्दृष्टि ही है, क्योंकि वह असत्य को असत्य मानता है और उसके कारण को जानता है। अतः वह भ्रान्त नहीं है, असत्य के कारण को जानने से वह उसका निराकरण कर सत्य को पा सकेगा। यद्यपि पूर्ण यथार्थ दृष्टि तो एक साधक में सम्भव नहीं है, फिर भी उसकी रागद्वेपात्मक वृत्तियों में जब स्वाभाविक रूप से कमी हो जाती है तो इस स्वाभाविक परिवर्तन के कारण उसे पूर्वानुभूति और पश्चानुभूति में अन्तर ज्ञात होता है और इस अन्तर के कारण के चिन्तन में उसे दो बातें मिल जाती हैं एक तो यह कि उसका दृष्टिकोण दूपित है और दूसरी यह कि उसकी दृष्टि की दूपितता का अमुक कारण है। यद्यपि यहाँ सत्य तो प्राप्त नहीं होता, लेकिन अपनी असत्यता और उसके कारण का बोध हो जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप उसमें सत्याभीप्सा जागृत हो जाती है। यही सत्याभीप्सा उस सत्य या यथार्थता के निकट पहुँचाती है और जितने अंश में वह यथार्थता के निकट पहुँचता है उतने ही अंश में उसका ज्ञान और चारित्र शुद्ध होता जाता है। ज्ञान और चारित्र की शुद्धता से पुनः राग और द्वेष में क्रमशः कमी होती है और उसके फलस्वरूप उसके दृष्टिकोण में और अधिक यथार्थता आ जाती है। इस प्रकार क्रमशः व्यक्ति स्वतः ही साधना की चरम स्थिति में पहुँच जाता है। आवश्यकनिर्युक्ति में कहा है कि जल जैसे-जैसे स्वच्छ होता जाता है, त्यों-त्यों द्रष्टा उसमें प्रतिबिम्बित रूपों को स्पष्टतया देखने लगता है। उसी प्रकार अन्तर में ज्यों-ज्यों मलिनता समाप्त होती है; तत्त्व-रुचि जाग्रत होती है, त्यों-त्यों तत्त्वज्ञान प्राप्त होता जाता है।[1] इसे जैन परिभाषा में प्रत्येक बुद्ध (स्वतः ही यथार्थता को जाननेवाले) का साधना-मार्ग कहते हैं।

लेकिन प्रत्येक सामान्य साधक यथार्थ दृष्टिकोण को इस प्रकार प्राप्त नहीं करता है, न उसके लिए यह सम्भव ही है; सत्य की स्वानुभूति का मार्ग कठिन है। सत्य को स्वयं जानने की विधि की अपेक्षा दूसरा सहज मार्ग यह है कि जिन्होंने स्वानुभूति से सत्य को जानकर उसका जो भी स्वरूप बताया है उसको स्वीकार कर लेना। इसे ही जैन शास्त्र-

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, ११६३

कारों ने तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है अर्थात् यथार्थ दृष्टिकोण से युक्त वीतराग ने सत्ता का जो स्वरूप प्रकट किया है, उसे स्वीकार करना।

मान लीजिए, कोई व्यक्ति पित्त-विकार से पीड़ित है। ऐसी स्थिति में वह किसी श्वेत वस्तु के यथार्थ ज्ञान से वंचित होगा। उसके लिए वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करने के दो मार्ग हो सकते हैं। पहला मार्ग यह कि उसकी बीमारी में स्वाभाविक रूप से जब कुछ कमी हो जावे और वह अपनी पूर्व और पश्चात् की अनुभूति में अन्तर पाकर अपने रोग को जाने और प्रयास से रोग को शान्त कर वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध प्राप्त करे। दूसरी स्थिति में किसी चिकित्सक द्वारा यह बताया जाये कि वह पित्त-विकारों के कारण श्वेत वस्तु को पीत वर्ण की देख रहा है। यहाँ चिकित्सक की बात को स्वीकार कर लेने पर भी उसे अपनी रुग्णावस्था अर्थात् अपनी दृष्टि की दूषितता का ज्ञान हो जाता है और साथ ही वह उसके वचनों पर श्रद्धा करके वस्तुतत्त्व को यथार्थ रूप में जान भी लेता है।

सम्यग्दर्शन को चाहे यथार्थ दृष्टि कहें या तत्त्वार्थश्रद्धान, उनमें वास्तविकता की दृष्टि से अन्तर नहीं है। अन्तर है उनकी उपलब्धि की विधि में। एक वैज्ञानिक स्वतः प्रयोग के आधार पर किसी सत्य का उद्घाटन करता है और वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है। दूसरा वैज्ञानिक के कथनों पर विश्वास करके भी वस्तुतत्त्वके यथार्थ स्वरूप को जानता है। दोनों दशाओं में व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ ही कहा जायेगा, यद्यपि दोनों की उपलब्धि-विधि में अन्तर है। एक ने उसे तत्त्वसाक्षात्कार या स्वतः की अनुभूति में पाया तो दूसरे ने श्रद्धा के माध्यम से।

वस्तुतत्त्व के प्रति दृष्टिकोण की यथार्थता जिन माध्यमों से प्राप्त की जा सकती है, वे दो हैं—या तो व्यक्ति स्वयं तत्त्व-साक्षात्कर करे अथवा उन ऋषियों के कथनों पर श्रद्धा करे जिन्होंने तत्त्व–साक्षात्कार किया है। तत्त्व-श्रद्धा तो मात्र उस समय तक के लिए एक अनिवार्य विकल्प है जबतक साधक तत्त्वसाक्षात्कर नहीं कर लेता। अन्तिम स्थिति तो तत्त्वसाक्षात्कार की ही है। पं० सुखलालजी लिखते हैं, तत्त्वश्रद्धा ही सम्यक् दृष्टि हो तो भी वह अर्थ अन्तिम नहीं हैं, अन्तिम अर्थ तो तत्त्वसाक्षात्कार है। तत्त्व-श्रद्धा तो तत्त्व-साक्षात्कार का एक सोपान मात्र है, वह सोपान दृढ़ हो तभी यथोचित पुरुषार्थ से तत्त्व का साक्षात्कार होता है।[१]

जैन आचार दर्शन में सम्यग्दर्शन का स्थान—सम्यग्दर्शन जैन आचार-व्यवस्था का आधार है। नन्दिसूत्र में सम्यग्दर्शन को संघरूपी सुमेरु पर्वत की अत्यन्त सुदृढ़ और गहन भूपीठिका (आधार-शिला) कहा गया है जिस पर ज्ञान और चारित्र रूपी उत्तम धर्म की मेखला अर्थात् पर्वतमाला स्थिर है।[२] जैन आचार में सम्यग्दर्शनको मुक्ति

१. जैनधर्म का प्राण, पृ० २४ २. नन्दिसूत्र, १।१२

का अधिकार-पत्र कहा जा सकता है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा है कि सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक् ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के अभाव में सदाचार नहीं आता और सदाचार के अभाव में कर्मावरण से मुक्ति सम्भव नहीं और कर्मावरण से जकड़े हुए प्राणी का निर्वाण नहीं होता।[1] आचारांगसूत्र में कहा है कि सम्यग्दृष्टि पापाचरण नहीं करता।[2] जैन विचारणा के अनुसार आचरण का सत् अथवा असत् होना कर्ता के दृष्टिकोण (दर्शन) पर निर्भर है सम्यक् दृष्टि से निष्पन्न आचरण सदैव सत् होगा और मिथ्या दृष्टि से निष्पन्न आचरण सदैव असत् होगा। इसी आधार पर सूत्राकृतांगसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि व्यक्ति विद्वान् है, भाग्यवान् है और पराक्रमी भी है; लेकिन यदि उसका दृष्टिकोण असम्यक् है तो उसका दान, तप आदि समस्त पुरुपार्थ फलाकांक्षा से होने के कारण अशुद्ध ही होगा। वह उसे मुक्ति की ओर न ले जाकर बन्धन की ओर ही ले जावेगा। क्योंकि असम्यक्दर्शी होने के कारण वह सराग दृष्टि वाला होगा और आसक्ति या फलाशा से निष्पन्न होने के कारण उसके सभी कार्य सकाम होंगे और सकाम होने से उसके बन्धन का कारण होंगे। अतः असम्यग्दृष्टि का सारा पुरुपार्थ अशुद्ध ही कहा जायेगा, क्योंकि वह उसकी मुक्ति में बाधक होगा। लेकिन इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि या वीतरागदृष्टि सम्पन्न व्यक्ति के सभी कार्य फलाशा से रहित होने से शुद्ध होंगे। इस प्रकार जैन-विचारणा यह बताती है कि सम्यग्दर्शन के अभाव से विचार प्रवाह सराग, सकाम या फलाकांक्षा से युक्त होता है और यही कर्मों के प्रति रही हुई फलाकांक्षा बन्धन का कारण होने से पुरुषार्थ को अशुद्ध बना देती है जबकि सम्यक्दर्शन की उपस्थिति से विचार-प्रवाह वीतरागता, निष्कामता और अनासक्ति की ओर बढ़ता है फलाकांक्षा समाप्त हो जाती है, अतः सम्यग्दृष्टि का सारा पुरुषार्थ परिशुद्ध होता है।[3]

कुशल-धर्म वृद्धि को, विलपुता को प्राप्त हो जाते हैं।[1] इस प्रकार बुद्ध सम्यक्-दृष्टि को नैतिक जीवन के लिए आवश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टि में मिथ्या दृष्टिकोण संसार का किनारा है और सम्यक्-दृष्टिकोण निर्वाण का किनारा है।[2] बुद्ध के ये वचन यह स्पष्ट कर देते हैं कि बौद्ध-दर्शन में सम्यक्-दृष्टि का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वैदिक परम्परा एवं गीता में सम्यक्-दर्शन (श्रद्धा) का स्थान—वैदिक परम्परा में भी सम्यक्-दर्शन को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। मनुस्मृति में कहा गया है कि सम्यक् दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति को कर्म का बन्धन नहीं होता है लेकिन सम्यक्-दर्शन से विहीन व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता रहता हैं।[3]

गीता में यद्यपि सम्यक्-दर्शन शब्द का अभाव है, तथापि सम्यक्-दर्शन को श्रद्धापरक अर्थ में लेने पर गीता मे उसका महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध हो जाता है। श्रद्धा गीता के आचार-दर्शन के केन्द्रीय तत्त्वों में से एक है। 'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं' कह कर गीता ने उसका महत्त्व स्पष्ट कर दिया है। गीता यह भी स्वीकार करती है कि व्यक्ति की जैसी श्रद्धा होती है, उसका जीवन के प्रति जैसा दृष्टि-कोण होता है, वैसा ही वह बन जाता है।[4] गीता में श्रीकृष्ण ने यह कह कर सम्यक् दर्शन या श्रद्धा के महत्त्व को स्पष्ट कर दिया है कि यदि दुराचारी व्यक्ति भी मुझे भजता है अर्थात् मेरे प्रति श्रद्धा रखता है तो उसे साधु ही समझो, क्योंकि वह शीघ्र ही धर्मात्मा होकर चिर शांति को प्राप्त हो जाता है।[5] गीता का यह कथन आचारांग के उस कथन से कि सम्यक्-दर्शी कोई पाप नहीं करता, काफी अधिक साम्य रखता है। आचार्य शंकर ने अपने गीताभाष्य में भी सम्यक्-दर्शन के महत्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सम्यक्-दर्शन निष्ठ पुरुष संसार के बीजरूप अविद्या आदि दोषों का उन्मूलन नहीं कर सके, ऐसा कदापि संभव नहीं हो सकता अर्थात् सम्यग्दर्शनयुक्त पुरुष निश्चितरूप से निर्वाण-लाभ करता है।[6] आचार्य शंकर के अनुसार जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता, तबतक राग (विषयासक्ति) का उच्छेद नहीं होता और जबतक राग का उच्छेद नहीं होता, मुक्ति संभव नहीं।

सम्यक्दर्शन आध्यात्मिक जीवन का प्राण है। जिस प्रकार चेतनारहित शरीर शव है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति चलता-फिरता शव है। जैसे शव लोक में त्याज्य होता है, वैसे ही आध्यात्मिक जगत् में यह चल शव त्याज्य है।[7] वस्तुतः सम्यक्-दर्शन एक जीवन-दृष्टि है। बिना जीवन-दृष्टि के जीवन का कोई अर्थ नहीं रहता। व्यक्ति की जीवनदृष्टि जैसी होती है उसी रूप में उसके चरित्र का निर्माण होता है। गीता में कहा है कि व्यक्ति श्रद्धामय है, जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही वह बन जाता

---

१. अंगुत्तरनिकाय, १।१७ २. वही १०।१२ ३. मनुस्मृति, ६।७४
४. गीता, १७।३ ५. वही, ९।३०–३१ ६. गीता (शां०,) १८।१२
७. भावपाहुड, १४३

का अधिकार-पत्र कहा जा सकता है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा है कि सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक् ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के अभाव में सदाचार नहीं आता और सदाचार के अभाव में कर्मावरण से मुक्ति सम्भव नहीं और कर्मावरण से जकड़े हुए प्राणी का निर्वाण नहीं होता।[1] आचारांगसूत्र में कहा है कि सम्यग्दृष्टि पापाचरण नहीं करता।[2] जैन विचारणा के अनुसार आचरण का सत् अथवा असत् होना कर्ता के दृष्टिकोण (दर्शन) पर निर्भर है सम्यक् दृष्टि से निष्पन्न आचरण सदैव सत् होगा और मिथ्या दृष्टि से निष्पन्न आचरण सदैव असत् होगा। इसी आधार पर सूत्राकृतांगसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि व्यक्ति विद्वान् है, भाग्यवान् है और पराक्रमी भी है; लेकिन यदि उसका दृष्टिकोण असम्यक् है तो उसका दान, तप आदि समस्त पुरुषार्थ फलाकांक्षा से होने के कारण अशुद्ध ही होगा। वह उसे मुक्ति की ओर न ले जाकर बन्धन की ओर ही ले जावेगा। क्योंकि असम्यक्दर्शी होने के कारण वह सराग दृष्टि वाला होगा और आसक्ति या फलाशा से निष्पन्न होने के कारण उसके सभी कार्य सकाम होंगे और सकाम होने से उसके बन्धन का कारण होंगे। अतः असम्यग्दृष्टि का सारा पुरुषार्थ अशुद्ध ही कहा जायेगा, क्योंकि वह उसकी मुक्ति में बाधक होगा। लेकिन इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि या वीतरागदृष्टि सम्पन्न व्यक्ति के सभी कार्य फलाशा से रहित होने से शुद्ध होंगे। इस प्रकार जैन-विचारणा यह बताती है कि सम्यग्दर्शन के अभाव से विचार प्रवाह सराग, सकाम या फलाकांक्षा से युक्त होता है और यही कर्मों के प्रति रही हुई फलाकांक्षा बन्धन का कारण होने से पुरुषार्थ को अशुद्ध बना देती है जबकि सम्यक्दर्शन की उपस्थिति से विचार-प्रवाह वीतरागता, निष्कामता और अनासक्ति की ओर बढ़ता है फलाकांक्षा समाप्त हो जाती है, अतः सम्यग्दृष्टि का सारा पुरुषार्थ परिशुद्ध होता है।[3]

बौद्ध-दर्शन में सम्यग्दर्शन का स्थान—बौद्ध-दर्शन में सम्यग्दर्शन का क्या स्थान है, यह बुद्ध के निम्न कथन से स्पष्ट हो जाता है। अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध कहते हैं कि

"भिक्षुओं, मैं दूसरी कोई भी एक बात ऐसी नहीं जानता, जिससे अनुत्पन्न अकुशल-धर्म उत्पन्न होते हों तथा उत्पन्न अकुशल-धर्मों में वृद्धि होती हो, विपुलता होती हो, जैसे भिक्षुओं, मिथ्या-दृष्टि।

भिक्षुओं, मिथ्या-दृष्टि वाले में अनुत्पन्न अकुशल-धर्म पैदा हो जाते हैं। उत्पन्न अकुशल-धर्म वृद्धि को, विपुलता को प्राप्त हो जाते हैं।

भिक्षुओं, मैं दूसरी कोई भी एक बात ऐसी नहीं जानता जिससे अनुत्पन्न कुशल-धर्मों में वृद्धि होती हो, विपुलता होती हो, जैसे भिक्षुओं सम्यक्-दृष्टि।

भिक्षुओं, सम्यक्-दृष्टिवाले में अनुत्पन्न कुशल-धर्म उत्पन्न हो जाते हैं। उत्पन्न

---

१ उत्तराध्ययन, २८।३० २. आचारांग, १।३।२ ३. सूत्रकृतांग १।८।२२–२३

कुशल-धर्म वृद्धि को, विलपुता को प्राप्त हो जाते हैं।[१] इस प्रकार बुद्ध सम्यक्-दृष्टि को नैतिक जीवन के लिए आवश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टि में मिथ्या दृष्टिकोण संसार का किनारा है और सम्यक्-दृष्टिकोण निर्वाण का किनारा है।[२] बुद्ध के ये वचन यह स्पष्ट कर देते हैं कि बौद्ध-दर्शन में सम्यक्-दृष्टि का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वैदिक परम्परा एवं गीता में सम्यक्-दर्शन (श्रद्धा) का स्थान—वैदिक परम्परा में भी सम्यक्-दर्शन को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। मनुस्मृति में कहा गया है कि सम्यक् दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति को कर्म का बन्धन नहीं होता है लेकिन सम्यक्-दर्शन से विहीन व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता रहता हैं।[३]

गीता में यद्यपि सम्यक्-दर्शन शब्द का अभाव है, तथापि सम्यक्-दर्शन को श्रद्धापरक अर्थ में लेने पर गीता में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध हो जाता है। श्रद्धा गीता के आचार-दर्शन के केन्द्रीय तत्त्वों में से एक है। 'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं' कह कर गीता ने उसका महत्त्व स्पष्ट कर दिया है। गीता यह भी स्वीकार करती है कि व्यक्ति की जैसी श्रद्धा होती है, उसका जीवन के प्रति जैसा दृष्टि-कोण होता है, वैसा ही वह बन जाता है।[४] गीता में श्रीकृष्ण ने यह कह कर सम्यक् दर्शन या श्रद्धा के महत्त्व को स्पष्ट कर दिया है कि यदि दुराचारी व्यक्ति भी मुझे भजता है अर्थात् मेरे प्रति श्रद्धा रखता है तो उसे साधु ही समझो, क्योंकि वह शीघ्र ही धर्मात्मा होकर चिर शांति को प्राप्त हो जाता है।[५] गीता का यह कथन आचारांग के उस कथन से कि सम्यक्-दर्शी कोई पाप नहीं करता, काफी अधिक साम्य रखता है। आचार्य शंकर ने अपने गीताभाष्य में भी सम्यक्-दर्शन के महत्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सम्यक्-दर्शन निष्ठ पुरुष संसार के बीजरूप अविद्या आदि दोषों का उन्मूलन नहीं कर सके, ऐसा कदापि संभव नहीं हो सकता अर्थात् सम्यग्दर्शनयुक्त पुरुष निश्चितरूप से निर्वाण-लाभ करता है।[६] आचार्य शंकर के अनुसार जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता, तबतक राग (विषयासक्ति) का उच्छेद नहीं होता और जबतक राग का उच्छेद नहीं होता, मुक्ति संभव नहीं।

सम्यक्दर्शन आध्यात्मिक जीवन का प्राण है। जिस प्रकार चेतनारहित शरीर शव है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति चलता-फिरता शव है। जैसे शव लोक में त्याज्य होता है, वैसे ही आध्यात्मिक जगत् में यह चल शव त्याज्य है।[७] वस्तुतः सम्यक्-दर्शन एक जीवन-दृष्टि है। बिना जीवन-दृष्टि के जीवन का कोई अर्थ नहीं रहता। व्यक्ति की जीवनदृष्टि जैसी होती है उसी रूप में उसके चरित्र का निर्माण होता है। गीता में कहा है कि व्यक्ति श्रद्धामय है, जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही वह बन जाता

---

१. अंगुत्तरनिकाय, १।१७ २. वही १०।१२ ३. मनुस्मृति, ६।७४
४. गीता, १७।३ ५. वही, ९।३०–३१ ६. गीता (शां०,) १८।१२
७. भावपाहुड, १४३

है ।[1] असम्यक् जीवनदृष्टि पतन की ओर और सम्यक् जीवनदृष्टि उत्थान की ओर ले जाती है। इसलिए यथार्थ जीवनदृष्टि का निर्माण आवश्यक है। इसे ही भारतीय परम्परा में सम्यग्दर्शन या श्रद्धा कहा गया है।

यथार्थ जीवन-दृष्टि क्या है यदि इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो ज्ञात होता है कि समालोच्य सभी आचार-दर्शनों में अनासक्त एवं वीतराग जीवन दृष्टि को ही यथार्थ जीवन-दृष्टि माना गया है।

जैनधर्म में सम्यग्दर्शन का स्वरूप

सम्यक्त्व का दशविध वर्गीकरण उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यग्दर्शन के, उसकी उत्पत्ति के आधार पर, दस भेद किये गये हैं, जो निम्नलिखित हैं :—

१. **निसर्ग (स्वभाव) रुचि**—जो यथार्थ दृष्टिकोण व्यक्ति में स्वतः ही उत्पन्न हो जाता है वह निसर्गरुचि सम्यक्त्व है।

२. **उपदेशरुचि**—वीतराग की वाणी (उपदेश) को सुनकर जो यथार्थ दृष्टिकोण या श्रद्धान होता है वह उपदेशरुचि सम्यक्त्व है।

३. **आज्ञारुचि**—वीतराग के नैतिक आदेशों को मान कर जो यथार्थ दृष्टिकोण उत्पन्न होता है अथवा तत्त्व-श्रद्धा होती है वह आज्ञारुचि सम्यक्त्व है।

४. **सूत्ररुचि**—अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य ग्रंथों के अध्ययन के आधार पर जो यथार्थ दृष्टिकोण या तत्त्व-श्रद्धान होता है, वह सूत्ररुचि सम्यक्त्व है।

५. **बीजरुचि**—यथार्थता के स्वल्प बोध को स्वचिन्तन के द्वारा विकसित करना बीजरुचि सम्यक्त्व है।

६. **अभिगमरुचि**—अंगसाहित्य एवं अन्य ग्रंथों का अर्थ एवं व्याख्या सहित अध्ययन करने से जो तत्त्वबोध एवं तत्त्व श्रद्धा उत्पन्न होती है वह अभिगमरुचि सम्यक्त्व है।

७. **विस्ताररुचि**—वस्तुतत्त्व (षट्द्रव्यों) के अनेक पक्षों का विभिन्न अपेक्षाओं (दृष्टिकोणों) एवं प्रमाणों से अवबोध कर उनकी यथार्थता पर श्रद्धा करना विस्तार-रुचि सम्यक्त्व है।

८. **क्रियारुचि**—प्रारम्भिक रूप में साधक जीवन की विभिन्न क्रियाओं के आचरण में रुचि हो और उस साधनात्मक अनुष्ठान के फलस्वरूप यथार्थता का बोध हो, वह क्रियारुचि सम्यक्त्व है।

९. **संक्षेपरुचि**—जो वस्तु तत्त्व का यथार्थ स्वरूप नहीं जानता है और जो आर्हत् प्रवचन (ज्ञान) में प्रवीण भी नहीं है, लेकिन जिसने अयथार्थ (मिथ्या

---

१. गीता, १७।३

दृष्टिकोण) को अंगीकृत भी नहीं किया, जिसमें यथार्थ ज्ञान की अल्पता होते हुए भी मिथ्या (असत्य) धारणा नहीं है, वह संक्षेप रुचि सम्यक्त्व है।

१०. **धर्मरुचि**—तीर्थंकर प्रणीत सत् के स्वरूप, आगम साहित्य एवं नैतिक नियमों पर आस्तिक्य भाव या श्रद्धा रखना, उन्हें यथार्थ मानना धर्मरुचि सम्यक्त्व है।[1]

सम्यक्त्व का त्रिविध वर्गीकरण—[2]अपेक्षा भेद से सम्यक्त्व का त्रिविध वर्गीकरण भी किया गया है। जैसे कारक, रोचक और दीपक।

१. **कारकसम्यक्त्व**—जिस यथार्थ दृष्टिकोण (सम्यक्त्व) के होने पर व्यक्ति सदाचरण या सम्यक्चारित्र की साधना में अग्रसर होता है वह कारक सम्यक्त्व है। कारक सम्यक्त्व ऐसा यथार्थ दृष्टिकोण है, जिसमें व्यक्ति आदर्श की उपलब्धि के हेतु सक्रिय एवं प्रयासशील बन जाता है। नैतिक दृष्टि से कहे तो कारक सम्यक्त्व शुभाशुभ विवेक की वह अवस्था है, जिसमें व्यक्ति जिस शुभ का निश्चय करता है उसका आचरण भी करता है। यहाँ ज्ञान और क्रिया में अभेद होता है। सुकरात का यह वचन कि 'ज्ञान ही सद्गुण है' इस अवस्था में लागू होता है।

२. **रोचक सम्यक्त्व**—रोचक सम्यक्त्व सत्य-बोध की अवस्था है, जिसमें व्यक्ति शुभ को शुभ और अशुभ को अशुभ के रूप में जानता है और शुभ-प्राप्ति की इच्छा भी करता है, लेकिन उसके लिए प्रयास नहीं करता। सत्यासत्य विवेक होने पर भी सत्य का आचरण नहीं कर पाना रोचक सम्यक्त्व है। जैसे कोई रोगी अपनी रुग्णावस्था एवं उसके कारण को जानता है, रोग की औषधि भी जानता है और रोग से मुक्त होना भी चाहता है, लेकिन औषधि ग्रहण नहीं करता। वैसे ही रोचक सम्यक्त्व वाला व्यक्ति संसार के दुःखमय यथार्थ स्वरूप को जानता है, उससे मुक्त होना भी चाहता है, उसे मोक्ष-मार्ग का भी ज्ञान होता है, फिर भी वह सम्यक् चारित्र का पालन (चारित्रमोहनीय कर्म के उदय के कारण) नहीं कर पाता। यह अवस्था महाभारत में दुर्योधन के उस वचन के तुल्य है, जिसमें कहा गया है कि धर्म को जानते हुए भी मेरी उसमें प्रवृत्ति नहीं होती और अधर्म को जानते हुए भी मेरी उससे निवृत्ति नहीं होती है।[3]

३. **दीपक सम्यक्त्व**—यह अवस्था है जिसमें व्यक्ति अपने उपदेश से दूसरों में तत्त्व-जिज्ञासा उत्पन्न कर देता है और परिणामस्वरूप होनेवाले उनके यथार्थ बोध का कारण बनता है। दीपक सम्यक्त्व वाला व्यक्ति वह है जो दूसरों को सन्मार्ग पर लगा देने का कारण बन जाता है, लेकिन स्वयं कुमार्ग का ही पथिक बना रहता है। जैसे कोई नदी

---

१. उत्तराध्ययन, २८।१६ २. विशेषावश्यकभाष्य, २६७५
३. उद्धृत नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० ३६०

के तीर पर खड़ा व्यक्ति किसी मध्य नदी में थके हुए तैराक का उत्साहवर्धन कर उसे पार लगने का कारण बन जाता है, यद्यपि न तो स्वयं तैरना जानता है और न पार ही होता है।

सम्यक्त्व का त्रिविध वर्गीकरण एक अन्य प्रकार से भी किया गया है, जिसका आधार कर्म-प्रकृतियों का क्षयोपशम है। जैन विचारणा में अनन्तानुबंधी (तीव्रतम) क्रोध, मान, माया (कपट), लोभ तथा मिथ्यात्व मोह, मिश्र-मोह और सम्यक्त्व-मोह सात कर्म-प्रकृतियाँ सम्यक्त्व (यथार्थ बोध) की विरोधी हैं। इसमें सम्यक्त्व मोहनीय को छोड़ शेष छह कर्म प्रकृतियाँ उदय में होती हैं तो सम्यक्त्व का प्रगटन नहीं हो पाता। सम्यक्त्व मोह मात्र सम्यक्त्व की निर्मलता और विशुद्धि में बाधक है। कर्म-प्रकृतियों की तीन स्थितियाँ हैं :—१. क्षय २. उपशम और ३. क्षयोपशम। इसी आधार पर सम्यक्त्व का यह वर्गीकरण किया गया है :—१. औपशमिक सम्यक्त्व २. क्षायिक सम्यक्त्व और ३. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व।

१. **औपशमिक सम्यक्त्व**—उपर्युक्त (क्रियमाण) कर्म-प्रकृतियों के उपशमित (दबाई हुई) होने पर जो सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है वह औपशमिक सम्यक्त्व है। इसमें स्थायित्व का अभाव होता है। शास्त्रीय दृष्टि से यह अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट) से अधिक नहीं टिकता। उपशमित कर्म-प्रकृतियाँ (वासनाएँ) पुनः जागृत होकर इसे विनष्ट कर देती हैं।

२. **क्षायिक सम्यक्त्व**—उपर्युक्त सातों कर्म-प्रकृतियों के क्षय हो जाने पर जो सम्यक्त्व रूप यथार्थ बोध प्रकट होता है; वह क्षायिक सम्यक्त्व है। यह यथार्थ-बोध स्थायी होता है और एक बार प्रकट होने पर कभी नष्ट नहीं होता। शास्त्रीय भाषा में यह सादि एवं अनन्त होता है।

३. **क्षायोपशमिक सम्यक्त्व**—मिथ्यात्वजनक उदयगत (क्रियमाण) कर्म-प्रकृतियों के क्षय हो जाने पर और अनुदित (सत्तावान या संचित) कर्म-प्रकृतियों का उपशम हो जाने पर जो सम्यक्त्व प्रकट होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है। यद्यपि सामान्य दृष्टि से यह अस्थायी ही है, फिर भी एक लम्बी समयावधि (छाछठसागरोपम से कुछ अधिक) तक अवस्थित रह सकता है।

औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की भूमिका में सम्यक्त्व के रस का पान करने के पश्चात् जब साधक पुनः मिथ्यात्व की ओर लौटता है तो लौटने की इस क्षणिक अवधि में वान्त सम्यक्त्व का किंचित् संस्कार अवशिष्ट रहता है। जैसे वमन करते समय वमित पदार्थों का कुछ स्वाद आता है वैसे ही सम्यक्त्व को वान्त करते समय सम्यक्त्व का भी कुछ आस्वाद रहता है। जीव की ऐसी स्थिति **सास्वादन सम्यक्त्व** कहलाती है।

साथ ही जब जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की भूमिका से क्षायिक सम्यक्त्व की प्रशस्त भूमिका पर आगे बढ़ता है और इस विकास-क्रम में जब वह सम्यक्त्व मोहनीय कर्म-प्रकृति के कर्म दलिकों का अनुभव कर रहा होता है, तो सम्यक्त्व की यह अवस्था **'वेदक सम्यक्त्व'** कहलाती है । वेदक सम्यक्त्व के अनन्तर जीव क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है ।

वस्तुतः सास्वादन और वेदक सम्यक्त्व सम्यक्त्व की मध्यान्तर अवस्थाएँ हैं—पहली सम्यक्त्व से मिथ्यात्व की ओर गिरते समय और दूसरी क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व की ओर बढ़ते समय होती है ।

सम्यक्त्व का द्विविध वर्गीकरण—सम्यक्त्व का विश्लेषण अनेक अपेक्षाओं से किया गया है ताकि उसके विविध पहलुओं पर समुचित प्रकाश डाला जा सके । सम्यक्त्व का द्विविध वर्गीकरण चार प्रकार से किया गया है ।

(अ) द्रव्य सम्यक्त्व और भाव सम्यक्त्व[1]

(१) **द्रव्य सम्यक्त्व**—विशुद्ध रूप में परिणत किये हुए मिथ्यात्व के कर्म-परमाणु द्रव्य-सम्यक्त्व हैं ।

(२) **भाव-सम्यक्त्व**—उपर्युक्त विशुद्ध पुद्गल वर्गणा के निमित्त से होने वाली तत्त्व-श्रद्धा भाव-सम्यक्त्व है ।

(ब) निश्चय-सम्यक्त्व और व्यवहार-सम्यक्त्व[2]

(१) **निश्चय सम्यक्त्व**—राग, द्वेष और मोह का अत्यल्प हो जाना, पर-पदार्थों से भेद ज्ञान एवं स्वस्वरूप में रमण, देह में रहते हुए देहाध्यास का छूट जाना, निश्चय सम्यक्त्व के लक्षण हैं । मेरा शुद्ध स्वरूप अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त आनन्द मय है । पर-भाव या आसक्ति ही बंधन का कारण है और स्वस्वभाव में रमण करना ही मोक्ष का हेतु है । मैं स्वयं ही अपना आदर्श हूँ, देव, गुरु और धर्म मेरा आत्मा ही है । ऐसी दृढ़ श्रद्धा का होना ही निश्चय सम्यक्त्व है । आत्म-केन्द्रित होना यही निश्चय सम्यक्त्व है ।

(२) **व्यवहार सम्यक्त्व**—वीतराग में देव बुद्धि (आदर्श बुद्धि), पाँच महाव्रतों का पालन करने वाले मुनियों में गुरु बुद्धि और जिन प्रणीत धर्म में सिद्धान्त बुद्धि रखना व्यवहार सम्यक्त्व है ।

(स) निसर्गज सम्यक्त्व और अधिगमज सम्यक्त्व[3]

(१) **निसर्गज सम्यक्त्व**—जिस प्रकार नदी के प्रवाह में पड़ा हुआ पत्थर बिना प्रयास के ही स्वाभाविक रूप से गोल हो जाता है, उसी प्रकार संसार में भटकते हुए प्राणी को अनायास ही जब कर्मावरण के अल्प होने पर यथार्थता का बोध हो जाता है,

१.-२. प्रवचनसारोद्धार (टीका), १४९।९४२ ३. स्थानांगसूत्र, २।१।७०

तो ऐसा सत्य-बोध निसर्गज (प्राकृतिक) होता है। बिना किसी गुरु आदि के उपदेश के, स्वाभाविक रूप में स्वतः उत्पन्न होने वाला, सत्य-बोध निसर्गज सम्यक्त्व कहलाता है।

(२) **अधिगमज सम्यक्त्व**—गुरु आदि के उपदेश रूप निमित्त से होनेवाला सत्य-बोध या सम्यक्त्व अधिगमज सम्यक्त्व कहलाता है।

इस प्रकार जैन दार्शनिक न तो वेदान्त और मीमांसक दर्शन के अनुसार सत्य-पथ के नित्य प्रकटन को स्वीकार करते हैं और न न्याय वैशेषिक और योग दर्शन के समान यह मानते हैं कि सत्य-पथ का प्रकटन ईश्वर के द्वारा होता है। वे तो यह मानते हैं कि जीवात्मा में सत्य बोध को प्राप्त करने की स्वाभाविक शक्ति है और वह बिना किसी दूसरे की सहायता के भी सत्य-पथ का बोध प्राप्त कर सकता है, यद्यपि किन्हीं विशिष्ट आत्माओं (सर्वज्ञ तीर्थंकर) द्वारा सत्य-पथ का प्रकटन एवं उपदेश भी किया जाता है।[1]

सम्यक्त्व के पांच अंग—सम्यक्त्व यथार्थता है, सत्य है। इस सत्य की साधना के लिए जैन विचारकों ने पाँच अंगों का विधान किया है। जब तक साधक इन्हें नहीं अपना लेता है, वह यथार्थ या सत्य की आराधना एवं उपलब्धि में समर्थ नहीं हो पाता। सम्यक्त्व के वे पाँच अंग इस प्रकार हैं—

१. **सम**—सम्यक्त्व का पहला लक्षण है सम। प्राकृत भाषा के 'सम' शब्द के संस्कृत भाषा में तीन रूप होते हैं:—१ सम, २. शम, ३. श्रम। इन तीनों शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं। 'सम' शब्द के ही दो अर्थ होते हैं—पहले अर्थ में यह समानुभूति या तुल्यताबोध है अर्थात् सभी प्राणियों को अपने समान समझना। इस अर्थ में यह 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त की स्थापना करता है, जो अहिंसा का आधार है। दूसरे अर्थ में इसे चित्तवृत्ति का समभाव कहा जा सकता है अर्थात् सुख-दुःख हानि-लाभ एवं अनुकूल-प्रतिकूल दोनों स्थितियों में समभाव रखना, चित्त को विचलित नहीं होने देना। सम चित्त-वृत्ति संतुलन है। संस्कृत 'शम्' के रूप के आधार पर इसका अर्थ होता है शांत करना अर्थात् कषायाग्नि या वासनाओं को शांत करना। संस्कृत के तीसरे रूप 'श्रम' के आधार पर इसका निर्वचन होगा—सम्यक् 'प्रयास' या पुरुषार्थ।

२. **संवेग**—संवेग शब्द का शाब्दिक विश्लेषण करने पर उसका निम्न अर्थ ध्वनित होता है सम् + वेग, सम्-सम्यक् उचित, वेग-गति अर्थात् सम्यक् गति। सम् शब्द आत्मा के अर्थ में भी आ सकता है। इस प्रकार इसका अर्थ होगा आत्मा की ओर गति। सामान्य अर्थ में संवेग शब्द अनुभूति के लिए भी प्रयुक्त होता है। यहाँ इसका तात्पर्य होगा स्वानुभूति, आत्मानुभूति अथवा आत्मा के आनन्दमय स्वरूप की अनुभूति। मनोविज्ञान में आकांक्षा की तीव्रतम अवस्था को भी संवेग कहा जाता है। इस प्रसंग में इसका अर्थ होगा सत्याभीप्सा अर्थात् सत्य को जानने की तीव्रतम आकांक्षा, क्योंकि

१. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २६८

जिसमें सत्याभीप्सा होगी वही सत्य को पा सकेगा। सत्याभीप्सा से ही अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रगति होती है। यही कारण है कि उत्तराध्ययनसूत्र में संवेग का प्रतिफल बताते हुए महावीर कहते हैं कि संवेग से मिथ्यात्व (अयथार्थता) की विशुद्धि होकर यथार्थ दर्शन की उपलब्धि (आराधना) होती है।[1]

३. **निर्वेद**—निर्वेद शब्द का अर्थ है उदासीनता, वैराग्य, अनासक्ति। सांसारिक प्रवृत्तियों के प्रति उदासीन भाव रखना, क्योंकि इसके अभाव में साधना के मार्ग पर चलना सम्भव नहीं होता। वस्तुतः निर्वेद निष्काम-भावना या अनासक्त दृष्टि के विकास का आवश्यक अंग है।

४. **अनुकम्पा**—इस शब्द का शाब्दिक निर्वचन इस प्रकार है अनु + कम्प। अनु का अर्थ है तदनुसार, कम्प का अर्थ है कम्पित होना अर्थात् किसी के अनुसार कम्पित होना। दूसरे शब्दों में दूसरे व्यक्ति के दुःख से पीड़ित होने पर तदनुकूल अनुभूति उत्पन्न होना ही अनुकम्पा है। वस्तुतः दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझना ही अनुकम्पा है। परोपकार के नैतिक सिद्धान्त का आधार ही अनुकम्पा है। इसे सहानुभूति भी कहा जा सकता है।

५. **आस्तिक्य**—आस्तिक्य शब्द आस्तिकता का द्योतक है। इसके मूल में अस्ति शब्द है जो सत्ता का वाचक है। आस्तिक किसे कहा जाये, इस प्रश्न का उत्तर अनेक रूपों में दिया गया है। कुछ ने कहा जो ईश्वर के अस्तित्व या सत्ता में विश्वास करता है वह आस्तिक है, दूसरों ने कहा जो वेदों में आस्था रखता है वह आस्तिक है। लेकिन जैन विचारणा में आस्तिक और नास्तिक के विभेद का आधार भिन्न है। जैन दर्शन के अनुसार जो पुण्य-पाप, पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धान्त और आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है, वह आस्तिक है।

सम्यक्त्व के दूषण (अतिचार)—जैन-विचारकों की दृष्टि में यथार्थता या सम्यक्त्व के पाँच दूषण (अतिचार) माने गये हैं जो सत्य या यथार्थता को अपने विशुद्ध स्वरूप से जानने अथवा अनुभूत करने में बाधक हैं। अतिचार वह दोष है जिससे व्रत-भंग तो नहीं होता लेकिन उसकी सम्यक्ता प्रभावित होती है—सम्यक् दृष्टिकोण की यथार्थता को प्रभावित्त करने वाले तीन दोष हैं—१. चल, २. मल और ३. अगाढ़। चल दोष से तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अन्तःकरण से तो यथार्थ दृष्टिकोण के प्रति दृढ़ रहता है, लेकिन कभी कभी क्षणिक रूप में बाह्य आवेगों से प्रभावित हो जाता है। मल वे दोष हैं जो यथार्थ दृष्टिकोण की निर्मलता को प्रभावित करते हैं। मल पाँच हैं :—

१. **शंका**—वीतराग या अर्हत् के कथनों पर शंका करना उसकी यथार्थता के प्रति संदेहात्मक दृष्टिकोण रखना।

---

१ उत्तराध्ययन, २९।१

तो ऐसा सत्य-बोध निसर्गज (प्राकृतिक) होता है। बिना किसी गुरु आदि के उपदेश के, स्वाभाविक रूप में स्वतः उत्पन्न होने वाला, सत्य-बोध निसर्गज सम्यक्त्व कहलाता है।

(२) **अधिगमज सम्यक्त्व**—गुरु आदि के उपदेश रूप निमित्त से होनेवाला सत्य-बोध या सम्यक्त्व अधिगमज सम्यक्त्व कहलाता है।

इस प्रकार जैन दार्शनिक न तो वेदान्त और मीमांसक दर्शन के अनुसार सत्य-पथ के नित्य प्रकटन को स्वीकार करते हैं और न न्याय वैशेपिक और योग दर्शन के समान यह मानते हैं कि सत्य-पथ का प्रकटन ईश्वर के द्वारा होता है। वे तो यह मानते हैं कि जीवात्मा में सत्य बोध को प्राप्त करने की स्वाभाविक शक्ति है और वह बिना किसी दूसरे की सहायता के भी सत्य-पथ का बोध प्राप्त कर सकता है, यद्यपि किन्हीं विशिष्ट आत्माओं (सर्वज्ञ तीर्थंकर) द्वारा सत्य-पथ का प्रकटन एवं उपदेश भी किया जाता है।[1]

सम्यक्त्व के पांच अंग—सम्यक्त्व यथार्थता है, सत्य है। इस सत्य की साधना के लिए जैन विचारकों ने पाँच अंगों का विधान किया है। जब तक साधक इन्हें नहीं अपना लेता है, वह यथार्थ या सत्य की आराधना एवं उपलब्धि में समर्थ नहीं हो पाता। सम्यक्त्व के वे पाँच अंग इस प्रकार है—

१. **सम**—सम्यक्त्व का पहला लक्षण है सम। प्राकृत भाषा के 'सम' शब्द के संस्कृत भाषा में तीन रूप होते हैं:—१ सम, २. शम, ३ श्रम। इन तीनों शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं। 'सम' शब्द के ही दो अर्थ होते हैं—पहले अर्थ में यह समानुभूति या तुल्यताबोध है अर्थात् सभी प्राणियों को अपने समान समझना। इस अर्थ में यह 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त की स्थापना करता है, जो अहिंसा का आधार है। दूसरे अर्थ में इसे चित्तवृत्ति का समभाव कहा जा सकता है अर्थात् सुख-दुःख हानि-लाभ एवं अनुकूल-प्रतिकूल दोनों स्थितियों में समभाव रखना, चित्त को विचलित नहीं होने देना। सम चित्त-वृत्ति संतुलन है। संस्कृत 'शम्' के रूप के आधार पर इसका अर्थ होता है शांत करना अर्थात् कषायाग्नि या वासनाओं को शांत करना। संस्कृत के तीसरे रूप 'श्रम' के आधार पर इसका निर्वचन होगा—सम्यक् 'प्रयास' या पुरुषार्थ।

२. **संवेग**—संवेग शब्द का शाब्दिक विश्लेषण करने पर उसका निम्न अर्थ ध्वनित होता है सम् + वेग, सम्-सम्यक् उचित, वेग-गति अर्थात् सम्यक् गति। सम् शब्द आत्मा के अर्थ में भी आ सकता है। इस प्रकार इसका अर्थ होगा आत्मा की ओर गति। सामान्य अर्थ में संवेग शब्द अनुभूति के लिए भी प्रयुक्त होता है। यहाँ इसका तात्पर्य होगा स्वानुभूति, आत्मानुभूति अथवा आत्मा के आनन्दमय स्वरूप की अनुभूति। मनोविज्ञान में आकांक्षा की तीव्रतम अवस्था को भी संवेग कहा जाता है। इस प्रसंग में इसका अर्थ होगा सत्याभीप्सा अर्थात् सत्य को जानने की तीव्रतम आकांक्षा, क्योंकि

१. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २६८

जिसमें सत्याभीप्सा होगी वही सत्य को पा सकेगा। सत्याभीप्सा से ही अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रगति होती है। यही कारण है कि उत्तराध्ययनसूत्र में संवेग का प्रतिफल बताते हुए महावीर कहते हैं कि संवेग से मिथ्यात्व (अयथार्थता) की विशुद्धि होकर यथार्थ दर्शन की उपलब्धि (आराधना) होती है।[1]

३. **निर्वेद**—निर्वेद शब्द का अर्थ है उदासीनता, वैराग्य, अनासक्ति। सांसारिक प्रवृत्तियों के प्रति उदासीन भाव रखना, क्योंकि इसके अभाव में साधना के मार्ग पर चलना सम्भव नहीं होता। वस्तुतः निर्वेद निष्काम-भावना या अनासक्त दृष्टि के विकास का आवश्यक अंग है।

४. **अनुकम्पा**—इस शब्द का शाब्दिक निर्वचन इस प्रकार है अनु + कम्प। अनु का अर्थ है तदनुसार, कम्प का अर्थ है कम्पित होना अर्थात् किसी के अनुसार कम्पित होना। दूसरे शब्दों में दूसरे व्यक्ति के दुःख से पीड़ित होने पर तदनुकूल अनुभूति उत्पन्न होना ही अनुकम्पा है। वस्तुतः दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझना ही अनुकम्पा है। परोपकार के नैतिक सिद्धान्त का आधार ही अनुकम्पा है। इसे सहानुभूति भी कहा जा सकता है।

५. **आस्तिक्य**—आस्तिक्य शब्द आस्तिकता का द्योतक है। इसके मूल में अस्ति शब्द है जो सत्ता का वाचक है। आस्तिक किसे कहा जाये, इस प्रश्न का उत्तर अनेक रूपों में दिया गया है। कुछ ने कहा जो ईश्वर के अस्तित्व या सत्ता में विश्वास करता है वह आस्तिक है, दूसरों ने कहा जो वेदों में आस्था रखता है वह आस्तिक है। लेकिन जैन विचारणा में आस्तिक और नास्तिक के विभेद का आधार भिन्न है। जैन दर्शन के अनुसार जो पुण्य-पाप, पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धान्त और आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है, वह आस्तिक है।

सम्यक्त्व के दूषण (अतिचार)—जैन-विचारकों की दृष्टि में यथार्थता या सम्यक्त्व के पाँच दूषण (अतिचार) माने गये हैं जो सत्य या यथार्थता को अपने विशुद्ध स्वरूप से जानने अथवा अनुभूत करने में बाधक हैं। अतिचार वह दोष है जिससे व्रत-भंग तो नहीं होता लेकिन उसकी सम्यक्ता प्रभावित होती है—सम्यक् दृष्टिकोण की यथार्थता को प्रभावित करने वाले तीन दोष हैं—१. चल, २. मल और ३. अगाढ़। चल दोष से तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अन्तःकरण से तो यथार्थ दृष्टिकोण के प्रति दृढ़ रहता है, लेकिन कभी कभी क्षणिक रूप में बाह्य आवेगों से प्रभावित हो जाता है। मल वे दोष हैं जो यथार्थ दृष्टिकोण की निर्मलता को प्रभावित करते हैं। मल पाँच हैं :—

१. **शंका**—वीतराग या अर्हत् के कथनों पर शंका करना उसकी यथार्थता के प्रति संदेहात्मक दृष्टिकोण रखना।

---

[1] उत्तराध्ययन, २९।१

२. **आकांक्षा**—स्वधर्म को छोड़कर पर-धर्म की इच्छा करना या आकांक्षा करना। नैतिक एवं धार्मिक आचरण के फल की कामना करना। नैतिक कर्मों की फलासक्ति भी साधना-मार्ग में बाधक तत्त्व मानी गयी है।

३. **विचिकित्सा**—नैतिक अथवा धार्मिक आचरण के फल के प्रति संशय करना अर्थात् सदाचरण का प्रतिफल मिलेगा या नहीं ऐसा संशय करना। जैन-विचारणा में नैतिक कर्मों की फलाकांक्षा एवं फल-संशय दोनों को ही अनुचित माना गया है। कुछ जैनाचार्यों के अनुसार इसका अर्थ घृणा भी है।[1] रोगी एवं ग्लान व्यक्तियों के प्रति घृणा रखना। घृणाभाव व्यक्ति को सेवापथ से विमुख बनाता है।

४. **मिथ्या दृष्टियों की प्रशंसा**—जिन लोगों का दृष्टिकोण सम्यक् नहीं है ऐसे अयथार्थ दृष्टिकोणवाले व्यक्तियों अथवा संगठनों की प्रशंसा करना।

५. **मिथ्या दृष्टियों का अति परिचय**—साधनात्मक अथवा नैतिक जीवन के प्रति जिनका दृष्टिकोण अयथार्थ है ऐसे व्यक्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखना। संगति का असर व्यक्ति के जीवन पर काफी अधिक होता है। चरित्र के निर्माण एवं पतन दोनों पर ही संगति का प्रभाव पड़ता है, अतः सदाचारी पुरुष का अनैतिक आचरण करने वाले लोगों से अति परिचय या घनिष्ठ सम्बन्ध रखना उचित नहीं माना गया है।

कविवर बनारसीदास जी ने नाटक समयसार में सम्यक्त्व के अतिचारों की एक भिन्न सूची प्रस्तुत की है। उनके अनुसार सम्यक् दर्शन के निम्न पाँच अतिचार हैं :— १. लोकभय, २. सांसारिक सुखों के प्रति आसक्ति, ३. भावी जीवन में सांसारिक सुखों के प्राप्त करने की इच्छा, ४. मिथ्याशास्त्रों की प्रशंसा एवं ५. मिथ्या-मतियों की सेवा।[2]

अगाढ़ दोष वह दोष है जिसमें अस्थिरता रहती है। जिस प्रकार हिलते हुए दर्पण में यथार्थ रूप तो दिखता है, लेकिन वह अस्थिर होता है। इसी प्रकार अस्थिर चित्त में सत्य प्रकट तो होता है, लेकिन अस्थिर रूप में। जैन-विचारणा के अनुसार उपर्युक्त दोषों की सम्भावना क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में होती है, उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व में नहीं होती, क्योंकि उपशम सम्यक्त्व की समयावधि ही इतनी क्षणिक होती है कि दोष होने का समय नहीं रहता और क्षायिक सम्यक्त्व पूर्ण शुद्ध होता है, अतः वहाँ भी दोषों की सम्भावना नहीं रहती।

सम्यग्दर्शन के आठ दर्शनाचार—उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यग्दर्शन की साधना के आठ अंगों का वर्णन है। दर्शन-विशुद्धि एवं उसके संवर्द्धन और संरक्षण के लिए इनका पालन आवश्यक है। आठ अंग इस प्रकार हैं :—

---

१. देखिये–गोम्मटसार-जीवकाण्ड गाथा २९ की अंग्रेजी टीका जे०एल० जैनी, पृष्ठ २२
२. नाटकसमयसार, १३।३८

(१) निश्शंकित, (२) निःकांक्षित, (३) निर्विचिकित्सा, (४) अमूढ़दृष्टि, (५) उपबृंहण, (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना।[1]

(१) **निश्शंकता**—संशयशीलता का अभाव ही निश्शंकता है। जिन-प्रणीत तत्त्व दर्शन में शंका नहीं करना, उसे यथार्थ एवं सत्य मानना ही निश्शंकता है।[2] संशयशीलता साधना की दृष्टि से विघातक तत्त्व है। जिस साधक की मनःस्थिति संशय के हिंडोले में झूल रही हो वह इस संसार में झूलता रहता है (परिभ्रमण करता रहता है) और अपने लक्ष्य को नहीं पा सकता। साधना के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साध्य, साधक और साधना-पथ तीनों पर अविचल श्रद्धा होनी चाहिए। साधक में जिस क्षण भी इन तीनों में से एक के प्रति भी संदेह उत्पन्न होता है, वह साधना से च्युत हो जाता है यही कारण है कि जैन साधना निश्शंकता को आवश्यक मानती है। निश्शंकता की इस धारणा को प्रज्ञा और तर्क की विरोधी नहीं मानना चाहिए। संशय ज्ञान के विकास में साधन हो सकता है, लेकिन उसे साध्य मान लेना अथवा संशय में ही रुक जाना साधक के लिए उपयुक्त नहीं है मूलाचार में निश्शंकता को निर्भयता माना गया है।[3] नैतिकता के लिए पूर्ण निर्भय जीवन आवश्यक है। भय पर स्थित नैतिकता सच्ची नैतिकता नहीं है।

(२) **निष्कांक्षता**—स्वकीय आनन्दमय परमात्मस्वरूप में निष्ठावान् रहना और किसी भी पर-भाव की आकांक्षा या इच्छा नहीं करना निष्कांक्षता है। साधनात्मक जीवन में भौतिक वैभव, ऐहिक तथा पारलौकिक सुख को लक्ष्य बनाना ही जैन दर्शन के अनुसार "कांक्षा" है।[4] किसी भी लौकिक और पारलौकिक कामना को लेकर साधनात्मक जीवन में प्रविष्ट होना जैन विचारणा को मान्य नहीं है। वह ऐसी साधना को वास्तविक साधना नहीं कहती है, क्योंकि वह आत्म-केन्द्रित नहीं है। भौतिक सुखों और उपलब्धियों के पीछे भागनेवाला साधक चमत्कार और प्रलोभन के पीछे किसी भी क्षण लक्ष्यच्युत हो सकता है। इस प्रकार-जैन-साधना में यह माना गया है कि साधक को साधना के क्षेत्र में प्रविष्ट होने के लिए निष्कांक्षित अथवा निष्कामभाव से युक्त होना चाहिए। आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय में निष्कांक्षता का अर्थ—'एकान्तिक मान्यताओं से दूर रहना' किया है।[5] इस आधार पर अनाग्रह युक्त दृष्टिकोण सम्यक्त्व के लिए आवश्यक है।

(३) **निर्विचिकित्सा**—विचिकित्सा के दो अर्थ हैं :—

(अ) मैं जो धर्म-क्रिया या साधना कर रहा हूँ इसका फल मुझे मिलेगा या नहीं, मेरी यह साधना व्यर्थ तो नहीं चली जावेगी, ऐसी आशंका रखना "विचिकित्सा"

१. उत्तराध्ययन, २८।३१
२. आचारांग, १।५।५।१६३
३. मूलाचार, २।५२-५३
४. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १२
५. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय २३

२. **आकांक्षा**—स्वधर्म को छोड़कर पर-धर्म की इच्छा करना या आकांक्षा करना। नैतिक एवं धार्मिक आचरण के फल की कामना करना। नैतिक कर्मों की फलासक्ति भी साधना-मार्ग में बाधक तत्त्व मानी गयी है।

३. **विचिकित्सा**—नैतिक अथवा धार्मिक आचरण के फल के प्रति संशय करना अर्थात् सदाचरण का प्रतिफल मिलेगा या नहीं ऐसा संशय करना। जैन-विचारणा में नैतिक कर्मों की फलाकांक्षा एवं फल-संशय दोनों को ही अनुचित माना गया है। कुछ जैनाचार्यों के अनुसार इसका अर्थ घृणा भी है।[1] रोगी एवं ग्लान व्यक्तियों के प्रति घृणा रखना। घृणाभाव व्यक्ति को सेवापथ से विमुख बनाता है।

४. **मिथ्या दृष्टियों की प्रशंसा**—जिन लोगों का दृष्टिकोण सम्यक् नहीं है ऐसे अयथार्थ दृष्टिकोणवाले व्यक्तियों अथवा संगठनों की प्रशंसा करना।

५. **मिथ्या दृष्टियों का अति परिचय**—साधनात्मक अथवा नैतिक जीवन के प्रति जिनका दृष्टिकोण अयथार्थ है ऐसे व्यक्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखना। संगति का असर व्यक्ति के जीवन पर काफी अधिक होता है। चरित्र के निर्माण एवं पतन दोनों पर ही संगति का प्रभाव पड़ता है, अतः सदाचारी पुरुष का अनैतिक आचरण करने वाले लोगों से अति परिचय या घनिष्ठ सम्बन्ध रखना उचित नहीं माना गया है।

कविवर बनारसीदास जी ने नाटक समयसार में सम्यक्त्व के अतिचारों की एक भिन्न सूची प्रस्तुत की है। उनके अनुसार सम्यक् दर्शन के निम्न पाँच अतिचार हैं :— १. लोकभय, २. सांसारिक सुखों के प्रति आसक्ति, ३. भावी जीवन में सांसारिक सुखों के प्राप्त करने की इच्छा, ४. मिथ्याशास्त्रों की प्रशंसा एवं ५. मिथ्या-मतियों की सेवा।[2]

अगाढ़ दोष वह दोष है जिसमें अस्थिरता रहती है। जिस प्रकार हिलते हुए दर्पण में यथार्थ रूप तो दिखता है, लेकिन वह अस्थिर होता है। इसी प्रकार अस्थिर चित्त में सत्य प्रकट तो होता है, लेकिन अस्थिर रूप में। जैन-विचारणा के अनुसार उपर्युक्त दोषों की सम्भावना क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में होती है, उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व में नहीं होती, क्योंकि उपशम सम्यक्त्व की समयावधि ही इतनी क्षणिक होती है कि दोष होने का समय नहीं रहता और क्षायिक सम्यक्त्व पूर्ण शुद्ध होता है, अतः वहाँ भी दोषों की सम्भावना नही रहती।

सम्यग्दर्शन के आठ दर्शनाचार—उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यग्दर्शन की साधना के आठ अंगों का वर्णन है। दर्शन-विशुद्धि एवं उसके संवर्द्धन और संरक्षण के लिए इनका पालन आवश्यक है। आठ अंग इस प्रकार हैं :—

---

१. देखिये-गोम्मटसार-जीवकाण्ड गाथा २९ की अंग्रेजी टीका जे०एल० जैनी, पृष्ठ २२
२. नाटकसमयसार, १३।३८

(१) निश्शंकित, (२) निःकांक्षित, (३) निर्विचिकित्सा, (४) अमूढ़दृष्टि, (५) उपबृंहण, (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना।[1]

(१) **निश्शंकता**—संशयशीलता का अभाव ही निश्शंकता है। जिन-प्रणीत तत्त्व दर्शन में शंका नहीं करना, उसे यथार्थ एवं सत्य मानना ही निश्शंकता है।[2] संशयशीलता साधना की दृष्टि से विघातक तत्त्व है। जिस साधक की मनःस्थिति संशय के हिंडोले में झूल रही हो वह इस संसार में झूलता रहता है (परिभ्रमण करता रहता है) और अपने लक्ष्य को नहीं पा सकता। साधना के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साध्य, साधक और साधना-पथ तीनों पर अविचल श्रद्धा होनी चाहिए। साधक में जिस क्षण भी इन तीनों में से एक के प्रति भी संदेह उत्पन्न होता है, वह साधना से च्युत हो जाता है यही कारण है कि जैन साधना निश्शंकता को आवश्यक मानती है। निश्शंकता की इस धारणा को प्रज्ञा और तर्क की विरोधी नहीं मानना चाहिए। संशय ज्ञान के विकास में साधन हो सकता है, लेकिन उसे साध्य मान लेना अथवा संशय में ही रुक जाना साधक के लिए उपयुक्त नहीं है मूलाचार में निश्शंकता को निर्भयता माना गया है।[3] नैतिकता के लिए पूर्ण निर्भय जीवन आवश्यक है। भय पर स्थित नैतिकता सच्ची नैतिकता नहीं है।

(२) **निष्कांक्षता**—स्वकीय आनन्दमय परमात्मस्वरूप में निष्ठावान् रहना और किसी भी पर-भाव की आकांक्षा या इच्छा नहीं करना निष्कांक्षता है। साधनात्मक जीवन में भौतिक वैभव, ऐहिक तथा पारलौकिक सुख को लक्ष्य बनाना ही जैन दर्शन के अनुसार "कांक्षा" है।[4] किसी भी लौकिक और पारलौकिक कामना को लेकर साधनात्मक जीवन में प्रविष्ट होना जैन विचारणा को मान्य नहीं है। वह ऐसी साधना को वास्तविक साधना नहीं कहती है, क्योंकि वह आत्म-केन्द्रित नहीं है। भौतिक सुखों और उपलब्धियों के पीछे भागनेवाला साधक चमत्कार और प्रलोभन के पीछे किसी भी क्षण लक्ष्यच्युत हो सकता है। इस प्रकार-जैन-साधना में यह माना गया है कि साधक को साधना के क्षेत्र में प्रविष्ट होने के लिए निष्कांक्षित अथवा निष्कामभाव से युक्त होना चाहिए। आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में निष्कांक्षता का अर्थ—'एकान्तिक मान्यताओं से दूर रहना' किया है।[5] इस आधार पर अनाग्रह युक्त दृष्टिकोण सम्यक्त्व के लिए आवश्यक है।

(३) **निर्विचिकित्सा**—विचिकित्सा के दो अर्थ हैं :—

(अ) मैं जो धर्म-क्रिया या साधना कर रहा हूँ इसका फल मुझे मिलेगा या नहीं, मेरी यह साधना व्यर्थ तो नहीं चली जावेगी, ऐसी आशंका रखना "विचिकित्सा"

१. उत्तराध्ययन, २८।३१
२. आचारांग, १।५।५।१६३
३. मूलाचार, २।५२-५३
४. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १२
५. पुरुपार्थ सिद्ध्युपाय २३

कहलाती है। इस प्रकार साधना अथवा नैतिक क्रिया के फल के प्रति शंकाकुल बने रहना विचिकित्सा है। शंकालु हृदय साधक में स्थिरता और धैर्य का अभाव होता है और उसकी साधना सफल नहीं हो पाती। अतः साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह इस प्रतीति के साथ नैतिक आचारण का प्रारम्भ करे कि क्रिया और फल का अविनाभावी सम्बन्ध है और यदि नैतिक आचरण किया जावेगा तो निश्चित रूप से उसका फल होगा ही। इस प्रकार क्रिया के फल के प्रति सन्देह न होना ही निर्विचिकित्सा है।

(ब) कुछ जैनाचार्यों के अनुसार तपस्वी एवं संयमपरायण मुनियों के दुर्बल, जर्जर शरीर अथवा मलिन वेशभूषा को देखकर मन में ग्लानि लाना विचिकित्सा है, अतः साधक की वेशभूषा एवं शरीरादि बाह्य रूप पर ध्यान न देकर उसके साधानात्मक गुणों पर विचार करना चाहिए। वेशभूषा एवं शरीर आदि बाह्य सौन्दर्य पर दृष्टि को केन्द्रित न करके उसे आत्म-सौन्दर्य पर केन्द्रित करना ही सच्ची निर्विचिकित्सा है। आचार्य समन्तभद्र का कथन है, शरीर तो स्वभाव से ही अपवित्र है, उसकी पवित्रता तो सम्यग्-ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्नत्रय के सदाचरण से ही है अतएव गुणीजनों के शरीर से घृणा न कर उसके गुणों से प्रेम करना निर्विचिकित्सा है।[1]

४. **अमूढ़दृष्टि**—मूढ़ता अर्थात् अज्ञान। हेय और उपादेय, योग्य और अयोग्य के मध्य निर्णायक क्षमता का अभाव ही मूढ़ता है। मूढ़ताएँ तीन प्रकार हैं—१. देवमूढ़ता, २. लोकमूढ़ता, ३. समयमूढ़ता।

(अ) **देवमूढ़ता**—साधना का आदर्श कौन हैं? उपास्य बनने की क्षमता किसमें हैं? ऐसे निर्णायक ज्ञान का अभाव ही देवमूढ़ता है, इसके कारण साधक गलत आदर्श और उपास्य का चयन कर लेता है। जिसमें उपास्य अथवा साधना का आदर्श बनने की योग्यता नहीं है उसे उपास्य बना लेना देवमूढ़ता हैं। काम-क्रोधादि आत्म-विकारों के पूर्ण विजेता, वीतराग एवं अविकल ज्ञान और दर्शन से युक्त परमात्मा को ही अपना उपास्य और आदर्श बनाना ही देव के प्रति अमूढ़दृष्टि है।

(ब) **लोकमूढ़ता**—लोक-प्रवाह और रूढ़ियों का अन्धानुकरण ही लोकमूढ़ता है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि 'नदियों एवं सागर में स्नान करने से आत्मा की शुद्धि मानना, पत्थरों का ढेर कर उससे मुक्ति समझना अथवा पर्वत से गिरकर या अग्नि में जलकर प्राण-विसर्जन करना आदि लोकमूढ़ताएँ हैं।[2]

(स) **समयमूढ़ता**—समय का अर्थ सिद्धान्त या शास्त्र भी है। इस अर्थ में सैद्धान्तिक ज्ञान या शास्त्रीय ज्ञान का अभाव समय-मूढ़ता है।

५. **उपबृंहण**—बृहि धातु के साथ उप उपसर्ग लगाने से उपबृंहण शब्द निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है वृद्धि करना, पोषण करना। अपने आध्यात्मिक गुणों का विकास

---

१. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, २३ २. वही, २२

करना ही उपबृंहण है।[1] सम्यक् आचरण करनेवाले गुणीजनों की प्रशंसा आदि करके उनके सम्यक् आचरण में योग देना उपबृंहण है।

(६) **स्थिरीकरण**—कभी-कभी ऐसे अवसर उपस्थित हो जाते हैं जब साधक भौतिक प्रलोभन एवं साधनासम्बन्धी कठिनाइयों के कारण पथच्युत हो जाता है। अतः ऐसे अवसरों पर स्वयं को पथच्युत होने से बचाना और पथच्युत साधकों को धर्म-मार्ग में स्थिर करना स्थिरीकरण है। सम्यग्दृष्टिसम्पन्न साधकों को न केवल अपने विकास की चिन्ता करनी होती है वरन् उनका यह भी कर्तव्य है कि वह ऐसे साधकों को जो धर्म-मार्ग से विचलित या पतित हो गये हैं उन्हें धर्म-मार्ग में स्थिर करें। जैन-दर्शन यह मानता है कि व्यक्ति या समाज की भौतिक सेवा सच्ची सेवा नहीं है, सच्ची सेवा तो है उसे धर्म-मार्ग में स्थिर करना। जैनाचार्यों का कथन है कि व्यक्ति अपने शरीर के चमड़े के जूते बनाकर अपने माता-पिता को पहिनावे अर्थात् उनके प्रति इतना अधिक आत्मोत्सर्ग का भाव रखे तो भी वह उनके ऋण से उऋण नहीं हो सकता। वह माता-पिता के ऋण से उऋण तभी माना जाता है जब वह उन्हें मार्ग में स्थिर करता है। दूसरे शब्दों में उनकी साधना में सहयोग देता है। अतः धर्म-मार्ग से च्युत होनेवाले व्यक्तियों को धर्म-मार्ग में पुनः स्थिर करना साधक का कर्तव्य माना गया है। पतन दो प्रकार का है :—१. दर्शन विकृति अर्थात् दृष्टिकोण की विकृति और २. चारित्र विकृति अर्थात् धर्म-मार्ग से च्युत होना। दोनों ही स्थितियों में उसे यथोचित बोध देकर स्थिर करना चाहिए।[2]

(७) **वात्सल्य**—धर्म का आचरण करनेवाले समान गुण-शील साथियों के प्रति प्रेमभाव रखना वात्सल्य है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं 'स्वधर्मियों एवं गुणियों के प्रति निष्कपट भाव से प्रीति रखना और उनकी यथोचित सेवा-शुश्रूषा करना वात्सल्य है।[3] वात्सल्य में मात्र समर्पण और प्रपत्ति का भाव होता है। वात्सल्य धर्म-शासन के प्रति अनुराग है। वात्सल्य का प्रतीक गाय और गोवत्स (बछड़ा) का प्रेम है। जिस प्रकार गाय बिना किसी प्रतिफल की अपेक्षा के बछड़े को संकट में देखकर अपने प्राणों को भी जोखिम में डाल देती है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि साधक का भी यह कर्तव्य है कि वह धार्मिकजनों के सहयोग और सहकार के लिए कुछ भी उठा न रखे। वात्सल्य संघ-धर्म या सामाजिक भावना का केन्द्रीय तत्त्व है।

(८) **प्रभावना**—साधना के क्षेत्र में स्व-पर कल्याण की भावना होती है। जैसे पुष्प अपनी सुवास से स्वयं भी सुवासित होता है और दूसरों को भी सुवासित करता है वैसे ही साधक सदाचरण और ज्ञान की सौरभ से स्वयं भी सुरभित होता है और जगत्

---

१. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, २७
२. वही, २८ ३. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १७

कहलाती है। इस प्रकार साधना अथवा नैतिक क्रिया के फल के प्रति शंकाकुल बने रहना विचिकित्सा है। शंकालु हृदय साधक में स्थिरता और धैर्य का अभाव होता है और उसकी साधना सफल नहीं हो पाती। अतः साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह इस प्रतीति के साथ नैतिक आचारण का प्रारम्भ करे कि क्रिया और फल का अविनाभावी सम्बन्ध है और यदि नैतिक आचरण किया जावेगा तो निश्चित रूप से उसका फल होगा ही। इस प्रकार क्रिया के फल के प्रति सन्देह न होना ही निर्विचिकित्सा है।

(ब) कुछ जैनाचार्यों के अनुसार तपस्वी एवं संयमपरायण मुनियों के दुर्वल, जर्जर शरीर अथवा मलिन वेशभूषा को देखकर मन में ग्लानि लाना विचिकित्सा है, अतः साधक की वेशभूषा एवं शरीरादि बाह्य रूप पर ध्यान न देकर उसके साधानात्मक गुणों पर विचार करना चाहिए। वेशभूषा एवं शरीर आदि बाह्य सौन्दर्य पर दृष्टि को केन्द्रित न करके उसे आत्म-सौन्दर्य पर केन्द्रित करना ही सच्ची निर्विचिकित्सा है। आचार्य समन्तभद्र का कथन है, शरीर तो स्वभाव से ही अपवित्र है, उसकी पवित्रता तो सम्यग्-ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्नत्रय के सदाचरण से ही है अतएव गुणीजनों के शरीर से घृणा न कर उसके गुणों से प्रेम करना निर्विचिकित्सा है।[1]

४. **अमूढ़दृष्टि**—मूढ़ता अर्थात् अज्ञान। हेय और उपादेय, योग्य और अयोग्य के मध्य निर्णायक क्षमता का अभाव ही मूढ़ता है। मूढ़ताएँ तीन प्रकार हैं—१. देवमूढ़ता, २. लोकमूढ़ता, ३. समयमूढ़ता।

(अ) **देवमूढ़ता**—साधना का आदर्श कौन हैं? उपास्य बनने की क्षमता किसमें हैं? ऐसे निर्णायक ज्ञान का अभाव ही देवमूढ़ता है, इसके कारण साधक गलत आदर्श और उपास्य का चयन कर लेता है। जिसमें उपास्य अथवा साधना का आदर्श बनने की योग्यता नहीं है उसे उपास्य बना लेना देवमूढ़ता हैं। काम-क्रोधादि आत्म-विकारों के पूर्ण विजेता, वीतराग एवं अविकल ज्ञान और दर्शन से युक्त परमात्मा को ही अपना उपास्य और आदर्श बनाना ही देव के प्रति अमूढ़दृष्टि है।

(ब) **लोकमूढ़ता**—लोक-प्रवाह और रूढ़ियों का अन्धानुकरण ही लोकमूढ़ता है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि 'नदियों एवं सागर में स्नान करने से आत्मा की शुद्धि मानना, पत्थरों का ढेर कर उससे मुक्ति समझना अथवा पर्वत से गिरकर या अग्नि में जलकर प्राण-विसर्जन करना आदि लोकमूढ़ताएँ हैं।[2]

(स) **समयमूढ़ता**—समय का अर्थ सिद्धान्त या शास्त्र भी है। इस अर्थ में सैद्धान्तिक ज्ञान या शास्त्रीय ज्ञान का अभाव समय-मूढ़ता है।

५. **उपबृंहण**—बृहि धातु के साथ उप उपसर्ग लगाने से उपबृंहण शब्द निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है वृद्धि करना, पोषण करना। अपने आध्यात्मिक गुणों का विकास

---

१. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, २३ २. वही, २२

गुरु और धर्म के प्रति निष्ठा माना गया है, उसी प्रकार बौद्ध-दर्शन में श्रद्धा का अर्थ बुद्ध, संघ और धर्म के प्रति निष्ठा है। जिस प्रकार जैन-दर्शन में देव के रूप में अरहंत को साधना का आदर्श माना गया है, उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा में साधना के आदर्श के रूप में बुद्ध और बुद्धत्व मान्य है। साधना-मार्ग के रूप में दोनों ही धर्म के प्रति निष्ठा को आवश्यक मानते हैं। जहाँ तक साधना के पथ-प्रदर्शक का प्रश्न है, जैन-परम्परा में पथ-प्रदर्शक के रूप में गुरु को स्वीकार किया गया है, जबकि बौद्ध-परम्परा उसके स्थान पर संघ को स्वीकार करती है।

जैन-दर्शन में सम्यग्दर्शन के दृष्टिकोणपरक और श्रद्धापरक ऐसे दो अर्थ स्वीकृत रहे हैं। जबकि बौद्ध-परम्परा में श्रद्धा और सम्यग्दृष्टि ये दो भिन्न तथ्य माने गये हैं। फिर भी दोनों समवेत रूप में जैन-दर्शन के सम्यग्दर्शन के अर्थ की अवधारणा को बौद्ध-दर्शन में भी प्रस्तुत कर देते हैं।

बौद्ध-परम्परा में सम्यग्दृष्टि का अर्थ दुःख, दुःख के कारण, दुःख निवृत्ति का मार्ग और दुःख-विमुक्ति इन चार आर्य-सत्यों की स्वीकृति है। जिस प्रकार जैन-दर्शन में वह जीवादि नव तत्त्वों का श्रद्धान है, उसी प्रकार बौद्ध-दर्शन में वह चार आर्य-सत्यों का श्रद्धान है।

यदि हम सम्यग्दर्शन को तत्त्वदृष्टि या तत्त्व-श्रद्धान से भिन्न श्रद्धापरक अर्थ में लेते हैं तो बौद्ध-परम्परा में उसकी तुलना श्रद्धा से की जा सकती है। बौद्ध-परम्परा में श्रद्धा पाँच इन्द्रियों में प्रथम इन्द्रिय, पाँच बलों में अन्तिम बल और स्रोतापन्न अवस्था का प्रथम अंग मानी गई है। बौद्ध-परम्परा में श्रद्धा का अर्थ चित्त की प्रसादमयी अवस्था है। जब श्रद्धा चित्त में उत्पन्न होती है तो वह चित्त को प्रीति और प्रमोद से भर देती है और चित्तमलों को नष्ट कर देती है। बौद्ध-परम्परा में श्रद्धा अन्धविश्वास नहीं, वरन् एक बुद्धि-सम्मत अनुभव है। यह विश्वास करना नहीं, वरन् साक्षात्कार के पश्चात् उत्पन्न तत्त्व-निष्ठा है। बुद्ध एक ओर यह मानते हैं कि धर्म का ग्रहण स्वयं के द्वारा जानकर ही करना चाहिए। समग्र कालामसुत्त में उन्होंने इसे सविस्तार स्पष्ट किया है। दूसरी ओर वे यह भी आवश्यक समझते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति निष्ठावान् रहे। बुद्ध श्रद्धा को प्रज्ञा से समन्वित करके चलते हैं। मज्झिमनिकाय में बुद्ध यह स्पष्ट कर देते हैं कि समीक्षा के द्वारा ही उचित प्रतीत होने पर धर्म को ग्रहण करना चाहिए।[1] विवेक और समीक्षा सदैव ही बुद्ध को स्वीकृत रहे हैं। बुद्ध कहते थे कि भिक्षुओं, क्या तुम शास्ता के गौरव से तो 'हाँ' नहीं कह रहे हो? भिक्षुओं, जो तुम्हारा अपना देखा हुआ, अपना अनुभव किया हुआ है क्या उसी को तुम कह रहे हो?[2] इस प्रकार बुद्ध श्रद्धा को प्रज्ञा से समन्वित करते हैं। सामान्यतया बौद्ध-दर्शन

१. मज्झिमनिकाय, १।५।७ २. वही, १।४।८

को भी सुरभित करता है। साधना, सदाचरण और ज्ञान की सुरभि द्वारा जगत् के अन्य प्राणियों को धर्म-मार्ग की ओर आकर्षित करना ही प्रभावना है।[१] प्रभावना आठ प्रकार की है :—(१) प्रवचन, (२) धर्म-कथा, (३) वाद, (४) नैमित्तिक, (५) तप, (६) विद्या, (७) प्रसिद्ध व्रत ग्रहण करना और (८) कवित्वशक्ति।

सम्यग्दर्शन की साधना के छह स्थान—जिस प्रकार बौद्ध-साधना के अनुसार 'दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख से निवृत्ति हो सकती है और दुःखनिवृत्ति का मार्ग है' इन चार आर्य-सत्यों की स्वीकृति सम्यग्दृष्टि है, उसी प्रकार जैन-साधना के अनुसार षट् स्थानकों[२] (छह बातों) की स्वीकृति सम्यग्दृष्टि है—(१) आत्मा है, (२) आत्मा नित्य है, (३) आत्मा अपने कर्मों का कर्ता है, (४) आत्मा कृत कर्मों के फल का भोक्ता है, (५) आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है और (६) मुक्ति का उपाय (मार्ग) है।

जैन तत्त्व-विचारणा के अनुसार इन षट्स्थानकों पर दृढ़ प्रतीति सम्यग्दर्शन की साधना का आवश्यक अंग है। दृष्टिकोण की विशुद्धता एवं सदाचार दोनों ही इन पर निर्भर हैं; ये षट्स्थानक जैन-नैतिकता के केन्द्र बिन्दु हैं।

बौद्ध-दर्शन में सम्यग्दर्शन का स्वरूप—बौद्ध-परम्परा में सम्यग्दर्शन के सामानार्थी सम्यग्दृष्टि, सम्यग्समाधि, श्रद्धा एवं चित्त शब्द मिलते हैं। बुद्ध ने अपने त्रिविध साधना-मार्ग में कहीं शील, समाधि और प्रज्ञा, कहीं शील, चित्त और प्रज्ञा और कहीं शील, श्रद्धा और प्रज्ञा का विवेचन किया हैं। बौद्ध-परम्परा में समाधि, चित्त और श्रद्धा का प्रयोग सामान्यतया एक ही अर्थ में हुआ है। वस्तुतः श्रद्धा चित्त-विकल्प की शून्यता की ओर ही ले जाती है। श्रद्धा के उत्पन्न हो जाने पर विकल्प समाप्त हो जाते हैं। उसी प्रकार समाधि की अवस्था में भी चित्त-विकल्पों की शून्यता होती है, अतः दोनों को एक ही माना जा सकता है। श्रद्धा और समाधि दोनों ही चित्त की अवस्थाएँ हैं, अतः उनके स्थान पर चित्त का प्रयोग भी किया गया है। क्योंकि चित्त की एकाग्रता ही समाधि है और चित्त की भावपूर्ण अवस्था ही श्रद्धा है। अतः चित्त, समाधि और श्रद्धा एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। यद्यपि अपेक्षा-भेद से इनके अर्थों में भिन्नता भी है। श्रद्धाबुद्ध, संघ और धर्म के प्रति अनन्य निष्ठा है तो समाधि चित्त की शान्त अवस्था है।

बौद्ध-परम्परा में सम्यग्दर्शन का अर्थ-साम्य बहुत कुछ सम्यग्दृष्टि से है। जिस प्रकार जैन-दर्शन में सम्यग्दर्शन तत्त्व-श्रद्धा है उसी प्रकार बौद्ध-दर्शन में सम्यग्दृष्टि चार आर्य सत्यों के प्रति श्रद्धा है। जिस प्रकार जैन-दर्शन में सम्यग्दर्शन का अर्थ देव,

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ३०

२. आत्मा छे, ते नित्य छे, छे कर्ता निजकर्म।
छे भोक्ता वणी मोक्ष छे, मोक्ष उपाय सुधर्म॥—आत्मसिद्धिशास्त्र, पृष्ठ ४३

आवश्यक है। श्रद्धारहित यज्ञ, तप, दान आदि सभी नैतिक कर्म निरर्थक माने गये हैं।[१] गीता में श्रद्धा तीन प्रकार की वर्णित है—१. सात्विक, २. राजस और ३. तामस। सात्विक श्रद्धा सत्वगुण से उत्पन्न होकर देवताओं के प्रति होती है। राजस श्रद्धा यक्ष और राक्षसों के प्रति होती है, इसमें रजोगुण की प्रधानता होती है। तामस श्रद्धा भूत-प्रेत आदि के प्रति होती है।[२]

जैसे जैन-दर्शन में संदेह सम्यग्दर्शन का दोष है, वैसे ही गीता में भी संशयात्मकता दोष है।[३] जिस प्रकार जैन-दर्शन में फलाकांक्षा सम्यग्दर्शन का अतिचार (दोष) मानी गई है, उसी प्रकार गीता में भी फलाकांक्षा को नैतिक जीवन का दोष माना गया है। गीता के अनुसार जो फलाकांक्षा से युक्त होकर श्रद्धा रखता है अथवा भक्ति करता है वह साधक निम्न कोटि का ही है। फलाकांक्षायुक्त श्रद्धा व्यक्ति को आध्यात्मिक प्रगति की दृष्टि से आगे नहीं ले जाती। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'जो लोग विवेक-ज्ञान से रहित होकर तथा भोगों की प्राप्ति विषयक कामनाओं से युक्त हो मुझ परमात्मा को छोड़ देवताओं की शरण ग्रहण करते है, मैं उन लोगों की श्रद्धा उनमें स्थिर कर देता हूँ और उस श्रद्धा से युक्त होकर वे उन देवताओं की आराधना के द्वारा अपनी कामनाओं की पूर्ति करते हैं। लेकिन उन अल्प-बुद्धि लोगों का वह फल नाशवान् होता है। देवताओं का पूजन करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, लेकिन मुझ परमात्मा की भक्ति करनेवाला मुझे ही प्राप्त होता है।[४]

गीता में श्रद्धा या भक्ति चार प्रकार की कही गई है—(१) ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् होने वाली श्रद्धा या भक्ति—परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने के पश्चात् उनके प्रति जो निष्ठा होती है वह, एक ज्ञानी की निष्ठा मानी गई है। (२) जिज्ञासा की दृष्टि से परमात्मा पर श्रद्धा रखना, श्रद्धा या भक्ति का दूसरा रूप है। इसमें श्रद्धा तो होती है लेकिन वह पूर्णतया संशयरहित नहीं होती, जब कि प्रथम स्थिति में होनेवाली श्रद्धा पूर्णतया संशयरहित होती है। संशयरहित श्रद्धा तो साक्षात्कार के पश्चात् ही सम्भव है। जिज्ञासा की अवस्था में संशय बना ही रहता है। अतः श्रद्धा का यह स्तर प्रथम की अपेक्षा निम्न ही माना गया है। (३) तीसरे स्तर की श्रद्धा आर्त-व्यक्ति की होती है। कठिनाई में फँसा व्यक्ति जब स्वयं अपने को उससे उबारने में असमर्थ पाता है और इसी दैन्यभाव से किसी उद्धारक के प्रति अपनी निष्ठा को स्थिर करता है, तो उसकी यह श्रद्धा या भक्ति एक दुःखी या आर्त व्यक्ति की भक्ति ही होती है। श्रद्धा या भक्ति का यह स्तर पूर्वोक्त दोनों स्तरों से निम्न होता है। (४) श्रद्धा या भक्ति का चौथा स्तर वह है जिसमें श्रद्धा का उदय स्वार्थ के वशीभूत होकर होता है। यहाँ श्रद्धा कुछ

१. गीता, १७।१३
२. वही, ४।४०
३. वही, १७।२-४
४. वही, ७।२०-२३

में श्रद्धा को प्रथम और प्रज्ञा को अन्तिम स्थान दिया गया है। साधनामार्ग की दृष्टि से श्रद्धा पहले आती है और प्रज्ञा उसके पश्चात् उत्पन्न होती है। श्रद्धा के कारण ही धर्म का श्रवण, ग्रहण, परीक्षण और वीर्यारम्भ होता है। नैतिक जीवन के लिए श्रद्धा कैसे आवश्यक होती है, इसका सुन्दर चित्रण बौद्ध-परम्परा के सौन्दरनन्द नामक ग्रन्थ में मिलता है। उसमें बुद्ध नन्द के प्रति कहते हैं कि पृथ्वी के भीतर जल है यह श्रद्धा जब मनुष्य को होती है तब प्रयोजन होने पर पृथ्वी को प्रयत्नपूर्वक खोदता है। भूमि से अन्न की उत्पत्ति होती है, यदि यह श्रद्धा कृषक में न हो तो वह भूमि में बीज ही नहीं डालेगा। धर्म की उत्पत्ति में यही श्रद्धा उत्तम कारण है। जब तक मनुष्य तत्त्व को देख या सुन नहीं लेता, तब तक उसकी श्रद्धा स्थिर नहीं होती। साधना के क्षेत्र में प्रथम अवस्था में श्रद्धा एक परिकल्पना के रूप में ग्रहण होती है और वही अन्त में तत्त्व-साक्षात्कार बन जाती है। बुद्ध ने श्रद्धा और प्रज्ञा अथवा दूसरे शब्दों में जीवन के बौद्धिक और भावात्मक पक्षों में समन्वय किया है। यह ऐसा समन्वय है जिसमें न तो श्रद्धा अन्धश्रद्धा बनती है और न प्रज्ञा केवल बौद्धिक या तर्कात्मक ज्ञान बन कर रह जाती है।

जिस प्रकार जैन-दर्शन में सम्यग्दर्शन के शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा आदि दोष हैं उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा में भी पाँच नीवरण माने गये हैं। वे इस प्रकार हैं:— १. कामच्छन्द (कामभोगों की चाह), २. अव्यापाद (अविहिंसा), ३. स्त्यानमृद्ध (मानसिक और चैतसिक आलस्य), ४. औद्धत्य-कौकृत्य (चित्त की चंचलता) और ५. विचिकित्सा (शंका)।[1] तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो बौद्ध-परम्परा का कामच्छन्द जैन-परम्परा के कांक्षा नामक अतिचार के समान है। इसी प्रकार विचिकित्सा भी दोनों दर्शनों में स्वीकृत है। जैन-परम्परा में संशय और विचिकित्सा दोनों अलग-अलग माने गये हैं, लेकिन बौद्ध-परम्परा दोनों का अन्तरभाव एक में ही कर देती है। इस प्रकार कुछ सामान्य मतभेदों को छोड़ कर जैन और बौद्ध दृष्टिकोण एक-दूसरे के निकट ही आते हैं।

गीता में श्रद्धा का स्वरूप एवं वर्गीकरण—गीता में सम्यग्दर्शन के स्थान पर श्रद्धा का प्रत्यय ग्राह्य है। जैन-परम्परा में सामान्यतया सम्यग्दर्शन दृष्टिपरक अर्थ में स्वीकार हुआ है और अधिक से अधिक उसमें यदि श्रद्धा का तत्त्व समाहित है तो वह तत्त्व श्रद्धा ही है। लेकिन गीता में श्रद्धा शब्द का अर्थ प्रमुख रूप से ईश्वर के प्रति अनन्य-निष्ठा ही माना गया है, अतः गीता में श्रद्धा के स्वरूप पर विचार करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि जैन-दर्शन में श्रद्धा का जो अर्थ है वह गीता में नहीं है।

यद्यपि गीता यह स्वीकार करती है कि नैतिक जीवन के लिए संशयरहित होना

---

१. विसुद्धिमग्ग, भाग १ पृ० ५१ (हिन्दी अनुवाद)

आवश्यक है। श्रद्धारहित यज्ञ, तप, दान आदि सभी नैतिक कर्म निरर्थक माने गये हैं।[1] गीता में श्रद्धा तीन प्रकार की वर्णित है—१. सात्विक, २. राजस और ३. तामस। सात्विक श्रद्धा सत्वगुण से उत्पन्न होकर देवताओं के प्रति होती है। राजस श्रद्धा यज्ञ और राक्षसों के प्रति होती है, इसमें रजोगुण की प्रधानता होती है। तामस श्रद्धा भूत-प्रेत आदि के प्रति होती है।[2]

जैसे जैन-दर्शन में संदेह सम्यग्दर्शन का दोष है, वैसे ही गीता में भी संशयात्मकता दोष है।[3] जिस प्रकार जैन-दर्शन में फलाकांक्षा सम्यग्दर्शन का अतिचार (दोष) मानी गई है, उसी प्रकार गीता में भी फलाकांक्षा को नैतिक जीवन का दोष माना गया है। गीता के अनुसार जो फलाकांक्षा से युक्त होकर श्रद्धा रखता है अथवा भक्ति करता है वह साधक निम्न कोटि का ही है। फलाकांक्षायुक्त श्रद्धा व्यक्ति को आध्यात्मिक प्रगति की दृष्टि से आगे नहीं ले जाती। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'जो लोग विवेक-ज्ञान से रहित होकर तथा भोगों की प्राप्ति विषयक कामनाओं से युक्त हो मुझ परमात्मा को छोड़ देवताओं की शरण ग्रहण करते है, मैं उन लोगों की श्रद्धा उनमें स्थिर कर देता हूँ और उस श्रद्धा से युक्त होकर वे उन देवताओं की आराधना के द्वारा अपनी कामनाओं की पूर्ति करते हैं। लेकिन उन अल्प-बुद्धि लोगों का वह फल नाशवान् होता है। देवताओं का पूजन करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, लेकिन मुझ परमात्मा की भक्ति करनेवाला मुझे ही प्राप्त होता है।[4]

गीता में श्रद्धा या भक्ति चार प्रकार की कही गई है—(१) ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् होने वाली श्रद्धा या भक्ति—परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने के पश्चात् उनके प्रति जो निष्ठा होती है वह, एक ज्ञानी की निष्ठा मानी गई है। (२) जिज्ञासा की दृष्टि से परमात्मा पर श्रद्धा रखना, श्रद्धा या भक्ति का दूसरा रूप है। इसमें श्रद्धा तो होती है लेकिन वह पूर्णतया संशयरहित नहीं होती, जब कि प्रथम स्थिति में होनेवाली श्रद्धा पूर्णतया संशयरहित होती है। संशयरहित श्रद्धा तो साक्षात्कार के पश्चात् ही सम्भव है। जिज्ञासा की अवस्था में संशय बना ही रहता है। अतः श्रद्धा का यह स्तर प्रथम की अपेक्षा निम्न ही माना गया है। (३) तीसरे स्तर की श्रद्धा आर्त-व्यक्ति की होती है। कठिनाई में फँसा व्यक्ति जब स्वयं अपने को उससे उबारने में असमर्थ पाता है और इसी दैन्यभाव से किसी उद्धारक के प्रति अपनी निष्ठा को स्थिर करता है, तो उसकी यह श्रद्धा या भक्ति एक दुःखी या आर्त व्यक्ति की भक्ति ही होती है। श्रद्धा या भक्ति का यह स्तर पूर्वोक्त दोनों स्तरों से निम्न होता है। (४) श्रद्धा या भक्ति का चौथा स्तर वह है जिसमें श्रद्धा का उदय स्वार्थ के वशीभूत होकर होता है। यहाँ श्रद्धा कुछ

१. गीता, १७।१३
२. वही, ४।४०
३. वही, १७।२-४
४. वही, ७।२०-२३

पाने के लिए की जाती है। यह फलाकांक्षा की पूर्ति के लिए की जाने वाली श्रद्धा अत्यन्त निम्न स्तर की मानी गयी है। वस्तुतः इसे श्रद्धा केवल उपचार से ही कहा जाता है। अपनी मूल भावनाओं में तो यह एक व्यापार अथवा ईश्वर को ठगने का एक प्रयत्न है। ऐसी श्रद्धा या भक्ति नैतिक प्रगति में किसी भी अर्थ में सहायक नहीं होती। नैतिक दृष्टि से केवल ज्ञान के द्वारा अथवा जिज्ञासा के लिए की गयी श्रद्धा का ही कोई अर्थ और मूल्य हो सकता है।[1]

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते समय हमें यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि गीता में स्वयं भगवान् के द्वारा अनेक बार यह आश्वासन दिया गया है कि जो मेरे प्रति श्रद्धा रखेगा वह बन्धनों से छूटकर अन्त में मुझे ही प्राप्त होगा। गीता में भक्त के योगक्षेम की जिम्मेदारी स्वयं भगवान् ही वहन करते हैं[2], जबकि जैन और बौद्ध दर्शनों में ऐसे आश्वासनों का अभाव है। गीता में वैयक्तिक ईश्वर के प्रति जिस निष्ठा का उद्बोधन है, वह सामान्यतया जैन और बौद्ध परम्पराओं में अनुपलब्ध ही है।

उपसंहार—सम्यग्दर्शन अथवा श्रद्धा का जीवन में क्या मूल्य है इस पर भी विचार करना अपेक्षित है। यदि हम सम्यग्दर्शन को दृष्टिपरक अर्थ में स्वीकार करते हैं, जैसा कि सामान्यतया जैन और बौद्ध विचारणाओं में स्वीकार किया गया है, तो उसका हमारे जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध होता है। सम्यग्दर्शन जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण है। वह अनासक्त जीवन जीने की कला का केन्द्रीय तत्त्व है। हमारे चरित्र या व्यक्तित्व का निर्माण इसी जीवनदृष्टि के आधार पर होता है। गीता में इसी को यह कह कर बताया है कि यह पुरुष श्रद्धामय है और जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही वह बन जाता है। हम अपने को जो और जैसा बनाना चाहते हैं वह इसी बात पर निर्भर है कि हम अपनी जीवनदृष्टि का निर्माण भी उसी के अनुरूप करें। क्योंकि व्यक्ति की जैसी दृष्टि होती है वैसा ही उसका जीवन जीने का ढंग होता है और जैसा उसका जीने का ढंग होता है वैसा ही उसका चरित्र बन जाता है। और जैसा उसका चरित्र होता है वैसा ही उसके व्यक्तित्व का उभार होता है। अतः एक यथार्थ दृष्टिकोण का निर्माण जीवन की सबसे प्राथमिक आवश्यकता है।

यदि हम गीता के अनुसार सम्यग्दर्शन अथवा श्रद्धा को आस्तिक बुद्धि के अर्थ में लेते हैं और उसे समर्पण की वृत्ति मानते हैं तो भी उसका महत्त्व निर्विवाद रूप से बहुत अधिक है। जीवन दुःख, पीड़ा और बाधाओं से भरा है। यदि व्यक्ति इसके बीच रहते हुए किसी ऐसे केन्द्र को नहीं खोज निकालता जो कि उसे इन बाधाओं और पीड़ाओं से उबारे तो उसका जीवन सुख और शान्तिमय नहीं हो सकता है। जिस प्रकार परिवार में बालक अपने योगक्षेम की सम्पूर्ण जिम्मेदारी माता-पिता पर छोड़कर

१. गीता, ७।१६।

२. वही, १८।६५-६६।

चिन्ताओं से मुक्त एवं तनावों से रहित सुख और शान्तिपूर्ण जीवन जीता है, उसी प्रकार साधक व्यक्ति भी अपने योगक्षेम की समस्त जिम्मेदारियों को परमात्मा पर छोड़ कर एक निश्चिन्त, तनावरहित, शान्त और सुखद जीवन जी सकता है। इस प्रकार तनावरहित, शान्त और समत्वपूर्ण जीवन जीने के लिए सम्यग्दर्शन से या श्रद्धा युक्त होना आवश्यक है। उसी से वह दृष्टि मिलती है जिसके आधार पर हम अपने ज्ञान को भी सही दिशा में नियोजित कर उसे यथार्थ बना लेते हैं।

●

५ सम्यग्ज्ञान (ज्ञानयोग)

जैन नैतिक साधना में ज्ञान का स्थान—अज्ञान दशा में विवेक-शक्ति का अभाव होता है और जबतक विवेकाभाव है, तब तक उचित और अनुचित का अन्तर ज्ञात नहीं होता। इसीलिए दशवैकालिकसूत्र में कहा है भला, अज्ञानी मनुष्य क्या (साधना) करेगा? वह श्रेय (शुभ) और पाप (अशुभ) को कैसे जान सकेगा ?[१] जैन-साधना-मार्ग में प्रविष्ट होने की पहली शर्त यही है कि व्यक्ति अपने अज्ञान अथवा अयथार्थ ज्ञान का निराकरण कर सम्यक् (यथार्थ) ज्ञान को प्राप्त करे। साधना-मार्ग के पथिक के लिए जैन ऋषियों का चिर-सन्देश है कि प्रथम ज्ञान और तत्पश्चात् अहिंसा का आचरण; संयमी साधक की साधना का यही क्रम है।[२] साधक के लिए स्व-परस्वरूप का भान, हेय और उपादेय का ज्ञान और शुभाशुभ का विवेक साधना के राजमार्ग पर बढ़ने के लिए आवश्यक है। उपर्युक्त ज्ञान की साधनात्मक जीवन के लिए क्या आवश्यकता है इसका क्रमिक और सुन्दर विवेचन दशवैकालिकसूत्र में मिलता है। उसमें आचार्य लिखते हैं कि जो आत्मा और अनात्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है ऐसा ज्ञानवान साधक साधना (संयम) के स्वरूप को भलीभाँति जान लेता है, क्योंकि जो आत्मस्वरूप और जड़स्वरूप को यथार्थ रूपेण जानता है, वह सभी जीवात्माओं के संसार-परिभ्रमण रूप विविध (मानव-पशु-आदि) गतियों को जान भी लेता है और जो इन विविध गतियों को जानता है, वह (इस परिभ्रमण के कारण रूप) पुण्य, पाप, बन्धन तथा मोक्ष के स्वरूप को भी जान लेता है। पुण्य, पाप, बंधन और मोक्ष के स्वरूप को जानने पर साधक भोगों की निस्सारता को समझ लेता है और उनसे विरक्त (आसक्त) हो जाता है। भोगों से विरक्त होने पर वाह्य और आन्तरिक सांसारिक संयोगों को छोड़कर मुनिचर्या धारण कर लेता है। तत्पश्चात् उत्कृष्ट संवर (वासनाओं के नियन्त्रण) से अनुत्तर धर्म का आस्वादन करता है, जिससे वह अज्ञानकालिमा-जन्य कर्म-मल को झाड़ देता है और केवलज्ञान और केवल-दर्शन को प्राप्त कर तदन्तर मुक्ति-लाभ कर लेता है।[3] उत्तराध्ययनसूत्र में ज्ञान का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि ज्ञान अज्ञान एवं मोहजन्य अन्धकार को नष्ट कर सर्व तथ्यों (यथार्थता) को प्रकाशित करता है।[४] सत्य के स्वरूप को समझने का एकमेव साधन ज्ञान ही है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं, ज्ञान ही मनुष्य-जीवन का सार है।[५]

---

१. अन्नाणी किं काही किं वा नाहिइ छेय-पावगं ? दशवैकालिक, ४।१० (उत्तरार्ध)।

२. पढ़मं नाणं तओ दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए। वही, ४।१० (पूर्वार्ध)।

३. वही, ४।१४-२७। ४. उत्तराध्ययन, ३२।२ ५. दर्शनपाहुड, ३१

व्यक्ति आस्रव, अशुचि, विभाव और दुःख के कारणों को जानकर ही उनसे निवृत्त हो सकता है।[१]

बौद्ध-दर्शन में ज्ञान का स्थान—जैन-साधना के समान बौद्ध-साधना में भी अज्ञान को बंधन का और ज्ञान को मुक्ति का कारण कहा गया है। सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं, अविद्या के कारण ही (लोग) बारम्बार जन्म मृत्यु रूपी संसार में आते हैं, एक गति से दूसरी गति (को प्राप्त होते हैं)। यह अविद्या महामोह है, जिसके आश्रित हो (लोग) संसार में आते हैं। जो लोग विद्या से युक्त हैं, वे पुर्नजन्म को प्राप्त नहीं होते।[२] जिस व्यक्ति में ज्ञान और प्रज्ञा होती है वही निर्वाण के समीप होता है।[३] बौद्ध-दर्शन के त्रिविध साधना-मार्ग में प्रज्ञा अनिवार्य अंग है।

गीता में ज्ञान का स्थान—गीता के आचार-दर्शन में भी ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शंकरप्रभृति विचारकों की दृष्टि में तो गीता ज्ञान के द्वारा ही मुक्ति का प्रतिपादन करती है।[४] आचार्य शंकर की यह धारणा कहाँ तक समुचित है, यह विचारणीय विषय है, फिर भी इतना तो निश्चित है कि गीता की दृष्टि में ज्ञान मुक्ति का साधन है और अज्ञान विनाश का। गीताकार का कथन है कि अज्ञानी, अश्रद्धालु और संशययुक्त व्यक्ति विनाश को प्राप्त होते हैं[५]। जबकि ज्ञानरूपी नौका का आश्रय लेकर पापी से पापी व्यक्ति पापरूपी समुद्र से पार हो जाता है।[६] ज्ञान-अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है।[७] इस जगत् में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला अन्य कुछ नहीं है।[८]

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप—ज्ञान मुक्ति का साधन है, लेकिन कौन सा ज्ञान साधना के लिए आवश्यक है? यह विचारणीय है। आचार्य यशोविजयजी ज्ञानसार में लिखते हैं कि मोक्ष के हेतुभूत एक पद का ज्ञान भी श्रेष्ठ है, जबकि मोक्ष की साधना में अनुपयोगी विस्तृत ज्ञान भी व्यर्थ है।[९] ऐसे विशालकाय ग्रन्थों का अध्ययन नैतिक जीवन के लिए अनुपयोगी ही है जिससे आत्म-विकास सम्भव न हो। जैन नैतिकता यह बताती है कि जिस ज्ञान से स्वरूप का बोध नहीं होता, वह ज्ञान साधना में उपयोगी नहीं है, अल्पतम सम्यग्ज्ञान भी साधना के लिए श्रेष्ठ है। जैन-साधना में सम्यग्ज्ञान को ही साधनत्रय में स्थान दिया गया है। जैन चिन्तकों की दृष्टि में ज्ञान दो प्रकार का हो सकता है, एक सम्यक् और दूसरा मिथ्या। सामान्य शब्दावली में इन्हें यथार्थज्ञान और अयथार्थज्ञान कह सकते हैं। अतः यह विचार अपेक्षित है कि कौनसा ज्ञान सम्यक् है और कौनसा ज्ञान मिथ्या है?

---

१. समयसार, ७२ २. सुत्तनिपात, ३८।६-७ ३. धम्मपद, ३७२
४. गीता (शां), २।१० ५. गीता, ४।४० ६. वही, ४।३६
७. वही, ४।३७ ८. वही, ४।३८ ९. ज्ञानसार ५।२

सामान्य साधकों के लिए जैनाचार्यों ने ज्ञान की सम्यक्ता और असम्यक्ता का जो आधार प्रस्तुत किया, वह यह है कि तीर्थंकरों के उपदेशरूप गणधर प्रणीत जैनागम यथार्थज्ञान है और शेप मिथ्याज्ञान है।[1] यहाँ ज्ञान के सम्यक् या मिथ्या होने की कसौटी आप्तवचन है। जैनदृष्टि में आप्त वह है जो रागद्वेप से रहित वीतराग या अर्हत् है। नन्दीसूत्र में इसी आधार पर सम्यक् श्रुत और मिथ्या श्रुत का विवेचन हुआ है। लेकिन जैनागम ही सम्यग्ज्ञान है और शेष मिथ्याज्ञान है, यह कसौटी जैनाचार्यों ने मान्य नहीं रखी। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि आगम या ग्रन्थ जो शब्दों के संयोग से निर्मित हुए हैं, वे अपने आपमें न तो सम्यक् हैं और न मिथ्या, उनका सम्यक् या मिथ्या होना तो अध्येता के दृष्टिकोण पर निर्भर है। एक यथार्थ दृष्टिकोण वाले (सम्यक् दृष्टि) के लिए मिथ्या श्रुत (जैनेतर आगम ग्रन्थ) भी सम्यक्श्रुत है जबकि एक मिथ्यादृष्टि के लिए सम्यक् श्रुत भी मिथ्याश्रुत है।[2] इस प्रकार अध्येता के दृष्टिकोण की विशुद्धता को भी ज्ञान के सम्यक् अथवा मिथ्या होने का आधार माना गया है। जैनाचार्यों ने यह धारणा प्रस्तुत की कि यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण शुद्ध है, सत्यान्वेपी है तो उसको जो भी ज्ञान प्राप्त होगा; वह भी सम्यक् होगा। इसके विपरीत जिसका दृष्टिकोण दुराग्रह दुरभिनिवेश से युक्त है, जिसमें यथार्थ लक्ष्योन्मुखता और आध्यात्मिक जिज्ञासा का अभाव है, उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है।

ज्ञान के स्तर—'स्व' के यथार्थ स्वरूप को जानना ज्ञान का कार्य है, लेकिन कौनसा ज्ञान स्व या आत्मा को जान सकता है, यह प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है। भारतीय और पाश्चात्य चिन्तन में इस पर गहराई से विचार किया गया है। गीता में एक ओर बुद्धि ज्ञान और असम्मोह के नाम से ज्ञान की तीन कक्षाओं का विवेचन उपलब्ध है,[3] तो दूसरी ओर सात्विक, राजस और तामस इस प्रकार से ज्ञान के तीन स्तरों का भी निर्देश है।[4] जैन-परम्परा में मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय और केवल इस प्रकार से ज्ञान के पाँच स्तरों का विवेचन उपलब्ध है।[5] दूसरी ओर अपेक्षाभेद से लौकिक प्रत्यक्ष (इन्द्रियप्रत्यक्ष) परोक्ष (बौद्धिकज्ञान और आगम) और अलौकिक प्रत्यक्ष (आत्म-प्रत्यक्ष) ऐसे तीन स्तर भी माने जा सकते हैं। आचार्य हरिभद्र ने जैन-दृष्टि और गीता का समन्वय करते हुए इन्द्रियजन्य ज्ञान को बुद्धि, आगमज्ञान को ज्ञान और सदनुष्ठान (अप्रमत्तता) को असम्मोह कहा है।[6] इतना ही नहीं, आचार्य ने उनमें बुद्धि (इन्द्रियज्ञान) एवं बौद्धिक-ज्ञान की अपेक्षा ज्ञान (आगम) और ज्ञान की अपेक्षा असम्मोह (अप्रमत्तता) की कक्षा ऊँची मानी है। बौद्ध-दर्शन में भी इन्द्रियज्ञान, बौद्धिक ज्ञान और लोकोत्तर ज्ञान ऐसे

१. अभिधान-राजेन्द्र खण्ड ७, पृ० ५१५
२. वही, पृ० ५१४
३. गीता, १०।४
४. वही, १८।१९
५. तत्त्वार्थसूत्र, १।९
६. योगदृष्टिसमुच्चय ११९

तीन स्तर माने जा सकते हैं। त्रिशिका में लोकोत्तर ज्ञान का निर्देश है।[1] पाश्चात्य दार्शनिक स्पीनोजा ने भी ज्ञान के तीन स्तर माने हैं।[2] १. इन्द्रियजन्य ज्ञान, २. तार्किक ज्ञान और ३. अन्तर्बोधात्मक ज्ञान। यही नहीं, स्पीनोजा ने भी इनमें इन्द्रिय-ज्ञान की अपेक्षा तार्किक ज्ञान को और तार्किक ज्ञान की अपेक्षा अन्तर्बोधात्मक ज्ञान को श्रेष्ठ और अधिकप्रामाणिक माना है। उनकी दृष्टि में इन्द्रियजन्यज्ञान अपर्याप्त एवं अप्रामाणिक है, जबकि तार्किक एवं अन्तर्बोधात्मक ज्ञान प्रामाणिक है। इसमें भी पहले की अपेक्षा दूसरा अधिक पूर्ण है।

ज्ञान का प्रथम स्तर इन्द्रियजन्य ज्ञान है। यह पदार्थों को या इन्द्रियों के विषयों को जानता है। ज्ञान के इस स्तर पर न तो 'स्व' या आत्मा का साक्षात्कार सम्भव है और न नैतिक जीवन ही। आत्मा या स्व का ज्ञान इस स्तर पर इसलिए असम्भव है कि एक तो आत्मा अमूर्त एवं अतीन्द्रिय है। दूसरे, इन्द्रियाँ बहिर्दृष्टा हैं, वे आन्तरिक 'स्व' को नहीं जान सकतीं। तीसरे, इन्द्रियों की ज्ञान-शक्ति 'स्व' पर आश्रित है, वे 'स्व' के द्वारा जानती हैं, अतः 'स्व' को नहीं जान सकती। जैसे आँख स्वयं को नहीं देख सकती, उसी प्रकार जानने वाली इन्द्रियाँ जिसके द्वारा जानती हैं उसे नहीं जान सकतीं।

ज्ञान का यह स्तर नैतिक जीवन की दृष्टि से इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं है कि इस स्तर पर आत्मा पूरी तरह पराश्रित होती है। वह जो कुछ करता है, वह किन्हीं बाह्यतत्त्वों पर आधारित होकर करता है; अतः ज्ञान के इस स्तर में आत्मा परतन्त्र है। जैन-विचारकों ने आत्मा की दृष्टि से इसे परोक्षज्ञान ही माना है, क्योंकि इसमें इन्द्रियादि निमित्त की अपेक्षा है।

बौद्धिक ज्ञान—ज्ञान का दूसरा स्तर बौद्धिक ज्ञान या आगम ज्ञान का है। ज्ञान का बौद्धिक स्तर भी आत्म-साक्षात्कार या स्व-बोध की अवस्था तो नहीं है, केवल परोक्ष रूप में इस स्तर पर आत्मा यह जान पाता है कि वह क्या नहीं है। यद्यपि इस स्तर पर ज्ञान के विषय आन्तरिक होते हैं, तथापि इस स्तर पर विचारक और विचार का द्वैत रहता है। ज्ञायक आत्मा आत्मकेन्द्रित न होकर पर-केन्द्रित होता है। यद्यपि यह पर (अन्य) बाह्य वस्तु नहीं, स्वयं उसके ही विचार होते हैं। लेकिन जब तक पर-केन्द्रितता है, तब तक सच्ची अप्रमत्तता का उदय नहीं होता और जब तक अप्रमत्तता नहीं आती, आत्मसाक्षात्कार या परमार्थ का बोध नहीं होता है। जब तक विचार है, विचारक विचार में स्थित होता है और 'स्व' में स्थित नहीं होता और 'स्व' में

१. त्रिशिका २९ उद्धृत महायान पृ० ७२
२. स्पीनोजा और उसका दर्शन, पृ० ८६-८७

स्थित हुए बिना आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। यद्यपि इस स्तर पर 'स्व' का ग्रहण नहीं होता, लेकिन पर (अन्य) का पर के रूप में बोध और पर का निराकरण अवश्य होता है। इस अवस्था में जो प्रक्रिया होती है वह जैन-विचारणा में भेद-विज्ञान कही जाती है। आगम-ज्ञान भी प्रत्यक्ष रूप से तत्त्व या आत्मा का बोध नहीं करता है, फिर भी जैसे चित्र अथवा नक्शा मूल वस्तु का निर्देश करने में सहायक होता है, वैसे ही आगम भी तत्त्वोपलब्धि या आत्मज्ञान का निर्देश करते हैं। वास्तविक तत्त्व-बोध तो अपरोक्षानुभूति से ही सम्भव है। जिस प्रकार नक्शा या चित्र मूलवस्तु से भिन्न होते हुए भी उसका संकेत करता है, वैसे ही बौद्धिक ज्ञान या आगम भी मात्र संकेत करते हैं—**लक्ष्यते न तु उच्यते।**

आध्यात्मिक ज्ञान—ज्ञान का तीसरा स्तर आध्यात्मिक ज्ञान है। इसी स्तर पर आत्म-बोध, स्व का साक्षात्कार अथवा परमार्थ की उपलब्धि होती है। यह निर्विचार या विचारशून्यता की अवस्था है। इस स्तर पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद मिट जाता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी 'आत्मा' होता है। ज्ञान की यह निर्विचार, निर्विकल्प, निराश्रित अवस्था ही ज्ञानात्मक साधना की पूर्णता है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन का साध्य ज्ञान की इसी पूर्णता को प्राप्त करना है। जैन दृष्टि से यही केवलज्ञान है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जो सर्वनयों (विचार-विकल्पों) से शून्य है, वही आत्मा (समयसार) है और वही केवलज्ञान और केवलदर्शन कहा जाता है।[१] आचार्य अमृतचन्द्र भी लिखते हैं—विचार की विधाओं से रहित, निर्विकल्प स्व-स्वभाव में स्थित ऐसा जो आत्मा का सार तत्त्व (समयसार) है, जो अप्रमत्त पुरुषों के द्वारा अनुभूत है, वही विज्ञान है, वही पवित्र-पुराणपुरुष है। उसे ज्ञान (आध्यामिक ज्ञान) कहा जाय या दर्शन (आत्मानुभूति) कहा जाय या अन्य किसी नाम से कहा जाय, वह एक ही है और अनेक नामों से जाना जाता है।[२] बौद्ध-आचार्य भी इसी रूप में इस लोकोत्तर आध्यात्मिक ज्ञान की विवेचना करते हैं। वह किसी भी बाह्य पदार्थ का ग्राहक नहीं होने से 'अचित' है, बाह्य पदार्थों के आश्रय का अभाव होने से अनुपलब्ध है, वही लोकोत्तर ज्ञान है। क्लेशावरण और ज्ञेयावरण के नष्ट हो जाने से वह आश्रित-चित्त (आलयविज्ञान) निवृत्त (परावृत) होता है प्रवृत्त नहीं होता है। वही अनास्रव धातु (आवरणरहित), अतर्कगम्य, कुशल, ध्रुव, आनन्दमय विमुक्तिकाय और धर्मकाय कहा जाता है।[3]

गीता में भी कहा है कि जो सर्व-संकल्पों का त्याग कर देता है, वह योग मार्ग में आरूढ़ कहा जाता है।[४] क्योंकि समाधि की अवस्था में विकल्प या व्यवसायात्मिका बुद्धि

---

१. समयसार, १४४ २. सययसारटीका, ९३

३. त्रिंशिका २९-३० उद्धृत महायान, पृ० ७०-७१ ४. गीता, ६।४

नहीं होती ।[1] डा० राधाकृष्णन् भी आध्यात्मिक ज्ञान के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "(जब) वासनाएँ मर जाती हैं, तब मन में एक ऐसी शान्ति उत्पन्न होती है जिससे आन्तरिक निःशब्दता पैदा होती है। इस निःशब्दता में अन्तर्दृष्टि (आध्यात्मिक ज्ञान) उत्पन्न होती है और मनुष्य वह बन जाता है जो कि वह तत्त्वतः है।[2]"

इस प्रकार जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन ज्ञान के इस आध्यात्मिक स्तर पर ही ज्ञान की पूर्णता मानते हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि इस ज्ञान की पूर्णता को कैसे प्राप्त किया जाये? भारतीय आचार-दर्शन इस सन्दर्भ में जो मार्ग प्रस्तुत करते हैं उसे भेद-विज्ञान या आत्म-अनात्म-विवेक कहा जा सकता है। यहाँ भेद-विज्ञान की प्रक्रिया पर किंचित् विचार करलेना उचित होगा।

नैतिकजीवन का लक्ष्य आत्मज्ञान–भारतीय नैतिक चिन्तन आत्म-जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है। जब तक आत्म-जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती, तब तक नैतिक विकास की ओर अग्रसर ही नहीं हुआ जा सकता। जब तक बाह्य दृष्टि है और आत्म जिज्ञासा नहीं है, तब तक जैन-दर्शन के अनुसार नैतिक विकास सम्भव नहीं। आत्मा के सच्चे स्वरूप की प्रतीति होना ही नितांत आवश्यक है, यही सम्यग्ज्ञान है। ऋग्वेद का ऋषि इसी आत्म-जिज्ञासा की उत्कट वेदना से पुकार कर कहता है, "यह मैं कौन हूँ अथवा कैसा हूँ इसको मैं नहीं जानता।"[3] प्रमुख जैनागम आचारांगसूत्र का प्रारम्भ भी आत्म-जिज्ञासा से होता है। उसमें कहा है कि अनेक मनुष्य यह नहीं जानते कि मैं कहाँ से आया हूँ? मेरा भवान्तर होगा या नहीं? मैं कौन हूँ? यहाँ से कहाँ जाऊँगा?[4] जैन-दर्शन का नैतिक आदर्श आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप में उपलब्ध करना है।

नैतिकता आत्मोपलब्धि का प्रयास है और आत्म-ज्ञान नैतिक आदर्श के रूप में स्व-स्वरूप (परमार्थ) का ही ज्ञान है, जो अपने आपको जान लेता है उसे सर्वविज्ञात हो जाता है। महावीर कहते हैं कि एक (आत्मा) को जानने पर सब जाना जाता है।[5] उपनिषद् का ऋषि भी यही कहता है कि उस एक (आत्मन्) को विज्ञात कर लेने पर सब विज्ञात हो जाता है।[6] जैन बौद्ध और गीता की विचारणाएँ इस विषय में एक मत हैं कि अनात्म में आत्मबुद्धि, ममत्वबुद्धि या मेरापन ही बन्धन का कारण है। वस्तुतः जो हमारा स्वरूप नहीं है उसे अपना मान लेना ही बन्धन है। इसीलिए नैतिक जीवन में स्वरूपबोध आवश्यक माना गया। स्वरूप-बोध जिस क्रिया से उपलब्ध होता है उसे जैन-दर्शन में भेद-विज्ञान कहा गया है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि जो सिद्ध हुए हैं वे भेद-विज्ञान

१. गीता, २।४४
२. भगवद्गीता (रा०), पृ० ५८
३. ऋग्वेद, १।१६४।३७
४. आचारांग, १।१।१
५. वही, १।३।४
६. छान्दोग्योपनिषद्, ६।१।३

स्थित हुए बिना आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। यद्यपि इस स्तर पर 'स्व' का ग्रहण नहीं होता, लेकिन पर (अन्य) का पर के रूप में बोध और पर का निराकरण अवश्य होता है। इस अवस्था में जो प्रक्रिया होती है वह जैन-विचारणा में भेद-विज्ञान कही जाती है। आगम-ज्ञान भी प्रत्यक्ष रूप से तत्त्व या आत्मा का बोध नहीं करता है, फिर भी जैसे चित्र अथवा नक्शा मूल वस्तु का निर्देश करने में सहायक होता है, वैसे ही आगम भी तत्त्वोपलब्धि या आत्मज्ञान का निर्देश करते हैं। वास्तविक तत्त्व-बोध तो अपरोक्षानुभूति से ही सम्भव है। जिस प्रकार नक्शा या चित्र मूलवस्तु से भिन्न होते हुए भी उसका संकेत करता है, वैसे ही बौद्धिक ज्ञान या आगम भी मात्र संकेत करते हैं—**लक्ष्यते न तु उच्यते।**

आध्यात्मिक ज्ञान—ज्ञान का तीसरा स्तर आध्यात्मिक ज्ञान है। इसी स्तर पर आत्म-बोध, स्व का साक्षात्कार अथवा परमार्थ की उपलब्धि होती है। यह निर्विचार या विचारशून्यता की अवस्था है। इस स्तर पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद मिट जाता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी 'आत्मा' होता है। ज्ञान की यह निर्विचार, निर्विकल्प, निराश्रित अवस्था ही ज्ञानात्मक साधना की पूर्णता है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन का साध्य ज्ञान की इसी पूर्णता को प्राप्त करना है। जैन दृष्टि से यही केवलज्ञान है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जो सर्वनयों (विचार-विकल्पों) से शून्य है, वही आत्मा (समयसार) है और वही केवलज्ञान और केवलदर्शन कहा जाता है।[1] आचार्य अमृतचन्द्र भी लिखते हैं—विचार की विधाओं से रहित, निर्विकल्प स्व-स्वभाव में स्थित ऐसा जो आत्मा का सार तत्त्व (समयसार) है, जो अप्रमत्त पुरुषों के द्वारा अनुभूत है, वही विज्ञान है, वही पवित्र-पुराणपुरुष है। उसे ज्ञान (आध्यामिक ज्ञान) कहा जाय या दर्शन (आत्मानुभूति) कहा जाय या अन्य किसी नाम से कहा जाय, वह एक ही है और अनेक नामों से जाना जाता है।[2] बौद्ध-आचार्य भी इसी रूप में इस लोकोत्तर आध्यात्मिक ज्ञान की विवेचना करते हैं। वह किसी भी बाह्य पदार्थ का ग्राहक नहीं होने से 'अचित' है, बाह्य पदार्थो के आश्रय का अभाव होने से अनुपलब्ध है, वही लोकोत्तर ज्ञान है। क्लेशावरण और ज्ञेयावरण के नष्ट हो जाने से वह आश्रित-चित्त (आलयविज्ञान) निवृत्त (परावृत) होता है प्रवृत्त नहीं होता है। वही अनास्रव धातु (आवरणरहित), अतर्कगम्य, कुशल, ध्रुव, आनन्दमय विमुक्तिकाय और ... कहा जाता है।[3]

नहीं होती।[1] डा० राधाकृष्णन् भी आध्यात्मिक ज्ञान के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "(जब) वासनाएँ मर जाती हैं, तब मन में एक ऐसी शान्ति उत्पन्न होती है जिससे आन्तरिक निःशब्दता पैदा होती है। इस निःशब्दता में अन्तर्दृष्टि (आध्यात्मिक ज्ञान) उत्पन्न होती है और मनुष्य वह बन जाता है जो कि वह तत्त्वतः है।[2]"

इस प्रकार जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन ज्ञान के इस आध्यात्मिक स्तर पर ही ज्ञान की पूर्णता मानते हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि इस ज्ञान की पूर्णता को कैसे प्राप्त किया जाये ? भारतीय आचार-दर्शन इस सन्दर्भ में जो मार्ग प्रस्तुत करते हैं उसे भेद-विज्ञान या आत्म-अनात्म-विवेक कहा जा सकता है। यहाँ भेद-विज्ञान की प्रक्रिया पर किंचित् विचार करलेना उचित होगा।

नैतिकजीवन का लक्ष्य आत्मज्ञान–भारतीय नैतिक चिन्तन आत्म-जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है। जब तक आत्म-जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती, तब तक नैतिक विकास की ओर अग्रसर ही नहीं हुआ जा सकता। जब तक बाह्य दृष्टि है और आत्म जिज्ञासा नहीं है, तब तक जैन-दर्शन के अनुसार नैतिक विकास सम्भव नहीं। आत्मा के सच्चे स्वरूप की प्रतीति होना ही नितांत आवश्यक है, यही सम्यग्ज्ञान है। ऋग्वेद का ऋषि इसी आत्म-जिज्ञासा की उत्कट वेदना से पुकार कर कहता है, "यह मैं कौन हूँ अथवा कैसा हूँ इसको मैं नहीं जानता।"[3] प्रमुख जैनागम आचारांगसूत्र का प्रारम्भ भी आत्म-जिज्ञासा से होता है। उसमें कहा है कि अनेक मनुष्य यह नहीं जानते कि मैं कहाँ से आया हूँ ? मेरा भवान्तर होगा या नहीं ? मैं कौन हूँ ? यहाँ से कहाँ जाऊँगा ?[4] जैन-दर्शन का नैतिक आदर्श आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप में उपलब्ध करना है।

नैतिकता आत्मोपलब्धि का प्रयास है और आत्म-ज्ञान नैतिक आदर्श के रूप में स्व-स्वरूप (परमार्थ) का ही ज्ञान है, जो अपने आपको जान लेता है उसे सर्वविज्ञात हो जाता है। महावीर कहते हैं कि एक (आत्मा) को जानने पर सब जाना जाता है।[5] उपनिषद् का ऋषि भी यही कहता है कि उस एक (आत्मन्) को विज्ञात कर लेने पर सब विज्ञात हो जाता है।[6] जैन बौद्ध और गीता की विचारणाएँ इस विषय में एक मत हैं कि अनात्म में आत्मबुद्धि, ममत्वबुद्धि या मेरापन ही बन्धन का कारण है। वस्तुतः जो हमारा स्वरूप नहीं है उसे अपना मान लेना ही बन्धन है। इसीलिए नैतिक जीवन में स्वरूपबोध आवश्यक माना गया। स्वरूप-बोध जिस क्रिया से उपलब्ध होता है उसे जैन-दर्शन में भेद-विज्ञान कहा गया है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं कि जो सिद्ध हुए हैं वे भेद-विज्ञान

---

१. गीता, २।४४
२. भगवद्गीता (रा०), पृ० ५८
३. ऋग्वेद, १।१६४।३७
४. आचारांग, १।१।१
५. वही, १।३।४
६. छान्दोग्योपनिषद्, ६।१।३

से ही हुए हैं और जो कर्म से बंधे है वे भेद-विज्ञान के अभाव में वंधे हुए हैं।[1] भेद-विज्ञान का प्रयोजन आत्मतत्त्व को जानना है। नैतिक जीवन के लिए आत्मतत्त्व का बोध अनिवार्य है। प्राच्य एवं पाश्चात्य सभी विचारक आत्मबोध पर बल देते हैं। उपनिषद् के ऋषियों का संदेश है–आत्मा को जानो। पाश्चात्य विचारणा भी नैतिक जीवन के लिए आत्मज्ञान, आत्म-स्वीकरण (श्रद्धा) और आत्मस्थिति को स्वीकार करती है।

आत्मज्ञान की समस्या—स्व को जानना अपने आप में एक दार्शनिक समस्या है, क्योंकि जो भी जाना जा सकता है, वह 'स्व' कैसे होगा? वह तो 'पर' ही होगा। 'स्व' तो वह है, जो जानता है। स्व को ज्ञेय नहीं बनाया जा सकता। ज्ञान तो ज्ञेय का होता है, ज्ञाता का ज्ञान कैसे हो सकता है? क्योंकि ज्ञान की प्रत्येक अवस्था में ज्ञाता ज्ञान के पूर्व उपस्थित होगा और इस प्रकार ज्ञान के हर प्रयास में वह अज्ञेय ही बना रहेगा। ज्ञाता को जानने की चेष्टा तो आँख को उसी आँख से देखने की चेष्टा जैसी बात है। जैसे नट अपने कंधे पर चढ़ नहीं सकता, वैसे ही ज्ञाता ज्ञान के द्वारा नहीं जाना जा सकता। ज्ञाता जिसे भी जानेगा वह ज्ञान का विषय होगा और वह ज्ञाता से भिन्न होगा। दूसरे, आत्मा या ज्ञाता स्वतः के द्वारा नहीं जाना जा सकेगा क्योंकि उसके ज्ञान के लिए अन्य ज्ञाता की आवश्यकता होगी और यह स्थिति हमें अनवस्था दोष की ओर ले जायेगी।

इसीलिए उपनिषद् के ऋषियों को कहना पड़ा कि अरे! विज्ञाता को कैसे जाना जाये।[2] केनोपनिषद् में कहा है कि वहाँ तक न नेत्रेन्द्रिय जाती है, न वाणी जाती है, न मन ही जाता है। अतः किस प्रकार उसका कथन किया जाये वह हम नहीं जानते। वह हमारी समझ में नहीं आता। वह विदित से अन्य ही है तथा अविदित से भी परे है।[3] जो वाणी से प्रकाशित नहीं है, किन्तु वाणी ही जिससे प्रकाशित होती है,[4] जो मन से मनन नहीं किया जा सकता बल्कि मन ही जिससे मनन किया हुआ कहा जाता है, जिसे कोई नेत्र द्वारा देख नहीं सकता वरन् जिसकी सहायता से नेत्र देखते हैं,[5] जो कान से नहीं सुना जा सकता वरन् श्रोत्रों में ही जिससे सुनने की शक्ति आती है।[6] वास्तविकता यह है कि आत्मा समग्र ज्ञान का आधार है, वह अपने द्वारा नहीं जाना जा सकता। जो समग्रज्ञान के आधार में रहा है उसे उस रूप से तो नहीं जाना जा सकता जिस रूप में हम सामान्य वस्तुओं को जानते हैं। जैन विचारक कहते हैं कि जैसे सामान्य वस्तुएँ इन्द्रियों के माध्यम से जानी जाती हैं, वैसे आत्मा को नहीं जाना जा सकता। उत्तराध्ययन में कहा है कि आत्मा इन्द्रियग्राह्य नहीं है, क्योंकि वह अमूर्त है।[7]

---

१. समयसार टीका, १३१
२. बृहदारण्यक उपनिषद् २।४।१४
३. केनोपनिषद्, १।४
४. वही १।५
५. वही, १।७
६. वही, १।७
७. उत्तराध्ययन, १४।१९

पाश्चात्य विचारकों में कांट भी यह मानते हैं कि आत्मा का ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय के आधार पर नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा के ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रह सकता, अन्यथा ज्ञाता के रूप में वह सदा ही अज्ञेय बना रहेगा। वहाँ तो जो ज्ञाता है वही ज्ञेय है, यही आत्मज्ञान की कठिनाई है। बुद्धि अस्ति और नास्ति की विधाओं से सीमित है, वह विकल्पों से परे नहीं जा सकती, जबकि आत्मा या स्व तो बुद्धि की विधाओं से परे है। आचार्य कुन्दकुन्द ने उसे नयपक्षातिक्रान्त कहा है। बुद्धि की विधाएँ या नयपक्ष ज्ञायक आत्मा के आधार पर ही स्थित हैं। वे आत्मा के समग्र स्वरूप का ग्रहण नहीं कर सकते। उसे तर्क और बुद्धि से अज्ञेय कहा गया है।[1]

मैं सबको जान सकता हूँ, लेकिन उसी भाँति स्वयं को नहीं जान सकता। शायद इसीलिए आत्मज्ञान जैसी घटना भी दुरूह बनी हुई है। इसीलिए सम्भवतः आचार्य कुन्दकुन्द को भी कहना पड़ा, आत्मा बड़ी कठिनता से जाना जाता है।[2] निश्चय ही आत्मज्ञान वह ज्ञान नहीं है जिससे हम परिचित हैं। आत्मज्ञान में ज्ञाता-ज्ञेय का भेद नहीं है। इसीलिए उसे परमज्ञान कहा गया है, क्योंकि उसे जान लेने पर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। फिर भी उसका ज्ञान पदार्थ-ज्ञान की प्रक्रिया से नितान्त भिन्न रूप में होता है। पदार्थ-ज्ञान में विषय-विषयी का सम्बन्ध है, आत्मज्ञान में विषय-विषयी का अभाव। पदार्थ ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय होते हैं लेकिन आत्मज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता। वहाँ तो मात्र ज्ञान होता है। वह शुद्ध ज्ञान है, क्योंकि उसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों अलग अलग नहीं रहते। इस ज्ञान की पूर्ण शुद्धावस्था का नाम ही आत्मज्ञान है, यही परमार्थज्ञान है। लेकिन प्रश्न तो यह है कि ऐसा विषय और विषयी से अथवा ज्ञाता और ज्ञेय से रहित ज्ञान उपलब्ध कैसे हो ?

आत्मज्ञान की प्राथमिक विधि भेद-विज्ञान—यद्यपि यह सही है कि आत्मतत्त्व को ज्ञाता-ज्ञेयरूप ज्ञान के द्वारा नहीं जाना जा सकता, लेकिन अनात्म-तत्त्व तो ऐसा है जिसे ज्ञाता ज्ञेयरूप ज्ञान का विषय बनाया जा सकता है। सामान्य व्यक्ति भी इस साधारण ज्ञान के द्वारा इतना तो जान सकता है कि अनात्म या उसके ज्ञान के विषय क्या हैं। अनात्म के स्वरूप को जानकर उससे विभेद स्थापित किया जा सकता है और इस प्रकार परोक्ष विधि के माध्यम से आत्मज्ञान की दिशा में बढ़ा जा सकता है। सामान्य बुद्धि चाहे हमें यह न बता सके कि परमार्थ का स्वरूप क्या है, लेकिन वह यह तो सहज रूप में बता सकती है कि यह परमार्थ नहीं है। यह निषेधात्मक विधि ही परमार्थ बोध की एकमात्र पद्धति है, जिसके द्वारा सामान्य साधक परमार्थबोध की दिशा में आगे बढ़ सकता है। जैन, बौद्ध और वेदान्त की परम्परा में इस विधि का बहुलता से निर्देश

१. आचारांग, १।५।६

२. मोक्खपाहुड, ६५

हुआ है। इसे ही भेद-विज्ञान या आत्म-अनात्मविवेक कहा जाता है। अगली पंक्तियों में हम इसी भेद-विज्ञान का जैन, बौद्ध और गीता के आधार पर वर्णन कर रहे हैं।

जैन-दर्शन में भेद-विज्ञान—आचार्य कुन्दकुन्द ने भेद-विज्ञान का विवेचन इस प्रकार किया है—रूप आत्मा नहीं है क्योंकि वह कुछ नहीं जानता, अतः रूप अन्य है और आत्मा अन्य है। वर्ण आत्मा नहीं है क्योंकि वह कुछ नहीं जानता, अतः वर्ण अन्य है और आत्मा अन्य है। गन्ध आत्मा नहीं है क्योंकि वह कुछ नहीं जानता, अतः गन्ध अन्य है और आत्मा अन्य है। रस आत्मा नहीं है क्योंकि वह कुछ नहीं जानता, अतः रस अन्य है और आत्मा अन्य है। स्पर्श आत्मा नहीं है क्योंकि वह कुछ नहीं जानता, अतः स्पर्श अन्य है और आत्मा अन्य है। कर्म आत्मा नहीं है क्योंकि कर्म कुछ नहीं जानते, अतः कर्म अन्य है आत्मा अन्य है। अध्यवसाय आत्मा नहीं है क्योंकि अध्यवसाय कुछ नहीं जानते (मनोभाव भी किसी ज्ञायक के द्वारा जाने जाते हैं अतः वे स्वतः कुछ नहीं जानते—क्रोध के भाव को जानने वाला ज्ञायक उससे भिन्न है), अतः अध्यवसाय अन्य है और आत्मा अन्य है।[1] आत्मा न नारक है, न तिर्यंच है, न मनुष्य है, न देव है न बालक है, न वृद्ध है, न तरुण है, न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है। वह इसका कारण भी नहीं है और कर्ता भी नहीं है (नियमसार ७८-८१)। इस प्रकार अनात्म-धर्मों (गुणों) के चिन्तन के द्वारा आत्मा का अनात्म से पार्थक्य किया जाता है। यही प्रज्ञापूर्वक आत्म-अनात्म में किया हुआ विभेद भेद-विज्ञान कहा जाता है। इसी भेद-विज्ञान के द्वारा अनात्म के स्वरूप को जानकर उसमें आत्म-बुद्धि का त्याग करना ही सम्यग्ज्ञान की साधना है।

बौद्ध-दर्शन में भेदाभ्यास—जिस प्रकार जैन-साधना में सम्यग्ज्ञान या प्रज्ञा का वास्तविक उपयोग भेदाभ्यास माना गया, उसी प्रकार बौद्ध-साधना में भी प्रज्ञा का वास्तविक उपयोग अनात्म की भावना में माना गया है। भेदाभ्यास की साधना में जैन साधक वस्तुतः स्वभाव के यथार्थज्ञान के आधार पर स्वस्वरूप (आत्म) और परस्वरूप (अनात्म) में भेद स्थापित करता है और अनात्म में रही हुई आत्म-बुद्धि का परित्याग कर अन्त में अपने साधना के लक्ष्य निर्वाण की प्राप्ति करता है। बौद्ध साधना में भी साधक प्रज्ञा के सहारे जागतिक उपादानों (धर्म) के स्वभाव का ज्ञान कर उनके अनात्म स्वरूप में आत्म-बुद्धि का परित्याग कर निर्वाण का लाभ करता है। अनात्म के स्वरूप का ज्ञान और उसमें आत्म-बुद्धि का परित्याग दोनों दर्शनों में साधना के अनिवार्य तत्त्व हैं। जिस प्रकार जैन विचारकों ने रूप, रस, वर्ण, देह, इन्द्रिय, मन, अध्यवसाय आदि को अनात्म कहा, उसी प्रकार बौद्ध-आगमों में भी देह, इन्द्रियाँ, उनके विषय शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श तथा मन आदि को अनात्म कहा गया है और दोनों ने साधक के लिए यह स्पष्ट निर्देश किया कि वह उनमें आत्म-बुद्धि न रखे। लगभग समान शब्दों

---

१. समयसार, ३९२-४०३

और शैली में दोनों ही अनात्म-भावना या भेद-विज्ञान की अवधारणा को प्रस्तुत करते हैं, जो तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययनकर्ता के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ में बुद्ध वाणी है।

"भिक्षुओं, चक्षु अनित्य है, जो अनित्य है वह दुःख है, जो दुःख है वह अनात्म है, जो अनात्म है वह न मेरा है, न मैं हूँ, न मेरा आत्मा है, इसे यथार्थतः प्रज्ञापूर्वक जान लेना चाहिए।"

"भिक्षुओं, घ्राण अनित्य है, जिह्वा अनित्य है, काया अनित्य है, मन अनित्य है, जो अनित्य है वह दुःख है, जो दुःख है वह अनात्म है, जो अनात्म है वह न मेरा है, न मैं हूँ, न मेरा आत्मा है, इसे यथार्थतः प्रज्ञापूर्वक जान लेना चाहिए।"

'भिक्षुओं, रूप अनित्य है, जो अनित्य है वह दुःख है, वह अनात्म है, जो अनात्म है, वह न मेरा है, न मैं हूँ, न मेरी आत्मा है, इसे यथार्थतः प्रज्ञापूर्वक जान लेना चाहिए।"

'भिक्षुओ, शब्द अनित्य है····। गंध····। रस····। स्पर्श····। धर्म अनित्य है, जो अनित्य है, वह दुःख है, वह अनात्म है, जो अनात्म है, वह न मेरा है, न मैं हूँ, न मेरी आत्मा है, इसे यथार्थतः प्रज्ञापूर्वक जान लेना चाहिए।'

'भिक्षुओं। इसे जान पण्डित आर्यश्रावक चक्षु में वैराग्य करता है, श्रोत्र में, घ्राण में, जिह्वा में, काया में, मन में वैराग्य करता है। वैराग्य करने से, रागरहित होने से विमुक्त हो जाता है। विमुक्त होने से विमुक्त हो गया ऐसा ज्ञान होता है। जाति क्षीण हुई, ब्रह्मचर्य पूरा हो गया, जो करना था सो कर लिया, पुनः जन्म नहीं होगा—जान लेता है।'

'भिक्षुओं। अतीत और अनागत रूप अनात्म है वर्तमान का क्या कहना ? शब्द····। गन्ध····। रस····। स्पर्श····। धर्म····।

भिक्षुओं। इसे जानकर पण्डित आर्यश्रावक अतीत रूप में भी अनपेक्ष होता है, अनागत रूप का अभिनन्दन नहीं करता और वर्तमान रूप के निर्वेद, विराग और विरोध के लिए यत्नशील होता है।'

शब्द····। गन्ध····। रस····। स्पर्श····। धर्म····।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों विचारणाएँ भेदाभ्यास या अनात्म-भावना के चिन्तन में एक-दूसरे के अत्यन्त निकट हैं। बौद्ध-विचारणा में समस्त जागतिक उपादानों को 'अनात्म' सिद्ध करने का आधार है उनकी अनित्यता एवं तज्जनित दुःखमयता। जैन-विचारणा ने अपने भेदाभ्यास की साधना में जागतिक उपादानों में अन्यत्व भावना का आधार उनकी सांयोगिक उपलब्धि को माना है, क्योंकि यदि सभी

१. संयुत्तनिकाय, ३४।१।१।१; ३४।१।१।४; ३४।१।१।१२

संयोगजन्य है, तो निश्चय ही संयोग कालिक होगा और इस आधार पर वह अनित्य भी होगा।

बुद्ध और महावीर, दोनों ने ज्ञान के समस्त विषयों में 'स्व' या आत्मा का अभाव देखा और उनमें ममत्व-बुद्धि के निषेध की बात कही। लेकिन बुद्ध ने साधना की दृष्टि से यहीं विश्रान्ति लेना उचित समझा। उन्होंने साधक को यही कहा कि तुझे यह जान लेना है कि 'पर' या अनात्म क्या है, 'स्व' को जानने का प्रयास करना व्यर्थ है। इस प्रकार बुद्ध ने मात्र निषेधात्मक रूप में अनात्म का प्रतिबोध कराया, क्योंकि आत्मा के प्रत्यय में उन्हें अहं, ममत्व, या आसक्ति की ध्वनि प्रतीत हुई। महावीर की परम्परा ने अनात्म के निराकरण के साथ आत्मा के स्वीकरण को भी आवश्यक माना। पर या अनात्म का परित्याग और स्व या आत्म का ग्रहण यह दोनों प्रत्यय जैन-विचारणा में स्वीकृत रहे हैं। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं, यह शुद्धात्मा जिस तरह पहले प्रज्ञा से भिन्न किया था उसी तरह प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करना।[1] लेकिन जैन और बौद्ध परम्पराओं का यह विवाद इसलिए अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं रहता है कि बौद्ध-परम्परा ने आत्म शब्द से 'मेरा' यह अर्थ ग्रहण किया जबकि जैन-परम्परा ने आत्मा को परमार्थ के अर्थ में ग्रहण किया। वस्तुतः राग का प्रहाण हो जाने पर 'मेरा' तो शेष रहता ही नहीं, रहता है मात्र परमार्थ। चाहे उसे आत्मा कहें, चाहे शून्यता, विज्ञान या परमार्थ कहें, अन्तर शब्दों में हो सकता है, मूल भावना में नहीं।

गीता में आत्म-अनात्म विवेक (भेद-विज्ञान)—गीता का आचार-दर्शन भी अनासक्त दृष्टि के उदय और अहं के विगलन को नैतिक साधना का महत्त्वपूर्ण तथ्य मानता है। डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में हमें उद्धार की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी अपनी वास्तविक प्रकृति को पहचानने की है।[2] अपनी वास्तविक प्रकृति को कैसे पहचानें? इसके साधन के रूप में गीता भी भेद-विज्ञान को स्वीकार करती है। गीता का तेरहवाँ अध्याय हमें भेद-विज्ञान सिखाता है जिसे गीताकार ने 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ ज्ञान' कहा है। गीताकार ज्ञान की व्याख्या करते हुए कहता है कि 'क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को जानने वाला ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है।[3] गीता के अनुसार यह शरीर क्षेत्र है और इसको जानने वाला ज्ञायक स्वभाव-युक्त आत्मा ही क्षेत्रज्ञ है। वस्तुतः समस्त जगत् जो ज्ञान का विषय है, वह क्षेत्र है और परमात्मस्वरूप विशुद्ध आत्म-तत्त्व जो ज्ञाता है, क्षेत्रज्ञ है।[4] इन्हें क्रमशः प्रकृति और पुरुष भी कहा जाता है। इस प्रकार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, प्रकृति और पुरुष या अनात्म और आत्म का यथार्थ विवेक या भिन्नता का बोध ही ज्ञान है। गीता में सांख्य शब्द आत्म-अनात्म के ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और उसकी व्याख्या में

---

१. समयसार, २९६   २. भगवद्गीता (रा०) पृ० ५४

३. गीता, १३।२   ४. वही, १३।१

आचार्य शंकर ने यही दृष्टि अपनायी है। वे लिखते हैं कि 'यह त्रिगुणात्मक जगत् या प्रकृति ज्ञान का विषय है, मैं उनसे भिन्न हूँ (क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय, द्रष्टा और दृश्य एक नहीं हो सकते हैं), उनके व्यापारों का द्रष्टा या साक्षीमात्र हूँ, उनसे विलक्षण हूँ। इस प्रकार आत्मस्वरूप का चिन्तन करना ही सम्यग्ज्ञान है।[1] ज्ञायकस्वरूप आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप के बोध के लिए जिन अनात्म तथ्यों से विभेद स्थापित करना होता है, वे हैं—पंचमहाभूत, अहंभाव, विषययुक्त बुद्धि, सूक्ष्म प्रकृति, पांचज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श—पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, स्थूल देह का पिण्ड (शरीर) सुख-दुःखादि भावों की चेतना और धारणा। ये सभी क्षेत्र हैं अर्थात् ज्ञान के विषय हैं और इसलिए ज्ञायक आत्मा इससे भिन्न है।[2] गीता यह मानती है कि 'आत्मा को अनात्म से अपनी भिन्नता का बोध न होना ही बन्धन का कारण है।' जब यह पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक पदार्थों को प्रकृति में स्थित होकर भोगता है तो अनात्म प्रकृति में आत्म-बुद्धि के कारण ही वह अनेक अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेता है।[3] दूसरे शब्दों में अनात्म में आत्म-बुद्धि करके जब उसका भोग किया जाता है तो उस आत्मबुद्धि के कारण ही आत्मा बन्धन में आ जाता है। वस्तुतः इस शरीर में स्थित होता हुआ भी आत्मा इससे भिन्न ही है, यही परमात्मा है।[4] यह परमात्मस्वरूप आत्मा शरीर आदि विषयों में आत्म-बुद्धि करके ही बन्धन में है। जब भी इसे भेद-विज्ञान के द्वारा अपने यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है। अनात्म के प्रति आत्म-बुद्धि को समाप्त करना यही भेद-विज्ञान है और यही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञान है। इसी के द्वारा अनात्म एवं आत्म के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है। यही मुक्ति का मार्ग है। गीता कहती है जो व्यक्ति अनात्म त्रिगुणात्मक प्रकृति और परमात्मस्वरूप ज्ञायक आत्मा के यथार्थ स्वरूप को तत्त्वदृष्टि से जान लेता है, वह इस संसार में रहता हुआ भी तत्त्व रूप से इस संसार से ऊपर उठ गया है, वह पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता है।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन के समान गीता भी इसी आत्म-अनात्म-विवेक पर जोर देती है। दोनों के निष्कर्ष समान हैं। शरीरस्थ ज्ञायक स्वरूप आत्मा का बोध ही दोनों आचार-दर्शनों को स्वीकार है। गीता में श्रीकृष्ण ज्ञान-असि के द्वारा अनात्म में आत्मबुद्धि रूप अज्ञान के छेदन का निर्देश करते हैं,[6] तो आचार्य कुन्दकुन्द प्रज्ञा-छेनी से इस आत्म और अनात्म (जड़) को अलग करने की बात कहते हैं।[7]

---

१. गीता (शां) १३।२४
२. गीता, १३।५-६
३. वही, १३।२१
४. वही, १३।३१
५. वही, १३।२३
६. वही, ४।४२
७. समयसार २९४

संयोगजन्य है, तो निश्चय ही संयोग कालिक होगा और इस आधार पर वह अनित्य भी होगा।

बुद्ध और महावीर, दोनों ने ज्ञान के समस्त विषयों में 'स्व' या आत्मा का अभाव देखा और उनमें ममत्व-बुद्धि के निषेध की बात कही। लेकिन बुद्ध ने साधना की दृष्टि से यहीं विश्रान्ति लेना उचित समझा। उन्होंने साधक को यही कहा कि तुझे यह जान लेना है कि 'पर' या अनात्म क्या है, 'स्व' को जानने का प्रयास करना व्यर्थ है। इस प्रकार बुद्ध ने मात्र निषेधात्मक रूप में अनात्म का प्रतिबोध कराया, क्योंकि आत्मा के प्रत्यय में उन्हें अहं, ममत्व, या आसक्ति की ध्वनि प्रतीत हुई। महावीर की परम्परा ने अनात्म के निराकरण के साथ आत्मा के स्वीकरण को भी आवश्यक माना। पर या अनात्म का परित्याग और स्व या आत्म का ग्रहण यह दोनों प्रत्यय जैन-विचारणा में स्वीकृत रहे हैं। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं, यह शुद्धात्मा जिस तरह पहले प्रज्ञा से भिन्न किया था उसी तरह प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करना।[१] लेकिन जैन और बौद्ध परम्पराओं का यह विवाद इसलिए अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं रहता है कि बौद्ध-परम्परा ने आत्म शब्द से 'मेरा' यह अर्थ ग्रहण किया जबकि जैन-परम्परा ने आत्मा को परमार्थ के अर्थ में ग्रहण किया। वस्तुत: राग का प्रहाण हो जाने पर 'मेरा' तो शेष रहता ही नहीं, रहता है मात्र परमार्थ। चाहे उसे आत्मा कहें, चाहे शून्यता, विज्ञान या परमार्थ कहें, अन्तर शब्दों में हो सकता है, मूल भावना में नहीं।

गीता में आत्म-अनात्म विवेक (भेद-विज्ञान)—गीता का आचार-दर्शन भी अनासक्त दृष्टि के उदय और अहं के विगलन को नैतिक साधना का महत्त्वपूर्ण तथ्य मानता है। डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में हमें उद्धार की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी अपनी वास्तविक प्रकृति को पहचानने की है।[२] अपनी वास्तविक प्रकृति को कैसे पहचानें? इसके साधन के रूप में गीता भी भेद-विज्ञान को स्वीकार करती है। गीता का तेरहवाँ अध्याय हमें भेद-विज्ञान सिखाता है जिसे गीताकार ने 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ ज्ञान' कहा है। गीताकार ज्ञान की व्याख्या करते हुए कहता है कि 'क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को जानने वाला ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है।[३] गीता के अनुसार यह शरीर क्षेत्र है और इसको जानने वाला ज्ञायक स्वभाव-युक्त आत्मा ही क्षेत्रज्ञ है। वस्तुतः समस्त जगत् जो ज्ञान का विषय है, वह क्षेत्र है और परमात्मस्वरूप विशुद्ध आत्म-तत्त्व जो ज्ञाता है, क्षेत्रज्ञ है।[४] इन्हें क्रमशः प्रकृति और पुरुष भी कहा जाता है। इस प्रकार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, प्रकृति और पुरुष या अनात्म और आत्म का यथार्थ विवेक या भिन्नता का बोध ही ज्ञान है। गीता में सांख्य शब्द आत्म-अनात्म के ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और उसकी व्याख्या में

१. समयसार, २९६	२. भगवद्गीता (रा०) पृ० ५४
३. गीता, १३।२	४. वही, १३।१

ाचार्य शंकर ने यही दृष्टि अपनायी है। वे लिखते हैं कि 'यह त्रिगुणात्मक जगत् या कृति ज्ञान का विषय है, मैं उनसे भिन्न हूँ (क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय, द्रष्टा और दृश्य क नहीं हो सकते हैं), उनके व्यापारों का द्रष्टा या साक्षीमात्र हूँ, उनसे विलक्षण हूँ। इस प्रकार आत्मस्वरूप का चिन्तन करना ही सम्यग्ज्ञान है।'[1] ज्ञायकस्वरूप आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप के बोध के लिए जिन अनात्म तथ्यों से विभेद स्थापित करना होता है, वे हैं—पंचमहाभूत, अहंभाव, विषययुक्त बुद्धि, सूक्ष्म प्रकृति, पांचज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श—पाँचों इन्द्रियों के पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, स्थूल देह का पिण्ड (शरीर) सुख-दुःखादि भावों की चेतना और धारणा। ये सभी क्षेत्र हैं अर्थात् ज्ञान के विषय हैं और इसलिए ज्ञायक आत्मा इससे भिन्न है।[2] गीता यह मानती है कि 'आत्मा को अनात्म से अपनी भिन्नता का बोध न होना ही बन्धन का कारण है।' जब यह पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक पदार्थों को प्रकृति में स्थित होकर भोगता है तो अनात्म प्रकृति में आत्म-बुद्धि के कारण ही वह अनेक अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेता है।[3] दूसरे शब्दों में अनात्म में आत्म-बुद्धि करके जब उसका भोग किया जाता है तो उस आत्मबुद्धि के कारण ही आत्मा बन्धन में आ जाता है। वस्तुतः इस शरीर में स्थित होता हुआ भी आत्मा इससे भिन्न ही है, यही परमात्मा है।[4] यह परमात्मस्वरूप आत्मा शरीर आदि विषयों में आत्म-बुद्धि करके ही बन्धन में है। जब भी इसे भेद-विज्ञान के द्वारा अपने यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है। अनात्म के प्रति आत्म-बुद्धि को समाप्त करना यही भेद-विज्ञान है और यही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञान है। इसी के द्वारा अनात्म एवं आत्म के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है। यही मुक्ति का मार्ग है। गीता कहती है जो व्यक्ति अनात्म त्रिगुणात्मक प्रकृति और परमात्मस्वरूप ज्ञायक आत्मा के यथार्थ स्वरूप को तत्त्वदृष्टि से जान लेता है, वह इस संसार में रहता हुआ भी तत्त्व रूप से इस संसार से ऊपर उठ गया है, वह पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता है।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन के समान गीता भी इसी आत्म-अनात्म-विवेक पर जोर देती है। दोनों के निष्कर्ष समान हैं। शरीरस्थ ज्ञायक स्वरूप आत्मा का बोध ही दोनों आचार-दर्शनों को स्वीकार है। गीता में श्रीकृष्ण ज्ञान-असि के द्वारा अनात्म में आत्मबुद्धि रूप अज्ञान के छेदन का निर्देश करते हैं,[6] तो आचार्य कुन्दकुन्द प्रज्ञा-छेनी से इस आत्म और अनात्म (जड़) को अलग करने की बात कहते हैं।[7]

---

१. गीता (शां) १३।२४
२. गीता, १३।५-६
३. वही, १३।२१
४. वही, १३।३१
५. वही, १३।२३
६. वही, ४।४२
७. समयसार २९४

निष्कर्ष यह है कि जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन में यह भेद-विज्ञान अनात्म-विवेक या क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञान ही ज्ञानात्मक साधना का लक्ष्य है। यही मुक्ति या निर्वाण की उपलब्धि का आवश्यक अंग है तब तक अनात्म में आत्म-बुद्धि का परित्याग नहीं होगा, तब तक आसक्ति समाप्त नहीं होती और आसक्ति के समाप्त न होने से निर्वाण या मुक्ति की उपलब्धि नहीं होती। आचारांगसूत्र में कहा है जो 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि नहीं रखता वह 'स्व' से अन्य रमता भी नहीं है और जो 'स्व' से अन्यत्र रमता नहीं है वह 'स्व' से अन्यत्र बुद्धि भी नहीं रखता है।[1]

इस आत्म-दृष्टि या तत्त्व-स्वरूप-दृष्टि का उदय भेद-विज्ञान के द्वारा ही होता है और इस भेद-विज्ञान की कला से निर्वाण या परमपद की प्राप्ति होती है। भेद-विज्ञान वह कला है जो ज्ञान के व्यावहारिक स्तर से प्रारम्भ होकर साधक को उस आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचा देती है, जहाँ वह विकल्पात्मक बुद्धि से ऊपर उठकर आत्म-लाभ करता है।

निष्कर्ष—भारतीय परम्परा में सम्यग्ज्ञान, विद्या अथवा प्रज्ञा के जिस रूप को आध्यात्मिक एवं नैतिक जीवन के लिए आवश्यक माना गया है, वह मात्र बौद्धिक ज्ञान नहीं है। वह तार्किक विश्लेषण नहीं, वरन् एक अपरोक्षानुभूति है। बौद्धिक विश्लेषण परमार्थ का साक्षात्कार नहीं करा सकता, इसलिए यह माना गया कि बौद्धिक विवेचनाओं से ऊपर उठकर ही तत्त्व का साक्षात्कार सम्भव है। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराएँ समान रूप से यह स्वीकार करती हैं कि केवल शास्त्रीय ज्ञान से तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती। जहाँ तक बौद्धिक ज्ञान का प्रश्न है, वह अनिवार्य रूप से नैतिक जीवन के साथ जुड़ा हुआ नहीं है। यह सम्भव है कि एक व्यक्ति विपुल शास्त्रीय ज्ञान एवं तर्क-शक्ति के होते हुए भी सदाचारी न हो। बौद्धिक स्तर पर ज्ञान और आचरण का द्वैत बना रहता है, लेकिन आध्यात्मिक स्तर पर यह द्वैत नहीं रहता। वहाँ सदाचरण और ज्ञान साथ-साथ रहते हैं। सुकरात का यह कथन कि 'ज्ञान ही सद्‌गुण है' ज्ञान के आध्यात्मिक स्तर का परिचायक है। ज्ञान के आध्यात्मिक स्तर पर ज्ञान और आचरण ये दो अलग अलग तथ्य भी नहीं रहते। ज्ञान का यही स्वरूप नैतिक जीवन का निर्माण कर सकता है। इसमें ज्ञान और आचरण दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।

■

---

१. आचारांग, १।२।६

सम्यग्दर्शन से सम्यक्चारित्र की ओर

आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता के लिए श्रद्धा और ज्ञान से काम नहीं चलता। उसके लिए आचरण जरूरी है। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का सम्यक्चारित्र के पूर्व होना आवश्यक है, फिर भी वे बिना सम्यक्चारित्र के पूर्णता को प्राप्त नहीं होते। दर्शन अपने अन्तिम अर्थ तत्त्व-साक्षात्कार के रूप में तथा ज्ञान अपने आध्यात्मिक स्तर पर चारित्र से भिन्न नहीं रह पाता। यदि हम सम्यग्दर्शन को श्रद्धा के अर्थ में और सम्यग्ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान के अर्थ में ग्रहण करें, तो सम्यक्-चारित्र का स्थान स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः इस रूप में सम्यक्चारित्र आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा में उठाया गया अन्तिम चरण है।

आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा में बढ़ने के लिए, सबसे पहले यह आवश्यक है कि जब तक हम अपने में स्थित उस आध्यात्मिक पूर्णता या परमात्मा का अनुभव न करलें, तब तक हमें उन लोगों के प्रति, जिन्होंने उस आध्यात्मिक पूर्णता या परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है, आस्थावान रहना चाहिए एवं उनके कथनों पर विश्वास करना चाहिए। लेकिन देव, गुरु, शास्त्र और धर्म पर श्रद्धा या आस्था का यह अर्थ कदापि नहीं है कि बुद्धि के दरवाजे बन्द कर लिये जायँ। मानव में चिन्तन-शक्ति है यदि उसकी इस चिन्तन-शक्ति को विकास का यथोचित अवसर नहीं दिया गया है तो न केवल उसका विकास ही अपूर्ण होगा, वरन् मानवीय आत्मा उस आस्था के प्रति विद्रोह भी कर उठेगी। जीवन के तार्किक पक्ष को सन्तुष्ट किया जाना चाहिए। इसीलिए श्रद्धा के साथ ज्ञान का समन्वय किया गया है, अन्यथा श्रद्धा अन्धी होगी। श्रद्धा जब तक ज्ञान एवं स्वानुभूति से समन्वित नहीं होती वह परिपुष्ट नहीं होती। ऐसी अपूर्ण, अस्थायी और बाह्य श्रद्धा साधक जीवन का अंग नहीं बन पाती है। महाभारत में कहा गया है कि जिस व्यक्ति ने स्वयं के चिन्तन द्वारा ज्ञान उपलब्ध नहीं किया, वरन् केवल बहुत सी बातों को सुना भर है, वह शास्त्र को सम्यक् रूप से नहीं जानता; जैसे चमचा दाल के स्वाद को नहीं जानता।[1]

इसलिए जैन-विचारणा में कहा गया है कि प्रज्ञा से धर्म की समीक्षा करना चाहिए; तर्क से तत्त्व का विश्लेषण करना चाहिए।[2] लेकिन तार्किक या बौद्धिक ज्ञान भी अन्तिम नहीं है। तार्किक ज्ञान जब तक अनुभूति से प्रमाणित नहीं होता वह पूर्णता तक नहीं

१. महाभारत, २।५५।१

२. उत्तराध्ययन, २३।२५

निष्कर्ष यह है कि जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन में यह भेद-विज्ञान अनात्म-विवेक या क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञान ही ज्ञानात्मक साधना का लक्ष्य है। यही मुक्ति या निर्वाण की उपलब्धि का आवश्यक अंग है तब तक अनात्म में आत्म-बुद्धि का परित्याग नहीं होगा, तब तक आसक्ति समाप्त नहीं होती और आसक्ति के समाप्त न होने से निर्वाण या मुक्ति की उपलब्धि नहीं होती। आचारांगसूत्र में कहा है जो 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि नहीं रखता वह 'स्व' से अन्य रमता भी नहीं है और जो 'स्व' से अन्यत्र रमता नहीं है वह 'स्व' से अन्यत्र बुद्धि भी नहीं रखता है।[1]

इस आत्म-दृष्टि या तत्त्व-स्वरूप-दृष्टि का उदय भेद-विज्ञान के द्वारा ही होता है और इस भेद-विज्ञान की कला से निर्वाण या परमपद की प्राप्ति होती है। भेद-विज्ञान वह कला है जो ज्ञान के व्यावहारिक स्तर से प्रारम्भ होकर साधक को उस आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचा देती है, जहाँ वह विकल्पात्मक बुद्धि से ऊपर उठकर आत्म-लाभ करता है।

निष्कर्ष—भारतीय परम्परा में सम्यग्ज्ञान, विद्या अथवा प्रज्ञा के जिस रूप को आध्यात्मिक एवं नैतिक जीवन के लिए आवश्यक माना गया है, वह मात्र बौद्धिक ज्ञान नहीं है। वह तार्किक विश्लेषण नहीं, वरन् एक अपरोक्षानुभूति है। बौद्धिक विश्लेपण परमार्थ का साक्षात्कार नहीं करा सकता, इसलिए यह माना गया कि बौद्धिक विवेचनाओं से ऊपर उठकर ही तत्त्व का साक्षात्कार सम्भव है। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराएँ समान रूप से यह स्वीकार करती हैं कि केवल शास्त्रीय ज्ञान से तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती। जहाँ तक बौद्धिक ज्ञान का प्रश्न है, वह अनिवार्य रूप से नैतिक जीवन के साथ जुड़ा हुआ नहीं है। यह सम्भव है कि एक व्यक्ति विपुल शास्त्रीय ज्ञान एवं तर्क-शक्ति के होते हुए भी सदाचारी न हो। बौद्धिक स्तर पर ज्ञान और आचरण का द्वैत वना रहता है, लेकिन आध्यात्मिक स्तर पर यह द्वैत नहीं रहता। वहाँ सदाचरण और ज्ञान साथ-साथ रहते हैं। सुकरात का यह कथन कि 'ज्ञान ही सदगुण है' ज्ञान के आध्यात्मिक स्तर का परिचायक है। ज्ञान के आध्यात्मिक स्तर पर ज्ञान और आचरण ये दो अलग अलग तथ्य भी नहीं रहते। ज्ञान का यही स्वरूप नैतिक जीवन का निर्माण कर सकता है। इसमें ज्ञान और आचरण दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।

■

१. आचारांग, १।२।६

सम्यग्दर्शन से सम्यक्चारित्र की ओर

आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता के लिए श्रद्धा और ज्ञान से काम नहीं चलता। उसके लिए आचरण जरूरी है। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का सम्यक्चारित्र के पूर्व होना आवश्यक है, फिर भी वे बिना सम्यक्चारित्र के पूर्णता को प्राप्त नहीं होते। दर्शन अपने अन्तिम अर्थ तत्त्व-साक्षात्कार के रूप में तथा ज्ञान अपने आध्यात्मिक स्तर पर चारित्र से भिन्न नहीं रह पाता। यदि हम सम्यग्दर्शन को श्रद्धा के अर्थ में और सम्यग्ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान के अर्थ में ग्रहण करें, तो सम्यक्-चारित्र का स्थान स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः इस रूप में सम्यक्चारित्र आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा में उठाया गया अन्तिम चरण है।

आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा में बढ़ने के लिए, सबसे पहले यह आवश्यक है कि जब तक हम अपने में स्थित उस आध्यात्मिक पूर्णता या परमात्मा का अनुभव न करलें, तब तक हमें उन लोगों के प्रति, जिन्होंने उस आध्यात्मिक पूर्णता या परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है, आस्थावान रहना चाहिए एवं उनके कथनों पर विश्वास करना चाहिए। लेकिन देव, गुरु, शास्त्र और धर्म पर श्रद्धा या आस्था का यह अर्थ कदापि नहीं है कि बुद्धि के दरवाजे बन्द कर लिये जायँ। मानव में चिन्तन-शक्ति है यदि उसकी इस चिन्तन-शक्ति को विकास का यथोचित अवसर नहीं दिया गया है तो न केवल उसका विकास ही अपूर्ण होगा, वरन् मानवीय आत्मा उस आस्था के प्रति विद्रोह भी कर उठेगी। जीवन के तार्किक पक्ष को सन्तुष्ट किया जाना चाहिए। इसीलिए श्रद्धा के साथ ज्ञान का समन्वय किया गया है, अन्यथा श्रद्धा अन्धी होगी। श्रद्धा जब तक ज्ञान एवं स्वानुभूति से समन्वित नहीं होती वह परिपुष्ट नहीं होती। ऐसी अपूर्ण, अस्थायी और बाह्य श्रद्धा साधक जीवन का अंग नहीं बन पाती है। महाभारत में कहा गया है कि जिस व्यक्ति ने स्वयं के चिन्तन द्वारा ज्ञान उपलब्ध नहीं किया, वरन् केवल बहुत सी बातों को सुना भर है, वह शास्त्र को सम्यक् रूप से नहीं जानता; जैसे चमचा दाल के स्वाद को नहीं जानता।[1]

इसलिए जैन-विचारणा में कहा गया है कि प्रज्ञा से धर्म की समीक्षा करना चाहिए; तर्क से तत्त्व का विश्लेषण करना चाहिए।[2] लेकिन तार्किक या बौद्धिक ज्ञान भी अन्तिम नहीं है। तार्किक ज्ञान जब तक अनुभूति से प्रमाणित नहीं होता वह पूर्णता तक नहीं

१. महाभारत, २।५५।१ २. उत्तराध्ययन, २३।२५

पहुँचता है। तर्क या बुद्धि को अनुभूति का सम्बल चाहिए। दर्शन परिकल्पना है, ज्ञान प्रयोग-विधि है और चारित्र प्रयोग है। तीनों के संयोग से सत्य का साक्षात्कार होता है। ज्ञान का सार आचरण है और आचरण का सार निर्वाण या परमार्थ की उपलब्धि है।[1] सत्य जब तक स्वयं के अनुभवों में प्रयोग-सिद्ध नहीं बन जाता, तबतक वह सत्य नहीं होता। सत्य तभी पूर्ण सत्य होता है जब वह अनुभूत हो। इसीलिए उत्तराध्ययन-सूत्र में कहा है कि ज्ञान के द्वारा परमार्थ का स्वरूप जाने, श्रद्धा के द्वारा स्वीकार करे, और आचरण के द्वारा उसका साक्षात्कार करे। यहाँ साक्षात्कार का अर्थ है सत्य, परमार्थ या सत्ता के साथ एकरस हो जाना। शास्त्रकार ने परिग्रहण शब्द की जो योजना की है वह विशेप रूप से द्रष्टव्य है। बौद्धिक ज्ञान तो हमारे सामने चित्र के समान परमार्थ का निर्देश कर देता है। लेकिन जिस प्रकार से चित्र और यथार्थ वस्तु में महान् अन्तर होता है उसी प्रकार परमार्थ के ज्ञान द्वारा निर्देशित स्वरूप में और तत्त्वतः परमार्थ में भी महान् अन्तर होता है। ज्ञान तो दिशा-निर्देश करता है, साक्षात्कार तो स्वयं करना होता है। साक्षात्कार की यही प्रक्रिया आचारण या चारित्र है। सत्य, परमार्थ, आत्म या तत्त्व जिसका साक्षात्कार किया जाना है वह तो हमारे भीतर सदैव ही उपस्थित है। लेकिन जिस प्रकार मलिन, गंदले एवं अस्थिर जल में कुछ भी प्रतिबिम्बित नहीं होता उसी प्रकार वासनाओं, कषायों और राग-द्वेष की वृत्तियों से मलिन एवं अस्थिर बनी हुई चेतना में सत्य या परमार्थ प्रतिबिम्बित नहीं होता। प्रयास या आचरण सत्य को पाने के लिए नहीं, वरन् वासनाओं एवं राग-द्वेष की वृत्तियों से जनित इस मलिनता या अस्थिरता को समाप्त करने के लिए आवश्यक है। जब वासनाओं की मलिनता समाप्त हो जाती है, राग और द्वेष के प्रहाण से चित्त स्थिर हो जाता है तो सत्य प्रतिबिम्बित हो जाता है और साधक को परम शान्ति, निर्वाण या ब्रह्म-भाव का लाभ हो जाता है। हम वह हो जाते हैं जो कि तत्त्वतः हम हैं।

सम्यक्चारित्र का स्वरूप—सम्यक्चारित्र का अर्थ है चित्त अथवा आत्मा की वासनाओं की मलिनता और अस्थिरता को समाप्त करना। यह अस्थिरता या मलिनता स्वाभाविक नहीं, वरन् वैभाविक है, बाह्यभौतिक एवं तज्जनित आन्तरिक कारणों से है। जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराएँ इस तथ्य को स्वीकार करती है। समयसार में कहा है कि तत्त्व दृष्टि से आत्मा शुद्ध है।[2] भगवान् बुद्ध भी कहते हैं कि भिक्षुओं, यह चित्त स्वाभाविक रूप में शुद्ध है।[3] गीता भी उसे अविकारी कहती है।[4] आत्मा या चित्त की जो अशुद्धता है, मलिनता है, अस्थिरता या चंचलता है, वह बाह्य है, अस्वाभाविक है। जैन-दर्शन उस मलिनता के कारण को कर्ममल मानता है, गीता उसे त्रिगुण

१. आचारांगनिर्युक्ति, २४४
२. समयसार, १५१
३. अंगुत्तरनिकाय, १।५।९
४. गीता, २।२५

कहती है और बौद्ध-दर्शन में उसे बाह्यमल कहा गया है। स्वभावतः नीचे की ओर बहने वाला पानी दबाव से ऊपर चढ़ने लगता है, स्वभाव से शीतल जल अग्नि के संयोग से उष्णता को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा या चित्त स्वभाव से शुद्ध होते हुए भी त्रिगुणों, कर्मों या बाह्यमलों से अशुद्ध बन जाता है। लेकिन जैसे ही दबाव समाप्त होता है पानी स्वभावतः नीचे की ओर बहने लगता है, अग्नि का संयोग दूर होने पर जल शीतल होने लगता है। ठीक इसी प्राकर बाह्य संयोगों से अलग होने पर यह आत्मा या चित्त पुनः अपनी स्वाभाविक समत्वपूर्ण अवस्था को प्राप्त हो जाता है। सम्यक् आचरण या चारित्र का कार्य इन संयोगों से आत्मा या चित्त को अलग रख कर स्वाभाविक समत्व की दिशा में ले जाना है।

जैन आचार-दर्शन में सम्यक्चारित्र का कार्य आत्मा के समत्व का संस्थापन माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि चारित्र ही वास्तव में धर्म है, जो धर्म है वह समत्व है और मोह एवं क्षोभ से रहित आत्मा की शुद्ध दशा को प्राप्त करना समत्व है।[1] पंचास्तिकायसार में इसे अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि समभाव ही चारित्र है।[2]

चारित्र के दो रूप—जैन-परम्परा में चारित्र दो प्रकार निरूपित है—१. व्यवहार-चारित्र और २. निश्चयचारित्र। आचरण का बाह्य पक्ष या आचरण के विविधविधान व्यवहारचारित्र है और आचरण का भावपक्ष या अन्तरात्मा निश्चयचारित्र है। जहाँ तक नैतिकता के वैयक्तिक दृष्टिकोण का प्रश्न है अथवा व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का प्रश्न है, निश्चयचारित्र ही उसका मूलभूत आधार है। लेकिन जहाँ तक सामाजिक जीवन का प्रश्न है, चारित्र का यह बाह्यपक्ष ही प्रमुख है।

निश्चयदृष्टि से चारित्र—चारित्र का सच्चा स्वरूप समत्व की उपलब्धि है। चारित्र का यह पक्ष आत्मरमण ही है। निश्चयचारित्र का प्रादुर्भाव केवल अप्रमत्त अवस्था में ही होता है। अप्रमत्त चेतना की अवस्था में होनेवाले सभी कार्य शुद्ध ही माने गये हैं। चेतना में जब राग, द्वेष, कषाय और वासनाओं की अग्नि पूरी तरह शान्त हो जाती है, तभी सच्चे नैतिक एवं धार्मिक जीवन का उद्भव होता है और ऐसा ही सदाचार मोक्ष का कारण होता है। अप्रमत्त चेतना जो कि निश्चय-चारित्र का आधार है राग, द्वेष, कषाय, विषयवासना, आलस्य और निद्रा से रहित अवस्था है। साधक जब जीवन की प्रत्येक क्रिया के सम्पादन में जाग्रत् होता है, उसका आचरण बाह्य आवेगों और वासनाओं से चालित नहीं होता है, तभी वह सच्चे अर्थों में निश्चय-चारित्र का पालनकर्ता माना जाता है। यही निश्चय-चारित्र मुक्ति का सोपान है।

व्यवहारचारित्र—व्यवहारचारित्र का सम्बन्ध हमारे मन, वचन और कर्म की

१. प्रवचनसार, १।७ २. पंचास्तिकायसार, १०७

शुद्धि तथा उस शुद्धि के कारणभूत नियमों से है। सामान्यतया व्यवहारचारित्र में पंचमहाव्रतों, तीन गुप्तियों, पंचसमितियों आदि का सामावेश है। व्यवहारचारित्र भी दो प्रकार का है—१. सम्यक्त्वाचरण और २. संयमाचरण।

व्यवहारचारित्र के प्रकार—चारित्र को देशव्रतीचारित्र और सर्वव्रतीचारित्र ऐसे दो वर्गों में विभाजित किया गया है। देशव्रतीचारित्र का सम्बन्ध गृहस्थ-उपासकों से और सर्वव्रतीचारित्र का सम्बन्ध श्रमण वर्ग से है। जैन-परम्परा में गृहस्थाचार के अन्तर्गत अष्टमूलगुण, षट्कर्म, बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाओं का पालन आता है। श्वेताम्बर परम्परा में अष्टमूलगुणों के स्थान पर सप्तव्यसन त्याग एवं ३५ मार्गानुसारी गुणों का विधान मिलता है। इसी प्रकार उसमें षट्कर्म को षडावश्यक कहा गया है। श्रमणाचार के अन्तर्गत पंचमहाव्रत, रात्रिभोजन निषेध, पंचसमिति, तीन गुप्ति, दस यतिधर्म, बारह अनुप्रेक्षाएँ, बाईस परीषह, अट्ठाइस मूलगुण, बावन अनाचार आदि का विवेचन उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त भोजन, वस्त्र, आवास सम्बन्धी विधि निषेध हैं। इन सबका विवेचन गृहस्थाचार और श्रमणाचार के प्रसंगों में हुआ है। चारित्र का वर्गीकरण गृहस्थ और श्रमण धर्म के अतिरिक्त अन्य अपेक्षाओं से भी हुआ है।

चारित्र का चतुर्विध वर्गीकरण—स्थानांगसूत्र में निर्दोष आचरण की अपेक्षा से चारित्र का चतुर्विध वर्गीकरण किया गया है। जैसे घट चार प्रकार के होते हैं वैसे ही चारित्र भी चार प्रकार का होता है। घट के चार प्रकार हैं—१. भिन्न (फूटा हुआ), २. जर्जरित, ३. परिस्रावी और ४. अपरिस्रावी। इसी प्रकार चारित्र भी चार प्रकार का होता है—१. **फूटे हुए घड़े के समान**—अर्थात् जब साधक अंगीकृत महाव्रतों को सर्वथा भंग कर देता है तो उसका चारित्र फूटे घड़े के समान होता है। नैतिक दृष्टि से उसका मूल्य समाप्त हो जाता है। २. **जर्जरित घट के समान**—सदोषचारित्र जर्जरित घट के समान होता है। जब कोई मुनि ऐसा अपराध करता है जिसके कारण उसकी दीक्षा-पर्याय का छेद किया जाता है तो ऐसे मुनि का चारित्र जर्जरित घट के समान होता है। ३. **परिस्रावी**—जिस चारित्र में सूक्ष्म दोष होते हैं वह चारित्र परिस्रावी कहा जाता है। ४. **अपरिस्रावी**—निर्दोष एवं निरतिचार चारित्र अपरिस्रावी कहा जाता है।[१]

चारित्र का पंचविध वर्गीकरण—तत्त्वार्थसूत्र (९।१८) के अनुसार चारित्र पाँच प्रकार का है—१. सामायिक चारित्र, २. छेदोपस्थापनीय चारित्र, ३. परिहारविशुद्धि चारित्र, ४. सूक्ष्मसम्परायचारित्र और ५. यथाख्यात चारित्र।

१. **सामायिक चारित्र**—वासनाओं, कषायों एवं राग-द्वेष की वृत्तियों से निवृत्ति तथा समभाव की प्राप्ति सामायिक चारित्र है। व्यावहारिक दृष्टि से हिंसादि बाह्य

---

१. स्थानांग, ४।५९५

पापों से विरति भी सामायिक चारित्र है। सामायिक चारित्र दो प्रकार का है— (अ) इत्वरकालिक—जो थोड़े समय के लिए ग्रहण किया जाता है और (ब) यावत्कथित— जो सम्पूर्ण जीवन के लिए ग्रहण किया जाता है।

२. **छेदोपस्थापनीयचारित्र**—जिस चारित्र के आधार पर श्रमण जीवन में वरिष्ठता और कनिष्ठता का निर्धारण होता है वह छेदोपस्थापनीय चारित्र है। यह सदाचरण का बाह्य रूप है, इससे आचार के प्रतिपादित नियमों का पालन करना होता है और नियम के प्रतिकूल आचरण पर दण्ड देने की व्यवस्था होती है।

३. **परिहारविशुद्धिचारित्र**—जिस आचरण के द्वारा कर्मों का अथवा दोषों का परिहार होकर निर्जरा के द्वारा विशुद्धि हो वह परिहारविशुद्धिचारित्र है।

४. **सूक्ष्मसम्परायचारित्र**—जिस अवस्था में कषाय-वृत्तियाँ क्षीण होकर किंचित् रूप में ही अवशिष्ट रही हों, वह सूक्ष्म सम्परायचारित्र है।

५. **यथाख्यातचारित्र**—कषाय आदि सभी प्रकार के दोषों से रहित निर्मल एवं विशुद्ध चारित्र यथाख्यातचारित्र है। यथाख्यातचारित्र निश्चयचारित्र है।

चारित्र का त्रिविध वर्गीकरण

वासनाओं के क्षय, उपशम और क्षयोपशम के आधार पर चारित्र के तीन भेद हैं। १. क्षायिक, २. औपशमिक और ३. क्षायोपशमिक। क्षायिकचारित्र हमारे आत्म-स्वभाव से प्रतिफलित होता है। उसका स्रोत हमारी आत्मा ही है, जब कि औपशमिक-चारित्र में यद्यपि आचरण सम्यक् होता है, लेकिन आत्मस्वभाव से प्रतिफलित नहीं होता। वह कर्मों के उपशम से प्रकट होता है। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में क्षायिकचारित्र में वासनाओं का निरसन हो जाता है, जब कि औपशमिकचारित्र में मात्र वासनाओं का दमन होता है। वासनाओं का दमन और वासनाओं के निरसन में जो अन्तर है, वही अन्तर औपशमिक और क्षायिकचारित्र में है। नैतिक साधना का लक्ष्य वासनाओं का दमन नहीं, वरन् उसका निरसन या परिष्कार है। अतः चारित्र का क्षायिक प्रकार ही नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है।

चारित्र के उपर्युक्त सभी प्रकार आत्मशोधन की प्रक्रियाएँ हैं। जो प्रक्रिया जितनी अधिक मात्रा में आत्मा को राग, द्वेष और मोह से निर्मल बनाती है, वासनाओं की आग से तप्त मानस को शीतल करती है और संकल्पों और विकल्पों के चंचल झंझावात से बचा कर चित्त को शान्ति एवं स्थिरता प्रदान करती है और समाजिक एवं वैयक्तिक जीवन में समत्व की संस्थापना रखती है, वह उतनी ही अधिक मात्रा में चारित्र के उज्ज्वलतम पक्ष को प्रस्तुत करती है।

बौद्ध-दर्शन और सम्यक्चारित्र

बौद्ध-दर्शन में सम्यक्चारित्र के स्थान पर शील शब्द का प्रयोग हुआ है। बौद्ध-

परम्परा में निर्वाण की प्राप्ति के लिए शील को आवश्यक माना गया है। शील और श्रुत या आचरण और ज्ञान दोनों ही भिक्षु-जीवन के लिए आवश्यक हैं। उसमें भी शील अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। विशुद्धिमार्ग में कहा गया है कि यदि भिक्षु अल्प-श्रुत भी होता है, किन्तु शीलवान है तो शील ही उसकी प्रशंसा का कारण है। उसके लिए श्रुत अपने आप पूर्ण हो जाता है, इसके विपरीत यदि भिक्षु बहुश्रुत भी है किन्तु दुःशील है तो दुःशीलता उसकी निन्दा का कारण है और उसके लिए श्रुत भी सुखदायक नहीं होता है।[1]

शील का अर्थ—बौद्ध आचार्यों के अनुसार जिससे कुशल धर्मों का धारण होता है या जो कुशल धर्मों का आधार है, वह शील है। सद्गुणों के धारण या शीलन के कारण ही उसे शील कहते हैं। कुछ आचार्यों की दृष्टि से शिरार्थ शीलार्थ है, अर्थात् जिस प्रकार शिर के कट जाने पर मनुष्य मर जाता है वैसे ही शील के भंग हो जाने पर सारा गुण रूपी शरीर ही विनष्ट हो जाता है। इसलिए शील को शिरार्थ कहा जाता है।[2]

विशुद्धिमार्ग में शील के चार रूप वर्णित हैं।[3]—१. चेतना शील २. चैत्तसिक शील ३. संवर शील और ४. अनुल्लंघन शील।

१. **चेतना शील**—जीव हिंसा आदि से विरत रहने वाले या व्रत-प्रतिपत्ति (व्रताचार) पूर्ण करनेवाली चेतना ही चेतना शील है। जीव-हिंसा आदि छोड़नेवाले व्यक्ति का कुशल-कर्मों के करने का विचार चेतना शील है।

२. **चैतसिक शील**—जीव हिंसा आदि से विरत रहने वाले की विरति चैतसिक शील है, जैसे वह लोभ रहित चित्त से विहरता है।

३. **संवर शील**—संवर शील पांच प्रकार का है—१. प्रतिमोक्षसंवर, २. स्मृति-संवर, ३. ज्ञानसंवर, ४. क्षांतिसंवर और ५. वीर्यसंवर।

४. **अनुल्लंघन शील**—ग्रहण किये हुए व्रत नियम आदि का उल्लंघन न करना यह अनुल्लंघन शील है।

शील के प्रकार

विसुद्धिमग्ग में शील का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। यहाँ उनमें से कुछ रूप प्रस्तुत हैं।

शील का द्विविध वर्गीकरण[4]

१. चारित्र-वारित्र के अनुसार शील दो प्रकार का माना गया है। भगवान् के द्वारा निर्दिष्ट 'यह करना चाहिए' इस प्रकार विधि रूप में कहे गये शिक्षा-पदों या नियमों का

---

१. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृ० ४९
२. वही, पृ० ९
३. वही, पृ० ८
४. वही, पृ० १३-१४

पालन करना 'चारित्र-शील' है। इसके विपरीत 'यह नहीं करना चाहिए' इस प्रकार निषिद्ध कर्म न करना 'वारित्र-शील' है। चारित्र-शील विधेयात्मक है, वारित्र-शील निषेधात्मक है।

२. निश्रित और अनिश्रित के अनुसार शील दो प्रकार का है। निश्रय दो प्रकार के होते हैं—तृष्णा-निश्रय और दृष्टि-निश्रय। भव-संपत्त को चाहते हुए फलाकांक्षा से पाला गया शील तृष्णा-निश्रित है। मात्र शील से ही विशुद्धि होती है इस प्रकार की की दृष्टि से पाला गया शील दृष्टि-निश्रित है। तृष्णा-निश्रित और दृष्टि-निश्रित दोनों प्रकार के शील निम्न कोटि के हैं। तृष्णा-निश्रय और दृष्टि-निश्रय से रहित शील अनिश्रित-शील है। यही अनिश्रित-शील निर्वाण मार्ग का साधक है।

३. कालिक आधार पर शील दो प्रकार का है। किसी निश्चित समय तक के लिए ग्रहण किया गया शील कालपर्यन्त-शील कहा जाता है जबकि जीवन-पर्यन्त के लिए ग्रहण किया गया शील आप्राणकोटिक शील कहा जाता है। जैन परम्परा में इन्हें क्रमशः इत्वरकालिक और यावत्कथित कहा गया है।

४. सपर्यन्त और अपर्यन्त के आधार पर शील दो प्रकार का है। लाभ, यश, जाति अथवा शरीर के किसी अंग एवं जीवन की रक्षा के लिए जिस शील का उल्लंघन कर दिया जाता है वह सपर्यन्तशील है। उदाहरणार्थ, किसी विशेष शील नियम का पालन करते हुए जाति-शरीर के किसी अंग अथवा जीवन की हानि की सम्भावना को देखकर उस शील का त्याग कर देना। इसके विपरीत जिस शील का उल्लंघन किसी भी स्थिति में नहीं किया जाता, वह अपर्यन्त शील है। तुलनात्मक दृष्टि से ये नैतिकता के सापेक्ष और निरपेक्ष पक्ष हैं। जैन परम्परा में इन्हें अपवाद और उत्सर्ग मार्ग कहा गया है।

५. लौकिक और अलौकिक के आधार पर शील दो प्रकार का है। जिस शील का पालन सामाजिक जीवन के लिए होता है और जो सास्रव है, वह लौकिक शील है। जिस शील का पालन निर्वेद, विराग और विमुक्ति के लिए होता है और जो अनास्रव है वह लोकोत्तर शील है। जैन-परम्परा में इन्हें क्रमशः व्यवहार-चरित्र और निश्चय-चारित्र कहा गया है।

शील का त्रिविध वर्गीकरण[1]

शील का त्रिविध वर्गीकरण पाँच त्रिकों में किया गया है—

१. हीन, मध्यम और प्रणीत के अनुसार शील तीन प्रकार का है। दूसरों की निन्दा की दृष्टि से अथवा उन्हें हीन बताने के लिए पाला गया शील हीन है। लौकिक शील या सामाजिक नियम-मर्यादाओं का पालन मध्यम शील है और लोकोत्तर शील प्रणीत है। एक दूसरी अपेक्षा से फलाकांक्षा से पाला गया शील हीन है। अपनी

१. विशुद्धिमार्ग, पृ० १५-१६

मुक्ति के लिए पाला गया शील मध्यम है और सभी प्राणियों की मुक्ति के लिए पाला गया पारमिता-शील प्रणीत है।

२. आत्माधिपत्य, लोकाधिपत्य और धर्माधिपत्य की दृष्टि से भी शील तीन प्रकार का है। आत्म-गौरव या आत्म-सम्मान के लिए पाला गया शील आत्माधिपत्य है। लोक-निन्दा से बचने के लिए अथवा लोक में सम्मान अर्जित करने के लिए पाला गया शील लोकाधिपत्य है। धर्म के महत्त्व, धर्म के गौरव और धर्म के सम्मान के लिए पाला गया शील धर्माधिपत्य है।

३. परामृष्ट, अपरामृष्ट और प्रतिप्रश्रब्धि के अनुसार शील तीन प्रकार का है। मिथ्यादृष्टि लोगों का आचरण परामृष्ट शील है। मिथ्यादृष्टि लोगों में भी जो कल्याण-कर या शुभ कर्मों में लगे हुए हैं उनका शील अपरामृष्ट है, जब कि सम्यक्‌दृष्टि के द्वारा पाला गया शील प्रतिप्रश्रब्धि शील है।

४. विशुद्ध, अशुद्ध और वैमतिक के अनुसार शील तीन प्रकार का है। आपत्ति या दोष से रहित शील विशुद्ध शील है। आपत्ति या दोषयुक्त शील अविशुद्ध शील है। दोष या उल्लंघन सम्बन्धी बातों के बारे में जो संदेह में पड़ गया है, उसका शील वैमतिकशील है।

५. शैक्ष्य, अशैक्ष्य और न-शैक्ष्य-न-अशैक्ष्य के अनुसार शील तीन प्रकार का है। मिथ्या दृष्टि का शील न-शैक्ष्य-न अशैक्ष्य है। सम्यक्‌दृष्टि का शील शैक्ष्य है और अर्हत् का शील अशैक्ष्य है।

विशुद्धिमग्ग में शील का चतुर्विध और पंचविध वर्गीकरण भी अनेक रूपों में वर्णित है। लेकिन विस्तार भय एवं पुनरावृत्ति के कारण यहाँ उनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं है।

शील का प्रत्युपस्थान—काया की पवित्रता, वाणी की पवित्रता और मन की पवित्रता ये तीन प्रकार की पवित्रताएँ शील के जानने का आकार (प्रत्युपस्थान) है अर्थात् कोई व्यक्ति शीलवान् है या दुःशील है, यह उसके मन, वचन और कर्म की पवित्रता के आधार पर ही जाना जाता है।

शील का पदस्थान—जिन आधारों पर शील ठहरता है, उन्हें शील का पदस्थान कहा जाता है। लज्जा और संकोच इसके पदस्थान हैं। लज्जा और संकोच के होने पर ही शील उत्पन्न होता है और स्थित रहता है, उनके न होने पर न तो उत्पन्न होता और न स्थिर रहता है।

शील के गुण[१]—शील के पाँच गुण हैं-१. शीलवान व्यक्ति अप्रमादी होता है और अप्रमादी होने से वह विपुल धन-सम्पत्ति प्राप्त करता है। २. शील के पालन से व्यक्ति की ख्याति या प्रतिष्ठा बढ़ती है। ३. सचरित्र व्यक्ति को कहीं भी भय और संकोच

१. विशुद्धिमार्ग (भूमिका), पृ० २१

नहीं होता। ४. शीलवान सदैव ही अप्रमत्त चेतनावाला होता है और इसलिए उसके जीवन का अन्त भी जाग्रत चेतना की अवस्था में होता है। ५. शील के पालन से सुगति या स्वर्ग की प्राप्ति है।

अष्टांग साधनापथ और शील—बुद्ध के अष्टांग साधना-पथ में सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् आजीव ये तीन शील-स्कन्ध हैं। यद्यपि मज्झिम निकाय और अभिधर्मकोश व्याख्या के अनुसार शील-स्कन्ध में उपर्युक्त तीनों अंगों का ही समावेश किया गया है[1] लेकिन यदि हम शील को न केवल दैहिक वरन् मानसिक भी मानते हैं तो हमें समाधि-स्कन्ध में से सम्यक्व्यायाम को और प्रज्ञा-स्कन्ध में से सम्यक् संकल्प को ही शील-स्कन्ध में समाहित करना पड़ेगा। क्योंकि संकल्प आचरण का चैतसिक आधार है और व्यायाम उसकी वृद्धि का प्रयत्न। अतः उन्हें शील-स्कन्ध में ही लेना चाहिए।

यदि हम शील-स्कन्ध के तीनों अंग तथा समाधि-स्कन्ध के सम्यक् व्यायाम और प्रज्ञा-स्कन्ध के सम्यक् संकल्प को लेकर बौद्ध-दर्शन में शील के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करें तो उसका चित्र इस प्रकार से होगा—

सम्यक् वाचा	१. मृषावाद विरमण
	२. पिशुनवचन विरमण
	३. पुरुषवचन विरमण
	४ व्यर्थसंलाप विरमण
सम्यक् कर्मान्त	१. अदत्तादान विरमण
	२. प्राणातिपात विरमण
	३. कामेषुमिथ्याचार विरमण
	४. अब्रह्मचर्य विरमण
सम्यक् आजीव	(अ) भिक्षु नियमों के अनुसार भिक्षा प्राप्त करना
	(ब) गृहस्थ नियमों के अनुसार आजीविका अर्जित करना
सम्यक् व्यायाम	१. अनुत्पन्न अकुशल के उत्पन्न नहीं होने देने के लिए प्रयत्न
	२. उत्पन्न अकुशल के प्रहाण के लिए प्रयत्न
	३. अनुत्पन्न कुशल के उत्पादन के लिए प्रयत्न
	४. उत्पन्न कुशल के वैपुल्य के लिए प्रयत्न
सम्यक् संकल्प	१. नैष्कर्म्य संकल्प
	२. अव्यापाद संकल्प
	३. अविहिंसा संकल्प

यदि तुलनात्मक दृष्टि से बौद्ध-दर्शन के शील के स्वरूप पर विचार करें तो ऐसा

१ देखिए—[illegible] नोनास्टिक बुद्धिज्म, पृ० १४२-४३

प्रतीत होता है कि वह जैन-दर्शन की मान्यताओं के निकट ही है। यद्यपि दोनों परम्पराओं में नाम और वर्गीकरण की पद्धतियों का अन्तर है. लेकिन दोनों का आन्तरिक स्वरूप समान ही है। सम्यक् आचरण के लिए जो अपेक्षायें बौद्ध जीवन-पद्धति में की गयी हैं वे ही अपेक्षायें जैन आचार-दर्शन में भी स्वीकृत रही हैं। सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् आजीव के रूप में प्रतिपादित ये विचार जैन दर्शन में भी उपलब्ध हैं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों परम्पराएँ एक दूसरे के काफी निकट रही है।

वैदिक परम्परा में शील या सदाचार

सम्यक् चारित्र को हिन्दू धर्मसूत्रों में शील, सामयाचारिक, सदाचार या शिष्टाचार कहा गया है। गीता की निष्काम कर्म और सेवा की अवधारणाओं को भी सम्यक्चारित्र का पर्यायवाची माना जा सकता है। गीता जिस निष्काम कर्मयोग का प्रतिपादन करती है, वस्तुतः वह मात्र कर्तव्य बुद्धि से एवं कर्ताभाव का अभिमान त्याग कर किया गया ऐसा कर्म है, जिसमें फलाकांक्षा नहीं होती। क्योंकि इस प्रकार का कर्म (आचरण) कर्म-बन्धन कारक नहीं होता है अतः इसे अकर्म भी कहते हैं। उस आचरण को जो बन्धन हेतु न बनकर मुक्ति का हेतु होता है, जैन परम्परा में सम्यक्चारित्र और गीता में निष्काम कर्म या अकर्म कहा गया है। गीता के अनुसार निष्काम कर्म या कर्मयोग के अन्तर्गत दैवीय गुणों अर्थात् अहिंसा, आर्जव, स्वाध्याय, दान, संयम, निर्लोभता, शौच आदि सद्गुणों का सम्पादन, स्वधर्म अर्थात् अपने वर्ण और आश्रम के कर्तव्यों का पालन और लोकसंग्रह (लोक-कल्याणकारी कार्यों का सम्पादन) आता है। इसके अतिरिक्त भगवद्भक्ति एवं अतिथि सेवा भी उसकी चारित्रिक साधना का एक अंग है।

शील—मनुस्मृति में शील, साधुजनों का आचरण (सदाचरण) और मन की प्रसन्नता (इच्छा, आकांक्षा आदि मानसिक विक्षोभों से रहित मन की प्रशान्त अवस्था) को धर्म का मूल बताया गया है।[1] वैदिक आचार्य गोविन्दराज ने शील की व्याख्या रागद्वेष के परित्याग के रूप में की है (शीलं रागद्वेषपरित्याग इत्याह[2])। हारीत के अनुसार ब्रह्मण्यता, देवपितृभक्तिता, सौम्यता, अपरोपतापिता, अनसूयता, मृदुता, अपारुष्य, मैत्रता, प्रियवादिता, कृतज्ञता, शरण्यता, कारुण्य और प्रशन्तता—ये तेरह प्रकार का गुण समूह शील है।[3]

सामयाचारिक—आपस्तम्ब धर्मसूत्र के भाष्य में सामयाचारिक शब्द की व्याख्या निम्न प्रकार की गई है—आध्यात्मिक व्यवस्था को 'समय' (धर्मज्ञसमयः) कहते हैं वह

---

१. मनुस्मृति २।६

२. (अ) मनुस्मृति टीका २।६ (ब) हिन्दू धर्मकोश, पृ० ६३१

३. वही

तीन प्रकार का होता है–विधि, प्रतिषेध और नियम। आचारों का मूल 'समय' (सिद्धांत) में होता है। 'समय' से उत्पन्न होने के कारण वे सामयाचरिक कहलाते हैं।[1] अभ्युदय और निःश्रेयस के हेतु अपूर्व नामक आत्मा के गुण को धर्म कहते हैं। वैदिक परम्परा का यह सामयाचारिक शब्द जैन परम्परा के समाचारी (समयाचारी) और सामयिक के अधिक निकट है। आचारांग में 'समय' शब्द समता के अर्थ में और सूत्र-कृतांग में 'सिद्धांत' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैन परम्परा में समता से युक्त आचार को 'सामायिक' और सिद्धान्त (शास्त्र) से निसृत आचार नियमों को 'समाचारी' कहा गया है। गीता भी शास्त्रविधान के अनुसार आचरण का निर्देश कर सामयाचरिक या समाचारी के पालन की धारणा को पुष्ट करती है।

शिष्टचार—शिष्ट आचार शिष्टाचार कहा जाता है। शिष्ट शब्द की व्याख्या करते हुए वशिष्ठधर्म सूत्र में कहा है कि 'जो स्वार्थमय कामनाओं से रहित है, वह शिष्ट है (शिष्टः पुनरकामात्मा)[2] इस आधार पर शिष्टाचार का अर्थ होगा–निष्काम भाव से किया जाने वाला आचार शिष्टाचार है अथवा निःस्वार्थ व्यक्ति का आचरण शिष्टाचार है। ऐसा आचार धर्म का कारणभूत होने से प्रमाणभूत माना गया है। इस प्रकर यहाँ शिष्टाचार का अर्थ, सामान्यतया शिष्टाचार से हम जो अर्थ ग्रहण करते हैं, उससे भिन्न है। शिष्टा-चार निःस्वार्थ या निष्काम कर्म है। निष्काम कर्म या सेवा की अवधारणा गीता में स्वीकृत है ही और उसे जैन तथा बौद्ध परम्पराओं ने भी पूरी तरह मान्य किया है।

सदाचार—मनु के अनुसार ब्रह्मावर्त में निवास करने वाले चारों वर्णों का जो परम्परागत आचार है वह सदाचार है।[3] सदाचार के तीन भेद हैं—१—देशाचार २—जात्याचार और ३—कुलाचार। विभिन्न प्रदेशों में परम्परागत रूप से चले आते आचार नियम 'देशाचार' कहे जाते हैं। प्रत्येक देश में विभिन्न जातियों के भी अपने-अपने विशिष्ट आचार नियम होते हैं, ये 'जात्याचार' कहे जाते हैं। प्रत्येक जाति के विभिन्न कुलों में भी आचारगत भिन्नताएँ होती हैं—प्रत्येक कुल की अपनी आचार-परम्पराएँ होती हैं, जिन्हें 'कुलाचार' कहा जाता है। देशाचार, कुलाचार और जत्याचार श्रुति और स्मृतियों से प्रतिपादित आचार नियमों के अतिरिक्त होते हैं। सामान्यतया हिन्दू धर्म शास्त्रकारों ने इसके पालन की अनुशंसा की है। यही नहीं, कुछ स्मृतिकारों के द्वारा तो ऐसे आचार नियम श्रुति, स्मृति आदि के विरुद्ध होने पर पालनीय कहे गये हैं। बृहस्पति का तो कहना है—बहुजन और चिरकालमानित देश, जाति और कुल के आचार (श्रुति विरुद्ध होने पर भी) पालनीय हैं, अन्यथा प्रजा में क्षोभ उत्पन्न होता है और राज्य की शक्ति और कोष क्षीण हो जाता है।[4] याज्ञवल्क्य

१. आपस्तम्ब धर्मसूत्र-भाष्य (हरदत्त) १।१।१-३
२. वशिष्ठ-धर्मसूत्र १।६
३. मनुस्मृति २।१७–१८
४. हिन्दू धर्मकोश, पृ० ६२५

ने आचार के अन्तर्गत निम्नलिखित विषय सम्मिलित किये हैं :—१. संस्कार, २. वेदपाठी ब्रह्मचारियों के चारित्रिक नियम, ३. विवाह (पति-पत्नी के कर्तव्य), ४. चार वर्णों एवं वर्णशंकरों के कर्तव्य, ५. ब्राह्मण गृहपति के कर्तव्य, ६. विद्यार्थी जीवन की समाप्ति पर पालनीय नियम, ७. भोजन के नियम, ८. धार्मिक पवित्रता, ९. श्राद्ध, १०. गणपति पूजा, ११. गृहशान्ति के नियम, १२. राजा के कर्तव्य आदि।[२]

यद्यपि सदाचार के उपर्युक्त विवेचन से ऐसा लगता है कि सदाचार का सम्बन्ध नैतिकता या साधनापरक आचार से न होकर लोक-व्यवहार (लोक-रूढ़ि) या बाह्याचार के विधि निषेधों से अधिक है। जब कि जैन-परम्परा के सम्यक् चारित्र का सम्बन्ध साधनात्मक एवं नैतिक जीवन से है। जैनधर्म लोक-व्यवहार की उपेक्षा नहीं करता है फिर भी उसकी अपनी मर्यादाएँ हैं :—

परमात्मा के निकट पायेगा। 'सद्गुणों का सम्पादन और दुर्गुणों से बचाव' एक ऐसा तत्त्व है, जहाँ न केवल सभी भारतीय अपितु अधिकांश पाश्चात्य आचारदर्शन भी सम-स्वर हो उठते हैं। चाहे इनके विस्तार-क्षेत्र एवं प्राथमिकता के प्रश्न को लेकर उनमें मतभेद हो। उनमें विवाद इस बात पर नहीं है कि कौन सद्गुण है और कौन दुर्गुण है, अपितु विवाद इस बात पर है कि किस सद्गुण का किस सीमा तक पालन किया जावे और दो सद्गुणों के पालन में विरोध उपस्थित होने पर किसे प्राथमिकता दी जावे। उदाहरणार्थ 'अहिंसा सद्गुण है' यह सभी मानते हैं किन्तु अहिंसा का पालन किस सीमा तक किया जावे, इस प्रश्न पर मतभेद रखते हैं। इसी प्रकार न्याय्य (जस्टिस) और दयालुता दोनों को सभी ने सद्गुणों के रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु जब न्याय्य और दयालुता में विरोध हो अर्थात् दोनों का एक साथ सम्पादन सम्भव न हो तो किसे प्रधानता दी जावे, इस प्रश्न पर मतभेद हो सकता है। फिर भी सद्गुणों का यथाशक्ति सम्पादन किया जावे इसे सभी स्वीकार करते हैं।

वस्तुतः सम्यक्चारित्र या शील, मन, वचन और कर्म के माध्यम से वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समत्व की संस्थापन का प्रयास है, वह व्यक्ति के जीवन के विभिन्न पक्षों में एक सांग सन्तुलन स्थापित कर उसके आन्तरिक संघर्ष को समाप्त करने की दिशा में उठाया गया कदम है। इतना ही नहीं, वह व्यक्ति के सामाजिक पक्ष का भी संस्पर्श करता है। व्यक्ति और समाज के मध्य तथा समाज और समाज के मध्य होने-वाले संघर्षों की सम्भावनाओं के अवसरों को कम कर सामाजिक समत्व की संस्थापना भी सम्यक्चारित्र का लक्ष्य है।

इन्हीं लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में गृहस्थ और श्रमण के आचारविषयक अनेक सामान्य और विशिष्ट नियमों या विधियों का प्रतिपादन किया गया है।

ने आचार के अन्तर्गत निम्नलिखित विषय सम्मिलित किये हैं :—१. संस्कार, २. वेदपाठी ब्रह्मचारियों के चारित्रिक नियम, ३. विवाह (पति-पत्नी के कर्तव्य), ४. चार वर्णों एवं वर्णशंकरों के कर्तव्य, ५. ब्राह्मण गृहपति के कर्तव्य, ६. विद्यार्थी जीवन की समाप्ति पर पालनीय नियम, ७. भोजन के नियम, ८. धार्मिक पवित्रता, ९. श्राद्ध, १०. गणपति पूजा, ११. गृहशान्ति के नियम, १२. राजा के कर्तव्य आदि।[२]

यद्यपि सदाचार के उपर्युक्त विवेचन से ऐसा लगता है कि सदाचार का सम्बन्ध नैतिकता या साधनापरक आचार से न होकर लोक-व्यवहार (लोक-रूढ़ि) या बाह्याचार के विधि निषेधों से अधिक है। जब कि जैन-परम्परा के सम्यक् चारित्र का सम्बन्ध साधनात्मक एवं नैतिक जीवन से है। जैनधर्म लोक-व्यवहार की उपेक्षा नहीं करता है फिर भी उसकी अपनी मर्यादाएँ हैं :—

(१) उसके अनुसार वही लोक-व्यवहार पालनीय है जिसके कारण सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र (गृहीत व्रत, नियम आदि) में कोई दोष नहीं लगता हो। अतः निर्दोष लोक-व्यवहार ही पालनीय है, सदोष नहीं।

(२) दूसरे यदि कोई आचार (बाह्याचार) निर्दोष है किन्तु लोक-व्यवहार के विरुद्ध है तो उसका आचरण नहीं करना चाहिये (यदपि शुद्धं तदपि लोकविरुद्धं न समाचरेत्) किन्तु इसका विलोम सही नहीं है अर्थात् सदोष आचार लोकमान्य होने पर भी आचरणीय नहीं हैं।

उपसंहार

सामान्यतया जैन, बुद्ध और गीता के आचारदर्शनों में सम्यक्चारित्र, शील एवं सदाचार का तात्पर्य राग-द्वेष, तृष्णा या आसक्ति का उच्छेद रहा है। प्राचीन साहित्य में इन्हें ग्रन्थि या हृदयग्रन्थि कहा गया है। ग्रन्थि का अर्थ गाँठ होता है, गाँठ बाँधने का कार्य करती है, चूँकि ये तत्त्व व्यक्ति को संसार से बाँधते हैं और परमसत्ता से पृथक् रखते हैं इसीलिये इन्हें ग्रन्थि कहा गया है। इस गाँठ का खोलना ही साधना है, चारित्र है या शील है। सच्चा निर्ग्रन्थ वही है जो इस ग्रन्थी का मोचन कर देता है। आचार के समग्र विधि-निषेध इसी के लिये हैं।

वस्तुतः सम्यक्चारित्र या शील का अर्थ काम, क्रोध, लोभ, छल-कपट आदि अशुभ प्रवृत्तियों से दूर रहना है। तीनों ही आचारदर्शन साधक को इनसे बचने का निर्देश देते हैं। जैनपरम्परा के अनुसार व्यक्ति जितना क्रोध, मान, माया (कपट) और लोभ की वृत्तियों का शमन एवं विलयन करेगा उतना ही वह साधना या सच्चरित्रता के क्षेत्र में आगे बढ़ेगा। गीता कहती है जब व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ आदि आसुरी प्रवृत्तियों से ऊपर उठकर अहिंसा, क्षमा आदि दैवी सद्गुणों का सम्पादन करेगा तो वह अपने को

२. वही, पृ० ७४-७५

परमात्मा के निकट पायेगा। 'सद्गुणों का सम्पादन और दुर्गुणों से बचाव' एक ऐसा तत्त्व है, जहाँ न केवल सभी भारतीय अपितु अधिकांश पाश्चात्य आचारदर्शन भी समस्वर हो उठते हैं। चाहे इनके विस्तार-क्षेत्र एवं प्राथमिकता के प्रश्न को लेकर उनमें मतभेद हो। उनमें विवाद इस बात पर नहीं है कि कौन सद्गुण है और कौन दुर्गुण है, अपितु विवाद इस बात पर है कि किस सद्गुण का किस सीमा तक पालन किया जावे और दो सद्गुणों के पालन में विरोध उपस्थित होने पर किसे प्राथमिकता दी जावे। उदाहरणार्थ 'अहिंसा सद्गुण है' यह सभी मानने हैं किन्तु अहिंसा का पालन किस सीमा तक किया जावे, इस प्रश्न पर मतभेद रखते हैं। इसी प्रकार न्याय्य (जस्टिस) और दयालुता दोनों को सभी ने सद्गुणों के रूप में स्वीकार किया गया हैं किन्तु जब न्याय्य और दयालुता में विरोध हो अर्थात् दोनों का एक साथ सम्पादन सम्भव न हो तो किसे प्रधानता दी जावे, इस प्रश्न पर मतभेद हो सकता है। फिर भी सद्गुणों का यथाशक्ति सम्पादन किया जावे इसे सभी स्वीकार करते हैं।

वस्तुतः सम्यक्चारित्र या शील, मन, वचन और कर्म के माध्यम से वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समत्व की संस्थापन का प्रयास है, वह व्यक्ति के जीवन के विभिन्न पक्षों में एक सांग सन्तुलन स्थापित कर उसके आन्तरिक संघर्ष को समाप्त करने की दिशा में उठाया गया कदम है। इतना ही नहीं, वह व्यक्ति के सामाजिक पक्ष का भी संस्पर्श करता है। व्यक्ति और समाज के मध्य तथा समाज और समाज के मध्य होनेवाले संघर्षों की सम्भावनाओं के अवसरों को कम कर सामाजिक समत्व की संस्थापना भी सम्यक्चारित्र का लक्ष्य है।

इन्हीं लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में गृहस्थ और श्रमण के आचारविषयक अनेक सामान्य और विशिष्ट नियमों या विधियों का प्रतिपादन किया गया है।

●

७ सम्यक् तप तथा योग-मार्ग

सामान्य रूप में जैन-आगमों में साधना का त्रिविध-मार्ग प्रतिपादित है, लेकिन प्राचीन आगमों में एक चतुर्विध मार्ग का भी वर्णन मिलता है। उत्तराध्ययन और दर्शन-पाहुड में चतुर्विध मार्ग का वर्णन है।[1] साधना का चौथा अंग 'सम्यक् तप' कहा गया है। जैसे गीता में ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग के साथ साथ ध्यानयोग का भी निरूपण है, वैसे ही जैनपरम्परा में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के साथ साथ सम्यक् तप का भी उल्लेख है। परवर्ती परम्पराओं में ध्यानयोग का अन्तर्भाव कर्मयोग में और सम्यक् तप का अन्तर्भाव सम्यक्चारित्र में हो गया। लेकिन प्राचीन युग में जैनपरम्परा में सम्यक् तप का, बौद्ध परम्परा में समाधि मार्ग का तथा गीता में ध्यानयोग का स्वतंत्र स्थान रहा है। अतः तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यहाँ सम्यक् तप का विवेचन स्वतंत्र रूप में किया जा रहा है।

साधारणतः यह मान लिया जाता है कि जैन परम्परा में ध्यानमार्ग या समाधिमार्ग का विधान नहीं है, लेकिन यह धारणा भ्रान्त ही है। जिस प्रकार योग परम्परा में अष्टांगयोग का विधान है, उसी प्रकार जैन परम्परा में इस योगमार्ग का विधान द्वादशांग रूप में हुआ है। इसे ही सम्यक् तप का मार्ग कहा जाता है। जैन परम्परा के सम्यक् तप की गीता के ध्यानयोग तथा बौद्ध परम्परा के समाधिमार्ग से बहुत कुछ समानता है, जिस पर हम अगले पृष्ठों में विचार करेंगे।

नैतिक जीवन एवं तप—तपस्यामय जीवन एवं नैतिक जीवन परस्पर सापेक्ष पद हैं। त्याग या तपस्या के बिना नैतिक जीवन की कल्पना अपूर्ण है। तप नैतिक जीवन का ओज है, शक्ति है। तप-शून्य नैतिकता खोखली है, तप नैतिकता की आत्मा है। नैतिकता का विशाल प्रासाद तपस्या की ठोस बुनियाद पर स्थित है।

नैतिक जीवन की साधना-प्रणाली, चाहे उसका विकास पूर्व में हुआ हो या पश्चिम में, हमेशा तप से ओतप्रोत रही है। नैतिकता की सैद्धान्तिक व्याख्या चाहे 'तप' के अभाव में सम्भव हो, लेकिन नैतिक जीवन तप के अभाव में सम्भव नहीं।

नैतिक व्याख्या का निम्नतम सिद्धान्त भी, जो वैयक्तिक सुखों की उपलब्धि में ही नैतिक साधना की इतिश्री मान लेता है, तप-शून्य नहीं हो सकता। यह सिद्धान्त उस मनोवैज्ञानिक तथ्य को स्वीकार करके चलता है कि वैयक्तिक जीवन में भी इच्छाओं का संघर्ष चलता रहता है और बुद्धि उनमें से किसी एक को चुनती है, जिसकी सन्तुष्टि

१. उत्तराध्ययन, २८।२,३,३५, दर्शनपाहुड, ३२

की जाती है और यह सन्तुष्टि ही सुख उपलब्धि का साधन बनती है। लेकिन विचार पूर्वक देखें तो यहाँ भी त्यागभावना मौजूद है, चाहे अपनी अल्पतम मात्रा में ही क्यों न हो, क्योंकि यहाँ भी बुद्धि की बात मानकर हमें संघर्षशील वासनाओं में एक समय के लिए एक का त्याग करना ही होता है। त्याग की भावना ही तप है। दूसरे तप का एक अर्थ होता है—प्रयत्न, प्रयास, और इस अर्थ में भी वहाँ 'तप' है, क्योंकि वासना की पूर्ति भी बिना प्रयास के सम्भव नहीं है। लेकिन यह सब तो तप का निम्नतम रूप है, यह उपादेय नहीं है। हमारा प्रयोजन तो यहाँ मात्र इतना दिखाना था कि कोई भी नैतिक प्रणाली तपःशून्य नहीं हो सकती।

जहाँ तक भारतीय नैतिक विचारधाराओं की, आचार-दर्शनों की, बात है, उनमें से लगभग सभी का जन्म 'तपस्या' की गोद में हुआ, सभी उसीमें पले एवं विकसित हुए हैं। यहाँ तो घोर भौतिकतावादी अजित-केसकम्बलिन् और नियतिवादी गोशालक भी तप-साधना में प्रवृत्त रहते हैं, फिर दूसरी विचार सरणियों में निहित तप के महत्त्व पर तो शंका करने का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, विभिन्न विचार-सरणियों में तपस्या के लक्ष्य के सम्बन्ध में मत-भिन्नता हो सकती है, तप के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार-भेद हो सकता है, लेकिन तपस्या के तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता।

तप-साधना भारतीय नैतिक जीवन एवं संस्कृति का प्राण है। श्री भरतसिंह उपाध्याय के शब्दों में "भारतीय संस्कृति में जो कुछ भी शाश्वत है, जो कुछ भी उदात्त एवं महत्त्व-पूर्ण तत्त्व है, वह सब तपस्या से ही सम्भूत है, तपस्या से ही इस राष्ट्र का बल या ओज उत्पन्न हुआ है....तपस्या भारतीय दर्शनशास्त्र की ही नहीं, किन्तु उसके समस्त इतिहास की प्रस्तावना है....प्रत्येक चिन्तनशील प्रणाली चाहे वह आध्यात्मिक हो चाहे आधिभौतिक, सभी तपस्या की भावना से अनुप्राणित हैं....उसके वेद, वेदांग, दर्शन, पुराण, धर्मशास्त्र आदि सभी विद्या के क्षेत्र जीवन की साधनारूप तपस्या के एक-निष्ठ उपासक हैं।"[1]

भारतीय नैतिक जीवन या आचार-दर्शन में तप के महत्त्व को अधिक स्पष्ट करते हुए काका कालेलकर लिखते हैं, "बुद्धकालीन भिक्षुओं की तपश्चर्या के परिणामस्वरूप ही अशोक के साम्राज्य का और मौर्य (कालीन) संस्कृति का विस्तार हो पाया। शंकराचार्य की तपश्चर्या से हिन्दू धर्म का संस्करण हुआ। महावीर की तपस्या से अहिंसा धर्म का प्रचार हुआ।........बंगाल के चैतन्य महाप्रभु (जो) मुखशुद्धि के हेतु एक हर्रे भी नहीं रखते थे, उन्हीं से बंगाल की वैष्णव संस्कृति विकसित हुई।"[2]

यह सब तो भूतकाल के तथ्य हैं, लेकिन वर्तमान युग का जीवन्त तथ्य है गांधी

१. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ७१–७२।
२. जीवनसाहित्य, द्वितीय भाग, पृ० १९७-१९८

और अन्य भारतीय नेताओं का तपोमय जीवन, जिसने अहिंसक क्रान्ति के आधार पर देश को स्वतन्त्रता प्रदान की। वस्तुतः तपोमय जीवन प्रणाली ही भारतीय नैतिकता का उज्ज्वलतम पक्ष है और उसके विना भारतीय आचार-दर्शन को चाहे वह जैन, वौद्ध या हिन्दू आचार-दर्शन हो, समुचित रूप से समझा नहीं जा सकता। नीचे तप के महत्त्व, लक्ष्य, प्रयोजन एवं स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न भारतीय साधना पद्धतियों के दृष्टि-कोणों को देखने एवं उनका समीक्षात्मक दृष्टि से मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है।

जैन साधना-पद्धति में तप का स्थान—जैन तीर्थंकरों एवं विशेषकर महावीर का जीवन ही, जैन-साधना में तप के स्थान का निर्धारण करने के हेतु एक सवलतम साक्ष्य है। महावीर के साधनाकाल (साढ़े बारह वर्ष) में लगभग ग्यारह वर्ष तो निराहार गिने जा सकते हैं। महावीर का यह सारा साधना-काल स्वाध्याय, आत्म-चिन्तन, ध्यान और कायोत्सर्ग से भरा है। जिस आचार-दर्शन का शास्ता अपने जागृत जीवन में तप का ऐसा उज्ज्वलतम उदाहरण प्रस्तुत करता हो, उसकी साधना-पद्धति तपः शून्य कैसे हो सकती है ? उस शास्ता का तपोमय जीवन अतीत से वर्तमान तक जैन साधकों को तप-साधना की प्रेरणा देता रहा है। आज भी सैकड़ों जैन साधक ऐसे मिलेंगे जो ८-१० दिन ही नहीं, वरन् एक और दो-दो माह तक केवल उष्ण जल पर रहकर तप-साधना करते हैं, ऐसे अनेक होंगे जिनके भोजन के दिनों का योग वर्ष में दो-तीन माह से अधिक नहीं बैठता, शेष सारा समय उपवास आदि तपस्या में व्यतीत होता है।

जैन-साधना समत्वयोग की साधना है और यही समत्वयोग आचरण के व्यावहारिक क्षेत्र में अहिंसा वन जाता है, और यही अहिंसा निषेधात्मक साधना-क्षेत्र में संयम कही जाती है और संयम ही क्रियात्मक रूप में तप है। अहिंसा, संयम और तप अपनी गहन विवेचना में एक दूसरे के पर्यायवाची ही प्रतीत होते हैं। अभिव्यंजना की दृष्टि से चाहे तो हम इन्हें अलग रख सकते हैं और उसी अपेक्षा में अलग-अलग अर्थ भी ध्वनित करते हैं। अहिंसा, संयम और तप मिलकर ही धर्म के समग्र स्वरूप को उपस्थित करते हैं। संयम और तप अहिंसा की दो पांखे हैं। जिनके बिना अहिंसा की गति एवं विकास अवरुद्ध हो जाता है।

तप और संयम से युक्त अहिंसा-धर्म की मंगलमयता का उद्घोष करते हुए जैनाचार्य कहते हैं—'धर्म मंगलमय है, कौन सा धर्म ? अहिंसा, संयम और तपमय धर्म ही सर्वोत्कृष्ट तथा मंगलमय है। जो इस धर्म के पालन में दत्तचित्त है उसे मनुष्य तो क्या, देवता भी नमन करते हैं।[1]

जैन-साधना का लक्ष्य मोक्ष या शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि है और जो केवल तप

१. दशवैकालिक, १।१

साधना (अविपाक निर्जरा) से ही सम्भव है। जैन साधना में तप का क्या स्थान है, इस तथ्य के साक्षी जैनागम ही नहीं है वरन् बौद्ध और हिन्दू आगमों में भी जैन-साधना के तपोमय स्वरूप का वर्णन उपलब्ध होता है।[1]

हिन्दू साधना-पद्धति में तप का स्थान—वैदिक साधना चाहे प्रारम्भिक काल में तप प्रधान (निवृत्तिपरक) न रही हो, लेकिन विकासचरण में श्रमण-परम्परा से प्रभावित हो, समन्वित हो, तपोमय साधना से युक्त हो गयी, वैदिक ऋषि तप की महत्ता का सबलतम शब्दों में उद्घोष करते हैं। वे कहते हैं, तपस्या से ही ऋत और सत्य उत्पन्न हुए,[2] तपस्या से ही वेद उत्पन्न हुए[3], तपस्या से ही ब्रह्म खोजा जाता है[4], तपस्या से ही मृत्यु पर विजय पायी जाती है और ब्रह्मलोक प्राप्त किया जाता है।[5] तपस्या के द्वारा ही तपस्वी-जन लोक-कल्याण का विचार करते हैं[6] और तपस्या से ही लोक में विजय प्राप्त की जाती है।[7] इतना ही नहीं, वे तो तप रूप साधन को साध्य के तुल्य मानते हुए कहते हैं—"तप ही ब्रह्म है।" जैन-साधना में भी तप को आत्म-गुण मानकर उसे साध्य और साधन दोनों रूप में स्वीकार किया गया है।[8]

आचार्य मनु कहते हैं कि तपस्या से ऋषिगण त्रैलोक्य के चराचर प्राणियों को देखते हैं,[9] जो कुछ भी दुर्लभ और दुस्तर इस संसार में है, वह सब तपस्या से साध्य है। तपस्या की शक्ति दूरतिक्रम है।[10] महापातकी और निम्न आचरण करनेवाले भी तपस्या से तप्त होकर किल्विषी योनि से मुक्त हो जाते हैं।[11]

तप की महत्ता के सम्बन्ध में और भी सैकड़ों साक्ष्य हिन्दू आगम ग्रन्थों से प्रस्तुत किये जा सकते हैं। लेकिन विस्तार-भय से केवल गोस्वामी तुलसीदास जी के दो चरण प्रस्तुत करना पर्याप्त होगा—वे कहते हैं, **तप सुखप्रद सब दोष नसावा** तथा **'करउ जाइ तप अस जिय जानी।'**

बौद्ध साधना-पद्धति में तप का स्थान—यह स्पष्ट तथ्य है कि 'तप' शब्द आचार के जिस कठोर अर्थ में जैन और हिन्दू परम्परा में प्रयुक्त हुआ है, वह बौद्ध साधना में उसकी मध्यममार्गी साधना के कारण उतने कठोर अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। बौद्ध साधना में तप का अर्थ है—चित्त शुद्धि का सतत प्रयास। बौद्ध-साधना तप को प्रयत्न

१. देखिए—श्रीमद्भागवत, ५।२, मज्झिमनिकाय-चूल दुक्खक्खन्ध सुत्त
२. ऋग्वेद, १०।१९०।१
३. मनुस्मृति, ११।२४३
४. मुण्डकोपनिषद्, १।१।८
५. अथर्ववेद, ११।३।५।१९
६. वही, १९।५।४१
७. शतपथब्राह्मण, ३।४।४।२७
८. उत्तराध्ययन, २८।११, तैत्तिरीय उपनिषद्, ३।२।३।४
९. मनुस्मृति, ११।२३७
१०. वही, ११।२३८
११. वही, ११।२३९

या प्रयास के अर्थ में ही ग्रहण करती है और इसी अर्थ में बौद्ध साधना तप का महत्त्व स्वीकार करके चलती है। भगवान् बुद्ध महामंगलसुत्त में कहते हैं कि तप, ब्रह्मचर्य, आर्यसत्यों का दर्शन और निर्वाण का साक्षात्कार ये उत्तम मंगल हैं।[1] इसी प्रकार कासिभारद्वाजसुत्त में भी तथागत कहते हैं, मैं श्रद्धा का बीज बोता हूँ, उस पर तपश्चर्या की वृष्टि होती है—शरीर वाणी से संयम रखता हूँ और आहार से नियमित रहकर सत्य द्वारा मैं (मन-दोषों की) गोड़ाई करता हूँ।[2] दिट्ठिवज्जसुत्त में शास्ता कहते हैं, "किसी तप या व्रत के करने से किसी के कुशल धर्म बढ़ते हैं, अकुशल धर्म घटते हैं, तो उसे अवश्य करना चाहिए।"[3]

बुद्ध स्वयं अपने को तपस्वी कहते हैं—'ब्राह्मण, यही कारण है कि जिससे मैं तपस्वी हूँ।'

बुद्ध का जीवन तो कठिनतम तपस्याओं से भरा हुआ है। उनके अपने साधना-काल एवं पूर्वजन्मों का इतिहास एवं वर्णन जो हमें बौद्धागमों में उपलब्ध होता है, उनके तपोमय जीवन का साक्षी है। मज्झिमनिकाय महासीहनादसुत्त में बुद्ध सारिपुत्त से अपनी कठिन तपश्चर्या का विस्तृत वर्णन करते हैं।[4] इतना ही नहीं, सुत्तनिपात के पवज्जासुत्त में बुद्ध बिंबिसार (राजा श्रेणिक) से कहते हैं कि अब मैं तपश्चर्या के लिए जा रहा हूँ, उस मार्ग में मेरा मन रमता है।[5]

यद्यपि उपर्युक्त तथ्य बुद्ध के जीवन की तप-साधना के महत्त्वपूर्ण साक्ष्य हैं फिर भी यह सुनिश्चित है कि बुद्ध ने तपश्चर्या के द्वारा देह-दण्डन की प्रक्रिया को निर्वाण-प्राप्ति में उपयोगी नहीं माना। उसका अर्थ इतना ही है कि बुद्ध अज्ञानमूलक देह-दण्डन को निर्वाण के लिए उपयोगी नहीं मानते थे, ज्ञान-युक्त तप-साधना तो उन्हें भी मान्य थी। श्री भरतसिंह उपाध्याय के शब्दों में भगवान् बुद्ध की तपस्या में मात्र शारीरिक यन्त्रणा का भाव बिलकुल नहीं था, किन्तु वह सर्वथा सुख-साध्य भी नहीं थी।[6] डा० राधाकृष्णन् का कथन है, 'यद्यपि बुद्ध ने कठोर तपश्चर्या की आलोचना की, फिर भी यह आश्चर्यजनक है कि बौद्ध-श्रमणों का अनुशासन किसी भी ब्राह्मण ग्रन्थ में वर्णित अनुशासन (तपश्चर्या) से कम कठोर नहीं है। यद्यपि बुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टि से तपश्चर्या के अभाव में भी निर्वाण की उपलब्धि सम्भव मानते हैं, तथापि व्यवहार में तप उनके अनुसार आवश्यक प्रतीत होता है।'[7]

१. सुत्तनिपात, १६।१०
२. वही, ४।२
३. अंगुत्तरनिकाय, दिट्ठिवज्जसुत्त
४. मज्झिमनिकाय–महासीहनादसुत्त
५. सुत्तनिपात, २७।२०
६. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीयदर्शन, पृ० ४
७. इण्डियन फिलासफी, भाग १, पृ० ४३६

बुद्ध के परिनिर्वाण के उपरान्त भी बौद्ध भिक्षुओं में धुतंग (जंगल में रह कर विविध प्रकार की तपश्चर्या करनेवाले) भिक्षुओं का काफी महत्त्व था। विसुद्धिमग्ग एवं मिलिन्दप्रश्न में ऐसे धुतंगों की प्रशंसा की गई है। दीपवंश में कश्यप के विषय में लिखा है कि वे धुतवादियों के अगुआ थे। (धुतवादानं अग्गो सो कस्सपो जिन-सासने)। ये सब तथ्य बौद्ध-दर्शन एवं आचार में तप का महत्त्व बताने के लिए पर्याप्त हैं।

तप के स्वरूप का विकास—जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में हमने तप के महत्त्व को देखा। लेकिन तप के स्वरूप को लेकर इन परम्पराओं में सैद्धान्तिक अन्तर भी है। पौराणिक ग्रन्थों तथा जैन एवं बौद्ध आगमों में तपस्या के स्वरूप का क्रमिक ऐतिहासिक विकास उपलब्ध होता है। पं० सुखलालजी तप के स्वरूप के ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध में लिखते हैं कि 'ऐसा ज्ञात होता है कि तप का स्वरूप स्थूल में से सूक्ष्म की ओर क्रमशः विकसित होता गया है—तपोमार्ग का विकास होता गया और उसके स्थूल-सूक्ष्म अनेक प्रकार साधकों ने अपनाये। तपोमार्ग अपने विकास में चार भागों में बाँटा जा सकता है—एक अवधूत साधना, २. तापस साधना, ३. तपस्वी साधना और ४. योग साधना। जिनमें क्रमशः तप के सूक्ष्म प्रकारों का उपयोग होता गया, तप का स्वरूप बाह्य से आभ्यन्तर बनता गया। साधना देह-दमन से चित्तवृत्ति के निरोध की ओर बढ़ती गई।[1] जैन-साधना तपस्वी एवं योग-साधना का समन्वित रूप में प्रतिनिधित्व करती है जबकि बौद्ध एवं गीता के आचार-दर्शन योग-साधना का प्रतिनिधित्व करते हैं। फिर भी वे सभी अपने विकास के मूल केन्द्र से पूर्ण अलग नहीं हैं। जैन आगम आचारांगसूत्र का धूत अध्ययन, बौद्ध ग्रन्थ विसुद्धिमग्ग का धूतंगनिद्देस और हिन्दू साधना की अवधूत गीता इन आचार-दर्शनों के किसी एक ही मूल केन्द्र की ओर इंगित करते हैं। जैन-साधना का तपस्वी-मार्ग तापस-मार्ग का ही अहिंसक संस्करण है।[2] बौद्ध और जैन विचारणा में जो विचार-भेद है, उसके पीछे एक ऐतिहासिक कारण है। यदि मज्झिमनिकाय के बुद्ध के उस कथन को ऐतिहासिक मूल्य का समझा जाये तो यह प्रतीत होता है कि बुद्ध ने अपने प्रारम्भिक साधक जीवन में बड़े कठोर तप किये थे। पं० सुखलालजी लिखते हैं कि उस निर्देश को देखते हुए ऐसा कहा जा सकता है कि अवधूत मार्ग (तप का अत्यन्त स्थूल रूप) में जिस प्रकार के तपोमार्ग का आचरण किया जाता था बुद्ध ने वैसे ही उग्र तप किये थे। गोशालक और महावीर तपस्वी तो थे ही, परन्तु उनकी तपश्चर्या में न तो अवधूतों की और न तापसों की तपश्चर्या का अंश था। उन्होंने बुद्ध जैसे तप-व्रतों का आचरण नहीं किया।—बुद्ध तप की उत्कट कोटि पर पहुँचे थे, परन्तु जब उसका परिणाम उनके लिए सन्तोषप्रद नहीं आया, तब

---

१. समदर्शी हरिभद्र, पृ० ६७ २. वही, पृ० ६७

वे ध्यानमार्ग की ओर अभिमुख हुए और तप को निरर्थक मानने और मनवाने लगे। शायद यह उनके उत्कट देह-दमन की प्रतिक्रिया हो।[१]

गीता में भी तप के योगात्मक स्वरूप पर ही अधिक बल दिया गया है। गीता में तप की महिमा तो बहुत गायी गई है,[२] लेकिन गीताकार का झुकाव देह-दण्डन पर नहीं है, वरन् उसने तो ऐसे तप को निम्नस्तर का माना है।[३] गीताकार ने 'तपस्विभ्योऽधिकोयोगी'[४] कहकर इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट कर दिया है। बौद्ध-परम्परा और गीता तप के योग पक्ष पर ही अधिक बल देती हैं, जब कि जैन-दर्शन में उसके पूर्व रूप भी स्वीकृत रहे हैं। जैन-दर्शन का विरोध तप के उस रूप से रहा है जो अहिंसक दृष्टिकोण के विपरीत जाता है। बुद्ध ने यद्यपि योगमार्ग पर अधिक बल दिया और ध्यान की पद्धति को विकसित किया है, तथापि तपस्या-मार्ग का उन्होंने स्पष्ट विरोध भी नहीं किया। उनके भिक्षुक धुतंग व्रत के रूप में इस तपस्या-मार्ग का आचरण करते थे।

जैन-साधना में तप का प्रयोजन—तप यदि नैतिक जीवन की एक अनिवार्य प्रक्रिया है तो उसे किसी लक्ष्य के निमित्त होना चाहिए। अतः यह निश्चय कर लेना भी आवश्यक है कि तप का उद्देश्य और प्रयोजन क्या है ?

जैन-साधना का लक्ष्य शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि है, आत्मा का शुद्धिकरण है। लेकिन यह शुद्धिकरण क्या है ? जैन दर्शन यह मानता है कि प्राणी कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं के माध्यम से कर्म वर्गणाओं के पुद्गलों (Karmic Matter) को अपनी ओर आकर्षित करता है और ये आकर्षित कर्म-वर्गणाओं के पुद्गल राग-द्वेष या कषाय-वृत्ति के कारण आत्मतत्त्व से एकीभूत हो, उसकी शुद्ध सत्ता, शक्ति एवं ज्ञान ज्योति को आवरित कर देते हैं। यह जड़ तत्त्व एवं चेतन तत्त्व का संयोग ही विकृति है।

अतः शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि के लिये आत्मा की स्वशक्ति को आवरित करने वाले कर्म पुद्गलों का विलगाव आवश्यक है। पृथक् करने की इस क्रिया को निर्जरा कहते हैं जो दो रूपों में सम्पन्न होती है। जब कर्म पुद्गल अपनी निश्चित अवधि के पश्चात् अपना फल देकर स्वतः अलग हो जाते हैं, वह सविपाक निर्जरा है, लेकिन यह नैतिक साधना का मार्ग नहीं है। नैतिक साधना तो सप्रयास है। प्रयासपूर्वक कर्म-पुद्गलों को आत्मा से अलग करने की क्रिया को अविपाक निर्जरा कहते हैं और तप ही वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा अविपाक निर्जरा होती है।

इस प्रकार तप का प्रयोजन है प्रयासपूर्वक कर्म-पुद्गलों को आत्मा से अलग कर आत्मा की स्वशक्ति को प्रकट करना है और यही शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि है। यही

१. समदर्शी हरिभद्र, पृ० ६७-६८
२. गीता, १८।५
३. वही, १७।६,१९
४. वही, ६।४६

आत्मा का विशुद्धिकरण है, यही तप-साधना का लक्ष्य है। उत्तराध्ययनसूत्र में भगवान महावीर तप के विषय में कहते हैं कि तप आत्मा के परिशोधन की प्रक्रिया है।[१] आबद्ध कर्मों के क्षय करने की पद्धति है।[२] तप के द्वारा ही महर्षिगण पूर्व पापकर्मों को नष्ट करते हैं।[३] तप का मार्ग राग-द्वेष-जन्य पाप-कर्मों के बंधन को क्षीण करने का मार्ग है, जिसे मेरे द्वारा सुनो।[४]

इस तरह जैन-साधना में तप का उद्देश्य या प्रयोजन आत्म-परिशोधन, पूर्वबद्ध कर्म-पुद्गलों का आत्म-तत्त्व से पृथक् करण और शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि ही सिद्ध होता है।

वैदिक साधना में तप का प्रयोजन—वैदिक साधना, मुख्यतः औपनिषदिक साधना का लक्ष्य आत्मन् या ब्रह्मन् की उपलब्धि रहा है। औपनिषदिक विचारधारा स्पष्ट उद्घोषणा करती है तप से ब्रह्म खोजा जाता है,[५] तपस्या से ही ब्रह्म को जानो।[६] इतना ही नहीं औपनिषदिक विचारधारा में भी जैन-विचार के समान तप को शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि का साधन माना गया है। मुण्डकोपनिषद् के तीसरे मुण्डक में कहा है, यह आत्मा (जो ज्योतिर्मय और शुद्ध है) तपस्या और सत्य के द्वारा ही पाया जाता है।[७]

औपनिषदिक परम्परा एक अन्य अर्थ में भी जैन-परम्परा से साम्य रखते हुए कहती है कि तप के द्वारा कर्म-रज दूर कर मोक्ष प्राप्त किया जाता है। मुण्डकोपनिषद् के द्वितीय मुण्डक का ११ वाँ श्लोक इस सन्दर्भ में विशेष रूप से द्रष्टव्य है। कहा है—"जो शान्त विद्वान्जन वन में रह कर भिक्षाचर्या करते हुए तप और श्रद्धा का सेवन करते हैं, वे विरज हो (कर्म-रज को दूर कर) सूर्य द्वार (ऊर्ध्व मार्गों) से वहाँ पहुँच जाते हैं जहाँ वह पुरुष (आत्मा) अमृत्य एवं अव्यय आत्मा के रूप में निवास करता है।"[८]

वैदिक परम्परा में जहाँ तप आध्यात्मिक शुद्धि अथवा आत्म-शुद्धि का साधन है वहीं उसके द्वारा होने वाली शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि के महत्त्व का भी अंकन किया गया है। उसका आध्यात्मिक जीवन के साथ ही साथ भौतिक जीवन से भी सम्बन्ध जोड़ा गया है और जीवन के सामान्य व्यवहार के क्षेत्र में तप का क्या प्रयोजन है, यह स्पष्ट दर्शाया गया है। महर्षि पतंजलि कहते हैं, तप से अशुद्धि का क्षय होने से शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि (सिद्धि) होती है।[९]

बौद्ध-साधना में तप का प्रयोजन—बौद्ध-साधना में तप का प्रयोजन पापकारक

१. उत्तराध्ययन, २८।३५
२. वही २९।२७
३. वही, २८।३६,३०।६
४. वही, ३०।१
५. मुण्डकोपनिषद्, १।१।८
६. तैत्तिरीय उपनिषद्, ३।२।३।४
७. मुण्डकोपनिषद्, ३।३।५
८. वही, २।११
९. योगसूत्र, साधनपाद, ४३

अकुशल धर्मों को तपा डालना है । इस सन्दर्भ में बुद्ध और निर्ग्रन्थ उपासक सिंह सेनापति का सम्वाद पर्याप्त प्रकाश डालता है । बुद्ध कहते हैं "हे सिंह, एक पर्याय ऐसा है जिससे सत्यवादी मनुष्य मुझे तपस्वी कह सके ।" वह पर्याय कौनसा है ? हे सिंह, मैं कहता हूँ कि पापकारक अकुशल धर्मों को तपा डाला जाय । जिसके पापकारक अकुशल धर्म गल गये, नष्ट हो गये, फिर उत्पन्न नहीं होते, उसे मैं तपस्वी कहता हूँ ।"[४] इस प्रकार बौद्ध साधना में भी जैन-साधना के समान आत्मा की अकुशल चित्तवृत्तियों या पाप वासनाओं के क्षीण करने के लिए तप स्वीकृत रहा है ।

जैन-साधना में तप का वर्गीकरण

जैन आचार-प्रणाली में तप के बाह्य (शारीरिक) और आभ्यन्तर (मानसिक) ऐसे दो भेद हैं ।[१] इन दोनों के भी छह-छह भेद हैं ।

(१) **बाह्य तप**—१. अनशन, २. ऊनोदरी, ३. भिक्षाचर्या, ४. रस-परित्याग ५. कायक्लेश और ६. संलीनता ।

(२) **आभ्यन्तर तप**—१. प्रायश्चित्त, २. विनय, ३. वैयावृत्य, ४. स्वाध्याय, ५. ध्यान और ६. व्युत्सर्ग ।

शारीरिक या बाह्य तप के भेद[२]

१. **अनशन**—आहार के त्याग को अनशन कहते हैं । यह दो प्रकार का है—एक निश्चित समयावधि के लिए किया हुआ आहार-त्याग, जो एक दिन से लगा कर छह मास तक का होता है । दूसरा जीवन-पर्यन्त के लिए किया हुआ आहार-त्याग । जीवन-पर्यन्त के लिए आहार-त्याग की अनिवार्य शर्त यह है कि उस अवधि में मृत्यु की आकांक्षा नहीं होनी चाहिए । आचार्य पूज्यपाद के अनुसार आहार-त्याग का उद्देश्य आत्म-संयम, आसक्ति में कमी करना, ध्यान, ज्ञानार्जन और कर्मों की निर्जरा है, न कि सांसारिक उद्देश्यों की पूर्ति ।[3] अनशन में मात्र देह-दण्ड नहीं है, वरन् आध्यात्मिक गुणों की उपलब्धि का उद्देश्य निहित है । स्थानांग सूत्र में आहार ग्रहण करने के और आहार त्याग के छह-छह कारण बताये गये हैं । उसमें भूख की पीडा की निवृत्ति, सेवा, ईर्यापथ, संयमनिर्वाहार्थ, धर्मचिन्तार्थ और प्राणरक्षार्थ ही आहार 'ग्रहण' करने की अनुमति है ।

(२) **ऊनोदरी (अवमौदर्य)**—इस तप मे आहार विषयक कुछ स्थितियाँ या शर्तें निश्चित की जाती हैं । इसके चार प्रकार हैं—१. आहार की मात्रा से कुछ कम खाना, यह द्रव्य-ऊनोदरी तप है । २. भिक्षा के लिए, आहार के लिए कोई स्थान निश्चित कर वहीं से मिली भिक्षा लेना, यह क्षेत्रऊनोदरी तप है । ३. किसी निश्चित समय पर

---

४. बुद्धलीलासारसंग्रह, पृ० २८०-२८१
१. उत्तराध्ययन ३०।७
२. वही, ३०।८-२८
३. सर्वार्थसिद्धि, ९।१९

आहार लेना यह काल-ऊनोदरी तप है। ४. भिक्षा-प्राप्ति के लिए या आहार के लिए किसी शर्त (अभिग्रह) का निश्चय कर लेना, यह भाव-ऊनोदरीतप है। संक्षेप में ऊनोदरी तप वह है जिसमें किसी विशेष समय एवं स्थान पर, विशेष प्रकार से उपलब्ध आहार को अपनी आहार की मात्रा से कम मात्रा में ग्रहण किया जाता है। मूलाचार के अनुसार ऊनोदरी तप की आवश्यकता निद्रा एवं इन्द्रियों के संयम के लिए तथा तप एवं षट् आवश्यकों के पालन के लिए है।[1]

३. **रस-परित्याग**—भोजन में दूध, दही, घृत, तैल, मिष्ठान्न आदि, सबका या उनमें से किसी एक का ग्रहण न करना रस-परित्याग तप है। रस-परित्याग स्वाद-जय है। नैतिक जीवन की साधना के लिए स्वाद-जय आवश्यक है। महात्मा गांधी ने ग्यारह व्रतों का विधान किया, उसमें अस्वाद भी एक व्रत है। रस-परित्याग का तात्पर्य यह है कि साधक स्वाद के लिए नहीं, वरन् शरीर-निर्वाह अथवा साधना के लिए आहार करता है।

४. **भिक्षाचर्या**—भिक्षा-विषयक विभिन्न विधि-नियमों का पालन करते हुए भिक्षान्न पर जीवन यापन करना भिक्षाचर्या तप है। इसे वृत्तिपरिसंख्यान भी कहा गया है। इसका बहुत कुछ सम्बन्ध भिक्षुक जीवन से है। भिक्षा के सम्बन्ध में पूर्व निश्चय कर लेना और तदनुकूल ही भिक्षा ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान है। इसे अभिग्रह तप भी कहा गया है।

५. **कायक्लेश**—वीरासन, गोदुहासन आदि विभिन्न आसन करना, शीत या उष्णता सहन करने का अभ्यास करना कायक्लेश तप है। कायक्लेश तप चार प्रकार का है—१. आसन, २. आतापना—सूर्य की रश्मियों का ताप लेना, शीत को सहन करना एवं अल्पवस्त्र अथवा निर्वस्त्र रहना। ३. विभूषा का त्याग, ४. परिकर्म—शरीर की साज सज्जा का त्याग।

६. **संलीनता**—संलीनता चार प्रकार की है—१. इन्द्रिय संलीनता—इन्द्रियों के विषयों से बचना, २. कषाय-संलीनता-क्रोध, मान, माया और लोभ से बचना, ३. योग संलीनता—मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्तियों से बचना, ४. विविक्त शयनासन—एकांत स्थान पर सोना-बैठना। सामान्य रूप से यह माना गया है कि कषाय एवं राग-द्वेष के वाह्य निमित्तों से बचने के लिये साधक को श्मशान, शून्यागार और वन के एकान्त स्थानों में रहना चाहिए।

आभ्यन्तर तप के भेद[2]

आभ्यन्तर तप को सामान्य जनता तप के रूप में नहीं जानती है, फिर भी उसमें

१. मूलाचार, ५।१५३

२. उत्तराध्ययन, ३०।२९-३६

तप का एक महत्त्वपूर्ण और उच्च पक्ष निहित है। बाह्य तप स्थूल हैं, जबकि अन्तरंग तप सूक्ष्म हैं। आभ्यन्तर तप के भी छह भेद हैं।

१. **प्रायश्चित**—अपने शुभ आचरण के प्रति ग्लानि प्रकट करना, उसका पश्चात्ताप करना, आलोचना करना, उसे वरिष्ठ गुरुजन के समक्ष प्रकट कर उसके लिए योग्य दण्ड की याचना कर, उनके द्वारा दिये गये दण्ड को स्वीकार करना, प्रायश्चित्त तप है। प्रायश्चित के अभाव में सदाचरण सम्भव नहीं है, क्योंकि गलती या दोष होना सामान्य मानव-प्रकृति है। लेकिन यदि उसका निराकरण नहीं किया जाता तो उस गलती का सुधार सम्भव नहीं। प्रायश्चित्त दस प्रकार का है[1] —

१. आलोचना—गलती या असदाचरण के लिए पश्चात्ताप करना।
२. प्रतिक्रमण—चारित्रिक पतन से पुनः लौट जाना। अपनी गलती को सुधार लेना।
३. तदुभयः—आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों को स्वीकार करना।
४. विवेक—गलती या असदाचरण को असदाचरण के रूप में जान लेना।
५. कायोत्सर्ग—प्रायश्चित्त स्वरूप कायोत्सर्ग करना अथवा असदाचरण का परित्याग करना।
६. तपस्या—अपराध या गलती के होने पर आत्मशुद्धि के निमित्त उपवास आदि तप स्वीकार करना।
७. छेद—मुनि-जीवन में दीक्षापर्याय का कम कर देना छेद है अर्थात् अपराधी भिक्षु की श्रमण जीवन की वरीयता को कम करना।
८. मूल—पूर्व के श्रमण जीवन या दीक्षा पर्याय को समाप्त कर पुनः दीक्षा देना अथवा पुनः नये सिरे से श्रमण जीवन का प्रारम्भ करना।
९. परिहार—अपराधी श्रमण को श्रमण संस्था से बहिष्कृत करना।
१०. श्रद्धान—मिथ्या दृष्टिकोण के उत्पन्न हो जाने पर उसका परित्याग कर सम्यक् दर्शन को पुनः प्राप्त करना।

२. **विनय**—प्रायश्चित बिना विनय के सम्भव नहीं है। विनयशील ही आत्मशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त ग्रहण करता है। विनय का वास्तविक अर्थ वरिष्ठ एवं गुरुजनों का सम्मान करते हुए तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करते हुए अनुशासित जीवन जीना है। विनय के सात भेद हैं—१. ज्ञान विनय, २. दर्शन विनय, ३. चारित्र-विनय, ४. मनोविनय, ५. वचन-विनय, ६. काय-विनय और ७. लोकोपचार विनय। शिष्टाचार के रूप में किये गये बाह्य उपचार को लोकोपचार विनय कहा जाता है।

३. **वैयावृत्य**—वैयावृत्य का अर्थ सेवा-शुश्रूषा करना है। भिक्षु-संघ में दस प्रकार के साधकों की सेवा करना भिक्षु का कर्तव्य है—१. आचार्य, २. उपाध्याय, ३. तपस्वी,

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ९।२२

४. गुरु, ५. रोगी, ६. वृद्ध मुनि, ७. सहपाठी, ८. अपने भिक्षु-संघ का सदस्य, ९. दीक्षा स्थविर और १०. लोक सम्मानित भिक्षु। इन दस की सेवा करना वैयावृत्य तप है। इसके अतिरिक्त संघ (समाज) की सेवा भी भिक्षु का कर्तव्य है।

४. स्वाध्याय—स्वाध्याय शब्द का सामान्य अर्थ आध्यात्मिक साहित्य का पठन-पाठन एवं मनन आदि है। स्वाध्याय के पाँच भेद हैं—

१. वाचना : सद्ग्रन्थों का पठन एवं अध्ययन करना।
२. पृच्छना : उत्पन्न शंकाओं के निरसन के लिए एवं नवीन ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त विद्वज्जनों से प्रश्नोत्तर एवं वार्तालाप करना।
३. अनुप्रेक्षा : ज्ञान की स्मृति को बनाये रखने के लिए उसका चिन्तन करना एवं उस चिन्तन के द्वारा अर्जित ज्ञान को विशाल करना अनुप्रेक्षा है।
४. आम्नाय (परावर्तन) : आम्नाय या परावर्तन का अर्थ दोहराना है। अर्जित ज्ञान के स्थायित्व के लिए यह आवश्यक है।
५. धर्मकथा : धार्मिक उपदेश करना धर्मकथा है।

५. व्युत्सर्ग—व्युत्सर्ग का अर्थ त्यागना या छोड़ना है। व्युत्सर्ग के आभ्यन्तर और बाह्य दो भेद हैं। बाह्य व्युत्सर्ग के चार भेद हैं—

१. कायोत्सर्ग : कुछ समय के लिए शरीर से ममत्व को हटा लेना।
२. गण-व्युत्सर्ग : साधना के निमित्त सामूहिक जीवन को छोड़कर एकांत में अकेले साधना करना।
३. उपधि-व्युत्सर्ग : वस्त्र, पात्र आदि मुनि जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का त्याग करना या उनमें कमी करना।
४. भक्तपान व्युत्सर्ग : भोजन का परित्याग। यह अनशन का ही रूप है।

आभ्यन्तर व्युत्सर्ग तीन प्रकार का है—

१. कषाय-व्युत्सर्ग : क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों का परित्याग करना।
२. संसार-व्युत्सर्ग : प्राणीमात्र के प्रति राग-द्वेष की प्रवृत्तियों को छोड़कर सबके प्रति समत्वभाव रखना है।
३. कर्म-व्युत्सर्ग : आत्मा की मलिनता मन, वचन और शरीर की विविध प्रवृत्तियों को जन्म देती है। इस मलिनता के परित्याग के द्वारा शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक प्रवृत्तियों का निरोध करना।

६. ध्यान—चित्त की अवस्थाओं का किसी विषय पर केन्द्रित होना ध्यान है। जैन-परम्परा में ध्यान के चार प्रकार हैं—१. आर्त-ध्यान, २. रौद्र ध्यान, ३. धर्मध्यान और ४. शुक्लध्यान। आर्तध्यान और रौद्रध्यान चित्त की दूषित प्रवृत्तियाँ हैं अतः

तप का एक महत्त्वपूर्ण और उच्च पक्ष निहित है। बाह्य तप स्थूल हैं, जबकि अन्तरंग तप सूक्ष्म हैं। आभ्यन्तर तप के भी छह भेद हैं।

१. **प्रायश्चित**—अपने शुभ आचरण के प्रति ग्लानि प्रकट करना, उसका पश्चात्ताप करना, आलोचना करना, उसे वरिष्ठ गुरुजन के समक्ष प्रकट कर उसके लिए योग्य दण्ड की याचना कर, उनके द्वारा दिये गये दण्ड को स्वीकार करना, प्रायश्चित्त तप है। प्रायश्चित के अभाव में सदाचरण सम्भव नहीं है, क्योंकि गलती या दोष होना सामान्य मानव-प्रकृति है। लेकिन यदि उसका निराकरण नहीं किया जाता तो उस गलती का सुधार सम्भव नहीं। प्रायश्चित्त दस प्रकार का है[1]—

१. आलोचना—गलती या असदाचरण के लिए पश्चात्ताप करना।
२. प्रतिक्रमण—चारित्रिक पतन से पुनः लौट जाना। अपनी गलती को सुधार लेना।
३. तदुभयः—आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों को स्वीकार करना।
४. विवेक—गलती या असदाचरण को असदाचरण के रूप में जान लेना।
५. कायोत्सर्ग—प्रायश्चित्त स्वरूप कायोत्सर्ग करना अथवा असदाचरण का परित्याग करना।
६. तपस्या—अपराध या गलती के होने पर आत्मशुद्धि के निमित्त उपवास आदि तप स्वीकार करना।
७. छेद—मुनि-जीवन में दीक्षापर्याय का कम कर देना छेद है अर्थात् अपराधी भिक्षु की श्रमण जीवन की वरीयता को कम करना।
८. मूल—पूर्व के श्रमण जीवन या दीक्षा पर्याय को समाप्त कर पुनः दीक्षा देना अथवा पुनः नये सिरे से श्रमण जीवन का प्रारम्भ करना।
९. परिहार—अपराधी श्रमण को श्रमण संस्था से बहिष्कृत करना।
१०. श्रद्धान—मिथ्या दृष्टिकोण के उत्पन्न हो जाने पर उसका परित्याग कर सम्यक् दर्शन को पुनः प्राप्त करना।

२. **विनय**—प्रायश्चित बिना विनय के सम्भव नहीं है। विनयशील ही आत्मशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त ग्रहण करता है। विनय का वास्तविक अर्थ वरिष्ठ एवं गुरुजनों का सम्मान करते हुए तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करते हुए अनुशासित जीवन जीना है। विनय के सात भेद हैं—१. ज्ञान विनय, २. दर्शन विनय, ३. चारित्र-विनय, ४. मनोविनय, ५. वचन-विनय, ६. काय-विनय और ७. लोकोपचार विनय। शिष्टाचार के रूप में किये गये बाह्य उपचार को लोकोपचार विनय कहा जाता है।

३. **वैयावृत्य**—वैयावृत्य का अर्थ सेवा-शुश्रूषा करना है। भिक्षु-संघ में दस प्रकार के साधकों की सेवा करना भिक्षु का कर्तव्य है—१. आचार्य, २. उपाध्याय, ३. तपस्वी,

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ९।२२

४. गुरु, ५. रोगी, ६. वृद्ध मुनि, ७. सहपाठी, ८. अपने भिक्षु-संघ का सदस्य, ९. दीक्षा स्थविर और १०. लोक सम्मानित भिक्षु। इन दस की सेवा करना वैयावृत्य तप है। इसके अतिरिक्त संघ (समाज) की सेवा भी भिक्षु का कर्तव्य है।

४. स्वाध्याय—स्वाध्याय शब्द का सामान्य अर्थ आध्यात्मिक साहित्य का पठन-पाठन एवं मनन आदि है। स्वाध्याय के पाँच भेद हैं—

१. वाचना : सद्ग्रन्थों का पठन एवं अध्ययन करना।

२. पृच्छना : उत्पन्न शंकाओं के निरसन के लिए एवं नवीन ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त विद्वज्जनों से प्रश्नोत्तर एवं वार्तालाप करना।

३. अनुप्रेक्षा : ज्ञान की स्मृति को बनाये रखने के लिए उसका चिन्तन करना एवं उस चिन्तन के द्वारा अर्जित ज्ञान को विशाल करना अनुप्रेक्षा है।

४. आम्नाय (परावर्तन) : आम्नाय या परावर्तन का अर्थ दोहराना है। अर्जित ज्ञान के स्थायित्व के लिए यह आवश्यक है।

५. धर्मकथा : धार्मिक उपदेश करना धर्मकथा है।

५. व्युत्सर्ग—व्युत्सर्ग का अर्थ त्यागना या छोड़ना है। व्युत्सर्ग के आभ्यन्तर और बाह्य दो भेद हैं। बाह्य व्युत्सर्ग के चार भेद हैं—

१. कायोत्सर्ग : कुछ समय के लिए शरीर से ममत्व को हटा लेना।

२. गण-व्युत्सर्ग : साधना के निमित्त सामूहिक जीवन को छोड़कर एकांत में अकेले साधना करना।

३. उपधि-व्युत्सर्ग : वस्त्र, पात्र आदि मुनि जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का त्याग करना या उनमें कमी करना।

४. भक्तपान व्युत्सर्ग : भोजन का परित्याग। यह अनशन का ही रूप है।

आभ्यन्तर व्युत्सर्ग तीन प्रकार का है—

१. कषाय-व्युत्सर्ग : क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों का परित्याग करना।

२. संसार-व्युत्सर्ग : प्राणीमात्र के प्रति राग-द्वेष की प्रवृत्तियों को छोड़कर सबके प्रति समत्वभाव रखना है।

३. कर्म-व्युत्सर्ग : आत्मा की मलिनता मन, वचन और शरीर की विविध प्रवृत्तियों को जन्म देती है। इस मलिनता के परित्याग के द्वारा शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक प्रवृत्तियों का निरोध करना।

६. ध्यान—चित्त की अवस्थाओं का किसी विषय पर केन्द्रित होना ध्यान है। जैन-परम्परा में ध्यान के चार प्रकार हैं—१. आर्त-ध्यान, २. रौद्र ध्यान, ३. धर्मध्यान और ४. शुक्लध्यान। आर्तध्यान और रौद्रध्यान चित्त की दूषित प्रवृत्तियाँ हैं अतः

साधना एवं तप की दृष्टि से उनका कोई मूल्य नहीं है, ये दोनों ध्यान त्याज्य हैं। आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। अतः इन पर थोड़ी विस्तृत चर्चा करना आवश्यक है।

धर्म-ध्यान—इसका अर्थ है चित्त-विशुद्धि का प्रारम्भिक अभ्यास। धर्म-ध्यान के लिए ये चार बातें आवश्यक हैं—१. आगम-ज्ञान, २. अनासक्ति, ३. आत्मसंयम और मुमुक्षुभाव। धर्म ध्यान के चार प्रकार हैं :—

१. आज्ञा-विचय : आगम के अनुसार तत्त्व स्वरूप एवं कर्तव्यों का चिन्तन करना।

२. अपाय-विचय : हेय क्या है, इसका विचार करना।

३. विपाक-विचय : हेयके परिणामोंका विचार करना।

४. संस्थान-विचय : लोक या पदार्थों की आकृतियों, स्वरूपों का चिन्तन करना। संस्थान-विचय धर्म-ध्यान पुनः चार उपविभागों में विभाजित है—(अ) पिण्डस्थ ध्यान-यह किसी तत्त्व विशेष के स्वरूप के चिन्तन पर आधारित है। इसकी पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी, और तत्त्वभू ये पाँच धारणाएँ मानी गयी हैं। (ब) पदस्थ ध्यान—यह ध्यान पवित्र मंत्राक्षर आदि पदों का अवलम्बन करके किया जाता है। (स) रूपस्थ-ध्यान-राग, द्वेष, मोह आदि विकारों से रहित अर्हन्त का ध्यान करना है। (द) रूपातीत-ध्यान निराकार, चैतन्य-स्वरूप सिद्ध परमात्मा का ध्यान करना।

गीता में तप का वर्गीकरण—वैदिक साधना में तप का सर्वांग वर्गीकरण गीता में प्रतिपादित है। गीता में तप का दोहरा वर्गीकरण है। एक तप के स्वरूप का वर्गीकरण है तो दूसरा तप की उपादेयता एवं शुद्धता का।

प्रथम स्वरूप की दृष्टि से गीताकार तप के तीन प्रकार बताते हैं[1]—(१) शारीरिक, (२) वाचिक और (३) मानसिक।

१. शारीरिक तप—गीताकार की दृष्टि में शारीरिक तप हैं—१. देव, द्विज, गुरुजनों और ज्ञानीजनों का पूजन (सत्कार एवं सेवा), २. पवित्रता (शरीर की पवित्रता एवं आचरण की पवित्रता), ३. सरलता (अकपट), ४. ब्रह्मचर्य और ५. अहिंसा का पालन।

२. वाचिक—वाचिक तप के अन्तर्गत क्रोध जाग्रत नहीं करने वाला शान्तिप्रद, प्रिय एवं हितकारक यथार्थ भाषण, स्वाध्याय एवं अध्ययन ये तीन प्रकार आते हैं।

३. मानसिक तप—मन की प्रसन्नता, शान्त भाव, मौन, मनोनिग्रह और भाव-संशुद्धि।

तप की शुद्धता एवं नैतिक जीवन में उसकी उपादेयता की दृष्टि से तप के तीन स्तर या विभाग गीता में वर्णित हैं—१. सात्विक तप, २. राजस तप और ३. तामस तप[2]।

गीताकार कहता है कि उपर्युक्त तीनों प्रकार का तप श्रद्धापूर्वक, फल की आकांक्षा से रहित एवं निष्काम भाव से किया जाता है तब वह सात्विक तप कहा जाता है। लेकिन जो तप सत्कार, मान-प्रतिष्ठा अथवा दिखावे के लिए किया जाता है तो वह राजस तप कहा जाता है।[3]

इसी प्रकार जिस तप में मूढ़तापूर्वक अपने को भी कष्ट दिया जाता है और दूसरे को भी कष्ट दिया जाता और दूसरे का अनिष्ट करने के उद्देश्य से किया जाता है, वह तामस तप कहा जाता है।

वर्गीकरण की दृष्टि से गीता और जैन विचारणा में प्रमुख अन्तर यह है कि गीता अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य एवं इन्द्रियनिग्रह, आर्जव आदि को भी तप की कोटि में रखती है, जब कि जैन विचारणा उन पर पाँच महाव्रतों एवं दस यतिधर्मों के सन्दर्भ में विचार करती है। इसी प्रकार गीता में जैन-विचारणा के बाह्य तपों पर विशेष विचार नहीं किया गया है। जैन-विचारणा के आभ्यन्तर तपों पर गीता में तप के रूप में नहीं, वरन् अलग से विचार किया गया है। केवल स्वाध्याय पर तप के रूप में विचार किया गया है। ध्यान और कायोत्सर्ग का योग के रूप में, वैयावृत्य का लोक-संग्रह के रूप

१. गीता, १७।१४-१६ २. वही, १७।१७-१९
३. तुलना कीजिये—सूत्रकृतांग, १।८।२४

में एवं विनय पर गुण के रूप में विचार किया गया है। प्रायश्चित्त गीता में शरणागति बन जाता है।

वैसे यदि समग्र वैदिक साधना की दृष्टि से जैन वर्गीकरण पर विचार किया जाये तो तप के लगभग वे सभी प्रकार वैदिक साधना में मान्य हैं।

धर्मसूत्रों विशेषकर वैखानस सूत्र तथा अन्य स्मृति-ग्रन्थों के आधार पर इसे सिद्ध किया जा सकता है। महानारायणोपनिषद् में तो यहाँ तक कहा है कि 'अनशन से बढ़ कर कोई तप नहीं है'[1]। यद्यपि गीता में अनशन (उपवास) की अपेक्षा ऊनोदरी तप को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। गीता यहाँ पर मध्यममार्ग अपनाती है। गीताकार कहता है, योग न अधिक खाने वाले लोगों के लिए सम्भव है, न बिलकुल ही न खानेवाले के लिए सम्भव है। युक्ताहारविहार वाला ही योग की साधना सरलतापूर्वक कर सकता है।[2]

महर्षि पतंजलि ने तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधान इन तीनों को क्रिया-योग कहा है।

बौद्ध साधना में तप का वर्गीकरण—बौद्ध-साहित्य में तप का कोई समुचित वर्गीकरण देखने में नहीं आया। 'मज्झिमनिकाय' के कन्दरकसुत्त में एक वर्गीकरण है जिसमें गीता के समान तप की श्रेष्ठता एवं निकृष्टता पर विचार किया गया है। वहाँ बुद्ध कहते हैं कि 'चार प्रकार के मनुष्य होते हैं (१) एक वे जो आत्मन्तप हैं परन्तु परन्तप नहीं हैं। इस वर्ग के अन्दर कठोर तपश्चर्या करनेवाले तपस्वीगण आते हैं जो स्वयं को कष्ट देते है, लेकिन दूसरे को नहीं। (२) दूसरे वे जो परन्तप है आत्मन्तप नहीं। इस वर्ग में बधिक तथा पशु बलि देनेवाले आते हैं जो दूसरों को ही कष्ट देते हैं। (३) तीसरे वे जो आत्मन्तप भी हैं और परन्तप भी अर्थात् वे लोग जो स्वयं भी कष्ट उठाते हैं और दूसरों को भी कष्ट देते हैं, जैसे—तपश्चर्या सहित यज्ञयाग करनेवाले। (४) चौथे वे जो आत्मन्तप भी नहीं हैं और परन्तप भी नहीं हैं अर्थात् वे लोग जो न तो स्वयं को कष्ट देते हैं और न औरों को ही कष्ट देते हैं।[3] बुद्ध भी गीता के समान यह कहते हैं कि जिस तप में स्वयं को भी कष्ट दिया जाता है और दूसरे को भी कष्ट दिया जाता है, वह निकृष्ट है। गीता ऐसे तप को तामस कहती है।

बुद्ध अपने श्रावकों को चौथे प्रकार के तप के सम्बन्ध में उपदेश देते हैं और मध्यम-मार्ग के सिद्धान्त के आधार पर ऐसे ही तप को श्रेष्ठ बताते हैं, जिनमें न तो स्वपीड़न है, न पर-पीड़न।

---

१. महानारायणोपनिषद्, २१।२

२. गीता, ६।१६-१७—तुलना कीजिए—सूत्रकृतांग १।८।२५

३. मज्झिमनिकाय कन्दरकसुत्त, पृ० २०७-२१०

जैन-विचारणा उपर्युक्त वर्गीकरण में पहले और चौथे को स्वीकार करती है और कहती है कि यदि स्वयं के कष्ट उठाने से दूसरों का हित होता है और हमारी मानसिक शुद्धि होती है तो पहला ही वर्ग सर्वश्रेष्ठ है और चौथा वर्ग मध्यममार्ग है हाँ, यह अवश्य है कि वह दूसरे और तीसरे वर्ग के लोगों को किसी रूप में नैतिक या तपस्वी स्वीकार नहीं करता।

यदि हम जैन परम्परा और गीता में वर्णित तप के विभिन्न प्रभेदों पर विचार करके देखें तो हमें उनमें से अधिकांश बौद्ध-परम्परा में मान्य प्रतीत होते हैं—

(१) बौद्ध भिक्षुओं के लिए अति भोजन वर्जित है। साथ ही एक समय भोजन करने का आदेश है जो जैन-विचारणा के ऊनोदरी तप से मिलता है। गीता में भी योग साधना के लिए अति भोजन वर्जित है। (२) बौद्ध भिक्षुओं के लिए रसासक्ति का निषेध है। (३) बौद्ध साधना में भी विभिन्न सुखासनों की साधना का विधान मिलता है। यद्यपि आसनों की साधना एवं शीत एवं ताप सहन करने की धारणा बौद्ध-विचाराणा में उतनी कठोर नहीं है जितनी जैन-विचारणा में। (४) भिक्षाचर्या जैन और बौद्ध दोनों आचार-प्रणालियों में स्वीकृत है, यद्यपि भिक्षा नियमों की कठोरता जैन साधना में अधिक है। (५) विविक्त शयनासन तप भी बौद्ध विचारणा में स्वीकृत है। बौद्ध आगमों में अरण्यनिवास, वृक्षमूल-निवास, श्मशान निवास करनेवाले (जैन परिभाषा के अनुसार विविक्त शयनासन तप करनेवाले) धुतंग भिक्षुओं की प्रशंसा की गयी है। आभ्यन्तरिक तप के छह भेद भी बौद्ध परम्परा में स्वीकृत रहे हैं। (६) प्रायश्चित्त बौद्ध-परम्परा और वैदिक परम्परा में स्वीकृत रहा है। बौद्ध आगमों में प्रायश्चित्त के लिए प्रवारणा आवश्यक मानी गयी है। (७) विनय के सम्बन्ध में दोनों ही विचार परम्पराएँ एकमत हैं। (८) बौद्ध परम्परा में भी बुद्ध, धर्म, संघ, रोगी, वृद्ध एवं शिक्षार्थी भिक्षुक की सेवा का विधान है। (९) इसी प्रकार स्वाध्याय एवं उसमें विभिन्न अंगों का विवेचन भी बौद्ध परम्परा में उपलब्ध है। बुद्ध ने भी वाचना, पृच्छना, परावर्तना एवं चिन्तन को समान महत्त्व दिया है। (१०) व्युत्सर्ग के सम्बन्ध में यद्यपि बुद्ध का दृष्टिकोण मध्यममार्गी है, तथापि वे इसे अस्वीकार नहीं करते हैं। व्युत्सर्ग के आन्तरिक प्रकार तो बौद्ध परम्परा में भी उसी प्रकार स्वीकृत रहे हैं जिस प्रकार वे जैन दर्शन में हैं। (११) ध्यान के सम्बन्ध में बौद्ध दृष्टिकोण भी जैन परम्परा के निकट ही आता है। बौद्ध परम्परा में चार प्रकार के ध्यान माने गये हैं—

१. सवितर्क-सविचार-विवेकजन्य प्रीतिसुखात्मक प्रथम ध्यान।

२. वितर्क विचार-रहित-समाधिज प्रीतिसुखात्मक द्वितीय ध्यान।

३. प्रीति और विराग से उपेक्षक हो स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त उपेक्षा स्मृति सुखविहारी तृतीय ध्यान।

४. सुख-दुःख एवं सौमनस्य-दौर्मनस्य से रहित असुख-अदुःखात्मक उपेक्षा एवं परिशुद्धि से युक्त चतुर्थ ध्यान।

इस प्रकार चारों ध्यान जैन-परम्परा में भी थोड़े शाब्दिक अन्तर के साथ उपस्थित हैं। योग-परम्परा में भी समापत्ति के चार प्रकार बतलाये हैं, जो कि जैन-परम्परा के समान ही लगते हैं। समापत्ति के वे चार प्रकार निम्नानुसार हैं—१. सवितर्का, २. निर्वितर्का, ३. सविचारा, ४. निर्विचारा। इस विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन-साधना में जिस सम्यक् तप का विधान है, वह अन्य भारतीय आचारदर्शनों में भी सामान्यतया स्वीकृत रहा है।

जैन, बौद्ध और गीता की विचारणा में जिस सम्बन्ध में मत भिन्नता है वह है अनशन या उपवास तप। बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन उपवासों की लम्बी तपस्या को इतना महत्त्व नहीं देते जितना कि जैन विचारणा देती है। इसका मूल कारण यह है कि बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन तप की अपेक्षा योग को अधिक महत्त्व देते हैं। यद्यपि यह स्मरण रखने की बात है कि जैन दर्शन की तप-साधना योग-साधना से भिन्न नहीं है। पतंजलि ने जिस अष्टांग योगमार्ग का उपदेश दिया वह कुछ तथ्यों को छोड़ कर जैन-विचारणा में भी उपलब्ध है।

अष्टांग योग और जैन-दर्शन—योग-दर्शन में योग के आठ अंग माने गये हैं—१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान और ८. समाधि। इनका जैन-विचारणा से कितना साम्य है, इस पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

१. **यम**—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम हैं। जैन-दर्शन में ये पांचों यम पंच महाव्रत कहे गये हैं। जैन-दर्शन और योग-दर्शन में इनकी व्याख्याएँ समान हैं।

२. **नियम**—नियम भी पाँच हैं—१. शौच, २. सन्तोष, ३. तप, ४. स्वाध्याय और ५. ईश्वरप्रणिधान। जैन दर्शन में ये पाँचों नियम प्रसंगान्तर से मान्य हैं। जैन-दर्शन में नियम के स्थान पर योग-संग्रह का विवेचन उपलब्ध है। जैन आगम समवायांग में ३२ योग-संग्रह माने हैं। यथा १. अपने किये हुए पापों की गुरुजनों के पास आलोचना करना। २. किसी की आलोचना सुनकर किसी और के पास न कहना। ३. कष्ट आने पर धर्म में दृढ़ रहना। ४. किसी की सहायता की अपेक्षा न करते हुए तप करना ५. ग्रहण-शिक्षा और आसेवनशिक्षा का पालन करना। ६. शरीर की निष्प्रतिक्रमता। ७. पूजा आदि की आशा से रहित होकर अज्ञात तप करना। ८. लोभपरित्याग। ९. तितिक्षा—सहन करना। १०. ऋजुता (सरलता)। ११. शुचि (सत्य-संयम)। १२. सम्यग्दृष्टि होना। १३. समाधिस्थ होना। १४. आचार का पालन करना। १५. विनयशील होना।

१६. धृतिपूर्वक मतिमान् होना। १७. संवेगयुक्त होना। १८. प्रनिधि–माया (कपट) न करना। १९. सुविधि–सदनुष्ठान। २०. संवरयुक्त होना। २१. अपने दोषों का निरोध करना। २२.सब कामों (विषयों) से विरक्त रहना। २३. मूलगुणों का शुद्ध पालन करना। २४. उत्तरगुणों का शुद्ध पालन करना। २५. व्युत्सर्ग करना। २६. प्रमाद न करना। २७. क्षण–क्षण में समाचारी–अनुष्ठान करना। २८. ध्यान–संवरयोग करना। २९. मारणान्तिक कष्ट आने पर भी अपने ध्येय से विचलित न होना। ३०. संग का परित्याग करना। ३१. प्रायश्चित्त ग्रहण करना। ३२. मरणकाल में आराधक बनना।

३. **आसन**—स्थिर एवं बैठने के सुखद प्रकार-विशेष को आसन कहा गया है। जैन परम्परा में बाह्य तप के पांचवें काया-क्लेश में आसनों का भी समावेश है। औपपातिक सूत्र एवं दशाश्रुतस्कंधसूत्र में वीरासन, भद्रासन, गोदुहासन और सुखासन आदि अनेक आसनों का विवेचन है।

४. **प्राणायाम**—प्राण, अपान, समान[1], उदान और व्यान ये पाँच प्राणवायु हैं। इन प्राणवायुओं पर विजय प्राप्त करना ही प्राणायाम है। इसके रेचक, पूरक और कुम्भक ये तीन भेद हैं। यद्यपि जैन धर्म के मूल आगमों में प्राणायाम सम्बन्धी विवेचन उपलब्ध नहीं है, तथापि आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव और आचार्य हेमचन्द्र के योग-शास्त्र में प्राणायाम का विस्तृत विवेचन है।

५. **प्रत्याहार**—इन्द्रियों की बहिर्मुखता को समाप्त कर उन्हें अन्तर्मुखी करना प्रत्याहार है। जैन दर्शन में प्रत्याहार के स्थान पर प्रतिसंलीनता शब्द का प्रयोग हुआ है। वह चार प्रकार की है—१. इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता, २. कषाय-प्रतिसंलीनता, ३. योग-प्रतिसंलीनता और ४. विविक्त शयनासन सेवनता। इस प्रकार योग दर्शन के प्रत्याहार का समावेश जैन-दर्शन की प्रतिसंलीनता में हो जाता है।

६. **धारणा**—चित्त की एकाग्रता के लिए उसे किसी स्थान-विशेष पर केन्द्रित करना धारणा है। धारणा का विषय प्रथम स्थूल होता है जो क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होता जाता है। जैन आगमों में धारणा का वर्णन स्वतंत्र रूप में नहीं मिलता, यद्यपि उसका उल्लेख ध्यान के एक अंग के रूप में अवश्य हुआ है। जैन-परम्परा में ध्यान की अवस्था में नासिकाग्र पर दृष्टि केन्द्रित करने का विधान है। दशाश्रुतस्कंधसूत्र में भिक्षुप्रतिमाओं का विवेचन करते हुए एक-पुद्गलनिविदृष्टि का उल्लेख है।

७. **ध्यान**—जैन-परम्परा में योग-साधना के रूप में ध्यान का विशेष विवेचन उपलब्ध है।

८. **समाधि**—चित्तवृत्ति का स्थिर हो जाना अथवा उसका क्षय हो जाना समाधि है। जैन-परम्परा में समाधि शब्द का प्रयोग तो काफी हुआ है, लेकिन समाधि को ध्यान

१, समवायांग ३२।

से पृथक नहीं माना गया है। जैन-परम्परा में धारणा, ध्यान और समाधि तीनों ध्यान में ही समाविष्ठ हैं। शुक्लध्यान की अवस्थाएँ समाधि के तुल्य हैं। समाधि के दो विभाग किये गए हैं—१. संप्रज्ञात-समाधि और २. असंप्रज्ञात-समाधि। संप्रज्ञात समाधि का अन्तर्भाव शुक्लध्यान के प्रथम दो प्रकार पृथक्त्ववितर्क सविचार और एकत्ववितर्क अविचार में और असंप्रज्ञात-समाधि का अन्तर्भाव शुक्ल-ध्यान के अन्तिम दो प्रकार सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती और समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति में हो जाता है।[1]

इस प्रकार अष्टांग-योग में प्राणायाम को छोड़कर शेष सभी का विवेचन जैन-आगमों में उपलब्ध है। यही नहीं, परवर्ती जैनाचार्यो ने प्राणायाम का विवेचन भी किया है। आचार्य हरिभद्र ने तो पंचांग योग का विवेचन भी किया है, जिसमें योग के निम्न पाँच अंग बताये हैं:—१. अध्यात्म, २. भावना, ३. ध्यान, ४. समता और ५. वृत्ति-संक्षय। आचार्य हरिभद्र ने योगदृष्टिसमुच्चय, योग-बिन्दु और योगविंशिका; आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव तथा आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र की रचना कर जैन परम्परा में योग-विद्या का विकास किया है।

तप का सामान्य स्वरूप एक मूल्यांकन—तप शब्द अनेक अर्थो मे भारतीय आचार दर्शन में प्रयुक्त हुआ है और जब तक उसकी सीमाएँ निर्धारित नहीं कर लीजाती, उसका मूल्यांकन करना कठिन है। 'तप' शब्द एक अर्थ में त्याग-भावना को व्यक्त करता है। त्याग चाहे वह वैयक्तिक स्वार्थ एवं हितों का हो, चाहे वैयक्तिक सुखोपलब्धियों का हो, तप कहा जा सकता है। सम्भवतः यह तप की विस्तृत परिभापा होगी, लेकिन यह तप के निषेधात्मक पक्ष को ही प्रस्तुत करती है। यहाँ तप, संयम, इन्द्रिय-निग्रह और देह-दण्डन बन कर रह जाता है। तप मात्र त्यागना ही नहीं है, उपलब्ध करना भी है। तप का केवल विसर्जनात्मक मूल्य मानना भ्रम होगा। भारतीय आचार-दर्शनों ने जहाँ तप के विसर्जनात्मक मूल्यों की गुण-गाथा गायी है, वहीं उसके सृजनात्मक मूल्य को भी स्वीकार किया है। वैदिक परम्परा में तप को लोक-कल्याण का विधान करने वाला कहा गया है। गीता की लोक-संग्रह की और जैन परम्परा की वैयावृत्य या संघ-सेवा की अवधारणाएँ तप के विधायक अर्थात् लोक-कल्याणकारी पक्ष को ही तो अभि-व्यक्त करती हैं। बौद्ध परम्परा जब "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" का उद्‌घोष देती है तब वह भी तप के विधायक मूल्य का ही विधान करती हैं।

सृजनात्मक पक्ष में तप आत्मोपलब्धि ही है, लेकिन यहाँ स्व—आत्मन् इतना व्यापक होता है कि उसमें स्व या पर का भेद ही नहीं टिक पाता है और इसीलिए एक तपस्वी का आत्म-कल्याण और लोक कल्याण परस्पर विरोधी नहीं होकर एक रूप होते हैं। एक तपस्वी के आत्मकल्याण में लोक-कल्याण समाविष्ट रहता है और उसका लोक-कल्याण आत्म-कल्याण ही होता है।

१. विस्तृत एवं सप्रमाण तुलना के लिए देखिए—जैनागमों में अष्टांग-योग।

तप, चाहे वह इन्द्रिय-संयम हो, चित्त-निरोध हो अथवा लोक-कल्याण या बहुजन-हित हो, उसके महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता। उसका वैयक्तिक जीवन के लिए एवं समाज के लिए महत्त्व है। डॉ० गफ आदि कुछ पाश्चात्य विचारकों ने तथा किसी सीमा तक स्वयं बुद्ध ने भी तपस्या को आत्म-निर्यातन (Self Torture) या स्वपीडन के रूप में देखा और इसी आधार पर उसकी आलोचना भी की है। यदि तपस्या का अर्थ केवल आत्म-निर्यातन या स्वपीड़न ही है और यदि इस आधार पर उसकी आलोचना की गयी है तो समुचित कही जा सकती है। जैन विचारणा और गीता की धारणा भी इससे सहमत ही होगी।

लेकिन यदि हमारी सुखोपलब्धि के लिए परपीड़न अनिवार्य हो तो ऐसी सुखोपलब्धि समालोच्य भारतीय आचार-दर्शनों द्वारा त्याज्य ही होगी।

इसी प्रकार यदि स्वपीड़न या परपीड़न दोनों में से किसी एक का चुनाव करना हो तो स्वपीड़न ही चुनना होगा। नैतिकता का यही तकाजा है। उपर्युक्त दोनों स्थितियों में स्वपीड़न या आत्म-निर्यातन को क्षम्य मानना ही पड़ेगा। भगवान् बुद्ध स्वयं ऐसी स्थिति में स्वपीड़न या आत्म-निर्यातन को स्वीकार करते हैं। यदि चित्तवृत्ति या वासनाओं के निरोध के लिए आत्म-निर्यातन आवश्यक हो तो इसे स्वीकार करना होगा।

भारतीय आचार-परम्पराओं एवं विशेषकर जैन आचार-परम्परा में तप के साथ शारीरिक कष्ट सहने या आत्म-निर्यातन का जो अध्याय जुड़ा है उसके पीछे भी कुछ तर्कों का बल तो है ही। देह-दण्डन की प्रणाली के पीछे निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं—

१. सामान्य नियम है कि सुख की उपलब्धि के निमित्त कुछ न कुछ दुःख तो उठाना ही होता है, फिर आत्म-सुखोपलब्धि के लिए कोई कष्ट न उठाना पड़े, यह कैसे सम्भव हो सकता है?

२. तप स्वयं को स्वेच्छापूर्वक कष्टप्रद स्थिति में डालकर अपने वैचारिक समत्व का परीक्षण करना एवं अभ्यास करना है। 'सुख दुःखे समं कृत्वा' कहना सहज हो सकता है लेकिन ठोस अभ्यास के बिना यह आध्यात्मिक जीवन का अंग नहीं बन सकता और यदि वैयक्तिक जीवन में ऐसे सहज अवसर उपलब्ध नहीं होते हैं तो स्वयं को कष्टप्रद स्थिति में डालकर अपने वैचारिक समत्व का अभ्यास या परीक्षण करना होगा।

३. यह कहना सहज है कि 'मैं चैतन्य हूँ, देह जड़ है।' लेकिन शरीर और आत्मा के बीच, जड़ और चेतन के बीच, पुरुष और प्रकृति के बीच, सत् ब्रह्म और मिथ्या जगत् के बीच जिस अनुभवात्मक भेद-विज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान की आवश्यकता है, उसकी सच्ची कसौटी तो यही आत्म-निर्यातन की प्रक्रिया है। देह-दण्डन या काय-क्लेश वह अग्नि

परीक्षा है जिसमें व्यक्ति अपने भेदज्ञान की निष्ठा का सच्चा परीक्षण कर सकता है।

उपर्युक्त आधार पर हमने जिस देह-दण्डन या आत्म-निर्यातन रूप तपस्या का समर्थन किया है वह ज्ञान-समन्वित तप है। जिस तप में समत्व की साधना नहीं, भेद-विज्ञान का ज्ञान नहीं, ऐसा देह-दण्डनरूप तप जैन-साधना को बिलकुल मान्य नहीं है। भगवान् पार्श्वनाथ और तापस कमठ के बीच तप का यही स्वरूप तो विवाद का विषय था और जिसमें पार्श्वनाथ ने अज्ञानजनित देह-दण्डन की प्रणाली की निन्दा की थी। स्वाध्याय तप का ज्ञानात्मक स्वरूप है। भारतीय ऋषियों ने स्वाध्याय को तप के रूप में स्वीकार कर तप के ज्ञान समन्वित स्वरूप पर ही जोर दिया है। गीताकार ज्ञान और तप को साथ-साथ देखता है।[1] भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर ने अज्ञानयुक्त तप की निन्दा समान रूप से की है। भगवान् महावीर कहते हैं कि जो अज्ञानीजन मास-मास की तपस्या करते हैं उसकी समाप्ति पर केवल कुशाग्र जितना अन्न ग्रहण करते हैं वे ज्ञानी की सोलहवीं कला के बराबर भी धर्म का आचरण नहीं करते।[2] यही बात इन्हीं शब्दों में बुद्ध ने भी कही है।[3] दोनों कथनों में शब्द-साम्य विशेष द्रष्टव्य है। इस प्रकार जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन अज्ञानयुक्त तप को हेय समझते हैं।

देह-दण्डन को यदि कुछ ढीले अर्थ में लिया जाये तो उसकी व्यावहारिक उपादेयता भी सिद्ध हो जाती है। जैसे व्यायाम के रूप में किया हुआ देह-दण्डन (शारीरिक कष्ट) स्वास्थ्य रक्षा एवं शक्ति-संचय का कारण होकर जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में भी लाभप्रद होता है, वैसे ही तपस्या के रूप में देह-दण्डन का अभ्यास करने वाला अपने शरीर में कष्ट-सहिष्णु शक्ति विकसित कर लेता है, जो वासनाओं के संघर्ष में ही नहीं, जीवन की सामान्य स्थितियों में भी सहायक होती है। एक उपवास का अभ्यासी व्यक्ति यदि किसी परिस्थिति में भोजन प्राप्त नहीं कर पाता, तो इतना व्याकुल नहीं होगा जितना अनभ्यस्त व्यक्ति। कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यास आध्यात्मिक प्रगति के लिए आवश्यक है। आध्यात्मिक दृष्टि के बिना शारीरिक यन्त्रणा अपने आप में कोई तप नहीं है, उसमें भी यदि इस शारीरिक यन्त्रणा के पीछे लौकिक या पारलौकिक स्वार्थ हैं तो फिर उसे तपस्या कहना महान् मूर्खता होगी। जैन-दार्शनिक भाषा में तपस्या में देह-दण्डन किया नहीं जाता, हो जाता है। तपस्या का प्रयोजन आत्म-

---

१. देखिये—गीता १६।१, १७, १५, ४।१०, ४।२८

२. मासे मासे तु जो बालो कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुयक्खायधम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं ॥—उत्तराध्ययन, ९।४४

३. मासे मासे कुसग्गेन बालो भुंजेथ भोजनं।
न सो संखतधम्मानं कलं अग्घति सोलसिं ॥—धम्मपद, ७०

परिशोधन है, न कि देह-दण्डन। घृत की शुद्धि के लिए घृत को तपाना होता है न कि पात्र को। उसी प्रकार आत्म-शुद्धि के लिए आत्म-विकारों को तपाया जाता है न कि शरीर को। शरीर तो आत्मा का भाजन (पात्र) होने से तप जाता है, तपाया नहीं जाता। जिस तप में मानसिक कष्ट हो, वेदना हो, पीड़ा हो, वह तप नहीं है। पीड़ा का होना एक बात है और पीड़ा को व्याकुलता की अनुभूति करना दूसरी बात है। तप में पीड़ा हो सकती है लेकिन पीड़ा की व्याकुलता की अनुभूति नहीं। पीड़ा शरीर का धर्म है, व्याकुलता की अनुभूति आत्मा का। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें इन दोनों को अलग-अलग देखा जा सकता है। जैन बालक जब उपवास करता है, तो उसे भूख की पीड़ा अवश्य होगी, लेकिन वह पीड़ा की व्याकुलता की अनुभूति नहीं करता। वह उपवास तप के रूप में करता है और तप तो आत्मा का आनन्द है। वह जीवन के सौष्ठव को नष्ट नहीं करता, वरन् जीवन के आनन्द को परिष्कृत करता है।

पुनः तप को केवल देह-दण्डन मानना बहुत बड़ा भ्रम है। देह-दण्डन तप का एक छोटा-सा प्रकार मात्र है। 'तप' शब्द अपने आप में व्यापक है। विभिन्न साधना-पद्धतियों ने तप की विभिन्न परिभाषाएँ की हैं और उन सबका समन्वित स्वरूप ही तप की एक पूर्ण परिभाषा को व्याख्यायित कर सकता है। संक्षेप में जीवन के शोधन एवं परिष्कार के लिए किये गये समग्र प्रयास तप हैं।

यह तप की निर्विवाद परिभाषा है जिसके मूल्यांकन के प्रयास की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती है। जीवन-परिष्कार के प्रयास का मूल्य सर्वग्राह्य है, सर्वस्वीकृत है। इस पर न किसी पूर्ववाले को आपत्ति हो सकती है न पश्चिमवाले को। यहाँ आत्मवादी और भौतिकवादी सभी समभूमि पर स्थित हैं और यदि हम तप की उपर्युक्त परिभाषा को स्वीकृत करके चलते हैं तो निषेधात्मक दृष्टि से तृष्णा, राग, द्वेष आदि चित्त की समस्त अकुशल (अशुभ) वृत्तियों का निवारण एवं विधेयात्मक दृष्टि से सभी कुशल (शुभ) वृत्तियों एवं क्रियाओं का सम्पादन 'तप' कहा जा सकता है।

भारतीय ऋषियों ने हमेशा तप को विराट् अर्थ में ही देखा है। यहाँ श्रद्धा, ज्ञान, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, आर्जव, मार्दव, क्षमा, संयम, समाधि, सत्य, स्वाध्याय, अध्ययन, सेवा, सत्कार आदि सभी शुभ गुणों को तप मान लिया गया है।[१]

अब जैन-परम्परा में स्वीकृत तप के भेदों के मूल्यांकन का किंचित् प्रयास किया जा रहा है।

अनशन में कितनी शक्ति हो सकती है, इसे आज गाँधी-युग का हर व्यक्ति जानता है। हम तो उसके प्रत्यक्ष प्रयोग देख चुके हैं। सर्वोदय समाज-रचना तो उपवास के मूल्य को स्वीकार करती ही है, देश में उत्पन्न अन्न-संकट की समस्या ने भी इस ओर

१. गीता, १७।१४-१९

हमारा ध्यान आकर्षित किया है। इन सबके साथ आज चिकित्सक एवं वैज्ञानिक भी इसकी उपादेयता को सिद्ध कर चुके हैं। प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली का तो मूल आधार ही उपवास है।

इसी प्रकार ऊनोदरी या भूख से कम भोजन, नियमित भोजन तथा रस-परित्याग का भी स्वास्थ्य की दृष्टि से पर्याप्त मूल्य है। साथ ही यह संयम एवं इन्द्रिय जय में भी सहायक है। गांधीजी ने तो इसी से प्रभावित हो ग्यारह व्रतों में अस्वाद व्रत का विधान किया था।

यद्यपि वर्तमान युग भिक्षा-वृत्ति को उचित नहीं मानता है, तथापि समाज-व्यवस्था की दृष्टि से इसका दूसरा पहलू भी है। जैन आचार-व्यवस्था में भिक्षावृत्ति के जो नियम प्रतिपादित हैं वे अपने आप में इतने सबल हैं कि भिक्षावृत्ति के सम्भावित दोषों का निराकरण स्वतः हो जाता है। भिक्षावृत्ति के लिए अहं का त्याग आवश्यक है और नैतिक दृष्टि से उसका कम मूल्य नहीं है।

इसी प्रकार आसन-साधना और एकांतवास का योग-साधना की दृष्टि से मूल्य है। आसन योग-साधना का एक अनिवार्य अंग है।

तप के आभ्यन्तर भेदों में ध्यान और कायोत्सर्ग का भी साधनात्मक मूल्य है। पुनः स्वाध्याय, वैयावृत्य (सेवा) एवं विनय (अनुशासन) का तो सामाजिक एवं वैयक्तिक दोनों दृष्टियों से बड़ा महत्त्व है। सेवाभाव और अनुशासित जीवन ये दोनों सभ्य समाज के आवश्यक गुण हैं। ईसाई धर्म में तो इस सेवाभाव को काफी अधिक महत्त्व दिया गया है। आज उसके व्यापक प्रचार का एकमात्र कारण उसकी सेवा-भावना ही तो है। मनुष्य के लिए सेवाभाव एक आवश्यक तत्त्व है जो अपने प्रारम्भिक क्षेत्र में परिवार से प्रारम्भ होकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तक का विशाल आदर्श प्रस्तुत करता है।

स्वाध्याय का महत्त्व आध्यात्मिक विकास और ज्ञानात्मक विकास दोनों दृष्टियों से है। एक ओर वह स्व का अध्ययन है तो दूसरी ओर ज्ञान का अनुशीलन। ज्ञान और विज्ञान की सारी प्रगति के मूल में तो स्वाध्याय ही है।

प्रायश्चित्त एक प्रकार से अपराधी द्वारा स्वयाचित दण्ड है। यदि व्यक्ति में प्रायश्चित्त की भावना जागृत हो जाती है तो उसका जीवन ही बदल जाता है। जिस समाज में ऐसे लोग हों, वह समाज तो आदर्श ही होगा।

वास्तव में तो तप के इन विभिन्न अंगों के इतने अधिक पहलू हैं कि जिनका समुचित मूल्यांकन सहज नहीं।

तप आचरण में व्यक्त होता है। वह आचरण ही है। उसे शब्दों में व्यक्त करना सम्भव नहीं है। तप आत्मा की ऊषा है, जिसे शब्दों में बाँधा नहीं जा सकता।

यह किसी एक आचार-दर्शन की बपौती नहीं, वह तो प्रत्येक जागृत आत्मा की अनुभूति है। उसकी अनुभूति से ही मन के कलुष धुलने लगते हैं, वासनाएँ शिथिल हो जाती हैं, अहं गलने लगता है। तृष्णा और कषायों की अग्नि तप की ऊष्मा के प्रकट होते ही निःशेष हो जाती है। जड़ता क्षीण हो जाती है। चेतना और आनन्द का एक नया आयाम खुल जाता है, एक नवीन अनुभूति होती है। शब्द और भाषा मौन हो जाती है, आचरण की वाणी मुखरित होने लगती है।

तप का यही जीवन्त और जागृत शाश्वत स्वरूप है जो सार्वजनीन और सार्वकालिक है। सभी साधना-पद्धतियाँ इसे मानकर चलती हैं और देश काल के अनुसार इसके किसी एक द्वार से साधकों को तप के इस भव्य महल में लाने का प्रयास करती हैं, जहाँ साधक अपने परमात्म स्वरूप का दर्शन करता है, आत्मन्, ब्रह्म या ईश्वर का साक्षात्कार करता है।

तप एक ऐसा प्रशस्त योग है जो आत्मा को परमात्मा से जोड़ देता है, आत्मा का परिष्कार कर उसे परमात्म-स्वरूप बना देता है।

●

निवृत्तिमार्ग एवं प्रवृत्तिमार्ग का विकास

आचार-दर्शन के क्षेत्र में प्रवृत्ति और निवृत्ति का प्रश्न सदैव ही गम्भीर विचार का विषय रहा है। आचरण के क्षेत्र में ही अनैकिता की सम्भावना रहती है, क्रिया में ही बन्धन की क्षमता होती है। इसलिए कहा गया कि कर्म से बन्धन होता है। प्रश्न उठता है कि यदि कर्म अथवा आचरण ही बन्धन का कारण है तो फिर क्यों न इसे त्याग कर निष्क्रियता का जीवन अपनाया जाये। बस, इसी विचार के मूल में निवृत्ति वादी अथवा नैष्कर्म्यवादी संन्यासमार्ग का बीज है। निष्पाप जीवन जीने की उमंग में ही निवृत्तिवादी परम्परा मनुष्य को कर्मक्षेत्र से दूर निर्जन वनखण्ड एवं गिरि-गुफाओं में ले गयी, जहाँ यथासम्भव निष्कर्म जीवन सुलभतापूर्वक बिताया जा सके। दूसरी ओर जिन लोगों ने कर्मक्षेत्र से भागना तो नहीं चाहा, लेकिन पाप के भय एवं भावी सुखद जीवन की कल्पना से अपने को मुक्त नहीं रख सके उन्होंने पाप-निवृत्ति एवं जीवनकी मंगलकामना के लिए किसी ऐसी अदृश्य सत्ता में विश्वास किया, जो उन्हें आचरित पाप से मुक्त कर सके और जीवन में सुख-सुविधाओं की उपलब्धि कराये। इतना ही नहीं, उन्होंने उस सत्ता को प्रसन्न करने के लिए अनेक विधि-विधानों का निर्माण कर लिया और यहीं से प्रवृत्ति मार्ग या कर्मकाण्ड की परम्परा का उद्भव हुआ।

भारतीय आचार-दर्शन के इतिहास का पूर्वार्ध प्रमुखतः इन दोनों निवर्तक एवं प्रवर्तक धर्मों के उद्भव, विकास और संघर्ष का इतिहास है, जबकि उत्तरार्ध इनके समन्वय का इतिहास है। जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार-दर्शनों का विकास इन दोनों परम्पराओं के संघर्ष-युग के अन्तिम चरण में हुआ है। इन्होंने इस संघर्ष को मिटाने के हेतु समन्वय की नई दिशा दी। जैन एवं बौद्ध विचार-परम्पराएँ यद्यपि निवर्तक धर्म को ही शाखायें थीं, तथापि उन्होंने अपने अन्दर प्रवर्तक धर्म के कुछ तत्त्वों का समावेश किया और उन्हें नई परिभाषायें प्रदान कीं। लेकिन गीता तो समन्वय के विचार को लेकर ही आगे आयी थी। गीता में अनासक्तियोग के द्वारा प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुमेल कराने का प्रयास है।

निवृत्ति-प्रवृत्ति के विभिन्न अर्थ—निवृत्ति एवं प्रवृत्ति शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होते रहे हैं। साधारणतया निवृत्ति का अर्थ है अलग होना और प्रवृत्ति का अर्थ है प्रवृत्त होना या लगना। लेकिन इन अर्थों को लाक्षणिक रूप में लेते हुए प्रवृत्ति और

निवृत्ति के अनेक अर्थ किये गये। यहाँ विभिन्न अर्थों को दृष्टि में रखते हुए विचार करेंगे।

प्रवृत्ति और निवृत्ति सक्रियता एवं निष्क्रियता के अर्थ में

निवृत्ति शब्द निः + वृत्ति इन दो शब्दों के योग से बना है। वृत्ति से तात्पर्य कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियायें हैं। वृत्ति के साथ लगा हुआ निस् उपसर्ग निषेध का सूचक है। इस प्रकार निवृत्ति शब्द का अर्थ होता है कायिक, वाचिक एवं, मानसिक क्रियाओं का अभाव। निवृत्तिपरकता का यह अर्थ लगाया जाता है कि कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं के अभाव की ओर बढ़ना, उनको छोड़ना या कम करते जाना, जिसे हम कर्म संन्यास कह सकते हैं। इस प्रकार समझा यह जाता है कि निवृत्ति का अर्थ जीवन से पलायन है, मानसिक, वाचिक एवं कायिक कर्मों की निष्क्रियता है। लेकिन भारतीय आचार-दर्शनों में से कोई भी निवृत्ति को निष्क्रियता के अर्थ में स्वीकार नहीं करता। क्योंकि कर्म-क्षेत्र में कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं की पूर्ण निष्क्रियता सम्भव ही नहीं है।

जैन दृष्टिकोण—यद्यपि जैनधर्म में मुक्ति के लिए मन, वाणी और शरीर की वृत्तियों का निरोध आवश्यक माना गया है फिर भी उसमें विशुद्ध चेतना एवं शुद्ध ज्ञान की अवस्था पूर्ण निष्क्रियावस्था नहीं है। जैनधर्म तो मुक्तदशा में भी आत्मा में ज्ञान की अपेक्षा से परिणमनशीलता (सक्रियता) को स्वीकार कर पूर्ण निष्क्रियता की अवधारणा को अस्वीकार कर देता है। जहाँ तक दैहिक एवं लौकिक जीवन की बात है, जैन-दर्शन पूर्ण निष्क्रिय अवस्था की सम्भावना को ही स्वीकार नहीं करता। कर्म-क्षेत्र में क्षणमात्र के लिए भी ऐसी अवस्था नहीं होती जब प्राणी की मन, वचन और शरीर की समग्र क्रियायें पूर्णतः निरुद्ध हो जायें। उसके अनुसार अनासक्त जीवन्मुक्त अर्हत् में भी इन क्रियाओं का अभाव नहीं होता। समस्त वृत्तियों के निरोध का काल ऐसे महापुरुषों के जीवन में भी एक क्षणमात्र का ही होता है जब कि वे अपने परिनिर्वाण की तैयारी में होते हैं। मन, वचन और शरीर की समस्त क्रियाओं के पूर्ण निरोध की अवस्था (जिसे जैन पारिभाषिक शब्दों में अयोगीकेवली गुणस्थान कहा जाता है) की कालावधि पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण में लगने वाले समय के बराबर होती है। इस प्रकार जीवन्मुक्त अवस्था में भी इन क्षणों के अतिरिक्त पूर्ण निष्क्रियता के लिए कोई अवसर ही नहीं होता, फिर सामान्य प्राणी की बात ही क्या? जब आत्मा कृतकार्य हो जाती है, तब भी वह अर्हतावस्था या तीर्थंकर दशा में निष्क्रिय नहीं होती वरन् संघ-सेवा और प्राणियों के आध्यात्मिक विकास के लिए सतत प्रयत्नशील रहती है। तीर्थंकरत्व अथवा अर्हतावस्था प्राप्त करने के बाद संघ-स्थापना और धर्म-चक्र-प्रवर्तन की सारी क्रियायें लोकहित की दृष्टि से की जाती हैं जो यही बताती हैं कि जैन विचारणा न केवल साधना के पूर्वांग के रूप में क्रियाशीलता को आवश्यक मानती है

निवृत्तिमार्ग एवं प्रवृत्तिमार्ग का विकास

आचार-दर्शन के क्षेत्र में प्रवृत्ति और निवृत्ति का प्रश्न सदैव ही गम्भीर विचार का विषय रहा है। आचरण के क्षेत्र में ही अनैकिता की सम्भावना रहती है, क्रिया में ही बन्धन की क्षमता होती है। इसलिए कहा गया कि कर्म से बन्धन होता है। प्रश्न उठता है कि यदि कर्म अथवा आचरण ही बन्धन का कारण है तो फिर क्यों न इसे त्याग कर निष्क्रियता का जीवन अपनाया जाये। बस, इसी विचार के मूल में निवृत्ति वादी अथवा नैष्कर्म्यवादी संन्यासमार्ग का बीज है। निष्पाप जीवन जीने की उमंग में ही निवृत्तिवादी परम्परा मनुष्य को कर्मक्षेत्र से दूर निर्जन वनखण्ड एवं गिरि-गुफाओं में ले गयी, जहाँ यथासम्भव निष्कर्म जीवन सुलभतापूर्वक बिताया जा सके। दूसरी ओर जिन लोगों ने कर्मक्षेत्र से भागना तो नहीं चाहा, लेकिन पाप के भय एवं भावी सुखद जीवन की कल्पना से अपने को मुक्त नहीं रख सके उन्होंने पाप-निवृत्ति एवं जीवन की मंगलकामना के लिए किसी ऐसी अदृश्य सत्ता में विश्वास किया, जो उन्हें आचरित पाप से मुक्त कर सके और जीवन में सुख-सुविधाओं की उपलब्धि कराये। इतना ही नहीं, उन्होंने उस सत्ता को प्रसन्न करने के लिए अनेक विधि-विधानों का निर्माण कर लिया और यहीं से प्रवृत्ति मार्ग या कर्मकाण्ड की परम्परा का उद्भव हुआ।

भारतीय आचार-दर्शन के इतिहास का पूर्वार्ध प्रमुखतः इन दोनों निवर्तक एवं प्रवर्तक धर्मों के उद्भव, विकास और संघर्ष का इतिहास है, जबकि उत्तरार्ध इनके समन्वय का इतिहास है। जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार-दर्शनों का विकास इन दोनों परम्पराओं के संघर्ष-युग के अन्तिम चरण में हुआ है। इन्होंने इस संघर्ष को मिटाने के हेतु समन्वय की नई दिशा दी। जैन एवं बौद्ध विचार-परम्पराएँ यद्यपि निवर्तक धर्म की ही शाखायें थीं, तथापि उन्होंने अपने अन्दर प्रवर्तक धर्म के कुछ तत्त्वों का समावेश किया और उन्हें नई परिभाषायें प्रदान कीं। लेकिन गीता तो समन्वय के विचार को लेकर ही आगे आयी थी। गीता में अनासक्तियोग के द्वारा प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुमेल कराने का प्रयास है।

निवृत्ति-प्रवृत्ति के विभिन्न अर्थ—निवृत्ति एवं प्रवृत्ति शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होते रहे हैं। साधारणतया निवृत्ति का अर्थ है अलग होना और प्रवृत्ति का अर्थ है प्रवृत्त होना या लगना। लेकिन इन अर्थों को लाक्षणिक रूप में लेते हुए प्रवृत्ति और

निवृत्ति के अनेक अर्थ किये गये। यहाँ विभिन्न अर्थों को दृष्टि में रखते हुए विचार करेंगे।

प्रवृत्ति और निवृत्ति सक्रियता एवं निष्क्रियता के अर्थ में

निवृत्ति शब्द निः + वृत्ति इन दो शब्दों के योग से बना है। वृत्ति से तात्पर्य कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियायें हैं। वृत्ति के साथ लगा हुआ निस् उपसर्ग निषेध का सूचक है। इस प्रकार निवृत्ति शब्द का अर्थ होता है कायिक, वाचिक एवं, मानसिक क्रियाओं का अभाव। निवृत्तिपरकता का यह अर्थ लगाया जाता है कि कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं के अभाव की ओर बढ़ना, उनको छोड़ना या कम करते जाना, जिसे हम कर्म संन्यास कह सकते हैं। इस प्रकार समझा यह जाता है कि निवृत्ति का अर्थ जीवन से पलायन है, मानसिक, वाचिक एवं कायिक कर्मों की निष्क्रियता है। लेकिन भारतीय आचार-दर्शनों में से कोई भी निवृत्ति को निष्क्रियता के अर्थ में स्वीकार नहीं करता। क्योंकि कर्म-क्षेत्र में कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं की पूर्ण निष्क्रियता सम्भव ही नहीं है।

जैन दृष्टिकोण—यद्यपि जैनधर्म में मुक्ति के लिए मन, वाणी और शरीर की वृत्तियों का निरोध आवश्यक माना गया है फिर भी उसमें विशुद्ध चेतना एवं शुद्ध ज्ञान की अवस्था पूर्ण निष्क्रियावस्था नहीं है। जैनधर्म तो मुक्तदशा में भी आत्मा में ज्ञान की अपेक्षा से परिणमनशीलता (सक्रियता) को स्वीकार कर पूर्ण निष्क्रियता की अवधारणा को अस्वीकार कर देता है। जहाँ तक दैहिक एवं लौकिक जीवन की बात है, जैन-दर्शन पूर्ण निष्क्रिय अवस्था की सम्भावना को ही स्वीकार नहीं करता। कर्म-क्षेत्र में क्षणमात्र के लिए भी ऐसी अवस्था नहीं होती जब प्राणी की मन, वचन और शरीर की समग्र क्रियायें पूर्णतः निरुद्ध हो जायें। उसके अनुसार अनासक्त जीवन्मुक्त अर्हत् में भी इन क्रियाओं का अभाव नहीं होता। समस्त वृत्तियों के निरोध का काल ऐसे महापुरुषों के जीवन में भी एक क्षणमात्र का ही होता है जब कि वे अपने परिनिर्वाण की तैयारी में होते हैं। मन, वचन और शरीर की समस्त क्रियाओं के पूर्ण निरोध की अवस्था (जिसे जैन पारिभाषिक शब्दों में अयोगीकेवली गुणस्थान कहा जाता है) की कालावधि पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण में लगने वाले समय के बराबर होती है। इस प्रकार जीवन्मुक्त अवस्था में भी इन क्षणों के अतिरिक्त पूर्ण निष्क्रियता के लिए कोई अवसर ही नहीं होता, फिर सामान्य प्राणी की बात ही क्या ? जब आत्मा कृतकार्य हो जाती है, तब भी वह अर्हतावस्था या तीर्थंकर दशा में निष्क्रिय नहीं होती वरन् संघ-सेवा और प्राणियों के आध्यात्मिक विकास के लिए सतत प्रयत्नशील रहती है। तीर्थंकरत्व अथवा अर्हतावस्था प्राप्त करने के बाद संघ-स्थापना और धर्म-चक्र-प्रवर्तन की सारी क्रियायें लोकहित की दृष्टि से की जाती है जो यही बताती हैं कि जैन विचारणा न केवल साधना के पूर्वांग के रूप में क्रियाशीलता को आवश्यक मानती है

संन्यास मार्ग पर अधिक बल—जैन और बौद्ध परम्पराओं के अनुसार गृही-जीवन नैतिक परमश्रेय की उपलब्धि का एक ऐसा मार्ग है जो सरल होते हुए भी भय से पूर्ण है, जबकि संन्यास ऐसा मार्ग है जो कठोर होने पर भी भयपूर्ण नहीं है। गृही-जीवन में साधना के मूल तत्त्व अर्थात् मनःस्थिरता को प्राप्त करना दुष्कर हैं। संन्यास-मार्ग साधना की व्यावहारिक दृष्टि से कठोर प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः सुसाध्य है, जब कि गृहस्थ-मार्ग व्यावहारिक दृष्टि से सुसाध्य प्रतीत होते हुए भी दुःसाध्य है, क्योंकि नैतिक विकास के लिए जिस मनो-सन्तुलन की आवश्यकता है वह संन्यास में सहज प्राप्त है, उसमें चित्त विचलन के अवसर अति न्यून हैं, जबकि गृहस्थ जीवन में वन-खण्ड की तरह बाधाओं से भरा है। जैसे गिरिकन्दराओं में सुरक्षित रहने के लिए विशेष साहस एवं योग्यता अपेक्षित है, वैसे ही गृहस्थ-जीवन में नैतिक पूर्णता प्राप्त करना विशेष योग्यता का ही परिचायक है।

गृही-जीवन में साधना के मूल तत्त्व अर्थात् मनःस्थिरता को सुरक्षित रखते हुए लक्ष्य तक पहुँच पाना कठिन होता है। राग-द्वेष के प्रसंगों की उपस्थिति की सम्भावना गृही-जीवन में अधिक होती हैं, अतः उन प्रसंगों में राग-द्वेष नही करना या अनासक्ति रखना एक दुःसाध्य स्थिति है, जबकि संन्यासमार्ग में इन प्रसंगों की उपस्थिति के अवसर अल्प होते हैं, अतः इसमें नैतिकता की समत्वरूपी साधना सरल होती है। गृहस्थ-जीवन में साधना की ओर जाने वाला रास्ता फिसलन भरा है, जिसमें कदम कदम पर सतर्कता की आवश्यकता है। यदि साधक एक क्षण के लिए भी आवेगों के प्रवाह में नहीं संभला तो फिर बच पाना कठिन होता है। वासनाओं के बवंडर के मध्य रहते हुए भी उनसे अप्रभावित रहना सहज कार्य नहीं है। महावीर और बुद्ध ने मानव की इन दुर्बलताओं को समझकर ही संन्यासमार्ग पर जोर दिया।

जैन और बौद्ध दर्शन में संन्यास निरापद मार्ग—महावीर या बुद्ध की दृष्टि में संन्यास या गृहस्थ धर्म नैतिक जीवन के लक्ष्य नहीं हैं, वरन् साधन हैं। नैतिकता संन्यास धर्म या गृहस्थधर्म की प्रक्रिया में नहीं है, वरन् चित्त की समत्ववृत्ति में है, राग-द्वेष के प्रहाण में है, माध्यस्थभाव में है। नैतिक मूल्य तो मानसिक समत्व या अनासक्ति का है। महावीर या बुद्ध का आग्रह कभी भी साधनों के लिए नहीं रहा। उनका आग्रह तो साध्य के लिए है। हाँ, वे यह अवश्य मानते हैं कि नैतिकता के इस आदर्श की उपलब्धि का निरापद मार्ग संन्यासधर्म है, जब कि गृहस्थधर्म बाधाओं से परिपूर्ण है, निरापद मार्ग नहीं है। जैन-दर्शन के अनुसार, जिसमे मरुदेवी जैसी निश्छलता और भरत जैसी जागरूकता एवं अनासक्ति हो, वही गृहस्थ जीवन में भी नैतिक परमलक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण को प्राप्त करनेवाले सौ पुत्रों में यह केवल भरत की ही विशेषता थी जिसने गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी पूर्णता को प्राप्त किया। शेष ९९ पुत्रों ने तो परमसाध्य को प्राप्ति के लिए संन्यास का सुकर मार्ग ही चुना।

वस्तुतः गृहस्थ-जीवन में नैतिक साध्य को प्राप्त कर लेना दुःसाध्य कार्य है। वह तो आग से खेलते हुए भी हाथ को नहीं जलने देने के समान है। गीता भी जब यह कहती कि कर्म-संन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है तो उसका यही तात्पर्य है कि संन्यास की अपेक्षा गृहस्थ जीवन में रहते हुए जो नैतिक पूर्णता प्राप्त की जाती है वह विशेष महत्त्वपूर्ण है।[1] लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि गृहस्थ-जीवन संन्यासमार्गकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। यदि दो मार्ग एक ही लक्ष्य की ओर जाते हों, लेकिन उनमें से एक बाधाओं में पूर्ण हो, लम्बा हो और दूसरा मार्ग निरापद हो, कम लम्बा हो तो कोई भी पहले मार्ग को श्रेष्ठ नहीं कहेगा। श्रेष्ठ मार्ग तो दूसरा ही कहलायेगा। हाँ, बाधाओं से परिपूर्ण मार्ग से होकर जो साधक लक्ष्य तक पहुँचता है वह अवश्य ही विशेष योग्य कहा जायेगा।[2] जैन और बौद्ध आचार-दर्शन यद्यपि संन्यासमार्ग पर अधिक जोर देते हैं और इस अर्थ में निवृत्यात्मक ही हैं, तथापि इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि गृहस्थ-जीवन में रह कर नैतिक साधना की पूर्णता को प्राप्त नहीं किया जा सकता है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि संन्यासमार्ग के द्वारा नैतिक साधना या आध्यात्मिक समत्वकी उपलब्धि करना अधिक सुलभ है।

क्या संन्यास पलायन है ?—जो लोग निवृत्तिमार्ग या संन्यासमार्ग को पलायन-वादिता कहते हैं, वे भी किसी अर्थ में ठीक है। संन्यास इस अर्थ में पलायन है कि वह हमें उस सुरक्षित स्थान की ओर भाग जाने को कहता है जिसमें रहकर नैतिक विकास सुलभ होता है। वह नैतिक विकास या आध्यात्मिक समत्व की उपलब्धि के मार्ग में वासनाओं के मध्य रहकर उनसे संघर्ष करने की बात नहीं कहता, वरन् वासनाओं के क्षेत्र से बच निकलने की बात कहता है। संन्यासमार्ग में साधक वासनाओं के मध्य रहते हुए उनसे ऊपर नहीं उठता, वरन् वह उनसे बचने का ही प्रयास करता है। वह उन सब प्रसंगों से जहाँ इस आध्यात्मिक समत्व या नैतिक जीवन से विचलन की सम्भावनाओं का भय होता है, दूर रहने का ही प्रयास करता है। वह वासनाओं से संघर्ष का पथ नहीं चुनता, वरन् वासनाओं से निरापद मार्ग को ही चुनता है। वह वासनाओं से संघर्ष के अवसरों को कम करने का प्रयास करता है। वह संघर्ष के प्रसंगों से दूर रहना या बचना चाहता है। इन सब अर्थों में निश्चय ही संन्यासमार्ग पलायन है, लेकिन ऐसी पलायनवादिता अनुचित तो नहीं कही जा सकती। क्या निरापदमार्ग चुनना अनुचित है ? क्या पतन के भय से बचने का प्रयास करना अनुचित है ? क्या उन संघर्षों के अवसरों को, जिनमें पतन की सम्भावना हो, टालना अनुचित है ? संन्यास पलायन तो है लेकिन वह अनुचित नहीं है; वरन् मानवीय बुद्धि का ही परिचायक है।

१. गीता, ५।२

२. स्थूलिभद्र का कोशा वेश्या के यहाँ चातुर्मास करने का सम्पूर्ण कथानक इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट कर देता है।

समत्व के भंग होने के अवसर या राग-द्वेप के प्रसंग गृहस्थ जीवन में अधिक होते हैं और यदि कोई साधक उस अवस्था में समत्व दृष्टि रख पाने में अपने को असमर्थ पाता है तो उसके लिए यही उचित है कि वह संन्यास के सुरक्षित क्षेत्र में ही विचरण करे। जैसे चोरों से धन की सुरक्षा के लिए व्यक्ति के सामने दो विकल्प हो सकते हैं—एक तो यह कि व्यक्ति अपने में इतनी योग्यता एवं साहस विकसित कर ले कि वह कभी भी चोरों से संघर्ष में पराभूत न हो, किन्तु यदि वह अपने में इतना साहस नहीं पाता है तो उचित यही है कि वह किसी सुरक्षित एवं निरापद स्थान की ओर चला जाय। इसी प्रकार संन्यास आत्मा के समत्वरूप धन की सुरक्षा के लिए निरापद स्थान में रहना है, जिसे बौद्धिक दृष्टि से असंगत नहीं माना जा सकता। जैन-धर्म संन्यासमार्ग पर जो बल देता है, उसके पीछे मात्र यही दृष्टि है कि अधिकांश व्यक्तियों में इतनी योग्यता का विकास नहीं हो पाता कि वे गृही-जीवन में, जो कि राग-द्वेप के प्रसंगों का केन्द्र है, अनासक्त या समत्वपूर्ण मनःस्थिति बनाये रख सकें। अतः उनके लिए संन्यास ही निरापद क्षेत्र है। संन्यास का महत्त्व या आग्रह साधन-मार्ग की सुलभता की दृष्टि से है। साध्य से परे साधन का मूल्य नहीं होता। जैन एवं बौद्ध दृष्टि में संन्यास का जो भी मूल्य है, साधन की दृष्टि से है। समत्वरूप साध्य की उपलब्धि की दृष्टि से तो जहाँ भी समभाव की उपस्थिति है, वह स्थान समान मूल्य का है, चाहे वह गृहस्थ-धर्म हो या संन्यास-धर्म।

गृहस्थ और संन्यस्त जीवन की श्रेष्ठता ?

गृहस्थ और संन्यास जीवन में कौन श्रेष्ठ है इसका उत्तराध्ययनसूत्र में विचार हुआ है। उसी प्रसंग को स्पष्ट करते हुए उपाध्याय अमरमुनिजी लिखते हैं, 'यह जीवन का क्षेत्र है, यहाँ श्रेष्ठता और निम्नता का मापतौल आत्म-परिणति पर आधारित है। किसी-किसी गृहस्थ का जीवन सन्त के जीवन से भी श्रेष्ठ होता है, यदि वह अपने कर्तव्य-पथ पर पूरी ईमानदारी के साथ चल रहा है।....कौन छोटा है और कौन बड़ा ? इसकी नापतौल साधु और गृहस्थ के भेदभाव से नहीं की जा सकती। साधु और श्रावक, जो भी अपने दायित्वों को भली प्रकार निभा रहा है, जिन्दगी के मोर्चे पर सावधानी के साथ खड़ा हुआ है वही श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण है। यह अनेकान्त-दृष्टि है। यहाँ वेश को महत्ता नहीं दी जाती, वाह्य जीवन को नहीं देखा जाता, किन्तु अन्तरात्मा के विचारों को टटोला जाता है। कौन कितना कर रहा है (मात्र) यह नहीं देखा जाता, पर कौन कैसा कर रहा है इसी पर ध्यान दिया जाता है।[1] वस्तुतः जैन-दर्शन के अनुसार गृहस्थ और संन्यासी के जीवन में श्रेष्ठता और अश्रेष्ठता का माप सामान्य दृष्टि और वैयक्तिक दृष्टि ऐसे दो आधारों पर किया जाता है। सामान्यतः संन्यासधर्म श्रेष्ठ

---

१. अमरभारती, मई १९६५, पृ० १०

है, क्योंकि यह नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास का सुलभ मार्ग है, उसमें पतन की सम्भावनाओं की अल्पता है; जब कि व्यक्तिगत आधार पर गृहस्थधर्म भी श्रेष्ठ हो सकता है। जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन में भी अनासक्त भाव से रहता है, कीचड़ में रह कर भी उससे अलिप्त रहता है, वह निश्चय ही साधारण साधुओं की अपेक्षा श्रेष्ठ है। गृहस्थ के वर्ग से साधुओं का वर्ग श्रेष्ठ होता है, लेकिन कुछ साधुओं की अपेक्षा कुछ गृहस्थ भी श्रेष्ठ होते हैं।[1] गृहस्थ के प्रवृत्यात्मक जीवन और साधु के निवृत्यात्मक जीवन के प्रति जैन-दृष्टि का यही सार है। उसे न गृहस्थ-जीवन की प्रवृत्ति का आग्रह है और न संन्यास-मार्ग की निवृत्ति का आग्रह है। उसे यदि आग्रह है तो वह अनाग्रह का ही आग्रह है, अनासक्ति का ही आग्रह है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही उसे स्वीकार हैं—यदि वे इस अनाग्रह या अनासक्ति के लक्ष्य की यात्रा में सहायक हैं। गृहस्थ जीवन और संन्यास के यह बाह्य भेद उसकी दृष्टि में उतने महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितनी साधक की मनःस्थिति एवं उनकी अनासक्त भावना। वेशविशेष या आश्रम विशेष का ग्रहण साधना का सही अर्थ नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट निर्देश है, 'चीवर, मृगचर्म, नग्नत्व, जटा, जीर्ण वस्त्र और मुण्डन अर्थात् संन्यास जीवन के बाह्य लक्षण दुःशील की दुर्गति से रक्षा नहीं कर सकते। भिक्षु भी यदि दुराचारी हो तो नरक से बच नहीं सकता। गृहस्थ हो अथवा भिक्षु, सम्यक् आचरण करनेवाला दिव्य लोकों को ही जाता है। गृहस्थ हो अथवा भिक्षु, जो भी कषायों एवं आसक्ति से निवृत्त है एवं संयम एवं तप से परिवृत है, वह दिव्य स्थानों को ही प्राप्त करता है।[2]

समत्व के भंग होने के अवसर या राग-द्वेष के प्रसंग गृहस्थ जीवन में अधिक होते हैं और यदि कोई साधक उस अवस्था में समत्व दृष्टि रख पाने में अपने को असमर्थ पाता है तो उसके लिए यही उचित है कि वह संन्यास के सुरक्षित क्षेत्र में ही विचरण करे। जैसे चोरों से धन की सुरक्षा के लिए व्यक्ति के सामने दो विकल्प हो सकते हैं—एक तो यह कि व्यक्ति अपने में इतनी योग्यता एवं साहस विकसित कर ले कि वह कभी भी चोरों से संघर्ष में पराभूत न हो, किन्तु यदि वह अपने में इतना साहस नहीं पाता है तो उचित यही है कि वह किसी सुरक्षित एवं निरापद स्थान की ओर चला जाय। इसी प्रकार संन्यास आत्मा के समत्वरूप धन की सुरक्षा के लिए निरापद स्थान में रहना है, जिसे बौद्धिक दृष्टि से असंगत नहीं माना जा सकता। जैन-धर्म संन्यासमार्ग पर जो वल देता है, उसके पीछे मात्र यही दृष्टि है कि अधिकांश व्यक्तियों में इतनी योग्यता का विकास नहीं हो पाता कि वे गृही-जीवन में, जो कि राग-द्वेष के प्रसंगों का केन्द्र है, अनासक्त या समत्वपूर्ण मनःस्थिति बनाये रख सकें। अतः उनके लिए संन्यास ही निरापद क्षेत्र है। संन्यास का महत्त्व या आग्रह साधन-मार्ग की सुलभता की दृष्टि से है। साध्य से परे साधन का मूल्य नहीं होता। जैन एवं बौद्ध दृष्टि में संन्यास का जो भी मूल्य है, साधन की दृष्टि से है। समत्वरूप साध्य की उपलब्धि की दृष्टि से तो जहाँ भी समभाव की उपस्थिति है, वह स्थान समान मूल्य का है, चाहे वह गृहस्थ-धर्म हो या संन्यास-धर्म।

गृहस्थ और संन्यस्त जीवन की श्रेष्ठता ?

गृहस्थ और संन्यास जीवन में कौन श्रेष्ठ है इसका उत्तराध्ययनसूत्र में विचार हुआ है। उसी प्रसंग को स्पष्ट करते हुए उपाध्याय अमरमुनिजी लिखते हैं, 'यह जीवन का क्षेत्र है, यहाँ श्रेष्ठता और निम्नता का मापतौल आत्म-परिणति पर आधारित है। किसी-किसी गृहस्थ का जीवन सन्त के जीवन से भी श्रेष्ठ होता है, यदि वह अपने कर्तव्य-पथ पर पूरी ईमानदारी के साथ चल रहा है।....कौन छोटा है और कौन बड़ा ? इसकी नापतौल साधु और गृहस्थ के भेदभाव से नहीं की जा सकती। साधु और श्रावक, जो भी अपने दायित्वों को भली प्रकार निभा रहा है, जिन्दगी के मोर्चे पर सावधानी के साथ खड़ा हुआ है वही श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण है। यह अनेकान्त-दृष्टि है। यहाँ वेश को महत्ता नहीं दी जाती, बाह्य जीवन को नहीं देखा जाता, किन्तु अन्तरात्मा के विचारों को टटोला जाता है। कौन कितना कर रहा है (मात्र) यह नहीं देखा जाता, पर कौन कैसा कर रहा है इसी पर ध्यान दिया जाता है।'[1] वस्तुतः जैन-दर्शन के अनुसार गृहस्थ और संन्यासी के जीवन में श्रेष्ठता और अश्रेष्ठता का माप सामान्य दृष्टि और वैयक्तिक दृष्टि ऐसे दो आधारों पर किया जाता है। सामान्यतः संन्यासधर्म श्रेष्ठ

---

१. अमरभारती, मई १९६५, पृ० १०

है, क्योंकि यह नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास का सुलभ मार्ग है, उसमें पतन की सम्भावनाओं की अल्पता है; जब कि व्यक्तिगत आधार पर गृहस्थधर्म भी श्रेष्ठ हो सकता है। जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन में भी अनासक्त भाव से रहता है, कीचड़ में रह कर भी उससे अलिप्त रहता है, वह निश्चय ही साधारण साधुओं की अपेक्षा श्रेष्ठ है। गृहस्थ के वर्ग से साधुओं का वर्ग श्रेष्ठ होता है, लेकिन कुछ साधुओं की अपेक्षा कुछ गृहस्थ भी श्रेष्ठ होते हैं।[1] गृहस्थ के प्रवृत्यात्मक जीवन और साधु के निवृत्यात्मक जीवन के प्रति जैन-दृष्टि का यही सार है। उसे न गृहस्थ-जीवन की प्रवृत्ति का आग्रह है और न संन्यास-मार्ग की निवृत्ति का आग्रह है। उसे यदि आग्रह है तो वह अनाग्रह का ही आग्रह है, अनासक्ति का ही आग्रह है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही उसे स्वीकार है—यदि वे इस अनाग्रह या अनासक्ति के लक्ष्य की यात्रा में सहायक हैं। गृहस्थ जीवन और संन्यास के यह बाह्य भेद उसकी दृष्टि में उतने महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितनी साधक की मनःस्थिति एवं उनकी अनासक्त भावना। वेशविशेष या आश्रम विशेष का ग्रहण साधना का सही अर्थ नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट निर्देश है, 'चीवर, मृगचर्म, नग्नत्व, जटा, जीर्ण वस्त्र और मुण्डन अर्थात् संन्यास जीवन के बाह्य लक्षण दुःशील की दुर्गति से रक्षा नहीं कर सकते। भिक्षु भी यदि दुराचारी हो तो नरक से बच नहीं सकता। गृहस्थ हो अथवा भिक्षु, सम्यक् आचरण करनेवाला दिव्य लोकों को ही जाता है। गृहस्थ हो अथवा भिक्षु, जो भी कषायों एवं आसक्ति से निवृत्त है एवं संयम एवं तप से परिवृत हैं, वह दिव्य स्थानों को ही प्राप्त करता है।[2]

गीता का दृष्टिकोण—वैदिक आचार-दर्शन में भी प्रवृत्ति और निवृत्ति क्रमशः गृहस्थ धर्म और संन्यास धर्म के अर्थ में गृहीत है। इस अर्थ विवक्षा के आधार पर वैदिक परम्परा में प्रवृत्ति और निवृत्ति का यथार्थ स्वरूप समझने का प्रयास करने पर ज्ञात होता है कि वैदिक परम्परा मूल रूप में चाहे प्रवृत्ति परक रही हो, लेकिन गीता के युग तक उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति के तत्त्व समान रूप से प्रतिष्ठित हो चुके थे। परमसाध्य की प्राप्ति के लिए दोनों को ही साधना का मार्ग मान लिया गया था। महाभारत शान्तिपर्व में स्पष्ट लिखा है कि 'प्रवृत्ति लक्षण धर्म (गृहस्थ धर्म) और निवृत्ति लक्षण धर्म (संन्यास धर्म) यह दोनों ही मार्ग वेदों में समान रूप से प्रतिष्ठित हैं।[3] गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं, "हे निष्पाप अर्जुन, पूर्व में ही मेरे द्वारा जीवन शोधन की इन दोनों प्रणालियों का उपदेश दिया गया था। उनमें ज्ञानी या चिन्तनशील व्यक्तियों के लिए ज्ञानमार्ग या संन्यासमार्ग[4] का और कर्मशील व्यक्तियों के लिए

---

१. उत्तराध्ययन, ५।२०
२. वही, ५।२०–२३, २८
३. महाभारत शान्तिपर्व, २४०।६०
४. गीता (शां), ३।३

कर्ममार्ग[1] का उपदेश दिया गया है।[2] यद्यपि गीता के टीकाकार उन दोनों में से किसी एक की महत्ता को स्थापित करने का प्रयास करते रहे हैं।

शंकर का संन्यासमार्गीय दृष्टिकोण—आचार्य शंकर गीता भाष्य में गीता के उन समस्त प्रसंगों की, जिनमें कर्मयोग और कर्मसंन्यास दोनों को समान बल वाला माना गया है अथवा कर्मयोग की विशेषता का प्रतिपादन किया गया है, व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत करने की कोशिश करते हैं कि संन्यासमार्ग की श्रेष्ठता प्रतिष्ठापित हो। वे लिखते हैं, 'प्रवृत्तिरूप कर्मयोग की और निवृत्तिरूप परमार्थ या संन्यास के साथ जो समानता स्वीकार की गयी है, वह किसी अपेक्षा से ही है। परमार्थ(संन्यास) के साथ कर्मयोग की कर्तृ-विषयक समानता है। क्योंकि जो परमार्थ संन्यासी है वह सब कर्म-साधनों का त्याग कर चुकता है, इसलिए सब कर्मों का और उनके फलविषयक संकल्पों का, जो कि प्रवृत्ति हेतुक काम के कारण हैं, त्याग करता हैं और इस प्रकार परमार्थ संन्यास की और कर्मयोग की कर्ता के भावविषयक त्याग की अपेक्षा से समानता है।[3] गीता के एक अन्य प्रसंग की, जिसमें कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की विशेषता का प्रतिपादन किया है, आचार्य शंकर व्याख्या करते हैं कि 'ज्ञानरहित केवल संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशेष है।[4] इस प्रकार आचार्य शंकर यही सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि गीता में ज्ञानसहित संन्यास तो निश्चय ही कर्मयोग से श्रेष्ठ माना गया है। उनके अनुसार कर्मयोग तो ज्ञान-प्राप्ति का साधन है,[5] लेकिन मोक्ष तो ज्ञानयोग से ही होता है और ज्ञाननिष्ठा के अनुष्ठान का अधिकार संन्यासियों का ही है।

तिलक का कर्ममार्गीय दृष्टिकोण—तिलक के अनुसार गीता कर्ममार्ग की प्रतिपादक है। उनका दृष्टिकोण शंकर के दृष्टिकोण से विपरीत है। वे लिखते हैं कि इस प्रकार यह प्रकट हो गया कि कर्म-संन्यास और निष्काम-कर्म दोनों वैदिक धर्म के स्वतन्त्र मार्ग हैं और उनके विषय में गीता का यह निश्चित सिद्धान्त है कि वे वैकल्पिक नहीं हैं, किन्तु संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की योग्यता विशेष है।[6] वे गीता के इस कथन पर कि 'कर्म-संन्यास से कर्मयोग विशेष है' (कर्म संन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते) अत्यधिक भार देते हैं और उसको ही मूल-केन्द्र मानकर समग्र गीता के दृष्टिकोण को स्पष्ट करना चाहते हैं। उनका कहना है कि गीता स्पष्ट रूप से यह भी संकेत करता है कि बिना संन्यास ग्रहण कियेहुए भी व्यक्ति परम-सिद्धि प्राप्त कर सकता है। गीताकार ने जनकादि का उदाहरण देकर अपनी इस मान्यता को परिपुष्ट किया है।[7] अतः गीता को गृहस्थधर्म या प्रवृत्तिमार्ग का ही प्रतिपादक मानना चाहिए।

---

१. गीता, ३।३ २. वही, ३।३ ३. गीता (शां) ६।२
४. वही ५।२ ५. वही ३।३ ६. गीता-रहस्य, पृ० ३२०
७. गीता, ३।२०

गीता का दृष्टिकोण समन्वयात्मक—गीता में प्रवृत्तिप्रधान गृहस्थधर्म और निवृत्ति-प्रधान संन्यासधर्म दोनों स्वीकृत हैं। गीता के अधिकांश टीकाकार भी इस विषय में एकमत हैं कि गीता में दोनों प्रकार की निष्ठाएँ स्वीकृत हैं। दोनों से ही परमसाध्य की प्राप्ति संभव है। लोकमान्य तिलक लिखते हैं 'ये दोनों मार्ग अथवा निष्ठाएँ ब्रह्मविद्या-मूलक हैं। दोनों में मन की निष्कामावस्था और शान्ति (समत्ववृत्ति) एक ही प्रकार की है। इस कारण दोनों मार्गों से अन्त में मोक्ष प्राप्त होता है। ज्ञान के पश्चात् कर्म को (अर्थात् गृहस्थ धर्म को) छोड़ बैठना और काम्य (आसक्तियुक्त) कर्म छोड़कर निष्काम कर्म (अनासक्तिपूर्वक व्यवहार) करते रहना, यही इन दोनों में भेद है।[1] दूसरी ओर आचार्य शंकर ने भी यह स्पष्ट कर दिया है कि संन्यास का वास्तविक अर्थ विशेष परि-धान को धारण कर लेना अथवा गृहस्थ कर्म का परित्याग कर देना मात्र नहीं है। वास्तविक संन्यास तो कर्म-फल, संकल्प, आसक्ति या वासनाओं का परित्याग करने में है। वे कहते हैं कि केवल अग्निरहित, क्रियारहित पुरुष ही संन्यासी या योगी है, ऐसा नहीं मानना चाहिए। कर्म-फल के संकल्प का त्याग होने से ही संन्यासित्व है,[2] न केवल अग्निरहित और क्रियारहित (व्यक्ति) संन्यासी या योगी होता है, किन्तु जो कोई कर्म करने वाला (गृहस्थ) भी कर्मफल और आसक्ति को छोड़कर अन्तःकरण की शुद्धिपूर्वक कर्मयोग में स्थित है, वह भी संन्यासी और योगी है।[3]

वस्तुतः गीताकार की दृष्टि में संन्यासमार्ग और कर्ममार्ग दोनों ही परमलक्ष्य की ओर ले जाने वाले हैं जो एक का भी सम्यक्रूप से पालन करता है वह दोनों के फल को प्राप्त कर लेता है।[4] जिस स्थान की प्राप्ति एक संन्यासी करता है, उसी स्थान की प्राप्ति एक अनासक्त गृहस्थ (कर्मयोगी) भी करता है।[5] गीताकार का मूल उपदेश न तो कर्म करने का है और न कर्म छोड़ने का है। उसका मुख्य उपदेश तो आसक्ति या कामना के त्याग का है। गीताकार की दृष्टि में नैतिक जीवन का सार तो आसक्ति या फलाकांक्षा का त्याग है। जो विचारक गीता की इस मूल भावना को दृष्टि में रखकर विचार करेंगे उन्हें कर्म-संन्यास और कर्मयोग में अविरोध ही दिखाई देगा। गीता की दृष्टि में कर्म-संन्यास और कर्मयोग, दोनों नैतिक जीवन के बाह्य शरीर हैं, नैतिकता की मूलात्मा समत्व या निष्कामता है। यदि निष्कामता है, समत्वयोग की साधना है, वीतरागदृष्टि है, तो कर्मसंन्यास की अवस्था हो या कर्मयोग की, दोनों ही समान रूप से नैतिक आदर्श की उपलब्धि कराते हैं। इसके विपरीत यदि उनका अभाव है तो कर्मयोग और कर्मसंन्यास दोनों ही अर्थशून्य हैं, नैतिकता की दृष्टि से उनका कुछ भी मूल्य नहीं है। गीताकार का कहना है कि यदि साधक अपनी परि-स्थिति या योग्यता के आधार पर संन्यासमार्ग (कर्मसंन्यास) को अपनाता है तो उसे यह

१. गीतारहस्य, पृ० ३५८। २. गीता (शा०), ६।१ ३. वही, ६ पूर्वभूमिका
४. वही, ५।४ ५. वही ५।५

स्मरण रखना चाहिए कि जब तक कर्मासक्ति या फलाकांक्षा समाप्त नहीं होती, तब तक केवल कर्मसंन्यास से मुक्ति नहीं मिल सकती। दूसरी ओर यदि साधक अपनी परिस्थिति या योग्यता के आधार पर कर्मयोग के मार्ग को चुनता है तो भी यह ध्यान में रखना चाहिए कि फलाकांक्षा या आसक्ति का त्याग तो अनिवार्य है।

संक्षेप में, गीताकार का दृष्टिकोण यह है कि यदि कर्म करना है तो उसे अनासक्तिपूर्वक करो और यदि कर्म छोड़ना है तो केवल बाह्य कर्म का परित्याग ही पर्याप्त नहीं है, कर्म की आन्तरिक वासनाओं का त्याग ही आवश्यक है। गीता में बाह्य कर्म करने और छोड़ने का जो विधि-निषेध है वह औपचारिक है, कर्तव्यता का प्रतिपादक नहीं है। वास्तविक कर्तव्यता का प्रतिपादक विधि-निषेध तो आसक्ति, तृष्णा, समत्व आदि के सम्बन्ध में है। गीता का प्रतिपाद्य विषय तो समत्वपूर्ण वीतरागदृष्टि की प्राप्ति और आसक्ति का परित्याग ही है। यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि मनुष्य प्रवृत्ति-लक्षण-रूप गृहस्थधर्म का आचरण कर रहा है या निवृत्ति-लक्षणरूप संन्यासधर्म का पालन कर रहा है। महत्त्वपूर्ण यह है कि वह वासनाओं से कितना ऊपर उठा है, आसक्ति की मात्रा कितने अंश में निर्मूल हुई है और समत्वदृष्टि की उपलब्धि में उसने कितना विकास किया है।

निष्कर्ष—यदि हम इस गहन विवेचना के आधार रूप निवृत्ति का अर्थ राग-द्वेष से अलिप्त रहना मानें तो तीनों आचार-दर्शन निवृत्तिपरक ही सिद्ध होते हैं। जैन दर्शन का मूल केन्द्र अनेकान्तवाद जिस समन्वय की भूमिका पर विकसित होता है वह मध्यस्थ भाव है और वही राग-द्वेष से अलिप्तता है। यही जैन-दृष्टि में यथार्थ निवृत्ति है। पं० सुखलालजी लिखते हैं, "अनेकान्तवाद जैन तत्त्वज्ञान की मूल नींव है और राग-द्वेष के छोटे-बड़े प्रसंगों से अलिप्त रहना (निवृत्ति) समग्र आचार का मूल आधार है। अनेकान्तवाद का केन्द्र मध्यस्थता में है और निवृत्ति भी मध्यस्थता से ही पैदा होती है। अतएव अनेकान्तवाद और निवृत्ति ये दोनों एक दूसरे के पूरक एवं पोषक हैं। ....जैन-धर्म का झुकाव निवृत्ति की ओर है। निवृत्ति याने प्रवृत्ति का विरोधी दूसरा पहलू। प्रवृत्ति का अर्थ है राग-द्वेष के प्रसंगों में रत होना। जीवन में गृहस्थाश्रम राग-द्वेष के प्रसंगों के विधान का केन्द्र है। अतः जिस धर्म में गृहस्थाश्रम (राग-द्वेष के प्रसंगों से युक्त अवस्था) का विधान किया गया हो वह प्रवृत्ति-धर्म, और जिस धर्म में (ऐसे) गृहस्थाश्रम का नहीं, परन्तु केवल त्याग का विधान किया गया हो वह निवृत्ति-धर्म। जैन-धर्म निवृत्ति धर्म होने पर भी उसके पालन करनेवालों में जो गृहस्थाश्रम का विभाग है, वह निवृत्ति की अपूर्णता के कारण है। सर्वांश में निवृत्ति प्राप्त करने में असमर्थ व्यक्ति जितने अंशों में निवृत्ति का सेवन न कर सके उन अंशों में अपनी परिस्थिति के अनुसार विवेकदृष्टि से प्रवृत्ति की मर्यादा कर सकते हैं, परन्तु उस प्रवृत्ति का विधान जैनशास्त्र

नहीं करता, उसका विधान तो मात्र निवृत्ति का है"।[1] इस प्रकार इस संदर्भ में जहाँ गीता प्रवृत्तिपरक निवृत्ति का विधान करती है वहाँ बौद्ध और जैन दर्शन निवृत्तिपरक प्रवृत्ति का विधान करते हैं, यद्यपि राग-द्वेष से निवृत्ति तीनों आचार दर्शनों को मान्य है।

भोगवाद बनाम वैराग्यवाद

प्रवृत्ति और निवृत्ति का तात्पर्य यह भी लिया जाता है कि प्रवृत्ति का अर्थ है—बन्धन के हेतुरूप भोग-मार्ग और निवृत्ति का अर्थ है—मोक्ष के हेतुरूप वैराग्य-मार्ग।[2] भोगवाद और वैराग्यवाद नैतिक जीवन की दो विधाएँ हैं। इन्हीं को भारतीय औपनिषदिक चिन्तन में प्रेयोमार्ग और श्रेयोमार्ग भी कहा गया है। कठोपनिषद् का ऋषि कहता है, जीवन में श्रेय और प्रेय दोनों के ही अवसर आते रहते हैं। विवेकी पुरुष प्रेय की अपेक्षा श्रेय का ही वरण करता है, जबकि मन्दबुद्धि अविवेकी जन श्रेय को छोड़कर शारीरिक योग-क्षेम के निमित्त प्रेय (भोगवाद) का वरण करता है।[3]

भोगवाद और वैराग्यवाद भारतीय नैतिक चिन्तन की आधारभूत धारणाएँ हैं। वैराग्यवाद शरीर और आत्मा अथवा वासना और बुद्धि के द्वैत पर आधारित धारणा है। वह यह मानता है कि आत्मलाभ या चिन्तनमय जीवन के लिए वासनाओं का परित्याग आवश्यक है। वासनाएँ ही बन्धन का कारण हैं, समस्त दुःखों की मूल हैं। वासनाएँ इन्द्रियों के माध्यम से ही अपनी माँगों को प्रस्तुत करती हैं, और उनके द्वारा ही अपनी पूर्ति चाहती हैं, अतः शरीर और इन्द्रियों की माँगों को ठुकराना श्रेयस्कर है। बेन्थम वैराग्यवाद के सम्बन्ध में लिखते हैं कि उन (वैराग्यवादियों) के अनुसार कोई भी चीज जो इन्द्रियों को तुष्ट करती है, घृणित है और इन्द्रियों को तुष्ट करना अपराध है।[4]

इसके विपरीत भोगवाद यह मानता है कि जो शरीर है, वही आत्मा है अतः शरीर की माँगों की पूर्ति करना उचित एवं नैतिक है। भोगवाद बुद्धि के ऊपर वासना का शासन स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि में बुद्धि वासनाओं की दासी है। उसे वही करना चाहिए जिससे वासनाओं की पूर्ति हो।

औपनिषदिक चिन्तन और जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार-दर्शनों के विकास के पूर्व ही भारतीय चिन्तन में ये दोनों विधाएँ उपस्थित थीं। भारतीय नैतिक चिन्तन में चार्वाक और किसी सीमा तक वैदिक परम्परा भोगवादका और जैन, बौद्ध एवं किसी सीमा तक सांख्य-योग की परम्परा संन्यासमार्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं। भोग-वाद प्रवृत्तिमार्ग है और वैराग्यवाद या संन्यासमार्ग निवृत्तिमार्ग है।

वैराग्यवादी विचार-परम्परा का साध्य चित्त शान्ति, आध्यात्मिक परितोष, आत्म-लाभ एवं आत्म-साक्षात्कार है, जिसे दूसरे शब्दों में मोक्ष, निर्वाण या ईश्वर साक्षात्कार

१. जैनधर्म का प्राण, पृ० १२६
२. गीता (शां०), १८।३०
३. कठोपनिषद् १।२।२
४. नीतिप्रवेशिका, पृ० १९८ पर उद्धृत।

भी कहा जा सकता है। इस साध्य के साधन के रूप में वे ज्ञान को स्वीकार करते हैं और कर्म का निषेध करते हैं। विवेच्य आचार-दर्शनों में बौद्ध एवं जैन परम्पराओं को निश्चय ही वैराग्यवादी परम्पराएँ कहा जा सकता है। इतना नहीं, यदि हम भोगवाद का अर्थ वासनात्मक जीवन लेते हैं तो गीता की आचार-परम्परा को भी वैराग्यवादी परम्परा ही मानना होगा। लेकिन गहराई से विचार करने पर विवेच्य आचार दर्शनों को वैराग्यवाद के उस कठोर अर्थ में नहीं लिया जा सकता जैसा कि आमतौर पर समझा जाता है। वैराग्यवाद के समालोचक वैराग्यवाद का अर्थ देह-दण्डन, इन्द्रिय-निरोध और शरीर की माँगों का ठुकराना मात्र करते हैं; लेकिन जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों में वैराग्यवाद को देह-दण्डन या शरीर-यंत्रणा के अर्थ में स्वीकार नहीं किया गया है।

वस्तुतः समालोच्य आचार-दर्शनों का विकास भोगवाद और वैराग्यवाद के ऐकान्तिक दोषों को दूर करने में ही हुआ है। इनका नैतिक दर्शन वैराग्यवाद एवं भोगवाद की समन्वय-भूमिका में ही निखरता है। सभी का प्रयास यही रहा कि वैराग्यवाद के दोषों को दूर कर उसे किसी रूप में सन्तुलित बनाया जा सके। ऐकान्तिक वैराग्यवाद ज्ञानशून्य देह-दण्डन मात्र बनकर रह जाता है, जबकि ऐकान्तिक भोगवाद स्वार्थ-सुखवाद की ओर ले जाता है, जिसमें समस्त सामाजिक एवं नैतिक मूल्य समाप्त हो जाते हैं। भोग एवं त्याग के मध्य यथार्थ समन्वय आवश्यक है और भारतीय चिन्तन की यह विशेषता है कि उसने भोग व त्याग में वास्तविक समन्वय खोजा है। ईशावास्य उपनिषद् का ऋषि यह समन्वय का सूत्र देता है। वह कहता है—'त्यागपूर्वक भोग करो, आसक्ति मत रखो।'[1]

जैन-दृष्टिकोण—जैन-दर्शन वैराग्यवादी विचारधारा के सर्वाधिक निकट है, इसमें अत्युक्ति नहीं है। उत्तराध्ययन सूत्र में भोगवाद की समालोचना करते हुए कहा गया है कि 'काम-भोग शल्यरूप हैं, विषरूप हैं और आशिविष सर्प के समान हैं। काम-भोग की अभिलाषा करनेवाले काम-भोगों का सेवन नहीं करते हुए भी दुर्गति में जाते हैं।'[2] 'समस्त गीत विलापरूप हैं, सभी नृत्य विडम्बना हैं, सभी आभूषण भाररूप हैं और सभी काम-भोग दुःख प्रदाता हैं। अज्ञानियों के लिए प्रिय किन्तु अन्त में दुःख प्रदाता काम-भोगों में वह सुख नहीं है, जो शील गुण में रत रहनेवाले तपोधनी भिक्षुओं को होता है।'[3]

सूत्रकृतांग में कहा गया है, 'जब तक मनुष्य कामिनी और कांचन आदि जड़-चेतन पदार्थों में आसक्ति रखता है, वह दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता।'[4] 'अन्त में पछताना न पड़े, इसलिए आत्मा को भोगों से छुड़ाकर अभी से ही अनुशासित करो। क्योंकि कामी मनुष्य अन्त में बहुत पछताते हैं और विलाप करते हैं।'[5] जिन्होंने काम-भोग

१. ईशावास्योपनिषद् १ २. उत्तराध्ययन ९।५३
३. वही, १३।१६-१७ ४. सूत्रकृतांग, १।१।२ ५. वही १।३।४।७

और पूजा-सत्कार (अहंकार तुष्टि के प्रयासों) का त्याग कर दिया है उन्होंने सब-कुछ त्याग दिया है। ऐसे ही लोग मोक्षमार्ग में स्थिर रह सके हैं।'[1] 'बुद्धिमान् पुरुषों से मैंने सुना है कि सुख-शीलता का त्याग करके, कामनाओं को शान्त करके निष्काम होना ही वीर का वीरत्व है।'[2] 'इसलिए साधक शब्द-स्पर्श आदि विषयों में अनासक्त रहे और निन्दित कर्म का आचरण नहीं करे, यही धर्म-सिद्धान्त का सार है। शेष सभी बातें धर्म सिद्धान्त के बाहर हैं।'[3]

फिर भी उपर्युक्त वैराग्यवादी तथ्यों का अर्थ देह-दण्डन या आत्म-पीड़न नहीं है। जैन-वैराग्यवाद देह-दण्डन की उन सब प्रणालियों को, जो वैराग्य के सही अर्थों से दूर हैं, कतई स्वीकार नहीं करता। जैन आचार-दर्शन में साधना का सही अर्थ वासना-क्षय है, अनासक्त दृष्टि का विकास है, राग-द्वेष से ऊपर उठना है। उसकी दृष्टि में वैराग्य अन्तर की वस्तु है, उसे अन्तर में जागृत होना चाहिए। केवल शरीर-यंत्रणा या देह-दण्डन का जैन-साधना में कोई मूल्य नहीं है। सूत्रकृतांग एवं उत्तराध्ययन में स्पष्ट कहा गया है कि 'कोई भले ही नग्नावस्था में फिरे या मास के अन्त में एक बार भोजन करे, लेकिन यदि वह माया से युक्त है तो बार-बार गर्भवास को प्राप्त होगा अर्थात् वह बन्धन से मुक्त नहीं होगा।'[4] जो अज्ञानी मास-मास के अन्त में कुशाग्र जितना आहार ग्रहण करता है वह वास्तविक धर्म की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है।'[5] जैन-दृष्टि स्पष्ट कहती है कि बन्धन या पतन का कारण राग-द्वेष युक्त दृष्टि है, मूर्च्छा या आसक्ति है, न कि काम-भोग। विकृति के कारण तो काम-भोग के पीछे निहित राग या आसक्ति के भाव ही हैं, काम-भोग स्वयं नहीं। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है, 'काम-भोग किसी को न तो सन्तुष्ट कर सकते हैं, न किसी में विकार पैदा कर सकते हैं। किन्तु जो काम-भोगों में राग-द्वेष करता है वही उस राग-द्वेषजनित मोह से विकृत हो जाता है।'[6] जैन-दृष्टि नैतिक आचरण के क्षेत्र में जिसका निषेध करती है वह तो आसक्ति या राग-द्वेप के भाव हैं। यदि पूर्ण अनासक्त अवस्था में भोग सम्भव हो तो उसका उन भोगों से विरोध नहीं है, लेकिन वह यह मानती है कि भोगों के बीच रहकर भोगों को भोगते हुए उनमें अनासक्त भाव रखना असम्भव चाहे न हो लेकिन सुसाध्य भी नहीं है। अतः काम-भोगों के निषेध का साधनात्मक मूल्य अवश्य मानना होगा। साधना का लक्ष्य पूर्ण अनासक्ति या वीतरागावस्था है। काम-भोगों का परित्याग उसकी उपलब्धि का साधन है। यदि यह साधन साध्य से संयोजित है, साध्य की दिशा में प्रयुक्त किया जा रहा है, तब तो वह ग्राह्य है, अन्यथा अग्राह्य है।

---

१. सूत्रकृतांग, १।३।४।१७ २. वही, १।८।१८
३. वही, १।९।३५ ४. वही, १।२।१।९
५. उत्तराध्ययन, ९।४४ ६. वही, ३२।१०१

बौद्ध-दृष्टिकोण—बौद्ध-परम्परा में वैराग्यवाद और भोगवाद में समन्वय खोजा गया है। बुद्ध मध्यममार्ग के द्वारा इसी समन्वय के सूत्र को प्रस्तुत करते हैं। अंगुत्तर-निकाय में कहा है, 'भिक्षुओं, तीन मार्ग हैं:—१ शिथिल मार्ग, २ कठोर मार्ग और ३ मध्यम मार्ग। भिक्षुओं, किसी-किसी का ऐसा मत होता है, ऐसी दृष्टि होती है—काम-भोगों में दोष नहीं है। वह काम-भोगोंमें जा पड़ता है। भिक्षुओं, यह शिथिल मार्ग कहलाता है। भिक्षुओं, कठोर मार्ग कौनसा है? भिक्षुओं, कोई-कोई नग्न होता है, वह न मछली खाता है, न मांस खाता है, न सुरा पीता है, न मेरय पीता है, न चावल का पानी पीता है। वह या तो एक ही घर से लेकर खानेवाला होता है या एक ही कौर खाने वाला; दो घरों से लेकर खाने वाला होता है या दो ही कौर खाने वाला… सात घरों से लेकर खाने वाला होता है या सात कौर खाने वाला। वह दिन में एक बार भी खाने वाला होता है, दो दिन में एक बार भी खाने वाला होता है….सात दिन में एक बार भी खाने वाला होता है, इस प्रकार वह पन्द्रह दिन में एक बार खाकर भी रहता है। भात खाने वाला भी होता है, आचाम खाने वाला भी होता है, खली खानेवाला भी होता है, तिनके (घास) खानेवाला भी होता है, गोबर खानेवाला भी होता है, जंगल के पेड़ों से गिरे फल-मूल खाने वाला भी होता है। वह सन के कपड़े भी धारण करता है, कुश का बना वस्त्र भी पहनता है. छाल का वस्त्र भी पहनता है, फलक (छाल) का वस्त्र भी पहनता है, केशों से बना कम्बल भी पहनता है, पूँछ के बालों का बना कम्बल भी पहनता है, उल्लू के परों का बना वस्त्र भी पहनता है। वह केश-दाढ़ी का लुंचन करनेवाला भी होता है। वह बैठने का त्याग कर निरन्तर खड़ा ही रहने वाला भी होता है। वह उकड़ूँ बैठ कर प्रयत्न करनेवाला भी होता है, वह काँटों की शैय्या पर सोनेवाला भी होता है। प्रातः, मध्याह्न, सायं—दिन में तीन बार पानी में जानेवाला होता है। इस तरह वह नाना प्रकार से शरीर को कष्ट या पीड़ा पहुँचाता हुआ विहार करता है। भिक्षुओं, यह कठोर मार्ग कहलाता है। भिक्षुओं, मध्यममार्ग कौनसा है? भिक्षुओं, भिक्षु शरीर के प्रति जागरूक रहकर विचरता है। वह प्रयत्नशील, ज्ञानयुक्त, स्मृतिमान हो, लोक में जो लोभ, वैर, दौर्मनस्य है, उसे हटाकर विहरता है, वेदनाओं के प्रति….चित्त के प्रति…..धर्मों के प्रति जागरूक रहकर विचरता है। वह प्रयत्न-शील, ज्ञान-युक्त, स्मृति-मान हो लोक में जो लोभ और दौर्मनस्य है उसे हटाकर विहरता है। भिक्षुओं, यह मध्यममार्ग कहलाता है। भिक्षुओं, ये तीन मार्ग हैं।[१] बुद्ध कठोरमार्ग (देह-दण्डन) और शिथिलमार्ग (भोगवाद) दोनों को ही अस्वीकार करते हैं। बुद्ध के अनुसार यथार्थ नैतिक जीवन का मार्ग मध्यम मार्ग है। उदान में भी बुद्ध अपने इसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, 'ब्रह्मचर्य (संन्यास) के साथ व्रतों का पालन

---

१. अंगुत्तरनिकाय, ३।१५१

करना ही सार है—यह एक अन्त है। काम-भोगों के सेवन में कोई दोष नहीं—यह दूसरा अन्त है। इन दोनों प्रकार के अन्तों के सेवन से संस्कारों की वृद्धि होती है और मिथ्या धारणा बढ़ती है।'[1] इस प्रकार बुद्ध अपने मध्यममार्गीय दृष्टिकोण के आधार पर वैराग्यवाद और भोगवाद में यथार्थ समन्वय स्थापित करते हैं।

गीता का दृष्टिकोण—गीता का अनासक्ति मूलक कर्मयोग भी भोगवाद और वैराग्यवाद (देह-दण्डन) की समस्या का यथार्थ समाधान प्रस्तुत करता है। गीता भी वैराग्य की समर्थक है। गीता में अनेक स्थलों पर वैराग्यभाव का उपदेश है,[2] लेकिन गीता वैराग्य के नाम पर होनेवाले देह-दण्डन की प्रक्रिया की विरोधी है। गीता में कहा है कि आग्रहपूर्वक शरीर को पीड़ा देने के लिए जो तप किया जाता है वह तामसतप है।[3] इस प्रकार भोगवाद और वैराग्यवाद के सन्दर्भ में गीता भी समन्वयात्मक एवं सन्तुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है।

विधेयात्मक बनाम निषेधात्मक नैतिकता

निवृत्ति और प्रवृत्ति का विचार निषेधात्मक और विधेयात्मक नैतिकता की दृष्टि से भी किया जा सकता है। जो आचार-दर्शन निषेधात्मक नैतिकता को प्रकट करते हैं वे कुछ विचारकों की दृष्टि में निवृत्तिपरक हैं और जो आचार-दर्शन विधेयात्मक नैतिकता को प्रकट करते हैं वे प्रवृत्तिपरक हैं।

इस अर्थ में विवेच्य आचार-दर्शनों में कोई भी आचार-दर्शन एकान्त रूप से न तो निवृत्तिपरक है, न प्रवृत्तिपरक। प्रत्येक निषेध का एक विधेयात्मक पक्ष होता है और प्रत्येक विधेय का एक निषेध पक्ष होता है। जहाँ तक जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों की बात है, सभी में नैतिक आचरण के विधि-निषेध के सूत्र ताने-बाने के रूप से एक-दूसरे से मिले हुए हैं।

जैन दृष्टिकोण—यदि हम जैन आचार-दर्शन के नैतिक ढाँचे को साधारण दृष्टि से देखें तो हमें हर कहीं निषेध का स्वर ही सुनाई देता है। जैसे हिंसा न करो, झूठ न बोलो, चोरी न करो, व्यभिचार न करो, संग्रह न करो, क्रोध न करो, लोभ न करो, अभिमान न करो। इस प्रकार सभी दिशाओं में निषेध की दीवारें खड़ी हुई हैं। वह मात्र नहीं करने के लिए कहता है, करने के लिए कुछ नहीं कहता। यही कारण है कि सामान्य जन उसे निवृत्तिपरक कह देता है। लेकिन यदि गहराई से विचार करें तो ज्ञात होगा कि यह धारणा सर्वांश सत्य नहीं है। उपाध्याय अमरमुनिजी जैन आचार-दर्शन के निषेधक सूत्रों का हार्द प्रकट करते हुए लिखते हैं कि 'यह सत्य है कि जैन-दर्शन ने निवृत्ति का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत किया है। उसके प्रत्येक चित्र में निवृत्ति का रंग

---

१. उदान, ६।८ २. गीता, ६।३५, १३।८, १८।५२ ३. वही, १७।५, १७।१९

भरा हुआ है, किन्तु दृष्टि जरा साफ हो, स्वच्छ और तीक्ष्ण हो तो उसके रंगों का विश्लेषण करने पर यह समझा जा सकता है कि निषेधक सूत्रों की कहाँ, क्या उपयोगिता है, निवृत्ति के स्वर में क्या मूल भावनाएँ ध्वनित हैं ? जैन-दर्शन एक बात कहता है कि यह देखो कि तुम्हारी प्रवृत्ति निवृत्तिमूलक है या नहीं। तुम दान कर रहे हो, दीन दुःखियों की सेवा के नाम पर कुछ पैसा लुटा रहे हो, किन्तु दूसरी ओर यदि शोषण का कुचक्र भी चल रहा है तो इस दान और सेवा का क्या अर्थ है ? सौ-सौ घाव करके एक-दो घावों की मरहम-पट्टी करना सेवा का कौनसा आदर्श है ?[1] वास्तविकता यह है कि आचरण के मूल में यदि निवृत्ति नहीं है तो प्रवृत्ति का भी कोई अर्थ नहीं रहता है। प्रवृत्ति के मूल में निवृत्ति आवश्यक है। सेवा, परोपकार, दान आदि सभी नैतिक विधानों के पीछे अनासक्ति एवं स्वहित के परित्याग के निषेधात्मक स्वरों का होना आवश्यक है, अन्यथा नैतिक जीवन की सुमधुरता एवं समस्वरता नष्ट हो जायेगी। निषेध के अभाव में विधेय भी अर्थहीन है। विधान के पूर्व प्रस्तुत निषेध ही उस विधान को सच्ची यथार्थता प्रदान करता है। सेवा, परोपकार, दान के सभी नैतिक विधि-आदेशों के पीछे झंकृत हो रहे निषेधक स्वर के अभाव में उन विधि-आदेशों का मूल्य शून्य हो जायेगा, नैतिकता की दृष्टि से उनका कोई अर्थ ही नहीं रहेगा। जैन आचार-दर्शन में यत्र-तत्र-सर्वत्र जो निषेध के स्वर सुनाई देते हैं, उनके पीछे मूल भावना यही है। उसके अनुसार निषेध के आधार पर किया हुआ विधान ही आचरण को समुज्ज्वल बना सकता है। निषेधात्मक नैतिक आदेश नैतिक जीवन के सुन्दर चित्र-निर्माण के लिए एक सुन्दर, स्वच्छ एवं समपार्श्वभूमि प्रदान करते हैं, जिस पर विधिमूलक नैतिक आदेशों की तूलिका उस सुन्दर चित्र का निर्माण कर पाती है। निषेध के द्वारा प्रस्तुत स्वच्छ एवं समपार्श्वभूमि ही विधि के चित्र को सौन्दर्य प्रदान कर सकती है। संक्षेप में जैन आचार-दर्शन की नैतिकता अपने बाह्य रूप में निषेधात्मक प्रतीत होती है, लेकिन इस निषेध में भी विधेयकता छिपी है। यही नहीं, जैनागमों में अनेक विधिपरक आदेश भी मिलते हैं।

जैन आचार-दर्शन में विधि-निषेध का यथार्थ स्वरूप क्या है ? इसे पं० सुखलालजी इन शब्दों में व्यक्त किया है—जैनधर्म प्रथम तो दोष विरमरण (निषेध या त्याग) रूप शील-विधान करता है (अर्थात् निषेधात्मक नैतिकता प्रस्तुत करता है), परन्तु चेतना और पुरुषार्थ ऐसे नहीं हैं कि वे मात्र अमुक दिशा में निष्क्रिय होकर पड़े रहें। वे तो अपने विकास की भूख दूर करने के लिए गति की दिशा ढूँढ़ते ही रहते हैं, इसलिए जैनधर्म ने निवृत्ति के साथ ही शुद्ध प्रवृत्ति (विहित आचरणरूप चारित्र) के विधान भी किये हैं। उसने कहा है कि मलिन वृत्ति से आत्मा का घात न होने देना और उसके रक्षण में ही (स्वदया में ही) बुद्धि और पुरुषार्थ का उपयोग करना चाहिए।

१. श्री अमरभारती अप्रैल १९६६ पृ० २०-२१।

प्रवृत्ति के इस विधान में से ही सत्य-भाषण, ब्रह्मचर्य, सन्तोष आदि विविध मार्ग निष्पन्न होते हैं।[1]

बौद्ध दृष्टिकोण—बौद्ध आचार-दर्शन में निषेधात्मक नैतिकता का स्वर मुखर हुआ है। भगवान् महावीर के समान भगवान् बुद्ध ने भी नैतिक जीवन के लिए अनेक निषेधात्मक नियमों का प्रतिपादन किया है। लेकिन केवल इस आधार पर बौद्ध आचार-दर्शन को निषेधात्मक नीतिशास्त्र नहीं कह सकते। बुद्ध ने आचरण के क्षेत्र में निषेध के नियमों पर बल अवश्य दिया है, फिर भी बौद्ध आचार-दर्शन को निषेधात्मक नहीं माना जा सकता। बुद्ध ने गृहस्थ उपासकों और भिक्षुओं दोनों के लिए अनेक विधेयात्मक कर्तव्यों का विधान भी किया है जिनमें पारस्परिक सहयोग, लोक-मंगल के कर्तव्य सम्मिलित हैं। लोक-मंगल की साधना का स्वर बुद्ध का मूल स्वर है।

गीता का दृष्टिकोण—गीता के आचार-दर्शन में तो निषेध की अपेक्षा विधान का स्वर ही अधिक प्रबल है। गीता का मूलभूत दृष्टिकोण विधेयात्मक नैतिकता का है। श्रीकृष्ण यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यद्यपि मानसिक शान्ति और मन की साम्यावस्था के लिए विषय-वासनाओं से निवृत्त होना आवश्यक है, तथापि इसका अर्थ कर्तव्यमार्ग से बचना नहीं है। सामाजिक क्षेत्र में हमारे जो भी उत्तरदायित्व हैं उनका हमें अपने वर्णाश्रम-धर्म के रूप में परिपालन अवश्य ही करना चाहिए। गीता के समग्र उपदेश का सार तो यही है कि अर्जुन अपने क्षात्रधर्म के कर्तव्यों का पालन करे। समाजसेवा के रूप में यज्ञ और लोकसंग्रह गीता के अनिवार्य तत्त्व हैं। अतः कहा जा सकता है कि गीता विधेयात्मक नैतिकता की समर्थक है, यद्यपि वह विधान के लिये अनासक्तिरूपी निषेधक तत्त्व को भी आवश्यक मानती है।

व्यक्तिपरक बनाम समाजपरक नीतिशास्त्र

निवृत्ति और प्रवृत्ति के विषय में एक विचार-दृष्टि यह भी है कि जो आचार-दर्शन व्यक्तिपरक नीतिशास्त्र का प्रतिपादन करते हैं, वे निवृत्तिपरक हैं और जो आचार-दर्शन समाजपरक नीतिशास्त्र का प्रतिपादन करते हैं वे प्रवृत्तिपरक हैं। किन्तु यह स्पष्ट है कि जो आचार-दर्शन भोगवाद में व्यक्तिपरक (स्वार्थ-सुखवादी) दृष्टि रखते हैं, वे निवृत्तिपरक नहीं माने जा सकते। संक्षेप में जो लोक-कल्याण को प्रमुखता देते हैं वे प्रवृत्तिमार्गी कहे जाते हैं तथा जो आचार-दर्शन वैयक्तिक आत्मकल्याण को प्रमुखता देते हैं वे निवृत्तिमार्गी कहे जाते हैं। पं० सुखलालजी लिखते हैं, 'प्रवर्तक धर्म का संक्षेप सार यह है कि जो और जैसी समाज-व्यवस्था हो उसे इस तरह नियम और कर्तव्यबद्ध बनाना कि जिससे समाज का प्रत्येक सदस्य अपनी-अपनी स्थिति और कक्षा में सुखलाभ करे। प्रवर्तक धर्म का उद्देश्य समाज-व्यवस्था के साथ-साथ जन्मान्तर

१. जैनधर्म का प्राण, पृ० १२६-१२७

का सुधार करना है। प्रवर्तक धर्म समाजगामी था, इसका मतलब यह था कि प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहकर ही सामाजिक कर्तव्य (जो ऐहिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं) और धार्मिक कर्तव्य (जो पारलौकिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं) का पालन करे। व्यक्ति को सामाजिक और धामिक कर्तव्यों का पालन करके अपनी कृपण इच्छा का संशोधन करना इष्ट है, पर उस (सुख की इच्छा) का निर्मूल नाश करना न शक्य है और न इष्ट। प्रवर्तक धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम जरूरी है। उसे लाँघकर कोई विकास नहीं कर सकता। निवर्तक धर्म व्यक्तिगामी है। वह आत्म-साक्षात्कार की उत्कृष्ट वृत्ति से उत्पन्न होने के कारण जिज्ञासु को—आत्मतत्त्व है या नहीं ? है तो कैसा है ? क्या उसका साक्षात्कार संभव है ? और है तो किन उपायों से संभव है ?—इन प्रश्नों की ओर प्रेरित करता है। ये प्रश्न ऐसे नहीं हैं कि जो एकान्त, चिन्तन, ध्यान, तप और असंगतापूर्ण जीवन के सिवाय सुलझ सकें। ऐसा सच्चा जीवन खास व्यक्तियों के लिए ही सम्भव हो सकता है। उनका समाजगामी होना सम्भव नहीं।....अतएव निवर्तक धर्म समस्त सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों से बद्ध होने की बात नहीं मानता। उसके अनुसार व्यक्ति के लिए मुख्य कर्तव्य एक ही है और वह यह कि जिस तरह हो आत्म-साक्षात्कार का और उसमें रुकावट डालनेवाली इच्छा के नाश का प्रयत्न करे।[1]

भारतीय चिन्तन में नैतिक दर्शन की समाजगामी एवं व्यक्तिगामी, यह दो विधाएँ तो अवश्य रही हैं। परन्तु इनमें कभी भी आत्यन्तिक विभेद स्वीकार किया गया हो ऐसा प्रतीत नहीं होता। जैन और बौद्ध आचार-दर्शनों में प्रारम्भ में वैयक्तिक कल्याण का स्वर ही प्रमुख था, लेकिन वहाँ पर भी हमें सामाजिक भावना या लोकहित से पराङ्मुखता नहीं दिखाई देती है। बुद्ध और महावीर की संघ-व्यवस्था स्वयं ही इन आचार-दर्शनों की सामाजिक भावना का प्रबलतम साक्ष्य है। दूसरी ओर गीता का आचार-दर्शन जो लोक-संग्रह अथवा समाज-कल्याण की दृष्टि को लेकर ही आगे आया था, उसमें भी वैयक्तिक निवृत्ति का अभाव नहीं है। तीनों आचार-दर्शन लोक-कल्याण की भावना को आवश्यक मानते हैं, लेकिन उसके लिए वैयक्तिक जीवन में निवृत्ति आवश्यक है। जब तक वैयक्तिक जीवन में निवृत्ति की भावना का विकास नहीं होता, तब तक लोक-कल्याण की साधना सम्भव नहीं है। आत्महित अर्थात् वैयक्तिक जीवन में नैतिक स्तर का विकास लोकहित का पहला चरण है। सच्चा लोक-कल्याण तभी सम्भव है, जब व्यक्ति निवृत्ति के द्वारा अपना नैतिक विकास कर ले। वैयक्तिक नैतिक विकास एवं आत्म-कल्याण के अभाव में लोकहित की साधना पाखण्ड है, दिखावा है। जिसने आत्म-विकास नहीं किया है, जो अपने वैयक्तिक जीवन को नैतिक विकास की भूमिका

---

१. जैनधर्म का प्राण, पृ० ५६, ५८, ५९

पर स्थित नहीं कर पाया है, उससे लोक-मंगल की कामना सबसे बड़ा भ्रम है, छलना है। यदि व्यक्ति के जीवन में वासना का अभाव नहीं है, उसकी लोभ की ज्वाला शान्त नहीं हुई है, तो उसके द्वारा किया जानेवाला लोकहित भी इनसे ही उद्भूत होगा। उसके लोकहित में भी स्वार्थ एवं वासना छिपी होगी और ऐसा लोकहित जो वैयक्तिक वासना एवं स्वार्थ की पूर्ति के लिए किया जा रहा है, लोकहित ही नहीं होगा।

उपाध्याय अमरमुनिजी जैन-दृष्टि को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, 'व्यक्तिगत जीवन में जब तक निवृत्ति नहीं आ जाती तब तक समाज-सेवा की प्रवृत्ति विशुद्ध नहीं हो सकती। अपने व्यक्तिगत जीवन में मर्यादाहीन भोग और आकांक्षाओं से निवृत्ति लेकर समाजकल्याण के लिए प्रवृत्त होना जैन-दर्शन का पहला नीतिधर्म है। व्यक्तिगत जीवन का शोधन करने के लिए असत्कर्मों से पहले निवृत्ति करनी होती है। जब निवृत्ति आयेगी तो जीवन पवित्र और निर्मल होगा, अन्तःकरण विशुद्ध होगा और तब जो भी प्रवृत्ति होगी वह लोक-हिताय एवं लोक-सुखाय होगी। जैन-दर्शन की निवृत्ति का हार्द व्यक्तिगत जीवन में निवृत्ति और सामाजिक जीवन में प्रवृत्ति है। लोकसेवक या जनसेवक अपने व्यक्तिगत स्वार्थ एवं द्वन्द्वों से दूर रहें, यह जैन-दर्शन की आचार-संहिता का पहला पाठ है।[1]

आत्महित (वैयक्तिक नैतिकता) और लोकहित (सामाजिक नैतिकता) परस्पर विरोधी नहीं हैं, वे नैतिक पूर्णता के दो पहलू हैं। आत्महित में परहित और परहित में आत्महित समाहित है। आत्मकल्याण और लोककल्याण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, जिन्हें अलग देखा तो जा सकता है, अलग किया नही जा सकता। जैन, बौद्ध एवं गीता की विचार धाराएँ आत्मकल्याण (निवृत्ति) और लोक-कल्याण (प्रवृत्ति) को अलग-अलग देखती तो हैं, लेकिन उन्हें एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् करने का प्रयास नहीं करतीं।

प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों आवश्यक—निवृत्ति और प्रवृत्ति का समग्र विवेचन हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि हम निवृत्ति या प्रवृत्ति का चाहे जो अर्थ ग्रहण करें, हर स्थिति में, एकान्त रूप से निवृत्ति या प्रवृत्ति के सिद्धान्त को लेकर किसी भी आचार-दर्शन का सर्वांग विकास नहीं हो सकता। जैसे जीवन में आहार और निहार दोनों आवश्यक हैं, इतना ही नहीं उनके मध्य समुचित सन्तुलन भी आवश्यक है, वैसे ही प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों आवश्यक है। पं० सुखलाल जी का विचार है कि समाज कोई भी हो वह मात्र निवृत्ति की भूल-भुलैया पर जीवित नहीं रह सकता और न नितांत प्रवृत्ति ही साध सकता है। यदि प्रवृत्ति-चक्र का महत्त्व मानने वाले आखिर में प्रवृत्ति के तूफान और आँधी में फंसकर मर सकते हैं तो यह भी सच है कि प्रवृत्ति का आश्रय लिये बिना मात्र निवृत्ति हवाई किला बन जाती है। ऐतिहासिक और दार्शनिक सत्य यह है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति मानव-कल्याण रूपी सिक्के के दो पहलू हैं। दोष, गलती, बुराई और

१. श्री अमर भारती (अप्रैल १९६६), पृ० २१

अकल्याण से तब तक कोई नहीं बच नहीं सकता, जब तक कि दोष-निवृत्ति के साथ-साथ सद्गुणप्रेरक और कल्याणमय प्रवृत्ति में प्रवृत्त न हुआ जाय। बीमार व्यक्ति केवल कुपथ्य के सेवन से निवृत्त होकर ही जीवित नहीं रह सकता, उसे रोग निवारण के लिए पथ्य का सेवन भी करना होगा। शरीर से दूषित रक्त को निकाल डालना जीवन के लिए अगर जरूरी है तो उसमें नये रक्त का संचार करना भी उतना ही जरूरी है।[1]

प्रवृत्ति और निवृत्ति की सीमाएँ एवं क्षेत्र—जैन-दर्शन की अनेकांतवादी व्यवस्था यह मानती है कि न प्रवृत्तिमार्ग ही शुभ है और न एकांतरूप से निवृत्तिमार्ग ही शुभ है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में शुभत्व-अशुभत्व के तत्त्व हैं। प्रवृत्ति शुभ भी है और अशुभ भी। इसी प्रकार निवृत्ति शुभ भी है और अशुभ भी। प्रवृत्ति और निवृत्ति के अपने-अपने क्षेत्र हैं, स्वस्थान हैं और अपने-अपने स्वस्थानों में वे शुभ हैं, लेकिन परस्थानों या क्षेत्रों में वे अशुभ हैं।

न केवल आहार से जीवन-यात्रा सम्भव है और न केवल निहार से। जीवन-यात्रा के लिए दोनों आवश्यक हैं, लेकिन सम्यक् जीवन-यात्रा के लिए दोनों का अपने-अपने क्षेत्रों में कार्यरत होना भी आवश्यक है। यदि आहार के अंग निहार का और निहार के अंग आहार का कार्य करने लगे अथवा आहार योग्य पदार्थों का निहार होने लगे और निहार के पदार्थों का आहार किया जाने लगे तो व्यक्ति का स्वास्थ्य चौपट हो जायेगा। वे ही तत्त्व जो अपने स्वस्थान एवं देशकाल से शुभ हैं, परस्थान में अशुभ रूप में परिणत हो जायेंगे।

जैन दृष्टिकोण—भगवान् महावीर ने प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को नैतिक विकास के लिये आवश्यक कहा है। इतना ही नहीं, उन्होंने प्रवृत्ति और निवृत्ति के अपने-अपने क्षेत्रों की व्यवस्था भी की और यह बताया कि वे स्वक्षेत्रों में कार्य करते हुए ही नैतिक विकास की ओर ले जा सकती हैं। व्यक्ति के लिए यह भी आवश्यक है कि वह प्रवृत्ति और निवृत्ति के स्वक्षेत्रों एवं सीमाओं को जाने और उनका अपने-अपने क्षेत्रों में ही उपयोग करे। जिस प्रकार मोटर के लिए गतिदायक यंत्र (एक्सीलेटर) और गति-निरोधक यंत्र (ब्रेक) दोनों ही आवश्यक हैं, लेकिन साथ ही मोटर चालक के लिए यह भी आवश्यक है कि दोनों के उपयोग के अवसरों या स्थानों को समझे और यथावसर एवं यथास्थान ही उनका उपयोग करें। दोनों के अपने-अपने क्षेत्र हैं; और उन क्षेत्रों में ही उनका समुचित उपयोग यात्रा की सफलता का आधार है। यदि चालक उतार पर ब्रेक न लगाये और चढ़ाव पर एक्सीलेटर न दबाये अथवा उतार पर एक्सीलेटर दबाये और चढ़ाव पर ब्रेक लगाये तो मोटर नष्ट-भ्रष्ट हो

1. देखिये—जैनधर्म का प्राण; पृ० ६८।

की व्यावहारिता को गहराई से समझा था। साधु और गृहस्थ दोनों के लिए ही प्रवृत्ति और निवृत्ति को आवश्यक माना, लेकिन साथ-साथ यह भी कहा कि दोनों के अलग-अलग क्षेत्र हैं। एक प्रबुद्ध विचारक के रूप में भगवान् महावीर ने कहा—"एक ओर से विरत होओ, एक ओर प्रवृत्त होओ, असंयम से निवृत्त होओ, और संयम में प्रवृत्त होओ।"[1] यह कथन उनकी पैनी दृष्टि का परिचायक है। इसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति के क्षेत्रों को अलग-अलग करते हुए सफल नियंता के रूप में उन्होने कहा "असंयम अर्थात् वासनाओं का जीवन', समत्व से विचलन का, पतन का मार्ग है। यह जीवन का उतार है, अतः यहाँ ब्रेक लगाओ, नियंत्रण करो। इस दिशा में निवृत्ति को अपनाओ। संयम अर्थात् आदर्श मूलक जीवन विकास का मार्ग है, वह जीवन का चढ़ाव है, उसमें गति देने की आवश्यकता है, अतः उस क्षेत्र में प्रवृत्ति को अपनाओ।

बौद्ध दृष्टिकोण—भगवान् बुद्ध ने भी प्रवृत्ति-निवृत्ति में समन्वय साधते हुए कहा है कि शीलव्रत-परामर्श अर्थात् संन्यास का बाह्य रूप से पालन करना ही सार है, यह एक अन्त है; काम-भोगों के सेवन में कोई दोष नहीं, यह दूसरा अन्त है। अन्तों के सेवन से संस्कारों की वृद्धि होती है।[2] अतः साधक को प्रवृत्ति और निवृत्ति के सन्दर्भ में अतिवादी या एकांतिक दृष्टि न अपनाकर एक समन्वयवादी दृष्टि अपनाना चाहिए।

गीता का दृष्टिकोण—गीता का आचार-दर्शन एकांत रूप से प्रवृत्ति या निवृत्ति का समर्थन नहीं करता। गीताकार की दृष्टि में भी सम्यक् आचरण के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही आवश्यक हैं। इतना ही नहीं, मनुष्य में इस बात का ज्ञान होना भी आवश्यक है कि कौन से कार्यों में प्रवृत्ति आवश्यक है और कौन से कार्यों में निवृत्ति। गीताकार का कहना है कि जिस व्यक्ति को प्रवृत्ति और निवृत्ति की सम्यक् दिशा का ज्ञान नहीं है, अर्थात् जो यह नहीं जानता कि पुरुषार्थ के साधन रूप किस कार्य में प्रवृत्त होना उचित है और उसके विपरीत अनर्थ के हेतु किस कार्य से निवृत्त होना उचित है, वह आसुरी सम्पदा से युक्त है। जिसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं है, ऐसे आसुरी प्रकृति के व्यक्ति में न तो शुद्धि होती है, न सदाचार होता है और न सत्य होता है।[3]

उपसंहार—इस प्रकार विवेच्य आचार-दर्शनों में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को स्वीकार किया गया है, फिर भी जैन-दर्शन का दृष्टिकोण निवृत्ति प्रधान प्रवृत्ति का है। वह निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति का विधान करता है। बौद्ध-दर्शन में निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों का समान महत्त्व है। यद्यपि प्रारंभिक बौद्ध-दर्शन निवृत्यात्मक प्रवृत्ति का ही समर्थक था। गीता का दृष्टिकोण प्रवृत्ति प्रधान निवृत्ति का है। वह प्रवृत्ति के लिए निवृत्ति का विधान करती है। जहाँ तक सामान्य व्यावहारिक जीवन की बात है, हमें

---

१. उत्तराध्ययन, ३१।२ २. उदान, ६।८ ३. गीता (शां०), १६।७

अकल्याण से तब तक कोई नहीं बच नहीं सकता, जब तक कि दोप-निवृत्ति के साथ-साथ सद्गुणप्रेरक और कल्याणमय प्रवृत्ति में प्रवृत्त न हुआ जाय। बीमार व्यक्ति केवल कुपथ्य के सेवन से निवृत्त होकर ही जीवित नहीं रह सकता, उसे रोग निवारण के लिए पथ्य का सेवन भी करना होगा। शरीर से दूषित रक्त को निकाल डालना जीवन के लिए अगर जरूरी है तो उसमें नये रक्त का संचार करना भी उतना ही जरूरी है।[1]

प्रवृत्ति और निवृत्ति की सीमाएँ एवं क्षेत्र—जैन-दर्शन की अनेकांतवादी व्यवस्था यह मानती है कि न प्रवृत्तिमार्ग ही शुभ है और न एकांतरूप से निवृत्तिमार्ग ही शुभ है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में शुभत्व-अशुभत्व के तत्त्व हैं। प्रवृत्ति शुभ भी है और अशुभ भी। इसी प्रकार निवृत्ति शुभ भी है और अशुभ भी। प्रवृत्ति और निवृत्ति के अपने-अपने क्षेत्र हैं, स्वस्थान हैं और अपने-अपने स्वस्थानों में वे शुभ हैं, लेकिन परस्थानों या क्षेत्रों में वे अशुभ हैं।

न केवल आहार से जीवन-यात्रा सम्भव है और न केवल निहार से। जीवन-यात्रा के लिए दोनों आवश्यक हैं, लेकिन सम्यक् जीवन-यात्रा के लिए दोनों का अपने-अपने क्षेत्रों में कार्यरत होना भी आवश्यक है। यदि आहार के अंग निहार का और निहार के अंग आहार का कार्य करने लगे अथवा आहार योग्य पदार्थों का निहार होने लगे और निहार के पदार्थों का आहार किया जाने लगे तो व्यक्ति का स्वास्थ्य चौपट हो जायेगा। वे ही तत्त्व जो अपने स्वस्थान एवं देशकाल से शुभ हैं, परस्थान में अशुभ रूप में परिणत हो जायेंगे।

जैन दृष्टिकोण—भगवान् महावीर ने प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को नैतिक विकास के लिये आवश्यक कहा है। इतना ही नहीं, उन्होंने प्रवृत्ति और निवृत्ति के अपने-अपने क्षेत्रों की व्यवस्था भी की और यह बताया कि वे स्वक्षेत्रों में कार्य करते हुए ही नैतिक विकास की ओर ले जा सकती हैं। व्यक्ति के लिए यह भी आवश्यक है कि वह प्रवृत्ति और निवृत्ति के स्वक्षेत्रों एवं सीमाओं को जाने और उनका अपने-अपने क्षेत्रों में ही उपयोग करे। जिस प्रकार मोटर के लिए गतिदायक यंत्र (एक्सीलेटर) और गति-निरोधक यंत्र (ब्रेक) दोनों ही आवश्यक हैं, लेकिन साथ ही मोटर चालक के लिए यह भी आवश्यक है कि दोनों के उपयोग के अवसरों या स्थानों को समझे और यथावसर एवं यथास्थान ही उनका उपयोग करें। दोनों के अपने-अपने क्षेत्र हैं; और उन क्षेत्रों में ही उनका समुचित उपयोग यात्रा की सफलता का आधार है। यदि चालक उतार पर ब्रेक न लगाये और चढ़ाव पर एक्सीलेटर न दबाये अथवा उतार पर एक्सीलेटर दबाये और चढ़ाव पर ब्रेक लगाये तो मोटर नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी। महावीर ने जीवन

---

१. देखिये—जैनधर्म का प्राण; पृ० ६८।

की व्यावहारिता को गहराई से समझा था। साधु और गृहस्थ दोनों के लिए ही प्रवृत्ति और निवृत्ति को आवश्यक माना, लेकिन साथ-साथ यह भी कहा कि दोनों के अलग-अलग क्षेत्र हैं। एक प्रबुद्ध विचारक के रूप में भगवान् महावीर ने कहा—"एक ओर से विरत होओ, एक ओर प्रवृत्त होओ, असंयम से निवृत्त होओ, और संयम में प्रवृत्त होओ।"[1] यह कथन उनकी पैनी दृष्टि का परिचायक है। इसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति के क्षेत्रों को अलग-अलग करते हुए सफल नियंता के रूप में उन्होंने कहा "असंयम अर्थात् वासनाओं का जीवन', समत्व से विचलन का, पतन का मार्ग है। यह जीवन का उतार है, अतः यहाँ ब्रेक लगाओ, नियंत्रण करो। इस दिशा में निवृत्ति को अपनाओ। संयम अर्थात् आदर्श मूलक जीवन विकास का मार्ग है, वह जीवन का चढ़ाव है, उसमें गति देने की आवश्यकता है, अतः उस क्षेत्र में प्रवृत्ति को अपनाओ।

बौद्ध दृष्टिकोण—भगवान् बुद्ध ने भी प्रवृत्ति-निवृत्ति में समन्वय साधते हुए कहा है कि शीलव्रत-परामर्श अर्थात् संन्यास का बाह्य रूप से पालन करना ही सार है, यह एक अन्त है; काम-भोगों के सेवन में कोई दोष नहीं, यह दूसरा अन्त है। अन्तों के सेवन से संस्कारों की वृद्धि होती है।[2] अतः साधक को प्रवृत्ति और निवृत्ति के सन्दर्भ में अतिवादी या एकांतिक दृष्टि न अपनाकर एक समन्वयवादी दृष्टि अपनाना चाहिए।

गीता का दृष्टिकोण—गीता का आचार-दर्शन एकांत रूप से प्रवृत्ति या निवृत्ति का समर्थन नहीं करता। गीताकार की दृष्टि में भी सम्यक् आचरण के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही आवश्यक हैं। इतना ही नहीं, मनुष्य में इस बात का ज्ञान होना भी आवश्यक है कि कौन से कार्यों में प्रवृत्ति आवश्यक है और कौन से कार्यों में निवृत्ति। गीताकार का कहना है कि जिस व्यक्ति को प्रवृत्ति और निवृत्ति की सम्यक् दिशा का ज्ञान नहीं है, अर्थात् जो यह नहीं जानता कि पुरुषार्थ के साधन रूप किस कार्य में प्रवृत्त होना उचित है और उसके विपरीत अनर्थ के हेतु किस कार्य से निवृत्त होना उचित है, वह आसुरी सम्पदा से युक्त है। जिसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं है, ऐसे आसुरी प्रकृति के व्यक्ति में न तो शुद्धि होती है, न सदाचार होता है और न सत्य होता है।[3]

उपसंहार—इस प्रकार विवेच्य आचार-दर्शनों में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को स्वीकार किया गया है, फिर भी जैन-दर्शन का दृष्टिकोण निवृत्ति प्रधान प्रवृत्ति का है। वह निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति का विधान करता है। बौद्ध-दर्शन में निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों का समान महत्त्व है। यद्यपि प्रारंभिक बौद्ध-दर्शन निवृत्यात्मक प्रवृत्ति का ही समर्थक था। गीता का दृष्टिकोण प्रवृत्ति प्रधान निवृत्ति का है। वह प्रवृत्ति के लिए निवृत्ति का विधान करती है। जहाँ तक सामान्य व्यावहारिक जीवन की बात है, हमें

---

१. उत्तराध्ययन, ३१।२ २. उदान, ६।८ ३. गीता (शां०), १६।७

प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को स्वीकार करना होगा। दोनों की अपनी-अपनी सीमाएं एवं क्षेत्र हैं, जिनका अतिक्रमण करने पर उनका लोकमंगलकारी स्वरूप नष्ट हो जाता है। निवृत्ति का क्षेत्र आन्तरिक एवं आध्यात्मिक जीवन है और प्रवृत्ति का क्षेत्र वाह्य एवं सामाजिक जीवन है। दोनों को एक-दूसरे के क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। निवृत्ति उसी स्थिति में उपादेय हो सकती है जबकि वह निम्न सीमाओं का ध्यान रखे:-

१. निवृत्ति को लोककल्याण की भावना से विमुख नहीं होना चाहिए।
२. निवृत्ति का उद्देश्य मात्र अशुभ से निवृत्ति होनी चाहिए।
३. निवृत्यात्मक जीवन में साधक की सतत जागरूकता होना चाहिए निवृत्ति मात्र आत्मपीड़न बनकर न रह जावे, वरन् व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में सहायक भी हो।

इसी प्रकार प्रवृत्ति भी उसी स्थिति में उपादेय है जबकि वह निम्न सीमाओं का ध्यान रखें :—

१. यदि निवृत्ति और प्रवृत्ति अपनी-अपनी सीमाओं में रहते हुए परस्पर अविरोधी हों तो ऐसी स्थिति में प्रवृत्ति त्याज्य नहीं है।
२. प्रवृत्ति का उद्देश्य हमेशा शुभ होना चाहिए।
३. प्रवृत्ति में क्रियाओं का सम्पादन विवेकपूर्वक होना चाहिए।
४. प्रवृत्ति राग-द्वेष अथवा मानसिक विकारों (कषायों) के वशीभूत होकर नहीं की जानी चाहिए।

इस प्रकार निवृत्ति और प्रवृत्ति अपनी मर्यादाओं में रहती हैं तो वे जहाँ एक ओर सामाजिक विकास एवं लोकहित में सहायक हो सकती हैं, वहीं दूसरी ओर व्यक्ति को आध्यात्मिक विकास की ओर भी ले जाती हैं। अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति ही नैतिक आचरण का सच्चा मार्ग है।[1]

सामाजिक नैतिकता खण्ड

- भारतीय दर्शन में सामाजिक चेतना
- स्वहित बनाम लोकहित
- वर्णाश्रम-व्यवस्था
- स्वधर्म की अवधारणा
- सामाजिक नैतिकता के केन्द्रीय तत्त्व

    अहिंसा

    अनाग्रह

    अनासक्ति (अपरिग्रह)

- सामाजिक धर्म

९ भारतीय दर्शन में सामाजिक चेतना

भारतीय दर्शन में सामाजिक चेतना का विकास

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में उपस्थित सामाजिक सन्दर्भो को समझने के लिए सर्वप्रथम हमें यह जान लेना चाहिए, कि केवल कुछ दार्शनिक प्रस्थान ही सम्पूर्ण भारतीय प्रज्ञा एवं भारतीय चिन्तन का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं, इन दार्शनिक प्रस्थानों से हटकर भी भारत में दार्शनिक चिन्तन हुआ है और उसमें अनेकानेक सामाजिक संदर्भ उपस्थित हैं। दूसरे यह कि भारतीय दर्शन मात्र बौद्धिक एवं सैद्धान्तिक ही नहीं है, वह अनुभूत्यात्मक एवं व्यावहारिक भी है; कोई भी भारतीय दर्शन ऐसा नहीं है जो मात्र तत्त्वमीमांसीय (Metaphysical) एवं ज्ञान-मीमांसीय (Epistomological) चिन्तन से ही संतोष धारण कर लेता हो। उसमें ज्ञान ज्ञान के लिए नहीं, अपितु जीवन के सफल संचालन के लिए है। उसका मूल दुःख की समस्या में है। दुःख और दुःख-मुक्ति यही भारतीय दर्शन का 'अथ' और 'इति' है। यद्यपि तत्त्व-मीमांसा और ज्ञान-मीमांसा प्रत्येक भारतीय दार्शनिक प्रस्थान के महत्त्वपूर्ण अंग रहे हैं, किन्तु वे सम्यक् जीवनदृष्टि के निर्माण और सामाजिक व्यवहार की शुद्धि के लिए है। भारतीय चिन्तन में दर्शन की धर्म और नीति से अवियोज्यता उसके सामाजिक सन्दर्भ को और भी स्पष्ट कर देती है। यहाँ दर्शन जानने की नहीं, अपितु जीने की वस्तु रहा है; वह मात्र ज्ञान नहीं, अनुभूति है और इसीलिए वह फिलासफी नहीं, दर्शन है, जीवन जीने का एक सम्यक् दृष्टिकोण है।

यद्यपि हमारा दुर्भाग्य तो यह रहा कि मध्य-युग में दर्शन साधकों और ऋषि मुनियों के हाथों से निकलकर तथा-कथित बुद्धिजीवियों के हाथों में चला गया। फलतः उसमें तार्किक पक्ष प्रधान तथा अनुभूतिमूलक साधना एवं आचार-पक्ष गौण हो गया और हमारी जीवन-शैली से उसका रिश्ता धीरे-धीरे टूटता गया।

सामाजिक चेतना के विकास की दृष्टि से भारतीय चिन्तन के प्राचीन युग को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं :—

१. वैदिक युग,

२. औपनिषदिक युग, एवं

३. जैन-बौद्ध युग

वैदिक युग में जनमानस में सामाजिक चेतना को जाग्रत करने का प्रयत्न किया गया, जबकि औपनिषदिक युग में सामाजिक चेतना के लिए दार्शनिक आधार का प्रस्तुतिकरण किया गया और जैन-बौद्ध युग में सामाजिक सम्बन्धों के शुद्धिकरण पर बल दिया गया।

वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों ही मानवीय 'स्व' के अनिवार्य अंग हैं। पाश्चात्य विचारक ब्रैडले का कथन है कि 'मनुष्य नहीं है, यदि वह सामाजिक नहीं, किन्तु यदि वह मात्र सामाजिक ही है, तो वह पशु से अधिक नहीं है। मनुष्य की मनुष्यता वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों का अतिक्रमण करने में है। वस्तुतः मनुष्य एक ही साथ सामाजिक और वैयक्तिक दोनों ही है। क्योंकि मानव व्यक्तित्व में राग-द्वेष के तत्त्व अनिवार्य रूप से उपस्थित हैं। राग का तत्त्व उसमें सामाजिकता का विकास करता है, तो द्वेष का तत्त्व उसमें वैयक्तिकता या स्व-हितवादी दृष्टि का विकास करता है। जब राग का सीमाक्षेत्र संकुचित होता है और द्वेष का अधिक विस्तरित होता है, तो व्यक्ति को स्वार्थी कहा जाता है, उसमें वैयक्तिकता प्रमुख होती है। किन्तु जब राग का सीमाक्षेत्र विस्तरित होता है और द्वेष का क्षेत्र कम होता है, तब व्यक्ति परोपकारी या सामाजिक कहा जाता है। किन्तु जब वह वीतराग और वीतद्वेष होता है, तब वह अतिसामाजिक होता है। किन्तु अपने और पराये भाव का यह अतिक्रमण असामाजिक नहीं है। वीतरागता की साधना में अनिवार्य रूप से 'स्व' की संकुचित सीमा को तोड़ना होता है। अतः ऐसी साधना अनिवार्य रूप से असामाजिक तो नहीं हो सकती है। साथ ही मनुष्य जब तक मनुष्य है, वह वीतराग नहीं हुआ है, तो स्वभावतः ही एक सामाजिक प्राणी है। अतः कोई भी धर्म सामाजिक चेतना से विमुख होकर जीवित नहीं रह सकता।

वेदों एवं उपनिषदों में सामाजिक चेतना

भारतीय चिन्तन की प्रवर्तक वैदिक धारा में सामाजिकता का तत्त्व उसके प्रारम्भिक काल से ही उपस्थित है। वेदों में सामाजिक जीवन की संकल्पना के व्यापक सन्दर्भ हैं। वैदिक ऋषि सफल एवं सहयोगपूर्ण सामाजिक जीवन के लिए अभ्यर्थना करते हुए कहता है कि 'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्'—तुम मिलकर चलो, मिलकर बोलो, तुम्हारे मन साथ-साथ विचार करें; अर्थात् तुम्हारे जीवन व्यवहार में सहयोग, तुम्हारी वाणी में समस्वरता और तुम्हारे विचारों में समानता हो।[1] आगे पुनः वह कहता है:—

समानो मन्त्रः समितिः समानी,
समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

अर्थात् आप सबके निर्णय समान हों, आप सबकी सभा भी सबके लिए समान हो, अर्थात् सबके प्रति समान व्यवहार करे। आपका मन भी समान हो और आपकी चित्त-वृत्ति भी समान हो, आपके संकल्प एक हों, आपके हृदय एक हों, आपका मन भी एक-रूप हो ताकि आप मिलजुल कर अच्छी तरह से कार्य कर सकें।[2] सम्भवतः सामाजिक जीवन एवं समाज-निष्ठा के परिप्रेक्ष्य में वैदिक युग के भारतीय चिन्तक के ये सबसे महत्त्व-पूर्ण उद्गार हैं। वैदिक ऋषियों का 'कृण्वंतो विश्वमार्यम्' के रूप में एक सुसभ्य एवं सुसंस्कृत मानव-समाज की रचना का मिशन तभी सफल हो सकता था जबकि वे ... में

१. ऋग्वेद १०।१९१।२ २. वही, १०।१९१।३-४

समाज-निष्ठा के बीज का वपन करते। सहयोगपूर्ण जीवन-शैली उनका मूल मंतव्य था। प्रत्येक अवसर पर शांति-पाठ के माध्यम से वे जन-जन में सामाजिक चेतना के विकास का प्रयास करते थे। वे अपने शांति-पाठ में कहते थे:—

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्य करवावहै,
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।[1]

हम सब साथ-साथ रक्षित हों, साथ-साथ पोषित हों, साथ-साथ सामर्थ्य को प्राप्त हों, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम आपस में विद्वेष न करें। वैदिक समाज दर्शन का आदर्श था—'शत-हस्तः समाहर, सहस्रहस्तः सीकर' सैकड़ों हाथों से इकट्ठा करो और हजार हाथों से बांटो। किन्तु यह बाँटने की बात दया या कृपा नहीं है अपितु सामाजिक दायित्व का बोध है। क्योंकि भारतीय चिंतन में दान के लिए संविभाग शब्द का प्रयोग होता रहा है, इसमें सम वितरण या सामाजिक दायित्व का बोध ही प्रमुख है, कृपा, दया, करुणा ये सब गौण हैं। आचार्य शंकर ने दान की व्याख्या की है 'दानं संविभागं'। जैन दर्शन में तो अतिथि-संविभाग के रूप में एक स्वतन्त्र व्रत की व्यवस्था की गई है। संविभाग शब्द करुणा का प्रतीक न होकर सामाजिक अधिकार का प्रतीक है। वैदिक ऋषियों का निष्कर्ष था कि जो अकेला खाता है वह पापी है (केवलादो भवति केवलादी) जैन दार्शनिक भी कहते थे 'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो' जो सम-विभागी नहीं है उसकी मुक्ति नहीं होगी। इस प्रकार हम वैदिक युग में सहयोग एवं सहजीवन का संकल्प उपस्थित पाते हैं। किन्तु उसके लिए दार्शनिक आधार का प्रस्तुतिकरण औपनिषदिक चिन्तन में ही हुआ है। औपनिषदिक ऋषि 'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' तथा 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' के रूप में एकत्व की अनुभूति करने लगा। औपनिषदिकचिन्तन में वैयक्तिकता से ऊपर उठकर सामाजिक एकता के लिए अभेद-निष्ठा का सर्वोत्कृष्ठ तात्विक आधार प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार जहाँ वेदों की समाज-निष्ठा बहिर्मुखी थी, वही उपनिषदों में आकर अन्तर्मखी हो गयी। भारतीय दर्शन में यह अभेद-निष्ठा ही सामाजिक एकत्व की चेतना एवं सामाजिक समता का आधार बनी है। ईशावास्योपनिषद् का ऋषि कहता था:—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥[2]

जो सभी प्राणियों को अपने में और अपने को सभी प्राणियों में देखता है वह अपनी इस एकात्मता की अनुभूति के कारण किसी से घृणा नहीं करता है। सामाजिक जीवन के विकास का आधार एकात्मता की अनुभूति है और जब एकात्मता की दृष्टि का विकास हो

---

१. तैत्तिरीय आरण्यक ८।२ २. ईश ६

जाता है तो घृणा और विद्वेष के तत्त्व स्वतः समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार जहाँ एक ओर औपनिषदिक ऋषियों ने एकात्मता की चेतना को जाग्रत कर सामाजिक जीवन के विनाशक घृणा एवं विद्वेप के तत्त्वों को समाप्त करने का प्रयास किया, वही दूसरी ओर उन्होंने सम्पत्ति के वैयक्तिक अधिकार का निरसन कर ईश्वरी सम्पदा अर्थात् सामूहिक सम्पदा का विचार भी प्रस्तुत किया। ईशावास्योपनिषद् के प्रारम्भ में ही ऋषि कहता है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥[1]

अर्थात् इस जग में जो कुछ भी है वह सभी ईश्वरीय है ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे वैयक्तिक कहा जा सके। इस प्रकार श्लोक के पूर्वार्द्ध में वैयक्तिक अधिकार का निरसन करके समष्टि को प्रधानता दी गई है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में व्यक्ति के उपभोग एवं संग्रह के अधिकार को मर्यादित करते हुए कहा गया कि प्रकृति की जो भी उपलब्धियाँ हैं उनमें दूसरों (अर्थात् समाज के दूसरे सदस्यों) का भी भाग है। अतः उनके भाग को छोड़कर ही उनका उपयोग करो, संग्रह या लालच मत करो क्योंकि सम्पत्ति किसी एक की नहीं है। सम्भवतः सामाजिक चेतना के विकास के लिए इससे अधिक महत्त्वपूर्ण दूसरा कथन नहीं हो सकता था। यही कारण था कि गांधी जी ने इस श्लोक के सन्दर्भ में कहा था कि भारतीय संस्कृति का सभी कुछ नष्ट हो जाये किन्तु यह श्लोक बना रहे तो यह अकेला ही उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ है। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' में समग्र सामाजिक चेतना केन्द्रित दिखाई देती है।

गीता में सामाजिक चेतना

यदि हम उपनिषदों से महाभारत और उसके ही एक अंश गीता की ओर आते हैं तो यहाँ भी हमें सामाजिक चेतना का स्पष्ट दर्शन होता है। महाभारत तो इतना व्यापक ग्रन्थ है कि उसमें उपस्थित समाज-दर्शन पर एक स्वतन्त्र महानिबन्ध लिखा जा सकता है। सर्वप्रथम महाभारत में हमें समाज की आंगिक संकल्पना का वह सिद्धान्त परिलक्षित होता है, जिस पर पाश्चात्य चिन्तन में सर्वाधिक बल दिया गया है। गीता भी इस एकात्मता की अनुभूति पर बल देती है। गीताकार कहता है कि—

'आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः ॥'[2]

अर्थात् जो सुख दुःख की अनुभूति में सभी को अपने समान समझता है वही सच्चा योगी है। मात्र इतना ही नहीं, वह तो इससे आगे यह भी कहता है कि सच्चा दर्शन या ज्ञान वही है जो हमें एकात्मता की अनुभूति कराता है—'अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं

---

१. ईश १ २. गीता ६।३२

विद्धि सात्विकम् ।' वैयक्तिक विभिन्नताओं में भी एकात्मता की अनुभूति ही ज्ञान की सात्विकता और हमारी समाज-निष्ठा का एक मात्र आधार है। सामाजिक दृष्टि से गीता 'सर्वभूत-हिते रताः' का सामाजिक आदर्श भी प्रस्तुत करती है। अनासक्त भाव से युक्त होकर लोक-कल्याण के लिए कार्य करते रहना ही गीता के समाज-दर्शन का मूल मन्तव्य है। श्रीकृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं—

'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरताः'[१]

मात्र इतना ही नहीं, गीता में सामाजिक दायित्वों के निर्वहन पर भी पूरा-पूरा बल दिया गया है जो अपने सामाजिक दायित्वों को पूर्ण किये बिना भोग करता है वह गीताकार की दृष्टि में चोर (स्तेन एव सः ३।१२)। साथ ही जो मात्र अपने लिए पकाता है वह पाप का ही अर्जन करता है। (भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ३।१३)। गीता हमें समाज में रहकर ही जीवन जीने की शिक्षा देती है इसलिए उसने संन्यास की नवीन परिभाषा भी प्रस्तुत की है। वह कहती है कि—

'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः'[२]

काम्य अर्थात् स्वार्थ युक्त कर्मों का त्याग ही संन्यास है, केवल निरग्नि और निष्क्रिय हो जाना संन्यास नहीं है। सच्चे संन्यासी का लक्षण है समाज में रहकर लोककल्याण के लिए अनासक्त भाव से कर्म करता रहे।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं करोति यः।
स संन्यास च योगी च न निरग्नि र्न चाक्रियः ॥[३]

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि लोक-शिक्षा को चाहते हुए कर्म करता रहे (कुर्यात् विद्वान् तथा असक्तः चिकीर्षुः लोकसंग्रहम्)।[४] गीता में गुणाश्रित कर्म के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का जो आदर्श प्रस्तुत किया था वह भी सामाजिक दृष्टि से कर्तव्यों एवं दायित्वों के विभाजन का एक महत्त्वपूर्ण कार्य था, यद्यपि भारतीय समाज का यह दुर्भाग्य था कि गुण अर्थात् वैयक्तिक योग्यता के आधार पर कर्म एवं वर्ण का यह विभाजन किन्हीं निहित स्वार्थों के कारण जन्मना बना दिया गया। वस्तुतः वेदों में एवं स्वयं गीता में भी जो विराट् पुरुष के विभिन्न अंगों से उत्पत्ति के रूप में वर्णों की अवधारणा है वह अन्य कुछ नहीं अपितु समाज-पुरुष के विभिन्न अंगों की अवधारणा है और किसी सीमा तक समाज के आंगिकता सिद्धांत का ही प्रस्तुतीकरण है।

सामाजिक जीवन में विषमता एवं संघर्ष का एक महत्त्वपूर्ण कारण सम्पत्ति का अधिकार है। श्रीमद्भागवत भी ईशावास्योपनिषद् के समान ही सम्पत्ति पर व्यक्ति के अधिकार को अस्वीकार करती है। उसमें कहा गया है:—

१. गीता १२।४ २. वही, १८।२ ३. वही, ६।१ ४. वही, ३।२५

यावत् भ्रियेत जठरं, तावत् स्वत्वं देहिनाम् ।
अधिको योऽभिमन्येत, स स्तेनो दण्डमर्हति ।।[1]

अर्थात् अपनी दैहिक आवश्यकता से अधिक सम्पदा पर अपना स्वत्व मानना सामाजिक दृष्टि से चोरी है, अनधिकृत चेष्टा है। आज का समाजवाद एवं साम्यवाद भी इसी आदर्श पर खड़ा है, योग्यता के अनुसार कार्य और आवश्यकता के अनुसार वेतन' की उसकी धारणा यहाँ पूरी तरह उपस्थित है। भारतीय चिन्तन में पुण्य और पाप का, जो वर्गीकरण है, उसमें भी सामाजिक दृष्टि ही प्रमुख है। पाप के रूप में जिन दुर्गुणों का और पुण्य के रूप में जिन सद्गुणों का उल्लेख है उनका सम्बन्ध वैयक्तिक जीवन की अपेक्षा सामाजिक जीवन से अधिक है। पुण्य और पाप की एक मात्र कसौटी है— किसी कर्म का लोक-मंगल में उपयोगी या अनुपयोगी होना। कहा भी गया है:—

'परोपकाराय पुण्याय, पापाय परपीडनम्'

जो लोक के लिए हितकर है कल्याणकर है, वह पुण्य है और इसके विपरीत जो भी दूसरों के लिए पीड़ा-जनक है, अमंगलकर है वह पाप है। इस प्रकार भारतीय चिन्तन में पुण्य-पाप की व्याख्याएँ भी सामाजिक दृष्टि पर ही आधारित हैं।

जैन एवं बौद्धधर्म में सामाजिक चेतना

यदि हम निवर्तक धारा के समर्थक जैनधर्म एवं बौद्धधर्म की ओर दृष्टिपात करते हैं तो प्रथम दृष्टि में ऐसा लगता है कि इनमें समाज की दृष्टि की उपेक्षा की गई है। सामान्यतया यह माना जाता है कि निवृत्ति-प्रधान दर्शन व्यक्ति-परक और प्रवृत्ति-प्रधान दर्शन समाज-परक होते हैं। किन्तु मान लेना कि भारतीय चिन्तन की निवर्तक धारा के समर्थक जैन, बौद्ध आदि दर्शन असामाजिक है या इन दर्शनों में सामाजिक संदर्भ का अभाव है, नितान्त भ्रम होगा। इनमे भी सामाजिक भावना से पराङ्मुखता नहीं दिखाई देती है। ये दर्शन इतना तो अवश्य मानते हैं कि चाहे वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकांकी जीवन लाभप्रद हो सकता है किन्तु उस साधना से प्राप्त सिद्धि का उपभोग सामाजिक कल्याण की दिशा में ही होना चाहिए। महावीर और बुद्ध का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है कि वे ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् जीवन-पर्यन्त लोक-मंगल के लिए कार्य करते रहे। यद्यपि इन निवृत्तिप्रधान दर्शनों में जो सामाजिक सन्दर्भ उपस्थित हैं, वे थोड़े भिन्न प्रकार के अवश्य हैं। इनमें मूलतः सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि का प्रयास परिलक्षित होता है। सामाजिक सन्दर्भ की दृष्टि से इनमें समाज-रचना एवं सामाजिक दायित्वों की निर्वहण की अपेक्षा समाज-जीवन को दूषित बनाने वाले तत्त्वों के निरसन पर बल दिया गया है। जैन-दर्शन के पंच महाव्रत, बौद्ध दर्शन के पंचशील और योग दर्शन के पंचयमों का

---

१. श्रीमद्भागवत ७।१४।८

सम्बन्ध अनिवार्यतया हमारे सामाजिक जीवन से ही है। प्रश्नव्याकरणसूत्र नामक जैन आगम में कहा गया है कि 'तीर्थंकर का यह सुकथित प्रवचन सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है। पांचों महाव्रत सर्वप्रकार से लोकहित के लिए ही है।'[1] हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, संग्रह (परिग्रह) ये सब वैयक्तिक नहीं, सामाजिक जीवन की दुष्प्रवृत्तियाँ हैं। ये सब दूसरों के प्रति हमारे व्यवहार से संबंधित हैं। हिंसा का अर्थ है किसी अन्य की हिंसा, असत्य का मतलब है किसी अन्य को गलत जानकारी देना, चोरी का अर्थ है किसी दूसरे की सम्पत्ति का अपहरण करना, व्यभिचार का मतलब है सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध यौन सम्बन्ध स्थापित करना, इसी प्रकार संग्रह या परिग्रह का अर्थ है समाज में आर्थिक विषमता पैदा करना। क्या समाज जीवन के अभाव में इनका कोई अर्थ या संदर्भ रह जाता है ? अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की जो मर्यादायें इन दर्शनों ने दीं वे हमारे सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि के लिए ही हैं।

इसी प्रकार जैन, बौद्ध और योग दर्शनों की साधना पद्धति में समान रूप से प्रस्तुत मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ भावनाओं के आधार पर भी सामाजिक संदर्भ को स्पष्ट किया जा सकता है। जैनाचार्य अमितगति इन भावनाओं की अभिव्यक्ति निम्न शब्दों में करते हैं:—

> सत्वेषु मैत्री गुणीषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।
> मध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ॥[2]

'हे प्रभु, हमारे मनों में प्राणियों के प्रति मित्रता, गुणीजनों के प्रति प्रमोद, दुखियों के प्रति करुणा तथा दुष्ट जनों के प्रति मध्यस्थ भाव सदा विद्यमान रहें।' इस प्रकार इन भावनाओं के माध्यम से समाज के विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से हमारे सम्बन्ध किस प्रकार के हों यही स्पष्ट किया गया है। समाज में दूसरे लोगों के साथ हम किस प्रकार जीवन जियें यह हमारी सामाजिकता के लिए अति आवश्यक है और इन दर्शनों में इस प्रकार से व्यक्ति को समाज-जीवन से जोड़ने का ही प्रयास किया गया है। इन दर्शनों का हृदय रिक्त नहीं है। इनमें प्रेम और करुणा की अटूट धारा बह रही है। तीर्थंकर की वाणी का प्रस्फुटन ही लोक की करुणा के लिए होता है (समेच्च लोये खेयन्ने पव्वइये)। इसीलिए तो आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं—'सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव', 'हे प्रभो आपका अनुशासन सभी दुःखों का अन्त करने वाला और सभी का कल्याण (सर्वोदय) करने वाला है।' जैन आगमों में प्रस्तुत कुल-धर्म, ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म एवं गण-धर्म भी उसकी समाज-सापेक्षता को स्पष्ट कर देते हैं। त्रिपिटक में भी अनेक संदर्भों में व्यक्ति के विविध सामाजिक सम्बन्धों के आदर्शों का चित्रण

---

१. प्रश्नव्याकरण १।१।२१-२२ २. सामायिक पाठ (अमितगति)

किया गया है। पारिवारिक और सामाजिक जीवन में हमारे पारस्परिक सम्बन्धों को सुमधुर एवं समायोजनपूर्ण बनाने तथा सामाजिक टकराव के कारणों का विश्लेषण कर उन्हें दूर करने के लिए इन दर्शनों का महत्वपूर्ण योगदान है।

वस्तुतः इन दर्शनों में आचार शुद्धि पर बल देकर व्यक्ति सुधार के माध्यम से समाज-सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। इन्होंने व्यक्ति को समाज का केन्द्र माना और इसलिए उसके चरित्र के निर्माण पर बल दिया। वस्तुतः इन दर्शनों के युग तक समाज-रचना का कार्य पूरा हो चुका था अतः इन्होंने मुख्य रूप से सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने का प्रयास किया और सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि पर बल दिया।

रागात्मकता और समाज

सम्भवतः इन दर्शनों को जिन आधारों पर सामाजिक जीवन से कटा हुआ माना जाता है उनमें प्रमुख हैं—राग या आसक्ति का प्रहाण, संन्यास या निवृत्तिमार्ग की प्रधानता तथा मोक्ष का प्रत्यय। ये ही ऐसे तत्त्व हैं जो व्यक्ति को सामाजिक जीवन से अलग करते हैं। अतः भारतीय संदर्भ में इन प्रत्ययों की सामाजिक दृष्टि से समीक्षा आवश्यक है।

सर्वप्रथम भारतीय दर्शन आसक्ति, राग या तृष्णा की समाप्ति पर बल देता है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या आसक्ति या राग से ऊपर उठने की बात सामाजिक जीवन से अलग करती है। सामाजिक जीवन का आधार पारस्परिक सम्बन्ध है और सामान्यतया यह माना जाता है कि राग से मुक्ति या आसक्ति की समाप्ति तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति अपने को सामाजिक जीवन से या पारिवारिक जीवन से अलग कर ले। किन्तु यह एक भ्रान्त धारणा ही है। न तो सम्बन्ध तोड़ देने मात्र से राग समाप्त हो जाता है, न राग के अभाव मात्र से संबंध टूट जाते हैं, वास्तविकता तो यह है, कि राग या आसक्ति की उपस्थिति में हमारे यथार्थ सामाजिक संबंध ही नहीं बन पाते। सामाजिक जीवन और सामाजिक संबंधों की विषमता के मूल में व्यक्ति की राग-भावना ही काम करती है। सामान्यतया राग द्वेष का सहगामी होता है और जब सम्बन्ध राग-द्वेष के आधार पर खड़े होते हैं तो इन संबंधों से टकराहट एवं विषमता स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है। बोधिचर्यावतार में आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं:—

उपद्रवा ये च भवन्ति लोके यावन्ति दुःखानि भयानि चैव ।
सर्वाणि तान्यात्मपरिग्रहेण तत् किं ममानेन परिग्रहेण ॥
आत्मानमपरित्यज्य दुःखं त्यक्तुं न शक्यते ।
यथाग्निमपरित्यज्य दाहं त्यक्तुं न शक्यते ॥

संसार के सभी दुःख और भय एवं तज्जन्य उपद्रव ममत्व के कारण होते हैं। जब ममत्व बुद्धि का परित्याग नहीं किया जाता तब तक इन दुःखों की समाप्ति सम्भव नहीं

है। जैसे अग्नि का परित्याग किये बिना तज्जन्य दाह से बचना असम्भव है। राग हमें सामाजिक जीवन से जोड़ता नहीं है, अपितु तोड़ता ही है। राग के कारण मेरा या ममत्व भाव उत्पन्न होता है। मेरे संबंधी, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा राष्ट्र ये विचार विकसित होते हैं और उसके परिणामस्वरूप भाई-भतीजावाद, जातिवाद साम्प्रदायिकता और संकुचित राष्ट्रवाद का जन्म होता है। आज मानव जाति के सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों में ये ही सबसे अधिक बाधक तत्त्व हैं। ये मनुष्य को पारिवारिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर नहीं उठने देते हैं। वे ही आज की विषमता के मूल कारण हैं। भारतीय दर्शन ने राग या आसक्ति के प्रहाण पर बल देकर सामाजिकता की एक यथार्थ दृष्टि ही प्रदान की है। प्रथम तो यह कि राग किसी पर होता है और जो किसी पर होता है वह सब पर नहीं हो सकता है। अतः राग से ऊपर उठे बिना या आसक्ति को छोड़े बिना सामाजिकता की सच्ची भूमिका प्राप्त नहीं की जा सकती। सामाजिक जीवन की विषमताओं का मूल 'स्व' की संकुचित सीमा ही है। व्यक्ति जिसे अपना मानता है उसके हित की कामना करता है और जिसे पराया मानता है उसके हित की उपेक्षा करता है। सामाजिक जीवन में शोषण, क्रूर व्यवहार, घृणा आदि सभी उन्हीं के प्रति किये जाते हैं, जिन्हें हम अपना नहीं मानते हैं। यद्यपि यह बड़ा कठिन कार्य है कि हम अपनी रागात्मकता या ममत्ववृत्ति का पूर्णतया विसर्जन कर सकें किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उसका एक सीमा तक विसर्जन किये बिना अपेक्षित सामाजिक जीवन का विकास नहीं हो सकता। व्यक्ति का ममत्व चाहे वह व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन या राष्ट्र की सीमा तक विस्तृत हो, हमें स्वार्थ-भावना से ऊपर नहीं उठने देता। स्वहित की वृत्ति चाहे वह परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति, समान रूप से सामाजिकता की विरोधी ही सिद्ध होती है। उसके होते हुए सच्चा सामाजिक जीवन फलित नहीं हो सकता। जिस प्रकार परिवार के प्रति ममत्व का सघन रूप हममें राष्ट्रीय चेतना का विकास नहीं कर सकता उसी प्रकार राष्ट्रीयता के प्रति भी ममत्व सच्ची मानवीय एकता में सहायक सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति जब तक राग या आसक्ति से ऊपर नहीं उठता तब तक सामाजिकता का सद्भाव सम्भव नहीं हो सकता। समाज त्याग एवं समर्पण के आधार पर खड़ा होता है अतः वीतराग या अनासक्त दृष्टि ही सामाजिक जीवन के लिए वास्तविक आधार प्रस्तुत कर सकती है और सम्पूर्ण मानव-जाति में सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण कर सकती है। यदि हम सामाजिक सम्बन्धों में उत्पन्न होने वाली विषमता एवं टकराहट के कारणों का विश्लेषण करें तो उसके मूल में हमारी आसक्ति या रागात्मकता ही प्रमुख है। आसक्ति, ममत्व भाव या राग के कारण ही मनुष्य में

---

१. बोधिचर्यावतार ८।१३४-१३५

संग्रह, आवेश और कपटाचार के तत्त्व जन्म लेते हैं। अतः यह कहना उचित ही होगा कि इन दर्शनों ने राग या आसक्ति के प्रहाण पर बल देकर सामाजिक विषमताओं को समाप्त करने एवं सामाजिक समत्व की स्थापना करने में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। समाज त्याग एवं समर्पण पर खड़ा होता है, जीता है और विकसित होता है, यह भारतीय चिन्तन का महत्वपूर्ण निष्कर्ष है। वस्तुतः आसक्ति या राग तत्त्व की उपस्थिति में सच्ची सार्वभौम सामाजिकता फलित नहीं होती है।

सामाजिकता का आधार राग या विवेक ?

सम्भवतः यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि राग के अभाव में सामाजिक सम्बन्धों को जोड़ने वाला तत्त्व क्या होगा ? राग के अभाव से तो सारे सामाजिक सम्बन्ध चरमरा कर टूट जायेंगे। रागात्मकता ही तो हमें एक-दूसरे से जोड़ती है। अतः राग सामाजिक-जीवन का एक आवश्यक तत्त्व है। किन्तु मेरी अपनी विनम्र धारणा में जो तत्त्व व्यक्ति को व्यक्ति से या समाज से जोड़ता है, वह राग नहीं, विवेक है। तत्त्वार्थसूत्र में इस बात की चर्चा उपस्थित की गई है कि विभिन्न द्रव्य एक-दूसरे का सहयोग किस प्रकार करते हैं। उसमें जहाँ पुद्गल-द्रव्य को जीव-द्रव्य का उपकारक कहा गया है, वहीं एक जीव को दूसरे जीवों का उपकारक कहा गया है 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'[1]। चेतन-सत्ता यदि किसी का उपकार या हित कर सकती है, तो चेतन-सत्ता का ही कर सकती है। इस प्रकार पारस्परिक हित-साधन यह जीव का स्वभाव है और यह पारस्परिक हित-साधन की स्वाभाविक वृत्ति ही मनुष्य की सामाजिकता का आधार है। इस स्वाभाविक-वृत्ति के विकास के दो आधार हैं—एक रागात्मक और दूसरा विवेक। रागात्मकता हमें कहीं से जोड़ती है, तो कहीं से तोड़ती भी है। इस प्रकार रागात्मकता के आधार पर जब हम किसी को अपना मानते हैं, तो उसके विरोधी के प्रति "पर" का भाव भी आ जाता है। राग द्वेष के साथ ही जीता है। वे ऐसे जुड़वा शिशु हैं, जो एक साथ उत्पन्न होते हैं, एक साथ जीते हैं और एक साथ मरते भी हैं। राग जोड़ता है, तो द्वेष तोड़ता है। राग के आधार पर जो भी समाज खड़ा होगा, तो उसमें अनिवार्य रूप से वर्गभेद और वर्णभेद रहेगा ही। सच्ची सामाजिक-चेतना का आधार राग नहीं, विवेक होगा। विवेक के आधार पर दायित्व-बोध एवं कर्तव्य-बोध की चेतना जागृत होगी। राग की भाषा अधिकार की भाषा है, जबकि विवेक की भाषा कर्तव्य की भाषा है। जहाँ केवल अधिकारों की बात होती हैं, वहाँ केवल विकृत सामाजिकता होती है। स्वस्थ सामाजिकता अधिकार का नहीं, कर्तव्य का बोध कराती है और ऐसी सामाजिकता का आधार 'विवेक' होता है, कर्तव्य-बोध होता है। जैन-धर्म ऐसी ही सामाजिक-चेतना को निर्मित करना चाहता है। जब

---

१. तत्त्वार्थ ५।२१

विवेक हमारी सामाजिक-चेतना का आधार बनता है, तो मेरे और तेरे की, अपने और पराये की चेतना समाप्त हो जाती है। सभी आत्मवत् होते हैं। जैन-धर्म ने अहिंसा को जो अपने धर्म का आधार माना है, उसका आधार यही आत्मवत् दृष्टि है।

सामाजिक जीवन के बाधक तत्त्व अहंकार और कषाय

सामाजिक सम्बन्ध में व्यक्ति का अहंकार भी बहुत कम महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। शासन की इच्छा या आधिपत्य की भावना इसके प्रमुख तत्त्व हैं, इनके कारण भी सामाजिक-जीवन में विषमता उत्पन्न होती है। शासक और शासित अथवा जातिभेद एवं रंगभेद आदि की श्रेष्ठता-निम्नता के मूल में यही कारण है। वर्तमान में बड़े राष्ट्रों में जो अपने प्रभावक क्षेत्र बनाने की प्रवृत्ति है, उसके मूल में भी अपने राष्ट्रीय अहं की पुष्टि का प्रयत्न है। स्वतन्त्रता के अपहार का प्रश्न इसी स्थिति में होता है। जब व्यक्ति के मन में आधिपत्य की वृत्ति या शासन की भावना उद्‌बुद्ध होती है, तो वह दूसरे के अधिकारों का हनन करता है, अपहरण करता है। जैन-दर्शन अहंकार (मान) प्रत्यय के विगलन के द्वारा सामाजिक परतन्त्रता को समाप्त करता है। दूसरी ओर जैन-दर्शन का अहिंसा-सिद्धान्त भी सभी प्राणियों के समान अधिकारों को स्वीकार करता है। अधिकारों का हनन भी एक प्रकार की हिंसा है। अतः अहिंसा का सिद्धान्त स्वतन्त्रता के सिद्धान्त के साथ जुड़ा हुआ है। जैन एवं बौद्ध-दर्शन एक ओर अहिंसा-सिद्धांत के आधार पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का पूर्ण समर्थन करते हैं, वहीं दूसरी ओर समता के आधार पर वर्गभेद, जातिभेद, एवं ऊँच-नीच की भावना को समाप्त करते हैं।

सामाजिक जीवन में विषमता उत्पन्न होने के चार मूलभूत कारण हैं:--१. संग्रह (लोभ), २. आवेश (क्रोध), ३. गर्व (बड़ा मानना) और ४. माया (छिपाना)। जिन्हें जैन-धर्म में चार कषाय कहा जाता है। ये चारों अलग-अलग रूप में सामाजिक-जीवन में विषमता, संघर्ष एवं अशान्ति के कारण बनते हैं। १. संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण, अप्रमाणिकता, स्वार्थपूर्ण-व्यवहार, क्रूर-व्यवहार, विश्वासघात आदि विकसित होते हैं। २. आवेश की मनोवृत्ति के कारण संघर्ष, युद्ध, आक्रमण एवं हत्याएँ आदि होते हैं। ३. गर्व की मनोवृत्ति के कारण घृणा और क्रूर व्यवहार होता है। ४. माया की मनोवृत्ति के कारण अविश्वास एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहार उत्पन्न होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन में जिन्हें चार कषाय कहा जाता है, उन्हीं के कारण सामाजिक जीवन दूषित होता है। जैन-दर्शन इन्हीं कषायों के निरोध को अपनी नैतिक-साधना का आधार बनाता है। अतः यह कहना उचित ही होगा कि जैन-दर्शन अपने साधना-मार्ग के रूप में सामाजिक-विषमताओं को समाप्त कर, सामाजिक-समत्व की स्थापना का प्रयत्न करता। यदि हम जैन-धर्म में स्वीकृत पांच महाव्रतों को देखें, तो स्पष्ट रूप से उनका पूरा सन्दर्भ सामाजिक जीवन है। हिंसा, मृषावचन, चोरी, मैथुन-सेवन (व्यभिचार)

एवं संग्रहवृत्ति सामाजिक जीवन की बुराइयाँ हैं। इनसे बचने के लिए पाँच महाव्रतों के रूप में जिन नैतिक सद्गुणों की स्थापना की गई, वे पूर्णतः सामाजिक-जीवन से सम्बन्धित हैं। अतः भारतीय दर्शन ने अनासक्ति एवं वीतरागता के प्रत्यय पर जो कुछ बल दिया है वह सामाजिकता का विरोधी नहीं है।

संन्यास और समाज

सामान्यतया भारतीय दर्शन के संन्यास के प्रत्यय को समाज निरपेक्ष माना जाता है, किन्तु क्या संन्यास की धारणा समाज-निरपेक्ष है? निश्चय ही संन्यासी पारिवारिक जीवन का त्याग करता है किन्तु इससे क्या वह असामाजिक हो जाता है? संन्यास के संकल्प में वह कहता है कि 'वित्तेषणा पुत्रेषणा लोकेषणा मया परित्यक्ता' अर्थात् मैं अर्थ-कामना, सन्तान-कामना और यश-कामना का परित्याग करता हूँ किन्तु क्या धन-सम्पदा, सन्तान तथा यश-कीर्ति की कामना का परित्याग समाज का परित्याग है? वस्तुतः समस्त एषणाओं का त्याग स्वार्थ का त्याग है, वासनामय जीवन का त्याग है, संन्यास का यह संकल्प उसे समाज-विमुख नहीं बनाता है, अपितु समाज-कल्याण की उच्चतर भूमिका पर अधिष्ठित करता है क्योंकि सच्चा लोकहित निःस्वार्थता एवं विराग की भूमि पर स्थित होकर ही किया जा सकता है।

भारतीय चिन्तन संन्यास को समाज-निरपेक्ष नहीं मानता। भगवान बुद्ध का यह आदेश 'चरत्थ भिक्खवे चारिकं बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय देव मनुस्सानं' (विनयपिटक-महावग्ग) इस बात का प्रमाण है कि संन्यास लोक-मंगल के लिए होता है। सच्चा संन्यासी वह व्यक्ति है जो समाज से अल्पतम लेकर उसे अधिकतम देता है। वस्तुतः वह कुटुम्ब, परिवार आदि का त्याग इसलिए करता है कि समष्टि का होकर रहे क्योंकि जो किसी का है वह सबका नहीं हो सकता, जो सबका है वह किसी का नहीं है। संन्यासी निःस्वार्थ और निष्काम रूप से लोक-मंगल का साधक होता है। संन्यास शब्द सम् पूर्वक न्यास है, न्यास शब्द का एक अर्थ देखरेख करना भी है। संन्यासी वह व्यक्ति है जो सम्यक् रूप से एक न्यासी (ट्रस्टी) की भूमिका अदा करता है और न्यासी वह है जो ममत्व भाव और स्वामित्व का त्याग करके किसी ट्रस्ट (सम्पदा) का रक्षण एवं विकास करता है[1]। संन्यासी सच्चे अर्थ में एक ट्रस्टी है। ट्रस्टी यदि ट्रस्ट का उपयोग अपने हित में करता है, अपने को उसका स्वामी समझता है तो वह सम्यक् ट्रस्टी नहीं हो सकता है। इसी प्रकार यदि वह ट्रस्ट के रक्षण एवं विकास का प्रयत्न न करे तो भी सच्चे अर्थ में ट्रस्टी नहीं है। इसी प्रकार यदि संन्यासी लोकेषणा से युक्त है, ममत्व-बुद्धि या स्वार्थ बुद्धि से काम करता है तो संन्यासी नहीं है और यदि लोक की उपेक्षा करता है, लोकमंगल के लिए प्रयास नहीं करता है तो वह भी संन्यासी नहीं है। उसके जीवन का मिशन तो 'सर्वभूत-हिते रतः' का है।

---

१. लेखक इस व्याख्या के लिए महेन्द्र मुनि जी का आभारी है।

संन्यास में राग से ऊपर उठना आवश्यक है। किंतु इसका तात्पर्य समाज की उपेक्षा नहीं है। संन्यास की भूमिका में स्वत्व एवं ममत्व के लिए निश्चय ही कोई स्थान नहीं है। फिर भी वह पलायन नहीं, अपितु समर्पण है। ममत्व का परित्याग कर्तव्य की उपेक्षा नहीं है, अपितु कर्तव्य का सही बोध है। संन्यासी उस भूमिका पर खड़ा होता है जहाँ व्यक्ति अपने में समष्टि को और समष्टि में अपने को देखता है। उसकी चेतना अपने और पराये के भेद से ऊपर उठ जाती है। यह अपने और पराये के विचार से ऊपर हो जाना समाज विमुखता नहीं है, अपितु यह तो उसके हृदय की व्यापकता है, महानता है। इसलिए भारतीय चिन्तकों ने कहा है:—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।।

संन्यास की भूमिका न तो आसक्ति की भूमिका है और न उपेक्षा की। उसकी वास्तविक स्थिति 'धाय' (नर्स) के समान ममत्व रहित कर्तव्य भाव की होती है। जैन-धर्म में कहा भी गया है:—

सम दृष्टि जीवड़ा करे कुटुम्ब प्रतिपाल ।
अन्तर सूं न्यारा रहे जूं धाय खिलावे बाल ।।

वस्तुतः निर्ममत्व एवं निःस्वार्थ भाव से तथा वैयक्तिकता और स्वार्थ से ऊपर उठकर कर्तव्य का पालन ही संन्यास की सच्ची भूमिका है। संन्यासी वह व्यक्ति है जो लोक-मंगल के लिए अपने व्यक्तित्व एवं अपने शरीर को समर्पित कर देता है। वह जो कुछ भी त्याग करता है वह समाज के लिए एक आदर्श बनता है। समाज में नैतिक चेतना को जाग्रत करना तथा सामाजिक जीवन में आने वाली दुःप्रवृत्तियों से व्यक्ति को बचा-कर लोकमंगल के लिए उसे दिशा-निर्देश देना संन्यासी का सर्वोपरि कर्तव्य माना गया है। अतः हम कह सकते हैं कि भारतीय दर्शन में संन्यास की जो भूमिका प्रस्तुत की गई है वह सामाजिकता की विरोधी नहीं है। संन्यासी क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठकर खड़ा हुआ व्यक्ति होता है, जो आदर्श समाज-रचना के लिए प्रयत्नशील रहता है। अब हम मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता पर चर्चा करना चाहेंगे।

पुरुषार्थ चतुष्टय एवं समाज

भारतीय दर्शन मानव जीवन के लिए अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को स्वीकार करता है। यदि हम सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में इन पर विचार करते हैं तो इनमें से अर्थ, काम और धर्म का सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक जीवन में ही इन तीनों पुरुषार्थों की उपलब्धि सम्भव है। अर्थोपार्जन और काम का सेवन तो सामाजिक जीवन से जुड़ा हुआ ही होता है। किन्तु भारतीय चिन्तन में धर्म भी सामाजिक व्यवस्था और शान्ति के लिए ही है क्योंकि धर्म को 'धर्मो धारयते प्रजाः' के

रूप में परिभाषित कर उसका सम्बन्ध भी हमारे सामाजिक जीवन से जोड़ा गया है। वह लोक-मर्यादा और लोक-व्यवस्था का ही सूचक है। अतः पुरुषार्थ-चतुष्टय में केवल मोक्ष ही एक ऐसा पुरुषार्थ है जिसकी सामाजिक सार्थकता विचारणीय है। प्रश्न यह है कि क्या मोक्ष की धारणा सामाजिक दृष्टि से उपादेय हो सकती है? जहाँ तक मोक्ष की मरणोत्तर अवस्था या तत्त्व-मीमांसीय धारणा का प्रश्न है उस सम्बन्ध में न तो भारतीय दर्शनों में ही एक-रूपता है और न उसकी कोई सामाजिक सार्थकता ही खोजी जा सकती है। किन्तु इसी आधार पर मोक्ष को अनुपादेय मान लेना उचित नहीं है। लगभग सभी भारतीय दार्शनिक इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि मोक्ष का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य की मनोवृत्ति से है। बन्धन और मुक्ति दोनों ही मनुष्य के मनोवेगों से सम्बन्धित हैं। राग, द्वेष, आसक्ति, तृष्णा, ममत्व, अहम् आदि की मनोवृत्तियाँ ही बन्धन हैं और इनसे मुक्त होना ही मुक्ति है। मुक्ति की व्याख्या करते हुए जैन दानिर्शकों ने कहा था कि मोह और क्षोभ से रहित आत्मा की अवस्था ही मुक्ति है। आचर्य शंकर कहते हैं:—

'वासनाप्रक्षयो मोक्षः'[1]

वस्तुतः मोह और क्षोभ हमारे जीवन से जुड़े हुए हैं और इसलिए मुक्ति का सम्बन्ध भी हमारे जीवन से ही है। मेरी दृष्टि में मोक्ष मानसिक तनावों से मुक्ति है। यदि हम मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता के सम्बन्ध से विचार करना चाहते हैं तो हमें इन्हीं मनोवृत्तियों एवं मानसिक विक्षोभों के सन्दर्भ में उस पर विचार करना होगा। सम्भवतः इस सम्बन्ध में कोई भी दो मत नहीं रखेगा कि राग, द्वेष, तृष्णा, आसक्ति, ममत्व, ईर्ष्या, वैमनस्य आदि की मनोवृत्तियाँ हमारे सामाजिक जीवन के लिए अधिक बाधक हैं। यदि इन मनोवृत्तियों से मुक्त होना ही मुक्ति का हार्द है तो मुक्ति का सम्बन्ध हमारे सामाजिक जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। मोक्ष मात्र एक मरणोत्तर अवस्था नहीं है अपितु वह हमारे जीवन से सम्बन्धित है। मोक्ष को पुरुषार्थ माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि वह इसी जीवन में प्राप्तव्य है, जो लोग मोक्ष को एक मरणोत्तर अवस्था मानते हैं, वे मोक्ष के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ हैं। आचार्य शंकर लिखते हैं:—

देहस्य मोक्षो नो मोक्षो न दण्डस्य कमण्डलोः।
अविद्याहृदयग्रन्थिमोक्षो मोक्षो यतस्ततः॥[2]

मरणोत्तर मोक्ष या विदेह-मुक्ति साध्य नहीं है। उसके लिए कोई साधना अपेक्षित नहीं है। जिस प्रकार मृत्यु जन्म लेने का अनिवार्य परिणाम है उसी प्रकार विदेह-मुक्ति तो जीवन-मुक्ति का अनिवार्य परिणाम है। अतः जो प्राप्तव्य है, जो पुरुषार्थ है और जो साध्य है वह तो जीवन-मुक्ति ही है। जीवन मुक्ति के प्रत्यय की सामाजिक सार्थकता से

---

१. विवेकचूडामणि ३१८ २. वही, ५५९।

हम इन्कार भी नही कर सकते क्योंकि जीवन-मुक्त एक ऐसा व्यक्तित्व है जो सदैव लोक-कल्याण के लिए प्रस्तुत रहता है। जैन दर्शन में तीर्थंकर, बौद्ध दर्शन में अर्हत् एवं बोधिसत्व और वैदिक दर्शन में स्थित-प्रज्ञ की जो धारणाएँ प्रस्तुत की गई हैं और उनके व्यक्तित्व को जिस रूप में चित्रित किया गया है उससे हम निश्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि मोक्ष के प्रत्यय की सामाजिक उपादेयता भी है। वह लोक-मंगल और मानव कल्याण का एक महान आदर्श माना जा सकता है क्योंकि जन-जन का दुःखों से मुक्त होना ही मुक्ति है, मात्र इतना ही नहीं, भारतीय चिन्तन में वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा भी लोक-कल्याण के लिए प्रयत्नशील बने रहने को अधिक महत्त्व दिया गया है। बौद्ध दर्शन में बोधिसत्व का और गीता में स्थितप्रज्ञ का जो आदर्श प्रस्तुत किया गया है, वह हमें स्पष्ट रूप से बताता है कि केवल वैयक्तिक मुक्ति को प्राप्त कर लेना ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है। बोधिसत्व तो लोकमंगल के लिये अपने बन्धन और दुःख की कोई परवाह नहीं करता है। वह कहता है:—

बहुनामेकदुःखेन यदि दुःखं विगच्छति। उत्पाद्यमेव तद् दुःखं सदयेन परात्मनो।
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रमोद्यसागराः। तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्॥[1]

यदि एक के कष्ट उठाने से बहुतों का दुःख दूर होता हो, तो करूणापूर्वक उनके दुःख दूर करना ही अच्छा है। प्राणियों को दुःखों से मुक्त होता हुआ देखकर जो आनन्द प्राप्त होता है वही क्या कम है, फिर नीरस मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा की क्या आवश्यकता है? वैयक्तिक मुक्ति की धारणा की आलोचना करते हुए और जन-जन की मुक्ति के लिए अपने संकल्प को स्पष्ट करते हुए भागवत के सप्तम स्कन्ध में प्रह्लाद ने स्पष्ट रूप से कहा था कि—

प्रायेण देवमुनयः स्वविमुक्तिकामाः।
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः॥
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षुरेकः।

'हे प्रभु अपनी मुक्ति की कामना करने वाले देव और मुनि तो अब तक काफी हो चुके हैं, जो जंगल में जाकर मौन साधन किया करते थे। किन्तु उनमें परार्थ-निष्ठा नहीं थी। मैं तो अकेला इन सब दुःखीजनों को छोड़कर मुक्त होना भी नहीं चाहता।' यह भारतीय दर्शन और साहित्य का सर्वश्रेष्ठ उद्‌गार है। इसी प्रकार बोधिसत्व भी सदैव ही दीन और दुःखी जनों को दुःख से मुक्त कराने के लिए प्रयत्नशील बने रहने की अभिलाषा करता है और सबको मुक्त कराने के पश्चात् ही मुक्त होना चाहता है।

भवेयमुपजीव्योऽहं यावत्सर्वे न निर्वृताः।[2]

---

१. बोधिचर्यावतार ८।१०५,१०८। २. वही, ३।२१।

वस्तुतः मोक्ष अकेला पाने की वस्तु ही नहीं है। इस सम्बन्ध में विनोबा भावे के उद्गार विचारणीय हैं:—

जो समझता है कि मोक्ष अकेले हथियाने की वस्तु है, वह उसके हाथ से निकल जाता है, 'मैं' के आते ही मोक्ष भाग जाता है, मेरा मोक्ष यह वाक्य ही गलत है। 'मेरा' मिटने पर ही मोक्ष मिलता है।[1]

इसी प्रकार वास्तविक मुक्ति अहंकार से मुक्ति ही है। 'मैं' अथवा अहं भाव से मुक्त होने के लिए हमें अपने आपको समष्टि में, समाज में लीन कर देना होता है। मुक्ति वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जो कि अपने व्यक्तित्व को समष्टि में, समाज में विलीन कर दे। आचार्य शान्तिदेव लिखते हैं:—

सर्वत्यागश्च निर्वाणं निर्वाणार्थि च मे मनः।
त्यक्तव्यं चेन्मया सर्वं वरं सत्त्वेषु दीयताम्॥[2]

इस प्रकार यह धारणा कि मोक्ष का प्रत्यय सामाजिकता का विरोधी है, गलत है। मोक्ष वस्तुतः दुःखों से मुक्ति है और मनुष्य जीवन के अधिकांश दुःख, मानवीय संवर्गो के कारण ही हैं। अतः मुक्ति, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा आदि के संवर्गों से मुक्ति पाने में है और इस रूप में वह वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टि से उपादेय भी है। दुःख, अहंकार एवं मानसिक क्लेशों से मुक्ति रूप में मोक्ष उपादेयता और सार्थकता को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि भारतीय जीवन दर्शन की दृष्टि पूर्णतया सामाजिक और लोकमंगल के लिए प्रयत्नशील बने रहने की है। उसकी एकमात्र मंगल कामना है:—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु। सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु। मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

■

१. आत्मज्ञान और विज्ञान, पृ० ७१ २. बोधिचर्यावतार ३।११।

स्वहित बनाम लोकहित

नैतिक चिन्तन के प्रारम्भ काल से ही स्वहित और लोकहित का प्रश्न महत्त्वपूर्ण रहा है। भारतीय परम्परा में एक ओर चाणक्य का कथन है कि स्त्री, धन आदि सबसे बढ़कर अपनी रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए।[1] विदुर ने भी कहा है कि जो स्वार्थ को छोड़कर परार्थ करता है, जो मित्र (दूसरे लोगों) के लिए श्रम करता है वह मूर्ख ही है।[2] दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि स्वहित के लिए तो सभी जीते हैं, जो लोकहित के लिए जीता है, उसीका जीना सच्चा है।[3] जिसके जीने में लोकहित न हो, उससे तो मरण ही अच्छा है।[4]

पाश्चात्य विचारक हरबर्ट स्पेन्सर ने तो इस प्रश्न को नैतिक सिद्धान्तों के चिन्तन की वास्तविक समस्या कहा है। यहाँ तक कि पाश्चात्य आचार-शास्त्रीय विचारधारा में तो स्वार्थ और परार्थ की धारणा को लेकर दो पक्ष बन गये। स्वहितवादी विचारक जिनमें हाब्स, नीत्शे आदि प्रमुख हैं, यह मानते हैं कि मनुष्य प्रकृत्या केवल स्वहित या अपने लाभ से प्रेरित होकर कार्य करता है। अतः नैतिकता का वही सिद्धान्त समुचित है जो मानव-प्रकृति की इस धारणा के अनुकूल हो। इनके अनुसार अपने हित के लिए कार्य करने में ही मनुष्य का श्रेय है। दूसरी ओर बेन्थम, मिल प्रभृति विचारक मानव की स्वसुखवादी मनोवैज्ञानिक प्रकृति को स्वीकार करते हुए भी बौद्धिक आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि परहित की भावना ही नैतिक दृष्टि से न्यायपूर्ण है अथवा नैतिक जीवन का साध्य है।[5] मिल परार्थ को स्वार्थ के बौद्धिक आधार पर सिद्ध करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाते, वरन् आंतरिक अंकुश (Internal Sanction) के द्वारा उसे स्वाभाविक भी सिद्ध करते हैं उनके अनुसार यह आन्तरिक अंकुश सजातीयता की भावना है। यद्यपि यह जन्मजात नहीं है, तथापि अस्वाभाविक या अनैसर्गिक भी नहीं है।[6] दूसरे, अन्य विचारक भी जिनमें बटलर, शापेनहावर एवं टालस्टाय आदि प्रमुख हैं, मानव की मनोवैज्ञानिक प्रकृति में सहानुभूति, प्रेम आदि की उपस्थिति दिखाकर परार्थवादी या लोकमंगलकारी आचार-दर्शन का समर्थन करते हैं। हरबर्ट स्पेन्सर से

---

१. चाणक्यनीति, १।६, पंचतंत्र १।३८७
२. विदुरनीति, ३६
३. सुभाषित—उद्धृत नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० २०८
४. वही, पृ० २०५
५. नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १३७
६. यूटिलिटेरियनिज्म, अध्याय २, उद्धृत नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १४४

लेकर ब्रेडले, ग्रीन, अरबन आदि अनेक समकालीन विचारकों ने भी मानव-जीवन के विभिन्न पक्षों को उभारते हुए सामान्य शुभ (कामन गुड) की अवधारणा के द्वारा स्वार्थवाद और परार्थवाद के बीच समन्वय साधने का प्रयास किया है। मानव-प्रकृति में विविधताएँ हैं, उसमें स्वार्थ और परार्थ के तत्त्व आवश्यक रूप से उपस्थित हैं। आचार-दर्शन का कार्य यह नहीं है कि वह स्वार्थवाद या परार्थवाद में से किसी एक सिद्धान्त का समर्थन या विरोध करे। उसका कार्य तो यह है कि 'अपने' और 'पराये' के मध्य सन्तुलन बैठाने का प्रयास करे अथवा आचार के लक्ष्य को इस रूप में प्रस्तुत करे कि जिसमें 'स्व' और 'पर' के बीच संघर्षों की सम्भावना का निराकरण किया जा सके। भारतीय आचार-दर्शन कहाँ तक और किस रूप में स्व और पर के संघर्ष की सम्भावना को समाप्त करते हैं अथवा स्व और पर के मध्य आदर्श सन्तुलन की संस्थापना करने में सफल होते हैं, इस बात की विवेचना के पूर्व हमें स्वार्थवाद और परार्थवाद की परिभाषा पर भी विचार कर लेना होगा।

संक्षेप में स्वार्थवाद आत्मरक्षण है और परार्थवाद आत्मत्याग है। मैकेन्जी लिखते हैं कि जब हम केवल अपने व्यक्तिगत साध्य की सिद्धि चाहते हैं तब इसे स्वार्थवाद कहा जाता है, परार्थवाद है दूसरे के साध्य की सिद्धि का प्रयास करना।[1]

जैनाचार-दर्शन में स्वार्थ और परार्थ—यदि स्वार्थ और परार्थ की उपर्युक्त परिभाषा स्वीकार की जाये तो जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार-दर्शनों में किसीको पूर्णतया न स्वार्थवादी कहा जा सकता है और न परार्थवादी। जैन आचार-दर्शन आत्मा के स्वगुणों के रक्षण की बात कहता है। इस अर्थ में वह स्वार्थवादी है। वह सदैव ही आत्म-रक्षण या स्व-दया का समर्थन करता है, लेकिन साथ ही वह कषायात्मा या वासनात्मक आत्मा के विसर्जन, बलिदान या त्याग को भी आवश्यक मानता है और इस अर्थ में वह परार्थवादी भी है। यदि हम मैकेन्जी की परिभाषा को स्वीकार करें और यह मानें कि व्यक्तिगत साध्य की सिद्धि स्वार्थवाद और दूसरे के साध्य की सिद्धि का प्रयास परार्थवाद है तो भी जैन दर्शन स्वार्थवादी और परार्थवादी दोनों ही सिद्ध होता है। वह व्यक्तिगत आत्मा के मोक्ष या सिद्धि का समर्थन करने के कारण स्वार्थवादी तो होगा ही, लेकिन दूसरे की मुक्ति के हेतु प्रयासशील होने के कारण परार्थवादी भी कहा जायेगा। आत्म-कल्याण, वैयक्तिक बन्धन एवं दुःख से निवृत्ति की दृष्टि से तो जैन-साधना का प्राण आत्महित ही है, लेकिन लोक-करुणा एवं लोकहित की जिस उच्च भावना से अर्हत्-प्रवचन प्रस्फुटित होता है[2] उसे भी नहीं भुलाया जा सकता।

जैन-साधना में लोक-हित—जैनाचार्य समन्तभद्र वीर-जिन-स्तुति में कहते हैं, 'हे भगवन्, आपकी यह संघ (समाज)-व्यवस्था सभी प्राणियों के दुःखों का अन्त करने

१. नीति-प्रवेशिका, मैकेन्जी (हिन्दी अनुवाद), पृ० २३४
२. आचारांग १।४।१।१२७-१२९

वाली और सबका कल्याण (सर्वोदय) करनेवाली है।'[1] इससे ऊँची लोकमंगल की कामना क्या हो सकती है? प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है कि भगवान् का यह सुकथित प्रवचन संसार के सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिए है।[2] जैन-साधना लोक-मंगल की धारणा को लेकर ही आगे बढ़ती है। उसी सूत्र में आगे कहा है कि जैन-साधना के पाँचों महाव्रत सर्व प्रकार से लोकहित के लिए ही हैं।[3] अहिंसा की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि साधना के प्रथम स्थान पर स्थित यह अहिंसा सभी प्राणियों का कल्याण करनेवाली है।[4] यह भगवती अहिंसा भयभीतों के लिए शरण के समान है, पक्षियों के आकाश गमन के समान निर्बाध रूप से हितकारिणी है। प्यासों को पानी के समान, भूखों को भोजन के समान, समुद्र में जहाज के समान, रोगियों के लिए औषधि के समान और अटवी में सहायक के समान है।[5] तीर्थङ्कर-नमस्कारसूत्र (नमोत्थुणं) में तीर्थङ्कर के लिए लोकनाथ, लोकहितकर, लोकप्रदीप, अभय के दाता आदि जिन विशेषणों का उपयोग हुआ है, वे भी जैनदृष्टि की लोक मंगलकारी भावना को स्पष्ट करते हैं। तीर्थङ्करों का प्रवचन एवं धर्म-प्रवर्तन प्राणियों के अनुग्रह के लिए होता है, न कि पूजा या सत्कार के लिए।[6] यदि यह माना जाये कि जैन-साधना केवल आत्महित, आत्मकल्याण की बात कहती है तो फिर तीर्थंकर के द्वारा तीर्थप्रवर्तन या संघ-संचालन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता, क्योंकि कैवल्य की उपलब्धि के बाद उन्हें अपने कल्याण के लिए कुछ करना शेष ही नहीं रहता। अतः मानना पड़ेगा कि जैन-साधना का आदर्श आत्मकल्याण ही नहीं, वरन् लोक-कल्याण भी है।

जैन दार्शनिकों ने आत्महित की अपेक्षा लोकहित को सदैव ही अधिक महत्त्व दिया है। जैन-दर्शन के अनुसार साधना की सर्वोच्च ऊँचाई पर स्थित सभी जीवन्मुक्त आध्यात्मिक पूर्णता की दृष्टि से समान ही होते हैं, फिर भी आत्महितकारिणी और लोकहितकारिणी दृष्टि के आधार पर उनमें उच्चावच्च अवस्था को स्वीकार किया गया है। एक सामान्य केवली (जीवन्मुक्त) और तीर्थंकर में आध्यात्मिक पूर्णताएँ समान ही होती हैं, फिर भी अपनी लोकहितकारी दृष्टि के कारण ही तीर्थंकर को सामान्य केवली की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार जीवन्मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेने वालों में भी उनके लोकोपकारिता के आधार पर तीन वर्ग होते हैं:—
१ तीर्थंकर, २ गणधर, ३ सामान्य केवली।

१. तीर्थंकर—तीर्थंकर वह है जो सर्वहित के संकल्प को लेकर साधना-मार्ग में आता है और आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी लोकहित में लगा

---

१. सर्वोदयदर्शन, आमुख, पृ० ६ पर उद्धृत।
२. प्रश्नव्याकरणसूत्र, २।१।२ ३. वही, २।१।२१
४. वही, २।१।३ ५. वही, २।१।२२
६. सूत्रकृतांग (टी०) १।६।४

रहता है। सर्वहित, सर्वोदय और लोक-कल्याण ही उनके जीवन का ध्येय बन जाता है।[१]

२. गणधर—सहवर्गीय-हित के संकल्प को लेकर साधना-क्षेत्र में प्रविष्ट होने वाला और अपनी आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कर लेने पर भी सहवर्गियों के हित एवं कल्याण के लिए प्रयत्नशील साधक गणधर है। समूह-हित या गण-कल्याण गणधर के जीवन का ध्येय होता है[२]।

३. सामान्य केवली—आत्म-कल्याण को ही जिसने अपनी साधना का ध्येय बनाया है और जो इसी आधार पर साधना-मार्ग में प्रवृत्त होता हुआ आध्यात्मिक पूर्णता की उपलब्धि करता है वह सामान्य केवली कहलाता है[३]। सामान्य केवली को पारिभाषिक शब्दावली में मुण्ड-केवली भी कहते हैं।

जैनधर्म में विश्वकल्याण, वर्गकल्याण और वैयक्तिक कल्याण की भावनाओं को लेकर तदनुकूल प्रवृत्ति करने के कारण ही साधकों की ये विभिन्न कक्षाएँ निर्धारित की गयी हैं, जिनसे विश्व-कल्याण की प्रवृत्ति के कारण ही तीर्थङ्कर को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। जिस प्रकार बौद्ध-विचारणा में बोधिसत्व और अर्हत् के आदर्शों में भिन्नता है उसी प्रकार जैन विचारणा में तीर्थङ्कर और सामान्य केवली के आदर्शों में तरतमता है।

दूसरे जैन-साधना में संघ (समाज) को सर्वोपरि माना गया है। संघहित समस्त वैयक्तिक साधनाओं से ऊपर है, संघ के कल्याण के लिए वैयक्तिक साधना का परित्याग करना भी आवश्यक माना गया है। आचार्य कालक की कथा इसका उदाहरण है[४]।

स्थानांगसूत्र में जिन दस धर्मों (कर्त्तव्यों)[५] का निर्देश किया गया है, उनमें संघधर्म, राष्ट्रधर्म, नगरधर्म, ग्रामधर्म और कुलधर्म का उल्लेख इस बात का सबल प्रमाण है कि जैनदृष्टि न केवल आत्महित या वैयक्तिक विकास तक सीमित है, वरन् उसमें लोकहित या लोककल्याण का अजस्र प्रवाह भी प्रवाहित है।

यद्यपि जैन-दर्शन लोकहित, लोकमंगल की बात कहता है परन्तु उसकी एक शर्त है कि परार्थ के लिए स्वार्थ का विसर्जन किया जा सकता है, लेकिन आत्मार्थ का नहीं। उसके अनुसार वैयक्तिक भौतिक उपलब्धियों को लोककल्याण के लिए समर्पित किया जा सकता है और किया भी जाना चाहिए, क्योंकि वे हमें जगत् से ही मिली हैं, वे संसार की ही है, हमारी नहीं। सांसारिक उपलब्धियाँ संसार के लिए हैं, अतः उनका लोकहित के लिए विसर्जन किया जाना चाहिए, लेकिन आध्यात्मिक विकास या

---

१. योगबिन्दु, २८५-२८८। २. वही, २८९। ३. वही, २९०।
४. निशीथचूर्णि, गा० २८६०। ५. स्थानांग, १०।७६०।

वैयक्तिक नैतिकता को लोकहित के नाम पर कुंठित किया जाना उसे स्वीकार नहीं। ऐसा लोकहित जो व्यक्ति के चरित्र-पतन अथवा आध्यात्मिक कुण्ठन से फलित होता हो, उसे स्वीकार नहीं है लोकहित और आत्महित के सन्दर्भ में उसका स्वर्णिमसूत्र है—आत्महित करो और यथाशक्य लोकहित भी करो, लेकिन जहाँ आत्महित और लोकहित में द्वन्द्व हो और आत्महित के कुण्ठन पर ही लोकहित फलित होता हो, वहाँ आत्मकल्याण ही श्रेष्ठ है।[1]

आत्महित स्वार्थ नहीं है—आत्महित स्वार्थवाद नहीं है। आत्मकाम वस्तुतः निष्काम होता है, क्योंकि उसकी कोई कामना नही होती। इसलिए उसका कोई स्वार्थ भी नहीं होता। स्वार्थी तो वह होता है जो यह चाहता है कि सभी लोग उसके हित के लिए कार्य करें। आत्मार्थी स्वार्थी नहीं है उसकी दृष्टि तो यह होती है कि सभी अपने हित के लिए कार्य करें। स्वार्थ और आत्मकल्याण में मौलिक अन्तर यह है कि स्वार्थ की साधना में राग और द्वेष की वृत्तियाँ काम करती हैं जबकि आत्महित या आत्म-कल्याण का प्रारम्भ ही राग-द्वेष की वृत्तियों को क्षीणता से होता है। स्वार्थ और परार्थ में संघर्ष की सम्भावना भी तभी है, जब उनमें राग-द्वेष की वृत्ति निहित हो। राग-भाव या स्वहित की वृत्ति से किया जाने वाला परार्थ भी सच्चा लोकहित नहीं है, वह तो स्वार्थ ही है। शासन द्वारा नियुक्त एवं प्रेरित समाजकल्याण अधिकारी वस्तुतः लोकहित का कर्त्ता नहीं है, वह तो वेतन के लिए काम करता है। इसी तरह राग से प्रेरित होकर लोकहित करने वाला भी सच्चे अर्थों में लोकहित का कर्त्ता नहीं है। उसके लोकहित के प्रयत्न राग की अभिव्यक्ति, प्रतिष्ठा की रक्षा, यश-अर्जन की भावना या भावीलाभ की प्राप्ति के हेतु ही होते हैं। ऐसा परार्थ स्वार्थ ही होता है। सच्चा आत्महित और सच्चा लोकहित, राग-द्वेष से रहित अनासक्ति की भूमि पर प्रस्फुटित होता है। लेकिन उस अवस्था में न तो 'स्व' रहता है न 'पर'; क्योंकि जहाँ राग है वहीं 'स्व' है और जहाँ 'स्व' है वहीं 'पर' है। राग के अभाव में स्व और पर का विभेद ही समाप्त हो जाता है। ऐसी राग विहीन भूमिका से किया जानेवाला आत्महित भी लोकहित होता है, और लोकहित आत्महित होता है। दोनों में कोई संघर्ष नहीं, कोई द्वैत नहीं है। उस दशा में तो सर्वत्र आत्मदृष्टि होती है, जिसमें न कोई अपना, न कोई पराया। स्वार्थ-परार्थ की समस्या यहाँ रहती ही नहीं।

जैन-विचारणा के अनुसार स्वार्थ और परार्थ के मध्य सभी अवस्थाओं में संघर्ष रहे, यह आवश्यक नहीं। व्यक्ति जैसे-जैसे भौतिक जीवन से आध्यात्मिक जीवन की ओर ऊपर उठता जाता है, वैसे-वैसे स्वार्थ परार्थ का संघर्ष भी समाप्त होता जाता है। जैन विचारकों ने परार्थ या लोकहित के तीन स्तर माने हैं:—

---

१ उद्धृत आत्मसाधना-संग्रह, पृ० ४४१।

१. द्रव्य लोकहित, २. भाव लोकहित और ३. पारमार्थिक लोकहित ।

१. **द्रव्य-लोकहित**[1]—यह लोकहित का भौतिक स्तर है। भौतिक उपादानों जैसे भोजन, वस्त्र, आवास आदि तथा शारीरिक सेवा के द्वारा लोकहित करना लोकहित का भौतिक स्तर है। यहाँ पर लोकहित के साधन भौतिक होते हैं। द्रव्य-लोकहित एकान्त रूप से आचरणीय नहीं कहा जा सकता। यह अपवादात्मक एवं सापेक्ष नैतिकता का क्षेत्र है। भौतिक स्तर पर स्वहित की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। यहाँ तो स्वहित और परहित में उचित समन्वय साधना ही अपेक्षित है। पाश्चात्य नैतिक विचारणा के परिष्कृत स्वार्थवाद, बौद्धिक परार्थवाद और सामान्य शुभतावाद का विचारक्षेत्र लोक-हित का भौतिक स्वरूप ही है।

२. **भाव-लोकहित**[2]—लोकहित का यह स्तर भौतिक स्तर से ऊपर का है। यहाँ लोकहित के साधन ज्ञानात्मक या चैत्तसिक होते हैं। इस स्तर पर परार्थ और स्वार्थ संघर्ष की सम्भावना अल्पतम होती है।

३. **पारमार्थिक लोकहित**[3]—यह लोकहित का सर्वोच्च स्तर है। यहाँ आत्महित और पर-हित में कोई संघर्ष या द्वैत नहीं रहता। यहाँ पर लोकहित का रूप होता है यथार्थ जीवनदृष्टि के सम्बन्ध में मार्ग दर्शन करना।

बौद्ध दर्शन की लोकहितकारिणी दृष्टि

बौद्ध-धर्म में लोक-मंगल की भावना का स्रोत प्रारम्भ से ही प्रवाहित रहा है। भगवान् बुद्ध की धर्मदेशना भी जैन तीर्थंकरों की धर्म-देशना के समान लोकमंगल के लिए ही प्रस्फुटित हुई थी। इत्तिवुत्तक में बुद्ध कहते हैं, हे भिक्षुओं, दो संकल्प तथागत भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध को हुआ करते हैं—१. एकान्त ध्यान का संकल्प और २. प्राणियों के हित का संकल्प[4]। बोधि प्राप्त कर लेने पर बुद्ध ने अद्वितीय समाधि-सुख में विहार करने के निश्चय का परित्याग कर लोकहितार्थ एवं लोकमंगल के लिए परिचारण करना ही स्वीकार किया। यह उनकी लोकमंगलकारी दृष्टि का सबसे बड़ा प्रमाण है।[5] यही नहीं, बुद्ध ने अपने भिक्षुओं को लोकहित का ही सन्देश दिया और कहा कि हे भिक्षुओं, बहुजनों के हित के लिए, बहुजनों के सुख के लिए, लोक की अनुकम्पा के लिए, देव और मनुष्यों के सुख और हित के लिए परिचारण करते रहो।[6] जातक निदान कथा में भी बोधिसत्व को यह कहते हुए दिखाया गया है कि मुझ शक्तिशाली पुरुष के लिए अकेले तर जाने से क्या लाभ? मैं तो सर्वज्ञता प्राप्त कर देवताओं-सहित इस सारे लोक को तारूँगा।[7]

१-३. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ५, पृ० ६९७
४. इतिवुत्तक, २।२।९
५. मज्झिमनिकाय, १।३।६
६. विनयपिटक, महावग्ग, १।१०।३२
७. जातकअट्ठकथा-निदान कथा।

बौद्ध-धर्म की महायान शाखा ने तो लोकमंगल के आदर्श को ही अपनी नैतिकता का प्राण माना। वहाँ तो साधक लोकमंगल के आदर्श की साधना में परममूल्य निर्वाण की भी उपेक्षा कर देता है, उसे अपने वैयक्तिक निर्वाण में कोई रुचि नहीं रहती है। महायानी साधक कहता है—दूसरे प्राणियों को दुःख से छुड़ाने में जो आनन्द मिलता है, वही बहुत काफी है। अपने लिए मोक्ष प्राप्त करना नीरस है, उससे हमें क्या लेना देना।[1]

लंकावतारसूत्र में बोधिसत्व से यहाँ तक कहलवा दिया गया कि मैं तबतक परि-निर्वाण में प्रवेश नहीं करूँगा जबतक कि विश्व के सभी प्राणी विमुक्ति प्राप्त न कर लें।[2] साधक पर-दुःख-विमुक्ति से मिलनेवाले आनन्द को स्व के निर्वाण के आनन्द से भी महत्त्वपूर्ण मानता है, और उसके लिए अपने निर्वाण सुख को ठुकरा देता है। पर-दुःख-कातरता और सेवा के आदर्श का इससे बड़ा संकल्प और क्या हो सकता है? बौद्ध-दर्शन की लोकहितकारी दृष्टि का रस-परिपाक तो हमें आचार्य शान्तिदेव के ग्रन्थ शिक्षासमुच्चय और बोधिचर्यावतार में मिलता है। लोकमंगल के आदर्श को प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं, 'अपने सुख को अलग रख और दूसरों के दुःख (दूर करने) में लग'।[3] दूसरों का सेवक बनकर इस शरीर में जो कुछ वस्तु देख उससे दूसरों का हित कर।[4] दूसरे के दुःख से अपने सुख को बिना बदले बुद्धत्व की सिद्धि नहीं हो सकती। फिर संसार में सुख है ही कहाँ?[5] यदि एक के दुःख उठाने से बहुत का दुःख चला जाय तो अपने-पराये पर कृपा करके वह दुःख उठाना ही चाहिए।[6] बोधिसत्त्व की लोकसेवा की भावना का चित्र प्रस्तुत करते हुए आचार्य लिखते हैं, "मैं अनाथों का नाथ बनूँगा, यात्रियों का सार्थवाह बनूँगा, पार जाने की इच्छावालों के लिए मैं नाव बनूँगा, मैं उनके लिए सेतु बनूँगा, धरनियाँ बनूँगा। दीपक चाहने वालों के लिए दीपक बनूँगा, जिन्हें शय्या की आवश्यकता है उनके लिए मैं शय्या बनूँगा, जिन्हें दास की आवश्यकता है उनके लिए दास बनूँगा, इस प्रकार मैं जगती के सभी प्राणियों की सेवा करूँगा।[7] जिस प्रकार पृथ्वी, अग्नि आदि भौतिक वस्तुएँ सम्पूर्ण आकाश (विश्वमण्डल) में बसे प्राणियों के सुख का कारण होती हैं, उसी प्रकार मैं आकाश के नीचे रहनेवाले सभी प्राणियों का उपजीव्य बनकर रहना चाहता हूँ, जब तक कि सभी प्राणी मुक्ति प्राप्त न कर लें।[8]

साधना के साथ सेवा की भावना का कितना सुन्दर समन्वय है! लोकसेवा, लोक-कल्याण-कामना के इस महान् आदर्श को देखकर हमें बरबस ही श्री भरतसिंहजी

१. बोधिचर्यावतार, ८।१०८
२. लंकावतारसूत्र, ६६।६
३. बोधिचर्यावतार, ८।१६१
४. वही, ८।१५९
५. वही, ८।१३१
६. वही, ८।१०५
७. वही, ३।१७-१८
८. वही, ३।२०-२१

उपाध्याय के स्वर में कहना पड़ता है, 'कितनी उदात्त भावना है। विश्व-चेतना के साथ अपने को आत्मसात् करने की कितनी विह्वलता है। परार्थ में आत्मार्थ को मिला देने का कितना अपार्थिव उद्योग है'।[१] आचार्य शान्तिदेव भी केवल परोपकार या लोक-कल्याण का सन्देश नहीं देते, वरन् उस लोक-कल्याण के सम्पादन में भी पूर्ण निष्काम, भाव पर भी बल देते हैं। निष्काम भाव से लोककल्याण कैसे किया जाये, इसके लिए शान्तिदेव ने जो विचार प्रस्तुत किये है वे उनके मौलिकचिन्तन का परिणाम है। गीता के अनुसार व्यक्ति ईश्वरीय प्रेरणा को मानकर निष्काम भाव से कर्म करता रहे अथवा स्वयं को और सभी साथी प्राणियों को उसी पर ब्रह्म का ही अंश मानकर सभी में आत्मभाव जागृत कर बिना आकांक्षा के कर्म करता रहे। लेकिन निरीश्वरवादी और अनात्मवादी बौद्ध दर्शन में तो यह सम्भव नहीं था। यह तो आचार्य की बौद्धिक प्रतिभा ही है, जिसने मनोवैज्ञानिक आधारों पर निष्कामभाव से लोकहित की अव-धारणा को सम्भव बनाया। समाज के सावयवता के जिस सिद्धान्त के आधार पर ब्रेडले प्रभृति पाश्चात्य विचारक लोकहित और स्वहित में समन्वय साधते हैं और उन विचारों की मौलिकता का दावा करते हैं, वे विचार आचार्य शान्तिदेव के ग्रंथों में बड़े स्पष्ट रूप से प्रकट हुए हैं और उनके आधार पर उन्होंने निःस्वार्थ कर्म-योग की अव-धारणा को भी सफल बनाया है। वे कहते हैं कि, जिस प्रकार निरात्मक (अपनेपन के भाव रहित) निज शरीर में अभ्यासवश अपनेपन का बोध होता है, वैसे ही दूसरे प्राणियों के शरीरों में अभ्यास से क्या अपनापन उत्पन्न न होगा?[२] अर्थात् दूसरे प्राणियों के शरीरों में अभ्यास से ममत्वभाव अवश्य ही उत्पन्न होगा, क्योंकि जैसे हाथ आदि अंग शरीर के अवयव होने के कारण प्रिय होते हैं, वैसे ही सभी देहधारी जगत् के अवयव होने के कारण प्रिय क्यों नहीं होंगे[३], अर्थात् वे भी उसी जगत् के, जिसका मैं अवयव हूँ, अवयव होने के कारण प्रिय होंगे, उनमें भी आत्मभाव होगा और यदि सब में प्रियता एवं आत्मभाव उत्पन्न हो गया तो फिर दूसरों के दुःख दूर किये बिना नहीं रहा जा सकेगा, क्योंकि जिसका जो दुःख हो वह उससे अपने को बचाने का प्रयत्न तो करता है। यदि दूसरे प्राणियों को दुःख होता है, तो हमको उससे क्या? ऐसा मानो तो हाथ को पैर का दुःख नहीं होता, फिर क्यों हाथ से पैर का कंटक निकालकर दुःख से उसकी रक्षा करते हो?[४] जैसे हाथ पैर का दुःख दूर किये बिना नहीं रह सकता, वैसे ही समाज का कोई भी प्रज्ञायुक्त सदस्य दूसरे प्राणी का दुःख दूर किये बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार आचार्य समाज की साव-यवता को सिद्ध कर उसके आधार पर लोकमंगल का सन्देश देते हुए आगे यह भी

---

१. बौद्ध-दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ६१२ २. बोधिचर्यावतार, ८।११५
३. वही, ८।११४ ४. वही, ८।९९

स्पष्ट कर देते हैं कि इस लोकमंगल की साधना में निष्कामता होनी चाहिए। वे लिखते हैं, "जिस प्रकार अपने आपको भोजन कराकर फल की आशा नहीं होती है उसी प्रकार परार्थ करके भी फल की आशा, गर्व या विस्मय नहीं होता है'।[1] (क्योंकि परार्थ द्वारा हम अपने ही समाजरूपी शरीर की या उसके अवयवों की सन्तुष्टि करते हैं) इसलिए एकमात्र परोपकार के लिए ही परोपकार करके, न गर्व करना और न विस्मय और न विपाकफल की इच्छा ही[2]।"

बौद्ध-दर्शन भी आत्मार्थ और परार्थ में कोई भेद नहीं देखता। इतना ही नहीं, वह आत्मार्थ को परार्थ के लिए समर्पित करने के लिए भी तत्पर है। लेकिन उसकी एक सीमा है जिसे वह भी उसी रूपमें स्वीकार करता है, जिस रूप में जैन-विचारकों ने उसे प्रस्तुत किया है। वह कहता है कि लोकमंगल के लिए सब कुछ न्योछावर किया जा सकता है, यहाँ तक कि अपने समस्त संचित पुण्य और निर्वाण का सुख भी। लेकिन वह उसके लिए अपनी नैतिकता को, अपने सदाचार को समर्पित करने के लिए तत्पर नहीं है। नैतिकता और सदाचरण की कीमत पर किया गया लोक-कल्याण उसे स्वीकार नहीं है। एक बौद्ध साधक विगलित शरीरवाली वेश्या की सेवा-शुश्रुषा तो कर सकता है, लेकिन उसकी कामवासना की पूर्ति नहीं कर सकता। किसी भूख से व्याकुल व्यक्ति को अपना भोजन भले ही दे दे, लेकिन उसके लिए चौर्य कर्म का आचरण नहीं कर सकता। बौद्ध दर्शन में लोकहित का वही रूप आचरणीय है जो नैतिक जीवन के सीमाक्षेत्र में हो। लोकहित नैतिक जीवन से ऊपर नहीं हो सकता। नैतिकता के समस्त फलों को लोकहित के लिए समर्पित किया जा सकता है, लेकिन स्वयं नैतिकता को नहीं। बौद्ध विचारणा में लोकहित के पवित्र साध्य के लिए भ्रष्ट या अनैतिक साधन कथमपि स्वीकार नहीं हैं। लोकहित वहीं तक आचरणीय है जहाँ तक उसका नैतिक जीवन से अविरोध हो। यदि कोई लोकहित ऐसा हो जो व्यक्ति के नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के बलिदान पर ही सम्भव हो, तो ऐसी दशा में वह बहुजन हित आचरणीय नहीं है, वरन् स्वयं के नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की उपलब्धि ही आचरणीय है। धम्मपद में कहा है, व्यक्ति अपने अशुभाचरण से ही अशुद्ध होता है और अशुभ आचरण का सेवन नहीं करने पर ही शुद्ध होता है। शुद्धि और अशुद्धि प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न है। दूसरा व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को शुद्ध नहीं कर सकता। इसलिए दूसरे व्यक्तियों के बहुत हित के लिए भी अपनी नैतिक शुद्धि रूपी हित की हानि नहीं करे और अपने सच्चे हित और कल्याण को जानकर उसकी प्राप्ति में लगे।[3] संक्षप में बौद्ध आचार-दर्शन में ऐसा लोकहित ही स्वीकार्य है, जिसका व्यक्ति के

१. बोधिचर्यावतार, ८।११६ २. वही, ८।१००
३. धम्मपद, १६५-१६६

उपाध्याय के स्वर में कहना पड़ता है, 'कितनी उदात्त भावना है। विश्व-चेतना के साथ अपने को आत्मसात् करने की कितनी विह्वलता है। परार्थ में आत्मार्थ को मिला देने का कितना अपार्थिव उद्योग है'।[१] आचार्य शान्तिदेव भी केवल परोपकार या लोक-कल्याण का सन्देश नहीं देते, वरन् उस लोक-कल्याण के सम्पादन में भी पूर्ण निष्काम, भाव पर भी बल देते हैं। निष्काम भाव से लोककल्याण कैसे किया जाये, इसके लिए शान्तिदेव ने जो विचार प्रस्तुत किये है वे उनके मौलिकचिन्तन का परिणाम है। गीता के अनुसार व्यक्ति ईश्वरीय प्रेरणा को मानकर निष्काम भाव से कर्म करता रहे अथवा स्वयं को और सभी साथी प्राणियों को उसी पर ब्रह्म का ही अंश मानकर सभी में आत्मभाव जागृत कर बिना आकांक्षा के कर्म करता रहे। लेकिन निरीश्वरवादी और अनात्मवादी बौद्ध दर्शन में तो यह सम्भव नहीं था। यह तो आचार्य की बौद्धिक प्रतिभा ही है, जिसने मनोवैज्ञानिक आधारों पर निष्कामभाव से लोकहित की अव-धारणा को सम्भव बनाया। समाज के सावयवता के जिस सिद्धान्त के आधार पर ब्रेडले प्रभृति पाश्चात्य विचारक लोकहित और स्वहित में समन्वय साधते हैं और उन विचारों की मौलिकता का दावा करते हैं, वे विचार आचार्य शान्तिदेव के ग्रंथों में बड़े स्पष्ट रूप से प्रकट हुए हैं और उनके आधार पर उन्होंने निःस्वार्थ कर्म-योग की अव-धारणा को भी सफल बनाया है। वे कहते हैं कि, जिस प्रकार निरात्मक (अपनेपन के भाव रहित) निज शरीर में अभ्यासवश अपनेपन का बोध होता है, वैसे ही दूसरे प्राणियों के शरीरों में अभ्यास से क्या अपनापन उत्पन्न न होगा?[२] अर्थात् दूसरे प्राणियों के शरीरों में अभ्यास से ममत्वभाव अवश्य ही उत्पन्न होगा, क्योंकि जैसे हाथ आदि अंग शरीर के अवयव होने के कारण प्रिय होते हैं, वैसे ही सभी देहधारी जगत् के अवयव होने के कारण प्रिय क्यों नहीं होंगे[३], अर्थात् वे भी उसी जगत् के, जिसका मैं अवयव हूँ, अवयव होने के कारण प्रिय होंगे, उनमें भी आत्मभाव होगा और यदि सब में प्रियता एवं आत्मभाव उत्पन्न हो गया तो फिर दूसरों के दुःख दूर किये बिना नहीं रहा जा सकेगा, क्योंकि जिसका जो दुःख हो वह उससे अपने को बचाने का प्रयत्न तो करता है। यदि दूसरे प्राणियों को दुःख होता है, तो हमको उससे क्या? ऐसा मानो तो हाथ को पैर का दुःख नहीं होता, फिर क्यों हाथ से पैर का कंटक निकालकर दुःख से उसकी रक्षा करते हो?[४] जैसे हाथ पैर का दुःख दूर किये बिना नहीं रह सकता, वैसे ही समाज का कोई भी प्रज्ञायुक्त सदस्य दूसरे प्राणी का दुःख दूर किये बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार आचार्य समाज की साव-यवता को सिद्ध कर उसके आधार पर लोकमंगल का सन्देश देते हुए आगे यह भी

---

१. बौद्ध-दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ६१२ २. बोधिचर्यावतार, ८।११५
३. वही, ८।११४ ४. वही, ८।९९

स्पष्ट कर देते हैं कि इस लोकमंगल की साधना में निष्कामता होनी चाहिए। वे लिखते हैं, "जिस प्रकार अपने आपको भोजन कराकर फल की आशा नहीं होती है उसी प्रकार परार्थ करके भी फल की आशा, गर्व या विस्मय नहीं होता है'।[1] (क्योंकि परार्थ द्वारा हम अपने ही समाजरूपी शरीर की या उसके अवयवों की सन्तुष्टि करते हैं) इसलिए एकमात्र परोपकार के लिए ही परोपकार करके, न गर्व करना और न विस्मय और न विपाकफल की इच्छा ही[2]।"

बौद्ध-दर्शन भी आत्मार्थ और परार्थ में कोई भेद नहीं देखता। इतना ही नहीं, वह आत्मार्थ को परार्थ के लिए समर्पित करने के लिए भी तत्पर है। लेकिन उसकी एक सीमा है जिसे वह भी उसी रूपमें स्वीकार करता है, जिस रूप में जैन-विचारकों ने उसे प्रस्तुत किया है। वह कहता है कि लोकमंगल के लिए सब कुछ न्योछावर किया जा सकता है, यहाँ तक कि अपने समस्त संचित पुण्य और निर्वाण का सुख भी। लेकिन वह उसके लिए अपनी नैतिकता को, अपने सदाचार को समर्पित करने के लिए तत्पर नहीं है। नैतिकता और सदाचरण की कीमत पर किया गया लोक-कल्याण उसे स्वीकार नहीं है। एक बौद्ध साधक विगलित शरीरवाली वेश्या की सेवा-शुश्रुषा तो कर सकता है, लेकिन उसकी कामवासना की पूर्ति नहीं कर सकता। किसी भूख से व्याकुल व्यक्ति को अपना भोजन भले ही दे दे, लेकिन उसके लिए चौर्य कर्म का आचरण नहीं कर सकता। बौद्ध दर्शन में लोकहित का वही रूप आचरणीय है जो नैतिक जीवन के सीमाक्षेत्र में हो। लोकहित नैतिक जीवन से ऊपर नहीं हो सकता। नैतिकता के समस्त फलों को लोकहित के लिए समर्पित किया जा सकता है, लेकिन स्वयं नैतिकता को नहीं। बौद्ध विचारणा में लोकहित के पवित्र साध्य के लिए भ्रष्ट या अनैतिक साधन कथमपि स्वीकार नहीं हैं। लोकहित वहीं तक आचरणीय है जहाँ तक उसका नैतिक जीवन से अविरोध हो। यदि कोई लोकहित ऐसा हो जो व्यक्ति के नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के बलिदान पर ही सम्भव हो, तो ऐसी दशा में वह बहुजन हित आचरणीय नहीं है, वरन् स्वयं के नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की उपलब्धि ही आचरणीय है। धम्मपद में कहा है, व्यक्ति अपने अशुभाचरण से ही अशुद्ध होता है और अशुभ आचरण का सेवन नहीं करने पर ही शुद्ध होता है। शुद्धि और अशुद्धि प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न है। दूसरा व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को शुद्ध नहीं कर सकता। इसलिए दूसरे व्यक्तियों के बहुत हित के लिए भी अपनी नैतिक शुद्धि रूपी हित की हानि नहीं करे और अपने सच्चे हित और कल्याण को जानकर उसकी प्राप्ति में लगे।[3] संक्षेप में बौद्ध आचार-दर्शन में ऐसा लोकहित ही स्वीकार्य है, जिसका व्यक्ति के

---

१. बोधिचर्यावतार, ८।११६ २. वही, ८।१०९
३. धम्मपद, १६५-१६६

उपाध्याय के स्वर में कहना पड़ता है, 'कितनी उदात्त भावना है। विश्व-चेतना के साथ अपने को आत्मसात् करने की कितनी विह्वलता है। परार्थ में आत्मार्थ को मिला देने का कितना अपार्थिव उद्योग है'।[१] आचार्य शान्तिदेव भी केवल परोपकार या लोक-कल्याण का सन्देश नहीं देते, वरन् उस लोक-कल्याण के सम्पादन में भी पूर्ण निष्काम, भाव पर भी बल देते हैं। निष्काम भाव से लोककल्याण कैसे किया जाये, इसके लिए शान्तिदेव ने जो विचार प्रस्तुत किये हैं वे उनके मौलिकचिन्तन का परिणाम हैं। गीता के अनुसार व्यक्ति ईश्वरीय प्रेरणा को मानकर निष्काम भाव से कर्म करता रहे अथवा स्वयं को और सभी साथी प्राणियों को उसी पर ब्रह्म का ही अंश मानकर सभी में आत्मभाव जागृत कर बिना आकांक्षा के कर्म करता रहे। लेकिन निरीश्वरवादी और अनात्मवादी बौद्ध दर्शन में तो यह सम्भव नहीं था। यह तो आचार्य की बौद्धिक प्रतिभा ही है, जिसने मनोवैज्ञानिक आधारों पर निष्कामभाव से लोकहित की अव-धारणा को सम्भव बनाया। समाज के सावयवता के जिस सिद्धान्त के आधार पर ब्रेडले प्रभृति पाश्चात्य विचारक लोकहित और स्वहित में समन्वय साधते हैं और उन विचारों की मौलिकता का दावा करते हैं, वे विचार आचार्य शान्तिदेव के ग्रंथों में बड़े स्पष्ट रूप से प्रकट हुए हैं और उनके आधार पर उन्होंने निःस्वार्थ कर्म-योग की अव-धारणा को भी सफल बनाया है। वे कहते हैं कि, जिस प्रकार निरात्मक (अपनेपन के भाव रहित) निज शरीर में अभ्यासवश अपनेपन का बोध होता है, वैसे ही दूसरे प्राणियों के शरीरों में अभ्यास से क्या अपनापन उत्पन्न न होगा?[२] अर्थात् दूसरे प्राणियों के शरीरों में अभ्यास से ममत्वभाव अवश्य ही उत्पन्न होगा, क्योंकि जैसे हाथ आदि अंग शरीर के अवयव होने के कारण प्रिय होते हैं, वैसे ही सभी देहधारी जगत् के अवयव होने के कारण प्रिय क्यों नहीं होंगे[३], अर्थात् वे भी उसी जगत् के, जिसका मैं अवयव हूँ, अवयव होने के कारण प्रिय होंगे, उनमें भी आत्मभाव होगा और यदि सब में प्रियता एवं आत्मभाव उत्पन्न हो गया तो फिर दूसरों के दुःख दूर किये बिना नहीं रहा जा सकेगा, क्योंकि जिसका जो दुःख हो वह उससे अपने को बचाने का प्रयत्न तो करता है। यदि दूसरे प्राणियों को दुःख होता है, तो हमको उससे क्या? ऐसा मानो तो हाथ को पैर का दुःख नहीं होता, फिर क्यों हाथ से पैर का कंटक निकालकर दुःख से उसकी रक्षा करते हो?[४] जैसे हाथ पैर का दुःख दूर किये बिना नहीं रह सकता, वैसे ही समाज का कोई भी प्रज्ञायुक्त सदस्य दूसरे प्राणी का दुःख दूर किये बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार आचार्य समाज की साव-यवता को सिद्ध कर उसके आधार पर लोकमंगल का सन्देश देते हुए आगे यह भी

---

१. बौद्ध-दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ६१२ २. बोधिचर्यावतार, ८।११५
३. वही, ८।११४ ४. वही, ८।९९

रहता है न परार्थ, वहाँ तो केवल परमार्थ रहता है। इसमें यथार्थ आत्मार्थ और यथार्थ परार्थ दोनों ही एकरूप हैं। तथागत के अन्तेवासी शिष्य आनन्द कहते हैं, 'आयुष्मान्, जो राग से अनुरक्त है, जो राग के वशीभूत है जो द्वेष से दुष्ट है, द्वेष के वशीभूत है, जो मोह से मूढ़ है, मोह के वशीभूत है वह यथार्थ आत्मार्थ को भी नहीं पहचानता है, यथार्थ परार्थ को भी नहीं पहचानता है, यथार्थ उभयार्थ को भी नहीं पहचानता है। राग का नाश होने पर, द्वेष का नाश होने पर''''मोह का नाश होने पर—वह यथार्थ आत्मार्थ भी पहचानता है, यथार्थ परार्थ भी पहचानता है, यथार्थ उभयार्थ भी पहचानता है।'[1]

राग, द्वेष और मोह का प्रहाण होने पर ही मनुष्य अपने वास्तविक हित को, दूसरों के वास्तविक हित को तथा अपने और दूसरों के वास्तविक सामूहिक या सामाजिक हित को जान सकता है। बुद्ध के अनुसार पहले यह जानो कि अपना और दूसरों का अथवा समाज का वास्तविक कल्याण किसमें है। जो व्यक्ति अपने, दूसरों के और समाज के वास्तविक हित को समझे बिना ही लोकहित, परहित एवं आत्महित का प्रयास करता है, वह वस्तुतः किसी का भी हित नहीं करता है।

लेकिन राग, द्वेष और मोह के प्रहाण के बिना अपना और दूसरों का वास्तविक हित किसमें है यह नहीं जाना जा सकता? सम्भवतः सोचा यह गया कि चित्त के रागादि से युक्त होने पर भी बुद्धि के द्वारा आत्महित या परहित किसमें है, इसे जाना जा सकता है। लेकिन बुद्ध को यह स्वीकार नहीं था। बुद्ध की दृष्टि में तो राग-द्वेष, मोहादि चित्त के मल हैं और इन मलों के होते हुए कभी भी यथार्थ आत्महित और परहित को जाना नहीं जा सकता। बुद्धि तो जल के समान है, यदि जल में गंदगी है, विकार है, चंचलता है तो वह यथार्थ प्रतिबिम्ब देने में कथमपि समर्थ नहीं होता, ठीक इसी प्रकार राग-द्वेष से युक्त बुद्धि भी यथार्थ स्वहित और लोकहित को बताने में समर्थ नहीं होती है। बुद्ध एक सुन्दर रूपक द्वारा यही बात कहते हैं भिक्षुओं, जैसे पानी का तालाब गंदला हो, चंचल हो और कीचड़-युक्त हो, वहाँ किनारे पर खड़े आँखवाले आदमी को न सीपी दिखाई दे, न शंख, न कंकर, न पत्थर, न चलती हुई या स्थिर मछलियाँ दिखाई दे। यह ऐसा क्यों? भिक्षुओं, पानी के गंदला होने के कारण। इसी प्रकार भिक्षुओं, इसकी सम्भावना नहीं है कि वह भिक्षु मैले (राग-द्वेषादि से युक्त) चित्त से आत्महित जान सकेगा, परहित जान सकेगा, उभयहित जान सकेगा और सामान्य मनुष्य धर्म से बढ़कर विशिष्ट आर्य-ज्ञान दर्शन को जान सकेगा। इसकी सम्भावना है कि भिक्षु निर्मल चित्त से आत्महित को जान सकेगा, परहित को जान सकेगा, उभयहित को जान सकेगा, सामान्य मनुष्य धर्म से बढ़कर विशिष्ट आर्य-दर्शन को जान सकेगा।[2]

---

१. अंगुत्तरनिकाय, ३।७१ २. वही, १।५

आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास से अविरोध है। लोकहित का विरोध हमारी भौतिक उपलब्धियों से हो सकता है, लेकिन हमारे आध्यात्मिक विकास से उसका विरोध नहीं रहता। सच्चा लोकहित तो व्यक्ति की आध्यात्मिक या नैतिक प्रगति का सूचक है। इस प्रकार व्यक्ति की नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रगति में सहायक लोकहित ही बौद्ध-साधना का प्राण है। उस अवस्था में आत्मार्थ और परार्थ अलग-अलग नहीं रहते हैं। आत्मार्थ ही परार्थ बन जाता है और परार्थ ही आत्मार्थ बन जाता है, वह निष्काम होता है।

यद्यपि बौद्ध दर्शन की हीनयान शाखा स्वहितवादी और महायान शाखा परहितवादी आदर्शों के आधार पर विकसित हुई है, तथापि बुद्ध के मौलिक उपदेशों में हमें कहीं भी स्वहित और लोकहित में एकान्तवादिता नही दिखाई देती। तथागत तो मध्यममार्ग की प्रतिष्ठापना के हेतु ही उत्पन्न हुए। वे भला एकान्तदृष्टि को कैसे स्वीकार करते। मध्यममार्ग के उपदेशक भगवान् बुद्ध ने अपनी देशना में तो लोकहित और आत्महित के बीच सदैव ही एक सांग-संतुलन रखा है, एक अविरोध देखा है। लोकहित और आत्महित जबतक नैतिकता की सीमा में है, तबतक न उनमें विरोध रहता है और न कोई संघर्ष ही होता है। तर्कशास्त्र की भाषा में वे दोनों ही नैतिकता की महाजाति की दो उपजातियों के रूप होते हैं, जिनमें विपरीतता तो है, लेकिन व्याघातकता नहीं है। लोकहित और आत्महित में विरोध और संघर्ष तो तब होता है, जब उनमें से कोई भी नैतिकता का अतिक्रमण करता है। भगवान् बुद्ध का कहना यही था कि यदि आत्म-हित करना है तो वह नैतिकता की सीमा में करो और यदि परहित करना है तो वह भी नैतिकता की सीमा में, धर्म की मर्यादा में रहकर ही करो। नैतिकता और धर्म से दूर होकर किया जाने वाला आत्महित 'स्वार्थ साधन' है और लोकहित सेवा का निरा ढोंग है। बुद्ध ने आत्महित और लोकहित, दोनों को ही नैतिकता के क्षेत्र में लाकर परखा और उनमें अविरोध पाया। श्री भरतसिंह उपाध्याय के शब्दों में 'बुद्ध के मौलिक उपदेशों में आत्मकल्याण और परकल्याण, आत्मार्थ और परार्थ ध्यान और सेवा, दोनों का उचित संयोग है। आत्मकल्याण और परकल्याण में वहाँ कोई विभाजक रेखा नहीं थी'[१]। बुद्ध आत्मार्थ और परार्थ के सम्यक्रूप को जानने पर बल देते हैं। उनके अनुसार यथार्थ दृष्टि से आत्मार्थ और परार्थ में अविरोध है। आत्मार्थ और परार्थ में विरोध तो उसी स्थिति में दिखाई देता है जब हमारी दृष्टि राग, द्वेष तथा मोह से युक्त होती है। राग द्वेष और मोह का प्रहाण होने पर उनमें कोई विरोध दिखाई ही नहीं देता। स्व और पर का विरोध तो राग और द्वेष में ही है। जहाँ राग-द्वेष नहीं है, वहाँ कौन अपना और कौन पराया ? जब मनुष्य राग-द्वेष से ऊपर उठ जाता है तब वहाँ न आत्मार्थ

१. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ६०९–६१०

रहता है न परार्थ, वहाँ तो केवल परमार्थ रहता है। इसमें यथार्थ आत्मार्थ और यथार्थ परार्थ दोनों ही एकरूप हैं। तथागत के अन्तेवासी शिष्य आनन्द कहते हैं, 'आयुष्मान्, जो राग से अनुरक्त है, जो राग के वशीभूत है जो द्वेष से दुष्ट है, द्वेष के वशीभूत है, जो मोह से मूढ़ है, मोह के वशीभूत है वह यथार्थ आत्मार्थ को भी नहीं पहचानता है, यथार्थ परार्थ को भी नहीं पहचानता है, यथार्थ उभयार्थ को भी नहीं पहचानता है। राग का नाश होने पर, द्वेष का नाश होने पर""मोह का नाश होने पर—वह यथार्थ आत्मार्थ भी पहचानता है, यथार्थ परार्थ भी पहचानता है, यथार्थ उभयार्थ भी पहचानता है।'[1]

राग, द्वेष और मोह का प्रहाण होने पर ही मनुष्य अपने वास्तविक हित को, दूसरों के वास्तविक हित को तथा अपने और दूसरों के वास्तविक सामूहिक या सामाजिक हित को जान सकता है। बुद्ध के अनुसार पहले यह जानो कि अपना और दूसरों का अथवा समाज का वास्तविक कल्याण किसमें है। जो व्यक्ति अपने, दूसरों के और समाज के वास्तविक हित को समझे बिना ही लोकहित, परहित एवं आत्महित का प्रयास करता है, वह वस्तुतः किसी का भी हित नहीं करता है।

लेकिन राग, द्वेष और मोह के प्रहाण के बिना अपना और दूसरों का वास्तविक हित किसमें है यह नहीं जाना जा सकता? सम्भवतः सोचा यह गया कि चित्त के रागादि से युक्त होने पर भी बुद्धि के द्वारा आत्महित या परहित किसमें है, इसे जाना जा सकता है। लेकिन बुद्ध को यह स्वीकार नहीं था। बुद्ध की दृष्टि में तो राग-द्वेष, मोहादि चित्त के मल हैं और इन मलों के होते हुए कभी भी यथार्थ आत्महित और परहित को जाना नहीं जा सकता। बुद्धि तो जल के समान है, यदि जल में गंदगी है, विकार है, चंचलता है तो वह यथार्थ प्रतिबिम्ब देने में कथमपि समर्थ नहीं होता, ठीक इसी प्रकार राग-द्वेष से युक्त बुद्धि भी यथार्थ स्वहित और लोकहित को बताने में समर्थ नहीं होती है। बुद्ध एक सुन्दर रूपक द्वारा यही बात कहते हैं भिक्षुओं, जैसे पानी का तालाब गंदला हो, चंचल हो और कीचड़-युक्त हो, वहाँ किनारे पर खड़े आँखवाले आदमी को न सीपी दिखाई दे, न शंख, न कंकर, न पत्थर, न चलती हुई या स्थिर मछलियाँ दिखाई दे। यह ऐसा क्यों? भिक्षुओं, पानी के गंदला होने के कारण। इसी प्रकार भिक्षुओं, इसकी सम्भावना नहीं है कि वह भिक्षु मैले (राग-द्वेषादि से युक्त) चित्त से आत्महित जान सकेगा, परहित जान सकेगा, उभयहित जान सकेगा और सामान्य मनुष्य धर्म से बढ़कर विशिष्ट आर्य-ज्ञान दर्शन को जान सकेगा। इसकी सम्भावना है कि भिक्षु निर्मल चित्त से आत्महित को जान सकेगा, परहित को जान सकेगा, उभयहित को जान सकेगा, सामान्य मनुष्य धर्म से बढ़कर विशिष्ट आर्य-दर्शन को जान सकेगा।[2]

---

१. अंगुत्तरनिकाय, ३।७१ २. वही, १।५

बुद्ध के इस कथन का सार यही है कि जीवन में जबतक राग-द्वेष और मोह की वृत्तियाँ सक्रिय हैं, तबतक आत्महित और लोकहित की यथार्थदृष्टि उत्पन्न नहीं होती है। राग और द्वेष का प्रहाण होने पर ही सच्ची दृष्टि का उदय होता है और जब यह यथार्थदृष्टि उत्पन्न हो जाती है तब स्वार्थ (Egoism), परार्थ (Altruism) और उभयार्थ (Common Good) में कोई विरोध ही नहीं रहता। हीनयान या स्थविरवाद में जो स्वहितवाद अर्थात् आत्मकल्याण के दृष्टिकोण का प्राधान्य है, उसका मूल कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ मानी जा सकती हैं; फिर भी हीनयान का उस लोकमंगल की साधना से मूलतः कोई विरोध नहीं है, जो वैयक्तिक नैतिक विकास में बाधक न हो। जिस अवस्था तक वैयक्तिक नैतिक विकास और लोकमंगल की साधना में अविरोध है, उस अवस्था तक लोकमंगल उसे भी स्वीकार है। मात्र वह लोकमंगल के लिए आन्तरिक और नैतिक विशुद्धि को अधिक महत्त्व देता है। आन्तरिक पवित्रता एवं नैतिक विशुद्धि से शून्य होकर फलाकांक्षा से युक्त लोकसेवा के आदर्श को वह स्वीकार नहीं करता। उसकी समग्र आलोचनाएँ ऐसे ही लोकहित के प्रति हैं। भिक्षु पारापरिय ने, बुद्ध के परवर्ती भिक्षुओं में लोकसेवा का जो थोथा आदर्श जोर पकड़ गया था, उसकी समालोचना में निम्न विचार प्रस्तुत किये हैं:—

> लोगों की सेवा काय से करते हैं, धर्म से नहीं।
> दूसरों को धर्म का उपदेश देते हैं,
> (अपने) लाभ के लिए, न कि (उनके) अर्थ के लिए ॥[1]

स्थविरवादी भिक्षुओं का विरोध लोकसेवा के उस रूप से है जिसका सेवारूपी शरीर तो है, लेकिन जिसकी नैतिक चेतनारूपी आत्मा मर चुकी है। वह लोकसेवा सेवा नहीं, सेवा का प्रदर्शन है, दिखावा है, ढोंग है, छलना है, आत्मप्रवंचना है। डा० भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार एकांतता की साधना की प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में प्रमुखता अवश्य थी, परन्तु सार्थक तथ्य यह है कि उसे लोकसेवा के या जनकल्याण के विपरीत वहाँ कभी नही माना गया। बल्कि यह तो उसके लिए एक तैयारी थी।[2] दूसरी ओर यदि हम महायानी साहित्य का गहराई से अध्ययन करें तो हमें बोधिचर्यावतार, शिक्षासमुच्चय, लंकावतारसूत्र जैसे ग्रन्थों में भी कहीं ऐसी सेवाभावना का समर्थन नहीं मिलता जो नैतिक जीवन के व्यक्तिगत मूल्यों के विरोध में खड़ी हो। लोक-मंगल का जो आदर्श महायान परम्परा ने प्रस्तुत किया है, वह भी ऐसे किसी लोकहित का समर्थन नहीं करता, जिसके लिए वैयक्तिक नैतिकता को समाप्त कर दिया जाये। इस प्रकार सैद्धांतिक दृष्टि से लोकहित और आत्महित की अवधारणा में हीनयान और महायान में कोई मौलिक विरोध नहीं रह जाता। यद्यपि व्यावहारिक रूप में यह तथ्य सही है कि जहाँ

---

१. थेरगाथा, ९४१–९४२ २. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ६०९

एक ओर हीनयान ने एकांगी साधना और व्यक्तिनिष्ठ आचार-परम्परा का विकास किया और साधना को अधिकांश रूपेण आन्तरिक एवं वैयक्तिक बना दिया, वहाँ दूसरी ओर महायान ने उसी की प्रतिक्रिया में साधना के वैयक्तिक पक्ष की उपेक्षा कर उसे सामाजिक और बहिर्मुखी बना दिया। इस तरह लोक-सेवा और लोकानुकम्पा को अधिक महत्त्व दिया। यहाँ हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि हीनयान और महायान ने जिस सीमा तक अपने में इस ऐकान्तिक को प्रश्रय दिया है, वे उसी सीमा तक बुद्ध की मध्यम-मार्गीय देशना से पीछे भी हटे हैं।

स्वाहित और लोकहित के सम्बन्ध में गीता का मन्तव्य—गीता में सदैव ही स्वहित के ऊपर लोकहित की प्रतिष्ठा हुई है। गीताकार की दृष्टि में जो अपने लिए ही पकाता है और खाता है वह पाप ही खाता है।[1] स्वहित के लिए जीने वाला व्यक्ति गीता की दृष्टि में अधार्मिक और नीच है। गीताकार के अनुसार जो व्यक्ति प्राप्त भोगों को देनेवाले देवों को दिए बिना, उनका ऋण चुकाये बिना खाता है वह चोर है[2]। सामाजिक दायित्वों का निर्वाह न करना गीता की दृष्टि में भारी अपराध है।

गीता के अनुसार लोकहित करना मनुष्य का कर्तव्य है। सर्व प्राणियों के हित-सम्पादन में लगा हुआ पुरुष ही परमात्मा को प्राप्त करता है। वह ब्रह्म-निर्वाण का अधिकारी होता है।[3] जिसे कर्म करने से कोई प्रयोजन नहीं रह गया है अर्थात् जो जीवनमुक्त हो गया है, जिसे संसार के प्राणियों से कोई मतलब नहीं, उसे भी लोक-हितार्थ कर्म करते रहना चाहिए।[4] श्रीकृष्ण अर्जुन से यही कहते हैं कि लोकसंग्रह (लोकहित) के लिए तुझे कर्तव्य करना उचित है।[5] गीता में भगवान् के अवतार धारण करने का उद्देश्य साधुजनों की रक्षा, दुष्टों का नाश और धर्म की संस्थापना है।[6]

इस प्रकार जैन, बौद्ध और गीता इन तीनों परम्पराओं में तीर्थंकर, बुद्ध और ईश्वर का कार्य लोकहित या लोकमंगल ही माना गया है। यद्यपि जैन व बौद्ध विचारणाओं में तीर्थंकर एवं बुद्ध का कार्य मात्र धर्म-संस्थापना और लोक-कल्याण है। वे गीता के कृष्ण के समान धर्म-संस्थापना के साथ-साथ न तो साधु-जनों की रक्षा का दावा करते हैं और न दुष्टों के प्रहाण की बात कहते हैं। दुष्टों के प्रहाण की बात उनकी विशुद्ध अहिंसक प्राणी से मेल नहीं खाती है। यद्यपि अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध ने शिक्षापदों की प्रज्ञप्ति के जो कारण दिए हैं वे गीता के समान ही हैं।[7] तथापि लोक-मंगल के आदर्श को लेकर तीनों विचारणाओं में महत्त्वपूर्ण साम्य है। इन आचार-दर्शनों का केन्द्रीय या

---

१. गीता ३।१३ २. वही, ३।१२
३. वही, ५।२५, १२।४ ४. वही, ३।१८
५. वही, ३।२० ६. वही, ४।८
७. तुलना कीजिए, गीता ४।८ तथा अंगुत्तरनिकाय, २।१६

प्रधान तत्त्व परोपकार ही है, यद्यपि उसे अध्यात्म या परमार्थ का विरोधी नहीं होना चाहिए। गीता में भी जिन-जिन स्थानों पर लोकहित का निर्देश है, वहाँ निष्कामता की शर्त है ही। निष्काम और आध्यात्मिक या नैतिक तत्त्वों के अविरोध में रहा हुआ परार्थ ही गीता को मान्य है। गीता में भी स्वार्थ और परार्थ की समस्या का सच्चा हल आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना में खोजा गया है। जब सभी में आत्मदृष्टि उत्पन्न हो जाती है तो न स्वार्थ रहता है, न परार्थ; क्योंकि जहाँ 'स्व' हो वहाँ स्वार्थ रहता है। जहाँ पर हो, वहाँ परार्थ रहता है। लेकिन सर्वात्मभाव में 'स्व' और 'पर' नहीं होते हैं, अतः उस दशा में स्वार्थ और परार्थ भी नहीं होता है। वहाँ होता है केवल परमार्थ। भौतिक स्वार्थों से ऊपर परार्थ का स्थान सभी को मान्य है। स्वार्थ और परार्थ के सम्बन्ध में भारतीय आचार-दर्शनों के दृष्टिकोण को भर्तृहरि के इस कथन से भलीभाँति समझा जा सकता है—प्रथम, जो स्वार्थ का परित्याग कर परार्थ के लिए कार्य करते हैं वे महान् हैं; दूसरे, जो स्वार्थ के अविरोध में परार्थ करते हैं अर्थात् अपने हितों का हनन नहीं करते हुए लोकहित करते हैं वे सामान्य जन हैं; तीसरे, जो स्वहित के लिए परहित का हनन करते हैं वे अधम (राक्षस) कहे जाते हैं; लेकिन चौथे, जो निरर्थक ही दूसरों का अहित करते हैं उन्हें क्या कहा जाए, वे तो अधमाधम हैं।[1] फिर भी हमें यह ध्यान रखना होगा कि भारतीय चिन्तन में परार्थ या लोकहित अन्तिम तत्त्व नहीं है। अन्तिम तत्त्व है परमार्थ या आत्मार्थ। पाश्चात्य आचार-दर्शन में स्वार्थ और परार्थ की समस्या का अन्तिम हल सामान्य शुभ में खोजा गया, जबकि विशेष रूप से जैन-दर्शन में और सामान्य रूप से समग्र भारतीय चिन्तन में इस समस्या का हल परमार्थ या आत्मार्थ में खोजा गया। नैतिक चेतना के विकास के साथ लोकमंगल की साधना भारतीय चिन्तन का मूलभूत साध्य रहा है।

ऐसी लोकमंगल की सर्वोच्च भावना का प्रतिविम्ब हमें आचार्य शान्तिदेव के शिक्षासमुच्चय नामक ग्रन्थ में मिलता है। हिन्दी में अनूदित उनकी निम्न पंक्तियाँ मननीय हैं:—

इस दुःखमय नरलोक में,
जितने दलित, बन्धग्रसित पीड़ित विपत्ति विलीन हैं;
जितने बहुधन्धी विवेक विहीन हैं।
जो कठिन भय से और दारुण शोक से अतिदीन हैं,
वे मुक्त हो निजबन्ध से, स्वच्छन्द हो सब द्वन्द्व से,
छूटे दलन के फन्द से,

---

१. तुलना कीजिए-अंगुत्तरनिकाय भाग १, पृ० १०१७. नीतिशतक (भर्तृहरि), ७४

हो ऐसा जग में, दुःख से विचले न कोई,
वेदनार्थ हिले न कोई, पाप कर्म करे न कोई,
असन्मार्ग धरे न कोई,
हो सभी सुखशील, पुण्याचार धर्मव्रती,
सबका ही परम कल्याण,
सबका ही परम कल्याण।[1]

●

---

1. शिक्षासमुच्चय—पृ० १० अनूदित धर्मदूत, मई १९४१

११ वर्णाश्रम-व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्था—भारतीय नैतिक चिन्तन के सामाजिक प्रश्नों में वर्ण-व्यवस्था का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। सामाजिक नैतिकता का प्रश्न वर्ण-व्यवस्था से निकट रूप से सम्बन्धित है, अतः यहाँ वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार कर लेना आवश्यक है।

जैनधर्म और वर्ण-व्यवस्था—जैन आचार-दर्शन में साधना-मार्ग का प्रवेश द्वार विना किसी भेदभाव के सभी के लिए खुला है। उसमें धनी अथवा निर्धन, उच्च अथवा नीच का कोई विभेद नहीं है। आचारांगसूत्र में कहा है कि साधना-मार्ग का उपदेश सभी के लिए समान है। जो उपदेश एक धनवान या उच्चकुल के व्यक्ति के लिए है, वही उपदेश गरीब या निम्नकुलोत्पन्न व्यक्ति के लिए है।[1] उसके साधनापथ में हरिकेशी बल जैसे चाण्डाल, अर्जुनमाली जैसे घोर हिंसक और पुनिया जैसे अत्यन्त निर्धन व्यक्ति का भी वही स्थान है जो स्थान इन्द्रभूति जैसे वेदपाठी ब्राह्मणपुत्र अथवा दशार्णभद्र और श्रेणिक जैसे नरेशों और धन्ना तथा शालिभद्र जैसे श्रेष्ठिरत्नों का है। जैनागमों में वर्णित हरिकेशीबल और अनाथी मुनि के कथानक जाति-भेद तथा धन के अहंकार पर करारी चोट करते हैं। धर्म-साधना का उपदेश तो उस वर्षा के समान है जो ऊँचे पर्वतों पर नीचे खेत-खलिहानों पर, सुन्दर महल अटारियों पर और झोपड़ियों पर समान रूप से होती है। यह बात अलग है कि उस वर्षा के जल को कौन कितना ग्रहण करता है। साधना का राजमार्ग तो उसका है जो उसपर चलता है, फिर वह चलने वाला पूर्व में दुराचारी रहा हो या सदाचारी, धनी रहा हो या निर्धन, उच्चकुलोत्पन्न रहा हो या निम्नकुलोत्पन्न। जैन आचार्य श्रुति के इस कथन को स्वीकार नहीं करते हैं कि ब्राह्मणों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रियों की बाहु से, वैश्यों की जाँघ से तथा शूद्रों की पैरों से होती है[2]। जन्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र प्रधान वर्ण-व्यवस्था जैनधर्म को स्वीकार नहीं है। जैनाचार्यों का कहना है कि सभी मनुष्य योनि से ही उत्पन्न होते हैं।[3] अतः ब्रह्मा के विभिन्न अंगों से उनकी उत्पत्ति बताकर शारीरिक अंगों की उत्तमता या निकृष्टता के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का विधान नहीं किया जा सकता। शारीरिक विभिन्नता के आधार पर भी किया जाने वाला वर्गीकरण मात्र स्थावर, पशु-पक्षी इत्यादि के विषय में ही सत्य हो सकता

---

१. आचारांग १।२।६।१०२

२. यजुर्वेद, ३१।१०, ऋग्वेद पुरुषसूक्त १०।९०।१२

३. अभिधान राजेन्द्र खण्ड ४, पृ० १४४१

सकता है, मनुष्यों के सम्बन्ध में नहीं। जन्मना सभी मनुष्य समान हैं। मनुष्यों की एक ही जाति है।[1] जन्म के आधार पर जाति का निश्चय नहीं किया जा सकता। मत्स्यगंधा (मल्लाह की कन्या) के गर्भ से महर्षि पराशर द्वारा उत्पन्न महामुनि व्यास अपने उत्तम कर्मो के कारण ब्राह्मण कहलाये। मतलब यह कि कर्म या आचरण के आधार पर ही चातुर्वर्ण्य व्यवस्था निर्णय करना उचित है। जिस प्रकार शिल्प-कला का व्यसायी शिल्पी कहलाता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला ब्राह्मण कहलाता है। जैन-विचारणा जन्मना जातिवाद का निरसन करती है। कर्मणा वर्ण-व्यवस्था से उसका कोई सैद्धान्तिक विरोध नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है और कर्म से ही वैश्य और शूद्र होता है।[2] मुनि चौथमल जी निर्ग्रन्थ-प्रवचन भाष्य में कहते हैं कि एक व्यक्ति दुःशील, अज्ञानी और प्रकृति से तमोगुणी होने पर भी अमुक वर्ण वाले के घर में जन्म लेने के कारण समाज में पूज्य, आदरणीय, प्रतिष्ठित और ऊँचा समझा जाय, और दूसरा व्यक्ति सुशील, ज्ञानी और सतोगुणी होने पर भी केवल अमुक कुल में जन्म लेने के कारण नीच और तिरस्करणीय माना जाय, यह व्यवस्था समाजघातक है। इतना ही नहीं, ऐसा मानने से न केवल समाज के एक बहुसंख्यक भाग का अपमान होता है, प्रत्युत यह सद्गुण और सदाचार का भी घोर अपमान होता है। इस व्यवस्था को अंगीकार करने से दुराचारी सदाचारी से ऊँचा उठ जाता है, अज्ञान ज्ञान पर विजयी होता है और तमोगुण सतोगुणके सामने आदरास्पद बन जाता है। यह ऐसी स्थिति है जो गुणग्राहक विवेकीजनों को सह्य नहीं हो सकती[3] अर्थात् जाति की अपने आपमें कोई विशेषता नहीं है, महत्त्व नैतिक सदाचरण (तप) का है। जैन-विचारणा यह तो स्वीकार करती है कि लोक-व्यवहार या आजीविका के हेतु किये गये कर्म (व्यवसाय) के आधार पर समाज का वर्गीकरण किया जा सकता है, लेकिन इस व्यावसायिक या सामाजिक व्यवस्था के क्षेत्र में किये जाने वाले विभिन्न कर्मो के वर्गीकरण के आधार पर किसी वर्ग की श्रेष्ठता या हीनता का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। किसी व्यक्ति की श्रेष्ठता या हीनता का आधार व्यावसायिक कर्म नहीं है, वरन् व्यक्ति की नैतिक योग्यता या सद्गुणों का विकास है। उत्तराध्ययन में निर्देश है कि साक्षात् तप का ही माहात्म्य दिखाई देता है, जाति की कुछ भी विशेषता नहीं दिखाई देती। चाण्डालपुत्र हरिकेशी मुनि को देखो, जिनकी महाप्रभावशाली ऋद्धि है।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन विचारणा का वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में निम्न दृष्टिकोण है। १. वर्ण-व्यवस्था जन्म के आधार पर स्वीकार नहीं की गई वरन् उसका

---

१. अभिधान राजेन्द्र खण्ड ४, पृ० १४४१
२. उत्तराध्ययन, २५।३३
३. निर्ग्रन्थ-प्रवचन-भाष्य, पृ० २८९
४. उत्तराध्ययन, १२।३७

११ वर्णाश्रम-व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्था—भारतीय नैतिक चिन्तन के सामाजिक प्रश्नों में वर्ण-व्यवस्था का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। सामाजिक नैतिकता का प्रश्न वर्ण-व्यवस्था से निकट रूप से सम्बन्धित है, अतः यहाँ वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार कर लेना आवश्यक है।

जैनधर्म और वर्ण-व्यवस्था—जैन आचार-दर्शन में साधना-मार्ग का प्रवेश द्वार बिना किसी भेदभाव के सभी के लिए खुला है। उसमें धनी अथवा निर्धन, उच्च अथवा नीच का कोई विभेद नहीं है। आचारांगसूत्र में कहा है कि साधना-मार्ग का उपदेश सभी के लिए समान है। जो उपदेश एक धनवान या उच्चकुल के व्यक्ति के लिए है, वही उपदेश गरीब या निम्नकुलोत्पन्न व्यक्ति के लिए है।[1] उसके साधनापथ में हरिकेशी बल जैसे चाण्डाल, अर्जुनमाली जैसे घोर हिंसक और पुनिया जैसे अत्यन्त निर्धन व्यक्ति का भी वही स्थान है जो स्थान इन्द्रभूति जैसे वेदपाठी ब्राह्मणपुत्र अथवा दशार्णभद्र और श्रेणिक जैसे नरेशों और धन्ना तथा शालिभद्र जैसे श्रेष्ठिरत्नों का है। जैनागमों में वर्णित हरिकेशीबल और अनाथी मुनि के कथानक जाति-भेद तथा धन के अहंकार पर करारी चोट करते हैं। धर्म-साधना का उपदेश तो उस वर्षा के समान है जो ऊँचे पर्वतों पर नीचे खेत-खलिहानों पर, सुन्दर महल अटारियों पर और झोपड़ियों पर समान रूप से होती है। यह बात अलग है कि उस वर्षा के जल को कौन कितना ग्रहण करता है। साधना का राजमार्ग तो उसका है जो उसपर चलता है, फिर वह चलने वाला पूर्व में दुराचारी रहा हो या सदाचारी, धनी रहा हो या निर्धन, उच्चकुलोत्पन्न रहा हो या निम्नकुलोत्पन्न। जैन आचार्य श्रुति के इस कथन को स्वीकार नहीं करते हैं कि ब्राह्मणों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रियों की बाहु से, वैश्यों की जाँघ से तथा शूद्रों की पैरों से होती है[2]। जन्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र प्रधान वर्ण-व्यवस्था जैनधर्म को स्वीकार नहीं है। जैनाचार्यों का कहना है कि सभी मनुष्य योनि से ही उत्पन्न होते हैं।[3] अतः ब्रह्मा के विभिन्न अंगों से उनकी उत्पत्ति बताकर शारीरिक अंगों की उत्तमता या निकृष्टता के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का विधान नहीं किया जा सकता। शारीरिक विभिन्नता के आधार पर भी किया जाने वाला वर्गीकरण मात्र स्थावर, पशु-पक्षी इत्यादि के विषय में ही सत्य हो सकता

---

१. आचारांग १।२।६।१०२

२. यजुर्वेद, ३१।१०, ऋग्वेद पुरुषसूक्त १०।९०।१२

३. अभिधान राजेन्द्र खण्ड ४, पृ० १४४१

सकता है, मनुष्यों के सम्बन्ध में नहीं। जन्मना सभी मनुष्य समान हैं। मनुष्यों की एक ही जाति है।[१] जन्म के आधार पर जाति का निश्चय नहीं किया जा सकता। मत्स्यगंधा (मल्लाह की कन्या) के गर्भ से महर्षि पराशर द्वारा उत्पन्न महामुनि व्यास अपने उत्तम कर्मो के कारण ब्राह्मण कहलाये। मतलब यह कि कर्म या आचरण के आधार पर ही चातुर्वर्ण्य व्यवस्था निर्णय करना उचित है। जिस प्रकार शिल्प-कला का व्यसायी शिल्पी कहलाता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला ब्राह्मण कहलाता है। जैन-विचारणा जन्मना जातिवाद का निरसन करती है। कर्मणा वर्ण-व्यवस्था से उसका कोई सैद्धान्तिक विरोध नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि मनुष्य कर्म से ही ब्राह्मण होता है, कर्म से ही क्षत्रिय होता है और कर्म से ही वैश्य और शूद्र होता है।[२] मुनि चौथमल जी निर्ग्रन्थ-प्रवचन भाष्य में कहते हैं कि एक व्यक्ति दुःशील, अज्ञानी और प्रकृति से तमोगुणी होने पर भी अमुक वर्ण वाले के घर में जन्म लेने के कारण समाज में पूज्य, आदरणीय, प्रतिष्ठित और ऊँचा समझा जाय, और दूसरा व्यक्ति सुशील, ज्ञानी और सतोगुणी होने पर भी केवल अमुक कुल में जन्म लेने के कारण नीच और तिरस्करणीय माना जाय, यह व्यवस्था समाजघातक है। इतना ही नहीं, ऐसा मानने से न केवल समाज के एक बहुसंख्यक भाग का अपमान होता है, प्रत्युत यह सद्गुण और सदाचार का भी घोर अपमान होता है। इस व्यवस्था को अंगीकार करने से दुराचारी सदाचारी से ऊँचा उठ जाता है, अज्ञान ज्ञान पर विजयी होता है और तमोगुण सतोगुणके सामने आदरास्पद बन जाता है। यह ऐसी स्थिति है जो गुणग्राहक विवेकीजनों को सह्य नहीं हो सकती[३] अर्थात् जाति की अपने आपमें कोई विशेषता नहीं है, महत्त्व नैतिक सदाचरण (तप) का है। जैन-विचारणा यह तो स्वीकार करती है कि लोक-व्यवहार या आजीविका के हेतु किये गये कर्म (व्यवसाय) के आधार पर समाज का वर्गीकरण किया जा सकता है, लेकिन इस व्यावसायिक या सामाजिक व्यवस्था के क्षेत्र में किये जाने वाले विभिन्न कर्मों के वर्गीकरण के आधार पर किसी वर्ग की श्रेष्ठता या हीनता का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। किसी व्यक्ति की श्रेष्ठता या हीनता का आधार व्यावसायिक कर्म नहीं है, वरन् व्यक्ति की नैतिक योग्यता या सद्गुणों का विकास है। उत्तराध्ययन में निर्देश है कि साक्षात् तप का ही माहात्म्य दिखाई देता है, जाति की कुछ भी विशेषता नहीं दिखाई देती। चाण्डालपुत्र हरिकेशी मुनि को देखो, जिनकी महाप्रभावशाली ऋद्धि है।[४]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन विचारणा का वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में निम्न दृष्टिकोण है। १. वर्ण-व्यवस्था जन्म के आधार पर स्वीकार नहीं की गई वरन् उसका

---

१. अभिधान राजेन्द्र खण्ड ४, पृ० १४४१
२. उत्तराध्ययन, २५।३३
३. निर्ग्रन्थ-प्रवचन-भाष्य, पृ० २८९
४. उत्तराध्ययन, १२।३७

आधार कर्म है। २. वर्ण परिवर्तनीय है। ३. श्रेष्ठत्व का आधार वर्ण या व्यवसाय नहीं, वरन् नैतिक विकास है। ४. नैतिक साधना का द्वार सभी के लिए समान रूप से खुला है। चारों ही वर्ण श्रमण-संस्था में प्रवेश पाने के अधिकारी हैं। यद्यपि प्राचीन समय में श्रमण-संस्था में चारों ही वर्ण प्रवेश के अधिकारी थे, यह आगमिक प्रमाणों से सिद्ध है; लेकिन परवर्ती जैन आचार्यों ने मातङ्ग, मछुआ आदि जाति-जुङ्गित और नट, पारधी आदि कर्म-जुङ्गित लोगों को श्रमण-संस्था में प्रवेश के अयोग्य माना। लेकिन यह जैन-विचारधारा का मौलिक मन्तव्य नहीं है, वरन् ब्राह्मण-परम्परा का प्रभाव है। इस व्यवस्था का विधान करनेवाले आचार्य ने इसके लिए मात्र लोकापवाद का ही तर्क दिया है, जो अपने आपमें कोई ठोस तर्क नहीं वरन् अन्य परम्परा के प्रभाव का ही द्योतक है।[1] इसी प्रकार दक्षिण में विकसित जैनधर्म की दिगम्बर-परम्परा में जो शूद्र के अन्न-जल ग्रहण का निषेध तथा शूद्र की मुक्ति निषेध की अवधारणाएँ विकसित हुई हैं, वे भी ब्राह्मण-परम्परा का प्रभाव हैं।

बौद्ध आचार दर्शन में वर्ण-व्यवस्था—बौद्ध आचार-दर्शन भी वर्ण-धर्म का निषेध नहीं करता है, लेकिन वह उनको जन्मगत आधार पर स्थित नहीं मानता है। बौद्ध-धर्म के अनुसार भी वर्णव्यवस्था जन्मना नहीं, कर्मणा है। कर्मों से ही मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र बनता है, न कि उन कुलों में जन्म लेने मात्र से। बौद्धागमों में जातिवाद के खण्डन के अनेक प्रसंग मिलते हैं, लेकिन उन सबका मूलाशय यही है कि जाति या वर्ण आचरण के आधार पर बनता है, न कि जन्म के आधार पर। भगवान् बुद्ध ने जहाँ कहीं जातिवाद का निरसन किया है, वहाँ जाति से उनका तात्पर्य शरीर रचना सम्बन्धी विभेद से नहीं, जन्मना जातिवाद से ही है। बुद्ध के अनुसार जन्म के आधार पर किसी प्रकार के जातिवाद की स्थापना नहीं की जा सकती। सुत्तनिपात के निम्न प्रसंग में इस बात को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

वसिष्ठ एवं भरद्वाज जातिवाद सम्बन्धी विवाद को लेकर बुद्ध के सम्मुख उपस्थित होते हैं। वसिष्ठ बुद्ध से कहते हैं, "गौतम! जाति-भेद के विषय में हमारा विवाद है, भरद्वाज कहता है कि ब्राह्मण जन्म से होता है, मैं तो कर्म से बताता हूँ। हमलोग एक दूसरे को अवगत नहीं कर सकते हैं, इसलिए सम्बुद्ध (नाम से) विख्यात आपसे (इस विषय में) पूछने आये हैं।"

बुद्ध कहते हैं, "हे वसिष्ठ! मैं क्रमशः यथार्थ रूप से प्राणियों के जातिभेद को बताता हूँ जिनसे भिन्न-भिन्न जातियाँ होती हैं। तृण, वृक्षों को जानो। यद्यपि वे इस बात का दावा ही नहीं करते, फिर भी उनमें जातिमय लक्षण है जिससे भिन्न-भिन्न जातियाँ होती हैं। कीटों, पतंगों और चीटियों तक में जातिमय लक्षण हैं जिससे उनमें भिन्न-भिन्न

१. प्रवचन-सारोद्धार १०७

जातियाँ होती हैं। छोटे-बड़े जानवरों को भी जानों, उनमें भी जाति मय लक्षण हैं जिससे भिन्न-भिन्न जातियाँ होती हैं। जिस प्रकार इन जातियों में भिन्न-भिन्न जातिमय लक्षण हैं, उस प्रकार मनुष्यों में भिन्न-भिन्न जातिमय लक्षण नहीं हैं।

"ब्राह्मण माता की कोख से उत्पन्न होने से ही मैं किसी को ब्राह्मण नहीं कहता। जो सम्पत्तिशाली है (वह) धनी कहलाता है; जो अकिंचन है, तृष्णा रहित है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ। न कोई जन्म से ब्राह्मण होता है और न जन्म से अब्राह्मण। ब्राह्मण कर्म से होता है और अब्राह्मण भी कर्म से। कृषक कर्म से होता है, शिल्पी कर्म से होता है, वणिक् कर्म से होता है, और सेवक भी कर्म से होता है, चोर भी कर्म से होता है, योद्धा भी कर्म से होता है, याचक भी कर्म से होता है और राजा भी कर्म से होता है।[1]"

इस प्रकार बुद्ध जन्मना जातिवाद के स्थान पर कर्मणा जातिवाद की धारणा को स्वीकार करते हैं, लेकिन कर्मणा जातिवाद की मान्यता में भी बुद्ध न तो यह स्वीकार करते हैं कि वैयक्तिक दृष्टि से जातिवाद कोई स्थायी तत्त्व है, जिसमें जन्म लेने पर या उस व्यवसाय के चयन के बाद परिवर्तन नहीं कर सकता और न यह है कि व्यवसायों की दृष्टि से कोई उच्च और कोई नीच है। बुद्ध ब्राह्मणों के श्रेष्ठत्व को भी स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि कोई भी मनुष्य आचरण (नैतिक विकास) के आधार पर श्रेष्ठ या निकृष्ट होता है, न कि जाति या व्यवसाय के आधार पर। भगवान् बुद्ध की उपर्युक्त धारणा का स्पष्टीकरण मज्झिमनिकाय के अस्सलायनसुत्त में मिलता है, जिसमें भगवान् बुद्ध ने जाति-भेद सम्बन्धी मिथ्या धारणाओं का निरसन कर चारों वर्गों के मोक्ष या नैतिक शुद्धि की धारणा की प्रतिस्थापना की है। उक्त सुत्त के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश निम्न प्रकार हैं। हे गौतम! ब्राह्मण ऐसा कहते हैं—ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, दूसरे वर्ण छोटे हैं। ब्राह्मण ही शुक्ल वर्ण है, दूसरे वर्ण कृष्ण हैं। ब्राह्मण ही शुद्ध है, अब्राह्मण नहीं। ब्राह्मण ही ब्रह्मा के औरस पुत्र हैं, उनके मुख से उत्पन्न हैं, ब्रह्मनिर्मित हैं, ब्रह्मा के दायाद (उत्तराधिकारी) हैं। इस विषय में आप क्या कहते हैं?[2] बुद्ध ने इसका प्रतिवाद करते हुए वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया है।

ब्रह्मज कहना झूठ है—आश्वलायन ब्राह्मणों की ब्राह्मणियाँ ऋतुमती एवं गर्भिणी होती, प्रसव करती, दूध पिलाती देखी जाती हैं। योनि से उत्पन्न होते हुए भी वे ऐसा कहते हैं कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है। इस प्रकार बुद्ध ब्राह्मण के ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने की धारणा का खण्डन करते हैं।

---

१. सुत्तनिपात, ३५।३-३७, ५७-५९

२. मज्झिमनिकाय २।५।३-उद्धृत-जातिभेद और बुद्ध, पृ० ७

वर्ण-परिवर्तन सम्भव है—तो क्या मानते हो आश्वलायन ! तुमने सुना है कि यवन, कम्बोज और दूसरे भी सीमान्त देशों में दो ही वर्ण होते हैं आर्य और दास (गुलाम) आर्य भी दास हो सकता है और दास भी आर्य हो सकता है।[१]

हाँ, मैंने सुना है कि यवन और कम्बोज में ऐसा होता है। इस आधार पर बुद्ध वर्ण-परिवर्तन को सम्भव मानते हैं।

सभी जाति समान हैं—तो क्या मानते हो आश्वलायन ! क्षत्रिय प्राणिहिंसक, चोर, दुराचारी, झूठा, चुगलखोर, कटुभाषी, बकवादी, लोभी, द्वेषी, झूठी धारणा वाला हो, तो शरीर छोड़ मरने के बाद नरक में उत्पन्न होगा या नहीं ? ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, प्राणि-हिंसक हो, तो नरक में उत्पन्न होंगे या नहीं ? 'हे गौतम क्षत्रिय भी प्राणि-हिंसक हो तो नरक में उत्पन्न होगा और ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र भी।'

"तो क्या मानते हो आश्वलायन ! क्या ब्राह्मण ही प्राणि-हिंसा से विरत हो, तो अच्छी गति प्राप्त कर स्वर्ग लोग में उत्पन्न हो सकता है और क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण नहीं।"

"नहीं, हे गौतम ! क्षत्रिय भी यदि प्राणिहिंसा से विरत हो, तो अच्छी गति प्राप्त कर स्वर्गलोक में उत्पन्न हो सकता है और ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र वर्ण भी।"

"तो क्या मानते हो आश्वलायन ! क्या ब्राह्मण ही वैर रहित, द्वेष रहित मैत्री-चित्त की भावना कर सकता है, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र नहीं।"

इस प्रकार बुद्ध स्वयं आश्वलायन के प्रति उत्तरों से ही सभी जातियों की समानता का प्रतिपादन करते हैं और यह बताते हैं कि सभी नैतिक विकास कर सकते हैं।

आचरण ही श्रेष्ठ है—तो क्या मानते हो आश्वलायन ! यदि यहाँ दो माणवक जुड़वे भाई हों, एक अध्ययन करने वाला, उपनीत, किन्तु दुःशील, पापी हो; दूसरा अध्ययन न करने वाला, अनुपनीत, किन्तु शीलवान्, पुण्यात्मा हो। इनमें ब्राह्मण श्राद्ध, यज्ञ या पहुनाई में पहले किसको भोजन करायेंगे।"

"हे गौतम ! वह माणवक जो अध्ययन न करने वाला, अनुपनीत, किन्तु शीलवान्, कल्याणधर्मा है, उसी को ब्राह्मण पहले भोजन करायेंगे। दुःशील, पापधर्मा को दान देने से क्या महाफल होगा ?"

"आश्वलायन ! पहले तू जाति पर पहुँचा, जाति से मंत्रों पर पहुँचा, मंत्रों से अब तू चातुर्वर्णी-शुद्धि पर आ गया, जिसका मैं उपदेश करता हूँ।[२]

गीता तथा वर्ण-व्यवस्था—वास्तव में हिन्दू आचार-दर्शन में भी वर्ण-व्यवस्था जन्म

१. मज्झिमनिकाय २।५।३-उद्धृत जातिभेद और बुद्ध, पृ० ८

२. मज्झिमनिकाय, २।५।३

पर नहीं, वरन् कर्म पर ही आधारित है। गीता में श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का निर्माण गुण और कर्म के आधार पर ही किया गया है।[१] डॉ० राधाकृष्णन् लिखते हैं, यहाँ जोर गुण और कर्म पर दिया गया है, जाति (जन्म) पर नहीं। हम किस वर्ण के हैं, यह बात लिंग या जन्म पर निर्भर नहीं है। स्वभाव और व्यवसाय द्वारा निर्धारित जाति नियत होती है।[२] युधिष्ठिर कहते हैं, "तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में केवल आचरण (सदाचार) ही जाति का निर्धारक तत्त्व है।"[३] वनपर्व में कहा गया है, "ब्राह्मण न जन्म से होता है, न संस्कार से, न कुल से, और न वेद के अध्ययन से, ब्राह्मण केवल व्रत (आचरण) से होता है।"[४] बौद्धागम सुत्त-निपात के समान महर्षि अत्रि भी कहते हैं, जो ब्राह्मण धनुष-बाण और अस्त्र-शस्त्र लेकर युद्ध में विजय पाता है वह क्षत्रिय कहलाता है। जो ब्राह्मण खेती बाड़ी और गोपालन करता है, जिसका व्यवसाय वाणिज्य है वह वैश्य कहलाता है। जो ब्राह्मण लाख, लवण, केसर, दूध, मक्खन, शहद और मांस बेचता है वह शूद्र कहलाता है। जो ब्राह्मण चोर, तस्कर, नट का कर्म करने वाला, मांस काटने वाला और मांस-मत्स्य भोगी है वह निषाद कहलाता है। क्रियाहीन, मूर्ख सर्व धर्म विवर्जित, सब प्राणियों के प्रति निर्दय ब्राह्मण चाण्डाल कहलाता है।[५]

डॉ० भिखन लाल आत्रेय ने भी गुण-कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का समर्थन किया है[६]—(अ) प्राचीन वर्ण-व्यवस्था कठोर नहीं थी, लचीली थी। वर्ण-परिवर्तन का अधिकार व्यक्ति के अपने हाथ में था, क्योंकि आचरण के कारण वर्ण परिवर्तित हो जाता था। उपनिषदों में वर्णित सत्यकाम जाबाल की कथा इसका उदाहरण है।[७] सत्यकाम जाबाल की सत्यवादिता के आधार पर ही उसे ब्राह्मण मान लिया गया था। (ब) मनस्मृति में भी वर्ण-परिवर्तन का विधान है; लिखा है कि "सदाचार के कारण शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और दुराचार के कारण ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। यही बात क्षत्रिय और वैश्य के सम्बन्ध में भी है।"[८] नैतिक दृष्टि से गीता के आचार-दर्शन के अनुसार भी कोई एक वर्ण दूसरे वर्ण से श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि नैतिक विकास वर्ण पर निर्भर नहीं होता है। व्यक्ति स्वाभावानुकूल किसी भी भी वर्ण के नियत कर्मों का सम्पादन करते हुए नैतिक पूर्णता या सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।[९] वर्ण-व्यवस्था के द्वारा निहित कर्म नैतिक दृष्टि से अच्छे या बुरे नहीं होते,[१०] सहज कर्म सदोष होने पर त्याज्य नहीं होते।[११]

---

१. गीता ४।१३, १८।४१
२. भगवद्गीता (रा०), पृ० १६३
३. उद्धृत–भगवद्गीता (रा०), पृ० १६३
४. महाभारत वनपर्व ३१३।१०८
५. अत्रिस्मृति, १।३७४-३८०
६. भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास पृ० ६२५
७. छान्दोग्य० ४।४
८. मनुस्मृति, १०।६५
९. गीता, १८।४५-४६
१०. वही, १८।४७
११. वही, १८।४८

क्योंकि वे नैतिक विकास को अवरूद्ध नहीं करते। वस्तुतः गीता में वर्ण-व्यवस्था के पीछे जो गुण-कर्म की धारणा है, उसे किंचित् गहराई से समझना होगा। गुण और कर्म में भी, वर्ण-निर्धारण में गुण प्राथमिक है, कर्म का चयन तो स्वयं ही गुण पर निर्भर है। गीता का मुख्य उपदेश अपनी योग्यता या गुण के आधार पर कर्म करने का है। उसका कहना है कि योग्यता, स्वभाव अथवा गुण के आधार पर ही व्यक्ति की सामाजिक जीवन प्रणाली का निर्धारण होना चाहिए।[1] समाज-व्यवस्था में अपने कर्तव्य-निर्वाह और आजीवका के उपार्जन के हेतु व्यक्ति को कौनसा व्यवसाय या कर्म चुनना चाहिए, यह बात उसकी योग्यता अथवा स्वभाव पर ही निर्भर है। यदि व्यक्ति अपने गुणों या योग्यताओं के प्रतिकूल व्यवसाय या सामाजिक कर्तव्य को चुनता है, तो उसके इस चयन से जहाँ उसके जीवन की सफलता धूमिल होती है वहीं समाज-व्यवस्था भी अस्तव्यस्तता आती है।

गीता में वर्ण-व्यवस्था के पीछे एक मनोवैज्ञानिक आधार रहा है जिसका समर्थन डा० राधाकृष्णन् और पाश्चात्य विचारक श्री गैरल्ड हर्ड ने भी किया है।[1] मानवीय स्वभाव में ज्ञानात्मकता या जिज्ञासावृत्ति, साहस या नेतृत्व-वृत्ति, संग्रहात्मकता और शासित होने की प्रवृत्ति या सेवा भावना पायी जाती है। सामान्यतः मनुष्यों में इन वृत्तियों का समान रूप से विकास नहीं होता है। प्रत्येक मनुष्य में इनमें से किसी एक का प्राधान्य होता है। दूसरी ओर सामाजिक दृष्टि से समाज-व्यवस्था में चार प्रमुख कार्य हैं १. शिक्षणु, २. रक्षणु, ३. उपार्जन और ४. सेवा। अतः यह आवश्यक माना गया है कि व्यक्ति अपने स्वभाव में जिस वृत्ति का प्राधान्य हो, उसके अनुसार सामाजिक व्यवस्था में अपना कार्य चुने। जिसमें बुद्धि नैर्मल्य और जिज्ञासा-वृत्ति हो, वह शिक्षण का कार्य करे, जिसमें साहस और नेतृत्व-वृत्ति हो वह रक्षण का कार्य करे, जिसमें विनियोग तथा संग्रह-वृत्ति हो वह उपार्जन का कार्य करे और जिसमें दैन्यवृत्ति या सेवावृत्ति हो वह सेवाकार्य करे। इस प्रकार जिज्ञासा, नेतृत्व, विनियोग और दैन्य की स्वभाविक वृत्तियों के आधार पर शिक्षण, रक्षण, उपार्जन और सेवा के सामाजिक कार्यो का विभाजन किया गया और इसी आधार पर क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये वर्ण बने। इस स्वभाव के अनुसार व्यवसाय या वृत्ति में विभाजन में श्रेष्ठत्व और हीनत्व का कोई प्रश्न नहीं उठता। गीता तो स्पष्ट रूप से कहती है कि जिज्ञासा, नेतृत्व, संग्रहवृत्ति और दैन्य आदि सभी वृत्तियाँ त्रिगुणात्मक हैं अतः सभी दोषपूर्ण हैं।[2] गीता की दृष्टि में नैतिक श्रेष्ठत्व इस बात पर निर्भर नहीं है कि व्यक्ति क्या कर रहा है या किन सामाजिक कर्तव्यों का पालन कर रहा है, वरन् इस बात पर निर्भर है कि वह उनका

---

१. भगवद्गीता (रा०), पृ० ३५३ २. गीता, १८।४८, गीता (शां०) १८।४१, ४८

पालन किस निष्ठा और योग्यता के साथ कर रहा है। गीता के अनुसार यदि एक शूद्र अपने कर्तव्यों का पालन पूर्ण निष्ठा और कुशलता से करता है तो वह अनैष्ठिक और अकुशल ब्राह्मण की अपेक्षा नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ है। गीता के आचार-दर्शन की भी यह विशिष्टता है कि वह भी जैन-दर्शन के समान साधना पथ का द्वार सभी के लिए खोल देता है। गीता यद्यपि वर्णाश्रम धर्म को स्वीकृत करती है, लेकिन उसका वर्णाश्रम धर्म तो सामाजिक मर्यादा के सन्दर्भ में ही है। आध्यात्मिक विकास का सामाजिक मर्यादाओं के परिपालन से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। गीता स्पष्टतया यह स्वीकार करती है कि व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से स्वस्थान के निम्नस्तरीय कर्मों का सम्पादन करते हुए भी आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से ऊँचाइयों पर पहुँच सकता है।

श्री कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि व्यक्ति चाहे अत्यन्त दुराचारी रहा हो अथवा स्त्री, शूद्र या वैश्य हो अथवा ब्राह्मण या राजर्षि हो, यदि वह सम्यक्रूपेण मेरी उपासना करता है तो वह श्रेष्ठ गति को ही प्राप्त करता है।[1] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता के अनुसार आध्यात्मिक विकास का द्वार सभी के लिए समान रूप से खुला हुआ है। जो लोग नैतिक या आध्यात्मिक विकास को आचरण के बाह्य तथ्यों या वैयक्तिक जीवन के पूर्वरूप या व्यक्ति के सामाजिक स्वस्थान से बांधने की कोशिश करते हैं, वे भ्रान्ति में हैं। गीता के आचार-दर्शन के अनुसार सामाजिक स्वस्थान के कर्तव्यों के परिपालन और नैतिक या आध्यात्मिक विकास के कर्तव्यों में कोई संघर्ष नहीं क्योंकि दोनों के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। इस प्रकार गीता के अनुसार वर्ण-व्यवस्था का सम्बन्ध सामाजिक कर्तव्यों के परिपालन से है। लेकिन विशिष्ट सामाजिक कर्तव्यों के परिपालन से व्यक्ति श्रेष्ठ या हीन नहीं बन जाता है, उसकी श्रेष्ठता और हीनता का सम्बन्ध तो उसके नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास से है।

इस प्रकार जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में समान दृष्टिकोण रखते हैं। उनके दृष्टिकोण को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

१. वर्ण का आधार जन्म नहीं वरन् गुण (स्वभाव) और कर्म है।
२. वर्ण अपरिवर्तनीय नहीं है। व्यक्ति अपने स्वभाव, आचरण और कर्म में परिवर्तन कर वर्ण परिवर्तित कर सकता है।
३. वर्ण का सम्बन्ध सामाजिक कर्तव्यों से है, लेकिन कोई भी सामाजिक कर्तव्य या व्यवसाय अपने आपमें न श्रेष्ठ है, न हीन है। व्यक्ति की श्रेष्ठता और हीनता उसके सामाजिक कर्तव्य पर नहीं, वरन् उसकी नैतिक निष्ठा पर निर्भर है।
४. नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास का अधिकार सभी वर्ण के लोगों को प्राप्त है।

---
१. गीता, ९।३०, ३२, ३३

आश्रम-धर्म

'आश्रम' शब्द श्रम से बना है। श्रम का अर्थ है प्रयास या प्रयत्न। जीवन के विभिन्न साध्यों की उपलब्धि के लिए प्रत्येक आश्रम में एक विशेष प्रयत्न होता है। जिस प्रकार जीवन के चार साध्य या मूल्य—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष माने गये हैं, उसी प्रकार जीवन के इन चार साध्यों की उपलब्धि के लिए इन चार आश्रमों का विधान है। ब्रह्मचर्याश्रम विद्यार्जन के लिए है और इस रूप में वह चारों ही आश्रमों की एक पूर्व तैयारी रूप है। गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम पुरुषार्थो की सिद्धि के लिए विशेष प्रयत्न किया जाता है जबकि धर्म पुरुपार्थ की साधना वानप्रस्थाश्रम में और मोक्ष पुरुपार्थ की साधना संन्यास आश्रम में की जाती है। यह स्मरणीय है कि वर्ण का सिद्धान्त सामाजिक जीवन के लिए है, किन्तु आश्रम का सिद्धान्त वैयक्तिक है। आश्रम सिद्धान्त यह बताता है कि व्यक्ति का आध्यात्मिक लक्ष्य क्या है, उसे अपने को किस प्रकार ले चलना है तथा अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे कैसी तैयारी करनी है। डा० काणे के अनुसार आश्रम-सिद्धान्त एक उत्कृष्ट धारणा थी। भले ही इसे भलीभाँति क्रियान्वित नहीं किया जा सका, परन्तु इसके लक्ष्य या उद्देश्य बड़े ही महान् और विशिष्ट थे।[1] आश्रम-संस्था का विकास कब हुआ, यह कहना कठिन है। लगभग सभी भारतीय आचार-दर्शनों के ग्रन्थों में आश्रम-सिद्धान्त सम्बन्धी विवेचन उपलब्ध हो जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् के काल तक हमें तीन आश्रमों का विवेचन उपलब्ध होता है। उस युग तक संन्यास आश्रम की विशेष चर्चा सुनाई देती है। संन्यास और वानप्रस्थ सामान्यतया एक ही माने गये थे, लेकिन परवर्ती साहित्य में चारों ही आश्रमों का विधान और उसके विधि-निषेध के नियम विस्तार से उपलब्ध हैं।

वैदिक परम्परा में चारों आश्रमों के सम्बन्ध में तीन विकल्पों की चर्चा उपलब्ध होती है:—१. समुच्चय, २ विकल्प एवं ३. बाध। मनु ने इन चारों आश्रमों में समुच्चय का सिद्धान्त स्वीकार किया है। उनके अनुसार प्रत्येक मनुष्य को क्रमशः चारों ही आश्रमों का अनुसरण करना चाहिए। दूसरे मत के अनुसार आश्रमों की इस अवस्था में विकल्प हो सकता है, अर्थात् मनुष्य इच्छानुसार इनमें से किसी एक आश्रम को ग्रहण कर सकता है। बाध के सिद्धान्त के अनुसार गृहस्थाश्रम ही एक मात्र वास्तविक आश्रम है और अन्य आश्रम अपेक्षाकृत उससे कम मूल्य वाले हैं। आश्रम-व्यवस्था के सन्दर्भ में विकल्प सिद्धान्त यह मानता है कि ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास में से किसी भी आश्रम को ग्रहण किया जा सकता है। जाबालोपनिषद् एवं आचार्य शंकर ने इस मत का समर्थन किया है। उनके अनुसार जब भी वैराग्य उत्पन्न

---

१ विस्तृत विवेचन के लिए देखिए—धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० २६४-२६७

हो जाय तभी प्रव्रज्या ग्रहण कर लेना चाहिए[1] बाध सिद्धान्त को मानने वाले गौतम एवं बौधायन हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार गृहस्थाश्रम ही सर्वोत्कृष्ट है। इस मत के कुछ विचारकों ने वानप्रस्थ एवं संन्यास को कलियुग में वर्ज्य मान लिया है।[2]

वैदिक परम्परा में आश्रम-सिद्धान्त जीवन को चार भागों में विभाजित कर उनमें से प्रत्येक भाग में एक-एक आश्रम के अनुसार जीवन व्यतीत करने का निर्देश देता है। प्रथम भाग में ब्रह्मचर्य, दूसरे में गृहस्थ, तीसरे में वानप्रस्थ और चौथे में संन्यास-आश्रम ग्रहण करना चाहिए।

जैन-परम्परा और आश्रम-सिद्धान्त—श्रमण-परम्पराओं में आयु के आधार पर आश्रमों के विभाजन का सिद्धान्त उपलब्ध नहीं होता। यदि हम वैदिक-विचारधारा की दृष्टि से तुलनात्मक विचार करें तो यह पाते हैं कि श्रमण-परम्पराएँ आश्रम-सिद्धान्त के सन्दर्भ में विकल्प के नियम को ही महत्त्व देती है। उनके अनुसार संन्यास-आश्रम ही सर्वोच्च है और व्यक्ति को जब भी वैराग्य उत्पन्न हो जाये तभी इसे ग्रहण कर लेना चाहिये। उनका मत जाबालोपनिषद् और शंकर के अधिक निकट है। श्रमण-परम्पराओं में ब्रह्मचर्या-श्रम का भी विशेष विवेचन उपलब्ध नहीं होता। चूँकि श्रमण-परम्पराओं ने आध्यात्मिक जीवन पर ही अधिक जोर दिया अतः उनमें ब्रह्मचर्याश्रम के लौकिक शिक्षाकाल और गृहस्थाश्रम के लौकिक विधानों के सन्दर्भ में कोई विशेष दिशा-निर्देश उपलब्ध नहीं होता। लौकिक जीवन की शिक्षा ग्रहण करने के लिए सामान्यतया व्यावसायिक ब्राह्मण शिक्षकों के पास ही विद्यार्थी जाते थे, क्योंकि श्रमण-वर्ग सामान्यतया आध्यात्मिक शिक्षा ही प्रदान करता था। गृहस्थाश्रम के सन्दर्भ में आध्यात्मिक विकास एवं सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से यद्यपि श्रमण-परम्पराओं में नियम उपलब्ध हैं, लेकिन विवाह एवं पारिवारिक जीवन के सन्दर्भ में सामान्यतया नियमों का अभाव ही है।

यद्यपि परवर्ती जैनाचार्यों ने हिन्दू धर्म की इस आश्रम व्यवस्था को धीरे-धीरे स्वीकार कर लिया और उसे जैन-परम्परा के अनुरूप बनाने का प्रयास किया। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में यह स्वीकार किया है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षु ये चारों आश्रम जैनधर्म के अनुसार उत्तरोत्तर शुद्धि के परिचायक हैं।[3] जैन परम्परा में ये चारों आश्रम स्वीकृत रहे हैं। ब्रह्मचर्याश्रम को लौकिक जीवन की शिक्षा-काल के रूप में तथा गृहस्थाश्रम को गृहस्थ-धर्म के रूप में एवं वानप्रस्थ आश्रम को ब्रह्मचर्य प्रतिमा से लेकर उद्दिष्टविरत या श्रमणभूत प्रतिमा की साधना के रूप में अथवा सामायिक-चारित्र के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। संन्यास-आश्रम तो श्रमण जीवन के रूप में स्वीकृत है ही। इस प्रकार चारों ही आश्रम जैन-परम्परा में भी

---

१. जाबालोपनिषद् ३।१ २. देखिए—धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० २६७

३. आदिपुराण ३९।१५२

स्वीकृत हैं। बौद्ध-परम्परा और जैन-परम्परा दोनों में आश्रम-सिद्धान्त के सन्दर्भ में समान दृष्टिकोण ही स्वीकृत रहा है।

बौद्ध-परम्परा और आश्रम-सिद्धान्त—बौद्ध-परम्परा भी जैन-परम्परा के दृष्टिकोण के समान ही आश्रम-सिद्धान्त के सन्दर्भ में विकल्प के सिद्धान्त को स्वीकार करती है। उसके अनुसार संन्यास-आश्रम (श्रमण-जीवन) ही सर्वोच्च है और व्यक्ति जब भी वैराग्य भावना से युक्त हो जाये, उसे प्रव्रज्या ग्रहण कर लेनी चाहिए। बौद्ध-परम्परा में भी ब्रह्मचर्याश्रम शिक्षण-काल के रूप में, गृहस्थाश्रम गृहस्थ-धर्म के रूप में, वानप्रस्थ आश्रम श्रामणेर के रूप में और संन्यास आश्रम श्रमण-जीवन के रूप में स्वीकृत है। जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं का आश्रम-विचार निम्न तालिका से स्पष्ट है:—

	वैदिक-परम्परा	जैन-परम्परा	बौद्ध-परम्परा
१.	ब्रह्मचर्याश्रम	शिक्षण-काल	शिक्षण-काल
२.	गृहस्थाश्रम	गृहस्थ-धर्म	गृहस्थ-धर्म
३.	वानप्रस्थाश्रम	प्रतिमायुक्त गृहस्थ जीवन या सामायिकचारित्र	श्रामणेर दीक्षा
४.	संन्यासाश्रम	छेदोपस्थापनीयचारित्र	उपसम्पदा

सामान्यतः आश्रम-सिद्धान्त का निर्देश यही है कि मनुष्य क्रमशः नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति करता हुआ तथा वासनामय जीवन के ऊपर विजय प्राप्त करता हुआ मोक्ष के सर्वोच्च साध्य को प्राप्त कर सके।

गीता में स्वधर्म

गीता जब यह कहती है कि स्वधर्म का पालन करते हुए मरना भी श्रेयस्कर है, क्योंकि परधर्म भयावह है,[1] तो हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि इस स्वधर्म और परधर्म का अर्थ क्या है ? यदि नैतिकता की दृष्टि से स्वधर्म में होना ही कर्तव्य है तो हमें यह जान लेना होगा कि यह स्वधर्म क्या है ।

यदि गीता के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता के अनुसार स्वधर्म का अर्थ व्यक्ति के वर्णाश्रम के कर्तव्यों के परिपालन से है । गीता के दूसरे अध्याय में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि स्वधर्म व्यक्ति का वर्ण-धर्म है । लोकमान्य तिलक स्वधर्म का अर्थ वर्णाश्रम धर्म ही करते हैं । वे लिखते हैं कि "स्वधर्म वह व्यवसाय है कि जो स्मृतिकारों की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के लिए उसके स्वभाव के आधार पर नियत कर दिया गया है, स्वधर्म का अर्थ मोक्षधर्म नहीं है ।[2] गीता के अठारहवें अध्याय में यह बात अधिक स्पष्ट कर दी गई है कि प्रत्येक वर्ण के स्वभाविक कर्तव्य क्या हैं ।[3] गीता यह मानती है कि व्यक्ति के वर्ण का निर्धारण उसकी प्रकृति, गुण या स्वभाव के आधार पर होता है[4] और उस स्वभाव के अनुसार उसके लिए कुछ कर्तव्यों का निर्धारण कर दिया गया हैं, जिसका परिपालन करना उसका नैतिक कर्तव्य है । इस प्रकार गीता व्यक्ति के स्वभाव या गुण के आधार पर कर्तव्यों का निर्देश करती है । उन कर्तव्यों का परिपालन करना ही व्यक्ति का स्वधर्म है । गीता का यह निश्चित अभिमत है कि व्यक्ति अपने स्वधर्म या अपने स्वभाव के आधार पर निःसृत स्वकर्तव्य का परिपालन करते हुए सिद्धि या मुक्ति प्राप्त कर लेता है । गीता कहती है कि व्यक्ति अपने स्वाभाविक कर्तव्यों में लगकर उन स्वकर्मो के द्वारा ही उस परमतत्त्व की उपासना करता हुआ सिद्धि प्राप्त करता है ।[5] इस प्रकार गीता व्यक्ति के स्वस्थान के आधार पर कर्तव्य करने का निर्देश करती है । समाज में व्यक्ति के स्वस्थान का निर्धारण उसके अपने स्वभाव (गुण, कर्म) के आधार पर ही होता है । वैयक्तिक स्वभावों का वर्गीकरण और तदनुसार कर्तव्यों का आरोपण गीता में किस प्रकार किया गया है इसकी व्यवस्था वर्ण-धर्म के प्रसंग में की गई है ।

---

१. गीता, ३।३५
२. गीता रहस्य, पृ० ६७३
३. गीता १८।४१-४८
४. वही, ४।१३
५. वही, १८।४५

स्वीकृत हैं। बौद्ध-परम्परा और जैन-परम्परा दोनों में आश्रम-सिद्धान्त के सन्दर्भ में समान दृष्टिकोण ही स्वीकृत रहा है।

बौद्ध-परम्परा और आश्रम-सिद्धान्त—बौद्ध-परम्परा भी जैन-परम्परा के दृष्टिकोण के समान ही आश्रम-सिद्धान्त के सन्दर्भ में विकल्प के सिद्धान्त को स्वीकार करती है। उसके अनुसार संन्यास-आश्रम (श्रमण-जीवन) ही सर्वोच्च है और व्यक्ति जब भी वैराग्य भावना से युक्त हो जाये, उसे प्रव्रज्या ग्रहण कर लेनी चाहिए। बौद्ध-परम्परा में भी ब्रह्मचर्याश्रम शिक्षण-काल के रूप में, गृहस्थाश्रम गृहस्थ-धर्म के रूप में, वानप्रस्थ आश्रम श्रामणेर के रूप में और संन्यास आश्रम श्रमण-जीवन के रूप में स्वीकृत है। जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं का आश्रम-विचार निम्न तालिका से स्पष्ट है:—

	वैदिक-परम्परा	जैन-परम्परा	बौद्ध-परम्परा
१.	ब्रह्मचर्याश्रम	शिक्षण-काल	शिक्षण-काल
२.	गृहस्थाश्रम	गृहस्थ-धर्म	गृहस्थ-धर्म
३.	वानप्रस्थाश्रम	प्रतिमायुक्त गृहस्थ जीवन या सामायिकचारित्र	श्रामणेर दीक्षा
४.	संन्यासाश्रम	छेदोपस्थापनीयचारित्र	उपसम्पदा

सामान्यतः आश्रम-सिद्धान्त का निर्देश यही है कि मनुष्य क्रमशः नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति करता हुआ तथा वासनामय जीवन के ऊपर विजय प्राप्त करता हुआ मोक्ष के सर्वोच्च साध्य को प्राप्त कर सके।

■

गीता में स्वधर्म

गीता जब यह कहती है कि स्वधर्म का पालन करते हुए मरना भी श्रेयस्कर है, क्योंकि परधर्म भयावह है,[1] तो हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि इस स्वधर्म और परधर्म का अर्थ क्या है ? यदि नैतिकता की दृष्टि से स्वधर्म में होना ही कर्तव्य है तो हमें यह जान लेना होगा कि यह स्वधर्म क्या है ।

यदि गीता के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता के अनुसार स्वधर्म का अर्थ व्यक्ति के वर्णाश्रम के कर्तव्यों के परिपालन से है । गीता के दूसरे अध्याय में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि स्वधर्म व्यक्ति का वर्ण-धर्म है । लोकमान्य तिलक स्वधर्म का अर्थ वर्णाश्रम धर्म ही करते हैं । वे लिखते हैं कि "स्वधर्म वह व्यवसाय है कि जो स्मृतिकारों की चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के लिए उसके स्वभाव के आधार पर नियत कर दिया गया है, स्वधर्म का अर्थ मोक्षधर्म नहीं है ।[2] गीता के अठारहवें अध्याय में यह बात अधिक स्पष्ट कर दी गई है कि प्रत्येक वर्ण के स्वभाविक कर्तव्य क्या हैं ।[3] गीता यह मानती है कि व्यक्ति के वर्ण का निर्धारण उसकी प्रकृति, गुण या स्वभाव के आधार पर होता है[4] और उस स्वभाव के अनुसार उसके लिए कुछ कर्तव्यों का निर्धारण कर दिया गया है, जिसका परिपालन करना उसका नैतिक कर्तव्य है । इस प्रकार गीता व्यक्ति के स्वभाव या गुण के आधार पर कर्तव्यों का निर्देश करती है । उन कर्तव्यों का परिपालन करना ही व्यक्ति का स्वधर्म है । गीता का यह निश्चित अभिमत है कि व्यक्ति अपने स्वधर्म या अपने स्वभाव के आधार पर निःसृत स्वकर्तव्य का परिपालन करते हुए सिद्धि या मुक्ति प्राप्त कर लेता है । गीता कहती है कि व्यक्ति अपने स्वाभाविक कर्तव्यों में लगकर उन स्वकर्मों के द्वारा ही उस परमतत्त्व की उपासना करता हुआ सिद्धि प्राप्त करता है ।[5] इस प्रकार गीता व्यक्ति के स्वस्थान के आधार पर कर्तव्य करने का निर्देश करती है । समाज में व्यक्ति के स्वस्थान का निर्धारण उसके अपने स्वभाव (गुण, कर्म) के आधार पर ही होता है । वैयक्तिक स्वभावों का वर्गीकरण और तदनुसार कर्तव्यों का आरोपण गीता में किस प्रकार किया गया है इसकी व्यवस्था वर्ण-धर्म के प्रसंग में की गई है ।

---

१. गीता, ३।३५
२. गीता रहस्य, पृ० ६७३
३. गीता १८।४१-४८
४. वही, ४।१३
५. वही, १८।४५

जैनधर्म में स्वधर्म

जैन-दर्शन में भी स्वस्थान के अनुसार कर्तव्य करने का निर्देश है। प्रतिक्रमणसूत्र में प्रतिक्रमण की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है कि यदि साधक प्रमादवश स्वस्थान के कर्तव्यों से च्युत होकर पर स्थान के कर्तव्यों को अपना लेता है तो पुनः आलोचनापूर्वक परस्थान के आचरण को छोड़कर स्वस्थान के कर्तव्यों पर स्थित हो जाना ही प्रतिक्रमण (पुनः स्वस्थान या स्वधर्म की ओर लौट आना) है।[1] इस प्रकार जैन नैतिकता का स्पष्ट निर्देश है कि साधक को स्वस्थान के कर्तव्यों का ही आचरण करना चाहिए। बृहत्कल्प भाष्यपीठिका में कहा गया है कि स्वस्थान में स्वस्थान के कर्र्तय का आचरण ही श्रेयस्कर और सबल है। इसके विपरीत स्वस्थान में परस्थान के कर्तव्य का आचरण अश्रेयस्कर एवं निष्फल है।[2] जैन आचार-दर्शन यही कहता है कि साधक को अपने बलाबल का निश्चय कर स्वस्थान चुनना चाहिए और स्वस्थान के कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। जैन साधना का आदर्श यही है कि साधक प्रथम अपने देश, काल, स्वभाव और शक्ति के आधार पर स्वस्थान का निश्चय करे अर्थात् गृहस्थ धर्म या साधु धर्म या साधना के अन्य स्तरों में वह किसका परिपालन कर सकता है। स्वस्थान का निश्चय करने के बाद ही उस स्थान के निर्दिष्ट कर्तव्यों के अनुसार नैतिक आचरण करे। दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि साधक अपने बल, पराक्रम, श्रद्धा एवं आरोग्य को अच्छी प्रकार देखभाल कर तथा देश और काल का सम्यक् परिज्ञान कर तदनुरूप कर्तव्य पथ में अपने को नियोजित करे।[3] बृहत्कल्पभाष्य पीठिका के उपरोक्त श्लोक के संदर्भ में टिप्पणी करते हुए उपाध्याय अमरमुनिजी कहते हैं, प्रत्येक जीवन-क्षेत्र में स्वस्थान का बड़ा महत्त्व है, स्वस्थान में जो गुरुत्व है वह परस्थान में कहाँ। जल में मगर जितना बलशाली है, क्या उतना स्थल में भी है? नहीं।[4] यद्यपि स्वस्थान के कर्तव्य के परिपालन का सिद्धान्त जैन और गीता के आचार-दर्शन में समान रूप से स्वीकार हुआ है, लेकिन दोनों में थोड़ा अन्तर भी है—गीता और जैन-दर्शन इस बात में तो एकमत हैं कि व्यक्ति के स्वस्थान का निश्चय उसकी प्रकृति अर्थात् गुण और क्षमता के आधार पर करना चाहिए, लेकिन गीता इसके आधार पर व्यक्ति के सामाजिक स्थान का निर्धारण कर उस सामाजिक स्थान के कर्तव्यों के परिपालन का निर्देश करती है, जबकि जैन-धर्म यह बताता है व्यक्ति को साधना के उच्चतम से निम्नतर विभिन्न स्तरों में किस स्थान पर रहकर उस स्थान के लिए निश्चित आचरण के नियमों का परिपालन करना चाहिए। स्वस्थान और परस्थान का विचार यह कहता है कि साधना के विभिन्न स्तरों में से किसी स्थान पर रहकर उस स्थान के निश्चित आचरण के नियमों का परिपालन करना चाहिए।

---

१. उद्धृत जैनधर्म का प्राण, पृ० १४२ २. बृहद्कल्पभाष्य पीठिका ३२३
३. दशवैकालिक ८।३५ ४. श्रीअमर भारती मार्च १९६५, पृ० ३८

तुलना—जैन विचारणा में स्वस्थान और परस्थान का विचार साधना के स्तरों की दृष्टि से किया जाता है, जबकि गीता में स्वस्थान और परस्थान या स्वधर्म और परधर्म का विचार सामाजिक कर्तव्यों की दृष्टि से किया गया है। जैन-साधना की दृष्टि प्रमुख रूप से वैयक्तिक है, जबकि गीता की दृष्टि प्रमुख रूप से सामाजिक; यद्यपि दोनों विचारधाराएँ दूसरे पक्षों की नितान्त अवहेलना भी नहीं करतीं। इस सम्बन्ध में जैन-विचारणा यह कहती है कि सामान्य गृहस्थ साधक, विशिष्ट गृहस्थ साधक-सामान्य श्रमण अथवा जिनकल्पी श्रमण के अथवा साधना-काल की सामान्य दशा के अथवा विशेष परिस्थितियों के उत्पन्न होने की दशा के आचरण के आदर्श क्या हैं?[1] या आचरण के नियम क्या हैं और गीता समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों के कर्तव्य का निर्देश करती है। गीता आश्रम-व्यवस्था को स्वीकार तो करती है, फिर भी प्रत्येक आश्रम के विशेष कर्तव्य क्या हैं, इसका समुचित विवेचन गीता में उपलब्ध नहीं होता। जैन परम्परा में आश्रम धर्म के कर्तव्यों का ही विशेष विवेचन उपलब्ध होता है। उसमें वर्ण-व्यवस्था को गुण, कर्म के आधार पर स्वीकार किया तो गया है, फिर भी ब्राह्मण के विशेष कर्तव्यों के निर्देश के अतिरिक्त अन्य वर्णों के कर्तव्यों का कोई विवेचन विस्तार से उपलब्ध नहीं होता। वस्तुतः गीता की दृष्टि प्रमुखतः प्रवृत्ति प्रधान होने से उसमें वर्ण-व्यवस्था पर जोर दिया गया है जबकि जैन एवं बौद्ध दृष्टि प्रमुखतः निवृत्तिपरक होने से उनमें निवृत्यात्मक ढंग पर आश्रम धर्मों की विवेचना ही हुई है। जन्मना वर्ण-व्यवस्था का तो जैनों और बौद्धों ने विरोध किया ही था, अतः अपनी निवृत्तिपरक दृष्टि के अनुकूल मात्र ब्राह्मण-वर्ण के कर्तव्यों का निर्देश करके संतोष माना।

यद्यपि गीता और जैन आचार-दर्शन दोनों यही कहते हैं कि साधक को अपनी अवस्था या स्वभाव को ध्यान में रखते हुए, उसी कर्तव्य-पथ का चयन करना चाहिए, जिसका परिपालन करने की क्षमता उसमें है। स्व-क्षमता या स्थिति के आधार पर साधना के निम्न स्तर का चयन भी अधिक लाभकारी है अपेक्षाकृत उस उच्च स्तरीय चयन के, जो स्व-स्वभाव, क्षमता और स्थिति का बिना विचार किये किया जाता है। समग्र जैन-आगम-साहित्य में महावीर के जीवन का एक भी ऐसा प्रसंग देखने को नहीं मिलता जब उन्होंने साधक की शक्ति एवं स्वेच्छा के विपरीत उसे साधना के उच्चतम स्तरों में प्रविष्ट होने के लिए कहा हो। महावीर प्रत्येक साधक से चाहे वह साधना के उच्चस्तरों (श्रमण धर्म की साधना) में प्रविष्ट होने का प्रस्ताव लेकर उनके सम्मुख उपस्थित हुआ हो या साधना के निम्न स्तर (गृहस्थ धर्म की साधना) में प्रविष्ट होने का प्रस्ताव लेकर उपस्थित हुआ हो, यही कहते हैं—हे देवानुप्रिय! तुम्हें जैसा सुख हो वैसा करो, परन्तु प्रमाद मत करो।[1] वे साधना में इस बात पर जोर

१. उपासकदशांगसूत्र, १।१२

नहीं देते हैं कि तुम साधना में विकास के किस बिन्दु पर स्थित हो रहे हो, साधना के राज मार्ग पर किस स्थान पर खड़े हो, वरन् इस बात पर जोर देते हैं कि साधना के क्षेत्र में जिस स्थान पर तुम खड़े हो उस स्थान के कर्तव्यों के परिपालन में कितने सतर्क, निष्ठावान् या जागरूक हो। जैन-विचारधारा यह मानती है कि नैतिकता के क्षेत्र में यह बात प्राथमिक महत्त्व की नहीं है कि साधक कितनी कठोर साधना कर रहा है, वरन् प्राथमिक महत्त्व इस बात का है कि वह जो कुछ कर रहा है उसमें कितनी सच्चाई और निष्ठा है। यदि एक साधु जो साधना की उच्चतम भूमिका में स्थित होते हुए भी अपने कर्तव्यों के प्रति सतर्क नहीं है, निष्ठावान् नहीं है, ईमानदार नहीं है, तो वह उस गृहस्थ साधक की अपेक्षा, जो साधना की निम्न भूमिका में स्थित होते हुए भी अपने स्थान के कर्तव्यों के प्रति निष्ठावान् है, जागरूक है और ईमानदार है, नीचा ही है। नैतिक श्रेष्ठता इस बात पर निर्भर नहीं करती कि नैतिक-सोपान में कौन कहाँ पर खड़ा है, वरन् इस बात पर निर्भर करती है कि वह स्वस्थान के कर्तव्यों के प्रति कितना निष्ठावान् है। आचारांगसूत्र में स्पष्ट कहा है कि साधक जिस भावना या श्रद्धा से साधना पथ पर अभिनिष्क्रमण करे उसका प्रामाणिकतापूर्वक पालन करे।[1]

गीता इसी बात को अत्यन्त संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत करती है कि स्व-क्षमता एवं स्व-स्वभाव के प्रतिकूल ऐसे सुआचरित* प्रतीत होनेवाले उस परधर्म से, स्व-स्वभाव के अनुकूल निम्नस्तरीय होते हुए भी स्वधर्म श्रेष्ठ है। परधर्म अर्थात् अपने स्वस्वभाव एवं क्षमताओं के प्रतिकूल आचरण सदैव ही भयप्रद होता है और इसलिए स्वधर्म का परिपालन करते हुए मृत्यु का वरण कर लेना भी कल्याणकारी है।[2]

स्वधर्म का आध्यात्मिक अर्थ—गीताकार निष्कर्ष रूप में यह कहता है कि हे पार्थ, तू सब धर्मों का परित्याग कर मेरी शरण में आ, मैं तुझे सब पापों से मुक्त कर दूँगा[3]

---

१. आचारांग, १।१।१।३।२० २. गीता, ३।३५ ३. वही, १८।६६

* **टिप्पणी**—प्रस्तुत श्लोक में 'परधर्मात्स्वनुष्ठितात्' का सामान्य अर्थ सुसमाचरित परधर्म से लगाया जाता है, लेकिन परधर्म वस्तुतः सुअनुष्ठित या सुसमाचरित होता ही नहीं है, क्योंकि जो स्वप्रकृति से निकलता है वही सुआचरित हो सकता है। यहाँ सुआचरित कहने का तात्पर्य यही है कि जो बाहर से देखने पर अच्छी तरह आचरित होता दिखाई देता है, यद्यपि मूलतः वैसा नहीं है। हृदय में वासनाओं के प्रबल आवेग के होने पर भी ढोंगी साधु साधु-जीवन की बाह्य क्रियाओं का ठीक रूप से आचरण करता है, कभी-कभी तो वह अच्छे साधु की अपेक्षा भी दिखावे के रूप में उनका अधिक अच्छे ढंग से पालन करता है, लेकिन उसका वह आचरण मात्र बाह्य दिखावा होता है उसमें सार नहीं होता। उसी प्रकार सुसमाचरित पर-धर्म में सुआचरण मात्र दिखावा या ढोंग होता है। सुआचरित या सुअनुष्ठित का यहाँ मात्र यही अर्थ है।

तो हमारे सामने एक समस्या पुनः उपस्थित होती है कि सब धर्मों के परित्याग की धारणा का स्वधर्म के परिपालन की धारणा से कैसे मेल बैठाया जाय ? यदि विचार पूर्वक देखें तो यहाँ गीताकार की दृष्टि में जिन समस्त धर्मों का परित्याग इष्ट है, वे विधि-निषेध रूप सामाजिक कर्तव्य तथा वाह्याचरण रूप धर्माधर्म के नियम हैं। वस्तुतः कर्तव्य के क्षेत्र में कभी-कभी ऐसा अवसर उपस्थित हो जाता है कि जहाँ धर्म-धर्म का निर्णय या स्वधर्म और परधर्म का निर्णय करने में मनुष्य अपने को असमर्थ पाता है। प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि व्यक्ति अपने स्वधर्म या परधर्म का निश्चय नहीं कर पाता तो वह क्या करे ? गीताकार स्पष्ट रूप से कहता है कि ऐसी अनिश्चय की अवस्था में धर्म-अधर्म के विचार से ऊपर उठकर अपने-आपको भगवान् के सम्मुख नग्न और निश्छल रूप में प्रस्तुत कर देना चाहिए और उसकी इच्छा का यन्त्र वनकर या मात्र निमित्त वनकर आचरण करना चाहिए। यहाँ गीता स्पष्ट ही आत्म-समर्पण पर जोर देती है। लेकिन जैन-दृष्टि जो किसी ऐसे कृपा करने वाले संसार के नियन्ता ईश्वर पर विश्वास नहीं करती, इस कर्तव्याकर्तव्य या स्वधर्म और परधर्म के अनिश्चय की अवस्था में व्यक्ति को यही सुझाव देती है कि उसे राग-द्वेष के भावों से दूर होकर उपस्थित कर्तव्य का आचरण करना चाहिए। वस्तुतः इस श्लोक के माध्यम से गीताकार सच्चे स्वधर्म के ग्रहण की बात कहता है, परमात्मा के प्रति सच्चा समर्पण परधर्म का त्याग और स्वधर्म का ग्रहण ही है, क्योंकि हमारा वास्तविक स्वरूप राग द्वेष से रहित अवस्था है और उसे ग्रहण करना सच्चे आध्यात्मिक स्वधर्म का ग्रहण है।

वस्तुतः स्वधर्म और परधर्म का यह व्यावहारिक कर्तव्य-पथ नैतिक साधना की इतिश्री नहीं है, व्यक्ति को इससे उपर उठना होता है। विधि-निषेध का कर्तव्य मार्ग नैतिक साधना का मात्र बाह्य शरीर है, उसकी आत्मा नहीं। विधि-निषेध के इस व्यवहार-मार्ग में कर्तव्यों का संघर्ष सम्भाव्य है जो व्यक्ति को कर्तव्य-विमूढता में डाल देता है। अतः गीताकार ने सम्पूर्ण विवेचन के पश्चात् यही शिक्षा दी कि मनुष्य अहं के रिक्तिकरण के द्वारा अपने को भगवान् के सम्मुख समर्पित कर दे और इस प्रकार सभी धर्माधर्मों के व्यवहार-मार्ग से ऊपर उठकर उस क्षेत्र में अवस्थित हो जाये, जहाँ कर्तव्यों के मध्य संघर्ष की समस्या ही नहीं रहे। जैन-विचारकों ने भी कर्तव्यों के संघर्ष की इस समस्या से एवं कर्तव्य के निश्चय कर पाने में उत्पन्न-कठिनाई से बचने के लिए स्वधर्म और परधर्म की एक आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की, जिसमें व्यक्ति का कर्तव्य है स्वरूप में अवस्थित होना। उनके अनुसार प्रत्येक तत्त्व के अपने-अपने स्वाभाविक गुण-धर्म हैं। स्वाभाविक गुण-धर्म से तात्पर्य उन गुण-धर्मों से है जो बिना किसी दूसरे तत्त्व की अपेक्षा के ही उस तत्त्व में रहते हैं अर्थात् परतत्त्व से निरपेक्ष रूप में रहनेवाले [स्वा]भाविक गुण-धर्म स्वधर्म है। इसके विपरीत वे गुण-धर्म, जो दूसरे तत्त्व की अपेक्षा

रखते हैं या उसके कारण उत्पन्न होते हैं, वैभाविक गुण-धर्म है, इसलिए परधर्म है। एकीभाव से अपने गुण-पर्यायों में परिणपन करना ही स्वसमय है, स्वधर्म है। जैन-दर्शन के अनुसार वस्तु का निज स्वभाव ही उसका स्वधर्म है, वैभाविक गुण-धर्म स्वधर्म नहीं है; क्योंकि वैभाविक गुणधर्म परापेक्षी हैं, पर के कारण उत्पन्न होते हैं, अतः निरपेक्ष नहीं हैं। आसक्ति या राग चैतन्य का स्वधर्म नहीं है। क्योंकि आसक्ति या राग निज से भिन्न परतत्त्व की भी अपेक्षा करता है। बिना किसी द्वैत के आसक्ति सम्भव ही नहीं। जीव या आत्मा के लिए अज्ञान परधर्म है, क्योंकि आत्मा तो ज्ञानमय है। आसक्ति वैभाविक धर्म या परधर्म है, क्योंकि परापेक्षी है। जैनाचार दर्शन के अनुसार विशुद्ध चैतन्य तत्त्व के लिए राग, द्वेष, मोह, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि परधर्म है, जबकि ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि स्वधर्म हैं। जैनधर्म के अनुसार गीता के 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' का सच्चा अर्थ यह है कि ज्ञान-दर्शन रूप आत्मिक स्वगुणों में स्थित रहकर मरण भी वरेण्य है। स्वाभाविक स्वगुणों का परित्याग एवं राग-द्वेष मोहादि से युक्त वैभाविक दशा (परधर्म) का ग्रहण आत्मा के लिए सदैव भय-प्रद है, क्योंकि वह उसके पतन का या बंधन का मार्ग है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वधर्म और परधर्म की विवेचना अत्यन्त मार्मिक रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—'जो जीव स्वकीय गुण पर्याय रूप सम्यक्ज्ञान, दर्शन और चारित्र में रमण कर रहा है, उसे ही परमार्थ-दृष्टि से स्व-समय या स्वधर्म में स्थित जानो और जो जीव पुद्गल या कर्म-प्रदेशों में स्थित है अर्थात् पर-पदार्थों से प्रभावित होकर उन पर राग-द्वेष आदि भाव करके, उन पर तत्त्वों के आश्रय से स्व-स्वरूप को विकारी बना रहा है, उसे पर-समय या परधर्म में स्थिति जानो। राग, द्वेष और मोह का परिणमन पर के कारण ही होता है, अतः वह पर-स्वभाव या पर-धर्म ही है। आचार्य आगे कहते हैं कि स्वस्वरूप या स्वधर्म से च्युत होकर पर-धर्म, पर-स्वभाव या पर-समय में स्थित होना बन्धन है और यह दूसरे के साथ बन्धन में होने की अवस्था विसंवादिनी अथवा निन्दा की पात्र है। आत्मा तो स्वभाव या स्वधर्म में स्थित होकर अपने एकत्व की अवस्था में ही शोभा पाता है।[१]

गीता का दृष्टिकोण—यद्यपि गीता के श्लोकों में स्वधर्म और परधर्म के आध्यात्मिक अर्थ की इस विवेचना का अभाव है, लेकिन आचार्य शंकर ने गीता भाष्य में आचार्य कुन्दकुन्द से मिलती हुई स्वधर्म और परधर्म की व्याख्या प्रस्तुत की है। शंकर कहते हैं कि जब मनुष्य की प्रकृति राग-द्वेष का अनुसरण कर उसे अपने काम में नियोजित करती है, तब स्वधर्म का परित्याग और परधर्म का अनुष्ठान होता है अर्थात् आचार्य शंकर के अनुसार भी राग-द्वेष के वशीभूत होना ही परधर्म है और राग-द्वेष से विमुक्त होना ही स्वधर्म है।[२]

---

१. समयसार, २७३ २. गीता (शां०), ३।३४

ब्रेडले का स्वस्थान और उसके कर्तव्य का सिद्धान्त तथा स्वधर्म—भारतीय परम्परा के स्वधर्म के सिद्धान्त के समान ही पाश्चात्य परम्परा में ब्रेडले ने 'स्वस्थान और उसके कर्तव्य' का सिद्धान्त स्थापित किया। ब्रेडले का कहना है कि हम उस समय अपने को प्राप्त करते हैं जब हम अपने स्थान ओर कर्तव्यों को एक समाजरूपी शरीर के अंग के रूप में प्राप्तकर लेते हैं।[1] ब्रेडले ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक एथिकल स्टडीज में इस सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश डाला है।[2] यहाँ तो हम केवल उसके सिद्धान्त का सारांश ही प्रस्तुत कर रहे हैं। ब्रेडले के उपर्युक्त कथन का अर्थ यह है कि हमें अपनी योग्यताओं और क्षमताओं को परख कर सामाजिक जीवन के क्षेत्र में अपने कर्तव्य का निर्धारण कर लेना चाहिए। वस्तुतः हमारा कर्तव्य वही हो सकता है जो हमारी प्रकृति हो। अपनी प्रकृति के अनुरूप सामाजिक जीवन में अपने स्थान का निर्धारण एवं उसके कर्तव्यों का चयन और उनका पालन ही ब्रेडले के दृष्टिकोण का आशय है, यद्यपि यह ध्यान में रखना चाहिये कि स्वस्थान के अनुरूप कर्तव्य-पालन नैतिकता की अन्तिम परिणति नहीं है। हमें उससे भी ऊपर उठना होगा।

१३ सामाजिक नैतिकता के केन्द्रीय तत्त्व : अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह

वैयक्तिक एवं सामाजिक समता के विचलन के दो कारण हैं—एक मोह और दूसरा क्षोभ । मोह (आसक्ति) विचलन का एक आन्तरिक कारण है जो राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ (तृष्णा) आदि के रूप में प्रकट होता है। हिंसा, शोषण, तिरस्कार या अन्याय—ये क्षोभ के कारण हैं जो अन्तर मानस को पीड़ित करते हैं । यद्यपि मोह और क्षोभ ऐसे तत्त्व नहीं हैं जो एक-दूसरे से अलग और अप्रभावित हों, तथापि मोह के कारण आन्तरिक और उसका प्रकटन वाह्य है, जबकि क्षोभ के कारण वाह्य है और उसका प्रकटन आन्तरिक है । मोह वैयक्तिक बुराई है, जो समाज-जीवन को दूषित करती है, जबकि 'क्षोभ' सामाजिक बुराई है, जो वैयक्तिक जीवन को दूपित करती है । मोह का केन्द्रीय तत्त्व आसक्ति (राग या तृष्णा) है, जबकि क्षोभ का केन्द्रीय तत्त्व हिंसा है ।

इस प्रकार जैन-आचार में सम्यक् चारित्र की दृष्टि से अहिंसा और अनासक्ति ये दो केन्द्रीय सिद्धान्त हैं । एक वाह्य जगत् या सामाजिक जीवन में समत्व का संस्थापन करता है तो दूसरा चैतसिक या आन्तरिक समत्व को बनाये रखता है । वैचारिक क्षेत्र में अहिंसा और अनासक्ति मिलकर अनाग्रह या अनेकान्तवाद को जन्म देते हैं । आग्रह वैचारिक आसक्ति है और एकान्त वैचारिक हिंसा । अनासक्ति का सिद्धान्त ही अहिंसा से समन्वित हो सामाजिक जीवन में अपरिग्रह का आदेश प्रस्तुत करता है । संग्रह वैयक्तिक जीवन के सन्दर्भ में आसक्ति और सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में हिंसा है । इस प्रकार जैन-दर्शन सामाजिक नैतिकता के तीन केन्द्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत करता है:— १. अहिंसा, २. अनाग्रह (वैचारिक सहिष्णुता) और ३. अपरिग्रह (असंग्रह) ।

अब एक दूसरी दृष्टि से विचार करें । मनुष्य के पास मन, वाणी और शरीर ऐसे तीन साधन हैं, जिनके माध्यम से वह सदाचरण या दुराचरण में प्रवृत्त होता है । शरीर का दुराचरण हिंसा और सदाचरण अहिंसा कहा जाता है । वाणी का दुराचरण आग्रह (वैचारिक असहिष्णुता) और सदाचरण अनाग्रह (वैचारिक सहिष्णुता) है । जबकि मन का दुराचरण आसक्ति (ममत्व) और सदाचरण अनासक्ति (अपरिग्रह) है । वैसे यदि अहिंसा को ही केन्द्रीय तत्त्व माना जाय तो अनेकान्त को वैचारिक अहिंसा और अनासक्ति को मानसिक अहिंसा (स्वदया) कहा जा सकता है । साथ ही अनासक्ति से

प्रतिफलित होने वाला अपरिग्रह का सिद्धान्त सामाजिक एवं आर्थिक अहिंसा कहा जा सकता है।

यदि साधना के तीन अंग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के व्यावहारिक पक्षों की दृष्टि से विचार किया जाय तो अनासक्ति सम्यग्दर्शन का, अनेकान्त (अनाग्रह) सम्यग्ज्ञान का और अहिंसा सम्यक् चारित्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। दर्शन का सम्बन्ध वृत्ति से है, ज्ञान का सम्बन्ध विचार से है और चारित्र का कर्म से है। अतः वृत्ति में अनासक्ति, विचार में अनाग्रह और आचरण में अहिंसा यही जैन आचार दर्शन के रत्नत्रय का व्यावहारिक स्वरूप है जिन्हें हम सामाजिक के सन्दर्भ में क्रमशः अपरिग्रह, अनेकान्त (अनाग्रह) और अहिंसा के नाम से जानते हैं। अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह जब सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होते हैं, तब वे सम्यक् आचरण के ही अंग कहे जाते हैं। दूसरे, जब आचरण से हमारा तात्पर्य कायिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकार के कर्मों से हो, तो अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह का समावेश सम्यक् आचरण में हो जाता है। सम्यक् आचरण एक प्रकार से जीवन शुद्धि का प्रयास है, अतः मानसिक कर्मों की शुद्धि के लिए अनासक्ति (अपग्रिह), वाचिक कर्मों की शुद्धि के लिए अनेकान्त (अनाग्रह) और कायिक कर्मों की शुद्धि के लिए अहिंसा के पालन का निर्देश किया गया है। इस प्रकार जैन जीवन-दर्शन का सार इन्हीं तीन सिद्धान्तों में निहित है। जैनधर्म की परिभाषा करने वाला यह श्लोक सर्वाधिक प्रचलित ही है—

स्याद्वादो वर्ततेऽस्मिन् पक्षपातो न विद्यते।
नास्त्यन्यं पीड़नं किंचित् जैनधर्मः स उच्यते॥

सच्चा जैन वही है जो पक्षपात (समत्व) से रहित है, अनाग्रही और अहिंसक है। यहाँ हमें इस सम्बन्ध में भी स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि जिस प्रकार आत्मा या चेतना के तीन पक्ष ज्ञान, दर्शन और चारित्र आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा में एक दूसरे से अलग-अलग नहीं रहते हैं, उसी प्रकार अहिंसा, अनाग्रह (अनेकान्त) और अपरिग्रह भी सामाजिक समता की स्थापना के प्रयास के रूप में एक दूसरे से अलग नहीं रहते। जैसे-जैसे वे पूर्णता की ओर बढ़ते हैं, वैसे-वैसे एक दूसरे के साथ समन्वित होते जाते हैं।

अहिंसा

जैनधर्म में अहिंसा का स्थान

अहिंसा जैन आचार-दर्शन का प्राण है। अहिंसा वह धुरी है जिस पर समग्र जैन आचार-विधि घूमती है। जैनागमों में अहिंसा को भगवती कहा गया है। प्रश्नव्याकरण-सूत्र में कहा गया है कि भयभीतों को जैसे शरण, पक्षियों को जैसे गगन, तृषितों को जैसे

जल, भूखों को जैसे भोजन, समुद्र के मध्य जैसे जहाज, रोगियों को जैसे औषध और वन में जैसे सार्थवाह का साथ आधारभूत है, वैसे ही अहिंसा प्राणियों के लिए आधारभूत है। अहिंसा चर एवं अचर सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली है।[1] वह शाश्वत धर्म है, जिसका उपदेश तीर्थंकर करते हैं। आचारांगसूत्र में कहा गया है—भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी अर्हत् यह उपदेश करते हैं कि किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्व को किसी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिए, न किसी का हनन करना चाहिए। यही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है। समस्त लोक की पीड़ा को जानकर अर्हतों ने इसका प्रतिपादन किया है।[2] सूत्रकृतांगसूत्र के अनुसार ज्ञानी होने का सार यह है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। अहिंसा ही समग्र धर्म का सार है, इसे सदैव स्मरण रखना चाहिए।[3] दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि सभी प्राणियों के हित साधन में अहिंसा के सर्वश्रेष्ठ होने से महावीर ने इसको प्रथम स्थान दिया है।[4] अहिंसा के समान दूसरा धर्म नहीं है।[5]

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि के अनुसार तो जैन आचार-विधि का सम्पूर्ण क्षेत्र अहिंसा से व्याप्त है, उसके बाहर उसमें कुछ है ही नहीं। सभी नैतिक नियम और मर्यादाएँ इसके अन्तर्गत हैं; आचार-नियमों के दूसरे रूप जैसे असत्य भाषण नहीं करना, चोरी नहीं करना आदि तो जनसाधारण को सुलभ रूपसे समझाने के लिये भिन्न-भिन्न नामों से कहे जाते हैं, वस्तुतः वे सभी अहिंसा के ही विभिन्न पक्ष हैं।[6] जैन-दर्शन में अहिंसा वह आधार वाक्य है जिसमें आचार के सभी नियम निर्गमित होते हैं। भगवती आराधना में कहा गया है—अहिंसा सब आश्रमों का हृदय है, सब शास्त्रों का गर्भ (उत्पत्ति स्थान) है।[7]

बौद्धधर्म में अहिंसा का स्थान—बौद्ध-दर्शन के दश शीलों में अहिंसा का स्थान प्रथम है। चतुःशतक में कहा है कि तथागत ने संक्षेप में केवल 'अहिंसा' इन अक्षरों में धर्म का वर्णन किया है।[8] बुद्ध ने हिंसा को अनार्य कर्म कहा है। वे कहते हैं, जो प्राणियों की हिंसा करता है, वह आर्य नहीं होता, सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा का पालन करने वाला ही आर्य कहा जाता है।[9]

बुद्ध हिंसा एवं युद्ध के नीतिशास्त्र के घोर विरोधी हैं। धम्मपद में कहा गया है—विजय से वैर उत्पन्न होता है। पराजित दुःखी होता है। जो जय-पराजय को छोड़

---

१. प्रश्नव्याकरणसूत्र, २।१।२१।२२
२. आचारांग, १।४।१।१२७
३. सूत्रकृतांग, १।४।१०
४. दशवैकालिक, ६।९
५. भक्तपरिज्ञा, ९१
६. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ४२
७. भगवती-आराधना, ७९०
८. चतुःशतक, २९८
९. धम्मपद, २७०

चुका है, उसे ही सुख है, उसे ही शान्ति है।[1]

अंगुत्तरनिकाय में यह बात और अधिक स्पष्ट कर दी गयी है। हिंसक व्यक्ति जगत् में नारकीय जीवन का और अहिंसक व्यक्ति स्वर्गीय जीवन का सृजन करता है। वे कहते हैं—"भिक्षुओं, तीन धर्मों से युक्त प्राणी ऐसा होता है जैसे लाकर नरक में डाल दिया गया हो। कौन से तीन? स्वयं प्राणी हिंसा करता है, दूसरे प्राणी को हिंसा की ओर घसीटता है और प्राणी-हिंसा का समर्थन करता है। भिक्षुओं, तीन धर्मों से युक्त प्राणी ऐसा ही होता है, जैसे लाकर नरक में डाल दिया गया हो।"

"भिक्षुओं, तीन धर्मो से युक्त प्राणी ऐसा होता है, जैसे लाकर स्वर्ग में डाल दिया गया हो। कौन से तीन?"

"स्वयं प्राणी हिंसा से विरत रहता है, दूसरे को प्राणी-हिंसा की ओर नहीं घसीटता और प्राणी-हिंसा का समर्थन नहीं करता।[2]" बौद्धधर्म के महायान सम्प्रदाय में करुणा और मैत्री की भावना का जो चरम उत्कर्ष देखा जाता है, उसकी पृष्ठभूमि में यही अहिंसा का सिद्धान्त रहा है।

हिन्दूधर्म में अहिंसा का स्थान—गीता में अहिंसा का महत्त्व स्वीकृत करते हुए उसे भगवान् का ही भाव कहा गया है। उसे दैवी सम्पदा एवं सात्विक तप भी कहा है।[3] महाभारत में तो जैन विचारणा के समान ही अहिंसा में सभी धर्मों को अन्तर्भूत मान लिया गया है।[4] यही नहीं, उसमें धर्म के उपदेश का उद्देश्य भी प्राणियों को हिंसा से विरत करना है। अहिंसा ही धर्म का सार है। महाभारतकार का कथन है कि—'प्राणियों की हिंसा न हो, इसलिए धर्म का उपदेश दिया गया है, अतः जो अहिंसा से युक्त है, वही धर्म है।'[5]

लेकिन यह प्रश्न हो सकता है कि गीता में बार-बार अर्जुन को युद्ध करने के लिए कहा गया, उसका युद्ध से उपरत होने का कार्य निन्दनीय तथा कायरतापूर्ण माना गया है, फिर गीता को अहिंसा की समर्थक कैसे माना जाए? इस सम्बन्ध में गीता के व्याख्याकारों की दृष्टिकोणों को समझ लेना आवश्यक है। आद्य टीकाकार आचार्य शंकर 'युध्यस्व (युद्ध कर)' शब्द की टीका में लिखते हैं—यहाँ (उपर्युक्त कथन से) युद्ध की कर्तव्यता का विधान नहीं है।[6] इतना ही नहीं, आचार्य 'आत्मोपम्येन सर्वत्र' के आधार पर गीता में अहिंसा के सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं—'जैसे मुझे सुख प्रिय है वैसे ही सभी प्राणियों को सुख अनुकूल है और जैसे दुःख मुझे अप्रिय या प्रतिकूल

१. धम्मपद, २०१

२. अंगुत्तरनिकाय, ३।१५३

३. गीता १०।५-७, १६।२, १७।१४

४. महाभारत, शान्ति पर्व, २४५।१९

५. वही, १०९।१२

६. गीता (शांकर भाष्य), २।१८

जल, भूखों को जैसे भोजन, समुद्र के मध्य जैसे जहाज, रोगियों को जैसे औषध और वन में जैसे सार्थवाह का साथ आधारभूत है, वैसे ही अहिंसा प्राणियों के लिए आधारभूत है। अहिंसा चर एवं अचर सभी प्राणियों का कल्याण करने वाली है।[१] वह शाश्वत धर्म है, जिसका उपदेश तीर्थंकर करते हैं। आचारांगसूत्र में कहा गया है—भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी अर्हत् यह उपदेश करते हैं कि किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्व को किसी प्रकार का परिताप, उद्वेग या दुःख नहीं देना चाहिए, न किसी का हनन करना चाहिए। यही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म है। समस्त लोक की पीड़ा को जानकर अर्हतों ने इसका प्रतिपादन किया है।[२] सूत्रकृतांगसूत्र के अनुसार ज्ञानी होने का सार यह है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। अहिंसा ही समग्र धर्म का सार है, इसे सदैव स्मरण रखना चाहिए।[3] दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि सभी प्राणियों के हित साधन में अहिंसा के सर्वश्रेष्ठ होने से महावीर ने इसको प्रथम स्थान दिया है।[४] अहिंसा के समान दूसरा धर्म नहीं है।[५]

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि के अनुसार तो जैन आचार-विधि का सम्पूर्ण क्षेत्र अहिंसा से व्याप्त है, उसके बाहर उसमें कुछ है ही नहीं। सभी नैतिक नियम और मर्यादाएँ इसके अन्तर्गत हैं; आचार-नियमों के दूसरे रूप जैसे असत्य भाषण नहीं करना, चोरी नहीं करना आदि तो जनसाधारण को सुलभ रूपसे समझाने के लिये भिन्न-भिन्न नामों से कहे जाते हैं, वस्तुतः वे सभी अहिंसा के ही विभिन्न पक्ष हैं।[६] जैन-दर्शन में अहिंसा वह आधार वाक्य है जिसमें आचार के सभी नियम निर्गमित होते हैं। भगवती आराधना में कहा गया है—अहिंसा सब आश्रमों का हृदय है, सब शास्त्रों का गर्भ (उत्पत्ति स्थान) है।[७]

बौद्धधर्म में अहिंसा का स्थान—बौद्ध-दर्शन के दश शीलों में अहिंसा का स्थान प्रथम है। चतुःशतक में कहा है कि तथागत ने संक्षेप में केवल 'अहिंसा' इन अक्षरों में धर्म का वर्णन किया है।[८] बुद्ध ने हिंसा को अनार्य कर्म कहा है। वे कहते हैं, जो प्राणियों की हिंसा करता है, वह आर्य नहीं होता, सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा का पालन करने वाला ही आर्य कहा जाता है।[९]

बुद्ध हिंसा एवं युद्ध के नीतिशास्त्र के घोर विरोधी हैं। धम्मपद में कहा गया है—विजय से वैर उत्पन्न होता है। पराजित दुःखी होता है। जो जय-पराजय को छोड़

---

१. प्रश्नव्याकरणसूत्र, २।१।२१।२२
२. आचारांग, १।४।१।१२७
३. सूत्रकृतांग, १।४।१०
४. दशवैकालिक, ६।९
५. भक्तपरिज्ञा, ९१
६. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ४२
७. भगवती-आराधना, ७९०
८. चतुःशतक, २९८
९. धम्मपद, २७०

चुका है, उसे ही सुख है, उसे ही शान्ति है।[1]

अंगुत्तरनिकाय में यह बात और अधिक स्पष्ट कर दी गयी है। हिंसक व्यक्ति जगत् में नारकीय जीवन का और अहिंसक व्यक्ति स्वर्गीय जीवन का सृजन करता है। वे कहते हैं—"भिक्षुओं, तीन धर्मों से युक्त प्राणी ऐसा होता है जैसे लाकर नरक में डाल दिया गया हो। कौन से तीन ? स्वयं प्राणी हिंसा करता है, दूसरे प्राणी को हिंसा की ओर घसीटता है और प्राणी-हिंसा का समर्थन करता है। भिक्षुओं, तीन धर्मों से युक्त प्राणी ऐसा ही होता है, जैसे लाकर नरक में डाल दिया गया हो।"

"भिक्षुओं, तीन धर्मों से युक्त प्राणी ऐसा होता है, जैसे लाकर स्वर्ग में डाल दिया गया हो। कौन से तीन ?"

"स्वयं प्राणी हिंसा से विरत रहता है, दूसरे को प्राणी-हिंसा की ओर नहीं घसीटता और प्राणी-हिंसा का समर्थन नहीं करता।[2]" बौद्धधर्म के महायान सम्प्रदाय में करुणा और मैत्री की भावना का जो चरम उत्कर्ष देखा जाता है, उसकी पृष्ठभूमि में यही अहिंसा का सिद्धान्त रहा है।

हिन्दूधर्म में अहिंसा का स्थान—गीता में अहिंसा का महत्त्व स्वीकृत करते हुए उसे भगवान् का ही भाव कहा गया है। उसे दैवी सम्पदा एवं सात्विक तप भी कहा है।[3] महाभारत में तो जैन विचारणा के समान ही अहिंसा में सभी धर्मों को अन्तर्भूत मान लिया गया है।[4] यही नहीं, उसमें धर्म के उपदेश का उद्देश्य भी प्राणियों को हिंसा से विरत करना है। अहिंसा ही धर्म का सार है। महाभारतकार का कथन है कि—'प्राणियों की हिंसा न हो, इसलिए धर्म का उपदेश दिया गया है, अतः जो अहिंसा से युक्त है, वही धर्म है।'[5]

लेकिन यह प्रश्न हो सकता है कि गीता में बार-बार अर्जुन को युद्ध करने के लिए कहा गया, उसका युद्ध से उपरत होने का कार्य निन्दनीय तथा कायरतापूर्ण माना गया है, फिर गीता को अहिंसा की समर्थक कैसे माना जाए ? इस सम्बन्ध में गीता के व्याख्याकारों की दृष्टिकोणों को समझ लेना आवश्यक है। आद्य टीकाकार आचार्य शंकर 'युध्यस्व (युद्ध कर)' शब्द की टीका में लिखते हैं—यहाँ (उपर्युक्त कथन से) युद्ध की कर्तव्यता का विधान नहीं है।[6] इतना ही नहीं, आचार्य 'आत्मोपम्येन सर्वत्र' के आधार पर गीता में अहिंसा के सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं—'जैसे मुझे सुख प्रिय है वैसे ही सभी प्राणियों को सुख अनुकूल है और जैसे दुःख मुझे अप्रिय या प्रतिकूल

---

१. धम्मपद, २०१
२. अंगुत्तरनिकाय, ३।१५३
३. गीता १०।५-७, १६।२, १७।१४
४. महाभारत, शान्ति पर्व, २४५।१९
५. वही, १०९।१२
६. गीता (शांकर भाष्य), २।१८

है, वैसे ही सब प्राणियों को अप्रिय, प्रतिकूल है, इस प्रकार जो सब प्राणियों में अपने समान ही सुख और दुःखको तुल्य भाव से अनुकूल और प्रतिकूल देखता है, किसी के भी प्रतिकूल आचरण नहीं करता, वही अहिंसक है। इस प्रकार का अहिंसक पुरुष पूर्ण ज्ञान में स्थित है, वह सब योगियों में परम उत्कृष्ट माना जाता है।'[1]

महात्मा गांधी भी गीता को अहिंसा का प्रतिपादक ग्रन्थ मानते हैं। उनका कथन है—'गीता की मुख्य शिक्षा हिंसा नहीं, अहिंसा है। हिंसा बिना क्रोध, आसक्ति एवं घृणा के नहीं होती और गीता हमें सत्व, रजस् और तमस् गुणों के रूप में घृणा, क्रोध आदि अवस्थाओं से ऊपर उठने को कहती है। (फिर वह हिंसा की समर्थक कैसे हो सकती है)।[2] डा० राधाकृष्णन् भी गीता को अहिंसा का प्रतिपादक ग्रन्थ मानते हैं। वे लिखते हैं—'कृष्ण अर्जुन को युद्ध करने का परामर्श देता है, तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह युद्ध की वैधता का समर्थन कर रहा है। युद्ध तो एक ऐसा अवसर आ पड़ा है; जिसका उपयोग गुरु उस भावना की ओर संकेत करने के लिए करता है, जिस भावना के साथ सब कार्य, जिनमें युद्ध भी सम्मिलित है, किये जाने चाहिए। यह हिंसा या अहिंसा का प्रश्न नहीं है, अपितु अपने उन मित्रों के विरुद्ध हिंसा के प्रयोग का प्रश्न है, जो अब शत्रु बन गये हैं। युद्ध के प्रति उसकी हिचक आध्यात्मिक विकास या सत्व-गुण की प्रधानता का परिणाम नहीं है, अपितु अज्ञान और वासना की उपज है। अर्जुन इस बात को स्वीकार करता है कि वह दुर्बलता और अज्ञान के वशीभूत हो गया है। गीता हमारे सम्मुख जो आदर्श उपस्थित करती है, वह अहिंसा का है, और यह बात सातवें अध्याय में मन, वचन और कर्म की पूर्ण दशा के और बारहवें अध्याय में भक्त की मनोदशा के वर्णन से स्पष्ट हो जाती है। कृष्ण अर्जुन को आवेश या दुर्भावना के बिना, राग या द्वेष के बिना युद्ध करने को कहता है और यदि हम अपने मन को ऐसी स्थिति में ले जा सकें, तो हिंसा असम्भव हो जाती है।[3]

इस प्रकार स्पष्ट है गीता हिंसा की समर्थक नहीं है। मात्र अन्याय के प्रतिकार के लिए अद्वेषबुद्धिपूर्वक विवशता में हिंसा करने का जो समर्थन गीता में दिखाई पड़ता है, उससे यह नहीं कहा जा सकता कि गीता हिंसा की समर्थक है। अपवाद के रूप में हिंसा का समर्थन नियम नहीं बन जाता। ऐसा समर्थन तो हमें जैन और बौद्ध आगमों में भी उपलब्ध हो जाता है।

अहिंसा का आधार—अहिंसा की भावना के मूलाधार के सम्बन्ध में विचारकों में कुछ भ्रान्त धारणाओं को प्रश्रय मिला है, अतः उस पर सम्यक्‌रूपेण विचार कर लेना आवश्यक है। मेकेन्ज़ी ने अपने ग्रन्थ हिन्दूएथिक्स[4] में इस भ्रान्त विचारणा को प्रस्तुत

---

१. गीता, ६।३२
२. दि भगवद्गीता एण्ड चेंजिग वर्ल्ड, पृ० १२२
३. भगवद्गीता (रा०), पृ० ७४-७५
४. हिन्दू एथिक्स, मेकेन्जी

किया है कि हिंसा की अवधारणा का विकास भय के आधार पर हुआ है। वे लिखते हैं—'असभ्य मनुष्य जीव के विभिन्न रूपों को भय की दृष्टि से देखते थे और भय की यह धारणा ही अहिंसा का मूल है।' लेकिन कोई भी प्रबुद्ध विचारक मेकेन्ज़ी की इस धारणा से सहमत नहीं होगा।

आचारांग में अहिंसा के सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक आधार पर स्थापित करने का प्रयास किया गया है। उसमें अहिंसा को आर्हत प्रवचन का सार और शुद्ध एवं शाश्वत धर्म बताया गया है। सर्वप्रथम हमें यह विचार करना है कि अहिंसा को ही धर्म क्यों माना जाय? सूत्रकार इसका बड़ा मनोवैज्ञानिक उत्तर प्रस्तुत करता है; वह कहता है कि सभी प्राणियों में जिजीविषा प्रधान है, पुनः सभी को सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल है।[१] अहिंसा का अधिष्ठान यही मनोवैज्ञानिक सत्य है। अस्तित्व और सुख की चाह प्राणीय स्वभाव है, जैन विचारकों ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर अहिंसा को स्थापित किया है। अहिंसा का आधार 'भय' मानना गलत है क्योंकि भय के सिद्धान्त को यदि अहिंसा का आधार बनाया जायेगा तो व्यक्ति केवल सबल की हिंसा से विरत होगा, निर्बल की हिंसा से नहीं। जिससे भय होगा उसी के प्रति अहिंसक बुद्धि बनेगी। जबकि जैनधर्म तो सभी प्राणियों के प्रति यहाँ तक कि वनस्पति, जल और पृथ्वीकायिक जीवों के प्रति भी अहिंसक होने की बात कहता है, अतः अहिंसा को भय के आधार पर नहीं अपितु जिजीविषा और सुखाकांक्षा के मनोवैज्ञानिक सत्यों के आधार पर अधिष्ठित किया जा सकता है। पुनः जैनधर्म ने इन मनोवैज्ञानिक सत्यों के साथ ही अहिंसा को तुल्यता बोध का बौद्धिक आधार भी दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि जो अपनी पीड़ा को जान पाता है वही तुल्यता बोध के आधार पर दूसरों की पीड़ा को भी समझ सकता है।[२] प्राणीय पीड़ा की तुल्यता के बोध के आधार पर होने वाला आत्मसंवेदन ही अहिंसा की नींव है।

वस्तुतः अहिंसा का मूलाधार जीवन के प्रति सम्मान, समत्वभावना, एवं अद्वैत-भावना है। समत्वभाव से सहानुभूति तथा अद्वैतभाव से आत्मीयता उत्पन्न होती है और इन्हीं से अहिंसा का विकास होता है। अहिंसा जीवन के प्रति भय से नहीं, जीवन के प्रति सम्मान से विकसित होती है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं, कोई मरना नहीं चाहता अतः निर्ग्रन्थ प्राणवध (हिंसा) का निषेध करते हैं।[3] वस्तुतः प्राणियों के जीवित रहने का नैतिक अधिकार ही अहिंसा के कर्तव्य को जन्म देता है। जीवन के अधिकार का सम्मान ही अहिंसा है। उत्तराध्ययनसूत्र में समत्व के आधार पर अहिंसा के सिद्धान्त की स्थापना करते हुए कहा गया

---

१. अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणई एयं तुल्लमन्नेसिं, १।१।७

२. सव्वे पाणा पिआउया सुहसाया दुःखपडिकूला, १।२।३   ३. दशवैकालिक ६।११

है कि भय और वैर से मुक्त साधक, जीवन के प्रति प्रेम रखने वाले सभी प्राणियों को सर्वत्र अपनी आत्मा के समान जान कर उनकी कभी भी हिंसा न करे।[1] यह मेकेन्जी की इस धारणा का, कि अहिंसा भय पर अधिष्ठित है, सचोट उत्तर है। आचारांगसूत्र में तो आत्मीयता की भावना के आधार पर ही अहिंसा-सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना की गयी है। उसमें लिखा है—जो लोक (अन्य जीव समूह) का अपलाप करता है वह स्वयं अपनी आत्मा का भी अपलाप करता है।[2] आगे पूर्णआत्मीयता की भावना को परिपुष्ट करते हुए महावीर कहते हैं—जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है। जिसे तू शासित करना चाहता है वह तू ही है। जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।[3] भक्तपरिज्ञा में भी लिखा है—किसी भी अन्य प्राणी की हत्या वस्तुतः अपनी ही हत्या है और अन्य जीवों की दया अपनी ही दया है।[4] इस प्रकार जैनधर्म में अहिंसा का आधार आत्मवत् दृष्टि ही है।

बौद्धधर्म में अहिंसा का आधार—भगवान् बुद्ध ने भी अहिंसा के आधार के रूप में इसी 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना को ग्रहण किया है। सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं—'जैसा मैं हूँ वैसे ही ये सब प्राणी हैं, और जैसे ये सब प्राणी हैं वैसा ही मैं हूँ—इस प्रकार अपने समान सब प्राणियों को समझकर न स्वयं किसी का वध करे और न दूसरों से कराए।'[5]

गीता में अहिंसा के आधार—गीताकार भी अहिंसा के सिद्धांत के आधार के रूप में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की उदात्त भावना को लेकर चलता है। यदि हम गीता को अद्वैतवाद की समर्थक मानें तो अहिंसा के आधार की दृष्टि से जैन दर्शन और अद्वैतवाद में यह अन्तर है कि जहाँ जैन परम्परा में सभी आत्माओं को **तात्त्विक समानता** के आधार पर अहिंसा की प्रतिष्ठा की गई है, वहाँ अद्वैतवाद में **तात्त्विक अभेद** के आधार पर अहिंसा की स्थापना की गई है। वाद कोई भी हो, पर अहिंसा की दृष्टि से महत्त्व की बात एक ही है कि अन्य जीवों के साथ समानता, जीवन के अधिकार का सम्मान और अभेद की वास्तविक संवेदना या आत्मीयता की अनुभूति ही अहिंसा की भावना का उद्गम है।[6] जब मनुष्य में इस संवेदन-शीलता का सच्चे रूप में उदय हो जाता है, तब हिंसा का विचार एक असंभावना बन जाता है। हिंसा का संकल्प सदैव 'पर' के प्रति होता है, 'स्व' या आत्मीय के प्रति कभी नहीं। अतः आत्मवत् दृष्टि का विकास ही अहिंसा का आधार है।

---

१. उत्तराध्ययन, ६।७
२. आचारांग, १।३।३
३. वही, १।५।५
४. भक्तपरिज्ञा—९३
५. सुत्तनिपात, ३।३७।२७
६. दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० १२५

जैनागमों में अहिंसा की व्यापकता

जैन-विचारणा में अहिंसा का क्षेत्र कितना व्यापक है, इसका बोध हमें प्रश्नव्याकरणसूत्र से हो सकता है। उसमें अहिंसा के साठ पर्यायवाची नाम वर्णित हैं[1]—१. निर्वाण, २. निवृत्ति, ३. समाधि, ४. शान्ति, ५. कीर्ति, ६. कान्ति, ७. प्रेम, ८. वैराग्य, ९. श्रुतांग, १०. तृप्ति, ११. दया, १२. विमुक्ति, १३. क्षान्ति, १४. सम्यक् आराधना, १५. महती, १६. बोधि, १७. बुद्धि, १८. धृति, १९. समृद्धि, २०. ऋद्धि, २१. वृद्धि, २२. स्थिति (धारक), २३. पुष्टि (पोषक), २४. नन्द (आनन्द), २५. भद्रा, २६. विशुद्धि, २७. लब्धि, २८. विशेष दृष्टि, २९. कल्याण, ३०. मंगल, ३१. प्रमोद, ३२. विभूति, ३३. रक्षा, ३४. सिद्धावास, ३५. अनास्रव, ३६. कैवल्यस्थान, ३७. शिव, ३८. समिति, ३९. शील, ४०. संयम, ४१. शील परिग्रह, ४२. संवर, ४३. गुप्ति, ४४. व्यवसाय, ४५. उत्सव, ४६. यज्ञ, ४७. आयतन, ४८. यतन, ४९. अप्रमाद, ५०. आश्वासन, ५१. विश्वास, ५२. अभय, ५३. सर्व अमाघात (किसी को न मारना), ५४. चोक्ष (स्वच्छ), ५५. पवित्र, ५६. शुचि, ५७. पूता या पूजा, ५८. विमल, ५९. प्रभात और ६०. निर्मलतर।

इस प्रकार जैन आचार-दर्शन में अहिंसा शब्द एक व्यापक दृष्टि को लेकर उपस्थित होता है। उसके अनुसार सभी सद्गुण अहिंसा में निहित हैं और अहिंसा ही एकमात्र सद्गुण है। अहिंसा सद्गुण-समूह की सूचक है।

अहिंसा क्या है ?

हिंसा का प्रतिपक्ष अहिंसा है।[2] यह अहिंसा की एक निषेधात्मक परिभाषा है। लेकिन हिंसा का त्याग मात्र अहिंसा नहीं है। निषेधात्मक अहिंसा जीवन के समग्र पक्षों को स्पर्श नहीं करती। वह आध्यात्मिक उपलब्धि नहीं कही जा सकती। निषेधात्मक अहिंसा मात्र बाह्य हिंसा नहीं करना है, यह अहिंसा का शरीर हो सकता है, अहिंसा की आत्मा नहीं। किसी को नहीं मारना यह अहिंसा के सम्बन्ध में मात्र स्थूल दृष्टि है। लेकिन यह मानना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि जैन धर्म अहिंसा की इस स्थूल एवं बहिर्मुखी दृष्टि तब सीमित रही है। जैन-दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त अहिंसा शाब्दिक दृष्टि से चाहे नकारात्मक है, लेकिन उसकी अनुभूति नकारात्मक नहीं है। उसकी अनुभूति सदैव ही विधायक रही है। सर्वत्र आत्मभाव मूलक करुणा और मैत्री की विधायक अनुभूतियों से अहिंसा की धारा प्रवाहित हुई है। अहिंसा क्रिया नहीं, सत्ता है, वह आत्मा की एक अवस्था है। आत्मा की प्रमत्त अवस्था ही हिंसा है और अप्रमत्त अवस्था ही अहिंसा है। आचार्य भद्रबाहु ओघनिर्युक्ति में लिखते हैं कि पारमार्थिक दृष्टि से

---

१ प्रश्नव्याकरणसूत्र, १।२१ २. दशवैकालिक-निर्युक्ति, ६०

आत्मा ही हिंसा है और आत्मा अहिंसा है। प्रमत्त आत्मा हिंसक है और अप्रमत्त आत्मा अहिंसक है।[२] आत्मा की प्रमत्त दशा हिंसा की अवस्था है और अप्रमत्त दशा अहिंसा की अवस्था है।

द्रव्य एवं भाव अहिंसा—अहिंसा को सम्यक् रूप से समझने के लिए पहले यह जान लेना आवश्यक है कि जैन-विचारणा के अनुसार हिंसा क्या है ? जैन-विचारणा हिंसा का दो पक्षों से विचार करती है। एक हिंसा का बाह्य पक्ष है, जिसे जैन पारिभाषिक शब्दावली में द्रव्य हिंसा कहा गया है। द्रव्य हिंसा स्थूल एवं बाह्य घटना है। यह एक क्रिया है जिसे प्राणातिपात, प्राणवध, प्राणहनन आदि नामों से जाना जाता है। जैन-विचारणा आत्मा को सापेक्ष रूप में नित्य मानती है। अतः हिंसा के द्वारा जिसका हनन होता है वह आत्मा नहीं, वरन् प्राण है—प्राण जैविक शक्ति है। जैन-विचारणा में प्राण दस माने गये हैं। पाँच इन्द्रियों की शक्ति, मन, वाणी और शरीर का त्रिविध बल, श्वसन-क्रिया एवं आयुष्य ये दस प्राण हैं। इन प्राण-शक्तियों का वियोजीकरण ही द्रव्य-दृष्टि से हिंसा है।[१] यह हिंसा की यह परिभाषा उसके बाह्य पक्ष पर बल देती है। द्रव्य-हिंसा का तात्पर्य प्राण-शक्तियों का कुण्ठन, हनन तथा विलगाव करना है।

भाव-हिंसा हिंसा का विचार है, यह मानसिक अवस्था है, जो प्रमादजन्य है। आचार्य अमृतचन्द्र हिंसा के भावात्मक पक्ष पर बल देते हुए हिंसा-अहिंसा की परिभाषा करते हैं। उनका कथन है कि रागादि कषायों का अभाव अहिंसा है और उनका उत्पन्न होना ही हिंसा है। यही जैन-आगमों की विचार दृष्टि का सार है।[१] हिंसा की पूर्ण परिभाषा तत्त्वार्थसूत्र में मिलती है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार राग, द्वेष आदि प्रमादों से युक्त होकर किया जाने वाला प्राण-वध हिंसा है।[२]

हिंसा के प्रकार

जैन विचारकों ने द्रव्य और भाव इन दो रूपों के आधार पर हिंसा के चार विभाग किये हैं—१. मात्र शारीरिक हिंसा, २. मात्र वैचारिक हिंसा, ३. शारीरिक एवं वैचारिक हिंसा, और ४. शाब्दिक हिंसा। **मात्र शारीरिक हिंसा** या द्रव्य हिंसा वह है जिसमें हिंसक क्रिया तो सम्पन्न हुई हो, लेकिन हिंसक विचार का अभाव हो। उदाहरणस्वरूप, सावधानीपूर्वक चलते हुए भी दृष्टिदोष या जन्तु की सूक्ष्मता के कारण उसके नहीं दिखाई देने पर हिंसा हो जाना। **मात्र वैचारिक हिंसा** या भाव हिंसा वह है जिसमें हिंसा की क्रिया तो अनुपस्थित हो, लेकिन हिंसा का संकल्प उपस्थित हो। इसमें कर्ता हिंसा के संकल्प से युक्त होता है, लेकिन बाह्य परिस्थितिवश उसे क्रियान्वित करने में सफल नहीं हो पाता है, जैसे कैदी का न्यायाधीश की हत्या करने का विचार (जैन

१. ओघनिर्युक्ति, ७५४ २. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ७, पृ० १२२८

परम्परा में इस सम्बन्ध में तंदुलमच्छ एवं कालसौकरिक कसाई के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं) **वैचारिक एवं शारीरिक हिंसा**—जिसमें हिंसा का विचार और हिंसा की क्रिया दोनों ही उपस्थित हो, जैसे संकल्पपूर्वक की गई हत्या। **शाब्दिक हिंसा**—जिसमें न तो हिंसा का विचार हो, न हिंसा की क्रिया। मात्र हिंसक शब्दों का उच्चारण हो, जैसे सुधार की भावना से माता पिता का बालकों पर या गुरु का शिष्य पर कृत्रिम रूप से कुपित होना।[1] नैतिकता की या बन्धन की तीव्रता की दृष्टि से हिंसा के इन चार रूपों में क्रमशः शाब्दिक हिंसा की अपेक्षा संकल्प रहित शारीरिक हिंसा, संकल्प रहित शारीरिक हिंसा की अपेक्षा मात्र वैचारिक हिंसा और मात्र वैचारिक हिंसा की अपेक्षा संकल्पयुक्त शारीरिक हिंसा अधिक निकृष्ट मानी गयी है।

हिंसा की विभिन्न स्थितियाँ—वस्तुतः हिंसककर्म की तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं—१. हिंसा की गयी हो, २. हिंसा करनी पड़ी हो और ३. हिंसा हो गयी हो। पहली स्थिति में यदि हिंसा चेतन रूप से की गई है तो वह संकल्पयुक्त है, यदि अचेतन-रूप से की गई है तो वह प्रमादयुक्त है। हिंसक क्रिया, चाहे संकल्प से उत्पन्न हुई हो या प्रमाद के कारण हुई हो, कर्ता दोषी माना जाता है। दूसरी स्थिति में हिंसा चेतन रूप से किन्तु विवशतावश करनी पड़ती है, यह बाध्यता शारीरिक हो सकती है अथवा बाह्य परिस्थितिगत, यहाँ भी कर्ता दोषी है। वह कर्म का बन्धन भी करता है, लेकिन पश्चात्ताप या ग्लानि के द्वारा वह उससे शुद्ध हो जाता है। बाध्यता को अवस्था में की गई हिंसा के लिए कर्ता को दोषी मानने का आधार यह है कि समग्र बाध्यताएँ स्वयं के द्वारा आरोपित हैं। बाध्यता या बन्धन के लिए कर्ता स्वयं उत्तरदायी है। बाध्यताओं को स्वीकृति कायरता का प्रतीक है। बन्धन में होना और बन्धन को मानना दोनों ही कर्ता की विकृतियाँ हैं—कर्ता स्वयं दोषी है ही। नैतिक जीवन का साध्य तो इनसे ऊपर उठने में ही है। तीसरी स्थिति में हिंसा न तो प्रमाद के कारण होती है और न विवशतावश ही, वरन् सम्पूर्ण सावधानी के बावजूद भी हो जाती है। जैन-विचारणा के अनुसार हिंसा की यह तीसरी स्थिति कर्ता की दृष्टि से निर्दोष मानी जा सकती है क्योंकि इसमें हिंसा का संकल्प पूरी तरह अनुपस्थित रहता है; मात्र यही नहीं, हिंसा से बचने की पूरी सावधानी भी रखी जाती है। हिंसा के संकल्प के अभाव में एवं सम्पूर्ण सावधानी के बावजूद भी यदि हिंसा हो जाती है तो वह हिंसा के सीमाक्षेत्र में नहीं आती है। हमें यह भी समझ लेना होगा कि किसी अन्य संकल्प की पूर्ति के लिए की जानेवाली क्रिया के दौरान यदि सावधानी के बावजूद कोई हिंसा की घटना घटित हो जाती है, जैसे—गृहस्थ उपासक द्वारा भूमि जोतते हुए किसी त्रस-प्राणी को हिंसा हो जाना अथवा किसी मुनि के द्वारा पदयात्रा करते हुए त्रसप्राणी की हिंसा हो जाना, तो

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ४४   २. तत्त्वार्थसूत्र, ७/८

कर्ता को उस हिंसा के प्रति उत्तरदायी नहीं माना जा सकता है क्योंकि उसके मन में उस हिंसा का कोई संकल्प ही नहीं है। अतः ऐसी हिंसा हिंसा नहीं है। हिंसा की उन स्थितियों में, जिनमें हिंसा की जाती हो या हिंसा करनी पड़ती हो, हिंसा का संकल्प या इरादा अवश्य होता है, यह बात अलग है कि एक अवस्था में हम बिना किसी परिस्थितिगत दबाव के स्वतंत्ररूप में हिंसा का संकल्प करते है और दूसरे में हमें विवशता में संकल्प करना होता है। फिर भी पहली अधिक निकृष्ट कोटि की है क्योंकि आक्रमणात्मक है।

हिंसा के विभिन्न रूप—हिंसक कर्म की उपर्युक्त तीन अवस्थाओं में यदि हिंसा हो जाने की तीसरी अवस्था को छोड़ दिया जाये तो हमारे समक्ष हिंसा के दो रूप बचते हैं—१. हिंसा की गयी हो और २. हिंसा करनी पड़ी हो। वे दशाएँ जिनमें हिंसा करनी पड़ती है, दो प्रकार की हैं—१. रक्षणात्मक और २. आजीविकात्मक, इसमें दो बातें सम्मिलित हैं—जीवन जीने के साधनों का अर्जन और उनका उपभोग।

जैन दर्शन में इसी आधार पर हिंसा के चार रूप माने गये हैं—

१. **संकल्पजा (संकल्पी हिंसा)**—संकल्प या विचारपूर्वक हिंसा करना। यह आक्रमणात्मक हिंसा है।

२. **विरोधजा**—स्वयं और दूसरे लोगों के जीवन एवं स्वत्वों (अधिकारों) के रक्षण के लिए विवशतावश हिंसा करना। यह सुरक्षात्मक हिंसा है।

३. **उद्योगजा**—आजीविका उपार्जन अर्थात् उद्योग एवं व्यवसाय के निमित्त होनेवाली हिंसा। यह उपार्जनात्मक हिंसा है।

४ **आरम्भजा**—जीवन-निर्वाह के निमित्त होने वाली हिंसा—जैसे भोजन का पकाना। यह निर्वाहात्मक हिंसा है।

हिंसा के कारण

जैन आचार्यों ने हिंसा के चार कारण माने हैं। १. राग, २. द्वेष, ३. कषाय अर्थात् क्रोध, अहंकार, कपट एवं लोभवृत्ति और ४. प्रमाद।

हिंसा के साधन

जहाँ तक हिंसा के मूल साधनों का प्रश्न है, वे तीन हैं—मन, वचन और शरीर। सभी प्रकार की हिंसा इन्हीं तीन साधनों द्वारा होती या की जाती है।

हिंसा और अहिंसा मनोदशा पर निर्भर

जैन विचारधारा के अनुसार न केवल पृथ्वी, पानी, वायु, अग्नि एवं वनस्पति-जगत् ही जीवनयुक्त है, वरन् समग्र लोक सूक्ष्म जीवों से व्याप्त है। अतः प्रश्न होता है

१. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ७, पृ० १२३१

कि क्या ऐसी स्थिति में कोई पूर्ण अहिंसक हो सकता है ? महाभारत में भी जगत् को सूक्ष्म जीवों से व्याप्त मानकर यही प्रश्न उठाया है। जल में बहुतेरे जीव हैं, पृथ्वी पर तथा वृक्षों के फलों में भी अनेक जीव (प्राण) होते हैं। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है जो इनमें से किसी को कभी नहीं मारता हो, फिर कितने ही ऐसे सूक्ष्म प्राणी हैं, जो इन्द्रियों से नहीं, मात्र अनुमान से ही जाने जाते हैं—मनुष्य की पलकों के गिरने मात्र से ही जिनके कंधे टूट जाते हैं, अर्थात् मर जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जीवों की हिंसा से नहीं बचा जा सकता है।[1]

प्राचीन युग से ही जैन-विचारकों की दृष्टि भी इस प्रश्न की ओर है। आचार्य भद्रबाहु इस सन्दर्भ में जैन दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—त्रिकालदर्शी जिनेश्वर भगवान् का कथन है कि अनेकानेक जीव-समूहों से परिव्याप्त विश्व में साधक का अहिंसकत्व अन्तर में अध्यात्म विशुद्धि की दृष्टि से ही है, बाह्य हिंसा या अहिंसा की दृष्टि से नहीं है[2]। जैन-विचारधारा के अनुसार भी बाह्य हिंसा से पूर्णतया बच पाना सम्भव नहीं।

हिंसा और अहिंसा का प्रत्यय बाह्य घटनाओं पर उतना निर्भर नहीं है जितना वह साधक की मनोदशा पर आधारित है। हिंसा और अहिंसा के विवेक का आधार प्रमुख रूप से आन्तरिक है। हिंसा में संकल्प की प्रमुखता है। भगवती सूत्र में एक संवाद के द्वारा इसे स्पष्ट किया गया है। गणधर गौतम महावीर से प्रश्न करते हैं—हे भगवन्, किसी श्रमणोपासक ने किसी त्रस प्राणी का वध न करने की प्रतिज्ञा ली हो, लेकिन पृथ्वीकाय की हिंसा की प्रतिज्ञा नहीं ग्रहण की हो, यदि भूमि खोदते हुए उससे किसी प्राणी का वध हो जाय तो क्या उसकी प्रतिज्ञा भंग हुई ? महावीर कहते हैं कि यह मानना उचित नहीं—उसकी प्रतिज्ञा भंग नहीं हुई[3]। इस प्रकार संकल्प की उपस्थिति अथवा साधक की मानसिक स्थिति ही हिंसा-अहिंसा के विचार में प्रमुख तत्त्व है। परवर्ती जैन साहित्य में यही धारणा पुष्ट होती रही है। आचार्य भद्रबाहु का कथन है कि सावधानी पूर्वक चलने वाले साधु के पैर के नीचे भी कभी-कभी कीट, पतंग आदि क्षुद्र प्राणी आ जाते हैं और दब कर मर भी जाते हैं, लेकिन उक्त हिंसा के निमित्त से उसे सूक्ष्म कर्म बंध भी नहीं बताया गया है, क्योंकि यह अन्तर में सर्वतोभावेन उस हिंसा व्यापार से निर्लिप्त होने के कारण निष्पाप है[4]। जो विवेक सम्पन्न अप्रमत्त साधक आन्तरिक विशुद्धि से युक्त है और आगमविधि के अनुसार आचरण करता है, उसके द्वारा हो जाने वाली हिंसा भी कर्म-निर्जरा का कारण है[5]। लेकिन जो व्यक्ति प्रमत्त है

---

१. महाभारत, शान्ति पर्व १५।२५-२६
२. ओघनिर्युक्ति, ७४७
३. भगवतीसूत्र, ७।१।६-७
४. ओघनिर्युक्ति ७४८-४९
५. ओघनिर्युक्ति, ७५९

उसकी किसी भी चेष्टा से जो भी प्राणी मर जाते हैं, वह निश्चित रूप से उन सबका हिंसक होता है। इतना ही नहीं, वरन् जो प्राणी नहीं मारे गये हैं, प्रमत्त मनुष्य उनका भी हिंसक है, क्योंकि वह अन्तर में सर्वतोभावेन पापात्मा है[१] इस प्रकार आचार्य का निष्कर्ष यही है कि केवल दृश्यमान् पापरूप हिंसा से ही कोई हिंसक नहीं हो जाता[२]।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में कहते हैं कि बाहर में प्राणी मरे या जिए असंयताचारी (प्रमत्त) को हिंसा का दोष निश्चित रूप से लगता है। परन्तु जो अहिंसा की साधना के लिए प्रयत्नशील है, समितिवान या संयताचारी है, उसको बाहर से होने वाली हिंसा के कारण कर्म बन्धन नहीं होता[3]। आचार्य अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं कि रागादि कषायों से उपर उठकर नियमपूर्वक आचरण करते हुए भी यदि प्राणघात हो जाये तो वह हिंसा नहीं है[४]। निशीथचूर्णि में भी कहा गया है कि प्राणातिपात (हिंसा) होने पर भी अप्रमत्त साधक अहिंसक है और प्राणातिपात न होने पर भी प्रमत्त व्यक्ति हिंसक है[५]। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आचार्यों की दृष्टि में हिंसा अहिंसा का प्रश्न मुख्य रूप से आन्तरिक रहा है। इस दृष्टिकोण के पीछे प्रमुख विचार यह है कि एक ओर व्यावहारिक रूप में पूर्ण अहिंसा का पालन और दूसरी ओर आध्यात्मिक साधना के लिए जीवन को बनाये रखने का प्रयास, यह दो ऐसी स्थितियाँ हैं जिनको साथ-साथ चलाना सम्भव नहीं होता है। अतः जैन-विचारकों को अन्त में यही स्वीकार करना पड़ा कि हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध बाहरी घटनाओं की अपेक्षा आन्तरिक वृत्तियों से है[६]।

इस दृष्टिकोण का समर्थन हमें गीता और धम्मपद में भी मिलता है। गीता कहती है, जो अहंकार की भावना से मुक्त है, जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है, वह इन सब मनुष्यों को मारता हुआ भी नहीं मारता है और वह (अपने इस कर्म के कारण) बन्धन में नहीं पड़ता[७]।

धम्मपद में भी कहा है कि (नैष्कर्म्य-स्थिति को प्राप्त) ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एवं प्रजा-सहित राष्ट्र को मारकर भी, निष्पाप होकर जाता है (क्योंकि वह पाप-पुण्य से ऊपर उठ जाता है)।[८]

यहाँ गीता और धम्मपद में प्रयुक्त 'मार कर' शब्द पर आपत्ति हो सकती है। जैन-परम्परा में सामान्यतया इस प्रकार के प्रयोग नहीं हैं, फिर भी जैनागमों में ऐसे अपवाद स्थानों का विवेचन उपलब्ध है जबकि हिंसा अनिवार्य हो जाती है। ऐसे अवसरों पर अगर की जाने वाली हिंसा से डर कर कोई उसका आचरण नहीं करता (वह हिंसा-

१. ओघनिर्युक्ति ७५२–५३ २. वही, ७५८
३. प्रवचनसार, ३।१७ ४. पुरुषार्थसिद्धियुक्ति, ४५
५. निशीथचूर्णि ९२ ६. देखिए—दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० ४१४
७. गीता, १८-१७ ८. धम्मपद, २९४

नहीं करता) तो उलटे दोष का भागी बनता है[1] यदि गीता में वर्णित युद्ध के अवसर को एक अपवादात्मक स्थिति के रूप में देखें तो सम्भवतः जैन-विचारणा गीता से अधिक दूर नहीं रह जाती है। दोनों ही ऐसी स्थिति में व्यक्ति के चित्त-साम्य (कृतयोगित्व) और परिणत शास्त्रज्ञान (गीतार्थ) पर बल देती है।

अहिंसा के बाह्य पक्ष की अवहेलना उचित नहीं—हिंसा-अहिंसा के विचार में जिस भावात्मक आन्तरिक पक्ष पर जैन-आचार्य इतना अधिक बल देते रहे हैं, उसका महत्त्व निर्विवाद रूप से सभी को स्वीकार्य है। यही नहीं, इस सन्दर्भ में जैनदर्शन, गीता और बौद्ध-दर्शन में विचार साम्य है, जिस पर हम विचार कर चुके हैं। यह निश्चित है कि हिंसा-अहिंसा की विवक्षा में भावात्मक या आन्तरिक पहलू ही मूल केन्द्र है, लेकिन दूसरे बाह्य पक्ष की अवहेलना भी कथमपि सम्भव नहीं है। यद्यपि वैयक्तिक साधना की दृष्टि से आध्यात्मिक एवं आन्तरिक पक्ष का ही सर्वाधिक मूल्य है; लेकिन जहाँ सामाजिक एवं व्यावहारिक जीवन का प्रश्न है, हिंसा-अहिंसा की विवक्षा में बाह्य पहलू को भी झुठलाया नहीं जा सकता, क्योंकि व्यावहारिक जीवन और सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से जिस पर विचार किया जा सकता है, वह तो आचरण का बाह्य पक्ष ही है।

गीता और बौद्ध आचार-दर्शन की अपेक्षा भी जैन-दर्शन ने इस बाह्य पक्ष पर गहनतापूर्वक समुचित विचार किया है। जैन-परम्परा यह मानती है कि किन्हीं अपवाद की अवस्थाओं को छोड़ कर सामान्यतया जो विचार में हैं, वही व्यवहार में प्रकट होता है। अन्तरंग और बाह्य अथवा विचार और आचार के सम्बन्ध में द्वैत दृष्टि उसे स्वीकार्य नहीं है। उसकी दृष्टि में अन्तरंग में अहिंसक वृत्ति के होते हुए बाह्य हिंसक आचरण कर पाना, यह एक प्रकार की भ्रान्ति है, छलना है, आत्मप्रवंचना है। सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है कि यदि हृदय पापमुक्त हो तो (हिंसादि) क्रिया करने पर भी निर्वाण अवश्य मिलता है, यह एक मिथ्या धारणा है। यदि गीता का यह मन्तव्य हो कि अन्तर में अहिंसक वृत्ति के होते हुए भी हिंसात्मक क्रिया की जा सकती है, तो जैन दर्शन का उससे स्पष्ट विरोध है। जैनधर्म कहता है कि अन्तर में अहिंसक वृत्ति के होते हुए हिंसा की नहीं जा सकती, यद्यपि हिंसा हो सकती है। हिंसा करना सदैव ही संकल्पात्मक होगा और आन्तरिक विशुद्धि के होते हुए हिंसात्मक कर्म का संकल्प सम्भव ही नहीं।[2]

वस्तुतः हिंसा-अहिंसा की विवक्षा में जैन-दृष्टि का सार यह है कि हिंसा चाहे वह बाह्य हो या आन्तरिक, वह आचार का नियम नहीं हो सकती।

दूसरे, हिंसा-अहिंसा की विवक्षा में बाह्य पक्ष की अवहेलना भी मात्र कतिपय अपवादात्मक अवस्थाओं में ही क्षम्य है। हिंसा का हेतु मानसिक प्रवृत्तियाँ, कषायें हैं,

१. देखिए—दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० ४१६ २. सूत्रकृतांग, २।६।३५

उसकी किसी भी चेष्टा से जो भी प्राणी मर जाते हैं, वह निश्चित रूप से उन सबका हिंसक होता है। इतना ही नहीं, वरन् जो प्राणी नहीं मारे गये हैं, प्रमत्त मनुष्य उनका भी हिंसक है, क्योंकि वह अन्तर में सर्वतोभावेन पापात्मा है[१] इस प्रकार आचार्य का निष्कर्ष यही है कि केवल दृश्यमान् पापरूप हिंसा से ही कोई हिंसक नहीं हो जाता[२]।

आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसार में कहते हैं कि बाहर में प्राणी मरे या जिए असंयताचारी (प्रमत्त) को हिंसा का दोष निश्चित रूप से लगता है। परन्तु जो अहिंसा की साधना के लिए प्रयत्नशील है, समितिवान या संयताचारी है, उसको बाहर से होने वाली हिंसा के कारण कर्म-बन्धन नही होता[3]। आचार्य अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं कि रागादि कषायों से उपर उठकर नियमपूर्वक आचरण करते हुए भी यदि प्राणघात हो जाये तो वह हिंसा नहीं है[४]। निशीथचूर्णि में भी कहा गया है कि प्राणातिपात (हिंसा) होने पर भी अप्रमत्त साधक अहिंसक है और प्राणातिपात न होने पर भी प्रमत्त व्यक्ति हिंसक है[५]। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आचार्यों की दृष्टि में हिंसा अहिंसा का प्रश्न मुख्य रूप से आन्तरिक रहा है। इस दृष्टिकोण के पीछे प्रमुख विचार यह है कि एक ओर व्यावहारिक रूप में पूर्ण अहिंसा का पालन और दूसरी ओर आध्यात्मिक साधना के लिए जीवन को बनाये रखने का प्रयास, यह दो ऐसी स्थितियाँ हैं जिनको साथ-साथ चलाना सम्भव नहीं होता है। अतः जैन-विचारकों को अन्त में यही स्वीकार करना पड़ा कि हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध बाहरी घटनाओं की अपेक्षा आन्तरिक वृत्तियों से है[६]।

इस दृष्टिकोण का समर्थन हमें गीता और धम्मपद में भी मिलता है। गीता कहती है, जो अहंकार की भावना से मुक्त है, जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है, वह इन सब मनुष्यों को मारता हुआ भी नहीं मारता है और वह (अपने इस कर्म के कारण) बन्धन में नहीं पड़ता[७]।

धम्मपद में भी कहा है कि (नैष्कर्म्य-स्थिति को प्राप्त) ब्राह्मण माता-पिता को, दो क्षत्रिय राजाओं को एवं प्रजा-सहित राष्ट्र को मारकर भी, निष्पाप होकर जाता है (क्योंकि वह पाप-पुण्य से ऊपर उठ जाता है)।[८]

यहाँ गीता और धम्मपद में प्रयुक्त 'मार कर' शब्द पर आपत्ति हो सकती है। जैन-परम्परा में सामान्यतया इस प्रकार के प्रयोग नहीं हैं, फिर भी जैनागमों में ऐसे अपवाद स्थानों का विवेचन उपलब्ध है जबकि हिंसा अनिवार्य हो जाती है। ऐसे अवसरों पर अगर की जाने वाली हिंसा से डर कर कोई उसका आचरण नहीं करता (वह हिंसा-

१. ओघनिर्युक्ति ७५२–५३
२. वही, ७५८
३. प्रवचनसार, ३।१७
४. पुरुषार्थसिद्धियुक्ति, ४५
५. निशीथचूर्णि ९२
६. देखिए—दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० ४१४
७. गीता, १८-१७
८. धम्मपद. २९४

नहीं करता) तो उलटे दोष का भागी बनता है[1] यदि गीता में वर्णित युद्ध के अवसर को एक अपवादात्मक स्थिति के रूप में देखें तो सम्भवतः जैन-विचारणा गीता से अधिक दूर नहीं रह जाती है। दोनों ही ऐसी स्थिति में व्यक्ति के चित्त-साम्य (कृतयोगित्व) और परिणत शास्त्रज्ञान (गीतार्थ) पर बल देती है।

अहिंसा के बाह्य पक्ष की अवहेलना उचित नहीं—हिंसा-अहिंसा के विचार में जिस भावात्मक आन्तरिक पक्ष पर जैन-आचार्य इतना अधिक बल देते रहे हैं, उसका महत्व निर्विवाद रूप से सभी को स्वीकार्य है। यही नहीं, इस सन्दर्भ में जैनदर्शन, गीता और बौद्ध-दर्शन में विचार साम्य है, जिस पर हम विचार कर चुके हैं। यह निश्चित है कि हिंसा-अहिंसा की विवक्षा में भावात्मक या आन्तरिक पहलू ही मूल केन्द्र है, लेकिन दूसरे बाह्य पक्ष की अवहेलना भी कथमपि सम्भव नहीं है। यद्यपि वैयक्तिक साधना की दृष्टि से आध्यात्मिक एवं आन्तरिक पक्ष का ही सर्वाधिक मूल्य है; लेकिन जहाँ सामाजिक एवं व्यावहारिक जीवन का प्रश्न है, हिंसा-अहिंसा की विवक्षा में बाह्य पहलू को भी झुठलाया नहीं जा सकता, क्योंकि व्यावहारिक जीवन और सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से जिस पर विचार किया जा सकता है, वह तो आचरण का बाह्य पक्ष ही है।

गीता और बौद्ध आचार-दर्शन की अपेक्षा भी जैन-दर्शन ने इस बाह्य पक्ष पर गहनतापूर्वक समुचित विचार किया है। जैन-परम्परा यह मानती है कि किन्हीं अपवाद की अवस्थाओं को छोड़ कर सामान्यतया जो विचार में है, वही व्यवहार में प्रकट होता है। अन्तरंग और बाह्य अथवा विचार और आचार के सम्बन्ध में द्वैत दृष्टि उसे स्वीकार्य नहीं है। उसकी दृष्टि में अन्तरंग में अहिंसक वृत्ति के होते हुए बाह्य हिंसक आचरण कर पाना, यह एक प्रकार की भ्रान्ति है, छलना है, आत्मप्रवंचना है। सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है कि यदि हृदय पापमुक्त हो तो (हिंसादि) क्रिया करने पर भी निर्वाण अवश्य मिलता है, यह एक मिथ्या धारणा है। यदि गीता का यह मन्तव्य हो कि अन्तर में अहिंसक वृत्ति के होते हुए भी हिंसात्मक क्रिया की जा सकती है, तो जैन दर्शन का उससे स्पष्ट विरोध है। जैनधर्म कहता है कि अन्तर में अहिंसक वृत्ति के होते हुए हिंसा की नहीं जा सकती, यद्यपि हिंसा हो सकती है। हिंसा करना सदैव ही संकल्पात्मक होगा और आन्तरिक विशुद्धि के होते हुए हिंसात्मक कर्म का संकल्प सम्भव ही नहीं।[2]

वस्तुतः हिंसा-अहिंसा की विवक्षा में जैन-दृष्टि का सार यह है कि हिंसा चाहे वह बाह्य हो या आन्तरिक, वह आचार का नियम नहीं हो सकती।

दूसरे, हिंसा-अहिंसा की विवक्षा में बाह्य पक्ष की अवहेलना भी मात्र कतिपय अपवादात्मक अवस्थाओं में ही क्षम्य है। हिंसा का हेतु मानसिक प्रवृत्तियाँ, कषायें हैं,

१. देखिए—दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० ४१६ २. सूत्रकृतांग, २।६।३५

यह मानना तो ठीक है, लेकिन यह मानना कि मानसिक वृत्ति या कषायों के अभाव में होने वाली द्रव्यहिंसा हिंसा नहीं है, उचित नहीं। यह ठीक है कि संकल्पजन्य हिंसा अधिक निकृष्ट और निकाश्चित कर्म-बंध करती है, लेकिन संकल्प के अभाव में होने वाली हिंसा, हिंसा नहीं है या उससे कर्म-आस्रव नहीं होता है, यह जैनकर्म-सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। व्यावहारिक जीवन में हमें इसको हिंसा मानना होगा। इस प्रकार के दृष्टिकोण को निम्न कारणों से उचित नहीं माना जा सकता—

(१) जैन-दर्शन में आस्रव का कारण तीन योग है—(अ) मनयोग (ब) वचनयोग और (स) काययोग। इनमें से किसी भी योग के कारण कर्मों का आगमन (आस्रव) होता अवश्य है द्रव्यहिंसा में काया की प्रवृत्ति है अतः उसके कारण आस्रव होता है। जहाँ आस्रव है, वहाँ हिंसा है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में आस्रव के पाँच द्वार (१. हिंसा, २. असत्य, ३. स्तेय, ४. अब्रह्मचर्य ५. परिग्रह) माने गये हैं जिसमें प्रथम आस्रवद्वार हिंसा है। ऐसा कृत्य जिसमें प्राण वियोजन होता है, हिंसा है और दूषित है। यह ठीक है कि कषायों के अभाव में उससे निकाश्चित कर्म-बंध नहीं होता है, लेकिन क्रिया दोष तो लगता है।

(२) जैन-शास्त्रों में वर्णित पच्चीस क्रियाओं में 'ईर्यापथिक' क्रिया भी है। जैन-तीर्थंकर राग द्वेष आदि कषायों से मुक्त होते हैं, लेकिन काययोग के कारण उन्हें ईर्या-पथिक क्रिया लगती है और ईर्यापथिक बंध भी होता है। यदि द्रव्य-हिंसा मानसिक कषायों के अभाव में हिंसा नहीं है तो कायिक व्यापार के कारण उन्हें ईर्यापथिक क्रिया क्यों लगती ? इसका तात्पर्य यह है कि द्रव्यहिंसा हिंसा है।

(३) द्रव्य हिंसा यदि मानसिक प्रवृत्तियों के अभाव में हिंसा ही नहीं है तो फिर यह दो भेद—भाव हिंसा और द्रव्यहिंसा नहीं रह सकते।

(४) वृत्ति और आचरण का अन्तर कोई सामान्य नियम नहीं है। सामान्य रूप से व्यक्ति की जैसी वृत्तियाँ होती हैं, वैसा ही उसका आचरण होता है। अतः यह मानना कि आचरण का बाह्य पक्ष वृत्तियों से अलग होकर कार्य कर सकता है, एक भ्रान्त धारणा है।

पूर्ण अहिंसा के आदर्श की दिशा में—यद्यपि आन्तरिक और बाह्य रूप से पूर्ण अहिंसा के आदर्श की उपलब्धि जैन दर्शन का साध्य है, लेकिन व्यवहार के क्षेत्र में इस आदर्श की उपलब्धि सहज नहीं है। अहिंसा एक आध्यात्मिक आदर्श है और आध्यात्मिक स्तर पर ही इसकी पूर्ण उपलब्धि सम्भव है, लेकिन व्यक्ति का वर्तमान जीवन अध्यात्म और भौतिकता का एक सम्मिश्रण है। जीवन के आध्यात्मिक स्तर पर पूर्ण अहिंसा सम्भव है, लेकिन भौतिक स्तर पर पूर्ण अहिंसा की कल्पना समीचीन नहीं है। अहिंसक जीवन की सम्भावनाएँ भौतिक स्तर से ऊपर उठने पर विकसित

होती है—व्यक्ति जैसे-जैसे भौतिकता के स्तर से ऊपर उठता जाता है, वैसे-वैसे अहिंसक जीवन की पूर्णता की दिशा में बढ़ता जाता है। इसी आधार पर जैन धर्म में अहिंसा की दिशा में बढ़ने के लिए कुछ स्तर निर्धारित हैं।

हिंसा का वह रूप जिसे संकल्पजा हिंसा कहा जाता है, सभी के लिए त्याज्य है। संकल्पजा हिंसा हमारे वैचारिक या मानसिक जगत् पर निर्भर है। मानसिक संकल्प के कर्ता के रूप में व्यक्ति में स्वतन्त्रता की सम्भावनाएँ सर्वाधिक विकसित हैं। अपने मनोजगत् में व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्र है। इस स्तर पर पूरी तरह से अहिंसा का पालन अधिक सहज एवं सम्भव है। बाह्य स्थितियाँ इस स्तर पर हमें प्रभावित कर सकती हैं, लेकिन शासित नहीं कर सकतीं। व्यक्ति स्वयं अपने विचारों का स्वामी होता है, अतः इस स्तर पर अहिंसक होना सभी के लिए आवश्यक है। व्यावहारिक दृष्टि से संकल्पजा हिंसा आक्रमणकारी हिंसा है। यह न तो जीवन के रक्षण के लिए है और न जीवन-निर्वाह के लिए है, अतः यह सभी के लिए त्याज्य है।

हिंसा का दूसरा रूप विरोधजा है। यह प्रत्याक्रमण या सुरक्षात्मक है। स्व एवं पर के *जीवन एवं स्वत्वों* के रक्षण के लिए यह हिंसा करनी पड़ती है। इसमें बाह्य परिस्थितिगत तत्त्वों का प्रभाव प्रमुख होता है। बाह्य स्थितियाँ व्यक्ति को बाध्य करती हैं कि वह अपने एवं अपने साथियों के जीवन एवं स्वत्वों के रक्षण के लिए प्रत्याक्रमण के रूप में हिंसा करे। जो भी मनुष्य शरीर एवं अन्य भौतिक संस्थानों पर अपना स्वत्व रखना चाहते हैं अथवा जो अपने और अपने साथियों के अधिकारों में आस्था रखते हैं, वे इस विरोधजा हिंसा को छोड़ नहीं सकते। गृहस्थ या श्रावक हिंसा के इस रूप को पूरी तरह छोड़ पाने में असमर्थ होते हैं, क्योंकि वे शरीर एवं अन्य भौतिक वस्तुओं पर अपना स्वत्व रखना चाहते हैं। इसी प्रकार शासक वर्ग एवं राजनैतिक नेता जो मानवीय अधिकारों में एवं राष्ट्रीय हितों में आस्था रखते हैं, इसे पूरी तरह छोड़ने में असमर्थ हैं।

यद्यपि आधुनिक युग में गांधी एक ऐसे विचारक अवश्य हुए हैं जिन्होंने विरोध का अहिंसक तरीका प्रस्तुत किया और उसमें सफलता भी प्राप्त की, तथापि अहिंसक रूप से विरोध करना और उसमें सफलता प्राप्त करना हर किसी के लिए सम्भव नहीं है। अहिंसक प्रक्रिया से अधिकारों का संरक्षण करने में वही सफल हो सकता है जिसे शरीर का मोह न हो, पदार्थों में आसक्ति न हो और विद्वेष भाव न हो। इतना ही नहीं, अहिंसक तरीके से अधिकारों के संरक्षण की कल्पना एक सभ्य एवं सुसंस्कृत मानव समाज में ही सम्भव हो सकती है। यदि विरोधी पक्ष मानवीय स्तर पर हो, तब तो अहिंसक विरोध सफल हो जाता है, लेकिन यदि विरोधी पक्ष पाशविक स्तर पर हो तो अहिंसक विरोध की सफलता सन्देहास्पद बन जाती है। मानव में मानवीय गुणों की सम्भावना की आस्था ही अहिंसक विरोध का केन्द्रीय तत्त्व है। मानवीय गुणों

में हमारी आस्था जितनी बलशाली होगी और विरोधी में मानवीय गुणों का जितना अधिक प्रकटन होगा, अहिंसक विरोध की सफलता भी उतनी ही अधिक होगी।

जहाँ तक उद्योगजा और आरम्भजा हिंसा की बात है, एक गृहस्थ उससे नहीं बच सकता, क्योंकि जब तक शरीर का मोह है, तब तक आजीविका का अर्जन और शारीरिक आवश्यकता की पूर्ति दोनों ही आवश्यक हैं। यद्यपि इस स्तर पर मनुष्य अपने को त्रस प्राणियों की हिंसा से बचा सकता है। जैन धर्म में उद्योग-व्यवसाय एवं भरण-पोषण के लिए भी त्रस जीवों की हिंसा करने का निषेध है।

लेकिन, जब व्यक्ति शरीर और सम्पत्ति के मोह से ऊपर उठ जाता है तो वह पूर्ण अहिंसा की दिशा में और आगे बढ़ जाता है। जहाँ तक श्रमण साधक या संन्यासी की बात है, वह अपरिग्रही होता है, उसे अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं होता, अतः वह सर्वतोभावेन हिंसा से विरत होने का व्रत लेता है। शरीर धारण मात्र के लिए कुछ अपवादों को छोड़कर वह संकल्पपूर्वक और विवशतावश दोनों ही परिस्थितियों में त्रस और स्थावर हिंसा से विरत हो जाता है। मुनि नथमलजी के शब्दों में कोई भी व्यक्ति एक ही डग में चोटी तक नहीं पहुँच सकता। वह धीमे-धीमे आगे बढ़ता है। भगवान् महावीर ने अहिंसा की पहुँच के कुछ स्तर निर्धारित किये थे जो वस्तुस्थिति पर आधारित हैं। उन्होंने हिंसा को तीन भागों में विभक्त किया—(१) संकल्पजा (२) विरोधजा और (३) आरम्भजा। संकल्पजा हिंसा आक्रमणात्मक हिंसा है। वह सबके लिए सर्वथा परिहार्य है। विरोधजा हिंसा प्रत्याक्रमणात्मक हिंसा है। उसे छोड़ने में वह असमर्थ होता है, जो भौतिक संस्थानों पर अपना अस्तित्व रखना चाहता है। आरम्भजा हिंसा आजीविकात्मक हिंसा है। उसे छोड़ने में वे सब असमर्थ होते हैं जो भौतिक साधनों के अर्जन संरक्षण द्वारा अपना जीवन चलाना चाहते हैं।[1]

प्रथम स्तर पर हम आसक्ति, तृष्णा आदि के वशीभूत होकर की जाने वाली अनावश्यक आक्रमणात्मक हिंसा से बचें, फिर दूसरे स्तर पर जीवनयापन एवं आजीविकोपार्जन के निमित्त होनेवाली त्रस हिंसा से विरत हों, तीसरे स्तर पर विरोध के अहिंसक तरीके को अपनाकर प्रत्याक्रमणात्मक हिंसा से विरत हों। इस प्रकार जीवन के लिए आवश्यक जैसी हिंसा से भी क्रमशः ऊपर उठते हुए चौथे स्तर पर शरीर और परिग्रह की आसक्ति का परित्याग कर सर्वतोभावेन पूर्ण अहिंसा की दिशा में आगे बढ़ें।

इस प्रकार पूर्ण अहिंसा का आदर्श पूर्णतया अव्यावहारिक भी नहीं रहता है। मनुष्य जैसे-जैसे सम्पत्ति और शरीर के मोह से ऊपर उठता जाता है, अहिंसा का आदर्श उसके लिए व्यवहार्य बनता जाता है। पूर्ण अनासक्त जीवन में पूर्ण अहिंसा व्यवहार्य बन जाती है।

---

१. तट दो प्रवाह एक, पृ० ४०

यद्यपि शरीरधारी रहते हुए पूर्ण अहिंसा एक आदर्श ही रहेगी, वह यथार्थ नहीं बन पावेगी। जब शरीर के संरक्षण का मोह समाप्त होगा तभी वह आदर्श यथार्थ की भूमि पर अवतरित होगा। फिर भी एक बात ध्यान में रखनी होगी, वह यह कि जब तक शरीर है और शरीर के संरक्षण की वृत्ति है, चाहे वह साधना के लिए ही क्यों न हो, यह कथमपि सम्भव नहीं है कि व्यक्ति पूर्ण अहिंसा के आदर्श को पूर्णरूपेण साकार कर सके। शरीर के लिए आहार आवश्यक है, कोई भी आहार बिना हिंसा के सम्भव नहीं होगा। चाहे हमारा मुनिवर्ग यह कहता भी हो कि हम औद्देशिक आहार नहीं लेते हैं किन्तु क्या उनकी विहार-यात्रा में साथ चलनेवाला पूरा लवाजिमा, सेवा में रहने के नाम पर लगनेवाले चौके औद्देशिक नहीं हैं ? जब समाज में रात्रिभोजन सामान्य हो गया हो, क्या सन्ध्याकालीन गोचरी में अनौद्देशिक आहार मिल पाना सम्भव है, क्या कश्मीर से कन्याकुमारी तक और बम्बई से कलकत्ता तक की सारी यात्राएँ औद्देशिक आहार के अभाव में निर्विघ्न सम्भव हो सकती हैं ? क्या आर्हत-प्रवचन की प्रभावना के लिए मन्दिरों का निर्माण, पूजा और प्रतिष्ठा के समारोह, संस्थाओं का संचालन, मुनिजनों के स्वागत और विदाई समारोह तथा संस्थाओं के अधिवेशन षट्काय की नवकोटियुक्त अहिंसा के परिपालन के साथ कोई संगति रख सकते हैं ? हमें अपनी अन्तरात्मा से यह सब पूछना होगा। हो सकता है कि कुछ विरल सन्त और साधक हों जो इन कसौटियों पर खरे उतरते हों, मैं उनकी बात नहीं कहता, वे शतशः वन्दनीय हैं, किन्तु सामान्य स्थिति क्या है ? फिर भिक्षाचर्या, पाद-विहार, शरीर संचालन, श्वासोछ्वास किसमें हिंसा नहीं है। पृथ्वी, अग्नि, वायु, वनस्पति अदि सभी में जीव हैं, ऐसा कोई मनुष्य नहीं जो इन्हें नहीं मारता हो, पुनः कितने ही ऐसे सूक्ष्म प्राणी हैं जो इन्द्रियों से नहीं, अनुमान से जाने जाते हैं, मनुष्य की पलकों के झपकने मात्र से ही जिसके कंधे टूट जाते हैं अतः जीव-हिंसा से बचा नहीं जा सकता। एक ओर षट्जीवनिकाय की अवधारणा और दूसरी ओर नवकोटियुक्त पूर्ण अहिंसा का आदर्श, जीवित रहकर इन दोनों में संगति बिठा पाना अशक्य है। अतः जैन आचार्यों को भी यह कहना पड़ा कि 'अनेकानेक जीव-समूहों से परिव्याप्त विश्व में साधक का अहिंसकत्व अन्तर में आध्यात्मिक विशुद्धि की दृष्टि से ही है' (ओघनिर्युक्ति, ७४७)। लेकिन इसका यह अर्थ भी नहीं है कि हम अहिंसा को अव्यवहार्य मानकर तिलांजलि दे देवें। यद्यपि एक शरीरधारी के नाते यह हमारी विवशता है कि हम द्रव्य और भाव दोनों अपेक्षा से पूर्ण अहिंसा के आदर्श को उपलब्ध नहीं कर सकते हैं किंतु उस दिशा में क्रमशः आगे बढ़ सकते हैं और जीवन की पूर्णता के साथ ही पूर्ण अहिंसा के आदर्श को भी उपलब्ध कर सकते हैं। कम से कम हिंसा की दिशा में आगे बढ़ते हुए साधक के लिए जीवन का अन्तिम क्षण अवश्य ही ऐसा है, जब वह पूर्ण अहिंसा के आदर्श को साकार कर सकता है। जैनधर्म की पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो पादोपगमन

संथारा एवं चौदहवें अयोगी केवली गुणस्थान की अवस्थाएँ ऐसी हैं जिनमें पूर्ण अहिंसा का आदर्श साकार हो जाता है।

पूर्ण अहिंसा सामाजिक सन्दर्भ में

पुनः अहिंसा की सम्भावना पर हमें न केवल वैयक्तिक दृष्टि से विचार करना है अपितु सामाजिक दृष्टि से भी विचार करना है। चाहे यह सम्भव भी हो, व्यक्ति शरीर, सम्पत्ति, संघ और समाज से निरपेक्ष होकर पूर्ण अहिंसा के आदर्श को उपलब्ध कर सकता है; फिर भी ऐसी निरपेक्षता किन्हीं विरल साधकों के लिए ही सम्भव होगी, सर्व सामान्य के लिए तो सम्भव नहीं कही जा सकती है। अतः मूल प्रश्न यह है कि क्या सामाजिक जीवन पूर्ण अहिंसा के आदर्श पर खड़ा किया जा सकता है? क्या पूर्ण अहिंसक समाज की रचना सम्भव है? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व मैं आपसे समाज-रचना के स्वरूप पर कुछ बातें कहना चाहूँगा। एक तो यह कि अहिंसक चेतना अर्थात् संवेदनशीलता के अभाव में समाज की कल्पना ही सम्भव नहीं है। समाज जब भी खड़ा होता है आत्मीयता, प्रेम और सहयोग के आधार पर खड़ा होता है अर्थात् अहिंसा के आधार पर खड़ा होता है। क्योंकि हिंसा का अर्थ है—घृणा, विद्वेष, आक्रामकता; और जहाँ भी ये वृत्तियाँ बलवती होंगी सामाजिकता की भावना ही समाप्त हो जावेगी, समाज ढह जावेगा। अतः समाज और अहिंसा सहगामी हैं। दूसरे शब्दों में यदि हम मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी मानते हैं तो हमें यह मानना होगा कि अहिंसा उसके लिए स्वाभाविक ही है। जब भी कोई समाज खड़ा होगा और टिकेगा तो वह अहिंसा की भित्ति पर ही खड़ा होगा और टिकेगा। किंतु एक दूसरा पहलू भी है, वह यह कि समाज के लिए भी अपने अस्तित्व और अपने सदस्यों के हितों के संरक्षण का प्रश्न मुख्य है और जहाँ अस्तित्व की सुरक्षा और हितों के संरक्षण का प्रश्न है, वहाँ हिंसा अपरिहार्य है। हितों में टकराव स्वाभाविक है, अनेक बार तो एक का हित दूसरे के अहित पर, एक का अस्तित्व दूसरे के विनाश पर खड़ा होता है, ऐसी स्थिति में समाज-जीवन में भी हिंसा अपरिहार्य होगी। पुनः समाज का हित और सदस्य-व्यक्ति का हित भी परस्पर विरोध में हो सकता है। जब वैयक्तिक और सामाजिक हितों के संघर्ष की स्थिति हो तो बहुजन हितार्थ हिंसा अपरिहार्य भी हो सकती है। जब समाज या राष्ट्र का कोई सदस्य या वर्ग अथवा दूसरा राष्ट्र अपने हितों के लिये हिंसा पर अथवा अन्याय पर उतारू हो जाये तो निश्चय ही अहिंसा की दुहाई देने से काम न चलेगा। जब तक जैन आचार्यों द्वारा उद्घोषित 'मानव जाति एक है' की कल्पना साकार नहीं हो पाती, जब तक सम्पूर्ण मानव समाज ईमानदारी के साथ अहिंसा के पालन के लिए प्रतिबद्ध नहीं होता, तब तक अहिंसक समाज की बात करना कपोलकल्पना ही कहा जायेगा। जैनागम जिस पूर्ण अहिंसा के आदर्श को प्रस्तुत करते हैं उसमें भी जब संघ की या संघ के किसी सदस्य की सुरक्षा या न्याय का प्रश्न आया तो हिंसा को स्वीकार करना पड़ा। गणाधि-

पति चेटक और आचार्य कालक के उदाहरण इसके प्रमाण हैं। यही नहीं, निशीथचूर्णि में तो यहाँ तक स्वीकार कर लिया गया है कि संघ की सुरक्षा के लिए मुनि भी हिंसा का सहारा ले सकता है। ऐसे प्रसंगों में पशु-हिंसा तो क्या मनुष्य की हिंसा भी उचित मान ली गयी है। जब तक मानव समाज का एक भी सदस्य पाशविक प्रवृत्तियों में आस्था रखता है यह सोचना व्यर्थ ही है कि सामुदायिक जीवन में पूर्ण अहिंसा का आदर्श व्यवहार्य बन सकेगा। निशीथचूर्णि में अहिंसा के अपवादों को लेकर जो कुछ कहा गया है, उसे चाहे कुछ लोग साध्वाचार के रूप में सीधे मान्य करना न चाहते हों; किंतु क्या यह नपुंसकता नहीं होगी जब किसी मुनि संघ के सामने किसी तरुणी साध्वी का अपहरण हो रहा हो या उस पर बलात्कार हो रहा हो और वे अहिंसा की दुहाई देते हुए मौन दर्शक बने रहें? क्या उनका कोई दायित्व नहीं है? यह बात चाहे हास्यास्पद लगती हो कि अहिंसा की रक्षा के लिए हिंसा आवश्यक है किन्तु व्यावहारिक जीवन में अनेक बार ऐसी परिस्थितियाँ आ सकती हैं जिनमें अहिंसक संस्कृति की रक्षा के लिए हिंसक वृत्ति अपनानी पड़े। यदि हिंसा में आस्था रखनेवाला कोई समाज किसी अहिंसक समाज को पूरी तरह मिटा देने को तत्पर हो जावे, क्या उस अहिंसक समाज को अपने अस्तित्व के लिए कोई संघर्ष नहीं करना चाहिए? हिंसा-अहिंसा का प्रश्न निरा वैयक्तिक प्रश्न नहीं है। जब तक सम्पूर्ण मानव समाज एक साथ अहिंसा की साधना के लिए तत्पर नहीं होता है, किसी एक समाज या राष्ट्र द्वारा कही जानेवाली अहिंसा के आदर्श की बात कोई अर्थ नहीं रखती है। संरक्षणात्मक और सुरक्षात्मक हिंसा समाज-जीवन के लिए अपरिहार्य है। समाज-जीवन में इसे मान्य भी करना ही होगा। इसी प्रकार उद्योग-व्यवसाय और कृषि कार्यों में होनेवाली हिंसा भी समाज-जीवन में बनी ही रहेगी। मानव समाज में मांसाहार एवं तज्जन्य हिंसा को समाप्त करने की दिशा में सोचा तो जा सकता है किन्तु उसके लिए कृषि के क्षेत्र में एवं अहिंसक आहार की प्रचुर उपलब्धि के सम्बन्ध में व्यापक अनुसंधान एवं तकनीकी विकास की आवश्यकता होगी। यद्यपि हमें यह समझ भी लेना होगा कि जब तक मनुष्य की संवेदनशीलता को पशुजगत् तक विकसित नहीं किया जावेगा और मानवीय आहार को सात्विक नहीं बनाया जावेगा मनुष्य की आपराधिक प्रवृत्तियों पर पूरा नियन्त्रण नहीं होगा। आदर्श अहिंसक समाज की रचना हेतु हमें समाज से आपराधिक प्रवृत्तियों को समाप्त करना होगा और आपराधिक प्रवृत्तियों के नियमन के लिए हमें मानव जाति में संवेदनशीलता, संयम एवं विवेक के तत्त्वों को विकसित करना होगा।

अहिंसा के सिद्धान्त पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार—अहिंसा के आदर्श को जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराएँ समान रूप से स्वीकार करती हैं। लेकिन जहाँ तक अहिंसा के पूर्ण आदर्श को व्यावहारिक जीवन में उतारने की बात है, तीनों ही परम्पराएँ कुछ अपवादों को स्वीकार कर जीवन के धारण और रक्षण के निमित्त हो जाने वाले जीव-

घात (हिंसा) को हिंसा के रूप में नहीं मानती हैं। यद्यपि इन अपवादात्मक स्थितियों में भी साधक का राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठ कर अप्रमत्त चेता होना आवश्यक है। इस प्रकार तीनों परम्पराएँ इस सम्बन्ध में भी एकमत हो जाती हैं कि हिंसा-अहिंसा का प्रश्न मुख्य रूप से आन्तरिक है; बाह्य रूप में हिंसा के होने पर भी राग-द्वेष वृत्तियों से ऊपर उठा हुआ अप्रमत्त मनुष्य अहिंसक है, जबकि बाह्य रूप में हिंसा नहीं होने पर भी प्रमत्त मनुष्य हिंसक है। तीनों परम्पराएँ इस सम्बन्ध में भी एकमत है कि अपने-अपने शास्त्रों की आज्ञानुसार आचरण करने पर होने वाली हिंसा हिंसा नहीं है।[1]

अतः अहिंसा सम्बन्धी सैद्धान्तिक मान्यताओं में सभी आचारदर्शन एकदूसरे के पर्याप्त निकट आ जाते हैं, लेकिन इन आधारों पर यह मान लेना भ्रांति है कि व्यावहारिक जीवन में अहिंसा के प्रत्यय का विकास सभी आचारदर्शनों में समान रूप से हुआ हैं।

अहिंसा के सिद्धान्त की सार्वभौम स्वीकृति के बावजूद भी अहिंसा के अर्थ को लेकर सब धर्मों में एकरूपता नहीं है। हिंसा और अहिंसा के बीच खींची गई भेद-रेखा सभी में अलग-अलग है। कहीं पशुवध को ही नहीं, नरबलि को भी हिंसा की कोटि में नहीं माना गया है तो कहीं वानस्पतिक हिंसा अर्थात् पेड़-पौधे को पीड़ा देना भी हिंसा माना जाता है। चाहे अहिंसा की अवधारणा उन सबमें समानरूप से उपस्थित हो किन्तु अहिंसक चेतना का विकास उन सबमें समानरूप से नहीं हुआ है। क्या मूसा के Thou shalt not kill के आदेश का वही अर्थ है जो महावीर की **'सव्वेसत्ता न हंतव्वा'** की शिक्षा का है? यद्यपि हमें यह ध्यान रखना होगा कि अहिंसा के अर्थविकास की यह यात्रा किसी कालक्रम में न होकर मानव जाति की सामाजिक चेतना तथा मानवीय विवेक एवं संवेदनशीलता के विकास के परिणामस्वरूप हुई है। जो व्यक्ति या समाज जीवन के प्रति जितना अधिक संवेदनशील बना उसने अहिंसा के प्रत्यय को उतना ही अधिक व्यापक अर्थ प्रदान किया। अहिंसा के अर्थ का यह विस्तार भी तीनों रूपों में हुआ है—एक ओर अहिंसा के अर्थ को व्यापकता दी गई, तो दूसरी ओर अहिंसा का विचार अधिक गहन होता चला गया है। एक ओर स्वजाति और स्वधर्मी मनुष्य की हत्या के निषेध से प्रारंभ होकर षट्जीवनिकाय की हिंसा के निषेध तक इसने अर्थविस्तार पाया है तो दूसरी ओर प्राणवियोजन के बाह्य रूप से द्वेष, दुर्भावना और असावधानी (प्रमाद) के आन्तरिक रूप तक, इसने गहराईयों में प्रवेश किया है। पुनः अहिंसा ने 'हिंसा मत करो' के निषेधात्मक अर्थ से लेकर दया, करुणा, दान, सेवा और सहयोग के विधायक अर्थ तक भी अपनी यात्रा की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अहिंसा का अर्थविकास त्रि-आयामी (थ्री डाईमेन्सनल) है। अतः जब भी हम अहिंसा की अवधारणा को लेकर कोई चर्चा करना चाहते हैं तो हमें उसके सभी पहलुओं की ओर ध्यान देना होगा।

१. दर्शन और चिन्तन, पृ० ४१०–४११.

जैनागमों के संदर्भ में अहिंसा के अर्थ की व्याप्ति को लेकर कोई चर्चा करने के पूर्व हमें यह देख लेना होगा कि अहिंसा की इस अवधारणा ने कहाँ कितना अर्थ पाया है।

यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म में अहिंसा का अर्थविस्तार

मूसा ने धार्मिक जीवन के लिए जो दस आदेश प्रसारित किये थे उनमें एक है 'तुम हत्या मत करो' किन्तु इस आदेश का अर्थ यहूदी समाज के लिए व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए अपनी जातीय भाई की हिंसा नहीं करने से अधिक नहीं रहा। धर्म के नाम पर तो हम स्वयं पिता को अपने पुत्र की बलि देता हुआ देखते हैं। इस्लाम ने चाहे अल्लाह को 'रहमानुर्रहीम'—करुणाशील कह कर सम्बोधित किया हो, और चाहे यह भी मान लिया हो कि सभी जीवधारियों को जीवन उतना ही प्रिय है, जितना तुम्हें अपना है, किन्तु उसमें अल्लाह की इस करुणा का अर्थ स्वधर्मियों तक ही सीमित रहा। इतर मनुष्यों के प्रति इस्लाम आज तक संवेदनशील नहीं बन सका है। पुनः यहूदी और इस्लाम दोनों ही धर्मों में धर्म के नाम पर पशुबलि को सामान्य रूप से आज तक स्वीकृत किया जाता है। इस प्रकार इन धर्मों में मनुष्य की संवेदनशीलता स्वजाति और स्वधर्मी अर्थात् अपनों से अधिक अर्थविस्तार नहीं पा सकी है। इस संवेदनशीलता का अधिक विकास हमें ईसाई धर्म में दिखाई देता है। ईसा शत्रु के प्रति भी करुणाशील होने की बात कहते हैं। वे अहिंसा, करुणा और सेवा के क्षेत्र में अपने और पराये, स्वधर्मी और विधर्मी, शत्रु और मित्र के भेद से ऊपर उठ जाते हैं। इस प्रकार उनकी करुणा सम्पूर्ण मानवता के प्रति बरसी है। यह बात अलग है कि मध्ययुग में ईसाइयों ने धर्मके नाम पर खून की होली खेली हो और ईश्वर-पुत्र के आदेशों की अवहेलना की हो किन्तु ऐसा तो हम सभी करते हैं। धर्म के नाम पर पशुबलि की स्वीकृति भी ईसाई धर्म में नहीं देखी जाती है। इस प्रकार उसमें अहिंसा की अवधारणा अधिक व्यापक बनी है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सेवा तथा सहयोग के मूल्यों के माध्यम से अहिंसा को एक विधायक दिशा भी प्रदान की है। फिर भी सामान्य जीवन में पशुवध और मांसाहार के निषेध की बात वहाँ नहीं उठाई गई है। अतः उसकी अहिंसा की अवधारणा मानवता तक ही सीमित मानी जा सकती है, वह भी समस्त प्राणी जगत् की पीड़ा के प्रति संवेदनशील नहीं बन सका।

भारतीय चिन्तन में अहिंसा का अर्थ-विस्तार

चाहे वेदों में 'पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः' (ऋग्वेद, ६.७५.१४) के रूप में एक दूसरे की सुरक्षा की बात कही गई हो अथवा 'मित्रास्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' (यजुर्वेद, ३६.१८) के रूप में सर्वप्राणियों के प्रति मित्र-भाव की कामना की गई हो किंतु वेदों की यह अहिंसक चेतना भी मानवजाति तक ही सीमित रही है। मात्र इतना ही नहीं, वेदों में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनमें शत्रु-वर्ग के विनाश के लिए प्रार्थनाएँ भी की गई हैं। यज्ञों में पशुबलि स्वीकृत रही, वेद विहित हिंसा को हिंसा की कोटि में नहीं

माना गया। इस प्रकार उनमें धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा को समर्थन ही दिया गया। वेदों में अहिंसा की अवधारणा का अर्थविस्तार उतना ही है जितना कि यहूदी और इस्लाम धर्म में। वैदिक धर्मकी पूर्व-परम्परा में भी अहिंसा का सम्बन्ध मानव जाति तक ही सीमित रहा। 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' का उद्घोष तो हुआ, लेकिन व्यावहारिक जीवन में वह मानव-प्राणी से अधिक ऊपर नहीं उठ सका। इतना ही नहीं, एक ओर पूर्ण अहिंसा के बौद्धिक आदर्श की बात और दूसरी ओर मांसाहार की लालसा एवं रूढ़ परम्पराओं के प्रति अंध आस्था ने अपवाद का एक नया आयाम खड़ा किया और कहा गया कि 'वेदविहित हिंसा हिंसा नहीं है।'[1] श्रमण परम्पराएँ इस दिशा में और आगे आयीं और उन्होंने अहिंसा की व्यावहारिकता का विकास समग्र प्राणी-जगत् तक करने का प्रयास किया और इसी आधार पर वैदिक हिंसा की खुल कर आलोचना की गई। कहा गया कि यदि यूप के छेदन करने से और पशुओं की हत्या करने से और खून का कीचड़ मचाने से ही स्वर्ग मिलता हो तो फिर नर्क में कैसे जाया जावेगा।[2] यदि हनन किया गया पशु स्वर्ग को जाता है तो फिर यजमान अपने माता-पिता की बलि ही क्यों नहीं दे देता ?[3] अहिंसक चेतना का सर्वाधिक विकास हुआ है श्रमण परम्परा में। इसका मुख्य कारण यह था कि गृहस्थ जीवन में रहकर पूर्ण अहिंसा के आदर्श को साकार कर पाना सम्भव नहीं था। जीवनयापन अर्थात् आहार, सुरक्षा आदि के लिए हिंसा आवश्यक तो है ही, अतः उन सभी धर्म परम्पराओं में जो मूलतः निवृत्तिपरक या संन्यासमार्गीय नहीं थीं, अहिंसा को उतना अर्थविस्तार प्राप्त नहीं हो सका जितना श्रमणधारा या संन्यासमार्गीय परंपरा में सम्भव था। यद्यपि श्रमण परंपराओं के द्वारा हिंसापरक यज्ञ-यागों की आलोचना और मानवीय विवेक एवं संवेदनशीलता के विकास का एक परिणाम यह हुआ कि वैदिक परम्परा में भी एक ओर वेदों के पशुहिंसा-परक पदों का अर्थ अहिंसक रीति से किया जाने लगा (महाभारत के शान्तिपर्व में राजा वसु का आख्यान—अध्याय ३३७-३३८—इसका प्रमाण है) तो दूसरी ओर धार्मिक जीवन के लिए कर्मकाण्ड को अनुपयुक्त मानकर औपनिषदिक धारा के रूप में ज्ञान-मार्ग का और भागवत धर्म के रूप में भक्ति-मार्ग का विकास हुआ। इसमें अहिंसा का अर्थविस्तार सम्पूर्ण प्राणीजगत् अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा के निषेध तक हुआ है। वैदिक परम्परा में संन्यासी को कन्दमूल एवं फल का उपभोग करने की स्वतन्त्रता है, इस प्रकार वहाँ वानस्पतिक हिंसा का विचार उपस्थित नहीं है। फिर भी यह तो सत्य है कि अहिंसक चेतना को सर्वाधिक विकसित करने का श्रेय श्रमण परम्पराओं को ही है। भारत में ई० पू० ६ठीं शताब्दी का जो भी इतिवृत्त हमें प्राप्त होता है उससे ऐसा लगता है कि उस युग में पूर्ण अहिंसा के आदर्श को साकार बनाने में श्रमण सम्प्रदायों में होड़ लगी

१. "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति". २. अभिधान राजेन्द्रकोश, खण्ड ७, पृ० १२२९.
३. भारतीय दर्शन (दत्त एवं चटर्जी), पृ० ४३ पर उद्धृत.

हुई थी। कम से कम हिंसा ही श्रामण्य-जीवन की श्रेष्ठता का प्रतिमान था। सूत्रकृतांग में आर्द्रक कुमार की विभिन्न मतों के श्रमणों से जो चर्चा है उसमें मूल प्रश्न यही है कि कौन सबसे अधिक अहिंसक है (देखिये सूत्रकृतांग, २।६)। त्रस प्राणियों (पशु, पक्षी, कीट-पतंग आदि) की हिंसा तो हिंसा थी ही, किन्तु वानस्पतिक और सूक्ष्म प्राणियों की हिंसा को भी हिंसा माना जाने लगा था। मात्र इतना ही नहीं, मनसा, वाचा, कर्मणा, और कृत, कारित और अनुमोदित के प्रकारभेदों से नवकोटिक अहिंसा का विचार प्रविष्ट हुआ, अर्थात् मन, वचन और शरीर से हिंसा करना नहीं, करवाना नहीं और करनेवाले का अनुमोदन भी नहीं करना। बौद्ध और आजीवक परम्परा के श्रमणों ने भी इस नवकोटिक अहिंसा के आदर्श को स्वीकार कर उसके अर्थ को गहनता और व्यापकता प्रदान की। फिर भी बौद्ध परम्परा में षट्जीवनिकाय का विचार उपस्थित नहीं था। बौद्ध भिक्षु नदी-नालों के जल को छानकर उपयोग करते थे। दूसरे उनके यहाँ नवकोटि अहिंसा की यह अवधारणा भी स्वयं की अपेक्षा से थी—दूसरा हमारे निमित्त क्या करता है इसका विचार नहीं किया गया, जब कि जैन परम्परा में श्रमण के निमित्त से की जाने वाली हिंसा का भी विचार किया गया। निर्ग्रन्थ परम्परा का कहना था कि केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हम मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा न करें, न करावें और न उसे अनुमोदन दें अपितु यह भी आवश्यक है कि दूसरों को हमारे निमित्त हिंसा करने का अवसर भी नहीं देवें और उनके द्वारा की गई हिंसा में भागीदार न बनें। यही कारण था कि जहाँ बुद्ध और बौद्ध भिक्षु निमन्त्रित भोजन को स्वीकार करते थे वहाँ निर्ग्रन्थ परम्परा में औद्देशिक आहार भी अग्राह्य माना गया था, क्योंकि उसमें नैमित्तिक हिंसा के दोष की सम्भावना थी। यद्यपि पिटकग्रन्थों में बौद्ध भिक्षु के लिए ऐसा भोजन निषिद्ध माना गया है जिसमें उसके लिए प्राणीहिंसा की गयी हो और वह इस बात को जानता हो या उसने ऐसा सुना हो। फिर भी यह अतिशयोक्ति नहीं है कि अहिंसा को जितना व्यापक अर्थ जैन परम्परा में दिया गया है, उतना अन्यत्र अनुपलब्ध ही है।

जैन और बौद्ध परम्पराओं में अहिंसा सम्बन्धी जो खण्डन-मण्डन हुआ, उसके पीछे सैद्धान्तिक मतभेद न होकर उसकी व्यावहारिकता का प्रश्न ही प्रमुख रहा है। पं० सुखलालजी लिखते हैं, दोनों की अहिंसा सम्बन्धी व्याख्या में कोई तात्त्विक मतभेद नहीं—जैन परम्परा ने नवकोटिक अहिंसा की सूक्ष्म व्यवस्था को अमल में लाने के लिए जो बाह्य प्रवृत्ति को विशेष नियन्त्रित किया, वह बौद्ध परम्परा ने नहीं किया। जीवन सम्बन्धी बाह्य प्रवृत्तियों के अति नियन्त्रण और मध्यवर्गीय शैथिल्य के प्रबल भेद में से ही बौद्ध और जैन परम्पराएँ आपस में खण्डन-मण्डन में प्रवृत्त हुईं। जब हम दोनों परम्पराओं के खण्डन-मण्डन को तटस्थ भाव से देखते हैं तब निःसंकोच कहना पड़ता है कि बहुधा दोनों ने एक-दूसरे को गलत रूप से ही समझा है। इसका एक

उदाहरण मज्झिमनिकाय का उपालिसुत्त और दूसरा सूत्रकृतांग का है।[1]

यद्यपि जैन परम्परा ने नवकोटिपूर्ण अहिंसा के पालन पर बल दिया, लेकिन नव-कोटिक अहिंसा के पालन में जब साधु-जीवन के व्यवहारों का सम्पादन एवं संयमी जीवन का रक्षण भी असम्भव प्रतीत हुआ तो यह स्वीकार किया गया कि शास्त्रविहित प्रवृत्तियों में हिंसा-दोष का अभाव होता है। इसी प्रकार मन्दिर-निर्माण, प्रतिमापूजन, तीर्थयात्रा आदि के प्रसंग पर होनेवाली हिंसा विहित मान ली गयी। परिणाम यह हुआ कि वैदिक हिंसा हिंसा नहीं है, इस सिद्धान्त के प्रति की गयी उनकी आलोचना स्वयं निर्बल रह गयी। वैदिक पक्ष की ओर से कहा जाने लगा कि यदि तुम कहते हो कि शास्त्रविहित हिंसा हिंसा नहीं है तो फिर हमारी आलोचना कैसे कर सकते हो ?[2] इस प्रकार आलोचनाओं और प्रत्यालोचनाओं का एक विशाल साहित्य निर्मित हो गया, जिसका समुचित मूल्यांकन यहाँ सम्भव नहीं है। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि इस समग्र वाद-विवाद में जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में मौलिक रूप से सैद्धान्तिक मतभेद अल्प ही हैं। प्रमुख प्रश्न व्यवहार का है। व्यावहारिक दृष्टि से जैन और वैदिक परम्पराओं में निम्न अन्तर खोजा जा सकता है—

(१) जैन परम्परा पूर्ण अहिंसा के पालन सम्बन्धी विचार को केवल उन्हीं स्थितियों में शिथिल करती है जिनमें मात्र संयममूलक मुनि-जीवन का अनुरक्षण हो सके, जबकि वैदिक परम्परा में अहिंसा के पालन में उन सभी स्थितियों में शिथिलता की गयी है जिनमें सभी आश्रम और सभी प्रकार के लोगों के जीवन जीने और अपने कर्तव्यों के पालन का अनुरक्षण हो सके।

(२) यद्यपि जैन आचार्यों ने संयममूलक जीवन के अनुरक्षण के लिए की गयी हिंसा को हिंसा नहीं माना है, तथापि परम्परा के आग्रही अनेक जैन आचार्यों ने उस हिंसा को हिंसा के रूप में स्वीकार करते हुए केवल अपवाद रूप में उसका सेवन करने की छूट दी और उसके प्रायश्चित्त का विधान भी किया। उनकी दृष्टि में हिंसा, चाहे वह किसी भी स्थिति में हो, हिंसा है। यही कारण है कि आज भी जैन सम्प्रदायों में संयम एवं शरीर-रक्षण के निमित्त भिक्षाचर्या आदि दैनिक व्यवहार में होनेवाली सूक्ष्म हिंसा के लिए भी प्रायश्चित्त का विधान है।

(३) वैदिक परम्परा में हिंसा धार्मिक अनुष्ठानों का एक अंग मान ली गयी और उनमें होनेवाली हिंसा हिंसा नहीं मानी गयी। यद्यपि जैन-परम्परा में कुछ आचार्यों ने धार्मिक अनुष्ठानों, मन्दिर-निर्माण आदि कार्यों में होनेवाली हिंसा का समर्थन अल्प-हिंसा और बहु-निर्जरा के नाम पर किया, लेकिन जैन-परम्परा में सदैव ही ऐसी मान्यता का

---

१. दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० ४१५.

२. अभिधान राजेन्द्रकोश, खण्ड ७, पृ० १२२९.

विरोध किया जाता रहा और जिसकी तीव्र प्रतिक्रियाओं के रूप में दिगम्बर सम्प्रदाय में तेरापंथ और तारणपंथ तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय में लोकागच्छ, स्थानकवासी एवं तेरापंथ (श्वेताम्बर आम्नाय) आदि अवान्तर सम्प्रदायों का जन्म हुआ, जिन्होंने धर्म के नाम पर होनेवाली हिंसा का तीव्र विरोध किया।

(४) वैदिक परम्परा में जिस धार्मिक हिंसा को हिंसा नहीं माना गया उसका बहुत कुछ सम्बन्ध पशुओं की हिंसा से है, जबकि जैन-परम्परा में मन्दिर-निर्माण आदि के निमित्त से भी जिस हिंसा का समर्थन किया गया, उसका सम्बन्ध मात्र एकेन्द्रिय अथवा स्थावर जीवों से है।

(५) जैन परम्परा में हिंसा के किसी भी रूप को अपवाद मानकर ही स्वीकार किया गया, जबकि वैदिक परम्परा में हिंसा आचरण का नियम ही बन गयी। जीवन के सामान्य कर्तव्यों जैसे यज्ञ, श्राद्ध, देव, गुरु, अतिथि पूजन आदि के निमित्त से भी हिंसा का विधान किया गया है। यद्यपि परवर्ती वैष्णव सम्प्रदायों ने इसका विरोध किया।

(६) प्राचीन जैन मूल आगमों में संयमी जीवन के अनुरक्षण के लिए ही मात्र अत्यल्प स्थावर हिंसा का समर्थन अपवाद रूप में उपलब्ध है। जबकि वैदिक परम्परा में हिंसा का समर्थन सांसारिक जीवन की पूर्ति तक के लिए किया गया है। जैन-परम्परा भिक्षु के जीवन-निर्वाह की दृष्टि से अपवादों का विचार करती है, जब कि वैदिक परम्परा सामान्य गृहस्थ के जीवन के निर्वाह की दृष्टि से भी अपवाद का विचार करती है।

अहिंसा का विधायक रूप—जैन धर्म निवृत्तानुलक्षी होने से उसमें अहिंसा का निषेधात्मक स्वरूप ही अधिक मिलता है। श्वेताम्बर तेरापंथी जैन समाज तो केवल अहिंसा के निषेध रूप को ही मानता है। अहिंसा के विधायक पक्ष में उसकी आस्था नहीं है। पूर्वकाल के जैन सन्त अहिंसा के इस निषेध पक्ष को ही अधिक प्रस्तुत करते थे, इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता। फिर भी जैन सूत्रों में अहिंसा का विधायक पक्ष मिलता है।

अहिंसा का विधायक पक्ष प्राणियों के हित-साधन में ही निहित है। जैन धर्म की अहिंसा इस रूप में विधायक है। आचारांगसूत्र में तीर्थस्थापना का उद्देश्य समस्त जगत् के प्राणियों का कल्याण बताया गया है।[१] इस प्रकार अहिंसा में जीवों के कल्याण-साधन का तथ्य निहित है, जो विधायक अहिंसा का मूल है। इतना ही नहीं, आचारांग-सूत्र में कहा गया है कि समस्त तीर्थकरों ने 'अहिंसा-धर्म' का प्रवर्तन समस्त लोक के खेद को जानकर ही किया है।[२] 'खेयन्नेहिं' शब्द के मूल में अहिंसा का विधायक रूप

१. आचारांग, २।१५।६५८. २. वही, १।४।१।२७.

स्पष्ट बोल रहा है। इसमें अहिंसा का उद्देश्य मनुष्य का अपना कल्याण न होकर लोक-कल्याण ही स्पष्ट होता है। इतना ही नहीं, तीर्थंकर अरिष्टनेमि का विवाहप्रसंग तथा शान्तिनाथ के पूर्व-भव में कबूतर की रक्षा का प्रसंग, ऐसे अनेक प्रसंग जैन कथा-साहित्य में हैं जिनमें अहिंसा का विधायक स्वरूप स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जैन-संघों द्वारा संचालित औषधालय, गोशालाएँ पांजरापोल (पशु-रक्षा गृह) आदि संस्थाएँ भी इस बात के प्रमाण हैं कि जैन-विचारक अहिंसा के विधायक पक्ष को भूले नहीं हैं। पुण्य के नौ भेदों में अन्नदान, वस्त्रदान, स्थान (आश्रय) दान आदि इसी विधायक पक्ष की पुष्टि करते हैं। विधायक पक्ष का एक और प्रमाण जैन तीर्थंकरों की गृहस्थावस्था में मिलता है। सभी तीर्थंकर संन्यास लेने के पूर्व एक वर्ष तक प्रतिदिन स्वर्ण-मुद्राएँ याचकों को दान करते हैं।[1] इस प्रकार जैन धर्म अहिंसा के दोनों पक्ष स्वीकार करता है।

बौद्ध एवं वैदिक परम्परा में अहिंसा का विधायक पक्ष

यह निस्सन्देह सत्य है कि बौद्ध और वैदिक परम्पराओं ने अहिंसा को अधिक विधायक स्वरूप प्रदान किया। साधना के साथ सेवा का समन्वय करने में भारतीय धर्मों में बौद्ध धर्म और विशेष रूप से उनकी महायान शाखा अग्रणी रही है। यद्यपि जैन धर्म में भी ग्लान, वृद्ध, रोगी, शैक्ष्य आदि की सेवा का निर्देश है, मात्र यही नहीं मुनियों की सेवा को गृहस्थ धर्म का अनिवार्य अंग मान लिया गया है फिर भी मानवता के लिए सेवा और करुणा का जो विस्फोट जैन धर्म में होना चाहिए था वह न हो सका। अहिंसा और अनासक्ति की जो सूक्ष्म व्याख्याएँ की गईं, वे ही इस मार्ग में सबसे बाधक बन गईं। असंयती की सेवा को और रागात्मक सेवा को अनैतिक माना गया। यही कारण था कि जहाँ हम बौद्ध भिक्षुओं और ईसाई पादरियों को सेवा के प्रति जितना तत्पर पाते हैं, उतना जैन भिक्षु संघ को नहीं। जैन भिक्षु अपने सहवर्गी के अतिरिक्त अन्य की सेवा नहीं कर सकता। जबकि बौद्ध भिक्षु प्राचीन काल से ही पीड़ित एवं दुःखित वर्ग की सेवा करता रहा है।

हिन्दू परम्परा में सेवा, अतिथिसत्कार, देवऋण, पितृऋण, गुरुऋण तथा लोकसंग्रह की अवधारणाएँ अहिंसा के विधायक पक्ष को स्पष्ट कर देती हैं। तुलनात्मक दृष्टि से हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होना चाहिए कि सैद्धान्तिक रूप में जैन मुनिवर्ग की अहिंसा निषेधात्मक अधिक रही। किन्तु जहाँ तक व्यावहारिक जीवन का प्रश्न है—जैन गृहस्थ समाज एवं लोकसेवा के कार्यों से किसी भी युग में पीछे नहीं रहा है। आज भी भारत में जैन समाज द्वारा जितनी लोक कल्याणकारी प्रवृत्तियाँ चल

---

१. आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कंध, अ० १५।१७९ मूल एवं टीका.

रही हैं, वे आनुपातिक दृष्टि से किसी भी अन्य समाज से कम नहीं है। यही उसकी अहिंसा की विधायक दृष्टि का प्रमाण है।

हिंसा के अल्प-बहुत्व का विचार—हिंसा और अहिंसा का विचार हमारे सामने एक समस्या यह भी प्रस्तुत करता है कि किसी विशेष परिस्थिति में जब एक की रक्षा के लिए दूसरे की हिंसा अनिवार्य हो—अथवा दो अनिवार्य हिंसाओं में से एक का चयन आवश्यक हो, तो मनुष्य क्या करे? इस प्रश्न को लेकर तेरापंथी जैन सम्प्रदाय का जैनों के दूसरे सम्प्रदायों से मतभेद है। उनका मानना है कि ऐसी स्थिति में मनुष्य को तटस्थ रहना चाहिए। दूसरे सम्प्रदाय ऐसी स्थिति में हिंसा के अल्प-बहुत्व का विचार करते हैं। मान लीजिए, एक आदमी प्यासा है, यदि उसे पानी नहीं पिलाया जाय तो उसका प्राणांत हो जायेगा; दूसरी ओर, उसे पानी पिलाने में पानी के जीवों (अपकाय-जीवों) की हिंसा होती है। इसी प्रकार, एक व्यक्ति के शरीर मे कीड़े पड़ गये है, अब यदि डाक्टर उसे बचाता है तो कीड़ों की हिंसा होती हैं और कीड़ों को बचाता है तो आदमी की मृत्यु होती है। अथवा प्रसूति की अवस्था में माँ और शिशु में से किसी एक के जीवन की ही रक्षा की जा सकती हो तो ऐसी स्थितियों में क्या किया जाय? अहिंसा का सिद्धान्त ऐसी स्थिति में क्या निर्देश करता है?

पंडित सुखलालजी ने यह माना है कि वध्य जीवों का कद, उनकी संख्या तथा उनकी इन्द्रिय आदि के तारतम्य पर हिंसा के दोष का तारतम्य अवलम्बित नहीं है; किन्तु हिंसक के परिणाम या वृत्ति की तीव्रता-मंदता, सज्ञानता-अज्ञानता या बलप्रयोग की न्यूनाधिकता पर अवलंबित है।[1] यद्यपि हिंसा के दोष की तीव्रता या मंदता हिंसक की मानसिक वृत्ति पर निर्भर है, तथापि इस आधार पर इन प्रश्नों का ठीक समाधान नहीं मिलता। इन प्रश्नों के हल के लिए हमें हिंसा के अल्प-बहुत्व का कोई बाह्य आधार ढूँढना होगा।

जैन परम्परा में परम्परागत रूप से यह विचार स्वीकृत रहा है कि ऐसी स्थितियों में हमें प्राण-शक्तियों या इन्द्रियों की संख्या एवं आध्यात्मिक विकास के आधार पर ही हिंसा के अल्प-बहुत्व का निर्णय करना चाहिए। इस सारी विवक्षा में जीवों की संख्या को सदैव ही गौण माना गया है। महत्त्व जीवों की संख्या का नहीं, उनकी ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक विकास-क्षमता का है। सूत्रकृतांग में हस्तितापसों का वर्णन है, जो एक हाथी की हत्या करके उसके माँस से एक वर्ष तक निर्वाह करते थे। उनका दृष्टिकोण यह था कि अनेक स्थावर जीवों की हिंसा की अपेक्षा एक त्रस जीव की हिंसा से निर्वाह कर लेना अल्प पाप है, लेकिन जैन विचारकों ने इस धारणा को अनुचित ही माना।[2]

भगवतीसूत्र में स्पष्ट ही कहा गया है कि यद्यपि सभी जीवों में आत्माएँ समान

१. दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० ६०. २. सूत्रकृतांग, २।६।५३-५४.

हैं,[1] तथापि प्राणियों की ऐन्द्रिक क्षमता एवं आध्यात्मिक विकास के आधार पर हिंसा-दोष की तीव्रता आधारित होती है। एक त्रस जीव की हिंसा करता हुआ मनुष्य तत्सम्बन्धित अनेक जीवों की हिंसा करता है।[2] एक अहिंसक ऋषि की हत्या करने वाला एक प्रकार से अनन्त जीवों की हिंसा करने वाला होता है।[3] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि स्थावर जीवों की अपेक्षा त्रस जीवों की और त्रस जीवों में पंचेन्द्रिय की, पंचेन्द्रियों में भी मनुष्य की और मनुष्यों में भी ऋषि की हिंसा अधिक निकृष्ट है। इतना ही नहीं, त्रस जीव की हिंसा करनेवाले को अनेक जीवों की हिंसा का और ऋषि की हिंसा करनेवाले को अनन्त जीवों की हिंसा का करनेवाला बता कर शास्त्रकार ने यह स्पष्ट निर्देश किया है कि हिंसा-अहिंसा के विचार में संख्या का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण है प्राणी की ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक विकास क्षमता।

जब अपरिहार्य बन गई दो हिंसाओं में किसी एक को चुनना अनिवार्य हो तो हमें अल्प-हिंसा को चुनना होगा। किन्तु कौन-सी हिंसा अल्प-हिंसा होगी यह निर्णय देश, काल, परिस्थिति आदि अनेक बातों पर निर्भर करेगा। यहाँ हमें जीवन की मूल्यवत्ता को भी आँकना होगा। जीवन की यह मूल्यवत्ता दो बातों पर निर्भर करती है—(१) प्राणी का ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक विकास और (२) उसकी सामाजिक उपयोगिता। सामान्यतया मनुष्य का जीवन अधिक मूल्यवान है और मनुष्यों में भी एक सन्त का, किन्तु किसी परिस्थिति में किसी मनुष्य की अपेक्षा किसी पशु का जीवन भी अधिक मूल्यवान हो सकता है। संभवतः हिंसा-अहिंसा के विवेक में जीवन की मूल्यवत्ता का यह विचार हमारी दृष्टि में उपेक्षित ही रहा, यही कारण था कि हम चींटियों के प्रति तो संवेदनशील बन सके किन्तु मनुष्य के प्रति निर्मम ही बने रहे। आज हमें अपनी संवेदनशीलता को मोड़ना है और मानवता के प्रति अहिंसा को सकारात्मक बनाना है। यह आवश्यक है कि हम अपरिहार्य हिंसा को हिंसा के रूप में समझते रहें, अन्यथा हमारा करुणा का स्रोत सूख जावेगा। विवशता में चाहे हमें हिंसा करनी पड़े, किन्तु उसके प्रति आत्मग्लानि और हिंसित के प्रति करुणा की धारा सूखने नहीं पावे, अन्यथा वह हिंसा हमारे स्वभाव का अंग बन जावेगी जैसे—कसाई बालक में। हिंसा-अहिंसा के विवेक का मुख्य आधार मात्र यही नहीं है कि हमारा हृदय कषाय से मुक्त हो, किन्तु यह भी है कि हमारी संवेदनशीलता जागृत रहे, हृदय में दया और करुणा की धारा प्रवाहित होती रहे। हमें अहिंसा को हृदय-शून्य नहीं बनाना है। क्योंकि यदि हमारी संवेदनशीलता जागृत बनी रही तो निश्चय ही हम जीवन में हिंसा

---

१. भगवतीसूत्र, ७।८।१०२.
२. वही, ९।३४।१०६.
३. वही, ९।३४।१०७.

की मात्रा को अल्पतम करते हुए पूर्ण अहिंसा के आदर्श को उपलब्ध करेंगे, साथ ही वह हमारी अहिंसा विधायक बनकर मानव समाज में सेवा की गंगा भी बहा सकेगी।

अनाग्रह (वैचारिक सहिष्णुता)

जैन धर्म में अनाग्रह

जैन दर्शन के अनेकांतवाद का परिणाम सामाजिक नैतिकता के क्षेत्र में वैचारिक सहिष्णुता है। अनाग्रह का सिद्धान्त सामाजिक दृष्टि से वैचारिक अहिंसा है। अनाग्रह अपने विचारों की तरह दूसरे के विचारों का सम्मान करना सिखाता है। वह उस भ्रान्ति का निराकरण करता है कि सत्य मेरे ही पास है, दूसरे के पास नहीं हो सकता। वह हमें यह बताता है कि सत्य हमारे पास भी हो सकता है और दूसरे के पास भी। सत्य का बोध हमें ही हो सकता है, किन्तु दूसरों को सत्य का बोध नहीं हो सकता—यह कहने का हमें अधिकार नहीं है। सत्य का सूर्य न केवल हमारे घर को प्रकाशित करता है वरन् दूसरों के घरों को भी प्रकाशित करता है। वस्तुतः वह सर्वत्र प्रकाशित है। जो भी उन्मुक्त दृष्टि से उसे देख पाता है, वह उसे पा जाता है। सत्य केवल सत्य है, वह न मेरा है और न दूसरे का है। जिस प्रकार अहिंसा का सिद्धान्त कहता है कि जीवन जहाँ कहीं हो, उसका सम्मान करना चाहिए, उसी प्रकार अनाग्रह का सिद्धान्त कहता है कि सत्य जहाँ भी हो, उसका सम्मान करना चाहिए। जैनाचार्य हरिभद्र कहते हैं कि जो स्वार्थ वृत्ति से ऊपर उठ गया है, जो लोकहित में निरत है जो विश्व स्वरूप का ज्ञाता है और जिसका चरित्र निर्मल और अद्वितीय है, वह चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हरि हो, शंकर हो, मैं उसे प्रणाम करता हूँ। मुझे न जिन के वचनों का पक्षाग्रह है और न कपिल आदि के वचनों के प्रति द्वेष, युक्तिपूर्ण वचन जो भी हो, वह मुझे ग्राह्य है।[1]

वस्तुतः पक्षाग्रह की धारणा से विवाद का जन्म होता है। व्यक्ति जब स्व-मत की प्रशंसा और दूसरों की निन्दा करता है, तो परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में संघर्ष का प्रादुर्भाव हो जाता है। वैचारिक आग्रह न केवल वैयक्तिक नैतिक विकास को कुण्ठित करता है, वरन् सामाजिक जीवन में विग्रह, विषाद और वैमनस्य के बीज वो देता है। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि जो अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मत की निन्दा करने में ही अपना पाण्डित्य दिखाते हैं और लोक को सत्य से भटकाते हैं वे एकान्तवादी स्वयं संसारचक्र में भटकते रहते हैं।[2] वैचारिक आग्रह मतवाद या पक्ष को जन्म देता है

---

१. लोकतत्त्व निर्णय १।३७, ३८.

२. सयं सयं पसंसंता गरहंता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्सन्ति संसारे ते विउस्सिया ॥—सूत्रकृतांग १।१।२।२३.

और उससे राग-द्वेष की वृद्धि होती है। आचारांगचूर्णि में कहा गया है कि प्रत्येक 'वाद' राग-द्वेष की वृद्धि करनेवाला है[1] और जब तक राग-द्वेष हैं, तब तक मुक्ति भी सम्भव नहीं। इसप्रकार जैनाचार्यों की दृष्टि में नैतिक पूर्णता को प्राप्त करने के लिए वैचारिक आग्रह का परित्याग कर जीवनदृष्टि को अनाग्रहमय बनाना आवश्यक माना गया है।

जैन दर्शन के अनुसार एकान्त और आग्रह मिथ्यात्व हैं क्योंकि वे सत्य के अनन्त पक्षों का अपलाप करते हैं। जैन तत्त्वज्ञान में प्रत्येक सत्ता अनन्त गुणों का समूह मानी गयी है—अनन्तधर्मात्मकं वस्तुः। एकान्त उसमें से एक का ही ग्रहण करता है। इतना ही नहीं, वह एक के ग्रहण के साथ अन्य का निषेध भी करता है, उसकी भाषा में सत्य 'इतना' ही है, मात्र यही सत्य है। इस प्रकार एक ओर वह अनन्त सत्य के अनेकानेक पक्षों का अपलाप करता है। दूसरी ओर वह मनुष्य के ज्ञान को कुण्ठित एवं सीमित करता है। आग्रह की उपस्थिति में अनन्त सत्य को जानने की जिज्ञासा ही नहीं होती, तो फिर सत्य या परमार्थ का साक्षात्कार तो बहुत दूर की बात है। यदि कुएँ का मेंढ़क कुएँ को ही समुद्र समझने लग जाय तो न तो कोई उसे उसके मिथ्याज्ञान से उबार सकता है और न उसे अथाह जलराशि का दर्शन करा सकता है। यही स्थिति एकान्त या आग्रह-बुद्धि की है जिसमें न तो तत्त्व का यथार्थज्ञान होता है और न तत्त्व-साक्षात्कार ही होता है।

जैन विचारधारा के अनुसार मिथ्याज्ञान किसी असत् या अनस्तित्ववान् तत्त्व का ज्ञान नहीं है, क्योंकि जो असत् है, मिथ्या है, उसका ज्ञान कैसे होगा? जैन दर्शन के अनुसार सारा ज्ञान सत्य है, शर्त यही है कि उसमें एकान्तवादिता या आग्रह न हो। एकान्त सत्य के अनन्त पहलुओं को आवृत्त कर अंश को ही पूर्ण के रूप में प्रकट करता है और इस प्रकार अंश को पूर्ण बताकर व्यक्ति के ज्ञान को मिथ्या बना देता है। साथ ही आग्रह अपने में निहित छद्म राग से सत्य को रंगीन कर देता है। इस प्रकार एकान्त या आग्रह तत्त्व-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार में बाधक है। जैन दर्शन के अनुसार तत्त्व, परमार्थ या आत्मा पक्षातिक्रान्त है, अतः पक्ष या आग्रह के माध्यम से उसे नहीं पाया जा सकता। वह तो परमसत्य है, आग्रहबुद्धि उसे नहीं देख सकती। विचार या दृष्टि जब तक पक्ष, मत या वादों से अनावरित नहीं होती, सत्य भी उसके लिए अनावृत नहीं होता। जब तक आँखों पर राग-द्वेष, आसक्ति या आग्रह का रंगीन चश्मा है, अनावृत सत्य का साक्षात्कार सम्भव नहीं।

दूसरे, आग्रह स्वयं एक बन्धन है। वह वैचारिक आसक्ति है। विचारों का परिग्रह है। आसक्ति या परिग्रह चाहे पदार्थों का हो या विचारों का, वह निश्चित ही बन्धन

१. आचारांगचूर्णि, १।७।१

है। आग्रह विचारों का बन्धन है और अनाग्रह वैचारिक मुक्ति। विचार में जब तक आग्रह है, तब तक पक्ष रहेगा। यदि पक्ष रहेगा, तो उसका प्रतिपक्ष भी होगा। पक्ष-प्रतिपक्ष, यही विचारों का संसार है, इसमें ही वैचारिक संघर्ष, साम्प्रदायिकता और वैचारिक मनोमालिन्य पनपते हैं। जैनाचार्यों ने कहा है कि वचन के जितने विकल्प हैं उतने ही नयवाद (दृष्टिकोण) हैं और जितने नयवाद, दृष्टिकोण या अभिव्यक्ति के ढंग हैं उतने ही मत-मतान्तर (पर-समय) हैं। व्यक्ति जब तक पर-समय (मत-मतान्तरों) में होता है तब तक स्व-समय (पक्षातिक्रान्त विशुद्ध आत्मतत्त्व) की प्राप्ति नहीं होती है। तात्पर्य यह है कि बिना आग्रह का परित्याग किये मुक्ति नहीं होती। मुक्ति पक्ष का आश्रय लेने में नहीं, वरन् पक्षातिक्रान्त अवस्था को प्राप्त करने में है। वस्तुतः जहाँ भी आग्रहबुद्धि होगी, विपक्ष में निहित सत्य का दर्शन सम्भव नहीं होगा और जो विपक्ष में निहित सत्य नहीं देखेगा वह सम्पूर्ण सत्य का दृष्टा नहीं होगा।

भगवान् महावीर ने बताया कि आग्रह ही सत्य का बाधक तत्त्व है। आग्रह राग है और जहाँ राग है वहाँ सम्पूर्ण सत्य का दर्शन संभव नहीं। सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान या केवलज्ञान केवल अनाग्रही को ही हो सकता है। भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य एवं अन्तेवासी गौतम के जीवन की घटना इसकी प्रत्यक्ष साक्ष्य है। गौतम को महावीर के जीवनकाल में कैवल्य की उपलब्धि नहीं हो सकी। गौतम के केवलज्ञान में आखिर कौन सा तथ्य बाधक बन रहा था? महावीर ने स्वयं इसका समाधान दिया था। उन्होंने गौतम से कहा था, "गौतम! तेरा मेरे प्रति जो ममत्व है, रागात्मकता है, वही तेरे केवलज्ञान (पूर्णज्ञान) का बाधक है।" महावीर की स्पष्ट घोषणा थी कि सत्य का सम्पूर्ण दर्शन आग्रह के घेरे में खड़े होकर नहीं किया जा सकता। सत्य तो सर्वत्र उपस्थित है केवल हमारी आग्रहयुक्त या मतांधदृष्टि उसे देख नहीं पाती है और यदि देखती है तो उसे अपने दृष्टिराग से दूषित करके ही। आग्रह या दृष्टिराग से वही सत्य असत्य बन जाता है। अनाग्रह या समदृष्टित्व से वही सत्य के रूप में प्रकट हो जाता है। अतः महावीर ने कहा, यदि सत्य को पाना है तो अनाग्रहों या मतावादों के घेरे से ऊपर उठो, दोषदर्शन की दृष्टि को छोड़कर सत्यान्वेषी बनो। सत्य कभी मेरा या पराया नहीं होता है। सत्य तो स्वयं भगवान् है (सच्चं खलु भगवं)। वह तो सर्वत्र है। दूसरों के सत्यों को झुठलाकर हम सत्य को नहीं पा सकते हैं। सत्य विवाद से नहीं, समन्वय से प्रकट होता है।

सत्य का दर्शन केवल अनाग्रही को ही हो सकता है। जैन धर्म के अनुसार सत्य का प्रकटन आग्रह में नहीं, अनाग्रह में होता है। सत्य का साधक वीतराग और अनाग्रही होता है। जैन धर्म अपने अनेकान्त के सिद्धान्त के द्वारा एक अनाग्रही एवं समन्वयात्मक दृष्टि प्रस्तुत करता है, ताकि वैचारिक असहिष्णुता को समाप्त किया जा सके।

बौद्ध आचार-दर्शन में वैचारिक अनाग्रह

बौद्ध आचारदर्शन में मध्यम मार्ग की धारणा अनेकान्तवाद की विचारसरणी का ही एक रूप है। इसी मध्यम मार्ग से वैचारिक क्षेत्र में अनाग्रह की धारणा का विकास हुआ है। बौद्ध विचारकों ने भी सत्य को अनेक पहलुओं से युक्त देखा और यह माना कि सत्य को अनेक पहलुओं के साथ देखना ही विद्वता है। थेरगाथा में कहा गया है कि जो सत्य का एक ही पहलू देखता है, वह मूर्ख है।[1] पण्डित तो सत्य को सौ (अनेक) पहलुओं से देखता है। वैचारिक आग्रह और विवाद का जन्म एकांगी दृष्टिकोण से होता है, एकांगदर्शी ही आपस में झगड़ते हैं और विवाद में उलझते हैं।[2]

बौद्ध विचारधारा के अनुसार आग्रह, पक्ष या एकांगी दृष्टि राग के ही रूप हैं। जो इस प्रकार के दृष्टि-राग में रत होता है वह जगत् में कलह और विवाद का सृजन करता है और स्वयं भी आसक्ति के कारण बन्धन में पड़ा रहता है। इसके विपरीत जो मनुष्य दृष्टि, पक्ष या आग्रह से ऊपर उठ जाता है, वह न तो विवाद में पड़ता है और न बन्धन में। बुद्ध के निम्न शब्द बड़े मर्मस्पर्शी हैं, "जो अपनी दृष्टि से दृढ़ाग्रही हो दूसरे को मूर्ख बताता है, दूसरे धर्म को मूर्ख और अशुद्ध बतानेवाला वह स्वयं कलह का आह्वान करता है। किसी धारणा पर स्थित हो, उसके द्वारा वह संसार में विवाद उत्पन्न करता है। जो सभी धारणाओं को त्याग देता है, वह मनुष्य संसार में कलह नहीं करता।[3]

मैं विवाद के दो फल बताता हूँ। एक, यह अपूर्ण या एकांगी होता है; दूसरे, वह विग्रह या अशान्ति का कारण होता है। निर्वाण को निर्विवाद भूमि समझनेवाले यह भी देखकर विवाद न करें। साधारण मनुष्यों की जो कुछ दृष्टियाँ हैं, पण्डित इन सब में नहीं पड़ता। दृष्टि और श्रुति को ग्रहण न करनेवाला, आसक्तिरहित वह क्या ग्रहण करे। (लोग) अपने धर्म को परिपूर्ण बताते हैं और दूसरे के धर्म को हीन बताते हैं। इस प्रकार भिन्न मत वाले ही विवाद करते हैं और अपनी धारणा को सत्य बताते हैं। यदि कोई दूसरे की अवज्ञा (निन्दा) से हीन हो जाय तो धर्मों में श्रेष्ठ नहीं होता। जो किसी वाद में आसक्त है, वह शुद्धि को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह किसी दृष्टि को मानता है। विवेकी ब्राह्मण तृष्णा-दृष्टि में नहीं पड़ता। वह तृष्णा-दृष्टि का अनुसरण नहीं करता। मुनि इस संसार में ग्रन्थियों को छोड़कर वादियों में पक्षपाती नहीं होता। अशान्तों में शान्त वह जिसे अन्य लोग ग्रहण करते हैं उसकी उपेक्षा करता है। वाद में अनासक्त, दृष्टियों से पूर्ण रूप से मुक्त वह धीर संसार में लिप्त नहीं दृष्टि, श्रुति या विचार हैं, उन सब पर वह विजयी है। पूर्ण रूप से

---

१. थेरगाथा, ११०६.
२. उदान, ६।४.
३. सुत्तनिपात, ५०।१६-१७.

वह संस्कार, उपरति तथा तृष्णा-रहित है।[१]"

इतना ही नहीं, बुद्ध सदाचरण और आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में इस प्रकार के वाद-विवाद या वाग्विलास या आग्रह-वृत्ति को अनुपयुक्त समझते हैं। उनकी दृष्टि में यह पक्षाग्रह या वाद-विवाद निर्वाण-मार्ग के पथिक का कार्य नहीं है। यह तो मल्लविद्या है—राजभोजन से पुष्ट पहलवान की तरह (प्रतिवादी के लिए) ललकारने वाले वादी को उस जैसे वादी के पास भेजना चाहिए क्योंकि मुक्त पुरुषों के पास विवादरूपी युद्ध के लिए कोई कारण ही शेष नहीं रहा। जो किसी दृष्टि को ग्रहण कर विवाद करते हैं और अपने मत को ही सत्य बताते हैं उनसे कहना चाहिए कि विवाद उत्पन्न होने पर तुम्हारे साथ बहस करने को यहाँ कोई नहीं है।[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध दर्शन वैचारिक अनाग्रह पर जैन दर्शन के समान ही जोर देता है बुद्ध ने भी महावीर के समान ही दृष्टिराग को अनुपयुक्त माना है और बताया कि सत्य का सम्पूर्ण प्रकटन वहीं होता है, जहाँ सारी दृष्टियाँ शून्य हो जाती हैं। यह भी एक विचित्र संयोग है कि महावीर के अन्तेवासी इन्द्रभूति के समान ही बुद्ध के अन्तेवासी आनन्द को भी बुद्ध के जीवन काल में अर्हत् पद प्राप्त नहीं हो सका। सम्भवतः यहाँ भी यही मानना होगा कि शास्त्र के प्रति आनन्द का जो दृष्टिराग था, वही उसके अर्हत् होने में बाधा था। इस सम्बन्ध में दोनों धर्मों के निष्कर्ष समान प्रतीत होते हैं।

गीता में अनाग्रह

वैदिक परम्परा में भी अनाग्रह का समुचित महत्त्व और स्थान है। गीता के अनुसार आग्रह की वृत्ति आसुरी वृत्ति है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि आसुरी स्वभाव के लोग दम्भ, मान और मद से युक्त होकर किसी प्रकार भी पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आश्रय ले अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके भ्रष्ट आचरणों से युक्त हो संसार में प्रवृत्ति करते रहते हैं।[3] इतना ही नहीं, आग्रह का प्रत्यय तप, ज्ञान और धारणा सभी को विकृत कर देता है। गीता में आग्रहयुक्त तप को तामस तप और आग्रहयुक्त धारणा को तामस धारणा कहा है।[४] आचार्य शंकर तो जैन परम्परा के समान वैचारिक आग्रह को मुक्ति में बाधक मानते हैं। विवेकचूड़ामणि में वे कहते हैं कि विद्वानों की वाणी की कुशलता, शब्दों की धारावाहिता, शास्त्र-व्याख्यान की पटुता और विद्वत्ता यह सब भोग का ही कारण हो सकते हैं, मोक्ष का नहीं।[५] शब्दजाल चित्त को भटकाने वाला एक महान् वन है। वह चित्तभ्रान्ति का ही कारण है।[६] आचार्य विभिन्न मत-मतान्तरों से युक्त शास्त्राध्ययन को भी निरर्थक मानते हैं। वे कहते हैं कि यदि परमतत्त्व का अनुभव नहीं किया तो शास्त्राध्ययन निष्फल है और यदि परमतत्त्व का ज्ञान हो गया तो शास्त्राध्ययन अनावश्यक

१. सुत्तनिपात, ५१।२, ३, १०, ११, १६-२०.
२. वही, ४६।८-९.
३. गीता, १६-१०.
४. वही, १७।१९, १८।३५.
५. विवेकचूड़ामणि, ६०.
६. वही, ६२.

बौद्ध आचार-दर्शन में वैचारिक अनाग्रह

बौद्ध आचारदर्शन में मध्यम मार्ग की धारणा अनेकान्तवाद की विचारसरणी का ही एक रूप है। इसी मध्यम मार्ग से वैचारिक क्षेत्र में अनाग्रह की धारणा का विकास हुआ है। बौद्ध विचारकों ने भी सत्य को अनेक पहलुओं से युक्त देखा और यह माना कि सत्य को अनेक पहलुओं के साथ देखना ही विद्वता है। थेरगाथा में कहा गया है कि जो सत्य का एक ही पहलू देखता है, वह मूर्ख है।[1] पण्डित तो सत्य को सौ (अनेक) पहलुओं से देखता है। वैचारिक आग्रह और विवाद का जन्म एकांगी दृष्टि-कोण से होता है, एकांगदर्शी ही आपस में झगड़ते हैं और विवाद में उलझते हैं।[2]

बौद्ध विचारधारा के अनुसार आग्रह, पक्ष या एकांगी दृष्टि राग के ही रूप हैं। जो इस प्रकार के दृष्टि-राग में रत होता है वह जगत् में कलह और विवाद का सृजन करता है और स्वयं भी आसक्ति के कारण बन्धन में पड़ा रहता है। इसके विपरीत जो मनुष्य दृष्टि, पक्ष या आग्रह से ऊपर उठ जाता है, वह न तो विवाद में पड़ता है और न बन्धन में। बुद्ध के निम्न शब्द बड़े मर्मस्पर्शी हैं, "जो अपनी दृष्टि से दृढ़ाग्रही हो दूसरे को मूर्ख बताता है, दूसरे धर्म को मूर्ख और अशुद्ध बतानेवाला वह स्वयं कलह का आह्वान करता है। किसी धारणा पर स्थित हो, उसके द्वारा वह संसार में विवाद उत्पन्न करता है। जो सभी धारणाओं को त्याग देता है, वह मनुष्य संसार में कलह नहीं करता।[3]

मैं विवाद के दो फल बताता हूँ। एक, यह अपूर्ण या एकांगी होता है; दूसरे, वह विग्रह या अशान्ति का कारण होता है। निर्वाण को निर्विवाद भूमि समझनेवाले यह भी देखकर विवाद न करें। साधारण मनुष्यों की जो कुछ दृष्टियाँ हैं, पण्डित इन सब में नहीं पड़ता। दृष्टि और श्रुति को ग्रहण न करनेवाला, आसक्तिरहित वह क्या ग्रहण करे। (लोग) अपने धर्म को परिपूर्ण बताते हैं और दूसरे के धर्म को हीन बताते हैं। इस प्रकार भिन्न मत वाले ही विवाद करते हैं और अपनी धारणा को सत्य बताते हैं। यदि कोई दूसरे की अवज्ञा (निन्दा) से हीन हो जाय तो धर्मों में श्रेष्ठ नहीं होता। जो किसी वाद में आसक्त है, वह शुद्धि को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह किसी दृष्टि को मानता है। विवेकी ब्राह्मण तृष्णा-दृष्टि में नहीं पड़ता। वह तृष्णा-दृष्टि का अनुसरण नहीं करता। मुनि इस संसार में ग्रन्थियों को छोड़कर वादियों में पक्षपाती नहीं होता। अशान्तों में शान्त वह जिसे अन्य लोग ग्रहण करते हैं उसकी उपेक्षा करता है। वाद में अनासक्त, दृष्टियों से पूर्ण रूप से मुक्त वह धीर संसार में लिप्त नहीं होता। जो कुछ दृष्टि, श्रुति या विचार हैं, उन सब पर वह विजयी है। पूर्ण रूप से मुक्त, मार-त्यक्त

---

१. थेरगाथा, ११०६.　　२. उदान, ६।४.

३. सुत्तनिपात, ५०।१६-१७.

वह संस्कार, उपरति तथा तृष्णा-रहित है ।[१]"

इतना ही नहीं, बुद्ध सदाचरण और आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में इस प्रकार के वाद-विवाद या वाग्विलास या आग्रह-वृत्ति को अनुपयुक्त समझते हैं । उनकी दृष्टि में यह पक्षाग्रह या वाद-विवाद निर्वाण-मार्ग के पथिक का कार्य नहीं है । यह तो मल्लविद्या है—राजभोजन से पुष्ट पहलवान की तरह (प्रतिवादी के लिए) ललकारने वाले वादी को उस जैसे वादी के पास भेजना चाहिए क्योंकि मुक्त पुरुषों के पास विवादरूपी युद्ध के लिए कोई कारण ही शेष नहीं रहा । जो किसी दृष्टि को ग्रहण कर विवाद करते हैं और अपने मत को ही सत्य बताते हैं उनसे कहना चाहिए कि विवाद उत्पन्न होने पर तुम्हारे साथ बहस करने को यहाँ कोई नहीं है ।[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध दर्शन वैचारिक अनाग्रह पर जैन दर्शन के समान ही जोर देता है बुद्ध ने भी महावीर के समान ही दृष्टिराग को अनुपयुक्त माना है और बताया कि सत्य का सम्पूर्ण प्रकटन वहीं होता है, जहाँ सारी दृष्टियाँ शून्य हो जाती हैं । यह भी एक विचित्र संयोग है कि महावीर के अन्तेवासी इन्द्रभूति के समान ही बुद्ध के अन्तेवासी आनन्द को भी बुद्ध के जीवन काल में अर्हत् पद प्राप्त नहीं हो सका । सम्भवतः यहाँ भी यही मानना होगा कि शास्त्र के प्रति आनन्द का जो दृष्टिराग था, वही उसके अर्हत् होने में बाधा था । इस सम्बन्ध में दोनों धर्मों के निष्कर्ष समान प्रतीत होते हैं ।

गीता में अनाग्रह

वैदिक परम्परा में भी अनाग्रह का समुचित महत्त्व और स्थान है । गीता के अनुसार आग्रह की वृत्ति आसुरी वृत्ति है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि आसुरी स्वभाव के लोग दम्भ, मान और मद से युक्त होकर किसी प्रकार भी पूर्ण न होने वाली कामनाओं का आश्रय ले अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके भ्रष्ट आचरणों से युक्त हो संसार में प्रवृत्ति करते रहते हैं।[3] इतना ही नहीं, आग्रह का प्रत्यय तप, ज्ञान और धारणा सभी को विकृत कर देता है । गीता में आग्रहयुक्त तप को तामस तप और आग्रहयुक्त धारणा को तामस धारणा कहा है ।[४] आचार्य शंकर तो जैन परम्परा के समान वैचारिक आग्रह को मुक्ति में बाधक मानते हैं। विवेकचूड़ामणि में वे कहते हैं कि विद्वानों की वाणी की कुशलता, शब्दों की धारावाहिता, शास्त्र-व्याख्यान की पटुता और विद्वत्ता यह सब भोग का ही कारण हो सकते हैं, मोक्ष का नहीं ।[५] शब्दजाल चित्त को भटकाने वाला एक महान् वन है । वह चित्तभ्रान्ति का ही कारण है ।[६] आचार्य विभिन्न मत-मतान्तरों से युक्त शास्त्राध्ययन को भी निरर्थक मानते हैं । वे कहते हैं कि यदि परमतत्त्व का अनुभव नहीं किया तो शास्त्राध्ययन निष्फल है और यदि परमतत्त्व का ज्ञान हो गया तो शास्त्राध्ययन अनावश्यक

१. सुत्तनिपात, ५१।२, ३, १०, ११, १६-२०.
२. वही, ४६।८-९.
३. गीता, १६-१०.
४. वही, १७।१९, १८।३५.
५ विवेकचूड़ामणि, ६०.
६. वही, ६२.

है ।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शंकर की दृष्टि में वैचारिक आग्रह या दार्शनिक मान्यताएँ आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से अधिक मूल्य नहीं रखती। *वैदिक नीति-वेत्ता शुक्राचार्य आग्रह को अनुचित और मूर्खता का कारण मानते हुए* कहते हैं कि अत्यन्त आग्रह नहीं करना चाहिए क्योंकि अति सब जगह नाश का कारण है। अत्यन्त दान से दरिद्रता, अत्यन्त लोभ से तिरस्कार और अत्यन्त आग्रह से मनुष्य की मूर्खता परिलक्षित होती है ।[2] वर्तमान युग में महात्मा गाँधी ने भी वैचारिक आग्रह को अनैतिक माना और सर्वधर्म समभाव के रूप में वैचारिक अनाग्रह पर जोर दिया। वस्तुतः आग्रह सत्य का होना चाहिए, विचारों का नहीं। सत्य का आग्रह तभी हो सकता है जब हम अपने वैचारिक आग्रहों से ऊपर उठें। महात्माजी ने सत्य के आग्रह को तो स्वीकार किया, लेकिन वैचारिक आग्रहों को कभी स्वीकार नहीं किया। उनका सर्वधर्म समभाव का सिद्धान्त इसका ज्वलन्त प्रमाण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं में अनाग्रह को सामाजिक जीवन की दृष्टि से सदैव महत्त्व दिया जाता रहा है, क्योंकि वैचारिक संघर्षों से समाज को बचाने का एकमात्र मार्ग अनाग्रह ही है।

वैचारिक सहिष्णुता का आधार—अनाग्रह (अनेकान्त दृष्टि)

जिस प्रकार भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध के काल में वैचारिक संघर्ष उपस्थित थे और प्रत्येक मतवादी अपने को सम्यक्दृष्टी और दूसरे को मिथ्यादृष्टी कह रहा था, उसी प्रकार वर्तमान युग में भी वैचारिक संघर्ष अपनी चरम सीमा पर है। सिद्धान्तों के नाम पर मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद की दीवारें खींची जा रही हैं। कहीं धर्म के नाम पर, तो कहीं राजनैतिक वाद के नाम पर एकदूसरे के विरुद्ध विषवमन किया जा रहा है। धार्मिक एवं राजनैतिक साम्प्रदायिकता जनता के मानस को उन्मादी बना रही है। प्रत्येक धर्मवाद या राजनैतिक वाद अपनी सत्यता का दावा कर रहा है और दूसरे को भ्रान्त बता रहा है। इस धार्मिक एवं राजनैतिक उन्माद एवं असहिष्णुता के कारण मानव मानव के रक्त का प्यासा बना हुआ है। आज प्रत्येक राष्ट्र का एवं विश्व का वातावरण तनावपूर्ण एवं विक्षुब्ध है। एक ओर प्रत्येक राष्ट्र की राजनैतिक पार्टियाँ या धार्मिक सम्प्रदाय उसके आन्तरिक वातावरण को विक्षुब्ध एवं जनता के पारस्परिक सम्बन्धों को तनावपूर्ण बनाये हुए हैं, तो दूसरी ओर राष्ट्र स्वयं भी अपने को किसी एक निष्ठा से सम्बन्धित कर गुट बना रहे हैं। और इस प्रकार विश्व के वातावरण को तनावपूर्ण एवं विक्षुब्ध बना रहे हैं। मात्र इतना ही नहीं यह वैचारिक असहिष्णुता, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन को विषाक्त बना रही है। पुरानी और नई पीढ़ी के वैचारिक विरोध के कारण आज समाज और परिवार का वातावरण भी अशान्त और कलहपूर्ण हो रहा है। वैचारिक आग्रह और मतान्धता के इस युग में एक

---

१. विवेकचूड़ामणि ६१. २. शुक्रनीति, ३।२११-२१३.

ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता है जो लोगों को आग्रह और मतान्धता से ऊपर उठने के लिए दिशा-निर्देश दे सके। भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर दो ऐसे महापुरुष हैं जिन्होंने इस वैचारिक असहिष्णुता की विध्वंसकारी शक्ति को समझा था और उससे बचने का निर्देश दिया था। वर्तमान में भी धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक जीवन में जो वैचारिक संघर्ष और तनाव उपस्थित हैं उनका सम्यक् समाधान इन्हीं महापुरुषों की विचार सरणी के द्वारा खोजा जा सकता है। आज हमें विचार करना होगा कि बुद्ध और महावीर की अनाग्रह दृष्टि के द्वारा किस प्रकार धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक सहिष्णुता को विकसित किया जा सकता है।

धार्मिक सहिष्णुता

सभी धर्म-साधना पद्धतियों का मुख्य लक्ष्य राग, आसक्ति, अहं एवं तृष्णा की समाप्ति रहा है। जैन धर्म की साधना का लक्ष्य वीतरागता है, तो बौद्ध धर्म का साधना-लक्ष्य वीततृष्ण होना माना गया है। वहीं वेदान्त में अहं और आसक्ति से ऊपर उठना ही मानव का साध्य बताया गया है। लेकिन क्या आग्रह वैचारिक राग, वैचारिक आसक्ति, वैचारिक तृष्णा अथवा वैचारिक अहं का ही रूप नहीं है? और जब तक वह उपस्थित है धार्मिक साधना के क्षेत्र में लक्ष्य की सिद्धि कैसे होगी? पुनः जिन साधना पद्धतियों में अहिंसा के आदर्श को स्वीकार किया गया उनके लिए आग्रह या एकान्त वैचारिक हिंसा का प्रतीक भी बन जाता है। एक ओर साधना के वैयक्तिक पहलू की दृष्टि से मताग्रह वैचारिक आसक्ति या राग का ही रूप है तो दूसरी ओर साधना के सामाजिक पहलू की दृष्टि से वह वैचारिक हिंसा है। वैचारिक आसक्ति और वैचारिक हिंसा से मुक्ति के लिए धार्मिक क्षेत्र में अनाग्रह और अनेकान्त की साधना अपेक्षित है। वस्तुतः धर्म का आविर्भाव मानव जाति में शान्ति और असहयोग के विस्तार के लिए हुआ था। धर्म मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने के लिए था, लेकिन आज वही धर्म मनुष्य मनुष्य में विभेद की दीवारें खींच रहा है। धार्मिक मतान्धता में हिंसा, संघर्ष, छल, छद्म, अन्याय, अत्याचार क्या नहीं हो रहा है? क्या वस्तुतः इसका कारण धर्म हो सकता है? इसका उत्तर निश्चित रूप से 'हाँ' में नहीं दिया जा सकता। यथार्थ में 'धर्म' नहीं, किन्तु धर्म का आवरण डालकर मानव की महत्त्वाकांक्षा, उसका अहंकार, ही यह सब करवाता रहा है। यह धर्म का नकाब ओढ़े अधर्म है।

धर्म एक या अनेक—मूल प्रश्न यह है कि क्या धर्म अनेक हैं या हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर अनेकान्तिक शैली से यह होगा कि धर्म एक भी है और अनेक भी, साध्यात्मक धर्म या धर्मों का साध्य एक है जब कि साधनात्मक धर्म अनेक हैं। साध्य रूप में धर्मों की एकता और साधन रूप से अनेकता को ही यथार्थ दृष्टिकोण कहा जा सकता है। सभी धर्मों का साध्य है समत्व-लाभ (समाधि) अर्थात् आन्तरिक तथा बाह्य

है ।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य शंकर की दृष्टि में वैचारिक आग्रह या दार्शनिक मान्यताएँ आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से अधिक मूल्य नहीं रखती। वैदिक नीति-वेत्ता शुक्राचार्य आग्रह को अनुचित और मूर्खता का कारण मानते हुए कहते हैं कि अत्यन्त आग्रह नहीं करना चाहिए क्योंकि अति सब जगह नाश का कारण है। अत्यन्त दान से दरिद्रता, अत्यन्त लोभ से तिरस्कार और अत्यन्त आग्रह से मनुष्य की मूर्खता परिलक्षित होती है।[2] वर्तमान युग में महात्मा गाँधी ने भी वैचारिक आग्रह को अनैतिक माना और सर्वधर्म समभाव के रूप में वैचारिक अनाग्रह पर जोर दिया। वस्तुतः आग्रह सत्य का होना चाहिए, विचारों का नहीं। सत्य का आग्रह तभी हो सकता है जब हम अपने वैचारिक आग्रहों से ऊपर उठें। महात्माजी ने सत्य के आग्रह को तो स्वीकार किया, लेकिन वैचारिक आग्रहों को कभी स्वीकार नहीं किया। उनका सर्वधर्म समभाव का सिद्धान्त इसका ज्वलन्त प्रमाण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं में अनाग्रह को सामाजिक जीवन की दृष्टि से सदैव महत्त्व दिया जाता रहा है, क्योंकि वैचारिक संघर्षों से समाज को बचाने का एकमात्र मार्ग अनाग्रह ही है।

वैचारिक सहिष्णुता का आधार—अनाग्रह (अनेकान्त दृष्टि)

जिस प्रकार भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध के काल में वैचारिक संघर्ष उपस्थित थे और प्रत्येक मतवादी अपने को सम्यक्दृष्टी और दूसरे को मिथ्यादृष्टी कह रहा था, उसी प्रकार वर्तमान युग में भी वैचारिक संघर्ष अपनी चरम सीमा पर है। सिद्धान्तों के नाम पर मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद की दीवारें खींची जा रही हैं। कहीं धर्म के नाम पर, तो कहीं राजनैतिक वाद के नाम पर एकदूसरे के विरुद्ध विषवमन किया जा रहा है। धार्मिक एवं राजनैतिक साम्प्रदायिकता जनता के मानस को उन्मादी बना रही है। प्रत्येक धर्मवाद या राजनैतिक वाद अपनी सत्यता का दावा कर रहा है और दूसरे को भ्रान्त बता रहा है। इस धार्मिक एवं राजनैतिक उन्माद एवं असहिष्णुता के कारण मानव मानव के रक्त का प्यासा बना हुआ है। आज प्रत्येक राष्ट्र का एवं विश्व का वातावरण तनावपूर्ण एवं विक्षुब्ध हैं। एक ओर प्रत्येक राष्ट्र की राजनैतिक पार्टियाँ या धार्मिक सम्प्रदाय उसके आन्तरिक वातावरण को विक्षुब्ध एवं जनता के पारस्परिक सन्बन्धों को तनावपूर्ण बनाये हुए हैं, तो दूसरी ओर राष्ट्र स्वयं भी अपने को किसी एक निष्ठा से सम्बन्धित कर गुट बना रहे हैं। और इस प्रकार विश्व के वातावरण को तनावपूर्ण एवं विक्षुब्ध बना रहे हैं। मात्र इतना ही नहीं यह वैचारिक असहिष्णुता, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन को विषाक्त बना रही है। पुरानी और नई पीढ़ी के वैचारिक विरोध के कारण आज समाज और परिवार का वातावरण भी अशान्त और कलहपूर्ण हो रहा है। वैचारिक आग्रह और मतान्धता के इस युग में एक

१. विवेकचूड़ामणि ६१. २. शुक्रनीति, ३।२११-२१३.

ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता है जो लोगों को आग्रह और मतान्धता से ऊपर उठने के लिए दिशा-निर्देश दे सके। भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर दो ऐसे महापुरुष हैं जिन्होंने इस वैचारिक असहिष्णुता की विध्वंसकारी शक्ति को समझा था और उससे बचने का निर्देश दिया था। वर्तमान में भी धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक जीवन में जो वैचारिक संघर्ष और तनाव उपस्थित हैं उनका सम्यक् समाधान इन्हीं महापुरुषों की विचार सरणी के द्वारा खोजा जा सकता है। आज हमें विचार करना होगा कि बुद्ध और महावीर की अनाग्रह दृष्टि के द्वारा किस प्रकार धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक सहिष्णुता को विकसित किया जा सकता है।

धार्मिक सहिष्णुता

सभी धर्म-साधना पद्धतियों का मुख्य लक्ष्य राग, आसक्ति, अहं एवं तृष्णा की समाप्ति रहा है। जैन धर्म की साधना का लक्ष्य वीतरागता है, तो बौद्ध धर्म का साधना-लक्ष्य वीततृष्ण होना माना गया है। वहीं वेदान्त में अहं और आसक्ति से ऊपर उठना ही मानव का साध्य बताया गया है। लेकिन क्या आग्रह वैचारिक राग, वैचारिक आसक्ति, वैचारिक तृष्णा अथवा वैचारिक अहं का ही रूप नहीं है? और जब तक वह उपस्थित है धार्मिक साधना के क्षेत्र में लक्ष्य की सिद्धि कैसे होगी? पुनः जिन साधना पद्धतियों में अहिंसा के आदर्श को स्वीकार किया गया उनके लिए आग्रह या एकान्त वैचारिक हिंसा का प्रतीक भी बन जाता है। एक ओर साधना के वैयक्तिक पहलू की दृष्टि से मताग्रह वैचारिक आसक्ति या राग का ही रूप है तो दूसरी ओर साधना के सामाजिक पहलू की दृष्टि से वह वैचारिक हिंसा है। वैचारिक आसक्ति और वैचारिक हिंसा से मुक्ति के लिए धार्मिक क्षेत्र में अनाग्रह और अनेकान्त की साधना अपेक्षित है। वस्तुतः धर्म का आविर्भाव मानव जाति में शान्ति और असहयोग के विस्तार के लिए हुआ था। धर्म मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने के लिए था, लेकिन आज वही धर्म मनुष्य मनुष्य में विभेद की दीवारें खींच रहा है। धार्मिक मतान्धता में हिंसा, संघर्ष, छल, छद्म, अन्याय, अत्याचार क्या नहीं हो रहा है? क्या वस्तुतः इसका कारण धर्म हो सकता है? इसका उत्तर निश्चित रूप से 'हाँ' में नहीं दिया जा सकता। यथार्थ में 'धर्म' नहीं, किन्तु धर्म का आवरण डालकर मानव की महत्त्वाकांक्षा, उसका अहंकार, ही यह सब करवाता रहा है। यह धर्म का नकाब ओढ़े अधर्म है।

धर्म एक या अनेक—मूल प्रश्न यह है कि क्या धर्म अनेक हैं या हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर अनेकान्तिक शैली से यह होगा कि धर्म एक भी है और अनेक भी, साध्यात्मक धर्म या धर्मों का साध्य एक है जब कि साधनात्मक धर्म अनेक हैं। साध्य रूप में धर्मों की एकता और साधन रूप से अनेकता को ही यथार्थ दृष्टिकोण कहा जा सकता है। सभी धर्मों का साध्य है समत्व-लाभ (समाधि) अर्थात् आन्तरिक तथा बाह्य

शान्ति की स्थापना तथा उसके लिए विक्षोभ के जनक राग-द्वेष और अस्मिता (अहंकार) का निराकरण। लेकिन राग-द्वेष और अस्मिता के निराकरण के उपाय क्यों हों? यहीं विचारभेद प्रारम्भ होता है, लेकिन यह विचारभेद विरोध का आधार नहीं बन सकता। एक ही साध्य की ओर उन्मुख होने से परस्पर विरोधी नहीं कहे जा सकते। एक ही केन्द्र से योजित होने वाली परिधि से खिची हुई विभिन्न रेखाओं मे पारस्परिक विरोध प्रतीत अवश्य होता है किन्तु वह यथार्थ में होता नहीं है। क्योंकि केन्द्र से संयुक्त प्रत्येक रेखा में एक-दूसरे को काटने की क्षमता नहीं होती है किन्तु जैसे ही वह केन्द्र का परित्याग करती है वह दूसरी रेखाओं को अवश्य ही काटती है। साध्य रूपी एकता में ही साधनरूपी धर्मों की अनेकता स्थित है। अतः यदि धर्मों का साध्य एक है तो उनमें विरोध कैसा? अनेकान्त या अनाग्रह धर्मों की साध्यपरक मूलभूत एकता और साधनपरक अनेकता को इंगित करता है।

विश्व के विभिन्न धर्माचार्यों ने अपने युग की तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने सिद्धान्तों एवं साधना के बाह्य नियमों का प्रतिपादन किया। देश-कालगत परिस्थितियों और साधक की साधना की क्षमता की विभिन्नता के कारण धर्म साधना के बाह्य रूपों में भिन्नताओं का आ जाना स्वाभाविक ही था और ऐसा हुआ भी। किन्तु मनुष्य की अपने धर्माचार्यों के प्रति ममता (रागात्मकता) और उसके मन में अपने व्याप्त आग्रह और अहंकार ने उसे अपने धर्म या साधना-पद्धति को ही एक मात्र एवं अन्तिम सत्य मानने को बाध्य किया। फलस्वरूप विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और उनके बीच साम्प्रदायिक वैमनस्य का प्रारम्भ हुआ। मनुष्य-स्वभाव बड़ा विचित्र है। उसके अहं को जरा सी चोट लगते ही वह अपना अखाड़ा अलग बनाने को तैयार हो जाता है। यद्यपि वैयक्तिक अहं सम्प्रदायों के निर्माण का एक कारण अवश्य है लेकिन वही एकमात्र कारण नहीं है। बौद्धिक भिन्नता और देश-कालगत तथ्य भी इसके कारण रहे हैं और इसके अतिरिक्त पूर्वप्रचलित परम्पराओं में आई हुई विकृतियों के संशोधन के लिए भी सम्प्रदाय बने। धार्मिक सम्प्रदाय बनने के कारणों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है १. अनुचित कारण और २. उचित कारण। **१. अनुचित कारण**—(१) ईर्ष्या के कारण, (२) किसी व्यक्ति की प्रसिद्धि की लिप्सा के कारण, (३) पूर्वसम्प्रदाय से अनबन के कारण; **२. उचित कारण**—(४) किसी आचार सम्बन्धी नियमोपनियम में भेद के कारण, (५) किसी विशेष सत्य को प्राप्त करने की दृष्टि से एवं (६) किसी साम्प्रदायिक परम्परा या क्रिया में द्रव्य, क्षेत्र एवं काल के अनुसार संशोधन या परिवर्तन करने की दृष्टि से। उपरोक्त कारणों में अन्तिम तीन को छोड़कर शेष सभी कारणों से उत्पन्न सम्प्रदाय आग्रह, धार्मिक असहिष्णुता और साम्प्रदायिक कटुता को जन्म देते हैं।

विश्व इतिहास का अध्येता इसे भलीभाँति मानता है कि धार्मिक असहिष्णुता ने विश्व में जघन्य दुष्कृत्य कराये हैं। आश्चर्य तो यह है कि इस दमन, अत्याचार, नृशं-

सता और रक्तप्लावन को धर्म का वाना पहनाया गया। शान्ति-प्रदाता धर्म ही अशान्ति का कारण बना। आज के वैज्ञानिक युग में धार्मिक अनास्था का एक मुख्य कारण यह भी है। यद्यपि विभिन्न मतों, पंथों और वादों में बाह्य भिन्नता परिलक्षित होती है किन्तु यदि हमारी दृष्टि व्यापक और अनाग्रही हो तो इसमें भी एकता और समन्वय के सूत्र परिलक्षित हो सकते हैं।

अनेकान्त विचार-दृष्टि विभिन्न धर्म सम्प्रदायों की समाप्ति के द्वारा एकता का प्रयास नहीं करती है क्योंकि वैयक्तिक रुचिभेद एवं क्षमताभेद तथा देशकालगत भिन्नताओं के होते हुए विभिन्न धर्म एवं विचार सम्प्रदायों की उपस्थिति अपरिहार्य है। एक धर्म या एक सम्प्रदाय का नारा असंगत एवं अव्यावहारिक ही नहीं अपितु अशान्ति और संघर्ष का कारण भी है। अनेकान्त, विभिन्न धर्म सम्प्रदायों की समाप्ति का प्रयास नहीं होकर उन्हें एक व्यापक पूर्णता में सुसंगत रूप से संयोजित करने का प्रयास हो सकता है। लेकिन इसके लिए प्राथमिक आवश्यकता है धार्मिक सहिष्णुता और सर्वधर्म समभाव की।

अनेकान्त के समर्थक जैनाचार्यों ने सदैव धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया है। आचार्य हरिभद्र की धार्मिक सहिष्णुता तो सर्वविदित ही है। अपने ग्रन्थ शास्त्रवार्ता समुच्चय में उन्होंने बुद्ध के अनात्मवाद और न्यायदर्शन के ईश्वरकर्तृत्ववाद, वेदान्त के सर्वात्मवाद (ब्रह्मवाद) में भी संगति दिखाने का प्रयास किया। उनकी समन्वय-वादी दृष्टि का संकेत हम पूर्व में कर चुके हैं।

इसप्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने भी शिव-प्रतिमा को प्रणाम करते समय सर्वदेव-समभाव का परिचय देते हुए कहा था—

भवबीजांकुर जनना, रागाद्याक्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो, जिनो वा नमस्तस्मै।

संसार परिभ्रमण के कारण रागादि जिसके क्षय हो चुके हैं, उसे मैं प्रणाम करता हूँ चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो या जिन हो।

उपाध्याय यशोविजय जी लिखते हैं—

"सच्चा अनेकान्तवादी किसी दर्शन से द्वेष नहीं करता। वह सम्पूर्ण दृष्टिकोण (दर्शनों) को इस प्रकार वात्सल्य दृष्टि से देखता है जैसे कोई पिता अपने पुत्रों को। क्योंकि अनेकान्तवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती। वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी वही है जो स्याद्वाद का आलम्बन लेकर सम्पूर्ण दर्शनों में समान भाव रखता है। माध्यस्थ भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है, यही धर्मवाद है। माध्यस्थ भाव रहने पर शास्त्र के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों का ज्ञान भी

वृथा है ।''[1] एक सच्चा जैन सभी धर्मों एवं दर्शनों के प्रति सहिष्णु होता है। वह सभी में सत्य का दर्शन करता है। परमयोगी जैन सन्त आनन्दघनजी लिखते हैं—

> षट् दरसण जिन अंग भणीजे, न्याय षडंग जो साधे रे,
> नमि जिनवरना चरण उपासक, षटदर्शन आराधे रे।

राजनैतिक सहिष्णुता

आज का राजनैतिक जगत् भी वैचारिक संकुलता से परिपूर्ण है। पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, फासिस्टवाद, नाजीवाद आदि अनेक राजनैतिक विचारधाराएँ तथा राजतन्त्र, प्रजातन्त्र, कुलतन्त्र, अधिनायकतन्त्र आदि अनेकानेक शासन प्रणालियाँ वर्तमान में प्रचलित हैं। मात्र इतना ही नहीं, उनमें से प्रत्येक एकदूसरे की समाप्ति के लिए प्रयत्नशील है। विश्व के राष्ट्र खेमों में बँटे हुए हैं और प्रत्येक खेमे का अग्रणी राष्ट्र अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने के हेतु दूसरे के विनाश में तत्पर है। मुख्य बात यह है कि आज का राजनैतिक संघर्ष आर्थिक हितों का संघर्ष न होकर वैचारिकता का संघर्ष है। आज अमेरिका और रूस अपनी वैचारिक प्रमुखता के प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ाने के लिए ही प्रतिस्पर्धा में लगे हुए हैं। एकदूसरे को नामशेष करने की उनकी यह महत्त्वाकांक्षा कहीं मानव-जाति को ही नामशेष न कर दे।

आज के राजनैतिक जीवन में अनेकान्त के दो व्यावहारिक फलित—वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय—अत्यन्त उपादेय हैं। मानव-जाति ने राजनैतिक जगत् में राजतन्त्र से प्रजातन्त्र तक की जो लम्बी यात्रा तय की है उसकी सार्थकता अनेकान्त दृष्टि को अपनाने में ही है। विरोधी पक्ष के द्वारा की जाने वाली आलोचना के प्रति सहिष्णु होकर, उसके द्वारा अपने दोषों को समझना और उन्हें दूर करने का प्रयास करना, आज के राजनैतिक जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। विपक्ष की धारणाओं में भी सत्यता हो सकती है और सबल विरोधी दल की उपस्थिति से हमें अपने दोषों के निराकरण का अच्छा अवसर मिलता है—इस विचार-दृष्टि और सहिष्णु भावना में ही प्रजातन्त्र का भविष्य उज्ज्वल रह सकता है। राजनैतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातन्त्र (पार्लियामेन्टरी डेमोक्रेसी) वस्तुतः राजनैतिक अनेकान्तवाद है। इस परम्परा में बहुमत दल द्वारा गठित सरकार अल्पमत दल को अपने विचार प्रस्तुत करने का अधिकार मान्य करती है और यथासम्भव उससे लाभ भी उठाती है। दार्शनिक क्षेत्र में जहाँ भारत अनेकान्तवाद का सर्जक है, वहीं वह राजनैतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातन्त्र का समर्थक भी है। अतः आज अनेकान्त का व्यावहारिक क्षेत्र में उपयोग करने का दायित्व भारतीय राजनीतिज्ञों पर है।

---

१. अध्यात्मसार, ६९–७३. २. उत्तराध्ययनसूत्र, ३२।८.

सामाजिक एवं पारिवारिक सहिष्णुता

कौटुम्बिक क्षेत्र में इस पद्धति का उपयोग परस्पर कुटुम्बों में और कुटुम्ब के सदस्यों में संघर्ष को टालकर शान्तिपूर्ण वातावरण का निर्माण करेगा। सामान्यतया पारिवारिक जीवन में संघर्ष के दो केन्द्र होते हैं—पिता-पुत्र तथा सास-बहू। इन दोनों के विवादों में मूल कारण दोनों का दृष्टि-भेद है। पिता जिस परिवेश में पला है उन्हीं संस्कारों के आधार पर पुत्र का जीवन ढालना चाहता है। जिस मान्यता को स्वयं मानकर बैठा है, उन्हीं मान्यताओं को दूसरे से मनवाना चाहता है। पिता की दृष्टि अनुभवप्रधान होती है जबकि पुत्र की दृष्टि तर्कप्रधान। एक प्राचीन संस्कारों से ग्रस्त होता है तो दूसरा उन्हें समाप्त कर देना चाहता है। यही स्थिति सास-बहू में होती है। सास यह अपेक्षा करती है कि बहू ऐसा जीवन जिये जैसा उसने स्वयं बहू के रूप में जिया था, जबकि बहू अपने युग के अनुरूप और अपने मातृपक्ष के संस्कारों से प्रभावित जीवन जीना चाहती है। मात्र इतना ही नहीं, उसकी अपेक्षा यह भी होती है कि वह उतना ही स्वतन्त्र जीवन जीये जैसा वह अपने माता-पिता के पास जीती थी। इसके विपरीत श्वसुर पक्ष उससे एक अनुशासित जीवन की अपेक्षा करता है। यही सब विवाद के कारण बनते हैं। इसमें जब तक सहिष्णु दृष्टि और दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जाता तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता। वस्तुतः इसके मूल में जो दृष्टि-भेद है उसे अनेकान्त पद्धति से सम्यक् प्रकार जाना जा सकता है।

वास्तविकता यह है कि हम जब दूसरे के सम्बन्ध में कोई विचार करें, कोई निर्णय लें तो हमें स्वयं अपने को उस स्थिति में खड़ा कर सोचना चाहिए। दूसरे की भूमिका में स्वयं को खड़ा करके ही उसे सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है। पिता पुत्र से जिस बात की अपेक्षा करता है, उसके पहले अपने को पुत्र की भूमिका में खड़ा कर विचार कर ले। अधिकारी कर्मचारी से जिस ढंग से काम लेना चाहता है उसके पहले स्वयं को उस स्थिति में खड़ा करे, फिर निर्णय ले। यही एक दृष्टि है जिसके द्वारा एक सहिष्णु मानस का निर्माण किया जा सकता है और मानव-जाति को वैचारिक संघर्षों से बचाया जा सकता है।

अनाग्रह की अवधारणा के फलित—सत् अनन्त पहलुओं से युक्त है तथा मानवीय ज्ञान के साधन सीमित एवं सापेक्ष हैं, अतः सामान्य व्यक्ति का ज्ञान सीमित (आंशिक) और सापेक्ष होता है। दूसरे आग्रह, जो वस्तुतः वैचारिक राग ही है, सत्य को रंगीन बना देता है। रागात्मिका बुद्धि भी सत्य को विकृत कर देती है। परिणामस्वरूप सामान्य व्यक्ति को जो भी ज्ञान होता है वह अपूर्ण तो होता ही है, अशुद्ध भी होता है। अतः सत्यान्वेषण एवं विचारशुद्धि की आवश्यक शर्तें निम्न हैं—

१. सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान सामान्य मानव के लिए सम्भव नहीं है, सत्य के अनेक

पहलू हमारे लिए आवृत बने रहते हैं। अतः दूसरों के विचार एवं ज्ञान में भी सत्यता सम्भव है, यह बात स्वीकार करनी होगी।

२. सत्यान्वेषण आग्रहबुद्धि के द्वारा सम्भव नहीं है। अनाग्रही दृष्टि ही सत्य को प्रदान कर सकती है।

३. राग-द्वेषजन्य संस्कारों से ऊपर उठकर 'मेरा सो सच्चा' के स्थान पर 'सच्चा सो मेरा' यह दृष्टि रखना चाहिए। सत्य चाहे अपने पास हो या विरोधी के पास, उसे स्वीकार करने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए।

४. जब तक हम राग-द्वेष के संस्कारों से अपने को ऊपर नहीं उठा सकें और पूर्णता को नहीं प्राप्त कर सकें तब तक केवल सत्य के प्रति जिज्ञासा रखना चाहिए। सत्य अपना या पराया नहीं होता है।

५. अपने विचार पक्ष के प्रति भी विपक्ष के समान तीव्र समालोचक दृष्टि रखना चाहिए।

६. विपक्ष के सत्य को उसी के दृष्टिकोण के आधार पर समझने का प्रयास करना चाहिए।

७. अनुभव या ज्ञान की वृद्धि के साथ यदि नये सत्यों का प्रकटन हो तथा पूर्व-ग्रहीत विचार असत्य प्रतीत हों तो आग्रहबुद्धि का त्याग कर नये विचारों को स्वीकार करना चाहिए और पुरानी मान्यताओं को तदनुरूप संशोधित करना चाहिए।

८. विरोध की स्थिति में प्रज्ञापूर्वक समन्वय के सूत्र खोजने का प्रयास करना चाहिए।

९. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णु दृष्टिकोण रखना चाहिए, क्योंकि उनके विचारों में भी सत्यता की सम्भावना निहित है।

अनासक्ति (अपरिग्रह)

अहिंसा और अनाग्रह के बाद जैन आचारदर्शन का तीसरा प्रमुख सिद्धान्त अनासक्ति है। अहिंसा, अनाग्रह और अनासक्ति इन तीन तत्त्वों के आधार पर ही जैन आचारदर्शन का भव्य महल खड़ा है। यही अनासक्ति सामाजिक नैतिकता के क्षेत्र में अपरिग्रह बन जाती है।

जैन धर्म में अनासक्ति

जैन आचारदर्शन में जिन पाँच महाव्रतों का विवेचन है, उनमें से तीन महाव्रत अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अनासक्ति के ही व्यावहारिक रूप हैं। व्यक्ति के अन्दर निहित आसक्ति दो रूपों में प्रकट होती है—१. संग्रह-भावना और २. भोग-भावना। संग्रह-भावना और भोग-भावना से प्रेरित होकर ही मनुष्य दूसरों के अधिकार की

वस्तुओं का अपहरण करता है। इस प्रकार आसक्ति बाह्यतः तीन रूपों में होती है—१. अपहरण (शोषण), २. भोग और ३. संग्रह। आसक्ति के तीन रूपों का निग्रह करने के लिए जैन आचारदर्शन में अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रतों का विधान है। संग्रह-वृत्ति का अपरिग्रह से, भोगवृत्ति का ब्रह्मचर्य से और अपहरणवृत्ति का अस्तेय महाव्रत से निग्रह होता है।

उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार समग्र जागतिक दुःखों का मूल कारण तृष्णा है। कहा गया है—जिसकी तृष्णा समाप्त हो जाती है उसका मोह समाप्त हो जाता है और जिसका मोह मिट जाता है उसके दुःख भी समाप्त हो जाते हैं।[1] आसक्ति का ही दूसरा नाम लोभ है और लोभ समग्र सद्गुणों का विनाशक है।[2] जैन विचारणा के अनुसार तृष्णा एक ऐसी खाई है जो कभी भी पाटी नहीं जा सकती। दुष्पूर तृष्णा का कभी अन्त नहीं आता। उत्तराध्ययनसूत्र में इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि यदि सोने और चाँदी के कैलाश पर्वत के समान असंख्य पर्वत भी खड़े कर दिये जायें तो भी यह दुष्पूर्य तृष्णा शान्त नहीं हो सकती, क्योंकि धन चाहे कितना भी हो, वह सीमित है और तृष्णा अनन्त (असीम) है, अतः सीमित साधनों से इस असीम तृष्णा की पूर्ति नहीं की जा सकती।[3] किन्तु जब तक तृष्णा शान्त नहीं होती, तब तक दुःखों से मुक्ति भी नहीं होती। सूत्रकृतांग के अनुसार मनुष्य जब तक किसी भी प्रकार की आसक्ति रखता है वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।[4] यदि हम अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो जैन दार्शनिकों की दृष्टि में तृष्णा या आसक्ति दुःख का पर्यायवाची ही बन गयी है। यह तृष्णा या आसक्ति ही परिग्रह (संग्रहवृत्ति) का मूल है। आसक्ति ही परिग्रह है।[5] जैन आचार्यों ने जिस अपरिग्रह के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया उसके मूल में यही अनासक्ति-प्रधान दृष्टि कार्य कर रही है। यद्यपि आसक्ति एक मानसिक तथ्य है, मन की ही एक वृत्ति है, तथापि उसका प्रकटन बाह्य है और उसका सीधा सम्बन्ध बाह्य वस्तुओं से है। वह सामाजिक जीवन को दूषित करती है। अतः आसक्ति के प्रहाण के लिए व्यावहारिक रूप में परिग्रह का त्याग भी आवश्यक है।

परिग्रह या संग्रहवृत्ति सामाजिक हिंसा है। जैन आचार्यों की दृष्टि में समग्र परिग्रह हिंसा से प्रत्युत्पन्न है। क्योंकि बिना हिंसा (शोषण) के संग्रह असम्भव है। व्यक्ति संग्रह के द्वारा दूसरों के हितों का हनन करता है और इस रूप मे संग्रह या परिग्रह हिंसा का ही एक रूप हैं। वह हिंसा या शोषण का जनक हैं। अनासक्ति को जीवन में उतारने के लिए जैन आचार्यों ने यह आवश्यक माना कि मनुष्य बाह्य-परिग्रह का भी त्याग

---

१. उत्तराध्ययन, ३२।८.
२. दशवैकालिक, ८।३८.
३. उत्तराध्ययन, ९।४८.
४. सूत्रकृतांग, १।१।२.
५. दशवैकालिक, ६।२१.

करे। परिग्रह-त्याग अनासक्त दृष्टि का बाह्य जीवन में प्रमाण है। एक ओर विपुल संग्रह और दूसरी ओर अनासक्ति, इन दोनों में कोई मेल नहीं है। यदि मन में अनासक्ति की भावना का उदय है तो उसे बाह्य व्यवहार में अनिवार्य रूप से प्रकट होना चाहिए। अनासक्ति की धारणा को व्यावहारिक रूप देने के लिए गृहस्थ जीवन में परिग्रह-मर्यादा और श्रमण जीवन में समग्र परिग्रह के त्याग का निर्देश है। दिगम्बर जैन मुनि का आत्यन्तिक अपरिग्रही जीवन अनासक्त दृष्टि का सजीव प्रमाण है। अपरिग्रही होते हुए भी व्यक्ति के मन में आसक्ति का तत्त्व रह सकता है, लेकिन इस आधार पर यह मानना कि विपुल संग्रह को रखते हुए भी अनासक्त वृत्ति का पूरी तरह निर्वाह हो सकता है, समुचित नहीं है।

जैन आचारदर्शन में यह आवश्यक माना गया है कि साधक चाहे गृहस्थ हो या श्रमण, उसे अपरिग्रह की दिशा में आगे बढ़ना चाहिए। हम देखते हैं कि राष्ट्रों एवं वर्गों की संग्रह एवं शोषण-वृत्ति ने मानव-जाति को कितने कष्टों में डाला है। जैन आचारदर्शन के अनुसार समविभाग और समवितरण साधना का आवश्यक अंग है। जैनविचारधारा में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि जो समविभाग और समवितरण नहीं करता उसकी मुक्ति संभव नहीं है। ऐसा व्यक्ति पापी ही है।[1] समविभाग और समवितरण सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास के अनिवार्य अंग हैं। इसके बिना आध्यात्मिक उपलब्धि भी संभव नहीं। अतः जैन आचार्यों ने नैतिक साधना की दृष्टि से अनासक्ति को अनिवार्य माना है।

बौद्ध धर्म में अनासक्ति—बौद्धपरम्परा में भी अनासक्ति को समग्र बन्धनों एवं दुःखों का मूल माना गया है। बुद्ध कहते हैं कि तृष्णा के नष्ट हो जाने पर सभी बन्धन स्वतः नष्ट हो जाते हैं। तृष्णा दुष्पूर्य है। वे कहते हैं कि चाहे स्वर्ण-मुद्राओं की वर्षा होने लगे, लेकिन उससे भी तृष्णायुक्त मनुष्य की तृप्ति नहीं होती।[2] भगवान् बुद्ध की दृष्टि में तृष्णा ही दुःख है[3] और जिसे यह विषैली नीच तृष्णा घेर लेती है उसके दुःख वैसे ही बढ़ते रहते हैं, जैसे खेतों में वीरण घास बढ़ती रहती है।[4] बौद्धदर्शन में तृष्णा तीन प्रकार की मानी गयी है—१. भवतृष्णा, २. विभवतृष्णा और ३. कामतृष्णा। भवतृष्णा अस्तित्व या बने रहने की तृष्णा है, यह रागस्थानीय है। विभवतृष्णा समाप्त या नष्ट हो जाने की तृष्णा है। यह द्वेषस्थानीय है। कामतृष्णा भोगों की उपलब्धि की तृष्णा है। रूपादि छह विषयों की भव, विभव और कामतृष्णा के आधार पर बौद्ध परम्परा में तृष्णा के १८ भेद भी माने गये हैं। तृष्णा ही बन्धन है। बुद्ध ने ठीक ही कहा है कि बुद्धिमान् लोग उस बन्धन को बन्धन नहीं कहते जो लोहे का बना हो,

---

१. उत्तराध्यनन, १७।११; प्रश्नव्याकरण, २।३. २. धम्मपद, १८६.
३. संयुत्तनिकाय, २।१२।६६, १।१।६५. ४. धम्मपद, ३३५.

लकड़ी का बना हो अथवा रस्सी का बना हो, अपितु दृढ़तर बन्धन तो सोना, चांदी, पुत्र, स्त्री आदि में रही हुई आसक्ति ही है।[१] सुत्तनिपात में भी बुद्ध ने कहा है कि आसक्ति ही बन्धन है[२] जो भी दुःख होता है वह सब तृष्णा के कारण ही होता है।[३] आसक्त मनुष्य आसक्ति के कारण नाना प्रकार के दुःख उठाते हैं।[४] आसक्ति का क्षय ही दुःखों का क्षय है। जो व्यक्ति इस तृष्णा को वश में कर लेता है उसके दुःख उसी प्रकार समाप्त हो जाते हैं जैसे कमलपत्र पर रहा हुआ जल-बिन्दु शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।[५] तृष्णा से ही शोक और भय उत्पन्न होते हैं। तृष्णा-मुक्त मनुष्य को न तो भय होता है और न शोक।[६] इस प्रकार बुद्ध की दृष्टि में आसक्ति ही वास्तविक दुःख है और अनासक्ति ही सच्चा सुख है। बुद्ध ने जिस अनात्मवाद का प्रतिपादन किया, उसके पीछे भी उनकी मूल दृष्टि आसक्ति-नाश ही थी। बुद्ध की दृष्टि में आसक्ति, चाहे वह पदार्थों की हो, चाहे वह किसी अतीन्द्रिय आत्मा के अस्तित्व की हो, बन्धन ही है। अस्तित्व की चाह तृष्णा ही है। मुक्ति तो विरागता या अनासक्ति में ही प्रतिफलित होती है।[७] तृष्णा का प्रहाण होना ही निर्वाण है। बुद्ध की दृष्टि में परिग्रह या संग्रह-वृत्ति का मूल यही आसक्ति या तृष्णा है। कहा गया है कि परिग्रह का मूल इच्छा (आसक्ति) है।[८] अतः बुद्ध की दृष्टि में भी अनासक्ति की वृत्ति के उदय के लिए परिग्रह का विसर्जन आवश्यक है।

गीता में अनासक्ति—गीता के आचारदर्शन का भी केन्द्रीय तत्त्व अनासक्ति है। महात्मा गांधी ने तो गीता को 'अनासक्ति-योग' ही कहा है। गीताकार ने भी यह स्पष्ट किया है कि आसक्ति का तत्त्व ही व्यक्ति को संग्रह और भोगवासना के लिए प्रेरित करता है। कहा गया है कि आसक्ति के बन्धन में बँधा हुआ व्यक्ति कामभोग की पूर्ति के लिए अन्याय-पूर्वक अर्थ-संग्रह करता है।[९] इस प्रकार गीताकार की स्पष्ट मान्यता है कि आर्थिक क्षेत्र में अपहरण, शोषण और संग्रह की जो बुराइयाँ पनपती हैं वे सब मूलतः आसक्ति से प्रत्युत्पन्न हैं। गीता के अनुसार आसक्ति और लोभ नरक के कारण हैं। कामभोगों में आसक्त मनुष्य ही नरक और अशुभ योनियों में जन्म लेता है।[१०] सम्पूर्ण जगत् इसी आसक्ति के पाश में बँधा हुआ है और इच्छा और द्वेष से सम्मोहित होकर परिभ्रमण करता रहता है। वस्तुतः आसक्ति के कारण वैयक्तिक और सामाजिक जीवन नारकीय बन जाता है। गीता के नैतिक दर्शन का सारा जोर फलासक्ति को समाप्त करने पर है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन, तू कर्मों के फल में रही हुई आसक्ति का त्याग कर

१. धम्मपद, ३४५.
२. सुत्तनिपात, ६८।५.
३. वही, ३८।१७.
४. थेरगाथा, १६।७३४.
५. धम्मपद, ३३६.
६. वही, २१६.
७. मज्झिमनिकाय, ३।२०.
८. महानिद्देसपालि, १।११।१०७.
९. गीता, १६।१२.
१०. वही, १६।१६.

करे। परिग्रह-त्याग अनासक्त दृष्टि का बाह्य जीवन में प्रमाण है। एक ओर विपुल संग्रह और दूसरी ओर अनासक्ति, इन दोनों में कोई मेल नहीं है। यदि मन में अनासक्ति की भावना का उदय है तो उसे बाह्य व्यवहार में अनिवार्य रूप से प्रकट होना चाहिए। अनासक्ति की धारणा को व्यावहारिक रूप देने के लिए गृहस्थ जीवन में परिग्रह-मर्यादा और श्रमण जीवन में समग्र परिग्रह के त्याग का निर्देश है। दिगम्बर जैन मुनि का आत्यन्तिक अपरिग्रही जीवन अनासक्त दृष्टि का सजीव प्रमाण है। अपरिग्रही होते हुए भी व्यक्ति के मन में आसक्ति का तत्त्व रह सकता है, लेकिन इस आधार पर यह मानना कि विपुल संग्रह को रखते हुए भी अनासक्त वृत्ति का पूरी तरह निर्वाह हो सकता है, समुचित नहीं है।

जैन आचारदर्शन में यह आवश्यक माना गया है कि साधक चाहे गृहस्थ हो या श्रमण, उसे अपरिग्रह की दिशा में आगे बढ़ना चाहिए। हम देखते हैं कि राष्ट्रों एवं वर्गों की संग्रह एवं शोषण-वृत्ति ने मानव-जाति को कितने कष्टों में डाला है। जैन आचारदर्शन के अनुसार समविभाग और समवितरण साधना का आवश्यक अंग है। जैनविचारधारा में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि जो समविभाग और समवितरण नहीं करता उसकी मुक्ति संभव नहीं है। ऐसा व्यक्ति पापी ही है।[1] समविभाग और समवितरण सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास के अनिवार्य अंग हैं। इसके बिना आध्यात्मिक उपलब्धि भी संभव नहीं। अतः जैन आचार्यों ने नैतिक साधना की दृष्टि से अनासक्ति को अनिवार्य माना है।

बौद्ध धर्म में अनासक्ति—बौद्धपरम्परा में भी अनासक्ति को समग्र बन्धनों एवं दुःखों का मूल माना गया है। बुद्ध कहते हैं कि तृष्णा के नष्ट हो जाने पर सभी बन्धन स्वतः नष्ट हो जाते हैं। तृष्णा दुष्पूर्य है। वे कहते हैं कि चाहे स्वर्ण-मुद्राओं की वर्षा होने लगे, लेकिन उससे भी तृष्णायुक्त मनुष्य की तृप्ति नहीं होती।[2] भगवान् बुद्ध की दृष्टि में तृष्णा ही दुःख है[3] और जिसे यह विषैली नीच तृष्णा घेर लेती है उसके दुःख वैसे ही बढ़ते रहते हैं, जैसे खेतों में वीरण घास बढ़ती रहती है।[4] बौद्धदर्शन में तृष्णा तीन प्रकार की मानी गयी है—१. भवतृष्णा, २. विभवतृष्णा और ३. कामतृष्णा। भवतृष्णा अस्तित्व या बने रहने की तृष्णा है, यह रागस्थानीय है। विभवतृष्णा समाप्त या नष्ट हो जाने की तृष्णा है। यह द्वेषस्थानीय है। कामतृष्णा भोगों की उपलब्धि की तृष्णा है। रूपादि छह विषयों की भव, विभव और कामतृष्णा के आधार पर बौद्ध परम्परा में तृष्णा के १८ भेद भी माने गये हैं। तृष्णा ही बन्धन है। बुद्ध ने ठीक ही कहा है कि बुद्धिमान् लोग उस बन्धन को बन्धन नहीं कहते जो लोहे का बना हो,

१. उत्तराध्ययन, १७।११; प्रश्नव्याकरण, २।३.
२. धम्मपद, १८६.
३. संयुत्तनिकाय, २।१२।६६, १।१।६५.
४. धम्मपद, ३३५.

लकड़ी का बना हो अथवा रस्सी का बना हो, अपितु दृढ़तर बन्धन तो सोना, चाँदी, पुत्र, स्त्री आदि में रही हुई आसक्ति ही है।[१] सुत्तनिपात में भी बुद्ध ने कहा है कि आसक्ति ही बन्धन है[२] जो भी दुःख होता है वह सब तृष्णा के कारण ही होता है।[३] आसक्त मनुष्य आसक्ति के कारण नाना प्रकार के दुःख उठाते हैं।[४] आसक्ति का क्षय ही दुःखों का क्षय है। जो व्यक्ति इस तृष्णा को वश में कर लेता है उसके दुःख उसी प्रकार समाप्त हो जाते हैं जैसे कमलपत्र पर रहा हुआ जल-बिन्दु शीघ्र ही समाप्त हो जाता है।[५] तृष्णा से ही शोक और भय उत्पन्न होते हैं। तृष्णा-मुक्त मनुष्य को न तो भय होता है और न शोक।[६] इस प्रकार बुद्ध की दृष्टि में आसक्ति ही वास्तविक दुःख है और अनासक्ति ही सच्चा सुख है। बुद्ध ने जिस अनात्मवाद का प्रतिपादन किया, उसके पीछे भी उनकी मूल दृष्टि आसक्ति-नाश ही थी। बुद्ध की दृष्टि में आसक्ति, चाहे वह पदार्थों की हो, चाहे वह किसी अतीन्द्रिय आत्मा के अस्तित्व की हो, बन्धन ही है। अस्तित्व की चाह तृष्णा ही है। मुक्ति तो विरागता या अनासक्ति में ही प्रतिफलित होती है।[७] तृष्णा का प्रहाण होना ही निर्वाण है। बुद्ध की दृष्टि में परिग्रह या संग्रह-वृत्ति का मूल यही आसक्ति या तृष्णा है। कहा गया है कि परिग्रह का मूल इच्छा (आसक्ति) है।[८] अतः बुद्ध की दृष्टि में भी अनासक्ति की वृत्ति के उदय के लिए परिग्रह का विसर्जन आवश्यक है।

गीता में अनासक्ति—गीता के आचारदर्शन का भी केन्द्रीय तत्त्व अनासक्ति है। महात्मा गांधी ने तो गीता को 'अनासक्ति-योग' ही कहा है। गीताकार ने भी यह स्पष्ट किया है कि आसक्ति का तत्त्व ही व्यक्ति को संग्रह और भोगवासना के लिए प्रेरित करता है। कहा गया है कि आसक्ति के बन्धन में बँधा हुआ व्यक्ति कामभोग की पूर्ति के लिए अन्यायपूर्वक अर्थ-संग्रह करता है।[९] इस प्रकार गीताकार की स्पष्ट मान्यता है कि आर्थिक क्षेत्र में अपहरण, शोषण और संग्रह की जो बुराइयाँ पनपती हैं वे सब मूलतः आसक्ति से प्रत्युत्पन्न हैं। गीता के अनुसार आसक्ति और लोभ नरक के कारण हैं। कामभोगों में आसक्त मनुष्य ही नरक और अशुभ योनियों में जन्म लेता है।[१०] सम्पूर्ण जगत् इसी आसक्ति के पाश में बँधा हुआ है और इच्छा और द्वेष से सम्मोहित होकर परिभ्रमण करता रहता है। वस्तुतः आसक्ति के कारण वैयक्तिक और सामाजिक जीवन नारकीय बन जाता है। गीता के नैतिक दर्शन का सारा जोर फलासक्ति को समाप्त करने पर है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन, तू कर्मों के फल में रही हुई आसक्ति का त्याग कर

१. धम्मपद, ३४५.
२. सुत्तनिपात, ६८।५.
३. वही, ३८।१७.
४. थेरगाथा, १६।७३४.
५. धम्मपद, ३३६.
६. वही, २१६.
७. मज्झिमनिकाय, ३।२०.
८. महानिद्देसपालि, १।११।१०७.
९. गीता, १६।१२.
१०. वही, १६।१६.

निष्काम भाव से कर्म कर।[१] गीताकार ने आसक्ति के प्रहाण का जो उपाय बताया है वह यह है कि सभी कुछ भगवान् के चरणों में समर्पित कर और कर्तृत्व भाव से मुक्त होकर जीवन जीना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शन अनासक्ति के उदय और आसक्ति के प्रहाण को अपने नैतिकदर्शन का महत्त्वपूर्ण अंग मानते हैं। आसक्ति के प्रहाण के दो ही उपाय हैं। आध्यात्मिक रूप में आसक्ति के प्रहाण के लिए हृदय में सन्तोषवृत्ति का उदय होना चाहिए, जबकि व्यावहारिक रूप में आसक्ति के प्रहाण के लिए जैन आचारदर्शन में सुझायी गयी परिग्रह की सीमा-रेखा का निर्धारण भी आवश्यक है। जब तक हृदय में सन्तोषवृत्ति का उदय नहीं होता, तब तक यह दुष्पूर्य तृष्णा एवं आसक्ति समाप्त नहीं होती। उत्तराध्ययन सूत्र में जो यह कहा गया है कि 'लाभ से लोभ बढ़ता जाता है', उसी का सन्त सुन्दरदासजी ने एक सुन्दर चित्र खींचा है। वे कहते हैं कि—

जो दस बीस पचास भये, शत होई हजार तु लाख मगेगी।
कोटि अरब्ब खरब्ब असंख्य, धरापति होने की चाह जगेगी॥
स्वर्ग पताल को राज करो, तिसना अधिकी अति आग लगेगी।
सुन्दर एक संतोष विना, शठ तेरी तो भूख कबहूँ न भगेगी॥

पाश्चात्य विचारक महात्मा टालस्टाय ने भी How Much Land Does A Man Require नामक कहानी में एक ऐसा ही सुन्दर चित्र खींचा है। कहानी का सारांश यह है कि कथानायक भूमि की असीम तृष्णा के पीछे अपने जीवन की बाजी भी लगा देता है, किन्तु अन्त में उसके द्वारा उपलब्ध किये गये विस्तृत भू-भाग में केवल उसके शव को दफनाने जितना भू-भाग ही उसके उपयोग में आता है।

वस्तुतः तृष्णा की समाप्ति का एक ही उपाय है—हृदय में सन्तोषवृत्ति या त्याग भावना का उदय। महाभारत के आदिपर्व में ययाति ने कहा है कि जिस प्रकार अग्नि में घृत डालने से अग्नि शान्त नहीं होती, उसी प्रकार कामभोगों से तृष्णा शान्त नहीं होती, वरन् बढ़ती ही जाती है। तृष्णा की अग्नि केवल त्याग के द्वारा ही शान्त हो सकती है। अतः मनुष्य को तृष्णा का त्याग कर सच्चे सुख की शोध करना चाहिए और वह सुख उसे संतोषमय जीवन जीने से ही उपलब्ध हो सकता है।

अनासक्ति के प्रश्न पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार

जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराएँ अनासक्ति के सैद्धान्तिक पक्ष पर समानरूप से बल देती हैं, किन्तु उसके व्यावहारिक फलित अपरिग्रह के सिद्धान्त को लेकर उनमें मत-

---

१. गीता, १६।१६.

भेद भी है। जहाँ जैन-दर्शन के अनुसार अनासक्त होने के लिए अपरिग्रही होना आवश्यक है, वहाँ गीता और बौद्ध दर्शन यह नहीं मानते हैं कि अनासक्त होने के लिए अपरिग्रही होना आवश्यक नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार अनासक्त जीवन दृष्टि का प्रमाण यही है कि व्यक्ति का बाह्यजीवन सर्वथा अपरिग्रही हो। परिग्रह का होना स्पष्टतया इस बात का सूचक है कि व्यक्ति में अभी अनासक्ति का पूर्ण विकास नहीं हुआ है। यही कारण है कि जैनधर्म की दिगम्बर परम्परा मुक्ति के लिए बाह्य परिग्रह का पूर्णतया त्याग आवश्यक मानती है। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा यह मानती है कि पूर्ण अनासक्त वृत्ति का उदय तो बिना परिग्रह का पूर्ण त्याग किये भी हो सकता है, किन्तु वह भी इतना तो अवश्य मानती ही है कि अनासक्ति का पूर्ण प्रकटन होने पर व्यक्ति बाह्य परिग्रह में उलझा हुआ नहीं रहता है, वह उसका परित्याग कर मुनि बन जाता है। दोनों में अन्तर मात्र यही है कि प्रथम के अनुसार बाह्य परिग्रह का त्याग होने पर ही कैवल्य की प्राप्ति होती है तो दूसरे के अनुसार बाह्य परिग्रह का त्याग होने के पूर्व भी कैवल्य हो सकता है। यद्यपि कैवल्यलाभ के बाद दोनों के ही अनुसार व्यक्ति सर्वथा अपरिग्रही हो ही जाता है।

गीता के अनुसार, अनासक्त वृत्ति के लिए परिग्रहत्याग आवश्यक नहीं है। वैदिक परम्परा के जनक पूर्ण अनासक्त होते हुए भी राजकाज का संचालन करते रहते हैं, जबकि जैन परम्परा का भरत पूर्ण अनासक्ति के आते ही राजकाज छोड़कर मुनि बन जाता है। अनासक्ति और अपरिग्रह के संदर्भ में जैन परम्परा विचारपक्ष और आचारपक्ष की एकरूपता पर जितना बल देती है उतना वैदिक परम्परा नहीं। वैदिक परम्परा के अनुसार अन्तस् में अनासक्ति और बाह्य जीवन में परिग्रह दोनों एक साथ सम्भव हैं। इस सम्बन्ध में बौद्ध धर्म का दृष्टिकोण भी जैन परम्परा के अधिक निकट है। फिर भी उसे जैन और वैदिक परम्पराओं के मध्य रखना ही उचित होगा। जैन धर्म ने जहाँ मुनि-जीवन के लिए परिग्रह के पूर्ण त्याग और गृहस्थ जीवन में परिग्रह-परिसीमन की अवधारणा प्रस्तुत की, वहाँ बौद्ध धर्म ने केवल भिक्षु के लिए स्वर्ण-रजतरूप परिग्रह त्याग की अवधारणा प्रस्तुत की। उसमें गृहस्थ के लिए परिग्रह परिसीमन का प्रश्न नहीं उठाया गया है। गीता और वैदिक परम्परा यद्यपि संचय और परिग्रह की निन्दा करती है फिर भी वे परिग्रहत्याग को अनिवार्य नहीं बताती हैं। अनासक्ति और अपरिग्रह को लेकर तीनों परम्पराओं में यही मूलभूत अन्तर है।

वस्तुतः अनासक्ति का अर्थ है—ममत्व का विसर्जन। समत्व—चाहे वह वैयक्तिक हो या सामाजिक—के सर्जन के लिए ममत्व का विसर्जन आवश्यक है। अनासक्ति और अपरिग्रह में एक ही अन्तर है, वह यह कि अपरिग्रह में ममत्व के विसर्जन के साथ ही सम्पदा का विसर्जन भी आवश्यक है। अनासक्ति, अमूर्च्छा या अलोभ का प्रश्न निरा

वैयक्तिक है किन्तु अपरिग्रह का प्रश्न केवल वैयक्तिक नहीं, सामाजिक भी है। परिग्रह (सम्पदा) के अर्जन, संग्रह और विसर्जन सभी सीधे-सीधे समाज जीवन को प्रभावित करते हैं। अर्जन सामाजिक आर्थिक प्रगति को प्रभावित करता है तो संग्रह अर्थ के समवितरण को प्रभावित करता है। मात्र यही नहीं अर्थ का विसर्जन भी लोककल्याण-कारी प्रवृत्तियों को प्रभावित करता है। अतः परिग्रह के अर्जन, उपभोग, संग्रह और विसर्जन के प्रश्न पूरी तरह सामाजिक प्रश्न हैं।

समाज की आर्थिक प्रगति उसके सदस्यों की सम्पदा के अर्जन की आकांक्षा और श्रम निष्ठा पर निर्भर करती है। नैतिक दृष्टि से अर्थोपार्जन की प्रवृत्ति और श्रमनिष्ठा आलोच्य नहीं रही है। यह भय निरर्थक है कि अनासक्ति और अपरिग्रह से आर्थिक प्रगति अवरुद्ध होगी। अपरिग्रह का सिद्धान्त अर्थ के अर्जन का वहाँ तक विरोधी नहीं है जहाँ तक उसके साथ शोषण की दुष्प्रवृत्ति नहीं जुड़ती है। सम्पदा के अर्जन के साथ जब हिंसा शोषण और संग्रह की बुराइयाँ जुड़ती हैं तभी वह अनैतिक बनता है अन्यथा नहीं। भारतीय आर्थिक आदर्श रहा है 'शत हस्त समाहर सहस्र हस्त विकीर्ण' अर्थात् सौ हाथों से इकट्ठा करो और सहस्र हाथों से बाँट दो। आर्थिक संघर्षों का जन्म तब होता है जब सम्पदा का वितरण विषम और उपभोग अनियन्त्रित होता है। संग्रह और शोषण की दुष्प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप जब एक ओर मानवता रोटी के टुकड़ों के अभाव की पीड़ा में सिसकती हो और दूसरी ओर ऐशो-आराम की रंगरेलियाँ चलती हों तब ही वर्ग-संघर्ष का जन्म होता है और सामाजिक शान्ति भंग होती है।

समाज-जीवन में शान्ति तभी सम्भव है, जब सम्पदा का उपभोग, संग्रह और वितरण नियन्त्रित हो। अपरिग्रह का सिद्धान्त इसी प्रश्न को लेकर हमारे सामने उपस्थित होता है। जहाँ तक सम्पदा के अनियन्त्रित उपभोग और संग्रह का प्रश्न है, जैन धर्म गृहस्थ उपासक के उपभोग-परिभोगपरिसीमन और अनर्थदण्डविरमणव्रत के द्वारा उन पर नियन्त्रण लगाता है। किन्तु परिग्रह के विषम वितरण के लिए जो परिग्रहपरिसीमन का व्रत प्रस्तुत किया गया है उसको लेकर कुछ प्रश्न उभरते हैं—प्रथम तो यह कि किसी व्यक्ति के परिग्रह की परिसीमा या मर्यादा क्या होगी? कितना परिग्रह रखना उचित माना जायगा और कितना अनुचित। दूसरे परिग्रह की इस परिसीमा का निर्धारण कौन करेगा—व्यक्ति या समाज। इन प्रश्नों को लेकर डॉ० कमलचन्द सोगाणी ने अपने एक लेख में विचार किया है।[1] जैन आचार्यों ने इन प्रश्नों को खुला छोड़ दिया था, उन्होंने यह मान लिया था कि व्यक्ति कितना परिग्रह रखे और कितना त्याग दे यह उसकी आवश्यकता और उसके स्वविवेक पर निर्भर करेगा। क्योंकि प्रत्येक की आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न हैं। एक उद्योगपति की आवश्यकताएँ और एक प्रोफेसर की आवश्यकताएँ निश्चित

---

१. देखें—तीर्थंकर, मई १९७७, पृ० ७-९.

ही भिन्न-भिन्न होगी। यही नहीं, एक देश के नागरिक की आवश्यकताएँ दूसरे देश के नागरिक की आवश्यकताओं से भिन्न होगी। युग के आधार पर भी आवश्यकताएँ बदलती हैं। अतः परिग्रह की सीमा का निर्धारण देश, काल, व्यक्ति और परिस्थिति पर निर्भर होगा। आज अर्थशास्त्री भी इस बात को मानकर चलते है कि जो वस्तुएँ एक व्यक्ति के लिए आवश्यक हैं वे ही दूसरे के लिए विलासिता हो सकती हैं। एक कार डाक्टर के लिए आवश्यक और विश्वविद्यालय के केम्पस में रहने वाले प्रोफेसर के लिए विलासिता की वस्तु होगी। अतः परिग्रह-मर्यादा का कोई सार्वभौम मानदण्ड सम्भव नहीं है। तो क्या इस प्रश्न को व्यक्ति के स्वविवेक पर खुला छोड़ दिया जाये ? यदि व्यक्ति विवेकशील और संयमी है तब तो निश्चय ही इस सम्बन्ध में निर्णय लेने का अधिकार उसे है, किन्तु स्थिति इससे भिन्न भी है। यदि व्यक्ति स्वार्थी और वासनाप्रधान है तो निश्चय ही निर्णय का यह अधिकार व्यक्ति के हाथ से छीनकर समाज के हाथों में सौंपना होगा, जैसा कि आज समाजवादी व्यवस्था मानती है। यद्यपि इस स्थिति में चाहे सम्पदा का समवितरण एवं सामाजिक शान्ति सम्भव भी हो किन्तु मानसिक शान्ति सम्भव नहीं होगी। वह तो तभी सम्भव होगी जब व्यक्ति की तृष्णा शान्त होगी और जीवन में अनासक्त दृष्टि का उदय होगा। जब अपरिग्रह अनासक्ति से फलित होगा तभी व्यक्ति और समाज में सच्ची शान्ति आएगी।

■

सामाजिक धर्म

जैन आचारदर्शन में न केवल आध्यात्मिक दृष्टि से धर्म की विवेचना की गयी है, वरन् धर्म के सामाजिक पहलू पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। जैन विचारकों ने संघ या सामाजिक जीवन की प्रमुखता सदैव स्वीकार की है। स्थानांगसूत्र में सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में दस धर्मों का विवेचन उपलब्ध है[1]—१. ग्रामधर्म, २. नगरधर्म, ३. राष्ट्रधर्म, ४. पाखण्डधर्म, ५. कुलधर्म, ६. गणधर्म, ७. संघधर्म, ८. सिद्धान्तधर्म (श्रुतधर्म), ९. चारित्रधर्म और १०. अस्तिकायधर्म। इनमें से प्रथम सात तो पूरी तरह से सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं।

१. **ग्रामधर्म**—ग्राम के विकास, व्यवस्था तथा शान्ति के लिए जिन नियमों को ग्रामवासियों ने मिलकर बनाया है, उनका पालन करना ग्रामधर्म है। ग्रामधर्म का अर्थ है जिस ग्राम में हम निवास करते हैं, उस ग्राम की व्यवस्थाओं, मर्यादाओं एवं नियमों के अनुरूप कार्य करना। ग्राम का अर्थ व्यक्तियों के कुलों का समूह है। अतः सामूहिक रूप में एक-दूसरे के सहयोग के आधार पर ग्राम का विकास करना, ग्राम के अन्दर पूरी तरह व्यवस्था और शान्ति बनाये रखना और आपस में वैमनस्य और क्लेश उत्पन्न न हो उसके लिए प्रयत्नशील रहना ही ग्रामधर्म के प्रमुख तत्त्व हैं। ग्राम में शान्ति एवं व्यवस्था नहीं है, तो वहाँ के लोगों के जीवन में भी शान्ति नहीं रहती। जिस परिवेश में हम जीते हैं, उसमें शान्ति और व्यवस्था के लिए आवश्यक रूप से प्रयत्न करना हमारा कर्तव्य है। प्रत्येक ग्रामवासी सदैव इस बात के लिए जागृत रहे कि उसके किसी आचरण से ग्राम के हितों को चोट न पहुँचे। ग्रामधर्म की व्यवस्था के लिए जैन आचार्यों ने ग्राम-स्थविर की व्यवस्था भी की है। ग्रामस्थविर ग्राम का मुखिया या नेता होता है। ग्राम-स्थविर का प्रयत्न रहता है कि ग्राम की व्यवस्था, शान्ति एवं विकास के लिए, ग्रामजनों में पारस्परिक स्नेह और सहयोग बना रहे।

२. **नगरधर्म**—ग्रामों के मध्य में स्थित एक केन्द्रीय ग्राम को जो उनका व्यावसायिक केन्द्र होता है, नगर कहा जाता है। सामान्यतः ग्राम-धर्म और नगरधर्म में विशेष अन्तर नहीं है। नगरधर्म के अन्तर्गत नगर की व्यवस्था एवं शान्ति, नागरिक-नियमों का पालन एवं नागरिकों के पारस्परिक हितों का संरक्षण-संवर्धन आता है।

---

१. स्थानांग १०।७६०
विशेष विवेचना के लिए देखिए—(अ) धर्म व्याख्या (श्री जवाहरलालजी म०)
(ब) धर्म दर्शन (श्री शुक्लचन्दजी म०)

लेकिन नागरिकों का उत्तरदायित्व केवल नगर के हितों तक ही सीमित नहीं है। युगीन सन्दर्भ में नगरधर्म यह भी है कि नागरिकों के द्वारा ग्रामवासियों का शोषण न हो। नगरजनों का उत्तरदायित्व ग्रामीणजनों की अपेक्षा अधिक है। उन्हें न केवल अपने नगर के विकास एवं व्यवस्था का ध्यान रखना चाहिए वरन् उन समग्र ग्रामवासियों के हित की भी चिन्ता करनी चाहिए; जिनके आधार पर नगर की व्यावसायिक तथा आर्थिक स्थितियाँ निर्भर हैं। नगर में एक योग्य नागरिक के रूप में जीना, नागरिक कर्त्तव्यों एवं नियमों का पूरी तरह पालन करना ही मनुष्य का नगरधर्म है।

जैन सूत्रों में नगर की व्यवस्था आदि के लिए नगरस्थविर की योजना का उल्लेख है। आधुनिक युग में जो स्थान एवं कार्य नगरपालिका अथवा नगरनिगम के अध्यक्ष के हैं, जैन परम्परा में वही स्थान एवं कार्य नगरस्थविर के हैं।

३. **राष्ट्रधर्म**—जैन विचारणा के अनुसार प्रत्येक ग्राम एवं नगर किसी राष्ट्र का अंग होता है और प्रत्येक राष्ट्र की अपनी एक विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना होती है जो ग्रामीणों एवं नागरिकों को एक राष्ट्र के सदस्यों के रूप में आपस में बाँधकर रखती है। राष्ट्रधर्म का तात्पर्य है राष्ट्र की सांस्कृतिक चेतना अथवा जीवन की विशिष्ट प्रणाली को सजीव बनाये रखना। राष्ट्रीय विधि-विधान, नियमों एवं मर्यादाओं का पालन करना ही राष्ट्रधर्म है। आधुनिक सन्दर्भ में राष्ट्रधर्म का तात्पर्य है राष्ट्रीय एकता एवं निष्ठा को बनाये रखना तथा राष्ट्र के नागरिकों के हितों का परस्पर घात न करते हुए, राष्ट्र के विकास में प्रयत्नशील रहना, राष्ट्रीय शासन के नियमों के विरुद्ध कार्य न करना, राष्ट्रीय विधि-विधानों का आदर करते हुए उनका समुचित रूप से पालन करना। उपासकदशांगसूत्र में राज्य के नियमों के विपरीत आचरण करना दोषपूर्ण माना गया है। जैनागमों में राष्ट्रस्थविर का विवेचन भी उपलब्ध है। प्रजातंत्र में जो स्थान राष्ट्र-पति का है वही प्राचीन भारतीय परम्परा में राष्ट्रस्थविर का होगा, यह माना जा सकता है।

४. **पाखण्डधर्म**—जैन आचार्यों ने पाखण्ड की अपनी व्याख्या की है। जिसके द्वारा पाप का खण्डन होता हो वह पाखण्ड है।[१] दशवैकालिकनिर्युक्ति के अनुसार पाखण्ड एक व्रत का नाम है। जिसका व्रत निर्मल हो, वह पाखण्डी।[२] सामान्य नैतिक नियमों का पालन करना ही पाखण्डधर्म है। सम्प्रति पाखण्ड का अर्थ ढोंग हो गया है, वह अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। पाखण्डधर्म का तात्पर्य अनुशासित, नियमित एवं संयमित जीवन है। पाखण्डधर्म के लिए व्यवस्थापक के रूप में प्रशास्ता-स्थविर का निर्देश है। प्रशास्ता-स्थविर शब्द की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट लगता है कि वह जनता को धर्मोपदेश के माध्यम से नियंत्रित करनेवाला अधिकारी है। प्रशास्ता-स्थविर का कार्य लोगों को

१. धर्म-दर्शन, पृ० ८६ २. दशवैकालिकनिर्युक्ति, १५८.

धार्मिक निष्ठा, संयम एवं व्रत-पालन के लिए प्रेरित करते रहना है। हमारे विचार में प्रशास्ता-स्थविर राजकीय धर्माधिकारी के समान होता होगा जिसका कार्य जनता को सामान्य नैतिक जीवन की शिक्षा देना होता होगा।

५. **कुलधर्म**—परिवार अथवा वंश-परम्परा के आचार-नियमों एवं मर्यादाओं का पालन करना कुलधर्म है। परिवार का अनुभवी, वृद्ध एवं योग्य व्यक्ति कुलस्थविर होता है। परिवार के सदस्य कुलस्थविर की आज्ञाओं का पालन करते हैं और कुलस्थविर का कर्तव्य है परिवार का संवर्धन एवं विकास करना तथा उसे गलत प्रवृत्तियों से बचाना। जैन परम्परा में गृहस्थ एवं मुनि दोनों के लिए कुलधर्म का पालन आवश्यक है, यद्यपि मुनि का कुल उसके पिता के आधार पर नहीं वरन् गुरु के आधार पर बनता है।

६. **गणधर्म**—गण का अर्थ समान आचार एवं विचार के व्यक्तियों का समूह है। महावीर के समय में हमें गणराज्यों का उल्लेख मिलता है। गणराज्य एक प्रकार के प्रजासत्तात्मक राज्य होते हैं। गणधर्म का तात्पर्य है गण के नियमों और मर्यादाओं का पालन करना। गण दो माने गये हैं—१. लौकिक (सामाजिक) और २. लोकोत्तर (धार्मिक)। जैन परम्परा में वर्तमान युग में भी साधुओं के गण होते हैं जिन्हें गच्छ कहा जाता है। प्रत्येक गण (गच्छ) के आचार-नियमों में थोड़ा-बहुत अन्तर भी रहता है। गण के नियमों के अनुसार आचरण करना गणधर्म है। परस्पर सहयोग तथा मैत्री रखना गण के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य है। गण का एक गणस्थविर होता है। गण की देशकालगत परिस्थितियों के आधार पर व्यवस्थाएँ देना, नियमों को बनाना और पालन करवाना गणस्थविर का कार्य है। जैन विचारणा के अनुसार बार-बार गण को बदलने वाला साधक हीन दृष्टि से देखा गया है। बुद्ध ने भी गण की उन्नति के नियमों का प्रतिपादन किया है।

७. **संघधर्म**—विभिन्न गणों से मिलकर संघ बनता है। जैन आचार्यों के संघ-धर्म की व्याख्या संघ या सभा के नियमों के परिपालन के रूप में की है। संघ एक प्रकार की राष्ट्रीय संस्था है जिसमें विभिन्न कुल या गण मिलकर सामूहिक विकास एवं व्यवस्था का निश्चय करते हैं। संघ के नियमों का पालन करना संघ के प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है।

जैन परम्परा में संघ के दो रूप हैं १. लौकिक संघ और २. लोकोत्तर संघ। लौकिक संघ का कार्य जीवन के भौतिक पक्ष की व्यवस्थाओं को देखना है, जबकि लोकोत्तर संघ का कार्य आध्यात्मिक विकास करना है। लौकिक संघ हो या लोकोत्तर संघ हो, संघ के प्रत्येक सदस्य का यह अनिवार्य कर्त्तव्य माना गया है कि वह संघ के नियमों का पूरी तरह पालन करें। संघ में किसी भी प्रकार के मनमुटाव अथवा संघर्ष के लिए कोई भी कार्य नहीं करें। एकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए सदैव ही

प्रयत्नशील रहे। जैन परम्परा के अनुसार साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इन चारों से मिलकर संघ का निर्माण होता है। नन्दीसूत्र में संघ के महत्त्व का विस्तार-पूर्वक सुन्दर विवेचन हुआ है, जिससे स्पष्ट है कि जैन में नैतिक साधना में संघीय जीवन का कितना अधिक महत्त्व है।[1]

८. **श्रुतधर्म**—सामाजिक दृष्टि से श्रुतधर्म का तात्पर्य है शिक्षण-व्यवस्था सम्बन्धी नियमों का पालन करना। शिष्य का गुरु के प्रति, गुरु का शिष्य के प्रति कैसा व्यवहार हो यह श्रुतधर्म का ही विषय है। सामाजिक संदर्भ में श्रुतधर्म से तात्पर्य शिक्षण की सामाजिक या संघीय व्यवस्था है। गुरू और शिष्य के कर्त्तव्यों तथा पारस्परिक सम्बन्धों का बोध और उनका पालन श्रुतधर्म या ज्ञानार्जन का अनिवार्य अंग है। योग्य शिष्य को ज्ञान देना गुरु का कर्तव्य है, जबकि शिष्य का कर्त्तव्य गुरु की आज्ञाओं का श्रद्धा-पूर्वक पालन करना है।

९. **चारित्रधर्म**—चारित्रधर्म का तात्पर्य है श्रमण एवं गृहस्थ धर्म के आचार-नियमों का परिपालन करना। यद्यपि चरित्रधर्म का बहुत कुछ सम्बन्ध वैयक्तिक साधना से है, तथापि उनका सामाजिक पहलू भी है। जैन आचार के नियमों एवं उपनियमों के पीछे सामाजिक दृष्टि भी है। अहिंसा सम्बन्धी सभी नियम और उपनियम सामाजिक शान्ति के संस्थापन के लिए हैं। अनाग्रह सामाजिक जीवन से वैचारिक विद्वेष एवं वैचारिक संघर्ष को समाप्त करता है। इसी प्रकार अपरिग्रह सामाजिक जीवन से संग्रह वृत्ति, अस्तेय और शोषण को समाप्त करता है। अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह पर आधारित जैन आचार के नियम-उपनियम प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में सामाजिक दृष्टि से युक्त हैं यह माना जा सकता है।

१०. **अस्तिकायधर्म**—अस्तिकायधर्म का बहुत कुछ सम्बन्ध तत्त्वमीमांसा से है, अतः उसका विवेचन यहाँ अप्रासंगिक है।

इस प्रकार जैन आचार्यों ने न केवल वैयक्तिक एवं आध्यात्मिक पक्षों के सम्बन्ध में विचार किया वरन् सामाजिक जीवन पर भी विचार किया है। जैन सूत्रों में उपलब्ध नगरधर्म, ग्रामधर्म, राष्ट्रधर्म आदि का वर्णन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि जैन आचारदर्शन सामाजिक पक्ष का यथोचित मूल्यांकन करते हुए उसके विकास का भी प्रयास करता है।

जैनधर्म और सामाजिक दायित्व

यद्यपि प्राचीन जैन आगम साहित्य में सामाजिक दायित्व का विस्तृत विवेचन उप-लब्ध नहीं है किन्तु उसमें यत्र-तत्र कुछ बिखरे हुए ऐसे सूत्र हैं, जो व्यक्ति के सामाजिक दायित्वों को स्पष्ट करते हैं। जैन आगमों की अपेक्षा परवर्ती साहित्य में मुनि और

१. नन्दीसूत्र-पीठिका, ४-१७

गृहस्थ उपासक दोनों के ही सामाजिक दायित्वों की विस्तृत चर्चा है। सर्व प्रथम हम मुनि के सामाजिक दायित्वों की चर्चा करेंगे।

जैन मुनि के सामाजिक दायित्व—यद्यपि मुनि का मूल लक्ष्य आत्म-साधना है फिर भी प्राचीन जैन आगमों में उसके लिए निम्न सामाजिक दायित्व निर्दिष्ट हैं:—

१. **नीति और धर्म का प्रकाशन**—मुनि का सर्व प्रथम सामाजिक दायित्व यह है कि वह नगरों या ग्रामों में जाकर जनसाधारण को सन्मार्ग का उपदेश देवे। आचारांग में स्पष्ट रूप से निर्देश है कि मुनि ग्राम एवं नगर की पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में जाकर धनी-निर्धन या ऊँच-नीच का भेद किये बिना सभी को धर्ममार्ग का उपदेश दें[1]। इस प्रकार जन साधारण को नैतिक जीवन एवं सदाचार की ओर प्रवृत्त करना यह मुनि का प्रथम सामाजिक दायित्व है। वह समाज में नैतिकता एवं सदाचार का प्रहरी है। समाज अनैतिकता की ओर अग्रसर न हो यह देखना उसका दायित्व है। चूँकि मुनि भिक्षा आदि के रूप में जीवन निर्वाह के साधन समाज से उपलब्ध करता है, इसलिए समाज का प्रत्युपकार करना उसका कर्तव्य है।

२. **धर्म की प्रभावना एवं संघ की प्रतिष्ठा की रक्षा**—सामान्य रूप से संघ का और विशेष रूप से आचार्य, गणी एवं गच्छ नायक का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वे संघ की प्रतिष्ठा एवं गरिमा को अक्षुण्ण बनाये रखें। उन्हें इस बात का ध्यान रखना होता है कि संघ की प्रतिष्ठा का रक्षण हो, संघ का पराभव न हो, जैनधर्म के प्रति उपासक वर्ग की आस्था बनी रहे और उसके प्रति लोगों में अश्रद्धा का भाव उत्पन्न न हो। निशीथचूर्णी आदि में उल्लेख है कि संघ की प्रतिष्ठा के रक्षण निमित्त अपवाद मार्ग का भी सहारा लिया जा सकता है—उदाहरणार्थ मुनि के लिए मंत्र-तंत्र करना, चमत्कार बताना या तप-ऋद्धि का प्रदर्शन करना वर्जित है किन्तु संघहित और धर्म प्रभावना के लिए वह यह सब कर सकता है[2]। इस प्रकार संघ का संरक्षण आवश्यक माना गया है क्योंकि वह साधना की आधार भूमि है।

३. **भिक्षु-भिक्षुणियों की सेवा एवं परिचर्या**—जैन मुनि का तीसरा सामाजिक दायित्व संघ-सेवा है। महावीर एवं बुद्ध की यह विशेषता है कि उन्होंने सामूहिक साधना पद्धति का विकास किया और भिक्षु संघ एवं भिक्षुणी संघ जैसी सामाजिक संस्थाओं का निर्माण किया। जैनागमों में प्रत्येक भिक्षु और भिक्षुणी का यह अनिवार्य कर्तव्य माना गया है कि वे अन्य भिक्षुओं और भिक्षुणियों की सेवा एवं परिचर्या करें। यदि वे किसी ऐसे ग्राम या नगर में पहुँचते हैं कि जहाँ कोई रोगी या वृद्ध भिक्षु पहले से निवास कर रहा हो तो उनका प्रथम दायित्व होता है कि वे उसकी यथोचित परिचर्या करें और यह ध्यान रखें कि उनके कारण उसे असुविधा न हो।[3] संघ व्यवस्था में आचार्य, उपाध्याय;

---

१. आचारांग १।२।५ २. निशीथचूर्णी १७४३ ३. निशीथ १०।३७

स्थविर (वृद्ध-मुनि), रोगी (ग्लान), अध्ययनरत नवदीक्षित मुनि, कुल, संघ और साधर्मी की सेवा परिचर्या के विशेष निर्देश दिये गये थे।

४. **भिक्षुणी संघ का रक्षण**—निशीथचूर्णि के अनुसार मुनिसंघ का एक अन्य दायित्व यह भी था कि वह असामाजिक एवं दुराचारी लोगों से भिक्षुणी संघ की रक्षा करें। ऐसे प्रसंगों पर यदि मुनि मर्यादा भंग करके भी कोई आचरण करना पड़ता तो वह क्षम्य माना जाता था[1]।

५. **संघ के आदेशों का परिपालन**—प्रत्येक स्थिति में संघ (समाज) सर्वोपरि था। आचार्य जो संघ का नायक होता था, उसे भी संघ के आदेश का पालन करना होता था। वैयक्तिक साधना की अपेक्षा भी संघ का हित प्रधान माना गया था। संघ के हितों और आदेशों की अवमानना करने पर दण्ड देने की व्यवस्था थी। श्वेताम्बर साहित्य में यहाँ तक उल्लेख है कि पाटलीपुत्र वाचना के समय संघ के आदेश की अवमानना करने पर आचार्य भद्रबाहु को संघ से बहिष्कृत कर देने तक के निर्देश दे दिये थे।

गृहस्थ वर्ग के सामाजिक दायित्व

१. **भिक्षु-भिक्षुणियों की सेवा**—उपासक वर्ग का प्रथम सामाजिक दायित्व था आहार, औषधि आदि के द्वारा श्रमण संघ की सेवा करना। अपनी दैहिक आवश्यकताओं के सन्दर्भ में मुनिवर्ग पूर्णतया गृहस्थों पर अवलम्बित था अतः गृहस्थों का प्राथमिक कर्तव्य था कि वे उनकी इन आवश्यकताओं की पूर्ति करें। अतिथि संविभाग को गृहस्थों का धर्म माना गया था[2]। इस दृष्टि से उन्हें भिक्षु-भिक्षुणी संघ का 'माता-पिता' कहा गया था। यद्यपि साधु-साध्वियों के लिए भी यह स्पष्ट निर्देश था कि वे गृहस्थों पर भार स्वरूप न बने।

२. **परिवार की सेवा**—गृहस्थ का दूसरा सामाजिक दायित्व अपने वृद्ध माता-पिता, पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि परिजनों की सेवा एवं परिचर्या करना है। श्वेताम्बर साहित्य में उल्लेख है कि महावीर ने माता का अपने प्रति अत्यधिक स्नेह देखकर यह निर्णय ले लिया था कि जब तक उनके माता-पिता जीवित रहेंगे वे संन्यास नहीं लेंगे। यह माता-पिता के प्रति भक्ति भावना का सूचक ही है। यद्यपि इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा का दृष्टिकोण भिन्न है। जैनधर्म में संन्यास लेने के पहले पारिवारिक उत्तरदायित्वों से मुक्ति पाना आवश्यक माना गया है। मुझे जैन आगमों में एक भी उल्लेख ऐसा देखने को नहीं मिला कि जहाँ बिना परिजनों की अनुमति से किसी व्यक्ति ने संन्यास ग्रहण किया हो। जैनधर्म में आज भी यह परम्परा अक्षुण्णरूप से कायम है। कोई भी व्यक्ति बिना परिजनों एवं समाज (संघ) की अनुमति के संन्यास ग्रहण नहीं कर सकता है।

१. निशीथचूर्णी २८९ २. उपासकदशांगसूत्र १

माता, पिता, पुत्र, पुत्री, पति या पत्नी की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होता है। इसके पीछे मूल भावना यही है कि व्यक्ति सामाजिक उत्तरदायित्वों से निवृत्त होकर ही संन्यास ग्रहण करे। इस बात की पुष्टि अन्तकृतदशा के निम्न उदाहरण से होती है—जब श्रीकृष्ण को यह ज्ञात हो गया कि द्वारिका का शीघ्र ही विनाश होने वाला है, तो उन्होंने स्पष्ट घोषणा करवा दी कि यदि कोई व्यक्ति संन्यास लेना चाहता है किन्तु इस कारण से नहीं ले पा रहा हो कि उसके माता-पिता, पुत्र-पुत्री एवं पत्नी का पालन-पोषण कौन करेगा—तो उनके पालन-पोषण का उत्तरदायित्व मैं वहन करूँगा[1]। यद्यपि बुद्ध ने प्रारम्भ में संन्यास के लिए परिजनों की अनुमति को आवश्यक नहीं माना था अतः अनेक युवकों ने परिजनों की अनुमति के बिना ही संघ में प्रवेश ले लिया था किन्तु आगे चलकर उन्होंने भी यह नियम बना दिया था कि बिना परिजनों की अनुमति के उपसम्पदा प्रदान नहीं की जाये। मात्र यही नहीं उन्होंने यह भी घोषित कर दिया है कि ऋणी, राजकीय सेवक या सैनिक को भी, जो सामाजिक उत्तरदायित्वों से भाग कर भिक्षु बनना चाहते हैं, बिना पूर्व अनुमति के उपसम्पदा प्रदान नहीं की जावे। हिन्दू-धर्म भी पितृ-ऋण अर्थात् सामाजिक दायित्व को चुकाये बिना-संन्यास की अनुमति नहीं देता है। चाहे संन्यास लेने का प्रश्न हो या गृहस्थ जीवन में ही आत्मसाधना की बात हो—सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूर्ण करना आवश्यक माना गया है।

३. **विवाह एवं सन्तान प्राप्ति**—जैनधर्म मूलतः निवृत्तिप्रधान है अतः आगम ग्रन्थों में विवाह एवं पति-पत्नी के पारम्परिक दायित्वों की चर्चा नहीं मिलती है। जैनधर्म हिन्दूधर्म के समान न तो विवाह को अनिवार्य कर्तव्य मानता है और न सन्तान प्राप्ति को। किन्तु ईसा की ५वीं शती एवं परवर्ती कथा साहित्य में इन दायित्वों का उल्लेख है। जैन पौराणिक साहित्य तो भगवान ऋषभदेव को विवाह संस्था का संस्थापक ही बताता है। आदिपुराण में विवाह एवं पति-पत्नी के पारस्परिक एवं सामाजिक दायित्वों की चर्चा है उसमें विवाह के दो उद्देश्य बताए गये हैं:—१. कामवासना की तृप्ति और २. सन्तानोत्पत्ति। जैनाचार्यों ने विवाह संस्था को यौन-सम्बन्धों के नियंत्रण एवं वैधी-करण के लिए आवश्यक माना था। गृहस्थ का स्वपत्नी संतोषव्रत न केवल व्यक्ति की कामवासना को नियंत्रित करता है अपितु सामाजिक जीवन में यौन-व्यवहार को परिष्कृत भी बनाता है। अविवाहित स्त्री से यौनसम्बन्ध स्थापित करने, वेश्यागमन करने आदि का निषेध इसी बात का सूचक है। जैनधर्म सामाजिक जीवन में यौन सम्बन्धों की शुद्धि को आवश्यक मानता है। विवाह के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए आदिपुराण में बताया गया है कि जिस प्रकार ज्वर से पीड़ित व्यक्ति उसके उपशमनार्थ कटु-औषधि का सेवन करता है, उसी प्रकार काम-ज्वर से सन्तप्त हुआ प्राणी उसके उपशमनार्थ स्त्रीरूपी

---

१ अन्तकृतदशांग ५।१।२१.

औषधि का सेवन करता है[1]। यहाँ जैनधर्म की निवृत्तिप्रधान दृष्टि कोअक्षुण्ण रखते हुए वैवाहिक जीवन की आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है। वैवाहिक जीवन की आवश्यकता न केवल यौन-वासना की संतुष्टि के लिए अपितु कुल जाति एवं धर्म का संवर्द्धन करने के लिए भी है। आदिपुराण में यह भी उल्लेख है कि विवाह न करने से सन्तति का उच्छेद हो जाता है, सन्तति के उच्छेद से धर्म का उच्छेद हो जाता है अतः विवाह गृहस्थों का धार्मिक कर्तव्य है[2]।

वैवाहिक जीवन में परस्पर प्रीति को आवश्यक माना गया है, यद्यपि जैनधर्म का मुख्य बल वासनात्मक प्रेम की अपेक्षा समर्पण भावना या विशुद्ध प्रेम की ओर अधिक है। नेमि और राजुल तथा विजयसेठ और विजया सेठानी के वासनारहित प्रेम की चर्चा से जैन कथा साहित्य परिपूर्ण है। इन दोनों युगलों की गौरवगाथा आज भी जैन समाज में श्रद्धा के साथ गाई जाती है। विजय सेठ और विजया सेठानी का जीवन-वृत्त गृहस्थ जीवन में रहकर ब्रह्मचर्य के पालन का सर्वोच्च आदर्श माना जाता है।

वैवाहिक जीवन से सम्बन्धित अन्य समस्याओं जैसे विवाह-विच्छेद, विधवा-विवाह, पुनर्विवाह आदि के विधि-निषेध के सम्बन्ध में हमें स्पष्ट उल्लेख तो प्राप्त नहीं होते हैं कि जैन कथासाहित्य में इन प्रवृत्तियों को सदैव ही अनैतिक माना जाता रहा है। अपवादरूप से कुछ उदाहरणों को छोड़कर जैन समाज में अभी तक इन प्रवृत्तियों का प्रचलन नहीं है और न ऐसी प्रवृत्तियों को अच्छी निगाह से देखा जाता है। यद्यपि विधवा विवाह और पुनर्विवाह के समर्थक ऋषभदेव के जीवन का उदाहरण देते हैं। जैन कथा साहित्य के अनुसार ऋषभदेव ने एक युगलिये की अकाल मृत्यु हो जाने पर उसकी बहन/पत्नी से विवाह किया था। जैन कथा साहित्य के अनुसार ऋषभदेव के पूर्व बहन ही यौवनावस्था में पत्नी बनती थी, उन्होंने ही इस प्रथा को समाप्त कर विवाह संस्था की स्थापना की थी अतः यह मानना उचित नहीं है कि उन्होंने विधवा विवाह किया था। समाज में बहुपत्नी प्रथा की उपस्थिति के अनेक उदाहरण जैन आगम साहित्य और कथा साहित्य में मिलते हैं, यद्यपि बहुपति प्रथा का एक मात्र द्रौपदी का उदाहरण ही उपलब्ध है—किन्तु इनका कहीं समर्थन किया गया हो या इन्हें नैतिक और धार्मिक दृष्टि से उचित माना गया हो ऐसा कोई भी उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया। आदर्श के रूप में सदैव ही एक पत्नी व्रत या एक-पतिव्रत की प्रशंसा की गई है।

वस्तुतः जैनधर्म वैयक्तिक नैतिकता पर बल देकर सामाजिक सम्बन्धों को शुद्ध और मधुर बनाता है। उसके सामाजिक आदेश निम्न हैं:—

---

१. आदिपुराण ११।१६६-१६७. २. वही १५।६१-६४.

जैनधर्म में सामाजिक जीवन के निष्ठा सूत्र

१. सभी आत्माएँ स्वरूपतः समान हैं, अतः सामाजिक-जीवन में ऊँच-नीच के वर्ग-भेद खड़े मत करो[1]। —उत्तराध्ययन १२।३७.

२. सभी आत्माएँ समान रूप से सुखाभिलाषी हैं, अतः दूसरे के हितों का हनन, शोषण या अपहरण करने का अधिकार किसी को नहीं है। —आचारांग १।२।३।३.

३. सबके साथ वैसा व्यवहार करो, जैसा तुम उनसे स्वयं के प्रति चाहते हो। —समणसुत्तं २४.

४. संसार के सभी प्राणियों के साथ मैत्री भाव रखो, किसी से भी घृणा एवं विद्वेष मत रखो[3]। —समणसुत्तं ८६

५. गुणीजनों के प्रति आदर-भाव और दुष्टजनों के प्रति उपेक्षा-भाव (तटस्थ-वृत्ति) रखो। —सामायिक पाठ १

६. संसार में जो दुःखी एवं पीड़ित जन हैं, उनके प्रति करुणा और वात्सल्यभाव रखो और अपनी स्थिति के अनुरूप उन्हें सेवा-सहयोग प्रदान करो।

जैनधर्म में सामाजिक जीवन के व्यवहार सूत्र

उपासकदशांगसूत्र, योगशास्त्र एवं रत्नकरण्ड श्रावकाचार में वर्णित श्रावक के गुणों, बारह व्रतों एवं उनके अतिचारों से निम्न सामाजिक आचारनियम फलित होते हैं:—

१. किसी निर्दोष प्राणी को बन्दी मत बनाओ अर्थात् सामान्य जनों की स्वतन्त्रता में बाधक मत बनो।

२. किसी का वध या अंगछेद मत करो, किसी से भी मर्यादा से अधिक काम मत लो, किसी पर शक्ति से अधिक बोझ मत लादो।

३. किसी की आजीविका में बाधक मत बनो।

४. पारस्परिक विश्वास को भंग मत करो। न तो किसी की अमानत हड़प जाओ और न किसी के गुप्त रहस्य को प्रकट करो।

५. सामाजिक जीवन में गलत सलाह मत दो, अफवाहें मत फैलाओ और दूसरों के चरित्र-हनन का प्रयास मत करो।

६. अपने स्वार्थ की सिद्धि-हेतु असत्य घोषणा मत करो।

७. न तो स्वयं चोरी करो, न चोर को सहयोग दो और न चोरी का माल खरीदो।

८. व्यवसाय के क्षेत्र में नाप-तौल में प्रामाणिकता रखो और वस्तुओं में मिलावट मत करो।

९. राजकीय नियमों का उल्लंघन और राज्य के करों का अपवंचन मत करो।

१०. अपने यौन सम्बन्धों में अनैतिक आचरण मत करो। वेश्या-संसर्ग, वेश्या-वृत्ति एवं उसके द्वारा धन का अर्जन मत करो।

११. अपनी सम्पत्ति का परिसीमन करो और उसे लोक हितार्थ व्यय करो।
१२. अपने व्यवसाय के क्षेत्र को सीमित करो और वर्जित व्यवसाय मत करो।
१३. अपनी उपभोग सामग्री की मर्यादा करो और उसका अति संग्रह मत करो।
१४. वे सभी कार्य मत करो, जिससे तुम्हारा कोई हित नहीं होता है।
१५. यथा सम्भव अतिथियों की, सन्तजनों की, पीड़ित एवं असहाय व्यक्तियों की सेवा करो। अन्न, वस्त्र, आवास, औषधि आदि के द्वारा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करो।
१६. क्रोध मत करो, सबसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करो।
१७. दूसरों की अवमानना मत करो, विनीत बनो, दूसरों का आदर-सम्मान करो।
१८. कपटपूर्ण व्यवहार मत करो। दूसरों के प्रति व्यवहार में निश्छल एवं प्रामाणिक रहो।
१९. तृष्णा मत रखो, आसक्ति मत बढ़ाओ।
२०. न्याय-नीति से धन उपार्जन करो।
२१. शिष्ट पुरुषों के आचार की प्रशंसा करो।
२२. प्रसिद्ध देशाचार का पालन करो।
२३. सदाचारी पुरुषों की संगति करो।
२४. माता-पिता की सेवा-भक्ति करो।
२५. रगड़े-झगड़े और बखेड़े पैदा करने वाली जगह से दूर रहो, अर्थात् चित्त में क्षोभ उत्पन्न करने वाले स्थान में न रहो।
२६. आय के अनुसार व्यय करो।
२७. अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार वस्त्र पहनो।
२८. धर्म के साथ अर्थ-पुरुषार्थ, काम-पुरुषार्थ और मोक्ष-पुरुषार्थ का इस प्रकार सेवन करो कि कोई किसी का बाधक न हो।
२९. अतिथि और साधु जनों का यथायोग्य सत्कार करो।
३०. कभी दुराग्रह के वशीभूत न होओ।
३१. देश और काल के प्रतिकूल आचरण न करो।
३२. जिनके पालन-पोषण करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर हो, उनका पालन-पोषण करो।
३३. अपने प्रति किये हुए उपकार को नम्रता पूर्वक स्वीकार करो।
३४. अपने सदाचार एवं सेवा-कार्य के द्वारा जनता का प्रेम सम्पादित करो।
३५. लज्जाशील बनो। अनुचित कार्य करने में लज्जा का अनुभव करो।
३६. परोपकार करने में उद्यत रहो। दूसरों की सेवा करने का अवसर आने पर पीछे मत हटो।

उपर्युक्त और अन्य कितने ही आचार नियम ऐसे हैं, जो जैन-नीति की सामाजिक सार्थकता को स्पष्ट करते है। आवश्यकता इस बात की है कि हम आधुनिक सन्दर्भ में उनकी व्याख्या एवं समीक्षा करें तथा उन्हें युगानुकूल बनाकर प्रस्तुत करें।

बौद्ध-परम्परा में सामाजिक धर्म—बौद्ध परम्परा में भी धर्म के सामाजिक पहलू पर प्रकाश डाला गया है। बुद्ध ने स्वयं ही सामाजिक प्रगति के कुछ नियमों का निर्देश किया है। बुद्ध के अनुसार सामाजिक प्रगति के सात नियम हैं:—१. बार-बार एकत्र होना, २. सभी का एकत्र होना, ३. निश्चित नियमों का पालन करना तथा जिन नियमों का विधान नहीं किया गया है, उनके सम्बन्ध में यह नहीं कहना कि ये विधान किये गये हैं, अर्थात् नियमों का निर्माण कर उन नियमों के अनुसार ही आचरण करना, ४. अपने यहाँ के वृद्ध राजनीतिज्ञों का मान रखना और उनसे यथावसर परामर्श प्राप्त करते रहना, ५. विवाहित और अविवाहित स्त्रियों पर अत्याचार नहीं करना और उन्हें उचित मान देना, ६. नगर के और बाहर के देवस्थानों का समुचित रूप से संरक्षण करना और ७. अपने राज्य में आये हुए अर्हन्तों (वीतराग पुरुषों) को किसी प्रकार का कष्ट न हो तथा न आये हुए अर्हन्तों को राज्य में आने के लिए प्रोत्साहन मिले ऐसी सावधानी रखना। बुद्ध ने उपर्युक्त सात अभ्युदय के नियमों का प्रतिपादन किया था और यह बताया था कि यदि (वज्जी) गण इन नियमों का पालन करता रहेगा तो उसकी उन्नति होगी, अवनति नहीं[1]।

बुद्ध ने जैसे गृहस्थ वर्ग की उन्नति के नियम बताये, वैसे ही भिक्षु संघ के सामाजिक नियमों का भी विधान किया जिससे संघ में विवाद उत्पन्न न हो और संगठन बना रहे। बुद्ध के अनुसार इन नियमों का पालन करने से संघ में संगठन और एकता बनी रहती है—१. मैत्रीपूर्ण कायिक कर्म, २. मैत्रीपूर्ण वाचिक कर्म, ३ मैत्रीपूर्ण मानसिक कर्म, ४. उपासकों से प्राप्त दान का सारे संघ के साथ सम-विभाजन, ५. अपने शील में किंचित् भी त्रुटि न रहने देना और ६. आर्य श्रावक को शोभा देने वाली सम्यक् दृष्टि रखना[2]। इस प्रकार बुद्ध ने भिक्षु संघ और गृहस्थ संघ दोनों के ही सामाजिक जीवन के विकास एवं प्रगति के सम्बन्ध में दिशा-निर्देश किया है। इतिवुत्तक में सामाजिक विघटन या संघ की फूट और सामाजिक संगठन या संघ के मेल (एकता) के दुष्परिणामों एवं सुपरिणामों की भी बुद्ध ने चर्चा की है[3]।

बुद्ध की दृष्टि में जीवन के सामाजिक पक्ष का महत्त्व अत्यन्त स्पष्ट था। अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध ने सामाजिक जीवन के चार सूत्र प्रस्तुत किये हैं, जो इस प्रकार हैं:—१. दानशीलता, २. स्नेहपूर्ण वचन, ३. बिना प्रतिफल के किया गया कार्य और

१. उद्धृत-भगवान बुद्ध, पृ० ३१३-१८
२. उद्धृत भगवान बुद्ध, पृ० १६६
३. इतिवुत्तक, २।८-९

४. सभी को एक समान समझना[1]। वस्तुतः बुद्ध की दृष्टि में यह स्पष्ट था कि ये चारों ही सूत्र ऐसे हैं जो सामाजिक जीवन के सफल संचालन में सहायक हैं। सभी को एक समान समझना सामाजिक न्याय का प्रतीक है और बिना प्रतिफल की आकांक्षा के कार्य करना निष्काम सेवा-भाव का प्रतीक है। इसी प्रकार दानशीलता सामाजिक अधिकार एवं दायित्वों की और स्नेहपूर्ण वाणी सामाजिक सहयोग भावना की परिचायक है। बुद्ध सामाजिक दायित्वों को पूरी तरह स्वीकार करते हैं और यह स्पष्ट कर देते हैं कि असयम और दुराचारमय जीवन जीते हुए देश का अन्न खाना वस्तुतः अनैतिक है। असंयमी और दुराचारी बनकर देश का अन्न खाने की अपेक्षा अग्निशिखा के समान तप्त लोहे का गोला खाना उत्तम है (इतिवुत्तक ३।५।५०)।

बुद्ध ने सामाजिक जीवन के लिए सहयोग को आवश्यक कहा है। उनकी दृष्टि में सेवा की वृत्ति श्रद्धा और भक्ति से भी अधिक महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं, भिक्षुओं, तुम्हारे माँ नहीं, तुम्हारे पिता नहीं हैं जो तुम्हारी परिचर्या करेंगे। यदि तुम एक दूसरे की परिचर्या नहीं करते तो कौन है जो तुम्हारी परिचर्या करेगा? जो मेरी परिचर्या करता है उसे रोगी की परिचर्या करना चाहिए।[2] बुद्ध का यह कथन महावीर के इस कथन के समान ही है कि रोगी की परिचर्या करने वाला ही सच्चे अर्थों में मेरी सेवा करनेवाला है। बुद्ध की दृष्टि में जो व्यक्ति अपने माता, पिता, पत्नी एवं बहन आदि को पीड़ा पहुँचाता है, उनकी सेवा नहीं करता है, वह वस्तुतः अधम ही है (सुत्तनिपात ७।९-१०)। सुत्तनिपात के पराभवसुत्त में कुछ ऐसे कारण वर्णित हैं जिनसे व्यक्ति का पतन होता है। उन कारणों में से कुछ सामाजिक जीवन से सम्बन्धित हैं हम यहाँ उन्हीं की चर्चा करेंगे—१. जो समर्थ होने पर भी दुबले और बूढ़े माता-पिता का पोषण नही करता, २. जो पुरुष अकेला ही स्वादिष्ट भोजन करता है, ३. जो जाति, धर्म तथा गोत्र का गर्व करता है और अपने बन्धुओं का अपमान करता है, ४. जो अपनी स्त्री से असन्तुष्ट हो वेश्याओं तथा परस्त्रियों के साथ रहता है, ५. जो लालची और सम्पत्ति को बरबाद करने वाले किसी स्त्री या पुरुष को मुख्य स्थान पर नियुक्त करता है ये सभी बातें मनुष्य के पतन का कारण हैं (सुत्तनिपात ६।८, १२,१४, १८, २२)। इस प्रकार बुद्ध ने सामाजिक जीवन को बड़ा महत्व दिया है।

बौद्ध धर्म में सामाजिक दायित्व

भगवान् बुद्ध पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में गृहस्थ उपासक के कर्तव्यों का निर्देश करते हुए दीघनिकाय के सिगालोवाद-सुत्त में कहते हैं कि गृहपति को माता-पिता आचार्य, स्त्री, पुत्र, मित्र, दास (कर्मकर) और श्रमण-ब्राह्मण का प्रत्युपस्थान (सेवा)

---

१. अंगुत्तरनिकाय, II, ३२ उद्धृत—गौतम बुद्ध, पृ० १३२।
२. (व) विनयपिटक I, ३०२ उद्धृत—गौतम बुद्ध पृ० १३५।

करना चाहिए। उपर्युक्त सुत में उन्होंने इस बात पर प्रकाश डाला है कि इनमें से प्रत्येक के प्रति गृहस्थोपासक के क्या कर्तव्य हैं।

पुत्र के माता-पिता के प्रति कर्तव्य—(१) इन्होंने मेरा भरण-पोषण किया है अतः मुझे इनका भरण-पोषण करना चाहिए। (२) इन्होंने मेरा कार्य (सेवा) किया हैं अतः मुझे इनका कार्य (सेवा) करना चाहिए। (३) इन्होंने कुल-वंश को कायम रखा है, उसकी रक्षा की है अतः मुझे भी कुल-वंश को कायम रखना चाहिए, उसकी रक्षा करनी चाहिए। (४) इन्होंने मुझे उत्तराधिकार (दायज्ज) प्रदान किया है अतः मुझे भी उत्तराधिकार (दायज्ज) प्रतिपादन करना चाहिए (५) मृत-प्रेतोंके निमित्त श्राद्ध-दान देना चाहिए।

माता-पिता का पुत्र पर प्रत्युपकार—(१) पाप कार्मों से बचाते हैं (२) पुण्य कर्म में योजित करते हैं (३) शिल्प की शिक्षा प्रदान करते हैं (४) योग्य स्त्री से विवाह कराते हैं और (५) उत्तराधिकार प्रदान करते हैं।

आचार्य (शिक्षक) के प्रति कर्तव्य—(१) उत्थान—उनको आदर प्रदान करना चाहिए। (२) उपस्थान—उनकी सेवा में उपस्थित रहना चाहिए। (३) सुश्रुषा—उनकी सुश्रुषा करनी चाहिए। (४) परिचर्या—उनकी परिचर्या करनी चाहिए। (५) विनय पूर्वक शिल्प सीखना चाहिए।

शिष्य के प्रति आचार्य का प्रत्युपकार—(१) विनीत बनाते हैं। (२) सुन्दर शिक्षा प्रदान करते हैं। (३) हमारी विद्या परिपूर्ण होगी यह सोचकर सभी शिल्प और सभी श्रुत सिखलाते हैं। (४) मित्र-अमात्यों को सुप्रतिपादन करते हैं। (५) दिशा (विद्या) की सुरक्षा करते हैं।

पत्नी के प्रति पति के कर्तव्य—(१) पत्नी का सम्मान करना चाहिए। (२) उसका तिरस्कार या अवहेलना नही करनी चाहिए। (३) परस्त्री गमन नहीं करना चाहिए (इससे पत्नी का विश्वास बना रहता है)। (४) ऐश्वर्य (सम्पत्ति) प्रदान करना चाहिए। (५) वस्त्र-अलंकार प्रदान करना चाहिए।

पति के प्रति पत्नी का प्रत्युपकार—(१) घर के सभी कार्यों को सम्यक् प्रकार से सम्पादित करती हैं। (२) परिजन (नौकर-चाकर) को वश में रखती है। (३) दुरा-चरण नहीं करती है। (४) (पति द्वारा) अर्जित सम्पदा की रक्षा करती है। (५) गृह-कार्यों में निरालस और दक्ष होती हैं।

मित्र के प्रति कर्तव्य—(१) उन्हें उपहार (दान) प्रदान करना चाहिए। (२) उनसे प्रिय-वचन बोलना चाहिए। (३) अर्थ-चर्या अर्थात् उनके कार्यों में सहयोग प्रदान

करना चाहिए। (४) उनके प्रति समानता का व्यवहार करना चाहिए। (५) उन्हें विश्वास प्रदान करना चाहिए।

मित्र का प्रत्युपकार—(१) उसकी भूलों से रक्षा करते हैं (अर्थात् सही दिशा निर्देश करते हैं)। (२) उसकी सम्पत्ति की रक्षा करते हैं। (३) विपत्ति के समय शरण प्रदान करते हैं। (४) आपत्काल में साथ नहीं छोड़ते हैं। (५) अन्य लोग भी ऐसे (मित्र युक्त) पुरुष का सत्कार करते हैं।

सेवक के प्रति स्वामी के कर्तव्य—(१) उसकी योग्यता और क्षमता के अनुसार कार्य लेना चाहिए। (२) उसे उचित भोजन और वेतन प्रदान करना चाहिए। (६) रोगी होने पर उसकी सेवा-सुश्रुषा करनी चाहिए। (४) उसे उत्तम रसों वाले पदार्थ प्रदान करना चाहिए। (५) समय-समय पर उसे अवकाश प्रदान करना चाहिए।

सेवक का स्वामी के प्रति प्रत्युपकार—(१) स्वामी के उठने के पूर्व अपने कार्य करने लग जाते हैं। (२) स्वामी के सोने के पश्चात् ही सोते हैं। (३) स्वामी द्वारा प्रदत्त वस्तु का ही उपयोग करते हैं। (४) स्वामी के कार्यों को सम्यक् प्रकार से सम्पादित करते हैं। (५) स्वामी की कीर्ति और प्रशंसा का प्रसार करते हैं।

श्रमण ब्राह्मणों के प्रति कर्तव्य—(१) मैत्री भावयुक्त कायिक कर्मों से उनका प्रत्युपस्थान (सेवा-सम्मान) करना चाहिए। (२) मैत्रीभाव युक्त वाचिक कर्म से उनका प्रत्युपस्थान करना चाहिए। (३) मैत्रीभाव युक्त मानसिक कर्मों से उनका प्रत्युपस्थान करना चाहिए। (४) उनको दान-प्रदान करने हेतु सदैव द्वार खुला रखना चाहिए अर्थात् दान देने हेतु सदैव तत्पर रहना चाहिए। (५) उन्हें भोजन आदि प्रदान करना चाहिए।

श्रमण ब्राह्मणों का प्रत्युपकार—(१) पाप कर्मों से निवृत्त करते हैं। (२) कल्याणकारी कार्यों में लगाते हैं। (३) कल्याण (अनुकम्पा) करते हैं। (४) अश्रुत (नवीन) ज्ञान सुनाते हैं। (५) श्रुत (अर्जित) ज्ञान को दृढ़ करते हैं। (६) स्वर्ग का रास्ता दिखाते हैं।[1]

वैदिक परम्परा में सामाजिक धर्म—जिस प्रकार जैन परम्परा में दस धर्मों का वर्णन है उसी प्रकार वैदिक परम्परा में मनु ने भी कुछ सामाजिक धर्मों का विधान किया है, जैसे १. देशधर्म २. जातिधर्म ३. कुलधर्म ४. पाखण्डधर्म ५. गणधर्म[2]। मनुस्मृति में वर्णित ये पांचों ही सामाजिक धर्म जैन परम्परा के दस सामाजिक धर्मों में समाहित हैं। इतना ही नहीं, दोनों में न केवल नाम-साम्य है, वरन् अर्थ-साम्य भी है। गीता में भी कुलधर्म की चर्चा है। अर्जुन कुलधर्म की रक्षा के लिए ही युद्ध से बचने

१. दीघनिकाय—सिगालोपाद, सुत्त ३।७।५।   २. मनुस्मृति १।११८।

नैतिक नियम खण्ड

- गृहस्थ धर्म
- श्रमण धर्म
- जैन आचार के सामान्य नियम
- आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास
- उपसंहार

१५ गृहस्थ धर्म

जैन दृष्टि से साधनामय जीवन का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से होता है और पूर्णता पूर्ण चारित्र्य की शैलेषी अवस्था में होती है। साधनात्मक जीवन के दो पक्ष सम्यग्दर्शन और सम्यक्-ज्ञान की दृष्टि से गृहस्थ एवं श्रमण साधक मे कोई विशेष अन्तर नहीं है। जागतिक उपादानों की नश्वरता का और आत्मतत्त्व के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान, स्वस्वरूप और परस्वरूप की यथार्थ बोध एवं साधनात्मक जीवन के आदर्श देव, साधनात्मक जीवन के पथप्रदर्शक गुरु, और साधना-मार्ग धर्म पर निश्चल श्रद्धा, यह समस्त बातें तो गृहस्थ और श्रमण दोनों साधकों के लिए अनिवार्य हैं। यदि गृहस्थ और श्रमण में साधनात्मक जीवन सम्बन्धी कोई अन्तर है, तो वह चारित्र के परिपालन का है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान की साधना तो दोनों को समान रूप में ही करनी होती है, यद्यपि वे अपनी वैयक्तिक क्षमता के आधार पर सम्यक्चारित्र्य के परिपालन में भिन्नता रख सकते हैं।

जैन साधना में धर्म के दो रूप

जैन साधना में धर्म के दो रूप माने गये हैं, एक श्रुतधर्म (तत्त्वज्ञान) और दूसरा चारित्रधर्म (नैतिक आचार)।[1] श्रुतधर्म का अर्थ है जीवादि नव तत्त्वों के स्वरूप का ज्ञान और उनमें श्रद्धा, और चारित्रधर्म का अर्थ है संयम और तप। गृहस्थ और श्रमण साधक के जीवन में अन्तर का आधार है चारित्रधर्म, श्रुतधर्म की साधना तो दोनों समान रूप से करते हैं। गृहस्थ उपासक को श्रुतधर्म के रूप में जीव, अजीव, पुण्य, पाप आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन नव पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। स्वाध्याय, ज्ञानार्जन एवं तत्त्व-चर्चा इसके प्रमुख अंग हैं। मूल आगमों में 'जीवाजीव का ज्ञाता' यह श्रावक का विशेषण है। जयंती जैसी श्राविका भगवान् महावीर से तत्त्वचर्चा करती थी। इसका अर्थ है कि जैन परम्परा में तत्त्वज्ञान को प्राप्त करना श्रावक का कर्तव्य था। जीवादि तत्त्वों के स्वरूप को जानकर उन पर श्रद्धा रखना यह गृहस्थ उपासक की श्रुत-धर्म की साधना है। इसका विस्तृत विवेचन सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के सन्दर्भ में हुआ है।

स्थानांगसूत्र में दो प्रकार का चारित्र धर्म वर्णित है—एक अनगार धर्म और दूसरा सागार धर्म। जैन और बौद्ध परम्पराओं में अनगार धर्म को श्रमण धर्म एवं मुनिधर्म और सागारधर्म को गृहस्थधर्म या उपासकधर्म के नामों से भी अभिहित किया जाता है।

---

१. स्थानांग, २।१।

'आगार' शब्द गृह या आवास के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिसका लाक्षणिक अर्थ है—पारिवारिक जीवन, अतः जिस धर्म का परिपालन पारिवारिक जीवन में रहकर किया जा सके, उसे सागार धर्म कहा जाता है।[1] 'आगार' शब्द जैन-परम्परा में छूट, सुविधा या अपवाद के अर्थ मे भी रूढ हो गया है।[2] इसका अर्थ है—साधना का वह विशिष्ट स्वरूप जिसमे साधक को साधना की दृष्टि से विशेष सुविधाएँ उपलब्ध हों। जैन विचारणा मे गृहस्थ-धर्म को देशविरति चारित्र और श्रमण-धर्म को सर्वविरति चारित्र अथवा विकलचारित्र तथा सकलचारित्र भी कहा गया है। जिस साधना में अहिंसादि व्रतों की साधना पूर्णरूपेण हो वह सर्वविरति या सकलचारित्र है। गृहस्थ पारिवारिक जीवन के कारण अहिंसा, सत्यादि व्रतों की पूर्ण साधना नहीं कर पाता है, अतः उसकी साधना को देशचारित्र, अंशचारित्र या विकलचारित्र कहते हैं। जैनागमों में केवल गृहस्थ साधक के लिए 'श्रावक' शब्द का प्रयोग हुआ है, जबकि बौद्धागमों में गृहस्थ और श्रमण दोनों प्रकार के साधकों के लिए 'श्रावक' शब्द का प्रयोग हुआ है। सामान्यतया बुद्ध-वचन का श्रवण करने वाला, उस पर श्रद्धा करने वाला साधक 'श्रावक' नाम से अभिहित होता था। प्रो० मोनियर विलियम्स[3] के अनुसार बौद्ध धर्म में गृहस्थ साधक 'श्रावक' के नाम से अभिहित नहीं था, वह मात्र 'उपासक' (सेवक) था। गृहस्थ साधक सच्चे अर्थो में बुद्ध का अनुयायी भी नही था। यद्यपि उनकी यह धारणा मात्र आलोचक दृष्टि का अतिरेक है। जैन-परम्परा में श्रावक शब्द का प्राकृत रूप 'सावय' है, जिसका एक अर्थ बालक या शिशु है, अर्थात् जो साधना के क्षेत्र में अभी बालक है, प्राथमिक अवस्था में है, वह श्रावक है। भाषा-शास्त्रीय विवेचना में 'श्रावक' शब्द के दो अर्थ मिलते है, पहले अर्थ में इसकी व्युत्पत्ति 'श्रु' धातु से मानी जाती है, जिसका अर्थ है 'सुनना' अर्थात् शास्त्र या उपदेशों को श्रवण करने वाला वर्ग श्रावक कहा जाता है। दूसरे अर्थ मे इसकी व्युत्पत्ति श्रा-पाके धातु से बतायी जाती है, जिसके आधार पर इसका संस्कृत रूप श्रापक बनता है जिसका प्राकृत में सावय हो सकता है। (डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री का कथन है कि इस श्रापक शब्द की संस्कृत के 'श्रावक' शब्द के साथ कोई संगति नहीं बैठती है)। शाब्दिक दृष्टि से इसका अर्थ होगा—जो भोजन पकाता है। गृहस्थ भोजन के पचन-पाचन आदि की क्रियाओं को करते हुए धर्म साधना करता है, अतः वह 'श्रापक' कहा जाता है।

जैन परम्परा मे श्रावक शब्द में प्रयुक्त तीन अक्षरों की विवेचना इस प्रकार भी की जाती है। श्र-श्रद्धा, व-विवेक, क-क्रिया अर्थात् जो श्रद्धापूर्वक विवेक युक्त आचरण करता है वह श्रावक।

---

१. देखिए, अभिधान राजेन्द्रकोश, खण्ड २, पृ० १०६।

२. वही, पृ० १०४।

३. देखिए—बुद्धिज्म इन इट्स कनेक्शन विथ ब्राह्मणिज्म एण्ड हिन्दूइज्म, पृ० ९०।

जैनधर्म में गृहस्थ-साधना का स्थान

यह तथ्य तो निर्विवाद है कि जैन-परम्परा में सामान्य श्रमण-साधना की अपेक्षा गृहस्थ जीवन में रह कर की जानेवाली साधना को निम्नस्तरीय माना गया है, तथापि वैयक्तिक दृष्टि से कुछ गृहस्थ साधकों को कुछ श्रमण साधकों की अपेक्षा साधनापथ में श्रेष्ठ माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र मे स्पष्ट निर्देश है कि 'कुछ गृहस्थ भी श्रमणों की अपेक्षा संयम (साधनामय जीवन) के परिपालन मे श्रेष्ठ होते हैं।'[१]

साधनामय जीवन में गृही धर्म और भिक्षु धर्म में कौन श्रेष्ठ है, इसके सही मूल्यांकन का आधार तो यह है कि, इनमें से कौन साधनात्मक जीवन या नैतिक जीवन के आदर्श की उपलब्धि को करा पाने में समर्थ है। यदि नैतिक आदर्श की उपलब्धि के लिए संन्यास-धर्म अनिवार्य है और उसके बिना नैतिक आदर्श की उपलब्धि सम्भव नहीं है, तो निश्चित ही संन्यास-धर्म को श्रेष्ठ मानना होगा। लेकिन यदि गृहस्थ-धर्म और संन्यास-धर्म दोनों से ही नैतिक आदर्श—परिनिर्वाण या मुक्ति की प्राप्ति सम्भव हैं, तो फिर इस विवाद का अधिक मूल्य नही रह जाता है। क्या जैन नैतिक आदर्श-निर्वाण की प्राप्ति गृहस्थ जीवन में सम्भव है? उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्टतया स्वीकार किया गया है कि 'गृहस्थ जीवन से भी निर्वाण को प्राप्त किया जा सकता है।'[२] श्वेताम्बर कथा-साहित्य में भगवान् ऋषभदेव की माता मरुदेवी के द्वारा गृहस्थ जीवन से सीधे मोक्ष प्राप्त करने तथा भरत के द्वारा शृंगारभवन में ही कैवल्य (आध्यात्मिक पूर्णता) प्राप्त कर लेने की घटनाएँ भी यही बताती हैं, कि गृहस्थ जीवन से भी साधना के अन्तिम आदर्श की उपलब्धि सम्भव है।[३] यद्यपि दिगम्बर परापरा स्पष्ट रूप से गृहस्थ मुक्ति का निषेध करती है। श्वे० आगम उपासकदशांग में भी महावीर के दस प्रमुख श्रावकों को स्वर्गगामी ही बताया है।

साधना की कोटि की दृष्टि से गृहस्थ-उपासक की भूमिका विरताविरत की मानी गई है। उसमें आंशिक रूप से प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों है। लेकिन जैन साधना मे आंशिक निवृत्तिमय प्रवृत्ति का यह जीवन भी सम्यक् है और मोक्ष की ओर ले जाने वाला माना गया है। सूत्रकृतांग में कहा है कि सभी पापाचरणों से कुछ निवृत्ति और कुछ अनिवृत्ति होना ही विरति-अविरति है, परन्तु यह आरम्भ-नोआरम्भ (अल्प-आरम्भ) का स्थान भी आर्य है तथा समस्त दुःखों का अन्त करनेवाला मोक्षमार्ग है, यह जीवन भी एकान्त सम्यक् एवं साधु है।[४]

---

१. उत्तराध्ययन, ५।२०।
२. वही, ३६।४९।
३. भरहेसरचरियं ४६१-४६४
४. सूत्रकृतांग, २।२।३९।

'आगार' शब्द गृह या आवास के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिसका लाक्षणिक अर्थ है—पारिवारिक जीवन, अतः जिस धर्म का परिपालन पारिवारिक जीवन में रहकर किया जा सके, उसे सागार धर्म कहा जाता है।[१] 'आगार' शब्द जैन-परम्परा में छूट, सुविधा या अपवाद के अर्थ में भी रूढ़ हो गया है।[२] इसका अर्थ है—साधना का वह विशिष्ट स्वरूप जिसमे साधक को साधना की दृष्टि से विशेष सुविधाएँ उपलब्ध हों। जैन विचारणा मे गृहस्थ-धर्म को देशविरति चारित्र और श्रमण-धर्म को सर्वविरति चारित्र अथवा विकलचारित्र तथा सकलचारित्र भी कहा गया है। जिस साधना में अहिंसादि व्रतों की साधना पूर्णरूपेण हो वह सर्वविरति या सकलचारित्र है। गृहस्थ पारिवारिक जीवन के कारण अहिंसा, सत्यादि व्रतों की पूर्ण साधना नहीं कर पाता है, अतः उसकी साधना को देशचारित्र, अंशचारित्र या विकलचारित्र कहते है। जैनागमों में केवल गृहस्थ साधक के लिए 'श्रावक' शब्द का प्रयोग हुआ है, जबकि बौद्धागमों में गृहस्थ और श्रमण दोनों प्रकार के साधकों के लिए 'श्रावक' शब्द का प्रयोग हुआ है। सामान्यतया बुद्ध-वचन का श्रवण करने वाला, उस पर श्रद्धा करने वाला साधक 'श्रावक' नाम से अभिहित होता था। प्रो० मोनियर विलियम्स[3] के अनुसार बौद्ध धर्म में गृहस्थ साधक 'श्रावक' के नाम से अभिहित नहीं था, वह मात्र 'उपासक' (सेवक) था। गृहस्थ साधक सच्चे अर्थों में बुद्ध का अनुयायी भी नहीं था। यद्यपि उनकी यह धारणा मात्र आलोचक दृष्टि का अतिरेक है। जैन-परम्परा में श्रावक शब्द का प्राकृत रूप 'सावय' है, जिसका एक अर्थ बालक या शिशु है, अर्थात् जो साधना के क्षेत्र में अभी बालक है, प्राथमिक अवस्था में है, वह श्रावक है। भाषा-शास्त्रीय विवेचना में 'श्रावक' शब्द के दो अर्थ मिलते है, पहले अर्थ में इसकी व्युत्पत्ति 'श्रु' धातु से मानी जाती है, जिसका अर्थ है 'सुनना' अर्थात् शास्त्र या उपदेशों को श्रवण करने वाला वर्ग श्रावक कहा जाता है। दूसरे अर्थ में इसकी व्युत्पत्ति श्रा-पाके धातु से बतायी जाती है, जिसके आधार पर इसका संस्कृत रूप श्रापक बनता है जिसका प्राकृत में सावय हो सकता है। (डा० इन्द्र-चन्द्र शास्त्री का कथन है कि इस श्रापक शब्द की संस्कृत के 'श्रावक' शब्द के साथ कोई संगति नहीं बैठती है)। शाब्दिक दृष्टि से इसका अर्थ होगा—जो भोजन पकाता है। गृहस्थ भोजन के पचन-पाचन आदि की क्रियाओं को करते हुए धर्म साधना करता है, अतः वह 'श्रापक' कहा जाता है।

जैन परम्परा में श्रावक शब्द में प्रयुक्त तीन अक्षरों की विवेचना इस प्रकार भी की जाती है। श्र-श्रद्धा, व-विवेक, क-क्रिया अर्थात् जो श्रद्धापूर्वक विवेक युक्त आचरण करता है वह श्रावक।

---

१. देखिए, अभिधान राजेन्द्रकोश, खण्ड २, पृ० १०६।

२. वही, पृ० १०४।

३. देखिए—बुद्धिज्म इन इट्स कनेक्शन विथ ब्राह्मणिज्म एण्ड हिन्दूइज्म, पृ० ९०।

जैनधर्म में गृहस्थ-साधना का स्थान

यह तथ्य तो निर्विवाद है कि जैन-परम्परा में सामान्य श्रमण-साधना की अपेक्षा गृहस्थ जीवन में रह कर की जानेवाली साधना को निम्नस्तरीय माना गया है, तथापि वैयक्तिक दृष्टि से कुछ गृहस्थ साधकों को कुछ श्रमण साधकों की अपेक्षा साधनापथ में श्रेष्ठ माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र मे स्पष्ट निर्देश है कि 'कुछ गृहस्थ भी श्रमणों की अपेक्षा संयम (साधनामय जीवन) के परिपालन मे श्रेष्ठ होते हैं।'[1]

साधनामय जीवन में गृही धर्म और भिक्षु धर्म में कौन श्रेष्ठ है, इसके सही मूल्यांकन का आधार तो यह है कि, इनमें से कौन साधनात्मक जीवन या नैतिक जीवन के आदर्श की उपलब्धि को करा पाने में समर्थ है। यदि नैतिक आदर्श की उपलब्धि के लिए संन्यास-धर्म अनिवार्य है और उसके बिना नैतिक आदर्श की उपलब्धि सम्भव नहीं है, तो निश्चित ही संन्यास-धर्म को श्रेष्ठ मानना होगा। लेकिन यदि गृहस्थ-धर्म और संन्यास-धर्म दोनों से ही नैतिक आदर्श—परिनिर्वाण या मुक्ति की प्राप्ति सम्भव है, तो फिर इस विवाद का अधिक मूल्य नहीं रह जाता है। क्या जैन नैतिक आदर्श-निर्वाण की प्राप्ति गृहस्थ जीवन में सम्भव है ? उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्टतया स्वीकार किया गया है कि 'गृहस्थ जीवन से भी निर्वाण को प्राप्त किया जा सकता है।'[2] श्वेताम्बर कथा-साहित्य में भगवान् ऋषभदेव की माता मरुदेवी के द्वारा गृहस्थ जीवन से सीधे मोक्ष प्राप्त करने तथा भरत के द्वारा शृंगारभवन में ही कैवल्य (आध्यात्मिक पूर्णता) प्राप्त कर लेने की घटनाएँ भी यही बताती हैं, कि गृहस्थ जीवन से भी साधना के अन्तिम आदर्श को उपलब्धि सम्भव है।[3] यद्यपि दिगम्बर परम्परा स्पष्ट रूप से गृहस्थ मुक्ति का निषेध करती है। श्वे० आगम उपासकदशांग में भी महावीर के दस प्रमुख श्रावकों को स्वर्गगामी ही बताया है।

साधना की कोटि की दृष्टि से गृहस्थ-उपासक की भूमिका विरताविरत की मानी गई है। उसमें आंशिक रूप से प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों है। लेकिन जैन साधना मे आंशिक निवृत्तिमय प्रवृत्ति का यह जीवन भी सम्यक् है और मोक्ष की ओर ले जाने वाला माना गया है। सूत्रकृतांग में कहा है कि सभी पापाचरणों से कुछ निवृत्ति और कुछ अनिवृत्ति होना ही विरति-अविरति है, परन्तु यह आरम्भ-नोआरम्भ (अल्प-आरम्भ) का स्थान भी आर्य है तथा समस्त दुःखों का अन्त करनेवाला मोक्षमार्ग है, यह जीवन भी एकान्त सम्यक् एवं साधु है।[4]

---

१. उत्तराध्ययन, ५।२०।
२. वही, ३६।४९।
३. भरहेसरचरियं ४६१-४६४
४. सूत्रकृतांग, २।२।३९।

इस प्रकार जैनधर्म की श्वेताम्बर परम्परा में गृहस्थधर्म को भी मोक्ष प्रदाता माना गया है। श्रमण और गृहस्थ दोनों धर्म उसी लक्ष्य की ओर ले जानेवाले हैं। इतना ही नहीं, दोनों ही स्वतन्त्र रूप से उस परमलक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ भी माने गये हैं।

बौद्ध आचारदर्शन में गृहस्थ-जीवन का स्थान

जैनदर्शन और बौद्ध दर्शन दोनों इस बात में एकमत हैं कि साधनात्मक जीवन की दृष्टि से गृहस्थ साधक का स्थान श्रमण-साधक की अपेक्षा निम्न है। यह तो सम्भव है कि वैयक्तिक साधना की दृष्टि से कितने ही गृहस्थ साधक भी कुछ भिक्षुओं की अपेक्षा साधना के उच्च स्तर पर स्थित हों, लेकिन जहाँ श्रमण-संस्था और गृही-जीवन के मध्य सार्वभौम दृष्टि से तुलना करने का प्रश्न है, निस्सन्देह श्रमण-संस्था गृहस्थ-जीवन से श्रेष्ठ है। श्रमण साधक की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए बुद्ध कहते हैं—"निर-हंकार, सुव्रतधारी, एकांतवासी प्रव्रजित मुनि और दारपोषी (पत्नी आदि का भरण-पोषण करने वाले) गृहस्थ मे कोई समानता नहीं है। असंयमी गृहस्थ दूसरे जीवों का वध करता है, मुनि नित्य दूसरे प्राणियों की रक्षा करता है। जैसे आकाशगामी नील-ग्रीव मयूर कभी भी वेग में हंस की समानता नहीं करता, इसी प्रकार गृहस्थ, अकेले वन में ध्यान करनेवाले भिक्षु की समानता नही कर सकता।[1]" बुद्ध और महावीर दोनों यह मानते हैं कि "गृहवास बाधाओं से पूर्ण और प्रवज्या खुली जगह है[2]" यद्यपि दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि गृहस्थ साधक भी सम्यक्दृष्टि और सदाचरण से सम्पन्न होने पर साधना-पथ में इस स्थिति को पहुँच जाता है कि वह अधिक जन्म ग्रहण नहीं करता है, इस शरीर का त्याग करने पर स्वर्ग लाभ करता है और भावी जन्म में श्रमण धर्म को स्वीकार कर निर्वाण प्राप्त कर लेता है। गृहस्थ साधक सीधा निवाण लाभ कर सकता है या नही इस सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं में दोनों प्रकार के वचन उपलब्ध होते हैं।

दिगम्बर परम्परा और स्थविरवाद इस सम्वन्ध में भी एक मत है कि गृहस्थ-साधक श्रामण्य अंगीकार किये बिना मुक्ति या निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकता है, वह मात्र स्वर्गगामी हो सकता है। इस दृष्टिकोण की पुष्टि मज्झिमनिकाय के निम्न सूत्र से होती है:—

हे गौतम, क्या कोई गृहस्थ है, जो गृहस्थ संयोजनों को बिना छोड़े, काया को छोड़, दुःख का अन्त करनेवाला हो? नहीं वत्स! ऐसा कोई गृहस्थ नहीं।

हे गौतम क्या कोई गृहस्थ है, जो गृहस्थ के संयोजनों को बिना छोड़े काया को छोड़ने पर स्वर्ग को प्राप्त होनेवाला हो?

---

१. सुत्तनिपात, १२।१४-१५।

२. संयुत्तनिकाय, ५३।१।६, तुलनीय दशवैकालिक चूलिका, १।१२-१३।

वत्स एक हो नहीं सौ दो सौ—अनेक गृहस्थ हैं, जो गृहस्थ संयोजनों को बिना छोड़े मरने पर स्वर्गगामी होते हैं।"[1]

यद्यपि श्वे० परम्परा में मान्य उपासकदशांगसूत्र में भी दस प्रमुख गृहस्थ उपासकों को स्वर्गगामी ही माना गया है। तथापि श्वेताम्बर-परम्परा गृहस्थ साधक द्वारा सीधे मुक्ति लाभ की धारणा को मानती है।

बौद्धधर्म की महायान शाखा में भी गृहस्थ साधक के द्वारा निर्वाण लाभ को मान्य किया गया है। महायान सूत्रालंकार के अनुसार[2] कोई भी गृहस्थ प्रव्रज्या लिये बिना ही निर्वाण प्राप्त कर सकता है—वह चाहे व्यापारी, शिल्पी, राजा, दास या चण्डाल ही क्यों न हो। मिलिन्दप्रश्न[3] के अनुसार गृहस्थ के लिए निर्वाण प्राप्त करना असम्भव नहीं है, ऐसे अनेक गृहस्थ हो चुके हैं जिन्होंने निर्वाण प्राप्त किया है। त्रिपिटक में भी कुछ ऐसे सन्दर्भ हैं, जो गृहस्थ के निर्वाण के समर्थक प्रतीत होते हैं जैसे–गृहस्थ और प्रव्रजित दोनों ही एक दूसरे के सहयोग से कल्याणकारी सर्वोत्तम सद्धर्म का पालन करते हैं।[4] संयुत्तनिकाय में तो उत्तराध्ययन के समान ही कहा गया है जैसे—"सत्काय के निरोध में जिसने अपना चित्त लगा दिया है उस उपासक (गृहस्थ) का, आस्रवों से विमुक्त चित्तवाले भिक्षु से कोई भेद नहीं है, ऐसा मैं कहता हूँ। विमुक्ति एक ही है।"[5]

जैन और बौद्ध परम्पराएँ श्रामण्य पर बल देती हैं। वे इस विषय में भी एकमत हैं कि गृहस्थ साधक द्वारा अर्हतावस्था (जीवनमुक्ति) प्राप्त कर लेने पर या तो वह तत्काल परिनिर्वाण (विदेहमुक्ति) प्राप्त करता है अथवा संन्यासमार्ग में प्रविष्ट हो जाता है जैसा कि भरत ने किया था, लेकिन गृहस्थ जीवन में नहीं रहता है।

गीता की दृष्टि में गृहस्थ-धर्म का स्थान

इस प्रकार जैन और बौद्ध परम्पराएँ इस बात पर स्पष्ट रूप से बल देती हैं कि गृहस्थ जीवन में जीवन्मुक्ति या अर्हत् दशा को प्राप्त कर लेने के पश्चात् यदि साधक जीवित रहता है, तो वह गृहस्थ न रहकर नियमतः संन्यास-धर्म को ही स्वीकार कर लेता है। इसके विपरीत गीता का आचार-दर्शन स्पष्ट रूप से इसे स्वीकार करता है कि जीवन्मुक्ति प्राप्त कर लेने के पश्चात् गृहस्थ साधक को गृहस्थ जीवन छोड़ना आवश्यक नहीं रहता है। जीवन्मुक्त गृहस्थावस्था में भी रहकर संसार के व्यवहार करता रहता है। गीता के तीसरे अध्याय में जनकादि के उदाहरणों द्वारा इस कथन

---

१. मज्झिमनिकाय, तेविज्ज वच्छगोत्त सुत्त, १।३।१।
२. महायानसूत्रालंकार, पृ० १६।
३. मिलिन्दप्रश्न ६।२।४।
४. इतिवुत्तक ४।८।
५. संयुत्तनिकाय ५३।६।४।

की पुष्टि की गयी है।[१] गीता के अनुसार मोक्ष के लिए कर्मयोग (गृहस्थ-धर्म) और कर्म-संन्यास दोनों ही निष्ठाएँ पूर्वकाल से प्रचलित हैं। गीताकार के अनुसार जिस साध्य की प्राप्ति एक संन्यासी करता है, उसी साध्य की प्राप्ति एक गृहस्थ कर्मयोगी भी करता है।[२] गीता के अनुसार गृहस्थ-धर्म अथवा संन्यास-धर्म दोनों में से किसी एक का निष्ठापूर्वक सम्यक् रूप से आचरण करनेवाला दोनों के ही फल को प्राप्त करता है।[३] इस प्रकार हम देखते है कि गीता में संन्यास-मार्ग और गृहस्थ-मार्ग दोनों का साधना के लक्ष्य की प्राप्ति की दृष्टि से समान महत्त्व है। इतना ही नहीं, गीताकार की दृष्टि में कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग अधिक महत्त्वपूर्ण रहा है, तभी तो वह कहता है कि कर्म-संन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याणकारक हैं, फिर भी कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग अधिक महत्त्वपूर्ण है।[४] गीता-शास्त्र के उपक्रम, उपसंहार, अपूर्वता आदि की दृष्टि से भी विचार करने पर ऐसा स्पष्ट लगता है कि यद्यपि गीताकार संन्यासमार्ग की अवहेलना नहीं करता, फिर भी उसका पूरा जोर गृहस्थ जीवन में रहकर अपने-अपने कर्त्तव्यों का परिपालन करते हुए सिद्धि प्राप्त करने की ओर है। जिस प्रसंग में गीता का उपदेश दिया गया, वह इसी बात को स्पष्ट रूप से बताता है कि गीता के उपदेष्टा की दृष्टि में गृहस्थ-धर्म का सम्यक् रीति से परिपालन करना ही अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह अर्जुन को संन्यासमार्ग की अपेक्षा कर्ममार्ग में नियोजित करना चाहता है।

निष्कर्ष यह है कि यद्यपि तीनों ही आचार-दर्शन गृहस्थ-धर्म और संन्यास-धर्म दोनों के द्वारा ही सिद्धि या निर्वाण की प्राप्ति को सम्भव मानते हैं, तथापि जहाँ जैन और बौद्ध परम्पराओं का बल संन्यास-मार्ग पर अधिक है, वहाँ गीता कर्मयोग द्वारा गृहस्थ जीवन में रहकर ही साधना करने पर जोर देती है।

श्रमण और गृहस्थ साधना में अन्तर

साधना के पूर्ण आदर्श के प्रति सतत निष्ठा गृहस्थ और संन्यासी दोनों से ही समान रूप में अपेक्षित है। सम्यक् दर्शन की दृष्टि से गृहस्थ और श्रमण की साधना में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। जहाँ तक सम्यग्ज्ञान की साधना का प्रश्न है, साधकों में ज्ञानात्मक योग्यता का अन्तर हो सकता है, लेकिन यह ज्ञानात्मक योग्यता का अन्तर गृहस्थ और श्रमण-साधना के वर्गीकरण का आधार नहीं है। ज्ञान की मात्रा की कमी या अधिकता के आधार पर श्रमण और श्रावकसाधक में विभेद नहीं किया गया है। गृहस्थ और श्रमण साधक के विभेद का प्रमुख आधार सम्यक्चारित्र है, सम्यक्चारित्र के भी भावचारित्र और द्रव्यचारित्र ऐसे दो भेद हैं। यह द्रव्यचारित्र ही गृही-साधना और श्रमण

---

१. गीता ३।२०।
२. वही, ४।५।
३. वही, ५।४।
४. वही, ५।२।

साधना की विभाजक रेखा बनाता है। गृहस्थ साधक भी मानसिक दृष्टि से प्रशस्त भावनावाला हो सकता है, लेकिन अपनी परिस्थितियों के वश उनका क्रियात्मक रूप में पालन नहीं करपाता है या उनका आंशिक रूप में पालन करता है। यहीं उसका श्रमण-साधक से अन्तर है। गृहस्थ और श्रमण दोनों ही अहिंसा के विचार में पूर्ण निष्ठा रखते हुए भी गृहस्थ साधक सुरक्षात्मक और औद्योगिक हिंसा के कुछ रूपों से बच नहीं पाता है, जबकि श्रमण-साधक उसका पूर्ण-रूपेण परिपालन करता है। कषायों का जय, अप्रशस्त मनोभाव (अप्रशस्त लेश्याओं) का परित्याग, प्रशस्त मनोभावों का ग्रहण, आर्त्त और रौद्र चित्त-वृत्ति का परित्याग आदि मानसिक या भावचारित्र की साधना में गृहस्थ और श्रमण समान ही हैं। इतना ही नहीं, षडावश्यक कर्म और मरणांतिक संलेखना (समाधिमरण) का विधान भी दोनों के लिए बहुत-कुछ समान ही है। गृहस्थ उपासक और श्रमण की साधना का महत्त्वपूर्ण अन्तर क्रमशः उनकी अणुव्रतों एवं महाव्रतों की साधना को लेकर है। उदाहरणार्थ श्रमण त्रस एवं स्थावर सभी की हिंसा का परित्याग करता है, जबकि गृहस्थ मात्र संकल्पयुक्त त्रस हिंसा का। श्रमण पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है जबकि गृहस्थ साधक स्वपत्नी-सन्तोष का व्रत लेता है। श्रमण समग्र परिग्रह का त्याग करता है जबकि गृहस्थ परिग्रह की सीमा निश्चित करता है।

गृहस्थ और श्रमण साधना का अन्तर उनके व्रतग्रहण की कोटियों के आधार पर भी किया जाता है। श्रमण सभी व्रत नवकोटि सहित ग्रहण करते हैं, जबकि गृहस्थ साधकों का व्रतग्रहण छ से दो कोटियों के मध्य उनकी सुविधा एवं क्षमता के अनुसार हो सकता है। जैन-विचारणा में व्रतग्रहण की ये कोटियाँ मानी गयी हैं :—

१. मनसाकृत	२. मनसाकारित	३. मनसा-अनुमोदित।
४. वाक्कृत	५. वाक्कारित	६. वाक्-अनुमोदित।
७. कायकृत	८. कायकारित	९. काय-अनुमोदित।

गृहस्थ साधक अनुमोदन की प्रक्रिया से नहीं बच पाता है, अतः उसका व्रतग्रहण दो से छह कोटियों के मध्य ही होता है। यद्यपि कुछ जैन सम्प्रदायों ने श्रावक के व्रत ग्रहण में आठ कोटियों की सम्भावना मानी है। गुजरात के स्थानकवासी जैन सम्प्रदाय में आठ कोटि और छः कोटि के प्रश्न को लेकर दो उपसम्प्रदायों का निर्माण हुआ है।

संक्षेप में इस विवेचना का तात्पर्य यही है कि गृहस्थ और श्रमण को साधना के अन्तर का प्रमुख आधार आचार के बाह्य पक्ष तक ही अधिक सीमित है। साधना की मूलात्मा या साधना के आन्तरिक पक्ष की दृष्टि से दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। नैतिक आदर्शों को आचरण में क्रियान्वित कर पाने में ही गृहस्थ और श्रमण साधना में अन्तर माना जा सकता है।

गृहस्थ-धर्म की विवेचन शैली

जैन-परम्परा में श्रावक-धर्म या उपासक-धर्म का प्रतिपादन तीन विभिन्न शैलियों में हुआ है। उपासकदशांग, तत्त्वार्थसूत्र, रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में श्रद्धा (सम्यक्त्व) ग्रहण, व्रतग्रहण और समाधि मरण (मरणांतिक अनशन) के रूप में श्रावक-धर्म का प्रतिपादन है। दशाश्रुतस्कन्ध, आचार्य कुन्दकुन्द के चारित्र-प्राभृत, कार्तिकेय अनुप्रेक्षा तथा वसुनन्दि श्रावकाचार में दर्शन-प्रतिमादि ११ प्रतिमाओं के रूप में क्रमशः श्रावक-धर्म का प्रतिपादन है एवं श्रावक-धर्म की उत्तरोत्तर विकास की अवस्थाओं को दिखाया गया है। पं० आशाधरजी ने सागरधर्मामृत में पक्ष, चर्या (निष्ठा) और साधन के रूप में श्रावक-धर्म का विवेचन किया है और उसकी विकासमान दिशाओं को सूचित किया है।

वास्तविकता यह है कि इन विवेचन शैलियों में विभिन्नता होते हुए भी विषय-वस्तु समान ही है, अन्तर विवेचना के ढंग में है। वस्तुतः ये एक दूसरे की पूरक हैं। प्रस्तुत प्रयास में गृहस्थ साधकों के प्रकारों की विवेचना में गुणस्थान-सिद्धान्त एवं पं० आशाधरजी की शैली का, गृहस्थ धर्म की विवेचना में आगमिक व्रत शैली का और गृहस्थ साधकों के नैतिक विकास की अवस्थाओं के चित्रण के रूप में प्रतिमाशैली का आश्रय लिया गया है। उपासकदशांगसूत्र में जिस प्रकार व्रत विवेचन और प्रतिमाओं की विवेचना को अलग-अलग रखा गया है, उसी प्रकार हमने भी उन्हें अलग-अलग रखा है। यद्यपि इस प्रकार के विवेचन-क्रम में कुछ बातों की पुनरावृत्ति आवश्यक रूप से हुई है :—

गृहस्थ साधकों के दो प्रकार

सभी गृहस्थ उपासक साधना की दृष्टि से समान नहीं होते हैं, उनमें श्रेणी-भेद होता है। गुणस्थान-सिद्धान्त के आधार पर सामान्य रूप से गृहस्थ उपासकों को निम्न दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

१. **अविरत (अव्रती) सम्यग्दृष्टि**—अविरत सम्यग्दृष्टि उपासक वे हैं, जो सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के साधना-मार्ग में पूर्ण निष्ठा रखते हुए भी अपने में आत्मानुशासन या संयम की कमी का अनुभव करते हुए सम्यक्चारित्र की साधना में आगे नहीं बढ़ते हैं। साधारण रूप में उनकी श्रद्धा और ज्ञान तो यथार्थ होता है, लेकिन आचरण सम्यक् नहीं होता। वासनाएँ बुरी हैं यह जानते और मानते हुए भी वे अपनी वासनाओं पर अंकुश रखने में असमर्थता अनुभव करते हैं। जैन-साहित्य में मगधाधिपति श्रेणिक को इसी वर्ग का उपासक माना गया है। इस वर्ग में नैतिक जीवन के प्रति श्रद्धा तो होती है, लेकिन आचरण में अपेक्षित नैतिकता नहीं आ पाती है।

२. **देशविरत (देशव्रती) सम्यग्दृष्टि**—देशविरत सम्यग्दृष्टि के वर्ग में वे गृहस्थ उपासक जाते हैं, जो यथार्थ श्रद्धा के साथ-साथ यथाशक्ति सम्यक् आचरण के मार्ग में

आगे बढ़ कर वासनाओं पर नियंत्रण करते हैं। अहिंसा आदि अणुव्रतों का पालन करने वाला उपासक ही देशव्रती सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। इस वर्ग में चारित्रिक क्षमता के आधार पर अनेक उपवर्ग हो सकते हैं। इस वर्ग में नैतिक श्रद्धा नैतिक आचरण का रूप ले लेती है। आनन्द आदि गृहस्थ उपासक इसी वर्ग मे आते हैं।

गृहस्थ उपासकों के तीन भेद—

पं० आशाधरजी ने अपने ग्रन्थ सागार-धर्मामृत में गृहस्थ उपासकों के तीन भेद किये हैं:—(१) पाक्षिक (२) नैष्ठिक (३) साधक।।

१. **पाक्षिक**—जो व्यक्ति वीतराग को देव के रूप में, निर्ग्रंथ मुनि को गुरु के रूप में और अहिंसा को धर्म के रूप में स्वीकार करते हैं वे पाक्षिक गृहस्थ उपासक कहे जाते हैं। देव, गुरु, धर्म अथवा साधना के आदर्श साधना के पथ प्रदर्शक और साधना मार्ग की अभिस्वीकृति यह पक्ष है। इसको ग्रहण करने वाला साधक पाक्षिक कहलाता है।

२. **नैष्ठिक**—नैष्ठिक उपासक वे हैं जो सात दुर्व्यसनों एवं औदुम्बर फलों के भक्षण का त्याग करते हैं। सप्त दुर्व्यसन एवं औदुम्बरफलों का त्याग यह इस वर्ग की निम्न-तम सीमा है। इसके अतिरिक्त १२ व्रतों एवं ११ प्रतिमाओं का पालन करने वाले तथा श्रावक के आवश्यक गुणों से युक्त रहने वाले गृहस्थ उपासक भी इसी वर्ग में आते हैं जो इस वर्ग की अपर सीमा है।

३. साधक—जो गृहस्थ उपासक श्रावक के १२ व्रतों एवं ११ प्रतिमाओं का निर्दोष पालन करते हुए जीवन के अन्तिम भाग में संलेखना व्रत को अंगीकार कर लेता है अर्थात् आहार आदि का सर्वथा त्याग कर देता है, १८ पापस्थानों से पूर्णतः निवृत्त हो जाता है एवं चित्त की वृत्तियों को अन्तर्मुखी कर आत्मभाव में रमण करता है वह साधक श्रावक कहा जाता है।

पं० आशाधरजी के द्वारा किया हुआ यह त्रिविध वर्गीकरण अपनी मूल भावनाओं में अविरत सम्यक्दृष्टि और देशविरत सम्यक्दृष्टि से भिन्न नहीं है। वस्तुतः पाक्षिक श्रावक अविरत सम्यक्दृष्टि का और नैष्ठिक श्रावक देशविरत सम्यक् दृष्टि का ही नाम है। गुणस्थान-सिद्धान्त के अनुसार साधक जब पाँचवें गुणस्थान से ऊपर उठता है, तो वह गृहस्थ की सीमा से ऊपर उठ जाता है, चाहे वह द्रव्यलिंग (वेशभूषा) की दृष्टि से गृहस्थ वेश में ही क्यों न हो। साधक श्रावक भी मात्र द्रव्यलिंग की दृष्टि से गृहस्थ कहा जाता है। वस्तुतः आध्यात्मिक दृष्टि से वह उससे ऊपर होता है।

गृहस्थ-धर्म में प्रविष्टि या सम्यक्त्व ग्रहण

जैन-धर्म में गृहस्थ-जीवन में रहकर साधना की प्रविष्टि का मार्ग सभी जाति, वय एवं वर्ग के लोगों के लिए खुला है। जो मनुष्य साधक-जीवन के आदर्श के रूप में

वीतराग अवस्था को, साधना-मार्ग के पथ-प्रदर्शक के रूप से अन्तर्बाह्य ग्रन्थियों से मुक्त पंच महाव्रतधारी गुरु को और साधना-मार्ग के रूप में वीतराग द्वारा प्रतिपादित अहिंसा धर्म को अंगीकार करते हैं, वे सभी गृहस्थ उपासक बन सकते हैं। यह प्रक्रिया जैन-परम्परा में देव, गुरु और धर्म की श्रद्धा के रूप में सम्यक्त्व-ग्रहण के नाम से जानी जाती है। इसमें साधक इस निश्चय को अभिव्यक्त करता है कि "जीवनपर्यन्त अर्हत् मेरे देव हैं, निर्ग्रन्थ श्रमण मेरे गुरु हैं और वीतरागप्रणीत धर्म मेरा धर्म है"।[1] यह प्रक्रिया सम्यक्त्व-ग्रहण या त्रिनिश्चय कही जाती है।

सम्यक्त्व-ग्रहण पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार—बौद्ध-परम्परा और गीता में भी श्रद्धा साधना-मार्ग में प्रविष्टि के लिए आवश्यक है। बौद्ध-परम्परा में यह प्रक्रिया त्रिशरण ग्रहण कही जाती है। जिसमें व्यक्ति बुद्ध, धर्म और संघ की शरण को अंगीकार करता है। त्रिशरण-ग्रहण की प्रक्रिया जैन परम्परा के त्रिनिश्चय की प्रक्रिया से थोड़ी भिन्न है। प्रथमत: उसमें संघ के स्थान पर गुरु का स्थान है। दूसरे उसमें समर्पण नहीं, वरन् स्वीकृति है। वह प्रपत्ति या शरणागति के स्थान पर आत्म-निश्चय है। जैन-दर्शन में अरहंत, सिद्ध, साधु एवं धर्म की शरण ग्रहण करने की परम्परा तो है, लेकिन साधना के क्षेत्र में प्रविष्टि के लिए जो आवश्यक है वह अभिस्वीकृति (निश्चय) है। बौद्ध-परम्परा एवं गीता के अनुसार शरण-ग्रहण के साथ ही साधना पथ में प्रवेश माना जाता है। यद्यपि वर्तमान युग में सम्यक्त्व-ग्रहण की यह प्रक्रिया साम्प्रदायिक मान्यताओं की आग्रहवृत्ति के रूप में रूढ़ हो गयी है, तथापि मूलतः इसमें साम्प्रदायिक अभिनिवेश का अभाव है। यह तो वस्तुतः साधना-आदर्श, साधना के पथ-प्रदर्शक और साधना-मार्ग का चयन है, जिसमें साम्प्रदायिक अभिनिवेश अनुपस्थित है। दूसरे, साधना के आदर्श, पथ-प्रदर्शक और मार्ग का स्वरूप भी ऐसा है जिसमें साम्प्रदायिक अभिनिवेश की गन्ध भी नहीं आती है। देव और गुरु वैयक्तिकता के नहीं, वरन् आध्यात्मिक पूर्णताओं और योग्यताओं के परिचायक हैं। धर्म परम्परागत रूढ़ि नहीं, वरन् समत्ववृत्ति पर अधिष्ठित अहिंसा का विचार है। साधना के प्रारम्भ में इन त्रिनिश्चयों का ग्रहण इसलिए आवश्यक है कि आचरण या साधना के क्षेत्र में साधक कहीं भटक न जावे। जिस पथिक को अपने गन्तव्य और गन्तव्य-मार्ग का परिज्ञान न हो, जिसके साथ कोई योग्य मार्गदर्शक न हो, वह क्या निर्विघ्न यात्रा कर पायेगा? इसी प्रकार जिस साधक को अपने साधना-आदर्श का बोध न हो, जो साधना के सम्यक्-पथ से अनभिज्ञ हो और जिसके साथ कोई योग्य पथ-प्रदर्शक न हो वह कैसे साधना कर पावेगा? जैन विचारकों ने इसी तथ्य को सामने रखकर गृहस्थ साधक के द्वारा सम्यक् आचरणा की दिशा में आगे बढ़ने के लिए पूर्व में ही जीवन के आदर्श के रूप में देव, साधना-पथ के रूप में धर्म और मार्गदर्शक के रूप में गुरु का चयन आवश्यक माना।

१. सामायिक, सम्यक्त्वसूत्र।

देव, गुरु और धर्म का स्वरूप

१. **देव**—जैन आचार-दर्शन में देव का तात्पर्य अर्हत् या वीतराग अवस्था को प्राप्त पुरुष है। अर्हत् शब्द आध्यात्मिक पूर्णता का प्रतीक है। जो व्यक्ति ज्ञान, दर्शन आदि आत्मिक शक्तियों का पूर्ण प्रकटन कर लेता है, वह अर्हत् कहलाता है। वह वीतराग इसलिए कहा जाता है, क्योंकि वह राग और द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठ चुका है। जैन साधना में वीतराग या अर्हत् का आदर्श एक व्यावहारिक आदर्श है, क्योंकि अर्हत् अवस्था की प्राप्ति के पूर्व वह भी एक सामान्य व्यक्ति होता है जो स्वयं के प्रयत्न, पुरुषार्थ और साधना से उस योग्यता को प्राप्त करता है। वह यही प्रेरणा देता है कि जिसे तुम आदर्श मानते हो वह तुम में ही प्रसुप्त है, प्रयत्न करो तुम स्वयं ही आदर्श बन जाओगे। अर्हत् का आदर्श न तो वैयक्तिकता का प्रतीक है, न किसी ईश्वरवाद का ही है, वरन् वह तो आध्यात्मिक पूर्णता है जिसमें साम्प्रदायिक अभिनिवेश भी पूर्णतया लुप्त है। आचार्य हेमचन्द्र कितने स्पष्ट शब्दों में साम्प्रदायिक अभिनिवेश से मुक्त होकर इस आदर्श की वन्दना करता है :—

भव-बीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

संसार में आवागमन के कारणभूत रागादि जिसके क्षय हो गये हैं वह चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हरि हो या जिन हो—उसको मेरा नमस्कार है।

वस्तुतः साधना का लक्ष्य वीतरागता या समत्व की उपलब्धि है और जो इस समत्व से युक्त है, वीतराग है, वही साधना का आदर्श है।

२. **गुरु**[१]—साधना के क्षेत्र में पथ-प्रदर्शक नितान्त आवश्यक है। जैन विचारणा के अनुसार गुरु आचरण के क्षेत्र में दिशा-निर्देशक का कार्य करता है। गुरु या मार्ग दर्शक कौन हो सकता है? इसके लिए कहा गया है कि जो पाँच इन्द्रियों का संवरण करनेवाला नव रक्षापंक्तियों से ब्रह्मचर्य के रक्षण मे सदैव जागृत, क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों से मुक्त; अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के पाँच महाव्रतों से युक्त, पाँच प्रकार के आचार का पालन करने वाला; गमन, भाषण, याचना, निक्षेपण, और विसर्जन इन पाँच समितियों को विवेकपूर्ण ढंग से सम्पादित करनेवाला तथा मन, वचन और काया से संयत होता है, वही गुरु है।

३. **धर्म**[२]—साधना के क्षेत्र में धर्म या साधना-पथ का चुनाव करना होता है। धर्म के सम्बन्ध में जैन विचारकों की मान्यता यह है कि स्व-पर कल्याणकारक अहिंसा ही धर्म है (धम्मो दया विसुद्धो)। दशवैकालिक सूत्र के अनुसार अहिंसा, संयम और तपरूप धर्म ही उत्कृष्ट मंगल है।

---

१. सामायिक सम्यक्त्वसूत्र २. दशवैकालिक १।१

जैन साधना में गृहस्थ-आचार के प्राथमिक नियम (मूलगुण)

श्रावक या गृहस्थ जीवन में प्रविष्टि के लिए निष्ठा या सम्यक्दर्शन की तो आवश्यकता है ही। लेकिन मात्र निष्ठा एवं विचारशुद्धि ही पर्याप्त नहीं है। अतः जैनाचार्यो ने गृहस्थ साधक के लिए आचार का एक सरलतम प्रारूप भी निर्धारित किया है जिसका पालन जैन गृहस्थ उपासक बनने के लिए अनिवार्य माना जाने लगा है, यद्यपि पूर्ववर्ती आगमों में इसका विवेचन उपलब्ध नहीं है। जैनाचार्यों में भी इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय (६१) में मद्य, मांस, मधु तथा पंच औदुम्बर फलों के त्याग के रूप में श्रावक के अष्ट मूलगुणों का विधान किया है। आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार (६६) में पंच अणुव्रतों तथा मद्य, माँस और मधु के त्याग को श्रावक के अष्ट मूलगुण बताया है। आचार्य सोमदेव एवं अमृतचन्द्र ने पंच अणुव्रतों के स्थान पर पंच औदुम्बरफल के त्याग का विधान कर उसकी कठोरता को कम किया है। वसुनन्दि श्रावकाचार में सप्त व्यसनों के त्याग का विधान है। वर्तमान युग में वसुनन्दि के विधान को ही सामान्यतया स्वीकार किया जाता है। सम्यक्त्व ग्रहण के साथ ही पाँच औदुम्बर फलों एवं सप्त व्यसनों का त्याग कर जैन गृहस्थ साधक के लिए आवश्यक है। **पंच औदुम्बर फल त्याग**—(१) पीपल का फल (२) गुलर का फल (३) वट का फल (४) पिलखन का फल और (५) अन्जीर। जैन गृहस्थ के लिए इनका उपयोग वर्जित माना गया है, क्योंकि इन फलों के अन्दर सूक्ष्म कोड़े होते हैं। **सप्तव्यसन[२] त्याग**—(१) जुआ एक निन्दित कर्म है। इसके कारण न केवल वैयक्तिक वरन् पारिवारिक जीवन भी संकट में पड़ जाता है, अतः जुआ गृहस्थ साधक के लिए वर्जनीय है। (२) **मांसाहार**—मांस-भक्षण निर्दयता को जन्म देता है। मांसाहारी साधक हिंसा से भी विरत नहीं हो सकता, अतः मांसाहार का त्याग अहिंसाणुव्रत के पालन की पूर्व भूमिका है। (३) **सुरापान**—मद्यपान जैन गृहस्थ के लिए वर्जित है। जैनाचार्यों ने इसकी निन्दा में विस्तृत साहित्य का सर्जन किया है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार जिस प्रकार अग्नि को एक चिनगारी से घास का ढेर राख हो जाता है उसी प्रकार मदिरापन से विवेक, संयम, ज्ञान, सत्य शौच, दया आदि सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।[3] **वेश्यागमन**—वेश्यागमन परिवार-संस्था का ही मूलोच्छेद करता है। सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन पर यह एक कलंक है। (५) **शिकार**—शिकार खेलना क्रूरता का प्रतीक है। अहिंसा की महान साधना में तत्पर होने की पूर्व भूमिका के रूप में इसका त्याग आवश्यक है। (६) **चौर्य-कर्म**—

---

१. योगशास्त्र, ३।४२-४३
२. वसुनन्दि श्रावकाचार, ५९
३. योगशास्त्र, ३।१६; पाश्चात्य आचार दर्शन में इसके अनौचित्य के लिए देखिए एथिक्स फॉर टू डे, पृ० २४०–२४३

चोरी की कुटेव भी गृहस्थ-धर्म का विनाश करती है। गृहस्थ-धर्म में सम्पत्ति का वैय-क्तिक स्वामित्व का जो अधिकार है, चौर्य कर्म उसी अधिकार का मूलोच्छेद करता है। साथ ही वह लोक निन्दनीय और राज्य के द्वारा दण्डनीय अपराध भी है। सामाजिक शान्ति एवं व्यवस्था को भंग करता है, अतः उसे वर्ज्य माना गया है। (७) **परस्त्रीगमन**—यह विषयासक्ति वर्धक एवं सामाजिक व्यवस्था का विनाशक है। पर-स्त्री गमन का त्याग करने पर ही व्यक्ति गृहस्थ जीवन का अधिकारी बन सकता है।

पाँच औदुम्बर फलों और सप्त व्यसनों का त्याग अणुव्रत साधना की पूर्व तैयारी के रूप में माना जा सकता है। यह अहिंसा, अचौर्य और स्वपत्नी सन्तोप अणुव्रत की ही प्रारम्भिक रूपरेखा है। इनका पालन करने वाला साधक ही अणुव्रत की साधना के मार्ग में आगे बढ़ सकता है।

पाँच औदुम्बर फलों और सप्त दुर्व्यसनों का त्याग अणुव्रत साधना की पूर्व तैयारी के रूप में माना जा सकता है। यह अहिंसा, अचौर्य और स्वपत्नीसन्तोप अणुव्रत की ही प्रारम्भिक रूपरेखा है। इनका पालन करने वाला साधक ही अणुव्रत की साधना के मार्ग में आगे बढ़ सकता है।

गृहस्थ-जीवन की व्यावहारिक नीति

गृहस्थ-जीवन में कैसे जीना चाहिए, इस सम्बन्ध में थोड़ा निर्देश आवश्यक है। गृहस्थ उपासक का व्यावहारिक जीवन कैसा हो इस सम्बन्ध में जैन आगमो में यत्र-तत्र बिखरे हुए कुछ निर्देश मिल जाते हैं। लेकिन बाद के जैन विचारकों ने कथा-साहित्य, उपदेश-साहित्य एवं आचार सम्बन्धी साहित्य में इस सन्दर्भ में एक निश्चित रूपरेखा प्रस्तुत की है। यह एक स्वतन्त्र शोध का विषय है। हम अपने विवेचन को आचार्य नेमिचन्द्र के प्रवचनसारोद्धार और आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र तथा पं० आशाधरजी के सागारधर्मामृत तक ही सीमित रखेंगे।

सभी विचारकों की यह मान्यता है कि जो व्यक्ति जीवन के सामान्य व्यवहारों में कुशल नहीं है, वह आध्यात्मिक जीवन की साधना में आगे नहीं बढ़ सकता। धार्मिक या आध्यात्मिक होने के लिए व्यावहारिक या सामाजिक होना पहली शर्त है। व्यवहार से ही परमार्थ साधा जा सकता है। धर्म की प्रतिष्ठा के पहले जीवन में व्यवहारपटुता एवं सामाजिक जीवन जीने की कला का आना आवश्यक है। जैनाचार्यों ने इस तथ्य को बहुत पहले ही समझ लिया था। अतः अणुव्रत-साधना के पूर्व ही इन योग्यताओं का सम्पादन आवश्यक है।

आचार्य हेमचन्द्र ने इन्हें "मार्गानुसारी" गुण कहा है। धर्म-मार्ग का अनुसरण करने के लिए इन गुणों का होना आवश्यक है। उन्होंने योगशास्त्र के द्वितीय एवं तृतीय प्रकाश में श्रावक-धर्म का विवेचन करने के पूर्व ही प्रथम प्रकाश में निम्न ३५ मार्गा-

नुसारी गुणों का विवेचन किया है[1] :—(१) न्यायनीतिपूर्वक ही धनोपार्जन करना। (२) समाज में जो ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध शिष्ट-जन हैं, उनका यथोचित सम्मान करना, उनसे शिक्षा ग्रहण करना और उनके आचार की प्रशंसा करना। (३) समान कुल और आचार-विचार वाले, स्वधर्मी किन्तु भिन्न गोत्रोत्पन्न जनों की कन्या के साथ विवाह करना। (४) चोरी, परस्त्रीगमन, असत्यभाषण आदि पापकर्मों का ऐहिक-पारलौकिक कटुक विपाक जानकर, पापाचार का त्याग करना। (५) अपने देश के कल्याणकारी आचार-विचार एवं संस्कृति का पालन करना तथा संरक्षण करना। (६) दूसरों की निन्दा न करना। (७) ऐसे मकान में निवास करना जो न अधिक खुला और न अधिक गुप्त हो, जो सुरक्षा वाला भी हो और जिसमें अव्याहत वायु एवं प्रकाश आ सके। (८) सदाचारी जनों की संगति करना। (९) माता-पिता का सन्मान-सत्कार करना, उन्हें सब प्रकार से सन्तुष्ट रखना। (१०) जहाँ वातावरण शान्तिप्रद न हो, जहाँ निराकुलता के साथ जीवन-यापन करना कठिन हो, ऐसे ग्राम या नगर में निवास न करना। (११) देश जाति एवं कुल से विरुद्ध कार्य न करना, जैसे मदिरापान आदि। (१२) देश और काल के अनुसार वस्त्राभूषण धारण करना। (१३) आय से अधिक व्यय न करना और अयोग्य क्षेत्र में व्यय न करना। आय के अनुसार वस्त्र पहनना। (१४) धर्मश्रवण की इच्छा रखना, अवसर मिलने पर श्रवण करना, शास्त्रों का अध्ययन करना, उन्हें स्मृति में रखना, जिज्ञासा से प्रेरित होकर शास्त्रचर्चा करना, विरुद्ध अर्थ से बचना, वस्तुस्वरूप का परिज्ञान प्राप्त करना और तत्त्वज्ञ बनना—बुद्धि के इन आठ गुणों को प्राप्त करना। (१५) धर्मश्रवण करके जीवन को उत्तरोत्तर उच्च और पवित्र बनाना। (१६) अजीर्ण होने पर भोजन न करना, यह स्वास्थ्यरक्षा का मूल मन्त्र है। (१७) समय पर प्रमाणोपेत भोजन करना, स्वाद के वशीभूत हो अधिक न खाना। (१८) धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ का इस प्रकार सेवन करना कि जिससे किसी में बाधा उत्पन्न न हो। धनोपार्जन के बिना गृहस्थाश्रम चल नहीं सकता और गृहस्थ काम पुरुषार्थ का भी सर्वथा त्यागी नहीं हो सकता, तथापि धर्म को बाधा पहुँचा कर अर्थ-काम का सेवन न करना चाहिए। (१९) अतिथि, साधु और दीन जनों को यथायोग्य दान देना। (२०) आग्रहशील न होना। (२१) सौजन्य, औदार्य, दाक्षिण्य आदि गुणों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना। (२२) अयोग्य देश और अयोग्य काल में गमन न करना। (२३) देश, काल, वातावरण और स्वकीय सामर्थ्य का विचार करके ही कोई कार्य प्रारम्भ करना। (२४) आचारवृद्ध और ज्ञानवृद्ध पुरुषों को अपने घर आमन्त्रित करना, आदरपूर्वक बिठलाना, सम्मानित करना और उनकी यथोचित सेवा करना। (२५) माता-पिता, पत्नी पुत्र आदि आश्रितों का यथायोग्य

---

१. योगशास्त्र प्रथम प्रकाश ४७–५६ पृ० २०-२३

भरण-पोषण करना, उनके विकास में सहायक बनना। (२६) दीर्घदर्शी होना। किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व ही उसके गुणावगुण पर विचार कर लेना। (२७) विवेकशील होना। जिसमें हित-अहित, कृत्य-अकृत्य का विवेक नहीं होता, उस पशु के समान पुरुष को अन्त में पश्चात्ताप करना पड़ता है। (२८) गृहस्थ को कृतज्ञ होना चाहिए। उपकारी के उपकार को विस्मरण कर देना उचित नहीं। (२९) अहंकार से बचकर विनम्र होना। (३०) लज्जाशील होना। (३१) करुणाशील होना। (३२) सौम्य होना। (३३) यथाशक्ति परोपकार करना। (३४) काम, क्रोध मोह, मद और मात्सर्य, इन आन्तरिक रिपुओं से बचने का प्रयत्न करना और (३५) इन्द्रियों को उच्छृखल न होने देना। इन्द्रियविजेता गृहस्थ ही धर्म की आराधना करने की पात्रता प्राप्त करता है।

आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रवचनसारोद्धार में भिन्न रूप से श्रावक के २१ गुणों का उल्लेख किया है और यह माना है कि इन २१ गुणों को धारण करने वाला व्यक्ति ही अणुव्रतों की साधना का पात्र होता है। आचार्य द्वारा निर्देशित श्रावक के २१ गुण निम्न हैं[1] :—(१) अक्षुद्रपन (विशाल हृदयता), (२) स्वस्थता, (३) सौम्यता, (४) लोकप्रियता, (५) अक्रूरता, (६) पापभीरुता, (७) अशठता, (८) सुदक्षता (दानशील), (९) लज्जाशीलता, (१०) दयालुता, (११) गुणानुराग, (१२) प्रियसम्भाषण या सौम्यदृष्टि, (१३) माध्यस्थवृत्ति (१४) दीर्घदृष्टि, (१५) सत्कथक एवं सुपक्षयुक्त[2], (१६) नम्रता, (१७) विशेषज्ञता, (१८) वृद्धानुगामी, (१९) कृतज्ञ, (२०) परहितकारी (परोपकारी) और (२१) लब्धलक्ष्य (जीवन के साध्य का ज्ञाता)।

पं० आशाधरजी ने अपने ग्रंथ सागार-धर्मामृत में निम्न गुणों का निर्देश किया है :—(१) न्यायपूर्वक धन का अर्जन करनेवाला, (२) गुणीजनों को माननेवाला, (३) सत्यभाषी, (४) धर्म, अर्थ और काम (त्रिवर्ग) का परस्पर विरोधरहित सेवन करनेवाला, (५) योग्य स्त्री, (६) योग्य स्थान (मोहल्ला), (७) योग्य मकान से युक्त, (८) लज्जाशील, (९) योग्य आहार, (१०) योग्य आचरण, (११) श्रेष्ठ पुरुषों की संगति, (१२) बुद्धिमान्, (१३) कृतज्ञ, (१४) जितेन्द्रिय, (१५) धर्मोपदेश श्रवण करने वाला, (१६) दयालु, (१७) पापों से डरने वाला—ऐसा व्यक्ति सागारधर्म (गृहस्थ धर्म) का आचरण करे[3]। पं० आशाधरजी ने जिन गुणों का निर्देश किया है उनमें से अधिकांश का निर्देश दोनों पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा किया जा चुका है।

उपर्युक्त विवेचना से जो बात अधिक स्पष्ट होती है, वह यह है कि, जैन आचारदर्शन मनुष्य जीवन के व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा करके नहीं चलता। जैनाचार्यों ने

---

१. प्रवचनसारोद्धार, २३९
२. इसके अर्थ के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है।
३. सागारधर्मामृत, अध्याय १

नुसारी गुणों का विवेचन किया है[1] :—(१) न्यायनीतिपूर्वक ही धनोपार्जन करना। (२) समाज में जो ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध शिष्ट-जन हैं, उनका यथोचित सम्मान करना, उनसे शिक्षा ग्रहण करना और उनके आचार की प्रशंसा करना। (३) समान कुल और आचार-विचार वाले, स्वधर्मी किन्तु भिन्न गोत्रोत्पन्न जनों की कन्या के साथ विवाह करना। (४) चोरी, परस्त्रीगमन, असत्यभाषण आदि पापकर्मों का ऐहिक-पारलौकिक कटुक विपाक जानकर, पापाचार का त्याग करना। (५) अपने देश के कल्याणकारी आचार-विचार एवं संस्कृति का पालन करना तथा संरक्षण करना। (६) दूसरों की निन्दा न करना। (७) ऐसे मकान में निवास करना जो न अधिक खुला और न अधिक गुप्त हो, जो सुरक्षा वाला भी हो और जिसमें अव्याहत वायु एवं प्रकाश आ सके। (८) सदाचारी जनों की संगति करना। (९) माता-पिता का सन्मान-सत्कार करना, उन्हें सब प्रकार से सन्तुष्ट रखना। (१०) जहाँ वातावरण शान्तिप्रद न हो, जहाँ निराकुलता के साथ जीवन-यापन करना कठिन हो, ऐसे ग्राम या नगर मे निवास न करना। (११) देश जाति एवं कुल से विरुद्ध कार्य न करना, जैसे मदिरापान आदि। (१२) देश और काल के अनुसार वस्त्राभूषण धारण करना। (१३) आय से अधिक व्यय न करना और अयोग्य क्षेत्र में व्यय न करना। आय के अनुसार वस्त्र पहनना। (१४) धर्मश्रवण की इच्छा रखना, अवसर मिलने पर श्रवण करना, शास्त्रों का अध्ययन करना, उन्हें स्मृति में रखना, जिज्ञासा से प्रेरित होकर शास्त्रचर्चा करना, विरुद्ध अर्थ से बचना, वस्तुस्वरूप का परिज्ञान प्राप्त करना और तत्त्वज्ञ बनना— बुद्धि के इन आठ गुणों को प्राप्त करना। (१५) धर्मश्रवण करके जीवन को उत्तरोत्तर उच्च और पवित्र बनाना। (१६) अजीर्ण होने पर भोजन न करना, यह स्वास्थ्यरक्षा का मूल मन्त्र है। (१७) समय पर प्रमाणोपेत भोजन करना, स्वाद के वशीभूत हो अधिक न खाना। (१८) धर्म, अर्थ और काम पुरुपार्थ का इस प्रकार सेवन करना कि जिससे किसी में बाधा उत्पन्न न हो। धनोपार्जन के बिना गृहस्थाश्रम चल नहीं सकता और गृहस्थ काम पुरुपार्थ का भी सर्वथा त्यागी नहीं हो सकता, तथापि धर्म को बाधा पहुँचा कर अर्थ-काम का सेवन न करना चाहिए। (१९) अतिथि, साधु और दीन जनों को यथायोग्य दान देना। (२०) आग्रहशील न होना। (२१) सौजन्य, औदार्य, दाक्षिण्य आदि गुणों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना। (२२) अयोग्य देश और अयोग्य काल में गमन न करना। (२३) देश, काल, वातावरण और स्वकीय सामर्थ्य का विचार करके ही कोई कार्य प्रारम्भ करना। (२४) आचारवृद्ध और ज्ञानवृद्ध पुरुषों को अपने घर आमन्त्रित करना, आदरपूर्वक बिठलाना, सम्मानित करना और उनकी यथोचित सेवा करना। (२५) माता-पिता, पत्नी पुत्र आदि आश्रितों का यथायोग्य

---

१. योगशास्त्र प्रथम प्रकाश ४७–५६ पृ० २०-२३

भरण-पोषण करना, उनके विकास में सहायक बनना। (२६) दीर्घदर्शी होना। किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व ही उसके गुणावगुण पर विचार कर लेना। (२७) विवेकशील होना। जिसमें हित-अहित, कृत्य-अकृत्य का विवेक नहीं होता, उस पशु के समान पुरुष को अन्त में पश्चात्ताप करना पड़ता है। (२८) गृहस्थ को कृतज्ञ होना चाहिए। उपकारी के उपकार को विस्मरण कर देना उचित नहीं। (२९) अहंकार से बचकर विनम्र होना। (३०) लज्जाशील होना। (३१) करुणाशील होना। (३२) सौम्य होना। (३३) यथाशक्ति परोपकार करना। (३४) काम, क्रोध मोह, मद और मात्सर्य, इन आन्तरिक रिपुओं से बचने का प्रयत्न करना और (३५) इन्द्रियों को उच्छृंखल न होने देना। इन्द्रियविजेता गृहस्थ ही धर्म की आराधना करने की पात्रता प्राप्त करता है।

आचार्य नेमिचन्द्र ने प्रवचनसारोद्धार में भिन्न रूप से श्रावक के २१ गुणों का उल्लेख किया है और यह माना है कि इन २१ गुणों को धारण करने वाला व्यक्ति ही अणुव्रतों की साधना का पात्र होता है। आचार्य द्वारा निर्देशित श्रावक के २१ गुण निम्न हैं[1] :—(१) अक्षुद्रपन (विशाल हृदयता), (२) स्वस्थता, (३) सौम्यता, (४) लोकप्रियता, (५) अक्रूरता, (६) पापभीरुता, (७) अशठता, (८) सुदक्षता (दानशील), (९) लज्जाशीलता, (१०) दयालुता, (११) गुणानुराग, (१२) प्रियसम्भाषण या सौम्य-दृष्टि, (१३) माध्यस्थवृति (१४) दीर्घदृष्टि, (१५) सत्कथक एवं सुपक्षयुक्त[2], (१६) नम्रता, (१७) विशेषज्ञता, (१८) वृद्धानुगामी, (१९) कृतज्ञ, (२०) परहितकारी (परोपकारी) और (२१) लब्धलक्ष्य (जीवन के साध्य का ज्ञाता)।

पं० आशाधरजी ने अपने ग्रंथ सागार-धर्मामृत में निम्न गुणों का निर्देश किया है :—(१) न्यायपूर्वक धन का अर्जन करनेवाला, (२) गुणीजनों को माननेवाला, (३) सत्यभाषी, (४) धर्म, अर्थ और काम (त्रिवर्ग) का परस्पर विरोधरहित सेवन करने-वाला, (५) योग्य स्त्री, (६) योग्य स्थान (मोहल्ला), (७) योग्य मकान से युक्त, (८) लज्जाशील, (९) योग्य आहार, (१०) योग्य आचरण, (११) श्रेष्ठ पुरुषों की संगति, (१२) बुद्धिमान्, (१३) कृतज्ञ, (१४) जितेन्द्रिय, (१५) धर्मोपदेश श्रवण करने वाला, (१६) दयालु, (१७) पापों से डरने वाला—ऐसा व्यक्ति सागारधर्म (गृहस्थ धर्म) का आचरण करे[3]। पं० आशाधरजी ने जिन गुणों का निर्देश किया है उनमें से अधिकांश का निर्देश दोनों पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा किया जा चुका है।

उपर्युक्त विवेचना से जो बात अधिक स्पष्ट होती है, वह यह है कि, जैन आचार-दर्शन मनुष्य जीवन के व्यावहारिक पक्ष की उपेक्षा करके नहीं चलता। जैनाचार्यों ने

१. प्रवचनसारोद्धार, २३९
२. इसके अर्थ के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है।
३. सागारधर्मामृत, अध्याय १

जीवन के व्यावहारिक पक्ष को गहराई से परखा है और उसे इतना सुसंस्कृत बनाने का प्रयास किया है कि जिसके द्वारा व्यक्ति इस जगत् में भी सफल जीवन जी सकता है। यही नहीं, इन सद्‌गुणों में से अधिकांश का सम्बन्ध हमारे सामाजिक जीवन से है। वैयक्तिक जीवन में इनका विकास सामाजिक जीवन के मधुर सम्बन्धों का सृजन करता है। ये वैयक्तिक जीवन के लिए जितने उपयोगी हैं, उससे अधिक सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक हैं। जैनाचार्यों के अनुसार ये आध्यात्मिक साधना के प्रवेशद्वार हैं। साधक इनका योग्य रीति से आचरण के बाद ही अणुव्रतों और महाव्रतों की साधना की दिशा में आगे बढ़ सकता है।

अणुव्रतसाधना

चारित्रिक या नैतिक साधना के मूल सिद्धान्त, जिन्हें जैन दर्शन 'व्रत', बौद्ध दर्शन 'शील' और योगदर्शन 'यम' कहता है, सभी साधकों के लिए चाहे वे गृहस्थ हों अथवा संन्यासी, समान रूप से आवश्यक है। ये साधना के सार्वभौमिक आधार हैं। देश, काल, व्यक्ति एवं परिवेश की सीमारेखा से परे हैं। हिंसा, मिथ्या-भाषण, चोरी आदि पाप-कर्म या दुष्कर्म हैं और वे पुण्य या कुशलकर्म नहीं कहला सकते। लेकिन साधनात्मक जीवन-पथ पर चलने की क्षमताएँ व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्न हो सकती है और ऐसी स्थिति में सभी के लिए साधना के समान-नियम प्रस्तुत नहीं किये जा सकते। एक श्रमण या संन्यासी अहिंसादिका परिपालन जिस पूर्णता से कर सकता है, उसी पूर्णता से एक गृहस्थ साधक के लिए अहिंसादि का परिपालन सम्भव नहीं है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है "अपना मनोबल, शारीरिक-शक्ति, श्रद्धा, स्वास्थ्य, स्थान और समय को ठीक तरह से परख कर ही अपने को किसी सद्‌कार्य में नियोजित करना चाहिए[1]" अतः जैनधर्म में साधना पथ पर आरूढ़ होनेवाले साधक को स्पष्ट निर्देश है कि वह अपनी क्षमता को तौलकर ही साधना-पथ में अग्रसर हो और साधना के नियमों को उतने ही अंश में स्वीकार करे जिनका परिपालन प्रामाणिकता पूर्वक कर सके। साधना के मार्ग में आत्मप्रवंचना (धोखादेही) और नियम-भंग स्वीकार नहीं किये जा सके। मनुष्य साधना के उन्हीं नियमों को स्वीकार करे जिनका आचरण यथोचित रूप में कर सके।

जैनागमों में हमें कहीं भी ऐसा निर्देश नहीं मिलता कि साधक को उसकी आन्तरिक अभिरुचि एवं इच्छा के विपरीत साधना के उच्चतम वर्ग में प्रविष्ट होने पर बल दिया गया हो। उपासकदशांगसूत्र में हम देखते हैं कि साधक आता है और उसे साधना की विभिन्न कक्षाओं के नियमोपनियमों से परिचित कराया जाता है और वह उनमें

---

१. दशवैकालिक ८।३५

से अपने सामर्थ्यानुकूल नियमोपनियमों को ग्रहण कर महावीर के साधना-पथ में प्रविष्ट हो जाता है। सारे जैनागम साहित्य में महावीर का एक भी वाक्यांश ऐसा नहीं जिसमें उन्होंने साधक को उसकी इच्छा के प्रतिकूल साधना मार्ग में प्रविष्ट होने के लिए कहा हो। उपासक आनन्द और महावीर का सम्वाद इस तथ्य को पुष्ट करता है। महावीर के उपदेश को सुनकर आनन्द कहता है—"भगवन्, मैं निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ—निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है, यथार्थ है. तथ्य है, मुझे अभीप्सित है, अभिप्रेत है। हे देवानुप्रिय, आपके पास अनेक राजा, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह मुण्डित होकर घर छोड़कर मुनि बने हैं किन्तु मैं उस प्रकार मुण्डित एवं प्रव्रजित होने में समर्थ नहीं हूँ। अतः हे देवानुप्रिय, में आपके पास गृहस्थ धर्म अंगीकार करना चाहता हूँ।" महावीर प्रत्युत्तर में कहते हैं—"हे देवानुप्रिय, जिस प्रकार सुख हो वैसा करो, लेकिन विलम्ब मत करो[1]।"

इस प्रकार जैनधर्म साधक को अपनी वैयक्तिक क्षमता और परिवेश की अनुकूलता के आधार पर ही साधना की गहराई में प्रविष्ट होने का निर्देश करता है। उसमें साधकों की वैयक्तिक क्षमताओं के अनुकूल साधना की विभिन्न कक्षाएँ निश्चित हैं। यद्यपि वैयक्तिक क्षमता तो प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न है, तथापि कुछ स्थितियों में उनका सामान्यीकरण किया जा सकता है। जैसे बौद्धिक क्षमता में वैयक्तिक विभिन्नताओं के होते हुए भी अध्यापन की दृष्टि से कक्षाएँ निश्चित की जाती हैं और विद्यार्थियों के वर्ग बनाये जाते हैं, वैसे ही साधनात्मक जीवन में वैयक्तिक भिन्नताओं के होते हुए भी सामान्यता के आधार पर साधना की दो प्रमुख कक्षाएँ मानी गयी हैं और साधकों के वर्ग बनाये गये हैं। जैन विचारणा में साधना की एक कक्षा श्रमण-धर्म कही जाती है और दूसरी गृहस्थधर्म। गृहस्थ साधना में भी दो स्थूल कोटियाँ हैं एक में वे साधक आते हैं जो मात्र श्रुत-धर्म की ही साधना करते हैं। ऐसा साधक जैन तत्त्वज्ञान को सत्य मानता है और उसपर श्रद्धा भी रखता है, लेकिन आचरण नहीं कर पाता है। वह यह तो जानता है कि शुभ क्या है और अशुभ क्या है? फिर भी वह स्वतः न तो अकुशल का परित्याग करता है और न कुशल का समाचरण। दूसरे गृहस्थ साधक वे हैं जो आंशिक रूप में सम्यक् चारित्र की साधना भी करते हैं। उनके लिए जैन विचारणा में ५ अणुव्रत और ७ शिक्षाव्रत ऐसी द्वादशी व्रतसाधना का विधान है। श्रमण साधक के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रत कहे जाते हैं क्योंकि श्रमण साधक को इनका पूर्ण रूप में पालन करना होता है। लेकिन गृहस्थ साधक के ये व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं क्योंकि गृहस्थ इनका परिपालन आंशिक रूप में करता है। महाव्रत की प्रतिज्ञा पूर्ण एवं निरपेक्ष होती है, जबकि अणुव्रत की प्रतिज्ञा सापेक्ष एवं परिसीमित

१. उपासक दशांग, १।१२

होती है। आचार्य उमास्वाति के अनुसार अल्प अंश में विरति अणुव्रत है और सर्वांश में विरति महाव्रत है।[1]

श्रावक की व्रत-विवेचना में श्वेताम्बर तथा दिगम्बर परम्पराओं का मतभेद—श्रावक के १२ व्रतों की संख्या के सम्बन्ध में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्पराएँ एकमत हैं। श्रावक के इन १२ व्रतों का विभाजन निम्न रूप में हुआ है—पाँच अणुव्रत, तीन गुण-व्रत और चार शिक्षाव्रत। श्वेताम्बर आगम उपासकदशांग में ५ अणुव्रतों और ७ शिक्षाव्रतों का उल्लेख है। गुणव्रतों का शिक्षाव्रतों में ही समावेश कर लिया गया है। पाँच अणुव्रतों के नाम एवं क्रम के सम्बन्ध में भी मतैक्य है, लेकिन तीन गुणव्रतों में नाम की एकरूपता होते हुए भी क्रम में अन्तर है। श्वेताम्बर परम्परा में उपभोग-परि-भोगव्रत का क्रम सातवाँ और अनर्थदण्ड विरमणव्रत का क्रम आठवाँ है, जबकि दिगम्बर परम्परा में अनर्थदण्ड सातवाँ और उपभोगपरिभोगव्रत आठवाँ है। दोनों परम्पराओं में महत्वपूर्ण अन्तर शिक्षाव्रतों के सम्बन्ध में है। श्वेताम्बर परम्परा में शिक्षाव्रतों का क्रम इस प्रकार से है[2]—९. सामायिकव्रत, १०. देशावकाशिकव्रत, ११. पौषधव्रत, १२. अतिथिसंविभाग व्रत। दिगम्बर परम्परा का क्रम इस प्रकार है[3]—९. सामायिकव्रत १०. पोषधव्रत, ११. अतिथिसंविभागव्रत, १२. संलेषणाव्रत। दिगम्बर परम्परा में देशाव-काशिक और पोपधव्रत को एक में मिला लिया गया है तथा उस रिक्त संख्या की पूर्ति संलेषणा का व्रत में समावेश करके की गयी है। श्वेताम्बर आचार्य विमलसूरि ने पउम चरियं में कुन्दकुन्द के अनुरूप ही विवेचन किया है। तत्त्वार्थसूत्र की श्वेताम्बर-परंपरा के नामों से संगति है, मात्र क्रम का अन्तर है। उसमें श्वेताम्बर परम्परा के १० वें देशावकाशिकव्रत को दूसरा गुणव्रत मानकर ७वाँ स्थान दिया गया है तथा श्वेताम्बर-परम्परा के ७ वें उपभोगपरिभोगव्रत को तीसरा शिक्षाव्रत मानकर ११ वाँ स्थान दिया गया है तथा श्वेताम्बर-परम्परा के ११ वें पौषधव्रत को दूसरा शिक्षाव्रत मानकर १०वाँ स्थान दिया गया है।[4] दिगम्बर परम्परा में इस सम्बन्ध में और भी आंतरिक मतभेद है जिनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि, इस सबके आधार पर नैतिक व्यवस्था के मौलिक स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता है।

पाँच अणुव्रत

१. अहिंसाणुव्रत

गृहस्थ का प्रथम व्रत अहिंसा-अणुव्रत है जिसमें गृहस्थ साधक स्थूल हिंसा से विरत

---

१. तत्त्वार्थसूत्र ७।२।

२. श्वेताम्बर परम्परा का आधार—१. उपासकदशांग, २. योगशास्त्र ३. प्रतिक्रमणसूत्र।

३. दिगम्बर परम्परा का आधार—१. चरित्रपाहुड—कुन्दकुन्द।

४. तत्वार्थसूत्र ७।१६।

होता हैं । इसी कारण इसका एक नाम 'स्थूल प्राणातिपातविरमण' भी है। उपासक-दशांग सूत्र में अहिंसाणुव्रत का प्रतिज्ञा सूत्र इस प्रकार है "स्थूल प्राणातिपात का शेष समस्त जीवन के लिए मन, वचन, कर्म से त्याग करता हूं, न मैं स्वतः स्थूल प्राणातिपात करूँगा और न दूसरों से कराऊँगा।" प्रतिक्रमणसूत्र में यही प्रतिज्ञासूत्र अधिक स्पष्ट रूप में इस प्रकार है, "मैं किसी भी निरपराध-निर्दोष स्थूल त्रस प्राणी को जान-बूझकर संकल्प पूर्वक मन-वच-कर्म से न तो स्वयं हिंसा करूँगा और न कराऊँगा।"[1]

निष्कर्ष यह निकलता है कि गृहस्थ साधक को निरपराध त्रस प्राणी की संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा से विरत होना होता है। इस प्रतिज्ञा के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के आधार पर हमें जैन गृहस्थ के अहिंसाणुव्रत के स्वरूप का यथार्थ बोध हो जाता है। १. जैनाचार दर्शन में गृहस्थ साधक के लिए स्थूल हिंसा का निषेध किया गया है। प्राणी दो प्रकार के हैं—एक स्थूल और दूसरे सूक्ष्म। सूक्ष्म प्राणी चक्षु आदि से जाने नहीं जा सकते हैं अतः गृहस्थ साधक को मात्र स्थूल प्राणियों की हिंसा से बचने का आदेश है। स्थूल शब्द का लाक्षणिक अर्थ हैं मोटे रूप से। जहाँ श्रमण साधक के लिए अहिंसा व्रत का परिपालन अत्यन्त चरम सीमा तक या सूक्ष्मता के साथ करना अनिवार्य है, वहाँ गृहस्थ साधक के लिए अहिंसा की मोटी-मोटी बातों के परिपालन का ही विधान है। कुछ आचार्यों ने स्थूल हिंसा को त्रस प्राणियों की हिंसा माना है।

जैन तत्त्वज्ञान में प्राणियों का स्थावर और त्रस ऐसा द्विविध वर्गीकरण है। जिन प्राणियों में स्वेच्छानुसार गति करने का सामर्थ्य होती हैं वे 'त्रस' कहे जाते हैं और जो स्वेच्छानुसार गति करने में समर्थ नहीं हैं ऐसे प्राणी स्थावर कहे जाते हैं जैसे पृथ्वी, जल अग्नि, वायु और वनस्पति का शरीर धारण करने वाले। इन्हें एकेन्द्रिय जीव भी कहते हैं, क्योंकि इनमें मात्र स्पर्श नामक एक और प्रथम इन्द्रिय ही होती है। शेष रसना एवं स्पर्श ऐसी दो इंद्रियों वाले प्राणी जैसे लट आदि, रसना-स्पर्श एवं नासिका ऐसी तीन इन्द्रियों वाले प्राणी जैसे चीटी आदि, स्पर्श, रसना, नासिका एवं चक्षु ऐसी चार इंद्रियों वाले वर्र आदि और स्पर्श, रसना, नासिका, चक्षु और कर्ण ऐसी पाँच इन्द्रियोंवाले पशु पक्षी एवं मनुष्यादि त्रस जीव है। गृहस्थ साधक इन त्रस जीवों की हिंसा का परित्याग करता है। जबकि श्रमण साधक त्रस और स्थावर सभी प्रकार के प्राणियों की हिंसा का परित्याग करता है, गृहस्थ साधक भोजन आदि के पकाने तथा आजीविका उपार्जन आदि कार्यों में एकेन्द्रिय स्थावर प्राणी हिंसा से बच नहीं सकता, अतः उसके लिए त्रस प्राणियों की हिंसा का परित्याग कर देना ही पर्याप्त समझा गया।

---

१. उपासकदशांग, १-१३।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या गृहस्थ साधक के लिए स्थावर प्राणियों की हिंसा से निवृत्त होने का कोई विधान नहीं है ? बात ऐसी नहीं है। हिंसा अशुभ है फिर वह स्थावर प्राणियों की हो अथवा त्रस प्राणियों की। और जो अशुभ है वह परित्याज्य है ही। गृहस्थ साधक के लिए स्थावर प्राणियों की हिंसा का जो निषेध नहीं किया गया है इसका कारण इतना ही है कि गृहस्थ अपने गृहस्थ जीवन में इससे पूर्णतया बच नहीं सकता। उसमें उसे जो छूट दी गई है उसका मात्र अभिप्राय यही है कि वह अपनी पारिवारिक जीवन-चर्या का निर्वाह कर सके। गृहस्थ साधक को भी अनावश्यक रूप में स्थावर प्राणियों की हिंसा करने का तो निषेध ही किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं—"अहिंसा धर्म का ज्ञाता और मुक्ति का अभिलाषी श्रावक स्थावर जीवों की भी निरर्थक हिंसा नहीं करे।[1]

जैनाचार दर्शन में गृहस्थ त्रस प्राणियों की हिंसा से निवृत्त होने के लिए भी जो प्रतिज्ञा लेता है, वह सशर्त है। उसकी दो शर्तें हैं—प्रथम तो यह कि वह मात्र निरपराध त्रस प्राणियों की हिंसा का परित्याग करता हैं, सापराधी त्रस प्राणी की हिंसा का नहीं। दूसरे वह संकल्पपूर्वक त्रस हिंसा का प्रत्याख्यान करता है, बिना संकल्प के हो जाने वाली त्रस हिंसा का नहीं। सापराधी वह प्राणी हैं जो हमारे शरीर, परिवार, समाज अथवा हमारे आश्रित प्राणी का कोई अनिष्ट करना चाहता है अथवा करता है। अन्यायी एवं आक्रमणकारी व्यक्ति अपराधी है। गृहस्थ साधक ऐसे प्राणियों की हिंसा से विरत नहीं होता। अन्याय के प्रतिकार और आत्म-रक्षा के निमित्त यदि त्रस हिंसा अनिवार्य हो तो ऐसा कर गृहस्थ साधक अपने साधन पथ से विचलित नहीं होता। महाराजा चेटक और मगधाधिपति अजातशत्रु (कुणिक) के युद्ध प्रसंग को लेकर स्वयं महावीर ने अन्याय के प्रतिकार के निमित्त की गई हिंसा के आधार पर महाराज चेटक को आराधक माना, विराधक नहीं। अन्यायी और आक्रमणकारी के प्रति की गई हिंसा से गृहस्थ का अहिंसा व्रत खण्डित नहीं होता है, ऐसा जैन ग्रन्थों में विधान है। निशीथ-चूर्णि तो यहां तक कहती है कि ऐसी अवस्था में गृहस्थ का तो क्या, साधु का भी व्रत खण्डित नहीं होता है। इतना नहीं, अन्याय का प्रतिकार न करनेवाला साधक स्वयं दण्ड (प्रायश्चित) का भागी बनता है।

वस्तुतः गृहस्थ साधक के लिए जिस हिंसा का निषेध किया गया है वह है—"संकल्पयुक्त त्रस प्राणियों की हिंसा"। चाहे आजीविका उपार्जन का क्षेत्र हो, चाहे वह जीवन की सामान्य आवश्यकताओं के सम्पादन का क्षेत्र हो अथवा स्व एवं पर के रक्षण का क्षेत्र हो—संकल्पपूर्वक त्रस प्राणियों की हिंसा तो गृहस्थ साधक के लिए

---

१. योगशास्त्र, २।२१।

अविहित ही है। लेकिन हमें स्मरण रखना चाहिए कि जिस प्रकार कृषि कर्म या अन्य उद्योगों में हिंसा के संकल्प के अभाव में भी त्रस हिंसा हो जाती है, उसी प्रकार एक सच्चे साधक के आत्मरक्षा के प्रयास में भी हिंसा का संकल्प नहीं होता है—वह हिंसा करता नहीं है, मात्र हिंसा हो जाती है और इसीलिए यह नहीं माना जाता कि उसका व्रतभंग हुआ है। गृहस्थ जीवन के समग्र क्षेत्रों में की जानेवाली त्रस हिंसा का त्यागी होता है, लेकिन हो जानेवाली त्रस हिंसा का त्यागी नहीं होता है। गृहस्थ साधक के लिए हिंसा अहिंसा की विवक्षा में "संकल्प" की ही प्रमुखता है।

गृहस्थ साधक अहिंसाणुव्रत में त्रस प्राणियों की संकल्पजन्य हिंसा से विरत होता है। अतः संकल्पाभाव में आजीविकोपार्जन, व्यापार एवं जीवन रक्षण के क्षेत्र में हो जानेवाली हिंसा से उसका व्रत दूषित नहीं होता। (अ) अपने व्यावसायिक एवं औद्योगिक क्षेत्र में वह संकल्पपूर्वक त्रस प्राणियों की हिंसा से विरत तो होता है, लेकिन व्यावसायिक या औद्योगिक क्रियाओं के सम्पादन में सावधानी रखते हुए भी यदि त्रस प्राणियों की हिंसा हो जाती है जैसे खेत खोदते समय किसी प्राणी की हिंसा हो जाय तो ऐसी हिंसा से उनका व्रत दूषित नहीं होता है।[1] (ब) जीवन की सामान्य कियाएँ जैसे भोजन बनाना, स्नान करना आदि में भी सावधानी रखते हुए यदि त्रस प्राणियों की हिंसा हो जावे तो भी व्रतभंग नहीं होता है। (स) शरीर रक्षा, आत्मरक्षा एवं आश्रितों की रक्षा के निमित्त से होने वाली हिंसा से भी उसका व्रत भंग नहीं होता।

गृहस्थ साधक को अहिंसा अणुव्रत का सम्यक् पालन करने की दृष्टि से निम्नांकित दोषों से बचना चाहिए।[2]

१. **बन्धन**—प्राणियों को कठोर बन्धन से बांधना, पशुपक्षियों को पींजरे में डालना अथवा उन्हें अपने इष्ट स्थान पर जाने से रोकना। अधीनस्थ कर्मचारियों को निश्चित समयावधि से अधिक समय तक रोककर कार्य लेना भी एक प्रकार का बन्धन ही है।

२. **वध**—प्राणियों को लड़की, चाबुक आदि से पीटना अथवा ताडना देना अथवा अन्य किसी प्रकार से उनपर घातक प्रहार करना आदि।

३. **छविच्छेद**—छविच्छेद का अर्थ है अंगोपांग काटना, अंगों का छेदन करना, खस्सीकरण करना। छविच्छेद का लाक्षणिक अर्थ वृतिच्छेद भी होता है। किसी प्राणी की जीविकोपार्जन में बाधा उत्पन्न करना वृत्तिछेद है। किसी की आजीविका छीन लेना, उचित पारिश्रमिक से कम देना आदि अहिंसा के साधक के लिए अनाचरणीय है।

४. **अतिभार**—प्राणियों पर शक्ति से अधिक बोझ लादना अथवा शक्ति से अधिक काम लेना अतिभार है। जैन नैतिकता की दृष्टि में अधीनस्थ कर्मचारियों एवं पशुओं से उनकी सामर्थ्य एवं सीमा से अधिक काम लेना भी अनैतिक आचरण है।

---

१. भगवतीसूत्र, शतक ७, उ० १   २. उपासकदशांग, १।४१

५. **भोजन-पानी का निरोध**—अधीनस्थ पशुओं एवं कर्मचारियों अथवा पारिवारिक जनों को समय पर एवं आवश्यक मात्रा में भोजन, पानी आदि जीवन की आवश्यक वस्तुएँ नहीं देना भी अहिंसाव्रती गृहस्थ के लिए नैतिक अपराध है।

२. सत्य-अणुव्रत

स्थूल असत्य से विरति जैन गृहस्थ का सत्याणुव्रत है। गृहस्थ साधक असत्य से विरत होने के हेतु प्रतिज्ञा करता है कि "मैं स्थूल मृषावाद का यावत् जीवन के लिए मन, वचन, और काय से त्याग करता हूं, मैं न स्वयं मृषा (असत्य) भाषण करूँगा, न अन्य से कराऊँगा"[1] प्रस्तुत प्रतिज्ञा में स्थूल मृषावाद का त्याग गृहस्थ साधक से अपेक्षित है, लेकिन स्थूल मृषावाद या बड़ी झूठ किसे कहना यह निश्चित करना कठिन है। श्रावक प्रतिक्रमणसूत्र में सत्याणुव्रत की प्रतिज्ञा में जो संकेत मिलता है, उसके आधार पर स्थूल असत्य का कुछ स्वरूप सामने आ जाता है। वहाँ पर निम्न पाँच स्थूल असत्य[2] निरूपित हैं—

१. वर-कन्या के सम्बन्ध में झूठी जानकारी देना।
२. गौ आदि पशुओं के सम्बन्ध में झूठी जानकारी देना या असत्य भाषण करना।
३. भूमि के सम्बन्ध में असत्य भाषण करना।
४. किसी की अमानत (धरोहर) को दबाने के लिए झूठ बोलना।
५. झूठी साक्षी देना।

आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने योगशास्त्र में इन्हीं पाँच बातों को यथाक्रम (१) कन्या लीक, (२) गो-अलीक, (३) भूमि-अलीक, (४) न्यासापहार और (५) कूट-साक्षी ऐसे पाँच स्थूल असत्य बताये हैं। ये सभी लोक विरुद्ध हैं, विश्वासघात के जनक हैं और पुण्य नाशक हैं, अतः श्रावक को स्थूल असत्य से बचना चाहिए।[3]

स्थूल मृषावाद की व्यापक परिभाषा के विषय में मुनि सुशीलकुमारजी लिखते हैं, "यद्यपि स्थूल असत्य और सूक्ष्म असत्य की कोई निश्चित परिभाषा देना कठिन है, तथापि जिस असत्य को दुनिया असत्य मानती है, जिस असत्य भाषण से मनुष्य झूठा कहलाता है, जो लोक निन्दनीय और राज दण्डनीय है, वह असत्य स्थूल असत्य है, श्रावक ऐसे स्थूल असत्य भाषण का त्याग करता है। झूठी साक्षी देना, झूठा दस्तावेज लिखना, किसी की गुप्त बात प्रकट करना, चुगली करना, गलत रास्ते पर ले जाना, आत्मप्रशंसा और परनिन्दा करना आदि स्थूल मृषावाद में सम्मिलित है।[4]

---

१. उपासकदशांग १।१४।
२. श्रावकप्रतिक्रमण, दूसरा अणुव्रत।
३. योगशास्त्र २५४–५५।
४. जैनधर्म, पृ० १८७।

उपासकदशांग सूत्र में महावीर ने सत्याणुव्रत के पाँच अतिचारों[1] से बचते रहने का निर्देश किया है। गृहस्थ साधक इन दोषों को जानकर कदापि इनका आचरण न करे—

१. दूसरे पर झूठा आरोप लगाना अथवा बिना पूर्व-विचार के मिथ्या दोषारोपण करना—जैसे 'तू चोर है'। जो दोषारोपण बिना विचार के सहसा किया जाता है, वह अतिचार की कोटि में आता है। लेकिन यदि साधक दुर्भावनापूर्वक दोषारोपण करता है तो ऐसा दोष अनाचार की कोटि में आता है[2]। ऐसे साधक का व्रत खण्डित हो जाता है, वह साधना से च्युत माना जाता है। हास्यादि में अविवेकपूर्वक किया गया दोषारोपण भी अनैतिक है।

२. रहस्य प्रकट कर देना अथवा गोपनीयता भंग कर देना। आज भी राजकीय कर्मचारियों को गोपनीयता की शपथ दिलवाई जाती है और उसका भंग कर देना, अपराध है। जैनदर्शन भी किसी की गोपनीयता भंग करने को दोष मानता है। ऐसा करना विश्वासघात है। कुछ आचार्य गण मूल प्राकृत शब्द 'रहसा अब्भक्खाणे' का अर्थ 'किसी आधार को देखकर दोषारोपण करना' ऐसा मानते हैं, जैसे कुछ लोगों को एकान्त में बैठा देखकर उनपर षड़यन्त्र करने का आरोप लगाना।

३. **स्वदार-मन्त्रभेद**—अपनी स्त्री की गुप्त बातों को प्रकट करना। अनेक ऐसी पारिवारिक घटनाएँ होती हैं जिनका प्रकटन उचित नहीं होता।

४. **मृषोपदेश**—गलत मार्गदर्शन करना। इसके तीन रूप हैं—(अ) हम जिन तथ्यों के हिताहित या सत्यासत्य को नहीं जानते उनके सम्बन्ध में स्वतः के अनिश्चित होने पर भी दूसरे को सलाह देना। (ब) किसी बात की हानिप्रदता और असत्यता का ज्ञान होने पर भी दूसरे को उस ओर प्रवृत्त करना। (स) किसी बात के वस्तुतः मिथ्या और अकल्याणकर होने पर भी अज्ञानवश उसे सत्य एवं कल्याणकारी मानते हुए दूसरों को उसमें प्रवृत्त कराना।

व्याख्याकारों की दृष्टि में तीसरा रूप दूसरे व्रत की दृष्टि से दोषपूर्ण नहीं हैं, उसमें मात्र ज्ञानाभाव है। जबकि दूसरा रूप साक्षात् धोखा है, अनाचार है, उससे तो सत्य व्रत ही खण्डित हो जाता है। अतः मृषोपदेश का पहला रूप ही अतिचार हैं जिसके सम्बन्ध में साधक हो सजग रहना चाहिए।

५. **कूटलेखकरण**—झूठे दस्तावेज लिखना, झूठे लेख लिखना, नकली मुद्रा (मोहर) बनाना या जाली हस्ताक्षर करना। ऐसे कार्य यदि विवेकहीनता, असावधानी और

---

१. उपासकदशांग १।४२। २. उपासकदशांगवृत्ति, १।४२।

बिना दुर्भावना के किये जाते हैं तो भी वे व्रत के दोष हैं, लेकिन यदि दुर्भावनापूर्वक अहित बुद्धि से एवं स्वार्थ साधन के निमित्त किये जाते हैं तो वे अनाचार बन जाते हैं और ऐसा गृहस्थ साधना से पतित हो जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र (७।२१) में दूसरे व्रत के निम्न पाँच अतिचार हैं—१. मिथ्योपदेश, २. असत्य दोषारोपण, ३. कूटलेखक्रिया, ४. न्यास अपहार और ५. मंत्रभेद—गुप्त बात प्रकट करना।

३. आचार्य-अणुव्रत

गृहस्थ का तीसरा व्रत अचौर्याणुव्रत हैं। इसमें गृहस्थ साधक स्थूल चोरी से विरत होता है। वह प्रतिज्ञा करता है कि स्थूल चोरी का परित्याग करता हूँ, यावज्जीवन मन-वच-कर्म से न तो स्थूल चोरी करूँगा, न कराऊँगा। प्रतिक्रमणसूत्र में स्थूल चोरी के निम्न रूप कहे गये हैं—(१) खात खनना—सेंध लगाकर वस्तुएँ ले जाना, (२) गाँठ काटना—अर्थात् बिना पूछे किसी की गाँठ खोलकर वस्तुएँ निकाल लेना, वर्तमान युग में जेब काटने की क्रिया का समावेश इसी में है, (३) ताला तोड़कर या दूसरी चाभी लगा कर वस्तुएँ चुरा लेना, (४) अन्य दूसरे साधनों के द्वारा वस्तु के स्वामी की स्वीकृति बिना वस्तु का ग्रहण करना भी चोरी है।

स्थूल और सूक्ष्म चोरी का अन्तर इस प्रकार जाना जा सकता है, जैसे रास्ते चलते हुए कोई तिनका या कंकर उठा लेना अथवा घूमते हुए उद्यान में से कोई फूल तोड़ लेना आदि क्रियाएँ स्थूल दृष्टि से चोरी न होते हुए भी सूक्ष्म दृष्टि से चोरी ही है। मुनि सुशीलकुमारजी कहते हैं कि जिस चोरी के कारण मनुष्य चोर कहलाता है, न्यायालय में दण्डित होता है और जो चोरी लोक में चोरी के नाम से विख्यात है, वह स्थूल चोरी है। इस प्रकार गृहस्थ के लिए सामाजिक दृष्टि से या वैधानिक दृष्टि से चोरी समझी जाने वाली ऐसी बड़ी चोरी का परित्याग आवश्यक माना गया। जैन गृहस्थ के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं है कि वह स्थूल चोरी से बचता रहे, वरन् यह भी आवश्यक है कि वह उन कृत्यों के प्रति भी सावधान रहे जो प्रकट में चोरी नहीं दीखते हुए भी चोरी के ही रूप हैं, अतः अस्तेयव्रत की सुरक्षा के निमित्त साधक को उन्हें भी छोड़ देना चाहिए। उपासकदशांगसूत्र में ऐसे अतिचार ५ बताये गये हैं[1]—

१. **स्तेनाहृत**—चोर के द्वारा चोरी की गयी वस्तु को खरीदना या अपने घर में रखना। चोरी का माल खरीदना चोरी करने के समान ही दूषित प्रवृत्ति है।

२. **तस्करप्रयोग**—व्यक्तियों को रखकर उनके द्वारा चोरी, ठगी आदि करवाना अथवा चोरों को चोरी करने में विभिन्न प्रकार से सहयोग देना।

---

१. उपासकदशांग १।४३।

३. **विरुद्ध राज्यातिक्रम**—राजकीय नियमों का उल्लंघन करना, राजकीय आदेशों के विपरीत वस्तुओं का आयात-निर्यात करना तथा समुचित राजकीय कर का भुगतान नहीं करना। कुछ विचारकों की दृष्टि में विरुद्ध राज्यातिक्रम का अर्थ है परस्पर विरोधी राजाओं की राजकीय सीमा का उल्लंघन कर दूसरे की सीमा में जाना। मेरी दृष्टि में इसका तात्पर्य विरोधी राज्यों में जाकर गुप्तचर का काम करना है, क्योंकि यह भी एक प्रकार की चोरी है। दूसरे इसका तात्पर्य यह भी हो सकता है निश्चित सीमातिक्रमण के द्वारा दूसरे राज्यों की भूमि हड़पने का प्रयास करना अथवा बिना दूसरे राजा की अनुमति के उसके राज्य में प्रवेश करना।

४. **कूटतुला-कूटमान**—न्यूनाधिक मापतौल करना—मापतौल में बेईमानी करना भी एक प्रकार की चोरी है और गृहस्थ साधक को न्यूनाधिक मापतौल नहीं करते हुए प्रामाणिक मापतौल करना चाहिए।

५. **तत्प्रतिरूपक व्यवहार**—वस्तुओं में मिलावट करना-अच्छी वस्तु बताकर बुरी वस्तु देना। गृहस्थ साधक के लिए अशुद्ध वस्तुएँ बेचना निषिद्ध माना गया है। व्यापार में इस प्रकार की अप्रामाणिकता नैतिक विकास की सबसे बड़ी बाधा है।

४. ब्रह्मचर्याणुव्रत (स्वदारसन्तोष व्रत)

जैन साधना में जहाँ श्रमण साधक पूर्ण ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर स्त्री-पुरुष सम्बन्धी काम क्रिया से पूर्णतया विरत हो जाता है, वहाँ गृहस्थ के लिए कम-से-कम इतना तो आवश्यक माना गया है कि यदि वह अपनी भोगलिप्सा का पूरी तरह त्याग न कर सके तो उसे स्वपत्नी तक सीमित रखे एवं सम्भोग की मर्यादा बांधे। स्वपत्नीसन्तोषव्रत का प्रतिज्ञासूत्र उपासकदसांग में इस प्रकार है, 'मैं स्वपत्नीसन्तोषव्रत ग्रहण करता हूं (—) नामक पत्नी के अतिरिक्त अवशिष्ट मैथुन का त्याग करता हूँ।'

इस व्रत की प्रतिज्ञा स्पष्ट ही है, लेकिन पूर्वोक्त अणुव्रतों की अपेक्षा इसमें विशिष्टता यह है कि जहाँ उन व्रतों की प्रतिज्ञा में करण और योग का उल्लेख किया गया है, वहाँ इस व्रत की प्रतिज्ञा में उनका उल्लेख नहीं है। टीकाकार दृष्टि में इसका कारण यह हो सकता है कि गृहस्थ जीवन में सन्तान आदि का विवाह कराना आवश्यक होता है। इसी प्रकार पशु-पालन करनेवाले गृहस्थ के लिए उनका भी परस्पर सम्बन्ध कराना आवश्यक हो जाता है, अतः इसमें दो करण और तीन योग न कहकर श्रावक को अपनी परिस्थिति एवं सामर्थ्य पर छोड़ दिया गया है। फिर भी इतना तो निश्चित ही है कि गृहस्थ साधक को एक करण और एक योग से अर्थात् अपनी काया से स्वपत्नी के अतिरिक्त शेष मैथुन का परित्याग करना होता है। स्वपत्नीसन्तोषव्रती को निम्न पाँच दोषों से बचने का विधान है[1]—

---

१. उपासकदशांग १।४४।

अनेक बार किया जा सके, जैसे वस्त्र, शय्या आदि।[1] प्रतिक्रमणसूत्र के अनुसार गृहस्थ साधक को उपभोग-परिभोग की निम्न २६ वस्तुओं का परिमाण और प्रकार निश्चित करना होता है[2]—(१) उद्रवणिकाविधि–स्नान के पश्चात् भीगे हुए शरीर को पोछने के वस्त्र (तौलिये) का प्रकार और संख्या, (२) दंतधावन की वस्तुओं की संख्या और प्रकार जैसे–नीम, बबूल या मुलहटी, (३) फलविधि–केश और नेत्र आदि धोने के लिए विशेष प्रकार का फल जैसे आनन्द श्रावक ने बिना गुठली के आँवलों की मर्यादा की थी। (४) अभ्यंगनविधि—मालिश के काम आने वाले तेलों की संख्या और मात्रा। (५) उद्वर्तनविधि–पीठी या उबटन का प्रकार और परिमाण, (६) स्नानविधि–स्नान के लिए पानी की मात्रा, (७) वस्त्रविधि–पहनने के वस्त्रों का प्रकार जैसे ऊनी, सूती, रेशमी तथा उनकी संख्या, (८) विलेपनविधि–शरीर पर लेप करने की वस्तुएँ जैसे अगर चन्दन, कुंकुम आदि उनकी संख्या, (९) पुष्प-विधि–माला और सूंघने के पुष्पों के प्रकार जैसे–चमेली, मोगरा आदि। (१०) आभरणविधि—आभूषणों के प्रकार एवं संख्या। (११) धूपविधि—उन वस्तुओं की संख्या एवं मात्र जिन्हें जलाकर कमरों को सुगन्धित किया जाता है। (१२) पेय—पेय पदार्थ जैसे–शर्बत आदि के प्रकार एवं मात्रा। (१३) भोजन—विभिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थों में से स्वतः के भोजन के उपयोग के लिए भोज्य पदार्थों की संख्या एवं मात्रा की मर्यादा। (१४) ओदन—चावलों के प्रकार एवं मात्रा। (१५) सूप—दालों की संख्या एवं मात्रा। (१६) विगय—दही, तेल, घृत आदि के प्रकार एवं मात्रा। (१७) शाक—बथुआ, पालक आदि शाकों के प्रकार एवं मात्रा। (१८) माधुरक—मीठे फल, सूखा मेवा, बदाम आदि के प्रकार एवं मात्रा। (१९) जेमन—दहीबड़े, पकौड़े आदि चरकी फरफरी वस्तुओं के प्रकार और मात्रा। (२०) पानी—पीने के पानी का परिमाण एवं प्रकार। (२१) मुखवास–ताम्बूल इलायची, लवंग, पान, सुपारी आदि के प्रकार एवं मात्रा। (२२) वाहन—घोड़ा, गाड़ी नाव, जहाज आदि सवारी के साधनों की जातियाँ एवं संख्या। (२३) उपानह–जूते, पगरखी, मौजे आदि की जाति एवं संख्या। (२४) सचित्त—अन्य सचित्त वस्तुओं की जाति एवं परिमाण। (२५) शयन—शय्या, पलंग आदि के प्रकार एवं संख्या। (२६) द्रव्य—अन्य वस्तुओं की जाति एवं मात्रा। स्मरण रहे कि एक प्रकार के पदार्थो से बनी हुई वस्तुएँ भी अपने स्वाद के परिवर्तन के आधार पर अलग अलग वस्तुओं में

---

१. टिप्पणी—उपभोग और परिभोग के उपर्युक्त अर्थ भगवतीसूत्र, शतक ७ उद्देशक २ में तथा हरिभद्रीयावश्यक अ० ६ सू ७ में है लेकिन उपासकदशांगसूत्र की टीका में अभयदेव ने उपर्युक्त अर्थ के साथ साथ इसका विपरीत अर्थ भी दिया है।

२. उपासकदशांगसूत्र के प्रथम अध्याय में इनमें से केवल २१ वस्तुओं का निर्देश मिलता है। (देखिए उपासकदशांग १।२२-३८।

गिनी जाती हैं। जैसे गेहूँ एवं घी से बनी रोटी, पूड़ी, पराठे, आदि। उपभोग परिभोग व्रत के भोजनादि के अपेक्षा से ५ अतिचार हैं[1]-(१) मर्यादा उपरान्त सचित्त (सजीव) वस्तु का आहार। (२) सचित्त-प्रतिबद्धाहार। (३) अपक्वाहार—कच्ची वनस्पति अथवा बिना पके हुए अन्नादि का आहार। (४) दुष्पक्वाहार—पूरी तरह न पकी हुई वस्तुएँ खाना। (५) तुच्छौषधि भक्षणता—ऐसे पदार्थों का भक्षण करना जो खाने योग्य नहीं हो अथवा जिनमें खाने योग्य भाग अत्यल्प और फेंकने योग्य भाग बहुत अधिक हो।

निषिद्ध व्यवसाय—उपभोग परिभोग के लिए धनार्जन आवश्यक है। यदि धनार्जन या व्यवसाय प्रणाली अशुद्ध है तो उपभोग-परिभोग की शुद्धता एवं सम्यक्ता भी दूषित हो जाती है, अतः जैन विचारकों ने न केवल आहार विहार की सम्यक्ता एवं संयम पर जोर दिया, वरन् आजीविका-उपार्जन की शुद्धि पर भी पर्याप्त जोर दिया है। आजीविकोपार्जन एवं उपभोग-परिभोग का सम्बन्ध अत्यन्त निकट का है। इस तथ्य को दृष्टि में रखकर जैन विचारकों ने उपभोग-परिभोग-व्रत का निरूपण दो प्रकार से किया है। एक भोजनसम्बन्धी और दूसरा व्यवसाय सम्बन्धी।

आजीविका के निमित्त किये जानेवाले व्यवसायों में १५ प्रकार के व्यवसाय गृहस्थ साधक के लिए निषिद्ध हैं[2]—

अङ्गार कर्म—कोयले बनाने का व्यवसाय, यद्यपि उपासकदशांगसूत्र में अंगार कर्म में केवल कोयले का व्यवसाय ही वर्णित है, तथापि कुछ टीकाकार आचार्यों ने ईंट पकाने आदि के व्यवसाय को भी उसमें सम्मिलित किया है।[3] कुछ व्याख्याकारों की दृष्टि में इसमें कुम्हार, सुनार, लोहार, हलवाई, भड़भूजा आदि के ऐसे समस्त व्यवसाय समाविष्ट हैं जिनमें अग्नि को प्रज्ज्वलित करके उसकी सहायता से आजीविकोपार्जन किया जाता है।[4] लेकिन मेरी दृष्टि में सूत्रकार के आशय को अधिक दूरी तक खींचना समुचित नहीं है, क्योंकि उसी सूत्र में सकडालपुत्र नामक कुम्भकार को, जो कुम्हार के व्यवसाय से ही आजीविकोपार्जन करता था, १२ व्रतधारी में एक प्रमुख श्रावक कहा गया है। इसका अर्थ जंगलों में आग लगाकर उन्हें साफ करना भी हो सकता है, क्योंकि उस युग में जन-संख्या के विस्तार से नयी कृषि भूमि की आवश्यकता हुई होगी और लोग आग लगाकर वनों को साफ करके अपने लिए कृषि भूमि प्राप्त करते होंगे।

२. **वन कर्म**—जंगल कटवाने का व्यवसाय-वृत्तिकार ने बीजपेषण अर्थात् चक्की चलाना आदि धन्धे भी इसी में सम्मिलित किये हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में बगीचे लगाकर फल-फूल अथवा शाक-सब्जी आदि के व्यवसाय को भी इसमें सम्मिलित

---

१. उपासकदशांगसूत्र, १।४७।
२. वही, ।१।४७।
३. देखिए—उपासक अभयदेववृत्ति, १।४७।
४. योगशास्त्र, ३।१०१।

किया है,[1] लेकिन यह अर्थ समुचित नहीं है। मेरी दृष्टि में वन-कर्म का अर्थ वनों को काटकर आजीविकोपार्जन करने से है।

३. **शकट कर्म (साडी कम्म)**—शकट अर्थात् बैलगाड़ी, रथ आदि बनाकर बेचने का व्यवसाय। कुछ विचारक मूल प्राकृत शब्द 'साडीकम्मे' का अर्थ वस्तुओं को सड़ाकर बेचने का व्यवसाय भी करते हैं।[2] अर्थात् ऐसे व्यवसाय जिनमें वस्तुओं को सड़ाकर धनार्जन किया जाता है, जैसे शराब बनाना। मेरी दृष्टि में यह दूसरा अर्थ ही उचित है।

४. **भाटक कर्म**—बैल, अश्व आदि पशुओं को किराये पर चलाने का व्यवसाय करना।

५. **स्फोटी कर्म**—खान खोदना या पत्थर फोड़ने का व्यवसाय करना।

६. **दन्तवाणिज्य**—हाथी आदि के दाँतों का व्यवसाय करना। उपलक्षण से चमड़े और हड्डी का व्यवसाय भी इसमें सम्मिलित हो जाता है।

७. **लाक्षावाणिज्य**—लाख का व्यापार करना।

८. **रस-वाणिज्य**—मदिरा आदि मादक रसों का व्यापार। शाब्दिक दृष्टि से दूध, दही, घृत, मक्खन, तेल आदि का व्यवसाय भी इसमें सम्मिलित होता है, लेकिन कुछ आचार्यों ने इन व्यवसायों को इसमें सम्मिलित नहीं किया है। कुछ आचार्यों की दृष्टि में मद्य, मांस, मधु आदि महाविगयों (अभक्ष्य) का व्यापार इसमें शामिल है।

९. **विष-वाणिज्य**—विभिन्न प्रकार के विषों का व्यवसाय करना। उपलक्षण से हिंसक अस्त्र-शस्त्रों का व्यवसाय भी इसी में सम्मिलित है।

१०. **केश-वाणिज्य**—सामान्य रूप से दास-दासी, भेड़-बकरी प्रभृति केश युक्त प्राणियों के क्रय-विक्रय का व्यवसाय करना केश वाणिज्य के अन्तर्गत माना जाता है। कुछ आचार्यों के मत में चमरी गाय, लोमड़ी आदि पशु-पक्षियों के बालों एवं रोमयुक्त चमड़े का व्यवसाय भी इसमें सम्मिलित है। दूसरे कुछ आचार्यगण ऊन, मोरपंख आदि के व्यवसाय को भी इसमें सम्मिलित करते हैं।

११. **यन्त्रपीड़न कर्म (जन्तपीलन कर्म)**—यन्त्र, सांचे, घाणी, कोल्हू आदि का व्यवसाय। उपलक्षण से उन सभी अस्त्र शस्त्रों का व्यापार, जिससे प्राणियों की हिंसा की सम्भावना हो, इसमें समाहित है।

१२. **निलांछन कर्म**—बैल आदि को नपुंसक बनाने का व्यवसाय।

१३. **दावाग्नि दापन**—जंगल में आग लगाना।

१४. **सरोवर-द्रह-तड़ाग शोषण**—तालाब, झील, जलाशय आदि को सुखाना।

---

१. योगशास्त्र, ३।१०२। २. वही, ३।१०३।

१५. **असतीजन पोषणता**—व्यभिचारवृत्ति के लिए वेश्याओं आदि को नियुक्त करना एवं व्यभिचारवृत्ति करवाकर उनके द्वारा धनोपार्जन करना। कुछ आचार्यों की दृष्टि में चूहों को मारने के लिए बिल्ली अथवा कुत्ते आदि क्रूरकर्मी प्राणियों को पालना भी इसी में सम्मिलित है।

बौद्ध परम्परा में निषिद्ध व्यवसाय–भगवान् बुद्ध ने जीविकार्जन के साधनों की शुद्धता को आवश्यक माना है। अष्टांग साधनामार्ग में सम्यक् आजीव को साधना का एक आवश्यक अंग बताया गया है। बौद्धधर्म में भी गृहस्थ उपासकों के लिए कुछ व्यवसायों को अयोग्य माना गया है। भगवान् बुद्ध ने आजीविका के जिन साधनों को वर्ज्य कहा है, उनमें हिंसा, अहिंसा का विचार ही प्रमुख है। बौद्ध आचार-प्रणाली में भी निम्न हिंसक व्यापारों का गृहस्थ के लिए निषेध है। अंगुत्तर निकाय में भगवान् बुद्ध कहते हैं[1] भिक्षुओं, पांच व्यापार उपासक के लिए अकरणीय हैं। कौन से पांच—

१. सत्थवणिज्जा (शस्त्रों का व्यापार), २. सत्तवणिज्जा (प्राणियों का व्यापार), ३. मंसवणिज्जा (मांस का व्यापार), ४. मज्जवणिज्जा (मद्य (शराब) का व्यापार), ५. विसवणिज्जा (विष का व्यापार)।

इसके अतिरिक्त दीघनिकाय के लक्खणसुत्त में बुद्ध ने अन्य निम्न जीविकाओं को निन्दनीय माना है—१. तराजू एवं बटखरे की ठगी अर्थात् कम-ज्यादा तोलना, २. माप की ठगी, ३. रिश्वत, ४. वंचना, ५. कृतघ्नता, ६. साचियोग (कुटिलता), ७. छेदन, ८. वध, ९. बंधन, १०. डाका एवं लूटपाट की जीविका।[2]

८. अनर्थ-दण्ड परित्याग

जीवन-व्यवहार में प्रमुखतया दो प्रकार की क्रियाएँ होती हैं-१. सार्थक और २. निरर्थक। सार्थक क्रियाएँ वे अनिवार्य क्रियाएँ हैं जिनका सम्पादित किया जाना व्यक्ति और समाज के हित में आवश्यक है। शेष अनावश्यक क्रियाएँ निरर्थक क्रियाएँ हैं। सार्थक सावद्य क्रियाओं का करना अर्थदण्ड है, जबकि निरर्थक पापपूर्ण प्रवृत्तियों का करना अनर्थदण्ड है। क्योंकि इसमें आत्मा को निष्प्रयोजन ही पापकर्म का भागी बनाया जाता है। फिर भी जगत् में ऐसे अज्ञानीजनों की कमी नहीं है जो बिना किसी प्रयोजन के हिंसा और असत्य सम्भाषण आदि दुष्प्रवृत्तियाँ करते हैं। अनर्थदण्ड के अनेक उदाहरण है—जैसे स्नान आदि कार्यों में जल का आवश्यकता से अधिक अपव्यय करना, आवश्यकता से अधिक वृक्ष की पत्तियों या फूलों को तोड़ना, कार्य की समाप्ति के बाद भी नल की टोंटी, बिजली के पंखे अथवा बत्तियों को खुला छोड़ देना, भोजन में जूठा डालना अथवा सम्भाषण में आदतन अपशब्दों का प्रयोग करना, बीड़ी, सिगरेट आदि

---

१. अंगुत्तरनिकाय, भाग २, पृ० ४०१।   २. दीघनिकाय लक्खणसुत्त।

अहितकर द्रव्यों का सेवन करना, व्यर्थ चिन्ता करना आदि। निरर्थक प्रवृत्तियाँ अविवेकी और अनुशासनहीन जीवन की द्योतक हैं, अतः जैनधर्म में गृहस्थ उपासक के लिए निष्प्रयोजन पापपूर्ण प्रवृत्तियों का निषेध है। श्रावक के अनर्थदण्डविरमणव्रत में साधक निष्प्रयोजन पापपूर्ण प्रवृत्तियों का परित्याग करता है। निष्प्रयोजन पापपूर्ण प्रवृत्तियाँ चार प्रकार की हैं[1]—

१. **अपध्यान (अशुभ चिन्तन)**-इसके दो रूप हैं (अ) आर्तध्यान जो चार प्रकार का है–१. इष्टवियोग की चिन्ता, २. अनिष्टसंयोग की चिन्ता, ३. रोग-चिन्ता, ४. निदान अथवा किसी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की तीव्रेच्छा। (ब) रौद्र ध्यान—क्रूरतापूर्ण विचार करना जैसे मैं उसे मार डालूँगा, उसके धन का नाश करवा दूँगा आदि।

२. **पापकर्मोपदेश (पापकर्म करने की प्रेरणा)**—जिस प्रेरणा को पाकर या जिस कथन को सुनकर व्यक्ति पापकार्य करने के लिए प्रेरित हो, वह पाप कर्मोपदेश है। व्यक्तियों अथवा देशों को लड़ने के लिए प्रेरित करना अथवा व्यक्तियों को हिंसा, चौर्य कर्म, पर-स्त्री एवं वेश्यागमन आदि अशुभ प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होने के लिए प्रेरणा देना पापकर्मोपदेश है।

३. **हिंसक उपकरणों का दान**—व्यक्ति अथवा राष्ट्रों को हिंसक शस्त्रास्त्र प्रदान करना हिंसा की सम्भावना को बढ़ावा देना है, अतः यह भी अनर्थदण्ड है। हिंसक शस्त्र प्रदान करना अन्याय के प्रतिकार का सही उपाय नहीं है। जो व्यक्ति अथवा राष्ट्र अन्याय के विरोध में स्वयं खड़ा नहीं होता और मात्र हिंसा के साधन प्रदान कर यह समझता है कि मैं न्याय की रक्षा करता हूँ, वह न्याय की रक्षा नहीं करता वरन् उसका ढोंग करता है।

४. **प्रमादाचरण**—प्रमादाचरण जागरूकता का अभाव है। यह चेतना की नींद है, चेतना का स्वकेन्द्र से विचलन है, आत्मा के समत्व का भंग हो जाना है। यह एक प्रकार की आध्यात्मिक अन्धता है। जैनागमों में इसके ५ भेद वर्णित हैं—१. अहंकार २. कषाय, ३. विषय-चिन्तन, ४. निद्रा और ५. विकथा। पाँचों प्रमाद व्यक्ति की चेतना में ऐसा विकार उत्पन्न करते हैं जिससे व्यक्ति की चेतना की जागरूकता समाप्त हो जाती है। व्यक्ति अपने आप में नहीं जीता है। वह स्वयं का स्वामी नहीं होता है। वह यथार्थ दृष्टा नहीं रह पाता, जो कि उसका स्व-स्वभाव है। आत्मा का साक्षात्कार केवल अप्रमत्तदशा में ही सम्भव है। जबकि प्रमाद उस अप्रमत्तता का सबसे बड़ा बाधक तत्त्व है। (अ) अहंकार (मद)—अपने रूप-सौन्दर्य, बल, ज्ञान अथवा जाति का अहंकार व्यक्तित्व का विकृत चित्र प्रस्तुत करता है। अहंकार व्यक्ति की आध्यात्मिक उपलब्धियों

---

१. आर्तरौद्रमयध्यानं पापकर्मोपदेशिता। हिंसोपकरणादि दानं च प्रमदाचरणं तथा।

में सहायक न होकर उल्टे बाधा उत्पन्न करता है, इसलिएअनर्थ दण्ड ही है। (ब) कषाय—क्रोधादि भाव प्रायः सम्यक् जीवन के किसी उद्देश्य की प्राप्ति में सहायक नहीं होते हैं, अतः अनर्थदण्ड हैं और इसलिए अनाचरणीय भी हैं। (स) विषय—इन्द्रियों की अपने विषयों की प्राप्ति की वासना ही सारी पाप-प्रवृत्तियों का कारण है और मनुष्य में विवेकशून्यता को जन्म देती है। (द) निद्रा—अधिक निद्रा भी आलस्य का ही चिन्ह है और आलस्य स्वयं में ही अनर्थदण्ड है। (ई) विकथा—लोगों की भलाई-बुराई की निष्प्रयोजन प्रवृत्ति लोगों में अधिक देखी जाती है लेकिन इसमें उपलब्धि कुछ भी नहीं होती, वरन् हानि होने की सम्भावना ही अधिक रहती है। व्यक्तियों में अकारण ही वैमनस्य उत्पन्न होने में यह प्रमुख कारण है, अतः अनर्थदण्ड के रूप में अनाचरणीय है।

इस प्रकार अपने भेदोपभेद की विस्तृत व्याख्या सहित यह चार प्रकार का अनर्थदण्ड गृहस्थ साधक के लिए अनाचरणीय कहा गया है। अनर्थदण्ड की प्रवृत्तियों से बचने के लिए जहाँ उपर्युक्त प्रवृत्तियों से निवृत्त होना आवश्यक है, वहीं उन सामान्य दोषों के बारे में भी जागृत रहना चाहिए जो साधक को अनर्थदण्ड की ओर ले जाते हैं। अनर्थदण्ड विरमण व्रत के पाँच दोष हैं।[1]

१. **कन्दर्प**—कामवासना को उत्तेजित करने वाली चेष्टाएँ करना अथवा काम-भोग सम्बन्धी चर्चा करना।

२. **कौत्कुच्य**—हाथ, मुँह, आँख आदि से अभद्र चेष्टाएँ करना।

३. **मौखर्य**—अधिक वाचाल होना, शेखी बघारना, तथा बातचीत में अपशब्दों का उपयोग करना आदि।

४. **संयुक्ताधिकरण**—हिंसक साधनों को अनावश्यक रूप से संयुक्त (तैयार) करके रखना जैसे बंदूक में कारतूस या बारूद भरकर रखना। इनसे अनर्थ की सम्भावना अधिक बलवती हो जाती है। कुछ विचारकों के अनुसार हिंसक शस्त्रों का निर्माण, संग्रह और क्रय-विक्रय भी दोषपूर्ण हैं।

५. **उपभोगपरिभोगातिरेक**—भोग्य सामग्री का आवश्यकता से अधिक संचय करना। क्योंकि ऐसा करने पर दूसरे लोग उसके उपभोग से वंचित रहते हैं तथा सामाजिक जीवन में अव्यवस्था एवं असंतुलन पैदा होता है।

चार शिक्षा व्रत

९. सामायिक व्रत

सामायिक जैन आचार-दर्शन की साधना का केन्द्र-विन्दु है यह साधु-जीवन का

१. उपासकदशांग, १।४८।

प्राथमिक तथ्य और गृहस्थ जीवन का अनिवार्य कर्त्तव्य है। गृहस्थ-साधना की दृष्टि से आचार का कुछ भाव पक्ष भी होना चाहिए। यद्यपि सामायिक में भी विधि- निषेध के नियम हैं, तथापि उसमें एक भाव पक्ष की अवधारणा भी की गयी है और यही इस व्रत की विशेषता है। सामायिक को शिक्षाव्रत कहा गया है। जैनाचार्यो की दृष्टि में शिक्षा का अर्थ है अभ्यास। सामायिक अर्थात् समत्व का अभ्यास। गृहस्थ जीवन के एक आवश्यक कर्त्तव्य के रूप में तथा गृहस्थ साधना के एक महत्त्वपूर्ण व्रत के रूप में इसका जो स्थान है वह इसके इस भावात्मक मूल्य के कारण है। यद्यपि इसका एक निषेध पक्ष भी है, तथापि वह हिंसा-अहिंसा की विवक्षा से अधिक अपना स्वतन्त्र मूल्य नहीं रखता। सामायिक की साधना एक ओर आत्म-जागृति है, एक सम्यक् स्मृति है, दूसरी ओर समत्व का दर्शन है। आसक्तिशून्य मात्र साक्षी रूप चेतना में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की सच्ची प्रतीति ही जैन विचारणा की सामायिक है, यही नैतिक आचरण की अन्तिम कोटि है और नैतिकता की सच्ची कसौटी भी; जिसके द्वारा साधक अपनी साधना का सच्चा मूल्यांकन कर सकता है। जो स्थान बौद्ध आचार दर्शन में सम्यक् समाधि का है, वही जैन साधना में सामायिक का है।

लेकिन यह साधना।सहज होकर भी अभ्यास-साध्य है। इसमें निरन्तरअभ्यास कीअपेक्षा है, क्योंकि प्रमाद जो कि चेतना की निद्रा है, इसका सबसे बड़ा शत्रु है। प्रमत्त चेतना में समत्व दर्शन एक मिथ्या कल्पना है। अप्रमत्त मानस में समत्व की आराधना के लिए साधक प्रतिदिन कुछ समय निकाले और इस प्रकार अभ्यास द्वारा स्व की विस्मृति से आत्म-स्मृति को जगाकर सच्चे साक्षी के रूप में समदर्शी बन सके यही इस व्रत के विधान का प्रयोजन है।

समत्व की साधना अप्रमत्त चेतना में ही सम्भव है, लेकिन गृहस्थ-जीवन की परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि जब तक सतत् अभ्यास न हो इस अप्रमत्तता को बनाये रखना कठिन है। जीवन की सावद्य प्रवृत्तियाँ, कषाय और वासनाएँ चेतना को अप्रमत्त और निर्विकार नहीं रहने देतीं। जैसे मद्यपान के द्वारा बुद्धि विकृत और प्रमत्त बनती है वैसे ही सावद्य प्रवृत्तियों एवं वासनाओं में रस लेने से चेतना विकारी और प्रमत्त बन जाती है, अतः उस अप्रमत्त निर्विकार चेतना की उपलब्धि के लिए सावद्य प्रवृत्तियों से बचना आवश्यक है। गृहस्थ भी साधक की दृष्टि से सामायिक के दोनों पहलुओं पर विचार करना आवश्यक है। गृहस्थ के लिए यह भी आवश्यक है कि वह यह जानें कि उसे सामायिक में क्या नहीं करना चाहिए। गृहस्थ जीवन के लिए सामायिक के इस निषेधात्मक पक्ष का मूल्य तब और अधिक स्पष्ट हो जाता है जब हम यह जाने कि भव्य अट्टालिका के निर्माण के पूर्व पुराने मकान के मलबे की सफाई कितनी आवश्यक होती है। समत्व की उपलब्धि के लिए विगलित विचार और आचार का उन्मूलन एक अनि-

वार्यता है। इतना ही नहीं, चेतना को अप्रमत्तता एवं चित्तवृत्ति को केंद्रित करने के लिए बाह्य वातावरण भी बहुत महत्त्व रखता है। अतः उसके सम्बन्ध में भी पर्याप्त विचार आवश्यक है। इन्हीं सब तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए हम यहां सामायिक के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

सामायिक के विभिन्न पक्ष—प्राणियों के प्रति समत्व, शुभ मनोभाव, संयम और आर्त्तरौद्रध्यान का परित्याग ही सामायिक व्रत है।[1] इस प्रकार समत्व और शुभ मनोभाव ये दो सामायिक व्रत के भावात्मक पक्ष और संयम और अशुभ मनोवृत्तियों का परित्याग ये दो सामायिक व्रत के निषेधात्मक पक्ष हैं। गृहस्थ के लिए सामायिक व्रत इन दोनों पक्षों का सम्यक् परिपालन करना आवश्यक है। इसी प्रकार गृहस्थ साधना की दृष्टि से भी सामायिक के द्रव्य सामायिक और भाव सामायिक ऐसे दो पक्ष भी होते हैं। द्रव्य सामायिक अर्थात् सामायिक का बाह्य स्वरूप या क्रियाकाण्डात्मक पक्ष भाव सामायिक का तात्पर्य चित्तवृति की शुद्धि है। व्यवहार और निश्चय दृष्टि से भी सामायिक के दो रूप होते हैं। समत्वभाव और आत्म-अवस्थिति (चेतना की जागरूकता) निश्चय या परमार्थ दृष्टि से सामायिक है जबकि हिंसक व्यापारों से निवृत्ति तथा नियमों का परिपालन व्यवहार सामायिक है। सामायिक के लिए चार विशुद्धियाँ मानी गई हैं—१. काल-विशुद्धि, २. क्षेत्र-विशुद्धि, ३. द्रव्य-विशुद्धि और ४. भाव-विशुद्धि।

काल विशुद्धि—श्रमण साधक तो सदैव ही सामायिक की साधना में रत रहता है, लेकिन गृहस्थ साधक के लिए इसकी काल-मर्यादा निश्चित की गई है। सामायिक की साधना का काल-निर्णय समय-विशुद्धि के लिए आवश्यक है। जैन दार्शनिकों का कथन है कि समय का काम समय पर ही करना चाहिए,[2] असमय या कुसमय पर की गई साधना अधिक फलवती नहीं होती। सामायिक का साधना-काल उभय संध्या-काल अर्थात् रात्रि एवं दिवस की दोनों सन्धि वेलाएँ मानी गई हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसी मत का समर्थन किया है।[3] आचार्य कुन्थुसागरजी ने अपने बोधामृतसार में त्रिकाल अर्थात् प्रातःकाल, मध्यान्ह काल और सायंकाल सामायिक व्रत करने का विधान किया है।[4] उपासकदशांगसूत्र के कुण्डकोलिक अध्याय में मध्यान्ह में भी सामायिक करने का निर्देश है। यद्यपि यह विवाद महत्त्वपूर्ण नहीं है। दोनों सन्धिकाल में सामायिक करना निम्नतम सीमा है, अधिकतम कितनी करे यह साधक की क्षमता पर निर्भर है। हाँ, अयोग्य समय पर सामायिक करना अशुभ माना गया है। सामायिक के लिए काल-विशुद्धि आवश्यक है। यद्यपि आगम साहित्य में समयावधि का विधान नहीं है, तथापि श्वेताम्बर

---

१. उद्धृत-सामायिक सूत्र, पृ० ३७।
२. उत्तराध्ययन, १।३१।
३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १४९।
४. बोधामृतसार, ४९२।

प्राथमिक तथ्य और गृहस्थ जीवन का अनिवार्य कर्त्तव्य है। गृहस्थ-साधना की दृष्टि से आचार का कुछ भाव पक्ष भी होना चाहिए। यद्यपि सामायिक में भी विधि- निषेध के नियम हैं, तथापि उसमें एक भाव पक्ष की अवधारणा भी की गयी है और यही इस व्रत की विशेषता है। सामायिक को शिक्षाव्रत कहा गया है। जैनाचार्यों की दृष्टि में शिक्षा का अर्थ है अभ्यास। सामायिक अर्थात् समत्व का अभ्यास। गृहस्थ जीवन के एक आवश्यक कर्त्तव्य के रूप में तथा गृहस्थ साधना के एक महत्त्वपूर्ण व्रत के रूप में इसका जो स्थान है वह इसके इस भावात्मक मूल्य के कारण है। यद्यपि इसका एक निषेध पक्ष भी है, तथापि वह हिंसा-अहिंसा की विवक्षा से अधिक अपना स्वतन्त्र मूल्य नहीं रखता। सामायिक की साधना एक ओर आत्म-जागृति है, एक सम्यक् स्मृति है, दूसरी ओर समत्व का दर्शन है। आसक्तिशून्य मात्र साक्षी रूप चेतना में 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की सच्ची प्रतीति ही जैन विचारणा की सामायिक है, यही नैतिक आचरण की अन्तिम कोटि है और नैतिकता की सच्ची कसौटी भी; जिसके द्वारा साधक अपनी साधना का सच्चा मूल्यांकन कर सकता है। जो स्थान बौद्ध आचार दर्शन में सम्यक् समाधि का है, वही जैन साधना में सामायिक का है।

लेकिन यह साधना।सहज होकर भी अभ्यास-साध्य है। इसमें निरन्तरअभ्यास कीअपेक्षा है, क्योंकि प्रमाद जो कि चेतना की निद्रा है, इसका सबसे बड़ा शत्रु है। प्रमत्त चेतना में समत्व दर्शन एक मिथ्या कल्पना है। अप्रमत्त मानस में समत्व की आराधना के लिए साधक प्रतिदिन कुछ समय निकाले और इस प्रकार अभ्यास द्वारा स्व की विस्मृति से आत्म-स्मृति को जगाकर सच्चे साक्षी के रूप में समदर्शी बन सके यही इस व्रत के विधान का प्रयोजन है।

समत्व की साधना अप्रमत्त चेतना में ही सम्भव है, लेकिन गृहस्थ-जीवन की परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि जब तक सतत् अभ्यास न हो इस अप्रमत्तता को बनाये रखना कठिन है। जीवन की सावद्य प्रवृत्तियाँ, कषाय और वासनाएँ चेतना को अप्रमत्त और निर्विकार नहीं रहने देतीं। जैसे मद्यपान के द्वारा बुद्धि विकृत और प्रमत्त बनती है वैसे ही सावद्य प्रवृत्तियों एवं वासनाओं में रस लेने से चेतना विकारी और प्रमत्त बन जाती है, अतः उस अप्रमत्त निर्विकार चेतना की उपलब्धि के लिए सावद्य प्रवृत्तियों से बचना आवश्यक है। गृहस्थ भी साधक की दृष्टि से सामायिक के दोनों पहलुओं पर विचार करना आवश्यक है। गृहस्थ के लिए यह भी आवश्यक है कि वह यह जानें कि उसे सामायिक में क्या नहीं करना चाहिए। गृहस्थ जीवन के लिए सामायिक के इस निषेधात्मक पक्ष का मूल्य तब और अधिक स्पष्ट हो जाता है जब हम यह जाने कि भव्य अट्टालिका के निर्माण के पूर्व पुराने मकान के मलवे की सफाई कितनी आवश्यक होती है। समत्व की उपलब्धि के लिए विगलित विचार और आचार का उन्मूलन एक अनि-

वार्यता है। इतना ही नहीं, चेतना की अप्रमत्तता एवं चित्तवृत्ति को केंद्रित करने के लिए बाह्य वातावरण भी बहुत महत्त्व रखता है। अतः उसके सम्बन्ध में भी पर्याप्त विचार आवश्यक है। इन्हीं सब तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए हम यहां सामायिक के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

सामायिक के विभिन्न पक्ष—प्राणियों के प्रति समत्व, शुभ मनोभाव, संयम और आर्त्तरौद्रध्यान का परित्याग ही सामायिक व्रत है।[1] इस प्रकार समत्व और शुभ मनोभाव ये दो सामायिक व्रत के भावात्मक पक्ष और संयम और अशुभ मनोवृत्तियों का परित्याग ये दो सामायिक व्रत के निषेधात्मक पक्ष हैं। गृहस्थ के लिए सामायिक व्रत इन दोनों पक्षों का सम्यक् परिपालन करना आवश्यक है। इसी प्रकार गृहस्थ साधना की दृष्टि से भी सामायिक के द्रव्य सामायिक और भाव सामायिक ऐसे दो पक्ष भी होते हैं। द्रव्य सामायिक अर्थात् सामायिक का बाह्य स्वरूप या क्रियाकाण्डात्मक पक्ष भाव सामायिक का तात्पर्य चित्तवृति की शुद्धि है। व्यवहार और निश्चय दृष्टि से भी सामायिक के दो रूप होते हैं। समत्वभाव और आत्म-अवस्थिति (चेतना की जागरूकता) निश्चय या परमार्थ दृष्टि से सामायिक है जबकि हिंसक व्यापारों से निवृत्ति तथा नियमों का परिपालन व्यवहार सामायिक है। सामायिक के लिए चार विशुद्धियाँ मानी गई हैं—१. काल-विशुद्धि, २. क्षेत्र-विशुद्धि, ३. द्रव्य-विशुद्धि और ४. भाव-विशुद्धि।

काल विशुद्धि—श्रमण साधक तो सदैव ही सामायिक की साधना में रत रहता है, लेकिन गृहस्थ साधक के लिए इसकी काल-मर्यादा निश्चित की गई है। सामायिक की साधना का काल-निर्णय समय-विशुद्धि के लिए आवश्यक है। जैन दार्शनिकों का कथन है कि समय का काम समय पर ही करना चाहिए,[2] असमय या कुसमय पर की गई साधना अधिक फलवती नहीं होती। सामायिक का साधना-काल उभय संध्या-काल अर्थात् रात्रि एवं दिवस की दोनों सन्धि वेलाएँ मानी गई हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसी मत का समर्थन किया है।[3] आचार्य कुन्थुसागरजी ने अपने बोधामृतसार में त्रिकाल अर्थात् प्रातःकाल, मध्यान्ह काल और सायंकाल सामायिक व्रत करने का विधान किया है।[4] उपासकदशांगसूत्र के कुण्डकोलिक अध्याय में मध्यान्ह में भी सामायिक करने का निर्देश है। यद्यपि यह विवाद महत्त्वपूर्ण नहीं है। दोनों सन्धिकाल में सामायिक करना निम्नतम सीमा है, अधिकतम कितनी करे यह साधक की क्षमता पर निर्भर है। हाँ, अयोग्य समय पर सामायिक करना अशुभ माना गया है। सामायिक के लिए काल-विशुद्धि आवश्यक है। यद्यपि आगम साहित्य में समयावधि का विधान नहीं है, तथापि श्वेताम्बर

---

१. उद्धृत-सामायिक सूत्र, पृ० ३७।
२. उत्तराध्ययन, १।३१।
३. पुरुषार्थसिद्‌ध्युपाय, १४९।
४. बोधामृतसार, ४९२।

व दिगम्बर सभी परवर्ती ग्रन्थों में सामायिक व्रत की समयावधि एक मुहुर्त या ४८ मिनिट मानी गयी है।[1] समयावधि की इस धारणा के पीछे जैनाचार्यों का तर्क यह है कि व्यक्ति के विचार अस्खलित रूप में एक विषय पर ४८ मिनट तक ही केन्द्रित रह सकते हैं, बाद में विचारों में स्खलन आ जाता है।[2] चित्तवृत्ति को उपर्युक्त समय से अधिक देर तक केन्द्रित नहीं रखा जा सकता, उसके बाद चित्तवृत्ति विचलित हो जाती है, अतः यह आवश्यक था कि सामायिक की काल-मर्यादा उससे अधिक न हो।

क्षेत्र-विशुद्धि (सामायिक के योग्य स्थान)—कोलाहल से शून्य एकान्त स्थान ही सामायिक के साधना-स्थल माने गये हैं। उपासकदशांग सूत्र के निर्देश भी इसका समर्थन करते हैं। सामान्यतया धर्माराधना के लिए निश्चित किया हुआ घर का एकान्त कमरा, सार्वजनिक पोषधशालाएँ या उपासनागृह, वनखण्ड या नगर के निकट की वाटिकाएँ अथवा जिनालय (मंदिर) सामायिक के योग्य स्थल हैं। संक्षेप में सामायिक साधना का स्थान एकान्त, पवित्र, शान्त एवं ध्यान के अनुकूल वातावरण से युक्त होना चाहिए। उपयुक्त स्थल पर ही सामायिक करना क्षेत्रविशुद्धि है।

द्रव्य विशुद्धि—सामायिक में गृहस्थ-जीवन की वेशभूषा और आभूषण आदि का त्याग किया जाता था, ऐसा निर्देश उपासकदशांग सूत्र और उसकी टीकाओं से मिलता है। उस युग में मात्र अधोवस्त्र (धोती) ही सामायिक की वेशभूषा थी यद्यपि वर्तमान में उत्तरीय भी ग्रहण किया जाता है। कोमल प्रमार्जनिका एवं आसन तो श्वेताम्बर व दिगम्बर दोनों परम्पराओं में ग्राह्य हैं। श्वेताम्बर परम्परा में मुखवस्त्रिका भी सामायिक का महत्त्वपूर्ण उपकरण मानी जाती है। स्वच्छ एवं सादगीपूर्ण उत्तरीय और अधोवस्त्र सामायिक की सामान्य वेशभूषा मानी गयी है। दर्भ, ऊन या सादे वस्त्र पर उत्तर पूर्व दिशाओं में अभिमुख होकर जिन-मुद्रा में खड़े होना या पद्मासन से बैठना ही सामायिक का आसन है। अस्थिर आसन सामायिक का दोष माना गया है। सामायिक की वेशभूषा, उपकरण तथा आसन का सादगीपूर्ण एवं स्वच्छ होना द्रव्यशुद्धि है।

भाव-शुद्धि—द्रव्य-विशुद्धि (साधना के योग्य उपकरण) काल-विशुद्धि (साधना के योग्य समय) और क्षेत्र-विशुद्धि (साधना के योग्य स्थल) यह साधना के वहिरंग तत्त्व हैं और भाव-विशुद्धि साधना का अंतरंग तत्त्व है। मन की विशुद्धि ही सामायिक की साधना का सार सर्वस्व है। चित्त की विशुद्धि के लिए दो आवश्यक बातें मानी गई हैं— १. अशुभ विचारों का परित्याग करना और २. शुभ विचारों को प्रश्रय देना। जैन विचारधारा में आर्त और रौद्र ये दो अशुभ विचार (अप्रशस्त ध्यान) माने गये हैं। इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, सम्भावित तथा अप्राप्त को प्राप्त करने की चिन्ता, आर्त

---

१. योगशास्त्र, ५।११५-११६। २. आवश्यक मलयगिरी टीका, ४।४३।

विचार हैं तथा दूसरे को दुःख देने का क्रूरतापूर्ण संकल्प रौद्र विचार है। जैन आचार दर्शन के अनुसार सामायिक की साधना में गृहस्थ साधक को इन अप्रशस्त विचारों को मन में स्थान नहीं देना चाहिए। इनके स्थान पर मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थता की प्रशस्त भावनाओं को प्रश्रय देना चाहिए।

सामायिक पाठ–श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में सामायिक पाठ भिन्न-भिन्न हैं। मूलागमों में गृहस्थ सामायिक का विस्तृत विधान नहीं मिलता। परम्परागत धारणा ही प्रमुख है। श्वेताम्बर परम्परा में नमस्कार मंत्र, गुरु वन्दन सूत्र, ईर्यापथ आलोचन सूत्र, कायोत्सर्ग आगारसूत्र स्तुतिसूत्र, प्रतिज्ञासूत्र, प्रणिपातसूत्र और समाप्ति आलोचना सूत्र—ये सामायिक पाठ हैं। दिगम्बर परम्परा में आचार्य अमितगति के द्वारा रचित ३२ श्लोकों का सामायिक पाठ प्रचलित है, जिसमें आत्मालोचन, आत्मावलोकन तथा मैत्री, करुणा, प्रमोद एवं माध्यस्थ भावनाओं का सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है।[१]

सामायिक व्रत का सम्यक्रूपेण परिपालन करने के लिए मन, वचन और शरीर के ३२ दोषों से बचना भी आवश्यक है। बत्तीस दोषों में दस दोष मन से सम्बन्धित हैं, दस दोष वचन से सम्बन्धित हैं और बारह दोष शरीर से सम्बन्धित हैं।

मन के दस दोष[२]—(१) अविवेक, (२) कीर्ति की लालसा, (३) लाभ की इच्छा, (४) अहंकार, (५) भय के वश या भय से बचने के लिए साधना करना अथवा साधना की अवस्था में चित्त का भयाकुल होना, (६) निदान (फलाकांक्षा), (७) फल के प्रति संदिग्धता, (८) रोष अर्थात् क्रोधादिभावों से युक्त होना, (९) अविनय और (१०) अब-हुमान अर्थात् मनोयोग पूर्वक साधना नहीं करना। मन से होनेवाले दोष हैं।

वचन के दस दोष[३]—(१) असभ्य वचन बोलना, (२) बिना विचारे बोलना (सहसा बोलना, (३) स्वच्छन्दतापूर्वक बोलना या अधिक वाचाल होना, (४) संक्षेप या गूढार्थ में बोलना अथवा अयथार्थ रूप में बोलना या पढ़ना, (५) जिन वचनों से संघर्ष उत्पन्न हों ऐसे वचन बोलना, (६) विकथा–(स्त्री, राज्य, भोजन एवं लौकिक) बातों के सम्बन्ध में चर्चा करना, (७) हास्य—हँसी-मजाक करना, (८) अशुद्ध उच्चारण करना, (९) असावधानीपूर्वक बोलना या निरपेक्ष रूप से बोलना, (१०) अस्पष्ट उच्चारण करना या गुनगुनाना।

शरीर के बारह दोष[४]—(१) अयोग्य आसन से बैठना, (२) अस्थिर आसन (बार-बार स्थान बदलना), (३) दृष्टि की चंचलता, (४) हिंसक क्रिया करना अथवा उस को करने का संकेत करना, (५) सहारा लेकर बैठना, (६) अंगों का बिना किसी प्रयोजन

१. देखिए–सामायिक पाठ (अमितगति)। २. सामायिकसूत्र (अमरमुनि), पृ० ५७।
३. वही, पृ० ६१। ४. वही, पृ० ६३।

के आकुंचन और प्रसारण करना, (७) आलस्य, (८) शरीर के अंगों को मोड़ना, (९) शरीर के मलों का विसर्जन करना, (१०) शोकग्रस्त मुद्रा में बैठना, बिना प्रमार्जन के अंगों का खुजलाना, (११) निद्रा और (१२) प्रकम्पित होना, कुछ आचार्य इसके स्थान पर वैयावृत्य दोष मानते हैं जिसका अर्थ है साधनाकाल में दूसरे से पगचम्पी, मालिश आदि सेवा लेना।

उपासकदशांगसूत्र में सामयिकव्रत के पाँच अतिचार हैं।[1]—१. मनोदुष्प्रणिधान, २. वाचोदुष्प्रणिधान, ३. कायदुष्प्रणिधान, ४. सामायिक की समयावधि का ध्यान नहीं रखना, ५. अव्यवस्थित सामायिक करना।

१०. देशावकाशिक व्रत

अणुव्रतों और गुणव्रतों की प्रतिज्ञा समग्र जीवन के लिए होती है जबकि शिक्षाव्रतों की साधना एक विशेष समय तक के लिए की जाती है। उनकी साधना जीवन में एक बार नहीं, वरन् पुनः-पुनः की जाती है।

परिग्रह-परिमाणव्रत में परिग्रह की मर्यादा, दिशापरिमाणव्रत में व्यवसाय के कार्य क्षेत्र का सीमांकन और उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत में उपभोग-परिभोग की वस्तुओं की मात्रा की सीमा यावज्जीवन के लिए निर्धारित की जाती है। लेकिन जैन-साधना का ध्येय तो संयम की दिशा में सदैव अग्रसर होते रहना है। साथ ही इस बात का विचार भी रखना है कि उस विकास की ओर अग्रसर होने के पूर्व अभ्यास के द्वारा इतनी पर्याप्त क्षमता अर्जित कर ली जावे कि पुनः पीछे की ओर लौटना न पड़े। गृहस्थ उपासक का देशावकाशिक व्रत उपर्युक्त तीनों व्रतों की साधना को व्यापक एवं विराट् बनाने के लिए है। इसके द्वारा साधक गृहस्थ-जीवन में रहकर ही साधुत्व की पूर्व तैयारी करता है। देशावकाशिकव्रत की साधना में एक-दो या अधिक दिनों के लिए प्रवृत्ति की क्षेत्र-सीमा एवं उपभोग-परिभोग सामग्री की मात्रा और भी अधिक सीमित कर ली जाती है और साधक उस निश्चित क्षेत्र-सीमा के बाहर न तो स्वयं ही कोई प्रवृत्ति करता है और न करवाता है। उस निश्चित सीमा क्षेत्र में भी साधक त्रस और स्थावर सभी प्रकार की हिंसा का परित्याग कर पूर्ण अहिंसक वृत्ति का पालन करता है। नैतिक दृष्टि से इस व्रत का लक्ष्य अशुभ प्रवृत्तियों के सीमाक्षेत्र में कमी करके जीवन में अनुशासन लाने का प्रयास करना है। आज भी श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा में 'दयाव्रत' के नाम से सामूहिक रूप से इस व्रत के पालन का बहुप्रचलन है।

इस व्रत के पाँच अतिचार (दोष) हैं—१. आनयन प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र के बाहर से वस्तु लाना या मँगवाना आदि, २. प्रेष्य प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र के बाहर वस्तु भेजना

---

१. उपासकदशांग, १।४९।

या ले जाना, ३. शब्दानुपात—निर्धारित क्षेत्र के बाहर किसी को खड़ा देखकर शब्द संकेतकरना (खांसकर या आवाज देकर) ४. हाथ आदि अंगों से संकेत करना, ५. पुद्गल-प्रक्षेप–बाहर खड़े हुए व्यक्ति को अपना अभिप्राय जताने के लिए कंकड़ आदि फेंकना।

११. प्रोषधोपवास व्रत[1]

यह गृहस्थ उपासक का शिक्षाव्रत है। श्वेताम्बर परम्परा में शिक्षाव्रतों में यह तीसरा है। आत्मगवेषणा या स्वस्वरूप का बोध, धर्माराधना और गृहस्थ जीवन की क्रियाओं से यथासम्भव निवृत्ति का प्रयास यही मूलदृष्टि इन शिक्षाव्रतों के पीछे है। सामायिक देशावकाशिक और पोषधोपवास व्रतों में क्रमशः इस दृष्टि का विकास अवलोकनीय है। सामायिक में साधक जीवन की सावद्य प्रवृत्तिओं से दूर हटकर समत्व की आराधना और स्वस्वरूप के बोध का कुछ समय (४८ मिनिट) के लिए अभ्यास करता है। देशावकाशिक व्रत में समय की यह सीमा १२ से १५ घंटे की और प्रोषध में सम्पूर्ण दिवस की हो जाती है। गृहस्थ उपासक जीवन के झंझावातों से दूर हटकर कम से कम सप्ताह में एक दिवस धर्माराधना और आत्मगवेषणा या भेद विज्ञान की चिन्तना में व्यतीत करे, यही इस व्रत का उद्देश्य है। बौद्धागम अंगुत्तरनिकाय के सन्दर्भ से भी ऐसा लगता है कि सावद्य प्रवृत्तियों से बचने के विचार के साथ-साथ भेद-विज्ञान का अभ्यास ही इस व्रत की आराधना का प्रमुख प्रयोजन था। प्रोषध शब्द उपवसथ से बना है जिसका अर्थ है निकट वास करना। अपने आपके निकट रहना अर्थात् पर-स्वरूप से अलग स्वस्वरूप में स्थित रहना, यही प्रोषध का सच्चा अर्थ है। इस व्रत की आराधना प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, तथा अमावस्या और पूर्णिमा को की जाती है। साधक दिन भर धर्म-स्थान या उपासनागृह में निवास करता है।

इस व्रत की आराधना में सम्पूर्ण दिवस (२४ घंटे) के लिए निम्न बातों के त्याग की प्रतिज्ञा की जाती है—१. सभी प्रकार के अन्न, जल, मुखवास (पान-सुपारी आदि) और मेवा (सूखे फल आदि) चारों प्रकार के आहार का त्याग, २. कामभोग का त्याग अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन, ३. रजत, स्वर्ण एवं मणिमुक्ता आदि के बहुमूल्य आभूषणों का त्याग, ४. माल्य, गंध धारण का त्याग, ५. हिंसक उपकरणों एवं समस्त दोषपूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग।

इस व्रत के पांच प्रमुख दोष (अतिचार)—१. अप्रतिलेखित–दुष्प्रतिलेखित-शय्या संस्तार—बिना देखे-भाले शय्या आदि का उपयोग करना, २. अप्रमार्जित–दुष्प्रमार्जित शय्या-संस्तार—अप्रमार्जित शय्यादि का उपयोग करना, ३ अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित

---

१. दर्शन और चिन्तन, भाग २, पृ० १००-१०७।

उच्चार-प्रसवण भूमि—ठीक-ठीक विना देखे शौच या लघुशंका के स्थानों का उपयोग करना, ४. अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्त्रवण भूमि–अप्रमार्जित शौच या लघुशंका के स्थानों का उपयोग करना। इन चारों दोषों का विधान प्रमुखतः हिंसा–अहिंसा की विवक्षा से हुआ है। ५. प्रोषधोपवास का सम्यक् रूप से पालन नहीं करना अर्थात् प्रोषध में निन्दा, विकथा, प्रमादादि का सेवन करना।

बौद्ध विचारणा में उपोसथ (प्रोषध)—जैन-परम्परा की भाँति बौद्ध परम्परा में भी प्रारम्भ से ही उपोसथ व्रत गृहस्थ उपासक का एक आवश्यक कर्त्तव्य रहा है। दोनों में इसके आचरण की तिथियाँ भी एक ही थीं। सुत्तनिपात में कहा गया है प्रत्येक पक्ष की चतुर्दशी, पूर्णिमा, अष्टमी और प्रतिहार्य पक्ष को इस अष्टांग उपोसथ का श्रद्धापूर्वक सम्यक् रूप से पालन करना चाहिए।[१] बौद्धपरम्परा में उपोसथ के नियम लगभग जैन परम्परा के समान ही हैं। यथा—१. प्राणिवध न करे, २. चोरी न करे, ३. असत्य न बोले; ४. मादक द्रव्य का सेवन न करे; ५. मैथुन से विरत रहे; ६. रात्रि में विकाल भोजन न करे; ७. माल्य एवं गधं का सेवन न करें; ८. उच्च शय्या का परित्याग कर काठ या जमीन पर शयन करे–ये अष्टशील उपोसथ शील कहे जाते हैं,[२] जिनका उपोसथ के दिन गृहस्थ उपासक पालन करता है। महावीर की परम्परा में भोजन सहित जो प्रोषध किया जाता है वह देशावकाशिक व्रत कहलाता है। बौद्ध परम्परा में उपोसथ में विकाल भोजन का त्याग कहा गया, जबकि जैन परम्परा प्रोषध में सभी प्रकार के भोजन का निषेध करती है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी बातों में लगभग समानता है। प्रोषध के पीछे जो विचार-दृष्टि है, वह यही है कि गृहस्थ जीवन के प्रपंचों से अवकाश पा सप्ताह में एक दिन धर्माराधना की जाये। ईसाई एवं यहूदी परम्परा में मूसा के 'दस आदेशों' या 'धर्म आज्ञाओं' में एक आज्ञा यह भी है कि सप्ताह में एक दिवस विश्राम लेकर पवित्राचरण करना,[३] जो कि इसी उपोसथ या प्रोषध का ही एक रूप थी, चाहे वह आज कितनी ही विकृत क्यों न हो गयी हो। बौद्ध-परम्परा में प्रोषध या उपोसथ का आदर्श अर्हत्व की प्राप्ति है। भगवान् बुद्ध कहते हैं क्षीणास्त्रव अर्हत् का यह कथन समुचित है कि जो मेरे सदृश होना चाहे वह पक्ष की चतुर्दशी, पूर्णिमा, अष्टमी तथा प्रतिहार्य पक्ष को अष्टांग शीलयुक्त उपोसथ व्रत का आचरण करे।[४] उपोसथ व्रत आजीवक सम्प्रदाय और वेदान्त-परम्परा में थोड़े-बहुत प्रकारान्तर से प्रचलित थे।[५]

बौद्ध विचारणा में निर्ग्रन्थ उपोसथ की आलोचना और उसका उत्तर—बौद्ध विचारणा में अंगुत्तरनिकाय में निर्ग्रन्थ उपोसथ की आलोचना भी की गयी है। बुद्ध कहते हैं,

१. सुत्तनिपात, २६।२८।
२. सुत्तनिपात, २६।२५–२७।
३. बाइबल ओल्ड टेस्टामेंट, निर्गमन २०।
४. अंगुत्तरनिकाय, ३।३७।
५. दर्शन और चिन्तन, भाग २, पृ० १०५।

उपोसथ (व्रत) तीन प्रकार का होता है १. गोपाल उपोसथ, २. निर्ग्रन्थ उपोसथ, ३. आर्य उपोसथ। निर्ग्रन्थ उपोसथ की आलोचना में बुद्ध दो आक्षेप प्रस्तुत करते हैं— १. दिशामर्यादा के द्वारा समस्त प्राणियों के प्रति दयाभाव व्यक्त नहीं होता, २. दूसरे प्रोषध में जो अन्यत्व की भावना की जाती या जिस भेद-विज्ञान का अभ्यास किया जाता है वह एक असत्य सम्भाषण है।

पहली आलोचना के सम्बन्ध में बुद्ध कहते हैं, "हे विशाखे, निर्ग्रन्थ श्रमणों की एक जाति है। वे अपने मतानुयायियों को इस प्रकार का व्रत लिवाते हैं–हे पुरुष तू यहाँ है। पूर्व दिशा में, पश्चिम दिशा में, उत्तर दिशा में, दक्षिणा दिशा में सौ योजन तक जितने प्राणी है उन्हें तू दण्ड से मुक्त कर।[1] अर्थात् उनकी हिंसा करने का त्याग कर" इस प्रकार कुछ प्राणियों के प्रति दया व्यक्त करते हैं, कुछ के प्रति दया व्यक्त नहीं करते। वस्तुतः यह आक्षेप देशावकाशिक व्रत के सम्बन्ध में है, जो प्रोषध की प्राथमिक अवस्था है। यद्यपि बुद्ध के इस कथन में कुछ सत्यांश है, लेकिन जैन विचारकों का कहना यह है कि व्यक्ति सम्पूर्ण हिंसा का त्याग करे यह उत्तम बात है, वे स्वयं भी प्रोषध व्रत में सम्पूर्ण हिंसा का त्याग ही करवाते हैं। लेकिन यदि साधक सम्पूर्ण हिंसा का परित्याग करने की स्थिति में नहीं है, तो क्या उसे आंशिक हिंसा से विरत कराना उचित नहीं है? कुछ नहीं से तो कुछ उत्तम है। सम्यक् आचरण की दिशा में जितना भी आगे बढ़ा जा सके उतना उत्तम ही है। दूसरे, बुद्धि की विचार दृष्टि में मानसिक पहलू प्रमुख है। मानसिक दृष्टि से हिंसा एक अशुभ विचार है और उसका समग्र रूप में ही परित्याग होना चाहिए, लेकिन महावीर की दृष्टि क्रिया के मानसिक पहलू के साथ भौतिक पहलू पर भी जाती है। हिंसा का विचार अशुभ है, अतः उसकी अशुभता को स्वीकार कर लेना मात्र पर्याप्त नहीं, लेकिन उसे वाह्याचरण में प्रकट करना भी अनिवार्य है। कभी-कभी ऐसे प्रसंग आते हैं, जब बुराई को बुराई समझते हुए भी परिस्थितिवश उसका आचरण करना पड़ जाता है। अहिंसा के आदर्श को स्वीकार कर लेने पर भी हिंसा से सर्वथा बच पाना सम्भव नहीं होता। बुद्ध का हिंसा से तात्पर्य प्राणी जगत् और वनस्पति जगत् तक है, जबकि महावीर का हिंसा से तात्पर्य न केवल प्राणी जगत् और वनस्पति जगत् तक है, वरन् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु को भी वे जीवनयुक्त मानकर उनकी हिंसा को भी हिंसा मानते हैं और ऐसी हिंसा का पूर्णरूपेण त्याग गृहस्थ जीवन में सम्भव नहीं होता है, अतः यथाशक्ति किया जानेवाला आंशिक त्याग अश्रेयस्कर नहीं माना जा सकता।

दूसरी आलोचना में बुद्ध का आक्षेप अन्यत्व की भावना के प्रसंग को लेकर है। बुद्ध कहते हैं, वे (निर्ग्रन्थ) उपोसथ-दिन पर श्रावकों से ऐसा व्रत लिवाते हैं हे पुरुष,

१. अंगुत्तरनिकाय, ३।७०।

उच्चार-प्रसवण भूमि—ठीक-ठीक बिना देखे शौच या लघुशंका के स्थानों का उपयोग करना, ४. अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्त्रवण भूमि–अप्रमार्जित शौच या लघुशंका के स्थानों का उपयोग करना। इन चारों दोषों का विधान प्रमुखतः हिंसा–अहिंसा की विवक्षा से हुआ है। ५. प्रोषधोपवास का सम्यक् रूप से पालन नहीं करना अर्थात् प्रोषध में निन्दा, विकथा, प्रमादादि का सेवन करना।

बौद्ध विचारणा में उपोसथ (प्रोषध)—जैन-परम्परा की भाँति बौद्ध परम्परा में भी प्रारम्भ से ही उपोसथ व्रत गृहस्थ उपासक का एक आवश्यक कर्त्तव्य रहा है। दोनों में इसके आचरण की तिथियाँ भी एक ही थीं। सुत्तनिपात में कहा गया है प्रत्येक पक्ष की चतुर्दशी, पूर्णिमा, अष्टमी और प्रतिहार्य पक्ष को इस अष्टांग उपोसथ का श्रद्धापूर्वक सम्यक् रूप से पालन करना चाहिए।[1] बौद्धपरम्परा में उपोसथ के नियम लगभग जैन परम्परा के समान ही हैं। यथा—१. प्राणिवध न करे, २. चोरी न करे, ३. असत्य न बोले; ४. मादक द्रव्य का सेवन न करे; ५. मैथुन से विरत रहे; ६. रात्रि में विकाल भोजन न करे; ७. माल्य एवं गधं का सेवन न करें; ८. उच्च शय्या का परित्याग कर काठ या जमीन पर शयन करे–ये अष्टशील उपोसथ शील कहे जाते हैं,[2] जिनका उपोसथ के दिन गृहस्थ उपासक पालन करता है। महावीर की परम्परा में भोजन सहित जो प्रोषध किया जाता है वह देशावकाशिक व्रत कहलाता है। बौद्ध परम्परा में उपोसथ में विकाल भोजन का त्याग कहा गया, जबकि जैन परम्परा प्रोषध में सभी प्रकार के भोजन का निषेध करती है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी बातों में लगभग समानता है। प्रोषध के पीछे जो विचार-दृष्टि है, वह यही है कि गृहस्थ जीवन के प्रपंचों से अवकाश पा सप्ताह में एक दिन धर्माराधना की जाये। ईसाई एवं यहूदी परम्परा में मूसा के 'दस आदेशों' या 'धर्म आज्ञाओं' में एक आज्ञा यह भी है कि सप्ताह में एक दिवस विश्राम लेकर पवित्राचरण करना,[3] जो कि इसी उपोसथ या प्रोषध का ही एक रूप थी, चाहे वह आज कितनी ही विकृत क्यों न हो गयी हो। बौद्ध-परम्परा में प्रोषध या उपोसथ का आदर्श अर्हत्व की प्राप्ति है। भगवान् बुद्ध कहते हैं क्षीणास्रव अर्हत् का यह कथन समुचित है कि जो मेरे सदृश होना चाहे वह पक्ष की चतुर्दशी, पूर्णिमा, अष्टमी तथा प्रतिहार्य पक्ष को अष्टांग शीलयुक्त उपोसथ व्रत का आचरण करे।[4] उपोसथ व्रत आजीवक सम्प्रदाय और वेदान्त-परम्परा में थोड़े-बहुत प्रकारान्तर से प्रचलित थे।[5]

बौद्ध विचारणा में निर्ग्रन्थ उपोसथ की आलोचना और उसका उत्तर—बौद्ध विचारणा में अंगुत्तरनिकाय में निर्ग्रन्थ उपोसथ की आलोचना भी की गयी है। बुद्ध कहते हैं,

१. सुत्तनिपात, २६।२८।
२. सुत्तनिपात, २६।२५–२७।
३. बाइबल ओल्ड टेस्टामेंट, निर्गमन २०।
४. अंगुत्तरनिकाय, ३।३७।
५. दर्शन और चिन्तन, [illegible]

उपोसथ (व्रत) तीन प्रकार का होता है १. गोपाल उपोसथ, २. निर्ग्रन्थ उपोसथ, ३. आर्य उपोसथ। निर्ग्रन्थ उपोसथ की आलोचना में बुद्ध दो आक्षेप प्रस्तुत करते हैं—१. दिशामर्यादा के द्वारा समस्त प्राणियों के प्रति दयाभाव व्यक्त नहीं होता, २. दूसरे प्रोषध में जो अन्यत्व की भावना की जाती या जिस भेद-विज्ञान का अभ्यास किया जाता है वह एक असत्य सम्भाषण है।

पहली आलोचना के सम्बन्ध में बुद्ध कहते हैं, "हे विशाखे, निर्ग्रन्थ श्रमणों की एक जाति है। वे अपने मतानुयायियों को इस प्रकार का व्रत लिवाते हैं–हे पुरुष तू यहाँ है। पूर्व दिशा में, पश्चिम दिशा में, उत्तर दिशा में, दक्षिणा दिशा में सौ योजन तक जितने प्राणी हैं उन्हें तू दण्ड से मुक्त कर।[1] अर्थात् उनकी हिंसा करने का त्याग कर" इस प्रकार कुछ प्राणियों के प्रति दया व्यक्त करते हैं, कुछ के प्रति दया व्यक्त नहीं करते। वस्तुतः यह आक्षेप देशावकाशिक व्रत के सम्बन्ध में है, जो प्रोषध की प्राथमिक अवस्था है। यद्यपि बुद्ध के इस कथन में कुछ सत्यांश है, लेकिन जैन विचारकों का कहना यह है कि व्यक्ति सम्पूर्ण हिंसा का त्याग करे यह उत्तम बात है, वे स्वयं भी प्रोषध व्रत में सम्पूर्ण हिंसा का त्याग ही करवाते हैं। लेकिन यदि साधक सम्पूर्ण हिंसा का परित्याग करने की स्थिति में नहीं है, तो क्या उसे आंशिक हिंसा से विरत कराना उचित नहीं है? कुछ नहीं से तो कुछ उत्तम है। सम्यक् आचरण की दिशा में जितना भी आगे बढ़ा जा सके उतना उत्तम ही है। दूसरे, बुद्धि की विचार दृष्टि में मानसिक पहलू प्रमुख है। मानसिक दृष्टि से हिंसा एक अशुभ विचार है और उसका समग्र रूप में ही परित्याग होना चाहिए, लेकिन महावीर की दृष्टि क्रिया के मानसिक पहलू के साथ भौतिक पहलू पर भी जाती है। हिंसा का विचार अशुभ है, अतः उसकी अशुभता को स्वीकार कर लेना मात्र पर्याप्त नहीं, लेकिन उसे बाह्याचरण में प्रकट करना भी अनिवार्य है। कभी-कभी ऐसे प्रसंग आते हैं, जब बुराई को बुराई समझते हुए भी परिस्थितिवश उसका आचरण करना पड़ जाता है। अहिंसा के आदर्श को स्वीकार कर लेने पर भी हिंसा से सर्वथा बच पाना सम्भव नहीं होता। बुद्ध का हिंसा से तात्पर्य प्राणी जगत् और वनस्पति जगत् तक है, जबकि महावीर का हिंसा से तात्पर्य न केवल प्राणी जगत् और वनस्पति जगत् तक है, वरन् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु को भी वे जीवनयुक्त मानकर उनकी हिंसा को भी हिंसा मानते हैं और ऐसी हिंसा का पूर्णरूपेण त्याग गृहस्थ जीवन में सम्भव नहीं होता है, अतः यथाशक्ति किया जानेवाला आंशिक त्याग अश्रेयस्कर नहीं माना जा सकता।

दूसरी आलोचना में बुद्ध का आक्षेप अन्यत्व की भावना के प्रसंग को लेकर है। बुद्ध कहते हैं, वे (निर्ग्रन्थ) उपोसथ-दिन पर श्रावकों से ऐसा व्रत लिवाते हैं हे पुरुष,

---

१. अंगुत्तरनिकाय, ३।७०।

तू आ सभी वस्त्रों का त्याग कर इस प्रकार व्रत ले—'**न मैं किसी का कुछ हूँ और न मेरा कहीं कोई कुछ है**' किन्तु उसके माता-पिता जानते हैं कि यह मेरा पुत्र है और पुत्र भी जानता है कि ये मेरे माता-पिता हैं;···उसके दास-नौकर जानते हैं यह हमारा स्वामी है और वह भी जानता है कि ये मेरे दास-नौकर हैं। जिस समय ऐसा व्रत लेते हैं वे झूठा व्रत लेते हैं, इस प्रकार वे मृषावादी होते हैं। उस रात्रि के बीतने पर (त्यक्त) वस्तुओं को बिना किसी के दिये ही उपयोग में लाते हैं, इस प्रकार चोरी करनेवाले होते हैं।[1]

वर्तमान में पिटक साहित्य में उल्लेखित इन शब्दों का उपयोग अन्यत्व की भावना का चिन्तन करते समय किया तो जाता है, लेकिन किसी भी व्रत की प्रतिज्ञा ग्रहण करने में नहीं होता है, लेकिन किसी समय प्रतिज्ञा सूत्र में शब्द अवश्य रहे होंगे, क्योंकि ऐसा ही आक्षेप आजीवक सम्प्रदाय द्वारा निर्ग्रन्थ सामायिकव्रत के सम्बन्ध में उठाया गया था।[2] भगवती सूत्र में इस आक्षेप का रूप निम्न है—उपाश्रय में सामायिक लेकर बैठे हुए श्रावक वस्त्राभरणादि और स्त्री का त्याग करते हैं। उस समय उनके वस्त्राभरण को कोई उठा ले या उनकी स्त्री के साथ कोई संसर्ग करे, व्रत के पूरे होने पर क्या वे अपने वस्त्राभरण खोजते हैं या अन्य के, उनकी त्यक्त स्त्री से जिसने संसर्ग किया उसने उनकी स्त्री का संसर्ग किया या अन्य की? महावीर ने इसके समाधान में उत्तर दिया कि "वे अपने ही वस्त्रादि खोजते हैं, अन्य के नहीं और इस तरह स्त्री-संग करने वाले ने उनकी स्त्री का ही संसर्ग किया अन्य का नहीं, ऐसा मानना चाहिए। क्योंकि श्रावक ने मर्यादित समय के लिए उनका त्याग किया था, मन से बिलकुल ममत्व नहीं छोड़ा था।" जो उत्तर आजीविकों के आक्षेप का है वह उत्तर बुद्ध के आक्षेप का भी है, क्योंकि वह मर्यादित समय के लिए त्याग करता है, अतः उस अवधि के समाप्त होने पर वह न तो चोरी का भागी है और न प्रतिज्ञा लेते समय असत्य सम्भाषण ही करता है।

१२. अतिथि-संविभागव्रत

यह व्रत गृहस्थ एवं श्रमण संस्था के पारस्परिक सहयोग के रूप में गृहस्थ उपासक का एक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है। गृहस्थ उपासक के लिए अतिथि-सेवा का महत्त्व न केवल जैन परम्परा में, वरन् वैदिक और बौद्ध परम्परा में भी स्वीकार किया गया है। अतिथि वह होता है जिसके आगमन की तिथि (समय) पूर्व निर्धारित नहीं होती है और ऐसे अतिथि के लिए अपने निमित्त बनायी गयी अपने अधिकार की वस्तुओं में से समु-

---

१. अंगुत्तरनिकाय, ३।७०।

२. भगवतीसूत्र (व्याख्याप्रज्ञप्ति) शतक ८ उद्देशक ५, देखिए-दर्शन और चिन्तन भाग २, पृ० १०४।

चित विभाग (संविभाग) करके, अतिथि अथवा अतिथिगण को उनके द्वारा अपेक्षित योग्य वस्तु का दान कर देना गृहस्थ का अतिथि-संविभागव्रत है। अतिथि-संविभागव्रत का मूलाशय यह है कि गृहस्थ के कर्तव्यों की सीमा केवल अपने और अपने परिजनों की आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही नहीं रहे, वरन् उसमें निःस्वार्थ भाव से समाजसेवा करने की वृत्ति भी जागृत होवे, यद्यपि आचार्य भिक्षु आदि कुछ जैन विचारकों की दृष्टि में गृहस्थ के अतिथि-संविभागव्रत में अतिथि शब्द का अर्थ जैन श्रमण एवं श्रमणी तक ही सीमित है, लेकिन श्रावकप्रज्ञप्ति में श्रमण, श्रमणी, श्रावक एवं श्राविका इन चारों को ही अतिथि कहा गया है।[1] इस प्रकार श्रमण, श्रमणी, श्रावक तथा श्राविका को गृहस्थ के द्वार पर उपस्थित होने पर उनका भक्तिपूर्वक सम्मान करके अपनी साम्पत्तिक अवस्था के अनुरूप उन्हें अन्न, पान, वस्त्र, औषध एवं निवासस्थान आदि प्रदान करना गृहस्थ का अतिथि संविभागव्रत है। अपनी विस्तृत परिभाषा में सच्चरित्र त्यागी महात्मा, सामाजिक बन्धुगण और दीन-दुःखी वृद्ध एवं रोगियों की भक्ति एवं प्रेमपूर्वक निःस्वार्थ सेवा, करना ही जैन गृहस्थ के अतिथि-संविभागव्रत का अन्तिम आदर्श है। आचार्य हरिभद्र योगशतक में गुरु, देव, अतिथि आदि के पूजा सत्कार तथा दीनजनों को दान देने का विधान करते हैं।[2] इतना ही नहीं, उन्होंने योगबिन्दु में गुरु की विस्तृत परिभाषा देकर उसे और विस्तृत बना दिया है। वे कहते हैं माता, पिता, कलाचार्य, उनके सम्बन्धी, वृद्धजन और धर्मोपदेशक सभी गुरु वर्ग में आते हैं।[3] गृहस्थ को इन सबकी योग्य सेवा-शुश्रुषा करनी चाहिये।

इस व्रत के अतिचारों (दोषों) की विवेचना में मुख्य दृष्टि जैन भिक्षु एवं भिक्षुणी को दिये जाने वाले दान से सम्बन्धित ही है। अतिथि-संविभागव्रत के पाँच दोष (अतिचार) हैं—(१) सचित्त निक्षेपण—साधु को दिये जाने योग्य आहार में किसी सचित्त (सजीव) वस्तु को मिला देना, जिससे वह उसके ग्रहण करने योग्य न रहे। (२) सचित्तापिधान—अदानबुद्धि से उनके ग्रहण करने योग्य निर्दोष वस्तु को किसी सचित्त वस्तु से ढँक देना। (३) कालातिक्रम—भिक्षा का समय व्यतीत होने के पश्चात् भोजन तैयार करना। (४) परव्यपदेश—न देने की भावना से अपनी वस्तु को दूसरे की बताना। (५) मात्सर्य—ईर्ष्या-बुद्धि से दान देना या कृपणतापूर्वक दान देना।

इसके अतिरिक्त स्वयं दान नहीं देने से, दान देने वाले को दान देने से रोकने से तथा दान देकर पश्चात्ताप करने से भी व्रत भंग होता है।

बौद्ध विचारणा में गृहस्थ धर्म

बौद्धदर्शन में गृहस्थ उपासकों के लिए आचरण के जो नियम प्रस्तुत किए गये हैं

१. देखिए—अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ७, पृ० ८१२। २. योगशतक, २५।
३. देखिए—समदर्शी हरिभद्र, पृ०

वे विभिन्न पिटक ग्रन्थों में यत्रतत्र बिखरे मिलते हैं। फिर भी बौद्ध विचारणा में जैन विचारणा के समान गृहस्थ उपासकों के लिए आवश्यक गुणों (मार्गानुसारी गुण) एवं व्रतों का विधान मिलता है।

सर्वप्रथम जैन विचारणा के समान ही बौद्ध विचारणा में भी गृहस्थ उपासक के लिए सम्यक् श्रद्धा को आवश्यक माना गया है। बुद्ध का निर्देश यही है। गृहस्थ को बुद्ध, धर्म और संघ में श्रद्धा रखनी चाहिये। अंगुत्तरनिकाय में सारिपुत्त के प्रति बुद्ध यही कहते हैं कि जो साधक बुद्ध, धर्म और संघ में श्रद्धा रखता हुआ नैतिक आचरण से समन्वित होता है, वही साधना के सम्यक् मार्ग में प्रविष्ट होता है। आर्य-श्रावक बुद्ध के प्रति अविचल श्रद्धा से युक्त होता है, वह भगवान अर्हत् हैं, सम्यक्-सम्बुद्ध हैं, विद्या तथा आचरण से युक्त हैं, सुगत हैं, लोकविद् हैं, अनुपम हैं, (दुष्ट) पुरुषों का दमन करनेवाले सारथी हैं, देवताओं तथा मनुष्यों के शास्ता हैं। आर्य-श्रावक धर्म के प्रति अविचल श्रद्धा से युक्त होता है—भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म अच्छी प्रकार समझाकर देशना किया गया हैं, वह सांदृष्टिक (प्रत्यक्ष) धर्म है, वह काल के बंधन से परे है, उसके बारे में यह कहा जा सकता है कि आओ और स्वयं परीक्षा करके देख लो, (निर्वाण की ओर) ले जानेवाला है, प्रत्येक विज्ञ पुरुष स्वयं जान सकता है। आर्य-श्रावक संघ के प्रति अविचल श्रद्धा से युक्त होता है—भगवान् का श्रावक-संघ सुप्रतिपन्न है, भगवान् का श्रावक संघ ऋजु (मार्ग में) प्रतिपन्न है, भगवान् का श्रावक संघ न्याय (मार्ग पर) प्रतिपन्न है, भगवान् का श्रावक संघ उचित पथ पर प्रतिपन्न है। यह आदर करने योग्य है। यह सत्कार करने योग्य है। यह दक्षिणा के योग्य है। यह हाथ जोड़ने योग्य है। यह अशुद्ध चित्त की शुद्धि का कारण होता है तथा मैले चित्त की निर्मलता का कारण होता है।[1]

दीघनिकाय में बुद्ध ने गृहस्थ-जीवन के व्यावहारिक नियमों का भी प्रतिपादन किया हैं। बुद्ध कहते हैं—(१) नीतिपूर्वक सदैव प्रयत्नशील रहता हुआ धनार्जन करे, क्योंकि प्रयत्नशील रहने से ही ऐश्वर्य में वृद्धि होती है।[2] (२) उपार्जित धन के एक भाग का उपभोग करे, दो भागों को पुनः व्यवसाय में लगावे तथा एक भाग को भविष्य के आपत्ति काल के लिए सुरक्षित रखे।[3] (३) परिवार एवं समाज का योग्य रीति से परिपालन करे। गृहस्थ उपासक के लिए माता-पिता पूर्व दिशा है, आचार्य (शिक्षक) दक्षिण दिशा है, स्त्री एवं पुत्र पश्चिम दिशा है, मित्र एवं अमात्य उत्तर दिशा है, दास एवं नौकर कर्मकर (शिल्पी) अधोदिशा है, श्रमण ब्राह्मण उर्ध्व दिशा है। गृहस्थ को अपने कुल में इन छहों दिशाओं को अच्छी तरह नमस्कार करना चाहिए अर्थात् इनकी यथायोग्य सेवा

१. अंगुत्तरनिकाय, ५।
२. दीघनिकाय, ३।८।४।
३. वही, ३।८।४।

करनी चाहिए।[1] (४) गृहस्थ को किन किन सद्गुणों से युक्त होना चाहिए; इसके संबंध में बुद्ध का निर्देश है कि जो गृहस्थ बुद्धिमान्, सदाचारपरायण, स्नेही, प्रतिभावना, निवृत्तवृत्ति, आत्मसंयमी, उद्योगी, निरालस, आपत्ति में नहीं डिगने वाला, निरन्तर कार्य करनेवाला एवं मेधावी होता है, वही यश को प्राप्त करता है, अर्थात् उपर्युक्त गुणों से युक्त होकर ही यशस्वी गृहस्थ-जीवन जिया जा सकता है।[2] (५) गृहस्थ उपासक को इन दुर्गुणों से बचने का निर्देश दिया है—(अ) जीव हिंसा, चोरी, झूठ और पर स्त्रीगमन-क्योंकि ये कलुषित कर्म हैं। (ब) जुआ, कुसंगति, आलस्य, अतिनिद्रा, अनर्थकरना, लड़ना झगड़ना और अतिकृपणता कलुषित कर्म हैं क्योंकि ये ऐश्वर्य विनाश के कारण हैं। (स) मद्यपान—यह धन की हानि करता है, कलह को बढ़ाता है रोगों का घर है, अपयश को उत्पन्न करता है, लज्जानाशक और बुद्धि को दुर्बल बनाने वाला है।[3]

अष्टशील

सुत्तनिपात में धम्मिकसुत्त में बुद्ध ने गृहस्थ-धर्म के अष्टशील का विवेचन किया है। वे कहते हैं कि 'मैं तुम्हें गृहस्थ-धर्म बताता हूँ जिसके आचरण से श्रावक सदाचारी होता है, क्योंकि सम्पूर्ण भिक्षु-धर्म परिग्रही से प्राप्त नहीं है।'

पंच सामान्य शील[4] (१) **अहिंसा शील**—संसार के स्थावर और जंगम सब प्राणियों के प्रति हिंसा का त्याग, न तो प्राणी का वध करे, न करावे और न करने की दूसरों को अनुमति ही दे। (२) **अचौर्य शील**—दूसरे की समझी जाने वाली किसी चीज को चुराना त्याग दे, न चुरावे और न चुराने की अनुमति ही दे। चोरी का सर्वथा परित्याग करे। (३) **ब्रह्मचर्य या स्वपत्नी सन्तोष**—जलते कोयले के गड्ढे की तरह विज्ञ अब्रह्मचर्य को त्याग दे। ब्रह्मचर्य का पालन असम्भव हो तो पर-स्त्री का अतिक्रमण न करें। (४) **अमृषावाद शील**—किसी सभा या परिषद् में जाकर न तो एक दूसरे को असत्य बोले, न बुलवावे और न बोलने की अनुमति ही दे। मिथ्या-भाषण सर्वथा त्याग दे। (५) **मद्यपान विरमण शील**—इस धर्म का इच्छुक गृहस्थ मद्यपान का परिणाम उन्माद जानकर न तो उसका सेवन करे, न पिलावे और न पीने की अनुमति दे।

तीन उपोषथ शील[5] (६) **विकाल भोजन परित्याग**—रात्रि में एवं विकाल में भोजन न करे। (७) **माल्य गन्ध विरमण**—माला धारण न करे, सुगन्धि का सेवन न करे। (८) **उच्च शय्या विरमण**—काठ, जमीन या सतरंजी पर लेटे।

भिक्षु संघ संविभाग[6] —अन्न और पान से अपनी शक्ति के अनुसार श्रद्धापूर्वक प्रसन्नता से भिक्षुओं को दान दे।

---

१. दीघनिकाय, ३।८।५। २. वही, ३।८।५। ३. वही, ३।८।५, ३।८।२।
४. सुत्तनिपात २६।१९-२३। ५. वही, २६।२४-२६। ६. वही, २६।२८।

निषिद्ध व्यापार परित्याग[1]—पांच व्यापार उपासक के लिए अकरणीय है। (१) अस्त्रशस्त्रों का व्यापार, (२) प्राणियों का व्यापार, (३) मांस का व्यापार, (४) मद्य का व्यापार, (५) विष का व्यापार। इन पाँच व्यवसायों का परित्याग कर किसी धार्मिक व्यापार में लगे (पयोजये धम्मिकं सो वाणिज्जं-सुत्तनिपात २५।२९)।

भगवान् बुद्ध ने भी भगवान् महावीर के पाँच अणुव्रतों के समान ही गृहस्थ उपासकों के लिए पाँच शीलों का उपदेश किया है। बौद्ध विचारणा के गृहस्थ जीवन के पाँच शील जैन-विचारणा के अणुव्रतों के समान ही हैं, अन्तर केवल यह है कि भगवान् बुद्ध का पाँचवाँ शील मद्य निषेध है, जबकि जैन विचारणा का पाचवाँ अणुव्रत परिग्रह परिमाण है। ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध विचारणा में गृहस्थ उपासक के लिए परिग्रह-मर्यादा को इतना अधिक महत्त्व प्रदान नहीं किया गया जितना कि जैन परम्परा में उसे दिया गया है। यद्यपि बुद्ध के अनेक वचन परिग्रह की मर्यादा का संकेत करते हैं। भगवान् बुद्ध कहते हैं कि 'जो मनुष्य खेती, वास्तु (मकान), हिरण्य (चाँदी, स्वर्ण), गो, अश्व, दास, बन्धु इत्यादि की कामना करता है, उसे वासनाएँ दबाती हैं और बाधाएँ मर्दन करती हैं। तब वह पानी में टूटीनाव की तरह दुःख में पड़ता है[2]। बौद्ध विचारणा के मद्य निषेध का महत्त्व तो जैन विचारणा में स्वीकार किया गया लेकिन उसके लिए स्वतन्त्र अणुव्रत की मान्यता जैनागमों में नहीं है। मद्य-निषेध को सातवें उपभोग-परिभोग नाम अणुव्रत के अन्तर्गत ही मान लिया गया है। यदि हम बौद्ध-विचारणा की दृष्टि से गृहस्थ-धर्म का विवेचन करें तो हमें जैन विचार सम्मत गृहस्थ जीवन के बारह व्रतों की धारणा के स्थान पर अष्टशील एवं भिक्षु संघ संविभाग की धारणा मिलती है। (१) हिंसा-परित्याग (प्राणातिपात विरमण), (२), चोरी परित्याग (अदत्तादान विरमण), (३) अब्रह्मचर्य परित्याग या परस्त्री अनातिक्रमण (मैथुन विरमण या स्वपत्नी सन्तोष व्रत), (४) असत्य परित्याग (मृषावाद विरमण), (५) मद्यपान परित्याग, (६) रात्रि एवं विकाल भोजन परित्याग, (७) माल्य गन्ध धारण परित्याग, (८) उच्च शय्या परित्याग। (अन्तिम तीन शीलों का सम्बन्ध उपोपथ है।) (९) भिक्षु संघ संविभाग (अतिथि संविभाग व्रत)।

तुलना

इस प्रकार जैन विचारणा के परिग्रह परिमाण व्रत एवं दिशा परिमाण व्रत का विवेचन बौद्ध विचारणा में स्पष्ट रूप से उपलब्ध नहीं होता है। जैन विचारणा के सामायिक व्रत को सम्यक्समाधि के अन्तर्गत माना जा सकता है यद्यपि उसका शील (व्रत) के रूप में निर्देश बौद्ध-ग्रन्थों में नहीं है। इसी प्रकार जैन देशावकाशिक व्रत को बौद्ध उपोषथ के अन्तर्गत तथा बोद्ध मद्यपान एवं रात्रि भोजन परित्याग को जैन उप-

१. अगुंत्तरनिकाय, निपात ५, पृ० ४०१। २. सुत्तनिपात, ३९।४-५।

भोग-परिभोग व्रत का ही आंशिक रूप माना जा सकता है। दूसरी अपेक्षा से विकाल भोजन, माल्यगन्धधारण और उच्च शय्या परित्याग तीनों शील उपोपथ के विशेष अंग होने से जैन प्रोषध व्रत से तुलनीय हैं।

बौद्ध विचारणा में भी गृहस्थ उपासक के लिये निषिद्ध व्यवसायों का उल्लेख है। अन्तर यही है कि जैन विचारणा में उनकी संख्या १५ है, जब कि बौद्ध विचारणा में केवल ५ है। जहाँ जैन-विचारणा के द्वारा गृहस्थ उपासक के लिए पाँच अणुव्रतों की व्यवस्था है, वहाँ बौद्ध विचारणा में पचशील की व्यवस्था है। लेकिन फिर भी दोनों में अन्तर यह है कि बौद्ध विचारणा में भिक्षु एवं गृहस्थ उपासक के लिए आचरणीय पंचशील में कोई अन्तर नहीं है। गृहस्थ उपासक की सीमाओं का ध्यान रखकर उनमें कोई संशोधन नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ—सुत्तनिपात में गृहस्थ धर्म के उपदेश में गृहस्थ उपासक के लिए त्रस एवं स्थावर दोनों प्रकार के जीवों की हिंसा का निषेध है, जब कि गृहस्थ उपासक का स्थावर प्राणियों की हिंसा से विरत होना सम्भव नहीं है। जैन विचारणा भिक्षु के पाँच महाव्रतों को काफी लचीला बनाकर अणुव्रतों के रूप में उन्हें गृहस्थ उपासक के लिए प्रस्तुत करती है। जिससे उन व्रतों की प्रतिज्ञाओं का सम्यक् परिपालन असंभव न हो। दूसरे, जहाँ जैन विचारणा में अणुव्रतों की प्रतिज्ञा का विधान अधिकांश रूप से मनसा कृत, वाक्कृत, कर्मणाकृत, (करना) मनसाकारित, वाक्कारित और कायकारित (करवाना) इन छः भंगों या छः से कम भंगों से किया गया है, वहाँ बौद्ध-विचारणा में ९ भंग का विधान किया गया लगता है, क्योंकि सुत्त-निपात में जहाँ हिंसा विरमण, मृषा विरमण और अदत्तादान विरमण में कृत, कारित और अनुमोदित की कोटियों का विधान किया गया है जो मनसा, वाचा, कर्मणा की दृष्टि से नौ बन जाती है। जैन विचारणा केवल साधु के लिए ही नवभंग (नवकोटि) प्रतिज्ञा का विधान करती है। यद्यपि ब्रह्मचर्य या परस्त्री अनतिक्रमण की प्रतिज्ञा में जैन और बौद्ध दोनों दृष्टि भंग विधान नहीं करती है ऐसा सुत्तनिपातके उपरोक्त वर्णन से लगता है। वहाँ मात्र यही कहा गया है कि ब्रह्मचर्य का पालन असम्भव हो तो परस्त्री का अतिक्रमण न करे। काल-दृष्टि से विचार करने से जैन विचारणा में ५ अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों की प्रतिज्ञा जीवन पर्यन्त के लिए होती है, इनके प्रतिज्ञा सूत्रों से इसकी पुष्टि होती है[1]। बौद्ध विचारणा में भी पंचशील को यावज्जीवन के लिए ग्रहण किया जाता है। शेष तीन शील जिन्हें उपोषथ शील भी कहा जाता है, शिक्षाव्रतों के समान एक विशेष समयावधि (एक दिन) के लिए ही ग्रहण किये जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध परम्परा में वर्णित गृहस्थ-आचार जैन परम्परा से बहुत कुछ साम्य रखता है।

---

१. उपासकदशांग, अध्ययन १।

हिन्दू आचार दर्शन में गृहस्थ धर्म

यद्यपि गीता में जैन-दर्शन के समान व्रत व्यवस्था का अभाव है, तथापि जैन गृहस्थ के आचार से सम्बन्धित अनेक तथ्य ऐसे हैं जिन पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जा सकता है।

जिस प्रकार जैन आचार दर्शन में सम्यक् श्रद्धा को आवश्यक माना गया है, उसी प्रकार गीता एवं समग्र हिन्दू आचार-दर्शन में भी श्रद्धा को आवश्यक माना गया है। इतना ही नहीं, गीता श्रद्धा पर जैन विचारणा की अपेक्षा अधिक जोर देती है। गीता में कहा है कि पुरुष श्रद्धामय है। व्यक्ति की जैसी श्रद्धा होती है, वैसा ही वह होता है अर्थात् श्रद्धा के अनुरूप ही उसके चरित्र का निर्माण होता है[१]। जो व्यक्ति श्रद्धा-युक्त है, यद्यपि योगमार्ग (आचरण की दिशा) में प्रयत्न करने वाला नहीं है अथवा योगमार्ग (आचरण) से भ्रष्ट हो गया है, उसका न तो विनाश होता और न वह दुर्गति में जाता है वरन् धीरे-धीरे प्रयत्न करते हुए अनेक जन्मों के अन्त में सिद्धि प्राप्त कर लेता है।[२]

गीता में भी अविरत सम्यक् दृष्टि नामक उस वर्ग को स्वीकार किया गया है जो श्रद्धा समन्वित होते हुए भी आचरण की दिशा में आगे नहीं बढ़ता है। गीताकार ने 'अयतिःश्रद्धयोपेतो' (अयतिः = अप्रयत्नवान् योगमार्ग)[३] कहकर उसका निर्देश किया है।

यद्धपि गीता में जैन-विचारणा-सम्मत सप्त दुर्व्यसनों के त्याग का कोई निर्देश नहीं मिलता, तथापि महाभारत में जुआ, मद्यपान, परस्त्री-संसर्ग और मृगया (शिकार) इन चार व्यसनों के त्याग का निर्देश है[४]।

गीता में जैन-विचारणा की भाँति गृहस्थ-साधक के व्रतों का कोई स्पष्ट विवेचन उपलब्ध नहीं है। गीता में अहिंसा[५] सत्य[६] ब्रह्मचर्य[७] अपरिग्रह[८] का सामान्य निर्देश अवश्य है, तथापि वह यह नहीं बताती है कि गृहस्थ जीवन में इनका पालन किस प्रकार किया जावे। गीता सैद्धान्तिक रूप में तो उन्हें स्वीकार करती है, फिर भी गृहस्थ जीवन के योग्य उनके व्यावहारिक स्वरूप का उसमें उल्लेख नहीं है। गीता में मात्र सद्गुणों के रूप में उनका उल्लेख किया गया है। गीता ने यह कहकर कि जो गृहस्थ बिना दिये भोग करता है वह चोर ही है, गृहस्थ के सामाजिक उत्तरदायित्व को स्पष्ट अवश्य किया है[९]!

---

१. गीता १७।३।
२. वही, ६।३७, ४५।
३. वही (शां०) ६।३७।
४. महाभारत शान्तिपर्व, २८८।२६।
५. गीता, १०।९, १३।७, १६।२, १७।१४।
६. वही, १०।४, १६।२-७, १७।१५।
७. वही, ६।१४, ८।११, १७।१४।
८. वही, ६।१०।
९. वही, ३।१२।

इसी प्रकार जैन-साधना में गृहस्थ के ७ शिक्षाव्रतों के पीछे जिस अनासक्ति की भावना के विकास का दृष्टिकोण है, वही अनासक्ति की वृत्ति गीता का मूल उद्देश्य है। गीता में आहार विवेक का निर्देश भी उपलब्ध है, गीता ने सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के आहारों का विवेचन किया है। जैन-साधना में वर्णित सामायिक-व्रत की तुलना गीता के ध्यानयोग की साधना के साथ की जा सकती है। जिस प्रकार सामायिक व्रत में पवित्र स्थान में सम आसन से मन, वाक् और शरीर का संयम किया जाता है, उसी प्रकार गीता के अनुसार ध्यानयोग की साधना में भी शुद्ध भूमि पर सम आसन से बैठकर शरीर चेष्टा और चित्तवृत्तियों का संयम किया जाता है। इसी प्रकार अतिथि संविभाग व्रत की जो विवेचना जैन-धर्म में उपलब्ध है, वह गीता में भी है। गीता में दान गृहस्थ का एक आवश्यक कर्त्तव्य माना गया है।

गृहस्थ-धर्म के सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट विवेचना एवं तुलना के लिए हमें महाभारत की ओर जाना होगा। गीता तो महाभारत का ही एक अंग है। महाभारत में गृहस्थ-धर्म के सम्बन्ध में ऐसे अनेक निर्देश हैं, जो जैन आचार में वर्णित गृहस्थ-धर्म से साम्यता रखते हैं।

निम्न पंक्तियों में केवल तुलनात्मक दृष्टि से साम्य रखने वाले गृहस्थ-आचार को ही प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. वृथा पशुओं की हिंसा न करे।[1] (अहिंसाणुव्रत)

२. जुआ न खेले और दूसरों का धन न ले।[2] (अस्तेय-अणुव्रत)

३. किसी को गाली न दे, व्यर्थ न बोले, दूसरों की चुगली या निन्दा न करे, मित-भाषी हो, सत्यवचन बोले तथा इसके लिए सदा सावधान रहे।[3] (सत्य-अणुव्रत)

४. अपनी पत्नी के साथ ही विहार करे, परस्त्री के साथ नहीं। अपनी स्त्री को भी जब तक वह ऋतुस्नाता न हुई हो समागम के लिए अपने पास नहीं बुलाये और मन में एक पत्नीव्रत धारण करे।[4] (स्वपत्नी सन्तोषव्रत)।

५. गृहस्थ के लिए चार प्रकार की (संग्रह) वृत्ति बतायी है—१. कोठे भर अनाज का संग्रह करके रखना, २. कुंडे भर अनाज संग्रहीत करके रखना, ३. एक दिवस के उपभोग जितने ही अन्न का संग्रह रखना, ४. कापोतीवृत्ति (उच्छवृत्ति)। इन चारों में प्रत्येक अपने पूर्ववर्ती की अपेक्षा श्रेष्ठ मानी गयी है।[5] (परिग्रह परिमाण व्रत)।

६. विकाल में भोजन नहीं करे[6]। उपवास न करे किन्तु अधिक भी नहीं खाये,

---

१. महाभारत शान्तिपर्व, २४३।५। २. वही, २६९।२४।
३. वही, २६९।२५। ४. वही, २६९।२७।
५. वही, २४३।२-३। ६. वही, २४३।७।

सदा भोजन के लिए लालायित न रहे, जितना जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक है उतना ही अन्न पेट में डाले। (उपभोग-परिभोगव्रत)।

७. केवल अपने लिए भोजन नहीं बनाये।[1] उसे ऐसे सभी लोगों को, जो अपने हाथ से भोजन नहीं पकाते (संन्यासी आदि), सदा ही अन्न देना चाहिए, क्योंकि गृहस्थाश्रम में संविभाग की विधि है[2]। जिस गृहस्थ के घर में अतिथि भिक्षा न पाने के कारण निराश लौट जाता है। वह गृहस्थ को अपना पाप देकर उसका पुण्य ले जाता है[3]। (अतिथि संविभागव्रत)।

८. ब्राह्मण दान से, क्षत्रिय युद्ध (सैनिक वृत्ति) से, वैश्य न्यायपूर्वक व्यवसाय या खेती आदि से और शूद्र सेवा से आजीविका उपार्जित करे।[4] विशेष अवस्था में ब्राह्मण और शूद्र व्यापार, पशुपालन और शिल्प-कला से भी अपनी आजीविका उपार्जित कर सकते हैं।[5] महाभारत के अनुसार—नाचना आदि रंगमंचके कार्य, बहुरुपिये का कार्य, मदिरा और मांस का व्यवसाय, लोहे एवं चमड़े का व्यवसाय निन्द्य है और इन्हें छोड़ने की सलाह दी गई है।[6] ब्राह्मण के लिए मांस, मदिरा, मधु (शहद), नमक, तिल, बनायी हुई रसोई, घोड़ा, बैल, गाय, बकरा आदि पशुओं का व्यापार निषिद्ध माना गया है।[7] (निषिद्ध आजीविका)।

वैदिक परम्परा के गृहस्थ आचार का जैन-परम्परा से प्रमुख अन्तर यज्ञ विधान को लेकर है। वैदिक परम्परा में गृहस्थ के लिए इन पाँच यज्ञों का विधान है—१. भूतयज्ञ (प्राणियों को अन्न प्रदान करना), २. मनुष्य-यज्ञ (अतिथि पूजन), ३. देव-यज्ञ (होम), ४. पितृ-यज्ञ (श्राद्ध) ५. ब्रह्म-यज्ञ (वेदपाठ स्वाध्याय)। यदि विचारपूर्वक देखें तो उपर्युक्त पाँच यज्ञों में मात्र देव-यज्ञ (होम) और पितृ-यज्ञ (श्राद्ध) यही दो ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध जैन विचारधारा से नहीं है।

गांधी जी की व्रत-व्यवस्था और जैन परम्परा

वर्तमान युग में गांधीवादी दर्शन में जिन एकादश व्रतों का विधान है[8], उनका जैन

---

१. महाभारत शान्तिपर्व, २६९।२६।
२. वही, २४३।५-११।
३. वही, १९१।१२।
४. वही, २९४।१।
५. वही, २९४।३-४।
६. वही, २९४।५-६।
७. वही, ७८।४-५। देखिए—महाभारत शान्तिपर्व अ० २६२, २६३
८. अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह।
शरीर-श्रम अस्वाद सर्वत्र भय वर्जन॥
सर्वधर्मी समानत्व स्वदेशी समभावना।
ही एकादशे सेवावी नम्रत्वे व्रत निश्चये॥

आचारदर्शन की व्रत व्यवस्था से काफी साम्य है। यद्यपि यह कहना तो उचित नहीं होगा कि उन्होंने इस व्रत-विचार को जैन परम्परा से ही ग्रहण किया है, तथापि जैन धर्म के पारिवारिक संस्कारों और समकालीन जैन आध्यात्मिक विचारक श्रीमद्राजचन्द्र भाई (जिनसे गांधीजी काफी अधिक प्रभावित थे) के सम्पर्क से उनकी व्रत विचारणा अप्रभावित भी नहीं कही जा सकती। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर निम्न-लिखित साम्य परिलक्षित होता है :—

जैन आचारदर्शन	गांधीवादी दर्शन
१. अहिंसाव्रत	१. अहिंसाव्रत
२. सत्यव्रत	२. सत्यव्रत
३. अचौर्यव्रत	३. अचौर्यव्रत
४. स्वपत्नीसंतोष अथवा ब्रह्मचर्यव्रत	४. ब्रह्मचर्य
५. अपरिग्रह	५. अपरिग्रह
६. दिशा परिमाण	६. (शरीर श्रम)
७. उपभोग-परिभोग विरमण	७. अस्वाद
८. अनर्थदण्ड	८. भय-वर्जन
९. सामायिक	९. सर्वधर्म समानत्व
१०. देशावकाशिक	१०. (स्पर्श-भावना)
११. पौषधव्रत	११. (स्वदेशी)
१२. अतिथि संविभाग	

इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधीवादी व्रतव्यवस्था युगीन समस्याओं के प्रकाश में किया हुआ जैन व्रतव्यवस्था का संशोधित अद्यतन संस्कार है।

१. अहिंसा—यद्यपि जैन विचारकों ने अहिंसा का काफी अधिक गहराई तक विचार किया है, फिर भी जैन दर्शन में अहिंसा के निषेधात्मक पहलू का ही अधिक विकास हुआ है। जैन अहिंसा मात्र हिंसा से बचने के लिए ही थी। उसमें वह जीवन्त सामाजिक प्रेरणा नहीं थी जो एक गृहस्थ उपासक के लिए हिंसापूर्ण कठिन सामाजिक परिस्थितियों में सम्बल बन सके। गांधीवादी दर्शन में सत्याग्रह के द्वारा अहिंसा का सामाजिक जीवन में जो प्रयोग हुआ, वह निश्चित ही मौलिक है। गांधीवादी अहिंसा की महत्ता इस बात में नहीं है कि प्राणियों की रक्षा किस प्रकार की जावे वरन् इस बात में है कि समाज में व्याप्त अन्याय का प्रतिकार अहिंसा के द्वारा कैसे किया जा सकता है। गांधीवाद में अहिंसा अन्याय के प्रतिकार के एक साधन के रूप में सामने आयी। गांधीजी ने अहिंसा को मानव-जाति के नियम के रूप में देखा—उनके अपने शब्दों में अहिंसा हमारी (मानव) जाति का नियम है जैसे कि हिंसा पशुओं का नियम

सदा भोजन के लिए लालायित न रहे, जितना जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक हो उतना ही अन्न पेट में डाले। (उपभोग-परिभोगव्रत)।

७. केवल अपने लिए भोजन नहीं बनाये।[१] उसे ऐसे सभी लोगों को, जो अपने हाथ से भोजन नहीं पकाते (संन्यासी आदि), सदा ही अन्न देना चाहिए, क्योंकि गृहस्थाश्रम में संविभाग की विधि है[२]। जिस गृहस्थ के घर में अतिथि भिक्षा न पाने के कारण निराश लौट जाता है। वह गृहस्थ को अपना पाप देकर उसका पुण्य ले जाता है[३]। (अतिथि संविभागव्रत)।

८. ब्राह्मण दान से, क्षत्रिय युद्ध (सैनिक वृत्ति) से, वैश्य न्यायपूर्वक व्यवसाय या खेती आदि से और शूद्र सेवा से आजीविका उपार्जित करे।[४] विशेष अवस्था में ब्राह्मण और शूद्र व्यापार, पशुपालन और शिल्प-कला से भी अपनी आजीविका उपार्जित कर सकते हैं।[५] महाभारत के अनुसार—नाचना आदि रंगमंचके कार्य, बहुरुपिये का कार्य, मदिरा और मांस का व्यवसाय, लोहे एवं चमड़े का व्यवसाय निन्द्य हैं और इन्हें छोड़ने की सलाह दी गई है।[६] ब्राह्मण के लिए मांस, मदिरा, मधु (शहद), नमक, तिल, बनायी हुई रसोई, घोड़ा, बैल, गाय, बकरा आदि पशुओं का व्यापार निषिद्ध माना गया है।[७] (निषिद्ध आजीविका)।

वैदिक परम्परा के गृहस्थ आचार का जैन-परम्परा से प्रमुख अन्तर यज्ञ विधान को लेकर है। वैदिक परम्परा में गृहस्थ के लिए इन पाँच यज्ञों का विधान है—१. भूतयज्ञ (प्राणियों को अन्न प्रदान करना), २. मनुष्य-यज्ञ (अतिथि पूजन), ३. देव-यज्ञ (होम), ४. पितृ-यज्ञ (श्राद्ध) ५. ब्रह्म-यज्ञ (वेदपाठ स्वाध्याय)। यदि विचारपूर्वक देखें तो उपर्युक्त पाँच यज्ञों में मात्र देव-यज्ञ (होम) और पितृ-यज्ञ (श्राद्ध) यही दो ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध जैन विचारधारा से नहीं है।

गांधी जी की व्रत-व्यवस्था और जैन परम्परा

वर्तमान युग में गांधीवादी दर्शन में जिन एकादश व्रतों का विधान है[८], उनका जैन

---

१. महाभारत शान्तिपर्व, २६९।२६। २. वही, २४३।५-११।
३. वही, १९१।१२। ४. वही, २९४।१।
५. वही, २९४।३-४। ६. वही, २९४।५-६।
७. वही, ७८।४-५। देखिए—महाभारत शान्तिपर्व अ० २६२, २६३
८. अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य असंग्रह।
शरीर-श्रम अस्वाद सर्वत्र भय वर्जन॥
सर्वधर्मी समानत्व स्वदेशी समभावना।
ही एकादशे सेवावी नम्रत्वे व्रत निश्चये॥

गया है। उपासकदशांगसूत्र में कहा गया है श्रमणोपासक को सत्य, तथ्य तथा सद्भूत होने पर भी ऐसे वचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए जो अनिष्ट, अप्रिय और अमनोज्ञ हो।[1] गांधीजी भी जैन परम्परा के इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए लिखते हैं—सत्य न बोलना ही अच्छा है यदि कोई उसको अहिंसक तरीके से नहीं बोल सकता हो।[2]

३. **अस्तेय**—गांधीवाद और जैन-दर्शन दोनों ही में अस्तेय को एक व्रत के रूप में स्वीकारा गया है। इतना ही नहीं, गांधीवाद और जैन-दर्शन दोनों में अस्तेय का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि चोरी नहीं करना। गांधीवाद और जैन-दर्शन इस सीमा से भी आगे गये और उन्होंने कहा कि वस्तु के स्वामी की आज्ञा के बिना वस्तु को लेने का आचरण ही चोरी नहीं है, वरन् लेने की वृत्ति भी चोरी है। जैन-विचारणा के अनुसार राजकीय (सामाजिक) व्यवस्था के विरुद्ध कार्य करना, अप्रामाणिक माप-तौल का व्यवहार और अनैतिक सम्मिश्रण चोरी है। गांधीजी ने अनावश्यक वस्तुओं के संग्रह को भी चोरी माना है। उनके अपने शब्दों में जिस वस्तु की हमें जरूरत नहीं है, उसे जिसके अधिकार में वह हो, उसके पास से उसकी आज्ञा लेकर भी लेना चोरी है।[3]

४. **ब्रह्मचर्य**—गांधीवाद की दृष्टि में स्वपत्नीसन्तोष भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि विवाह और गृहस्थाश्रम काम-वासना को सीमित करने का प्रयास है, वह संयम के लिए है और इसलिए ब्रह्मचर्य है। लेकिन इससे भी आगे बढ़कर जैन दर्शन के समान गांधीवाद भी गृहस्थ-जीवन में पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन की सम्भावना को स्वीकर करता है और उस पर जोर भी देता है। गांधीजी का जीवन स्वयं इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। इस प्रकार गांधीवाद और जैन-दर्शन में ब्रह्मचर्य के विषय में पर्याप्त साम्य है। इतना नहीं, वैदिक परम्परा से आगे बढ़कर गांधी और जैन-दर्शन मानते हैं कि स्त्री को भी ब्रह्मचर्य-पालन का पुरुष के समान ही अधिकार प्राप्त है। गांधीजी की दृष्टि में ब्रह्मचर्य का अर्थ है मन, वचन और काया से समस्त इन्द्रियों का संयम।[4] गांधीजी ब्रह्मचर्य को मात्र स्त्री-पुरुष सम्बन्ध तक सीमित नहीं मानते, वरन् उसे अधिक व्यापक बनाते हैं।

५. **अपरिग्रह**—गृहस्थ जीवन की मर्यादाओं को लेकर गांधीवाद में अपरिग्रह का व्रत 'ट्रस्टी-शिप' (न्यास सिद्धान्त) के रूप में विकसित हुआ, जबकि जैन दर्शन में परिग्रह परिमाण व्रत के रूप में। गांधीवाद में अपरिग्रह की वृत्ति का अर्थ है अपनी जरूरत की चीज रखने में भी स्वामित्व भाव नहीं रहना चाहिए। मनुष्य अपनी जरूरत की चीजें

---

१. उपासकदशांग, ७।२५७।
२. यंग इण्डिया, खण्ड २, पृ० १२९५।
३. गांधीवाणी, पृ० १९।
४. गांधी वाणी, पृ० ९५।

है[1]। जैन-दर्शन के समान ही गांधीवाद में भी अहिंसा को व्यापक अर्थों में ग्रहण किया जाता है। गांधीजी लिखते हैं 'कुविचार मात्र हिंसा है। उतावली (जल्दबाजी) हिंसा है। मिथ्याभाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत् के लिए जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है।[2] अहिंसा के बिना सत्य का साक्षात्कार असम्भव है, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह भी अहिंसा के अर्थ में है[3]।

गांधीवाद के अनुसार सामाजिक क्षेत्र मे अहिंसा का आधार दूसरों के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानने में है, राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसा का आधार नागरिकों का परस्पर विश्वास और स्नेह है, और आर्थिक क्षेत्र में अहिंसा का आधार सह-उत्पादन और सम-वितरण है।[4]

गांधीवाद में अहिंसा के आदर्श का विकास 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त से भी आगे गया है। उसमें अहिंसा का सिद्धान्त 'जिलाने के लिए जीओ' बन गया है।

२. **सत्य**—यद्यपि गांधीवाद और जैन-दर्शन दोनों ही सत्य की उपासना पर जोर देते हैं, दोनों के लिए सत्य ही भगवान् है। फिर भी जैनदर्शन का सत्य भगवान्, भगवती अहिंसा के ऊपर प्रतिष्ठित नहीं हो सका। जैनागमों में सर्वत्र अहिंसा सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित है, सत्य अहिंसा के लिए है। लेकिन गांधीदर्शन में, सत्य अहिंसा के ऊपर प्रतिष्ठित है, उसमें सत्य का स्थान पहला है, अहिंसा का दूसरा। गांधीवाद में सत्य साध्य है, और अहिंसा साधन। यद्यपि दोनों में अभेद है। गांधीजी के शब्दों में, सत्य की खोज मेरे जीवन की प्रधान प्रवृत्ति रही है, इसमें मुझे, अहिंसा मिली और मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि इन दोनों में अभेद है, सत्य, और अहिंसा एक-दूसरे में ऐसे घुले-मिले हैं कि इनका अलग-अलग करना मुश्किल है।[5] गांधीवाद में सत्य मात्र सम्भाषण या लेखन तक सीमित नहीं, वरन् वह एक दृष्टि है। गांधीवाद के 'सत्य' की तुलना जैन विचारणा के सत्यव्रत की अपेक्षा सम्यग्दृष्टित्व से करना अधिक उपयुक्त होगा।

लेकिन जहाँ तक सत्य का सम्बन्ध सच बोलने से है, वहाँ तक गांधीवाद और जैन परम्परा दोनों ही सत्य को अहिंसा के अधीन कर देते हैं। जैन परम्परा में गृहस्थ साधक के लिए भी ऐसा सत्य सम्भाषण जो अनिष्टकारक एवं अप्रिय हो, वर्ज्य माना

---

१. यंग इण्डिया, ११३, अगस्त १९२०।
२. मंगल प्रभात—उद्धृत नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ३१८।
३. गीता माता—उद्धृत नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ३१८।
४. सर्वोदय दर्शन, पृ० २७९।　　५. सर्वोदय दर्शन, पृ० २७७।

गया है। उपासकदशांगसूत्र में कहा गया है श्रमणोपासक को सत्य, तथ्य तथा सद्भूत होने पर भी ऐसे वचन का प्रयोग नहीं करना चाहिए जो अनिष्ट, अप्रिय और अमनोज्ञ हो।[1] गांधीजी भी जैन परम्परा के इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए लिखते हैं—सत्य न बोलना ही अच्छा है यदि कोई उसको अहिंसक तरीके से नहीं बोल सकता हो।[2]

३. **अस्तेय**—गांधीवाद और जैन-दर्शन दोनों ही में अस्तेय को एक व्रत के रूप में स्वीकारा गया है। इतना ही नहीं, गांधीवाद और जैन-दर्शन दोनों में अस्तेय का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि चोरी नहीं करना। गांधीवाद और जैन-दर्शन इस सीमा से भी आगे गये और उन्होंने कहा कि वस्तु के स्वामी की आज्ञा के बिना वस्तु को लेने का आचरण ही चोरी नहीं है, वरन् लेने की वृत्ति भी चोरी है। जैन-विचारणा के अनुसार राजकीय (सामाजिक) व्यवस्था के विरुद्ध कार्य करना, अप्रामाणिक माप-तौल का व्यवहार और अनैतिक सम्मिश्रण चोरी है। गांधीजी ने अनावश्यक वस्तुओं के संग्रह को भी चोरी माना है। उनके अपने शब्दों में जिस वस्तु की हमें जरूरत नहीं है, उसे जिसके अधिकार में वह हो, उसके पास से उसकी आज्ञा लेकर भी लेना चोरी है।[3]

४. **ब्रह्मचर्य**—गांधीवाद की दृष्टि में स्वपत्नीसन्तोष भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि विवाह और गृहस्थाश्रम काम-वासना को सीमित करने का प्रयास है, वह संयम के लिए है और इसलिए ब्रह्मचर्य है। लेकिन इससे भी आगे बढ़कर जैन दर्शन के समान गांधीवाद भी गृहस्थ-जीवन में पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन की सम्भावना को स्वीकर करता है और उस पर जोर भी देता है। गांधीजी का जीवन स्वयं इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। इस प्रकार गांधीवाद और जैन-दर्शन में ब्रह्मचर्य के विषय में पर्याप्त साम्य है। इतना नहीं, वैदिक परम्परा से आगे बढ़कर गांधी और जैन-दर्शन मानते हैं कि स्त्री को भी ब्रह्मचर्य-पालन का पुरुष के समान ही अधिकार प्राप्त है। गांधीजी की दृष्टि में ब्रह्मचर्य का अर्थ है मन, वचन और काया से समस्त इन्द्रियों का संयम।[4] गांधीजी ब्रह्मचर्य को मात्र स्त्री-पुरुष सम्बन्ध तक सीमित नहीं मानते, वरन् उसे अधिक व्यापक बनाते हैं।

५. **अपरिग्रह**—गृहस्थ जीवन की मर्यादाओं को लेकर गांधीवाद में अपरिग्रह का व्रत 'ट्रस्टी-शिप' (न्यास सिद्धान्त) के रूप में विकसित हुआ, जबकि जैन दर्शन में परिग्रह परिमाण व्रत के रूप में। गांधीवाद में अपरिग्रह की वृत्ति का अर्थ है अपनी जरूरत की चीज रखने में भी स्वामित्व भाव नहीं रहना चाहिए। मनुष्य अपनी जरूरत की चीजें

---

१. उपासकदशांग, ७।२५७।
२. यंग इण्डिया, खण्ड २, पृ० १२९५।
३. गांधीवाणी, पृ० १९।
४. गांधी वाणी, पृ० ९५।

तो रखे लेकिन उस पर अपना स्वामित्व नहीं माने।[1] गांधीवाद इस अर्थ में जैन-दर्शन से भी आगे जाता है, वह ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त द्वारा एक सामाजिक अर्थ-व्यवस्था के सिद्धान्त को विकसित करने का प्रयास भी करता है। यद्यपि ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के पीछे जो अमूर्च्छा या अनासक्ति का बीजमंत्र है, वह जैनाचार-दर्शन और गीता में पहले से ही मौजूद था। जैन-दर्शन ने परिग्रह की परिभाषा करते हुए यही कहा था कि वास्तविक परिग्रह तो मूर्च्छा या आसक्ति है।[2] यद्यपि जैन-दर्शन और गीता में अपरिग्रह या अनासक्ति की धारणा का सामाजिक मूल्य है, तथापि अपरिग्रह के आदर्श पर खड़ी हुई समाज-व्यवस्था की परिकल्पना गांधीवादी दर्शन की अपनी मौलिक सूझ है। गांधीवाद की दृष्टि में अपरिग्रह का अर्थ यह नहीं है कि बस हमें जितना आवश्यक है उतना ही संग्रह करेंगे। आवश्यकता की कोई इयत्ता नहीं है, सीमा नहीं है। इसलिए आवश्यकता के नाम पर संग्रह की अभिलाषा समस्या का सही निदान नहीं है, सही निदान है संग्रह की वृत्ति या स्वामित्व की भावना का त्याग। ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त स्वामित्व की वृत्ति का ही निषेध करता है। उसका नारा है 'स्वामी नहीं संरक्षक'।

६. **शरीर श्रम**—शरीर श्रम को व्रत का रूप देने का श्रेय गांधीवाद को ही है। शरीरश्रम के व्रत के पीछे सामाजिक सुधार की भावना प्रधान है। सम्पत्ति-निष्ठ-समाज श्रम-निष्ठ-समाज के रूप में परिवर्तित हो जायें यही दृष्टि इसके पीछे रही है। वैसे इस व्रत की महत्ता इस बात में है कि मन और शरीर के मध्य श्रम की दृष्टि से भी सांग संतुलन स्थापित किया जाये। बिना श्रम के शरीर नहीं टिकता है, यदि हम इस बौद्धिक युग में शरीरश्रम का महत्त्व भूल जायेंगे तो हमारा शारीरिक संतुलन भी बिगड़ जायेगा। आज भी बुद्धिजीवी वर्ग खेल के बहाने शरीरश्रम करता है, क्यों न इस अनुत्पादक श्रम का उपयोग उत्पादक क्षेत्र में किया जाए? शरीरश्रम के पीछे एक दृष्टि यह भी है कि जब सभी शारीरिक श्रम करेंगे तो शारीरिक श्रम के प्रति वर्तमान युग में जो हीनता की भावना है वह समाप्त हो जावेगी और शारीरिक श्रम करने वाले तुच्छ नहीं माने जावेंगे। श्रम के प्रति निष्ठा उत्पन्न होगी। जैन-दर्शनमें शरीरश्रम का व्रत तो उपलब्ध नहीं, फिर भी जैन-विचारणा में प्रमादाचरण या आलस्य को सदैव ही अनुचित माना गया है।

७. **अस्वाद**—अस्वाद को भी गाँधीजी ने एक व्रत माना है। स्वाद रसनेन्द्रिय की लौलुपता का अगुआ है और इस प्रकार यह भी आसक्ति का ही एक रूप है। जहाँ स्वाद है वहाँ आसक्ति है। स्वाद की वृत्ति भी लोककल्याण (सर्वोदय) में उतनी ही बाधक है, जितनी आसक्ति या संग्रहवृत्ति। अस्वाद का वैयक्तिक मूल्य इन्द्रिय-संयम

---

१. सर्वोदय-दर्शन, पृ० २८१-८२। २. दशवैकालिक, ६।२१।

एवं अनासक्त जीवन में है, जबकि अस्वाद का सामाजिक मूल्य दूसरों को खिलाकर खुश होने में है। दूसरे शब्दों में, खिलाने में आनन्द माने स्वयं के खाने में नहीं, क्योंकि यह मनुष्य स्वभाव है कि आनन्द जब तक दूसरे की आँखों में प्रतिबिम्बित नहीं होता तब तक वह मेरे लिए भी पूर्ण नहीं बनता है। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि अकेले स्वादिष्ट भोजन करना अवनति का कारण है (सुत्तनिपात ६।१२)। दादाधर्माधिकारी के शब्दों में अस्वाद का एक सामाजिक अर्थ है उत्पादन मेरे लिए नहीं होगा—समाज के लिए होगा (सामाजिक हित के लिए होगा)। जैन दर्शन में अस्वाद के इस सामाजिक पक्ष का विकास तो नहीं देखा जाता, लेकिन उसके वैयक्तिक पक्ष का विधान अवश्य है। श्रमण जीवन के लिए तो अस्वाद की आवश्यकता अनिवार्य रूप से स्वीकार की हो गयी है, लेकिन गृहस्थ-जीवन के लिए भी उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत के द्वारा अस्वाद की दिशा में आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा दी गयी है। उपभोग की वस्तुओं की सीमारेखा निश्चित करना भी स्वाद-जय का ही एक प्रयास है।

८ **अभय**—निर्भयता भी गाँधीवाद में एक व्रत है। सत्याग्रह और अहिंसा की शक्ति में दृढ़ विश्वास के लिए निर्भयता एक आवश्यक तत्त्व है। निर्भयता के अभाव में अहिंसा और सत्याग्रह की साधना असम्भव है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा गया है कि भयभीत साधना से विचलित हो जाता है, वह कर्तव्यभार या दायित्व का निर्वाह भी नहीं कर सकता।[1] उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार भी भय से उपरत साधक ही अहिंसा का पालन कर सकता है।[2] जैन विचारणा में अभय को महत्त्वपूर्ण स्थान है, अभय करना और अभय होना ही जैन साधना का सार है। श्रावक के बारह व्रतों में अनर्थदण्डविरमणव्रत ही अभय का व्रत है। भय एक अनर्थदण्ड है, क्योंकि उसमें व्यक्ति अनावश्यक दुश्चिन्ताओं से घिरा रहता है।[3] अनर्थदण्ड से विरत होने के लिए निम्न दुश्चिन्ताओं अर्थात् आर्त्तध्यान का छोड़ना आवश्यक है:—१. इष्ट के वियोग की चिन्ता, २. अनिष्ट के संयोग की चिन्ता ३. रोग चिन्ता, ४. निदान (उपलब्धि की चिन्ता)। निर्भयता अहिंसा की पहली शर्त है। भय से कायरता का जन्म होता है और कायर अहिंसक नहीं होता। गाँधीजी और जैन विचार इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि अहिंसा वीर का धर्म है, कायर का नहीं।

९. **सर्व धर्म समानत्व**—सर्व धर्म समानत्व का व्रत गांधीवाद की विशेषता है। गांधीवाद ने इस व्रत के द्वारा धर्म के नाम पर होनेवाले संघर्षों को समाप्त करने का प्रयास किया है। गांधीजी सभी धर्मों में सत्य का दर्शन करते हैं और इसीलिए सभी

---

१. प्रश्नव्याकरण, २।२। २. उत्तराध्ययन, ६।२।

३. गाँधीवाद में भय शब्द का प्रयोग सामान्य भय के अर्थ में न होकर दुश्चिन्ताओं के अर्थ में हुआ है।

धर्मों के प्रति न केवल सहिष्णुता और समादर का भाव होना चाहिए, वरन् हमें यह भी मानना चाहिए कि सभी धर्मों में सत्य निहित है। जैन परम्परा में चाहे सर्वधर्म समानता की बात व्यवहार्य नहीं रही हो, लेकिन सैद्धान्तिक रूप में सर्वधर्म-सत्यता जैन विचारणा में स्वीकृत है। 'जैन दार्शनिक जैन दर्शन को सभी मिथ्या दर्शनों का समूह मानते हैं[1]। उनके अनुसार तो जिन्हें अलग-अलग रूप में अधर्म या मिथ्यामत कहा जाता है, वे सभी मिलकर सत्यधर्म या सम्यक्त्व बन जाते हैं। उनके अनुसार सर्व धर्म समन्वय में ही सच्चा धर्म व्यक्त होता है।[2] धर्म एक दूसरे के विरोध में खड़े होकर ही अधर्म बन जाते हैं, लेकिन जब वे समन्वय में होते हैं तो सद्धर्म बन जाते हैं। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि जो विरोधियों के प्रति तटस्थता रखता है वही विश्व के विद्वानों में अग्रणी है[3]।

१०. **स्पर्शभावना**—स्पृश्य-अस्पृश्य की समस्या के निराकरण के लिए गाँधीवाद ने स्पर्श-भावना नामक व्रत का विधान किया। छुआछूत की समस्या तो महावीर के युग में भी थी, फिर भी इतनी तीव्र नहीं थी। महावीर ने अपनी संघ व्यवस्था के निर्माण में स्पृश्यता और अस्पृश्यता को कोई स्थान नहीं दिया। चाण्डाल कुलोत्पन्न हरकेशीबल, अर्जुन मालाकर जैसे प्रमुख श्रमण और शकडालपुत्र जैसे कुम्भकार गृहस्थ उपासक उनके संघ में समान रूप से समाविष्ट थे। महावीर ने भी तत्कालीन स्पृश्य और अस्पृश्य की समस्या का धार्मिक आधार पर निराकरण तो किया था, फिर भी गाँधीजी के समान उसके लिए किसी स्वतन्त्र व्रत का विधान नहीं किया। जहाँ तक गाँधीजी का प्रश्न है, उन्होंने इस समस्या को सामाजिक दृष्टि से देखा और उसके निराकरण के लिए एक सामाजिक व्रत की व्यवस्था दी।

११, **स्वदेशी (स्वावलम्बन)**—गाँधीवाद में स्वदेशी के उपयोग की विचारणा को एक व्रत के रूप में माना गया है। स्वदेशी-व्रत का निर्माण राष्ट्रों के व्यावसायिक शोषण के प्रतिकार के लिए हुआ। यदि इस व्रत का सामाजिक मूल्य स्वीकार नहीं किया जाता है, तो इसका अर्थ होगा भौतिक दृष्टि से समृद्ध राष्ट्रों को अविकसित देशों के शोषण की खुली छूट देना। गाँधीवाद ऐसी समाज व्यवस्था का विरोध करता है और उसके प्रतिकार के लिए स्वदेशी का व्रत देता है। व्यावसायिक दृष्टि से स्वदेशी का व्रत जैनदर्शन के दिशापरिमाणव्रत के पर्याप्त निकट है, दिशापरिमाण व्रत भी व्यक्ति की अर्थलोलुपतापूर्ण उस व्यावसायिक शोषणवृत्ति को सीमित करता है जिसके कारण व्यक्ति स्वग्राम, स्वनगर या स्वदेश में अर्थोपार्जन से सन्तुष्ट न हो विदेशों के व्यावसायिक शोषण के द्वारा अपनी धन-लिप्सा की पूर्ति करना चाहता है।[1] वस्तुओं में

---

१. सन्मतिप्रकरण, ३।६९।   २. विशेषावश्यक भाष्य, ९५४।

३. आचारांगसूत्र, १।४।३।

उपभोगासक्ति की दृष्टि से भी स्वदेशी का व्रत जैन-विचारणा के देशावकाशिक व्रत के पर्याप्त निकट है। जैन-विचारणा के देशावकाशिक व्रत में भी साधक एक विशिष्ट सीमाक्षेत्र के अन्दर की वस्तुओं के उपभोग की मर्यादा बांधता करता है। साध्वी श्री उज्वलकुमारीजी ने देशावकाशिकव्रत की तुलना स्वदेशी के व्रत से की है।[1] स्वदेशी का एक दूसरा पहलू स्वावलम्बन है अर्थात् जिसका उत्पादन हम नहीं कर सकते उसके उपयोग का हमें अधिकार नहीं है। लेकिन इस कथन पर सामाजिक दृष्टि से ही विचार करना चाहिए। यद्यपि जैन श्रमण की आचार-मर्यादा की दृष्टि से यह पहलू जैन-विचारणा के अधिक निकट नहीं आता, लेकिन जहाँ तक गृहस्थ आचार मर्यादा का प्रश्न है, कुछ प्राचीन दिगम्बर आचार्यों और सम-कालीन श्वेताम्बर जैन आचार्यों ने स्वावलम्बन की महत्ता पर काफी जोर दिया है। हिंसा-अहिंसा की विवक्षा की दृष्टि से उनका कहना है कि दूसरे के द्वारा व्यावसायिक दृष्टि से बृहद् मात्रा में उत्पादित वस्तुओं के उपभोग से महारम्भ (विशाल पैमाने पर होने वाली हिंसा) का अनुमोदन होता है, क्योंकि वहाँ उत्पादक की दृष्टि विवेकपूर्ण न होकर व्यावसायिक या स्वार्थपूर्ण होती है। ऐसी वस्तु का उपभोग करना विशाल पैमाने पर हिंसा को प्रोत्साहन देना है। अनुमोदित महारम्भ की अपेक्षाकृत अल्पारम्भ सदैव ही श्रेष्ठ है[2]। दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित "शौच" की परम्परा के पीछे भी यही मूल दृष्टि रही है कि एक विचारशील साधक, जो उत्पादन स्वयं करता है, उसमें विवेक की सम्भावना अधिक होती है, अतः वहाँ अल्पारम्भ होता है, महारम्भ नहीं। साधना की दृष्टि से भी यही अधिक मूल्यवान् है कि प्रत्यक्ष में होने वाली अल्प हिंसा से बचने के लिए परोक्ष रूप से होने वाली महाहिंसा का भागीदार नहीं बना जाये।

स्वावलम्बन की सामाजिक दृष्टि यह भी है कि उसमें उपभोग के लिए उत्पादन होता है, व्यवसाय के लिए नहीं। पहली धारणा में उत्पादन के पीछे जो दृष्टि है, वह मात्र आवश्यकताओं की पूर्ति की है, जबकि दूसरी धारणा में उत्पादन के पीछे दृष्टि अर्थलोलुपता की, तृष्णा की है। नैतिक विचारणा के आधार पर दूसरी दृष्टि को उचित नहीं कहा जा सकता। स्वावलम्बन को परस्परावलम्बन का विरोधी भी नहीं मानना चाहिए। स्वावलम्बन का यह अर्थ नहीं है कि मैं किसी अन्य से कुछ न लूँ या किसी को कुछ न दूँ। स्वावलम्बनमें भी ऐसा लेन-देन तो होता है, लेकिन उसके पीछे व्यवसायदृष्टि या स्वार्थबुद्धि नहीं होती है। वह सहयोग है, व्यापार नहीं। जिस प्रकार परिवार के सदस्य परस्पर सहयोग या स्नेह की दृष्टि से लेन-देन करते हैं, ठीक उसी

१. श्रावकधर्म, पृ० १५६।

२. देखिए—आचार्य जवाहरलालजी महाराज की गृहस्थ अहिंसा व्रत के प्रसंग में अल्पा-रम्भ महारम्भ की विवेचना।

धर्मों के प्रति न केवल सहिष्णुता और समादर का भाव होना चाहिए, वरन् हमें यह भी मानना चाहिए कि सभी धर्मों में सत्य निहित है। जैन परम्परा में चाहे सर्वधर्म समानता की बात व्यवहार्य नहीं रही हो, लेकिन सैद्धान्तिक रूप में सर्वधर्म-सत्यता जैन विचारणा में स्वीकृत है। 'जैन दार्शनिक जैन दर्शन को सभी मिथ्या दर्शनों का समूह मानते हैं[1]। उनके अनुसार तो जिन्हें अलग-अलग रूप में अधर्म या मिथ्यामत कहा जाता है, वे सभी मिलकर सत्यधर्म या सम्यक्त्व बन जाते हैं। उनके अनुसार सर्व धर्म समन्वय में ही सच्चा धर्म व्यक्त होता है।[2] धर्म एक दूसरे के विरोध में खड़े होकर ही अधर्म बन जाते हैं, लेकिन जब वे समन्वय में होते हैं तो सद्धर्म बन जाते हैं। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि जो विरोधियों के प्रति तटस्थता रखता है वही विश्व के विद्वानों में अग्रणी है[3]।

१०. **स्पर्शभावना**—स्पृश्य-अस्पृश्य की समस्या के निराकरण के लिए गाँधीवाद ने स्पर्श-भावना नामक व्रत का विधान किया। छुआछूत की समस्या तो महावीर के युग में भी थी, फिर भी इतनी तीव्र नहीं थी। महावीर ने अपनी संघ व्यवस्था के निर्माण में स्पृश्यता और अस्पृश्यता को कोई स्थान नहीं दिया। चाण्डाल कुलोत्पन्न हरकेशीबल, अर्जुन मालाकर जैसे प्रमुख श्रमण और शकडालपुत्र जैसे कुम्भकार गृहस्थ उपासक उनके संघ में समान रूप से समाविष्ट थे। महावीर ने भी तत्कालीन स्पृश्य और अस्पृश्य की समस्या का धार्मिक आधार पर निराकरण तो किया था, फिर भी गाँधीजी के समान उसके लिए किसी स्वतन्त्र व्रत का विधान नहीं किया। जहाँ तक गाँधीजी का प्रश्न है, उन्होंने इस समस्या को सामाजिक दृष्टि से देखा और उसके निराकरण के लिए एक सामाजिक व्रत की व्यवस्था दी।

११, **स्वदेशी (स्वावलम्बन)**—गाँधीवाद में स्वदेशी के उपयोग की विचारणा को एक व्रत के रूप में माना गया है। स्वदेशी-व्रत का निर्माण राष्ट्रों के व्यावसायिक शोषण के प्रतिकार के लिए हुआ। यदि इस व्रत का सामाजिक मूल्य स्वीकार नहीं किया जाता है, तो इसका अर्थ होगा भौतिक दृष्टि से समृद्ध राष्ट्रों को अविकसित देशों के शोषण की खुली छूट देना। गाँधीवाद ऐसी समाज व्यवस्था का विरोध करता है और उसके प्रतिकार के लिए स्वदेशी का व्रत देता है। व्यावसायिक दृष्टि से स्वदेशी का व्रत जैनदर्शन के दिशापरिमाणव्रत के पर्याप्त निकट है, दिशापरिमाण व्रत भी व्यक्ति की अर्थलोलुपतापूर्ण उस व्यावसायिक शोषणवृत्ति को सीमित करता है जिसके कारण व्यक्ति स्वग्राम, स्वनगर या स्वदेश में अर्थोपार्जन से सन्तुष्ट न हो विदेशों के व्यावसायिक शोषण के द्वारा अपनी धन-लिप्सा की पूर्ति करना चाहता है। वस्तुओं में

---

१. सन्मतिप्रकरण, ३।६९। २. विशेषावश्यक भाष्य, ९५४।

३. आचारांगसूत्र, १।४।३।

श्रावक की दिनचर्या—आचार्य हेमचन्द्र ने श्रावक की दिनचर्या का वर्णन करते हुए योगशास्त्र में लिखा है कि श्रावक ब्राह्ममूहूर्त में उठकर धर्म चिन्तन करे, तत्पश्चात् पवित्र होकर अपने गृह-चैत्य में जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करे, फिर गुरु की सेवा में उपस्थित होकर उनकी सेवाभक्ति करे। तत्पश्चात् धर्मस्थान से लौट कर आजीविका के स्थान में जाकर इस प्रकार धनोपार्जन करे कि उसके व्रत-नियमों में बाधा न पहुँचे। इसके बाद मध्याह्नकालीन साधना करे और फिर भोजन करके शास्त्रवेत्ताओं के साथ शास्त्र के अर्थ का विचार करे। पुनः संध्यासमय देव, गुरु की उपासना एवं प्रतिक्रमण आदि षट् आवश्यक क्रिया करे, फिर स्वाध्याय करके अल्पनिद्रा ले। (योगशास्त्र ३।१२१-१३१)

गृहस्थ (उपासक) जीवन में नैतिक विकास की भूमिकाएँ

जैन-दर्शन निवृत्ति-परक है, लेकिन गृहा-जीवन से समग्र रूप में तत्काल निवृत्त हो जाना जन-साधारण के लिए सुलभ नहीं होता। अतः निवृत्ति की दिशा में विभिन्न स्तरों का निर्माण आवश्यक है, जिससे व्यक्ति क्रमशः अपना नैतिक विकास करता हुआ साधना के अन्तिम आदर्श को प्राप्त कर सके। जैन-विचारणा में गृही-जीवन में साधना का विकास किस क्रम से धीरे-धीरे आगे बढ़ता जाता है, इसका सुन्दर चित्रण हमें "श्रावकप्रतिमा" की धारणा में मिलता है। प्रतिमा का अर्थ है प्रतिज्ञा विशेष। नैतिक विकास के हर चरण पर साधक द्वारा प्रकट किया हुआ दृढ़ निश्चय ही प्रतिमा कहा जाता है। श्रावक प्रतिमाएँ गृही-जीवन में की जानेवाली साधना की विकासोन्मुख श्रेणियाँ (भूमिकाएँ) हैं, जिन पर क्रमशः चढ़ता हुआ साधक अपनी आध्यात्मिक प्रगति कर जीवन के परमादर्श "स्वस्वरूप" को प्राप्त कर लेता है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों विचारणाओं में श्रावक प्रतिमाएँ (भूमिकाएँ) ग्यारह हैं।

श्वेताम्बर सम्मत उपासक भूमिकाओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोषध, (५) नियम, (६) ब्रह्मचर्य, (७) सचित्त-त्याग, (८) आरम्भत्याग, (९) प्रेष्यपरित्याग, (१०) उद्दिष्टभक्त त्याग और (११) श्रमणभूत।[१] दिगम्बर सम्मत क्रम एवं नाम इस प्रकार हैं—(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोषध, (५) सचित्त त्याग, (६) रात्रिभोजन एवं दिवामैथुन विरति, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरम्भत्याग, (९) परिग्रहत्याग, (१०) अनुमति त्याग और (११) उद्दिष्ट-

---

१. देखिए, उपासकदशांग (हिन्दी टीका) १।६८, पृ० ११५-१२१; समवायांग ११।१।

२. देखिए, चारित्रपाहुड २२, रत्नकरण्ड श्रावकाचार १३७-१४७, वसुनन्दि-श्रावकाचार, ४।

प्रकार स्वावलम्बी समाज में समाज के सदस्य भी आपसी लेन-देन कर सकते हैं। शर्त यही है कि वह लेनदेन सहकार की दृष्टि से हो, व्यवसाय की दृष्टि से नहीं।

इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि गांधीवाद का जैन आचार-दर्शन से पर्याप्त साम्य है। फिर भी कुछ बातें ऐसी अवश्य हैं, जिनकी मौलिकता का श्रेय गांधीजी को जाता है। जैन विचार-परम्परा के पास अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह के सिद्धान्त तो थे, लेकिन सामाजिक जीवन में उनका प्रयोग नहीं हुआ था। यह तो महात्मा गांधी ही थे, जिन्होंने सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रोंमें उनका व्यापक प्रयोग कर जीवन के सर्वांगीण क्षेत्र में उनकी उपयोगिता और शक्ति का आभास कराया। गांधीवाद में अहिंसा अन्याय के प्रतीकार का अस्त्र बनी है, अनेकांत सर्व धर्म समानत्व का आधार बना है और अपरिग्रह ट्रस्टी-शिप के रूप में एक नयी सामाजिक अर्थ व्यवस्था का सिद्धान्त।

श्रावक के दैनिक षट्कर्म

श्रावक जीवन के आवश्यक षट्कर्म इस प्रकार हैं—

१. देवपूजा—तीर्थकरों की प्रतिमाओं का पूजन अथवा उनके आदर्श स्वरूप का चिन्तन एवं गुणगान।

२. गुरु-सेवा—श्रावक का दूसरा कर्त्तव्य गुरु की सेवा एवं उनका विनय करना है। भक्तिपूर्वक गुरु का वन्दन करना, उनका सम्मान करना और उनके उपदेशों का श्रवण करना।

३. स्वाध्याय—आत्मस्वरूप का चिन्तन और मनन। इसके साथ-साथ ही आत्म-स्वरूप का निर्वचन करनेवाले आगमग्रन्थों का पठन-पाठन आदि भी स्वाध्याय है।

४. संयम—संयम का अर्थ है अपनी वासनाओं और तृष्णाओंमें कमी करना। श्रावक का कर्तव्य है कि वह वासनाओं और तृष्णाओं पर संयम रखे।

५. तप—तप श्रावक की दैनिक चर्या का पाँचवाँ कर्म है। श्रावक को यथाशक्य अनशन, रस-परित्याग या स्वादजय आदि के रूप में प्रतिदिन तप करना चाहिए।

६. दान—श्रावक का छठा दैनिक आवश्यक कर्म दान है। प्रत्येक श्रावक को प्रतिदिन श्रमण (मुनि), स्वधर्मी बन्धुओं और असहाय एवं दुखीजनों को कुछ न कुछ दान अवश्य करना चाहिए।

हिन्दू धर्म के गृहस्थ के षट्कर्म—तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि हिन्दू धर्म में भी गृहस्थ के लिए षट्कर्मों का विधान है। पाराशर स्मृति में निम्न षट्कर्म बताये गये हैं—१. सन्ध्या २. जप ३. होम ४. देवपूजा ५. अतिथिसत्कार एवं ६. वैश्यदेव (पाराशर स्मृति १।३९)

श्रावक की दिनचर्या—आचार्य हेमचन्द्र ने श्रावक की दिनचर्या का वर्णन करते हुए योगशास्त्र में लिखा है कि श्रावक ब्राह्ममुहूर्त में उठकर धर्म चिन्तन करे, तत्पश्चात् पवित्र होकर अपने गृह-चैत्य में जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करे, फिर गुरु की सेवा में उपस्थित होकर उनकी सेवाभक्ति करे। तत्पश्चात् धर्मस्थान से लौट कर आजीविका के स्थान में जाकर इस प्रकार धनोपार्जन करे कि उसके व्रत-नियमों में बाधा न पहुँचे। इसके बाद मध्याह्नकालीन साधना करे और फिर भोजन करके शास्त्रवेत्ताओं के साथ शास्त्र के अर्थ का विचार करे। पुनः संध्यासमय देव, गुरु की उपासना एवं प्रतिक्रमण आदि षट् आवश्यक क्रिया करे, फिर स्वाध्याय करके अल्पनिद्रा ले। (योगशास्त्र ३।१२१-१३१)

गृहस्थ (उपासक) जीवन में नैतिक विकास की भूमिकाएँ

जैन-दर्शन निवृत्ति-परक है, लेकिन गृहा-जीवन से समग्र रूप में तत्काल निवृत्त हो जाना जन-साधारण के लिए सुलभ नहीं होता। अतः निवृत्ति की दिशा में विभिन्न स्तरों का निर्माण आवश्यक है, जिससे व्यक्ति क्रमशः अपना नैतिक विकास करता हुआ साधना के अन्तिम आदर्श को प्राप्त कर सके। जैन-विचारणा में गृही-जीवन में साधना का विकास किस क्रम से धीरे-धीरे आगे बढ़ता जाता है, इसका सुन्दर चित्रण हमें "श्रावकप्रतिमा" की धारणा में मिलता है। प्रतिमा का अर्थ है प्रतिज्ञा विशेष। नैतिक विकास के हर चरण पर साधक द्वारा प्रकट किया हुआ दृढ़ निश्चय ही प्रतिमा कहा जाता है। श्रावक प्रतिमाएँ गृही-जीवन में की जानेवाली साधना की विकासोन्मुख श्रेणियाँ (भूमिकाएँ) हैं, जिन पर क्रमशः चढ़ता हुआ साधक अपनी आध्यात्मिक प्रगति कर जीवन के परमादर्श "स्वस्वरूप" को प्राप्त कर लेता है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों विचारणाओं में श्रावक प्रतिमाएँ (भूमिकाएँ) ग्यारह हैं।

श्वेताम्बर सम्मत उपासक भूमिकाओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोषध, (५) नियम, (६) ब्रह्मचर्य, (७) सचित्त-त्याग, (८) आरम्भत्याग, (९) प्रेष्यपरित्याग, (१०) उद्दिष्टभक्त त्याग और (११) श्रमणभूत।[१] दिगम्बर सम्मत क्रम एवं नाम इस प्रकार हैं—(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोषध, (५) सचित्त त्याग, (६) रात्रिभोजन एवं दिवामैथुन विरति, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरम्भत्याग, (९) परिग्रहत्याग, (१०) अनुमति त्याग और (११) उद्दिष्ट-

---

१. देखिए, उपासकदशांग (हिन्दी टीका) १।६८, पृ० ११५-१२१; समवायांग ११।१।

२. देखिए, चारित्रपाहुड २२, रत्नकरण्ड श्रावकाचार १३७-१४७, वसुनन्दि-श्रावकाचार ४।

त्याग। श्वेताम्बर और दिगम्बर सूचियों में प्रथम चार नामों एवं उनके क्रम में साम्य है। श्वेताम्बर परम्परा में सचित त्याग का स्थान सातवाँ है, जबकि दिगम्बराम्नाय में उनका स्थान पाँचवाँ है। दिगम्बराम्नाय में ब्रह्मचर्य का स्थान सातवाँ है, जबकि श्वेताम्बराम्नाय में ब्रह्मचर्य का स्थान छठा है। श्वेताम्बर परम्परा में परिग्रह त्याग स्वतन्त्र भूमिका नहीं है, जबकि वह दिगम्बर परम्परा में ९वें स्थान पर है। शेष दो प्रेष्यत्याग और उद्दिष्टत्याग दिगम्बर परम्परा में अनुमति त्याग और उद्दिष्टत्याग के नाम से अभिहित हैं, लेकिन श्वेताम्बर परम्परा में परिग्रह-त्याग को स्वतन्त्र भूमिका नहीं मानने के कारण ११ की संख्या में जो एक कमी होती है उसकी पूर्ति श्रमणभूत नामक प्रतिमा जोड़ कर की गई है जब कि दिगम्बर परम्परा में वह उद्दिष्टत्याग के अन्तर्गत ही है, क्योंकि श्रमणभूतता और उद्दिष्टत्याग समानार्थक ही है। उपासक प्रतिमाओं के क्रम एवं संख्या के सम्बन्ध में कुछ दिगम्बर आचार्यों में भी मतभेद है। स्वामी कार्तिकेय ने इनकी संख्या १२ मानी है। इसी प्रकार आचार्य सोमदेव ने दिवा-मैथुनविरति के स्थान पर रात्रिभोजनविरति प्रतिमा का विधान किया है।[1]

दोनों परम्पराओं में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह भी है कि सामान्यतया श्वेताम्बर परम्परा में इन प्रतिमाओं के पालन के पश्चात् पुनः पूर्व अवस्था में लौटा जा सकता है, लेकिन दिगम्बर परम्परा में प्रतिज्ञा आजीवन के लिए होती है और साधक पुनः पूर्व-अवस्था की ओर नहीं लौट सकता। यही कारण है कि जहाँ दिगम्बर परम्परा में परिग्रह त्याग प्रतिमा को स्वतन्त्र स्थान दिया गया वहाँ श्वेताम्बर परम्परा में उसको स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया गया है, क्योंकि साधक यदि पुनः पूर्वावस्था रूप गृही जीवन में लौट सकता है तो उसको परिग्रह की आवश्यकता होगी, अतः साधक मात्र आरम्भ का त्याग करता है परिग्रह का नहीं। श्वेताम्बर परम्परा में प्रतिमाके पालन का न्यून-तम एवं अधिकतम समय निश्चित कर दिया गया है, अधिकतम समय प्रत्येक प्रतिमा के साथ क्रमशः एक-एक मास बढ़ता जाता है और अन्त में ग्यारहवीं श्रमणभूत प्रतिमा की अधिकतम समयावधि ग्यारह मास मान ली गयी है। जब कि दिगम्बर परम्परा में समय मर्यादा का कोई विधान नहीं है। उसमें इन प्रतिमाओं को आजीवन के लिए ग्रहण किया जाता है। गृहस्थ साधना की इन विभिन्न भूमिकाओं के रहने की निम्नतम समय सीमा का अर्थ तो समझ में आता है कि इस अवधि तक उस भूमिका में रहकर साधक अपनी स्थिति एवं मनोबल का इतना विकास कर ले कि अग्रिम भूमिका में जाने पर साधना से पतित होने की सम्भावना न रहे। लेकिन अधिकतम सीमा निर्धा-रित करने की बात समझ में नहीं आती क्योंकि उस निर्धारित अधिकतम अवधि के

---

१. देखिए, जैन एथिक्स, पृ० १४२, वसुनन्दि श्रावकाचार की भूमिका, पृष्ठ ५०।

समाप्त होने पर दो ही विकल्प बचते हैं या तो साधक आगे की दिशा में प्रगति करे अथवा नीचे की ओर लौट जाये। जिस साधक का आत्मबल इतना मजबूत नहीं है कि वह आगे बढ़ सके उसके लिए नीचे उतरने का मार्ग ही शेष रहता है जो कि नैतिक प्रगति की दृष्टि से अच्छा नहीं कहा जा सकता। श्वेताम्बर आगम उपासकदशांग के मूलपाठ में समय-मर्यादा का कोई विधान नहीं है, यद्यपि दशाश्रुतस्कन्ध तथा उपासकदशांग की टीकाओं में एवं बाद के अन्य ग्रन्थो में समय-मर्यादा का निर्देश है। श्वेताम्बर परम्परा में इन विकासात्मक भूमिकाओं को उपवास आदि तपस्या के समान तपविशेष मान लिया गया है, जब कि वस्तुतः ये गृहस्थ-धर्म के निम्नतम रूप से संन्यास के उच्चतम आदर्श तक पहुँचने में मध्यावधि विकास की अवस्थाएँ हैं, जिन पर साधक अपने बलाबल का विचार करके आगे बढ़ता है। ये भूमिकाएँ यही बताती हैं कि जो साधक एकदम निवृत्तिपरक संन्यासमार्ग को ग्रहण नहीं कर सकता, वह गृही-जीवन में रहकर भी उस आदर्श की ओर क्रमशः कैसे आगे बढ़े। अतः यह मानना पड़ेगा कि इन प्रतिमाओं के पीछे दिगम्बर सम्प्रदाय का जो दृष्टिकोण या जो दृष्टि है, वह मूलात्मा के निकट एवं वैज्ञानिक है। श्वेताम्बर परम्परा के आदर्शों में आनन्द आदि श्रावकों का जो वर्णन है, वह भी यही बताता है कि वे क्रमशः विकास की अग्रिम कक्षाओं तक बढ़ते गये, लेकिन पुनः वापस नहीं लौटे। मेरी अपनी दृष्टि में ये प्रतिमाएँ श्रावक-जीवन से श्रमण जीवन तक उत्तरोत्तर विकास की भूमिकाएँ हैं। यद्यपि गुणस्थान-सिद्धान्त भी नैतिक विकास की कक्षाओं का विचार करता है, तथापि गुणस्थान-सिद्धान्त से प्रतिमा-सिद्धान्त दो अर्थों में भिन्न है। (१) गुणस्थान-सिद्धान्त में विकास की विवेचना समस्त जीव-जाति को दृष्टि में रख कर की गयी है, जब कि प्रतिमा-सिद्धान्त का सम्बन्ध केवल गृहस्थ-उपासक वर्ग से है। इस प्रकार इसका क्षेत्र सीमित है। (२) दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि गुणस्थान-सिद्धान्त का सम्बन्ध नैतिक विकास के आध्यात्मिक पक्ष से है, जब कि उपासक प्रतिमा का बाह्य आचरण से है।

ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप

१. **दर्शन-प्रतिमा**—साधक की अध्यात्म-मार्ग की यथार्थता के सम्बन्ध में दृढ़ निष्ठा एवं श्रद्धा होना ही दर्शनप्रतिमा है। दर्शनका अर्थ है दृष्टिकोण और आध्यात्मिक विकास के लिए दृष्टिकोण की विशुद्धता प्राथमिक एवं अनिवार्य शर्त है। दर्शनविशुद्धि की प्रथम शर्त है क्रोध, मान, माया और लोभ, इस कषाय चतुष्क की तीव्रता में मन्दता। जबतक इन कषायों का अनन्तानुबन्धी रूप समाप्त नहीं होता, दर्शनविशुद्धि नहीं होती। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में मानवीय विवेक को अपहरित कर लेनेवाले क्रोधादि संवेगों के तीव्र आवेग ही प्रज्ञा-शक्ति को कुण्ठित कर देते हैं। अतः जबतक इन संवेगों या तीव्र आवेगों पर विजय प्राप्त नहीं की जाती, हमारी विवेकशक्ति या

प्रज्ञा सम्यक् रूप से अपना कार्य नहीं कर सकती, जब कि विवेक ही अध्यात्मिकता की प्रथम शर्त है। दर्शनप्रतिमा में साधक इन कषायों की तीव्रता को कम कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। यह गृहस्थ-धर्म की प्रथम भूमिका है। शुभ और अशुभ अथवा धर्म और अधर्म के मध्य यथार्थ विवेक दर्शन या दृष्टिकोण की विशुद्धि का तात्पर्य है। इस अवस्था में साधक शुभ को शुभ और अशुभ को अशुभ के रूप में जानता है। लेकिन उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह शुभाचरण करे ही।

२. **व्रत-प्रतिमा**—दृष्टिकोण की विशुद्धि के साथ जब साधक सम्यक् आचरण के क्षेत्र में चारित्रविशुद्धि के लिए आगे आता है तो वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अपनी गृहस्थ मर्यादाओं के अनुरूप आंशिक रूप में पालन करना प्रारम्भ करता है। गृहस्थ जीवन के ५ अणुव्रतों और ३ गुणव्रतोंका निर्दोषरूप से पालन करना व्रत-प्रतिमा है। इसमें पाँच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों का तो सम्यक् पालन किया जाता है, लेकिन सामायिक आदि शिक्षाव्रतों का यथासमय सम्यक्तया अभ्यास नहीं किया जाता है। वस्तुतः पाँच अणुव्रतों और तीन व्रतों की साधना आध्यात्मिक दृष्टि से निषेधात्मक प्रयास है, जबकि सामायिक और प्रोषध आदि की साधना आध्यात्मिक दृष्टि से विधायक प्रयास है। आध्यात्मिक क्षेत्र में निषेधात्मक नैतिक नियमों के पालन और विधानात्मक अभ्यास में जो अन्तर है, वही अन्तर व्रत-प्रतिमा और आगे आनेवाली सामायिक और प्रोषधोपवास प्रतिमाओं में है। व्रत-प्रतिमा गृहस्थ जीवन की दूसरी भूमिका है जिसमें नैतिक आचरण की दिशा में साधक आंशिक प्रयास प्रारम्भ करता है।

३. **सामायिक-प्रतिमा**—साधना का अर्थ मात्र त्याग ही नहीं वरन् कुछ प्राप्ति भी है। सामायिक-प्रतिमा में साधक 'समत्व' प्राप्त करता है। 'समत्व' के लिए किया जानेवाला प्रयास सामायिक कहलाता है। यद्यपि समत्व एक दृष्टि है, एक विचार है लेकिन वह ऐसा विचार नहीं जो आचरण में प्रकट न होता हो। उसे जीवन के आचरणात्मक पक्ष में उतारने के लिए सतत् प्रयास अनिवार्य है। वैचारिक समत्व जबतक आचरण में प्रकट नहीं होता, वह नैतिक जीवन के लिए अधिक मूल्यवान् नहीं बनता। गृहस्थ उपासक को सामायिक प्रतिमा में नियमित रूप से तीनों संध्याओं अर्थात् प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल में मन, वचन और कर्म से निर्दोष रूप में 'समत्व' की आराधना करनी होती है। यह गृहस्थ जीवन के विकास की तीसरी भूमिका है। यहाँ अपनी पूर्व प्रतिज्ञाओं (प्रतिमाओं) का पालन करते हुए साधक गृहस्थ जीवन के क्रियाकलापों में से प्रतिदिन नियमित रूप से कुछ समय आध्यात्मिक चिन्तन एवं समत्व-भावना के अभ्यास में लगाता है।

४. **प्रोषधोपवास-प्रतिमा**—साधना की इस कक्षा में गृहस्थ उपासक गृहस्थी के

झंझटों में से कुछ ऐसे अवकाश के दिन निकालता है, जब वह गृहस्थी के उत्तरदायित्वों से मुक्त होकर मात्र आध्यात्मिक चिन्तन-मनन कर सके। वह गुरु के समीप या धर्म-स्थान (उपासना-गृह) में रहकर आध्यात्मिक साधना में ही उस दिवस को व्यतीत करता है। प्रत्येक मास की दो अष्टमी, दो चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा इन दिनों में गृहस्थी के समस्त क्रियाकलापों से अवकाश पाकर उपवाससहित धर्म-स्थान या उपासना-गृह में निवास करते हुए आत्मसाधना में रत रहना गृहस्थ की प्रोपधोपवास-प्रतिमा है। प्रोषधोपवास प्रतिमा निवृत्ति की दिशा में बढ़ा हुआ एक और चरण है, यह एक दिवस का श्रमणत्व ही है। यह गृहस्थ के विकास की चौथी भूमिका है, जिसमें प्रवृत्तिमय जीवन में रहते हुए भी अवकाश के दिनों में निवृत्ति का आनन्द लिया जाता है।

५. **नियम-प्रतिमा**—इसे कायोत्सर्ग प्रतिमा एवं दिवामैथुनविरत प्रतिमा भी कहा जाता है। इसमें पूर्वोक्त प्रतिमाओं का निर्दोष पालन करते हुए पाँच विशेष नियम लिये जाते हैं—१. स्नान नहीं करना, २. रात्रि-भोजन नहीं करना, ३. धोती की एक लांग नहीं लगाना, ४. दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करना तथा रात्रि में मैथुन की मर्यादा निश्चित करना, ५. अष्टमी, चतुर्दशी आदि किसी पर्व दिन में रात्रि-पर्यन्त देहासक्ति त्याग कर कायोत्सर्ग करना। वस्तुतः इस प्रतिमा में कामासक्ति, भोगासक्ति अथवा देहासक्ति कम करने का प्रयास किया जाता है।

६. **ब्रह्मचर्य-प्रतिमा**—जब गृहस्थ साधक नियम-प्रतिमा की साधना के द्वारा कामासक्ति पर विजय पाने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है तो वह विकास की इस कक्षा में मैथुन से सर्वथा विरत होकर ब्रह्मचर्य ग्रहण कर लेता है और इस प्रकार निवृत्ति की दिशा में एक और चरण बढ़ाता है। इस प्रतिमा में वह ब्रह्मचर्य की रक्षा के निमित्त १. स्त्री के साथ एकान्त का सेवन नहीं करना, २. स्त्री-वर्ग से अति परिचय या सम्पर्क नहीं रखना, ३. शृंगार नहीं करना, ४. स्त्री-जाति के रूप-सौन्दर्य सम्बन्धी तथा काम-वर्धक वार्तालाप नहीं करना, ५. स्त्रियों के साथ एक आसन पर नहीं बैठना आदि नियमों का भी पालन करता है।

७. **सचित्त आहारवर्जन-प्रतिमा**—पूर्वोक्त प्रतिमाओं के नियमों का यथावत् पालन करते हुए इस भूमिका में आकर गृहस्थ साधक अपनी भोगासक्ति पर विजय की एक और मोहर लगा देता है और सभी प्रकार की सचित्त वस्तुओं के आहार का त्याग कर देता है एवं उष्ण जल तथा अचित्त आहार का ही सेवन करता है। साधना की इस कक्षा तक आकर गृहस्थ उपासक अपने वैयक्तिक जीवन की दृष्टि से अपनी वासनाओं एवं आवश्यकताओं का पर्याप्त रूप से परिसीमन कर लेता है, फिर भी पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वहन करने की दृष्टि से गार्हस्थिक कार्य एवं

व्यवसाय आदि करता रहता है, जिनके कारण उद्योगी एवं आरम्भी हिंसा से पूर्णतया बच नहीं पाता है।

८. **आरम्भत्याग प्रतिमा**—साधना की इस भूमिका में आने के पूर्व गृहस्थ उपासक का महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह अपने समग्र पारिवारिक एवं सामाजिक उत्तरदायित्वों को अपने उत्तराधिकारी पर डाल दे। जैन परम्परा में गृहस्थ उपासक इस प्रसंग पर अपने कुटुंबीजनों तथा सम्भ्रान्त नागरिकों को बुलाकर एक विशेष समारोह के साथ अपने पारिवारिक, सामाजिक और व्यावसायिक उत्तरदायित्व को ज्येष्ठपुत्र या अन्य उत्तराधिकारी को संभला देता है और स्वयं निवृत्त होकर अपना सारा समय धर्माराधना में लगाता है। इस भूमिका में रहकर गृहस्थ उपासक यद्यपि स्वयं व्यवसाय आदि कार्यो में भाग नहीं लेता है और न स्वयं कोई आरम्भ ही करता है, फिर भी वह अपने पुत्रादि को यथावसर व्यावसायिक एवं पारिवारिक कार्यों में मार्गदर्शन देता रहता है। दूसरे, वह व्यवसाय आदि कार्यों का संचालन तो पुत्रों को सौंप देता है लेकिन सम्पत्ति पर से स्वामित्व के अधिकार का त्याग नहीं करता है। सम्पत्ति के स्वामित्व का त्याग वह इसलिए नहीं करता है कि यदि पुत्रादि अयोग्य सिद्ध हुए तो वह किसी योग्य उत्तराधिकारी को दी जा सके।

९. **परिग्रह-विरत प्रतिमा**—गृहस्थ उपासक को जब संतोष हो जाता है कि उसकी सम्पत्ति का उसके उत्तराधिकारियों द्वारा उचित रूप से उपयोग हो रहा है अथवा वह योग्य हाथों में है तो वह उस सम्पत्ति पर से अपने स्वामित्व के अधिकार का भी परित्याग कर देता है और इस प्रकार निवृत्ति की दिशा में एक कदम आगे बढ़कर परिग्रह-विरत होता जाता है। फिर भी इस अवस्था में वह पुत्रादि को व्यावसायिक एवं पारिवारिक कार्यो में उचित मार्गदर्शन देता रहता है। इस प्रकार परिग्रह से विरत हो जाने पर भी वह अनुमति-विरत नहीं होता। श्वेताम्बर परम्परा में परिग्रहविरत-प्रतिमा के स्थान पर **भृतक प्रेष्यारम्भ वर्जन प्रतिमा है** जिसमें गृहस्थ उपासक स्वयं आरम्भ करने एवं दूसरे से करवाने का परित्याग कर देता है, लेकिन अनुमति-विरत नहीं होता है।

१०. **अनुमतिविरत प्रतिमा**—गृहस्थ उपासक विकास की इस कक्षा में अनुमति देना भी बन्द कर देता है। वह समस्त ऐसे आदेशों और उपदेशों से दूर रहता है, जिनके कारण किसी भी प्रकार की स्थावर या त्रसहिंसा की सम्भावना हो। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार यह नवीं प्रतिमा का ही अंग है। इस अवस्था तक गृहस्थ उपासक अपने लिए बने भोजन को अपने परिवार से ही ग्रहण करता है, स्वयं के लिए बने भोजन को ग्रहण करने का वह त्यागी नहीं होता है।

११. (ज) **उद्दिष्टभक्तवर्जन प्रतिमा**—निवृत्ति के इस चरण में गृहस्थ उपासक मुण्डन

करा लेता है। स्वयं के लिए बने आहार का भी परित्याग कर देता है। वह किसी भी गृहस्थ या कुटुम्बीजन के यहाँ जाकर आहार ग्रहण करता है। श्वेताम्बर-परम्परा में परिग्रह-विरत प्रतिमा नहीं होने से इसे दसवीं प्रतिमा माना गया है। उनके अनुसार इस अवस्था में गृहस्थ उपासक से किसी पारिवारिक बात के पूछे जाने पर उसे केवल इन दो विकल्पों से उत्तर देना चाहिए। मैं इसे जानता हूँ या मैं इसे नहीं जानता हूँ।

११. (ब) **श्रमणभूत प्रतिमा**—इस अवस्था में गृहस्थ उपासक की अपनी समस्त चर्या साधु के समान होती है। उसकी वेशभूषा भी लगभग वैसी ही होती है। भिक्षा चर्या द्वारा ही जीवन-निर्वाह करता है। यदि उसे कोई मुनि समझ कर वंदन करता है तो वह यह कह देता है कि मैं तो प्रतिमाधारी श्रमणोपासक हूँ और आपसे क्षमा चाहता हूँ।

श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि से साधु से वह इस अर्थ में भिन्न होता है कि (१) पूर्वराग के कारण कुटुम्ब के लोगों या परिचित जनों के यहाँ ही भिक्षार्थ जाता है। (२) केश-लुञ्चन के स्थान पर मुण्डन करवा सकता है (३) साधु के समान विभिन्न ग्राम एवं नगरों में कल्पानुसार विहार नहीं करता है। अपने निवास नगर में ही रह सकता है।

दिगम्बर परम्परा में इसके दो विभाग हैं—१. क्षुल्लक और २. ऐलक।

क्षुल्लक—यह दिगम्बर मुनि के आचार-व्यवहार से निम्न बातों में भिन्न होता है—(१) दो वस्त्र (अधोवस्त्र और उत्तरीय) रखता है, (२) या तो केशलोच करता है या मुण्डन करवाता है, (३) भिक्षा विभिन्न घरों से माँग कर करता है या फिर किसी मुनि के पीछे जाकर एक ही घर से ग्रहण करता है।

ऐलक—आचार और चर्या में यह मुनि का निकटवर्ती होने के कारण इसे ऐलक कहा जाता है। यह एक कमण्डलु और मोरपिच्छी रखता है, केशलुञ्चन करता है, वह दिगम्बर मुनि से केवल एक बात में भिन्न होता है कि लोकलज्जा के नहीं छूट पाने के कारण गुह्यांग को ढँकने के लिए मात्र लंगोटी रखता है जबकि दिगम्बर मुनि सर्वथा नग्न होता है। शेष सब बातों में इसकी चर्या दिगम्बर मुनि के समान ही होती है। इस प्रकार यह अवस्था गृही साधना की सर्वोत्कृष्ट भूमिका है। साधक अपने अगले विकास के चरण में श्रमण या मुनि जीवन को स्वीकार कर लेता है या संथारा ग्रहण कर देह त्याग देता है इसे श्रमण जीवन की पूर्व भूमिका भी कहा जा सकता है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह अवस्था वैदिक परम्परा के वानप्रस्था-श्रम और बौद्ध-परम्परा के श्रामणेरजीवन के समकक्ष मानी जा सकती है। वैदिक-परम्परा में और बौद्ध-परम्परा में जिस प्रकार वानप्रस्थ अथवा श्रामणेर का जीवन

संन्यास या उपसंपदा की पूर्व भूमिका होता है, उसी प्रकार जैन-परम्परा की श्रमण-भूतप्रतिमा भी श्रमण-जीवन को पूर्व भूमिका है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गृहस्थ-साधना की उपरोक्त भूमिकाओं और कक्षाओं की व्यवस्था इस प्रकार से की गयी है कि जो साधक वासनात्मक जीवन से एकदम ऊपर उठने की सामर्थ्य नहीं रखता, वह निवृत्ति की दिशा में क्रमिक प्रगति करते हुए अन्त में पूर्ण निवृत्ति के आदर्श को प्राप्त कर सके।

●

जैन दर्शन में श्रमण-जीवन का स्थान—जैन परम्परा सामान्यतया श्रमण-परम्परा है। इसलिए उसमें श्रमण-जीवन को प्रधान माना गया है। बृहद्कल्पसूत्र के अनुसार प्रथमतः प्रत्येक आगन्तुक को यतिधर्म का ज्ञान कराना चाहिए और यदि वह उसके पालन में असमर्थता प्रकट करे तो उसे गृहस्थधर्म का उपदेश करना चाहिए।[1]

बौद्ध धर्म में श्रमण-जीवन का स्थान—बौद्ध-परम्परा भी मुख्यतः श्रमण परम्परा है और उसमें भी श्रमण-जीवन को सर्वोच्च माना गया है। बुद्ध ने सदैव ही श्रमण-जीवन को प्राथमिकता दी है।[2] उनके अनुसार यथासंभव व्यक्ति को श्रमण-जीवन अंगीकार करना चाहिए। यदि मनुष्य श्रमण जीवन बिताने में असमर्थ है तो गृहस्थ जीवन अंगीकार कर सकता है।

वैदिक परम्परा में श्रमण-जीवन का स्थान—वैदिक परम्परा में गृहस्थ जीवन का ही विशेष महत्त्व है; यद्यपि बाद में श्रमण परम्पराओं के प्रभाव से उसमें भी श्रमण जीवन को समुचित स्थान मिल गया है। वैदिक आश्रम-व्यवस्था में जीवन का अन्तिम साध्य संन्यास ही है। गीता के युग तक वैदिक परम्परा में गृहस्थ-जीवन एवं संन्यास मार्ग दोनों ही परम्पराएँ प्रतिष्ठित हो चुकी थीं। गीता में संन्यासमार्ग और गृहस्थ-जीवन के मध्य एक समन्वय स्थापित करने का प्रयास उपलब्ध है।[3] श्रमण-साधना का मूल मन्तव्य जिस अनासक्त जीवन पद्धति का निर्माण है, गीता उसे गृहस्थ जीवन के माध्यम से भी प्रस्तुत करने का प्रयास करती है।

श्रमण जीवन की सर्वोच्चता के सम्बन्ध में तीनों ही आचार-दर्शनों में अधिक दूरी नहीं है, यद्यपि वैदिक परम्परा का प्रयास गृहस्थ जीवन को भी संन्यास के समकक्ष बनाने का रहा है।

जैन धर्म में श्रमण का तात्पर्य—जैन परम्परा में श्रमण जीवन का तात्पर्य पाप-विरति है। जैन-परम्परा के अनुसार श्रमण-जीवन में व्यक्ति को बाह्य रूप से समस्त पापकारी (हिंसक) प्रवृत्तियों से बचना होता है, साथ ही आन्तरिक रूप से उसे समस्त रागद्वेषात्मक वृत्तियों से ऊपर उठना होता है। श्रमण-जीवन का तात्पर्य 'श्रमण' शब्द की व्याख्या से ही स्पष्ट हो जाता है। प्राकृत भाषा में श्रमण के लिए 'समण' शब्द का

---

१. बृहद्कल्पसूत्र, ११३९। २. सुत्तनिपात, १२।१४-१५।
३. गीता, ५।२।

संन्यास या उपसंपदा की पूर्व भूमिका होता है, उसी प्रकार जैन-परम्परा की श्रमण-भूतप्रतिमा भी श्रमण-जीवन की पूर्व भूमिका है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गृहस्थ-साधना की उपरोक्त भूमिकाओं और कक्षाओं की व्यवस्था इस प्रकार से की गयी है कि जो साधक वासनात्मक जीवन से एकदम ऊपर उठने की सामर्थ्य नहीं रखता, वह निवृत्ति की दिशा में क्रमिक प्रगति करते हुए अन्त में पूर्ण निवृत्ति के आदर्श को प्राप्त कर सके।

उठना है और बाह्यरूप से वह हिंसक प्रवृत्तियों से निवृत्ति है। तथ्य यह है कि समभाव की उपलब्धि प्राथमिक है, जबकि सावद्य व्यापारों से दूर होना द्वितीय है। जब तक विचारों में समत्व नहीं आता, तब तक साधक अपने को सावद्य क्रियाओं से भी पूर्णतया निवृत्त नहीं रख सकता। अतः समत्व की साधना ही श्रमण-जीवन का मूल आधार है।

बौद्ध-परम्परा में श्रमण-जीवन का तात्पर्य—जैन परम्परा के समान बौद्ध-परम्परा में भी श्रमण-जीवन का तात्पर्य समभाव की साधना ही है। जिस प्रकार जैन-परम्परा में श्रमण-जीवन का अर्थ इच्छाओं एवं आसक्तियों से ऊपर उठना तथा पाप वृत्तियों का शमन माना गया है, उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा में भी तृष्णा का परित्याग एवं पापों का शमन ही श्रमण-जीवन का हार्द है। बुद्ध कहते हैं कि जो व्रतहीन है तथा मिथ्याभाषी है वह मुंडित होने मात्र से श्रमण नहीं होता। इच्छा और लोभ से भरा हुआ मनुष्य भला क्या श्रमण बनेगा? जो छोटे-बड़े सभी पापों का शमन करता है, उसे पापों का शमनकर्ता होने के कारण ही श्रमण कहा जाता है[1] बुद्ध के अनुसार श्रमण-जीवन का सार है समस्त पापों का नहीं करना, कुशल कर्मों का सम्पादन करना एवं चित्त को शुद्ध रखना[2]। इस प्रकार बौद्ध दर्शन में भी श्रमण-जीवन की साधना के दो पक्ष हैं—आंतरिकरूप से वह चित्तशुद्धि है तो बाह्यरूप से पापविरति।

वैदिक परम्परा में संन्यास-जीवन का तात्पर्य—वैदिक आचार-परम्परा में भी संन्यास जीवन का तात्पर्य फलाकांक्षा का त्याग माना गया है। उसमें समस्त लौकिक एषणाओं से ऊपर उठना एवं सभी प्राणियों को अभय प्रदान करना ही संन्यास का हार्द है। वैदिक परम्परा में साधक संन्यास ग्रहण करते समय प्रतिज्ञा करता है कि "मैं पुत्रैषणा (कामवासना), वित्तैषणा (लोभ) और लोकैषणा (सम्मान की आकांक्षा) का परित्याग करता हूं और सभी प्राणियों को अभय प्रदान करता हूँ।"[3]

इस प्रकार सभी आचार-दर्शनों के अनुसार श्रमण-जीवन का तात्पर्य मानसिक समत्व अथवा रागद्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठकर सामाजिक क्षेत्र में अहिंसक एवं निष्पाप जीवन-जीना ही सिद्ध होता है।

जैनधर्म में श्रमण-जीवन के लिए आवश्यक योग्यताएँ

श्रमण का जीवन एक उच्चस्तरीय नैतिकता एवं आत्मसंयम का जीवन है। श्रमण संस्था पवित्र बनी रहे इसलिए श्रमण-संस्था में प्रविष्ट होने के लिए कुछ नियमों का होना आवश्यक माना गया है। सामान्यतया जैन-विचारधारा श्रमण-संस्था में प्रवेश के

---

१. धम्मपद, २६४-२६५। २. वही, १८३।

३. पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता मत्तः सर्व भूतेभ्योऽभयमस्तु।
—उद्धृत नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १०१।

प्रयोग होता है। 'समण' शब्द के संस्कृत में तीन रूपान्तर होते हैं, १–श्रमण २–समन और ३–शमन।

१. श्रमण शब्द श्रम धातु से बना है। इसका अर्थ है परिश्रम या प्रयत्न करना अर्थात् जो व्यक्ति अपने आत्म विकास के लिए परिश्रम करता है, वह श्रमण है।

२. समन शब्द के मूल में सम् है जिसका अर्थ है समत्वभाव। जो व्यक्ति सभी प्राणियों को अपने समान समझता है और अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समभाव रखता है, वह श्रमण कहलाता है।

३. शमन शब्द का अर्थ है अपनी वृत्तियों को शांत रखना अथवा मन और इन्द्रियों पर संयम रखना। अतः जो व्यक्ति अपनी वृत्तियों को संयमित रखता है वह श्रमण है।

वस्तुतः जैन-परम्परा में श्रमण शब्द का मूल तात्पर्य समत्वभाव की साधना ही है। भगवान् महावीर ने कहा है कि कोई केवल मुंडित होने से श्रमण नहीं होता, वरन् जो समत्व की साधना करता है वही श्रमण होता है।[1] श्रमण शब्द की व्याख्या में बताया गया है कि जो समत्वबुद्धि रखता है तथा जो सुमना होता है वही श्रमण है।[2] सूत्रकृताग में भी श्रमण जीवन की स्पष्ट व्याख्या उपलब्ध है। जो साधक शरीर आदि में आसक्ति नहीं रखता, किसी प्रकार की सांसारिक कामना नहीं करता, किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता है, झूठ नहीं बोलता है, मैथुन और परिग्रह के विकार से रहित है, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, आदि जितने भी कर्मादान और आत्मा के पतन के हेतु हैं, सबसे निवृत्त रहता है, इसी प्रकार जो इन्द्रियों का विजेता है, मोक्ष-मार्ग का सफल यात्री है, शरीर के मोह-ममत्व से रहित है, वह श्रमण कहलाता है[3]।

श्रमणत्व ग्रहण करने की प्रतिज्ञा के द्वारा भी श्रमण-जीवन के अर्थ को सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है। जैन-परम्परा में श्रमण-संस्था में प्रविष्ट होने का इच्छुक साधक गुरु के समक्ष सर्वप्रथम यह प्रतिज्ञा करता है कि 'हे पूज्य, मैं समत्वभाव को स्वीकार करता हूँ और सम्पूर्ण सावद्य क्रियाओं का परित्याग करता हूँ। जीवन-पर्यन्त इस प्रतिज्ञा का पालन करूँगा। मन-वचन और काय से न तो कोई अशुभ प्रवृत्ति करूँगा न करवाऊँगा और न करनेवाले का अनुमोदन करूँगा। मैं पूर्व में की हुई ऐसी समग्र अशुभ प्रवृत्तियों की निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूं एवं स्वयं को उनसे विलग करता हूँ।'

जैन-विचारणा के अनुसार साधना के दो पक्ष हैं आंतरिक और बाह्य। श्रमण-जीवन आंतरिक साधना की दृष्टि से समत्व की साधना है, रागद्वेष की वृत्तियों से ऊपर

---

१. उत्तराध्ययन २५।३२। २. अनुयोगद्वार उपक्रमाधिकार १,३।
३. सूत्रकृतांग, १।१६।२-उद्धृत श्रमणसूत्र पृ० ५४–५७।

उठना है और बाह्यरूप से वह हिंसक प्रवृत्तियों से निवृत्ति है। तथ्य यह है कि समभाव की उपलब्धि प्राथमिक है, जबकि सावद्य व्यापारों से दूर होना द्वितीय है। जब तक विचारों में समत्व नहीं आता, तब तक साधक अपने को सावद्य क्रियाओं से भी पूर्णतया निवृत्त नहीं रख सकता। अतः समत्व की साधना ही श्रमण-जीवन का मूल आधार है।

बौद्ध-परम्परा में श्रमण-जीवन का तात्पर्य—जैन परम्परा के समान बौद्ध-परम्परा में भी श्रमण-जीवन का तात्पर्य समभाव की साधना ही है। जिस प्रकार जैन-परम्परा में श्रमण-जीवन का अर्थ इच्छाओं एवं आसक्तियों से ऊपर उठना तथा पाप वृत्तियों का शमन माना गया है, उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा में भी तृष्णा का परित्याग एवं पापों का शमन ही श्रमण-जीवन का हार्द है। बुद्ध कहते हैं कि जो व्रतहीन है तथा मिथ्याभाषी है वह मुंडित होने मात्र से श्रमण नहीं होता। इच्छा और लोभ से भरा हुआ मनुष्य भला क्या श्रमण बनेगा? जो छोटे-बड़े सभी पापों का शमन करता है, उसे पापों का शमनकर्ता होने के कारण ही श्रमण कहा जाता है[1] बुद्ध के अनुसार श्रमण-जीवन का सार है समस्त पापों का नहीं करना, कुशल कर्मों का सम्पादन करना एवं चित्त को शुद्ध रखना[2]। इस प्रकार बौद्ध दर्शन में भी श्रमण-जीवन की साधना के दो पक्ष हैं—आंतरिकरूप से वह चित्तशुद्धि है तो बाह्यरूप से पापविरति।

वैदिक परम्परा में संन्यास-जीवन का तात्पर्य—वैदिक आचार-परम्परा में भी संन्यास जीवन का तात्पर्य फलाकांक्षा का त्याग माना गया है। उसमें समस्त लौकिक एषणाओं से ऊपर उठना एवं सभी प्राणियों को अभय प्रदान करना ही संन्यास का हार्द है। वैदिक परम्परा में साधक संन्यास ग्रहण करते समय प्रतिज्ञा करता है कि "मैं पुत्रैषणा (कामवासना), वित्तैषणा (लोभ) और लोकैषणा (सम्मान की आकांक्षा) का परित्याग करता हूं और सभी प्राणियों को अभय प्रदान करता हूँ।"[3]

इस प्रकार सभी आचार-दर्शनों के अनुसार श्रमण-जीवन का तात्पर्य मानसिक समत्व अथवा रागद्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठकर सामाजिक क्षेत्र में अहिंसक एवं निष्पाप जीवन-जीना ही सिद्ध होता है।

जैनधर्म में श्रमण-जीवन के लिए आवश्यक योग्यताएँ

श्रमण का जीवन एक उच्चस्तरीय नैतिकता एवं आत्मसंयम का जीवन है। श्रमण संस्था पवित्र बनी रहे इसलिए श्रमण-संस्था में प्रविष्ट होने के लिए कुछ नियमों का होना आवश्यक माना गया है। सामान्यतया जैन-विचारधारा श्रमण-संस्था में प्रवेश के

---

१. धम्मपद, २६४-२६५। २. वही, १८३।

३. पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता मत्तः सर्व भूतेभ्योऽभयमस्तु।
—उद्धृत नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० १०१।

द्वार बिना किसी वर्ण एवं जाति के भेद के सभी के लिए खुला रखती है। महावीर के समय में निम्नतम से निम्नतम जाति के लोगों को भी श्रमण-संस्था में प्रवेश दिया जाता था, यह बात उत्तराध्ययनसूत्र के हरिकेशीवल के अध्याय से स्पष्ट हो जाती है। यद्यपि प्राचीन काल में सभी जाति के लोगों को श्रमण-संस्था में प्रवेश किया जाता था, किन्तु कुछ लोगों को श्रमण-संस्था में प्रवेश के लिए अयोग्य मान लिया गया था। निम्न व्यक्ति श्रमण-संस्था में प्रवेश के लिए अयोग्य माने गये थे—(१) आठ वर्ष से कम उम्र का बालक, (२) अति-वृद्ध, (३) नपुंसक, (४) क्लीव, (५) जड़ (मूर्ख), (६) असाध्य रोग से पीड़ित, (७) चोर, (८) राज-अपराधी, (९) उन्मत्त (पागल), (१०) अंधा, (११) दास, (१२) दुष्ट, (१३) मूढ़ ज्ञानार्जन के अयोग्य, (१४) ऋणी, (१५) कैदी, (१६) भयार्त (१७) अपहरण करके लाया गया, (१८) जुङ्गित—जाति, कर्म अथवा शरीर से दूषित, (१९) गर्भवती स्त्री, (२०) ऐसी स्त्री जिसकी गोद में बच्चा दूध पीता हो।[1] यद्यपि स्थानांगसूत्र में श्रमण-दीक्षा के अयोग्य व्यक्तियों में नपुंसक, असाध्यरोगी एवं भयार्त का ही उल्लेख है, तथापि टीकाकारों ने उपर्युक्त प्रकार के व्यक्तियों को श्रमण-दीक्षा के अयोग्य माना है। इतना ही नहीं, परवर्ती टीकाकारों ने उसमें जाति को भी आधार बनाने का प्रयास किया है। जुङ्गित शब्द की व्याख्या में मातंग, मछुआ, बसोड़, दर्जी, रंगरेज आदि जातियों के लिए भी श्रमण-दीक्षा वर्जित बतायी गयी।[2] यद्यपि कुछ परवर्ती आचार्यों ने इनमें से कुछ जातियों को श्रमण-संस्था में प्रवेश देना स्वीकार किया है और वर्तमान परम्परा में भी रंगरेज, दर्जी आदि जातियों के व्यक्तियों को श्रमण-संस्था में प्रवेश दिया जाता है। फिर भी यह सत्य है कि मध्यवर्ती युग में कुछ जातियाँ श्रमण दीक्षा के लिए वर्जित मानी गयी थीं। संभवतः ऐसा ब्राह्मण-परम्परा के प्रभाव के कारण हुआ हो, ताकि श्रमण-संस्था को लोगों में होनेवाली टीका-टिप्पणी से बचाया जा सके। "धर्म संग्रह" के अनुसार श्रमण-दीक्षा ग्रहण करने वाले में निम्न योग्यताएँ होनी चाहिए। (१) आर्य देश समुत्पन्न, (२) शुद्धजातिकुलान्वित, (३) क्षीण-प्रायाशुभकर्मा, (४) निर्मलबुद्धि, (५) विज्ञातसंसारनैर्गुण्य, (६) विरक्त, (७) मंदकषाय, (८) अल्पहास्यादि (९) कृतज्ञ, (१०) विनीत, (११) राजसम्मत, (१२) अद्रोही, (१३) सुन्दर, सुगठित एवं पूर्ण, (१४) श्रद्धावान्, (१५) स्थिर-विचार और (१६) स्व-इच्छा से दीक्षा के लिए तत्पर।[3]

प्रवचनसारोद्धार आदि अन्य ग्रन्थों में भी श्रमण-दीक्षा के लिए उपर्युक्त विचारों का समर्थन मिलता है।

---

१. देखिए—हिस्ट्री आफ जैन मोनासिज्म, पृ० १४०; भगवान् बुद्ध, पृ० २५८।

२. प्रवचनसारोद्धार, द्वार १०७।

३. धर्मसंग्रह ३।७३ – ७८ देखिए बोलसंग्रह भाग ५, पृ० १५८–१६१।

बौद्ध-परम्परा में श्रमण-जीवन के लिए आवश्यक योग्यताएँ—बौद्ध-परम्परा में भिक्षुसंघ में प्रवेश पाने के लिए यद्यपि जाति को बाधक नहीं माना गया है, तथापि उसने कुछ व्यक्तियों को भिक्षुसंघ में प्रवेश देने के अयोग्य माना है, जैसे हिंसक, चोर, सैनिक, राजकीय सेवा में नियुक्त व्यक्ति, लंगड़े-लूले, अंधे, काने एवं गूंगे-बहरे व्यक्ति। असाध्य रोगियों का भी भिक्षुसंघ में प्रवेश वर्जित माना है। बौद्ध-परम्परा का यह भी नियम है कि १५ वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति को श्रामणेर दीक्षा तथा २० वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति को उपसंपदा नहीं देनी चाहिए।[१] इस प्रकार बौद्ध-परम्परा में भी श्रमण-दीक्षा की अयोग्यता के संदर्भ में लगभग वे ही विचार उपलब्ध हैं, जो जैन-परम्परा में हैं। दोनों ही परम्पराओं में श्रमण-दीक्षा के लिए माता-पिता एवं परिवार के अन्य आश्रित जनों की अनुमति भी आवश्यक मानी गयी है।[२]

वैदिक परम्परा में संन्यास के लिए आवश्यक योग्यताएँ

यद्यपि प्रारम्भिक वैदिक परम्परा में संन्यास का विशेष महत्त्व स्वीकार नहीं किया गया था और इसलिए जैन और बौद्ध परम्पराओं के ठीक विपरीत यह माना गया था कि संन्यास केवल अन्धों, लूले-लंगड़ों तथा नपुंसकों के लिए है, क्योंकि ये लोग वैदिक कृत्यों के सम्पादन के अधिकारी नहीं हैं। लेकिन वेदान्त के परवर्ती सभी आचार्यों ने इस दृष्टिकोण का विरोध किया है। इतना ही नहीं मेधातिथि आदि आचार्यों ने तो यह भी बताया है कि अन्धे, लूले, लंगड़े एवं नपुंसक आदि संन्यास के अयोग्य हैं, क्योंकि वे संन्यास के नियमों का पालन नहीं कर सकते। यति-धर्म-संग्रह के अनुसार संन्यास-धर्म से च्युत व्यक्ति का पुत्र, असुन्दर नाखूनों एवं काले दाँतों वाला व्यक्ति, क्षय रोग से दुर्बल, लूला-लंगड़ा व्यक्ति संन्यास धारण नहीं कर सकता। इसी प्रकार वे लोग भी जो अपराधी, पापी, व्रात्य होते हैं तथा सत्य, शौच, यज्ञ, व्रत, तप, दया, दान आदि के त्यागी होते हैं, उन्हें संन्यास ग्रहण करने की आज्ञा नहीं है।[3] इस प्रकार वैदिक परम्परा में भी संन्यास के संदर्भ में उन्हीं योग्यताओं को आवश्यक माना गया है जो जैन और बौद्ध परम्पराओं में मान्य हैं। नारदपरिव्राजकोपनिषद् में लगभग वे ही सभी योग्यताएँ आवश्यक मानी गयी हैं जिनकी चर्चा हम जैन और बौद्ध परम्पराओं के संदर्भ में कर चुके हैं।[४]

जैन श्रमणों के प्रकार

जैन-परम्परा में श्रमणों का वर्गीकरण उनके आचार-नियम तथा साधनात्मक

---

१. बुद्धिज्म, पृ० ७६-७७।
२. देखिए बुद्धिज्म-पृ० ७७, विनयपिटक महावग्ग, १,५४।
३. यतिधर्म संग्रह, पृ० ५-६, देखिए-धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ४९८ भाग १।
४. माइनर उपनिषदाज, खण्ड, १ पृ० १३६-१३७, देखिए-जैन एथिक्स, पृ० १४९।

द्वार बिना किसी वर्ण एवं जाति के भेद के सभी के लिए खुला रखती है। महावीर के समय में निम्नतम से निम्नतम जाति के लोगों को भी श्रमण-संस्था में प्रवेश दिया जाता था, यह बात उत्तराध्ययनसूत्र के हरिकेशीवल के अध्याय से स्पष्ट हो जाती है। यद्यपि प्राचीन काल में सभी जाति के लोगों को श्रमण-संस्था में प्रवेश किया जाता था, किन्तु कुछ लोगों को श्रमण-संस्था में प्रवेश के लिए अयोग्य मान लिया गया था। निम्न व्यक्ति श्रमण-संस्था में प्रवेश के लिए अयोग्य माने गये थे—(१) आठ वर्ष से कम उम्र का बालक, (२) अति-वृद्ध, (३) नपुंसक, (४) क्लीव, (५) जड़ (मूर्ख), (६) असाध्य रोग से पीड़ित, (७) चोर, (८) राज-अपराधी, (९) उन्मत्त (पागल), (१०) अंधा, (११) दास, (१२) दुष्ट, (१३) मूढ़ ज्ञानार्जन के अयोग्य, (१४) ऋणी, (१५) कैदी, (१६) भयार्त (१७) अपहरण करके लाया गया, (१८) जुङ्गित—जाति, कर्म अथवा शरीर से दूषित, (१९) गर्भवती स्त्री, (२०) ऐसी स्त्री जिसकी गोद में बच्चा दूध पीता हो।[1] यद्यपि स्थानांगसूत्र में श्रमण-दीक्षा के अयोग्य व्यक्तियों में नपुंसक, असाध्यरोगी एवं भयार्त का ही उल्लेख है, तथापि टीकाकारों ने उपर्युक्त प्रकार के व्यक्तियों को श्रमण-दीक्षा के अयोग्य माना है। इतना ही नहीं, परवर्ती टीकाकारों ने उसमें जाति को भी आधार बनाने का प्रयास किया है। जुङ्गित शब्द की व्याख्या में मातंग, मछुआ, बसोड़, दर्जी, रंगरेज आदि जातियों के लिए भी श्रमण-दीक्षा वर्जित बतायी गयी।[2] यद्यपि कुछ परवर्ती आचार्यों ने इनमें से कुछ जातियों को श्रमण-संस्था में प्रवेश देना स्वीकार किया है और वर्तमान परम्परा में भी रंगरेज, दर्जी आदि जातियों के व्यक्तियों को श्रमण-संस्था में प्रवेश दिया जाता है। फिर भी यह सत्य है कि मध्यवर्ती युग में कुछ जातियाँ श्रमण दीक्षा के लिए वर्जित मानी गयी थीं। संभवतः ऐसा ब्राह्मण-परम्परा के प्रभाव के कारण हुआ हो, ताकि श्रमण-संस्था को लोगों में होनेवाली टीका-टिप्पणी से बचाया जा सके। "धर्म संग्रह" के अनुसार श्रमण-दीक्षा ग्रहण करने वाले में निम्न योग्यताएँ होनी चाहिए। (१) आर्य देश समुत्पन्न, (२) शुद्धजातिकुलान्वित, (३) क्षीण-प्रायाशुभकर्मा, (४) निर्मलबुद्धि, (५) विज्ञातसंसारनैर्गुण्य, (६) विरक्त, (७) मंदकषाय, (८) अल्पहास्यादि (९) कृतज्ञ, (१०) विनीत, (११) राजसम्मत, (१२) अद्रोही, (१३) सुन्दर, सुगठित एवं पूर्ण, (१४) श्रद्धावान्, (१५) स्थिर-विचार और (१६) स्व-इच्छा से दीक्षा के लिए तत्पर।[3]

प्रवचनसारोद्धार आदि अन्य ग्रन्थों में भी श्रमण-दीक्षा के लिए उपर्युक्त विचारों का समर्थन मिलता है।

---

१. देखिए—हिस्ट्री आफ जैन मोनासिज्म, पृ० १४०; भगवान् बुद्ध, पृ० २५८।

२. प्रवचनसारोद्धार, द्वार १०७।

३. धर्मसंग्रह ३।७३ [illegible]

बौद्ध-परम्परा में श्रमण-जीवन के लिए आवश्यक योग्यताएँ—बौद्ध-परम्परा में भिक्षुसंघ में प्रवेश पाने के लिए यद्यपि जाति को बाधक नहीं माना गया है, तथापि उसने कुछ व्यक्तियों को भिक्षुसंघ में प्रवेश देने के अयोग्य माना है, जैसे हिंसक, चोर, सैनिक, राजकीय सेवा में नियुक्त व्यक्ति, लंगड़े-लूले, अंधे, काने एवं गूंगे-बहरे व्यक्ति। असाध्य रोगियों का भी भिक्षुसंघ में प्रवेश वर्जित माना है। बौद्ध-परम्परा का यह भी नियम है कि १५ वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति को श्रामणेर दीक्षा तथा २० वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति को उपसंपदा नहीं देनी चाहिए।[1] इस प्रकार बौद्ध-परम्परा में भी श्रमण-दीक्षा की अयोग्यता के संदर्भ में लगभग वे ही विचार उपलब्ध हैं, जो जैन-परम्परा में हैं। दोनों ही परम्पराओं में श्रमण-दीक्षा के लिए माता-पिता एवं परिवार के अन्य आश्रित जनों की अनुमति भी आवश्यक मानी गयी है।[2]

वैदिक परम्परा में संन्यास के लिए आवश्यक योग्यताएँ

यद्यपि प्रारम्भिक वैदिक परम्परा में संन्यास का विशेष महत्त्व स्वीकार नहीं किया गया था और इसलिए जैन और बौद्ध परम्पराओं के ठीक विपरीत यह माना गया था कि संन्यास केवल अन्धों, लूले-लंगड़ों तथा नपुंसकों के लिए है, क्योंकि ये लोग वैदिक कृत्यों के सम्पादन के अधिकारी नहीं हैं। लेकिन वेदान्त के परवर्ती सभी आचार्यों ने इस दृष्टिकोण का विरोध किया है। इतना ही नहीं मेधातिथि आदि आचार्यों ने तो यह भी बताया है कि अन्धे, लूले, लंगड़े एवं नपुंसक आदि संन्यास के अयोग्य हैं, क्योंकि वे संन्यास के नियमों का पालन नहीं कर सकते। यति-धर्म-संग्रह के अनुसार संन्यास-धर्म से च्युत व्यक्ति का पुत्र, असुन्दर नाखूनों एवं काले दाँतों वाला व्यक्ति, क्षय रोग से दुर्बल, लूला-लंगड़ा व्यक्ति संन्यास धारण नहीं कर सकता। इसी प्रकार वे लोग भी जो अपराधी, पापी, व्रात्य होते हैं तथा सत्य, शौच, यज्ञ, व्रत, तप, दया, दान आदि के त्यागी होते हैं, उन्हें संन्यास ग्रहण करने की आज्ञा नहीं है।[3] इस प्रकार वैदिक परम्परा में भी संन्यास के संदर्भ में उन्हीं योग्यताओं को आवश्यक माना गया है जो जैन और बौद्ध परम्पराओं में मान्य हैं। नारदपरिव्राजकोपनिषद् में लगभग वे ही सभी योग्यताएँ आवश्यक मानी गयी हैं जिनकी चर्चा हम जैन और बौद्ध परम्पराओं के संदर्भ में कर चुके हैं।[4]

जैन श्रमणों के प्रकार

जैन-परम्परा में श्रमणों का वर्गीकरण उनके आचार-नियम तथा साधनात्मक

---

१. बुद्धिज्म, पृ० ७६–७७।
२. देखिए बुद्धिज्म–पृ० ७७, विनयपिटक महावग्ग, १,५४।
३. यतिधर्म संग्रह, पृ० ५–६, देखिए–धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ४९८ भाग १।
४. माइनर उपनिषदाज़, खण्ड, १ पृ० १३६–१३७, देखिए–जैन एथिक्स, पृ० १४९।

योग्यता के आधार पर किया गया है। आचरण के नियमों के आधार पर श्वेताम्बर परम्परा में दो प्रकार के साधु माने गये हैं[1]—(१) जिनकल्पी और (२) स्थविरकल्पी। जिनकल्पी मुनि सामान्यतया नग्न एवं पाणिपात्र होते हैं तथा एकाकी विहार करते हैं, जबकि स्थविरकल्पी मुनि सवस्त्र, सपात्र एवं संघ में रहकर साधना करते हैं। स्थानांग-सूत्र में साधनात्मक योग्यता के आधार पर श्रमणों का वर्गीकरण इस प्रकार है—(१) पुलाक—जो श्रमण साधना की दृष्टि से पूर्ण पवित्रता को प्राप्त नहीं हुए हैं। (२) बकुश—वे जिन साधकों में थोड़ा कषाय भाव एवं आसक्ति होती है।—(३) कुशील—जो साधु भिक्षु जीवन के प्राथमिक नियमों का पालन करते हुए भी द्वितीयिक नियमों का समुचितरूप से पालन नहीं करते हैं। ये सभी वास्तविक साधु जीवन से निम्न श्रेणी के साधक हैं। (४) निर्ग्रन्थ—जिनकी मोह और कषाय की ग्रन्थियां क्षीण हो चुकी हैं। (५) स्नातक—जिनके समग्र घाती कर्म क्षय हो चुके हैं। ये दोनों उच्चकोटि के श्रमण हैं।[2]

वैदिक परम्परा में संन्यासियों के प्रकार

महाभारत में संन्यासियों के ४ प्रकार वर्णित हैं—१. कुटीचक, २. बहूदक, ३. हंस और ४. परमहंस।[3] (१) कुटीचक संन्यासी अपने गृह में ही संन्यास धारण करता है तथा अपने पुत्रों द्वारा निर्मित कुटिया में रहते हुए उन्हीं की भिक्षा को ग्रहण कर साधना करता है।[4] (२) बहूदक संन्यासी त्रिदण्ड, कमण्डलु एवं कषायवस्त्रों से युक्त होते हैं तथा सात ब्राह्मण घरों से भिक्षा मांगकर जीवन यापन करते हैं। (३) हंस संन्यासी ग्राम में एक रात्रि तथा नगर में ५ रात्रियों से अधिक नहीं बिताते हुए उपवास एवं चान्द्रायण व्रत करते रहते हैं। (४) परमहंस संन्यासी सदैव ही पेड़ के नीचे शून्यगृह या श्मशान में निवास करते हैं। सामान्यतया वे नग्न रहते हैं तथा सदैव ही आत्मभाव में रत रहते हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए जैन परम्परा के जिनकल्पी मुनि को परमहंस या अवधूत श्रेणी का माना जा सकता है तथा संन्यासियों के अन्य प्रकार की तुलना स्थविरकल्पी मुनियों से की जा सकती है।

जैन श्रमण के मूलगुण

जैन-परम्परा में श्रमण-जीवन की कुछ आवश्यक योग्यताएँ मानी हैं जिन्हें मूलगुणों के नाम से जाना जाता है।[5] दिगम्बर परम्परा के मूलाचार सूत्र में श्रमण के २८

---

१. विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति, ७।
२. स्थानांग सूत्र, ५।३।४४५।
३. महाभारत अनुपर्व, १४१।८९।
४. तुलनीय–श्रमणभूत प्रतिमा।
५. मूलाचार, १।२–३; तत्त्वार्थ०, ९।४८।

मूलगुण माने गये हैं—१—५. पांच महाव्रत, ६—१०. पाँच इन्द्रियों का संयम, ११—१५. पांच समितियों का परिपालन, १६—२१. छह आवश्यक कृत्य, २२. केशलोच, २३. नग्नता, २४. अस्नान, २५. भूशयन, २६. अदन्तधावन, २७. खड़े रह कर भोजन ग्रहण करना और २८. एकभुक्ति—एक समय भोजन करना।

श्वेताम्बर परम्परा में श्रमण के २७ मूलगुण माने गये हैं।[1] श्वेताम्बर परम्परा का वर्गीकरण दिगम्बर परम्परा के वर्गीकरण से थोड़ा भिन्न है। श्वेताम्बर ग्रन्थों के आधार पर श्रमण के २७ मूल गुण इस प्रकार हैं—१—५. पांचमहाव्रत, ६. अरात्रि भोजन, ७—११. पांचों इन्द्रियों का संयम, १२. आन्तरिक पवित्रता, १३. भिक्षु-उपाधि की पवित्रता, १४. क्षमा, १५. अनासक्ति, १६. मन की सत्यता, १७. वचन की सत्यता, १८. काया की सत्यता, १९—२४. छह प्रकार के प्राणियों का संयम अर्थात् उनकी हिंसा न करना, २५. तीन गुप्ति, २६. सहनशीलता, २७. संलेखना। समवायांग की सूची इससे किंचित् भिन्न है। समवायांग के अनुसार २७ गुण इस प्रकार हैं[2]—१—५. पंच महाव्रत, ६—१०. पंच इन्द्रियों का संयम, ११—१५. चार कषायों का परित्याग, १६. भावसत्य, १७. करणसत्य, १८. योगसत्य, १९. क्षमा, २०. विरागता, २१—२४. मन, वचन और काया का निरोध २५. ज्ञान, दर्शन और चारित्र से संपन्नता, २६. कष्ट-सहिष्णुता और २७. मरणान्त कष्ट का सहन करना। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ दिगम्बर परम्परा में २८ मूल गुणों में आचरण के बाह्य तथ्यों पर अधिक बल दिया गया है, वहाँ श्वेताम्बर परम्परा में आन्तरिक विशुद्धि को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। मनोशुद्धि मूलतः दोनों परम्पराओं में स्वीकृत है।

पंच महाव्रत

पंच महाव्रत श्रमण जीवन के मूलभूत गुणों में माने गये हैं। जैन परम्परा में पंच महाव्रत ये हैं—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य और ५. अपरिग्रह। ये पांचों व्रत गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए विहित हैं। अन्तर यह है कि श्रमण जीवन में उनका पालन पूर्णरूप से करना होता है। इसलिए महाव्रत कहे जाते हैं। गृहस्थ जीवन में उनका पालन आंशिक रूप से होता है इसलिए गृहस्थ-जीवन के संदर्भ में अणुव्रत कहे जाते हैं। श्रमण इन पांचों महाव्रतों का पालन पूर्णरूप से करता है। सामान्य स्थिति में इनके परिपालन के लिए अपवाद नहीं माने गये हैं। श्रमण केवल विशेष परिस्थितियों में ही इन नियमों के परिपालन में अपवादमार्ग का आश्रय ले सकते हैं। सामान्यतया इन पंच महाव्रतों का पालन मन, वचन और काय तथा कृत, कारित और अनुमोदन इन ३ × ३ नव कोटियों सहित करना होता है।

---

१. देखिए—बोलसंग्रह, भाग ६, पृ० २२८। २. समवायांग, २७।१।

योग्यता के आधार पर किया गया है। आचरण के नियमों के आधार पर श्वेताम्बर परम्परा में दो प्रकार के साधु माने गये हैं[१]—(१) जिनकल्पी और (२) स्थविरकल्पी। जिनकल्पी मुनि सामान्यतया नग्न एवं पाणिपात्र होते हैं तथा एकाकी विहार करते हैं, जबकि स्थविरकल्पी मुनि सवस्त्र, सपात्र एवं संघ में रहकर साधना करते हैं। स्थानांग-सूत्र में साधनात्मक योग्यता के आधार पर श्रमणों का वर्गीकरण इस प्रकार है—(१) पुलाक—जो श्रमण साधना की दृष्टि से पूर्ण पवित्रता को प्राप्त नहीं हुए हैं। (२) बकुश—वे जिन साधकों में थोड़ा कषाय भाव एवं आसक्ति होती है।—(३) कुशील—जो साधु भिक्षु जीवन के प्राथमिक नियमों का पालन करते हुए भी द्वितीयिक नियमों का समुचितरूप से पालन नहीं करते हैं। ये सभी वास्तविक साधु जीवन से निम्न श्रेणी के साधक हैं। (४) निर्ग्रन्थ—जिनकी मोह और कषाय की ग्रन्थियां क्षीण हो चुकी हैं। (५) स्नातक—जिनके समग्र घाती कर्म क्षय हो चुके हैं। ये दोनों उच्चकोटि के श्रमण हैं।[२]

वैदिक परम्परा में संन्यासियों के प्रकार

महाभारत में संन्यासियों के ४ प्रकार वर्णित हैं—१. कुटीचक, २. बहूदक, ३. हंस और ४. परमहंस।[३] (१) कुटीचक संन्यासी अपने गृह में ही संन्यास धारण करता है तथा अपने पुत्रों द्वारा निर्मित कुटिया में रहते हुए उन्हीं की भिक्षा को ग्रहण कर साधना करता है।[४] (२) बहूदक संन्यासी त्रिदण्ड, कमण्डलु एवं कषायवस्त्रों से युक्त होते हैं तथा सात ब्राह्मण घरों से भिक्षा मांगकर जीवन यापन करते हैं। (३) हंस संन्यासी ग्राम में एक रात्रि तथा नगर में ५ रात्रियों से अधिक नहीं बिताते हुए उपवास एवं चान्द्रायण व्रत करते रहते हैं। (४) परमहंस संन्यासी सदैव ही पेड़ के नीचे शून्यगृह या श्मशान में निवास करते हैं। सामान्यतया वे नग्न रहते हैं तथा सदैव ही आत्मभाव में रत रहते हैं।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए जैन परम्परा के जिनकल्पी मुनि को परमहंस या अवधूत श्रेणी का माना जा सकता है तथा संन्यासियों के अन्य प्रकार की तुलना स्थविरकल्पी मुनियों से की जा सकती है।

जैन श्रमण के मूलगुण

जैन-परम्परा में श्रमण-जीवन की कुछ आवश्यक योग्यताएँ मानी हैं जिन्हें मूलगुणों के नाम से जाना जाता है।[५] दिगम्बर परम्परा के मूलाचार सूत्र में श्रमण के २८

---

१. विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति, ७।
२. स्थानांग सूत्र, ५।३।४४५।
३. महाभारत अनुपर्व, १४१।८९।
४. तुलनीय–श्रमणभूत प्रतिमा।
५. मूलाचार, १।२–३; तत्त्वार्थ०, ९।४८।

मूलगुण माने गये हैं—१—५. पांच महाव्रत, ६—१०. पाँच इन्द्रियों का संयम, ११—१५. पांच समितियों का परिपालन, १६—२१. छह आवश्यक कृत्य, २२. केशलोच, २३. नग्नता, २४. अस्नान, २५. भूशयन, २६. अदन्तधावन, २७. खड़े रह कर भोजन ग्रहण करना और २८. एकभुक्ति—एक समय भोजन करना।

श्वेताम्बर परम्परा में श्रमण के २७ मूलगुण माने गये हैं।[1] श्वेताम्बर परम्परा का वर्गीकरण दिगम्बर परम्परा के वर्गीकरण से थोड़ा भिन्न है। श्वेताम्बर ग्रन्थों के आधार पर श्रमण के २७ मूल गुण इस प्रकार हैं—१—५. पांचमहाव्रत, ६. अरात्रि भोजन, ७—११. पांचों इन्द्रियों का संयम, १२. आन्तरिक पवित्रता, १३. भिक्षु-उपाधि की पवित्रता, १४. क्षमा, १५. अनासक्ति, १६. मन की सत्यता, १७. वचन की सत्यता, १८. काया की सत्यता, १९—२४. छह प्रकार के प्राणियों का संयम अर्थात् उनकी हिंसा न करना, २५. तीन गुप्ति, २६. सहनशीलता, २७. संलेखना। समवायांग की सूची इससे किंचित् भिन्न है। समवायांग के अनुसार २७ गुण इस प्रकार हैं[2]—१—५. पंच महाव्रत, ६—१०. पंच इन्द्रियों का संयम, ११—१५. चार कषायों का परित्याग, १६. भावसत्य, १७. करणसत्य, १८. योगसत्य, १९. क्षमा, २०. विरागता, २१—२४. मन, वचन और काया का निरोध २५. ज्ञान, दर्शन और चारित्र से संपन्नता, २६. कष्ट-सहिष्णुता और २७. मरणान्त कष्ट का सहन करना। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ दिगम्बर परम्परा में २८ मूल गुणों में आचरण के बाह्य तथ्यों पर अधिक बल दिया गया है, वहाँ श्वेताम्बर परम्परा में आन्तरिक विशुद्धि को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। मनोशुद्धि मूलतः दोनों परम्पराओं में स्वीकृत है।

पंच महाव्रत

पंच महाव्रत श्रमण जीवन के मूलभूत गुणों में माने गये हैं। जैन परम्परा में पंच महाव्रत ये हैं—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य और ५. अपरिग्रह। ये पांचों व्रत गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए विहित हैं। अन्तर यह है कि श्रमण जीवन में उनका पालन पूर्णरूप से करना होता है। इसलिए महाव्रत कहे जाते हैं। गृहस्थ जीवन में उनका पालन आंशिक रूप से होता है इसलिए गृहस्थ-जीवन के संदर्भ में अणुव्रत कहे जाते हैं। श्रमण इन पांचों महाव्रतों का पालन पूर्णरूप से करता है। सामान्य स्थिति में इनके परिपालन के लिए अपवाद नहीं माने गये हैं। श्रमण केवल विशेष परिस्थितियों में ही इन नियमों के परिपालन में अपवादमार्ग का आश्रय ले सकते हैं। सामान्यतया इन पंच महाव्रतों का पालन मन, वचन और काय तथा कृत, कारित और अनुमोदन इन ३ × ३ नव कोटियों सहित करना होता है।

---

१. देखिए—बोलसंग्रह, भाग ६, पृ० २२८। २. समवायांग, २७।१।

अहिंसा महाव्रत—श्रमण को सर्वप्रथम स्व और पर की हिंसा से विरत होना होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दूषित मनोवृत्तियों के द्वारा आत्मा के स्वगुणों का विनाश करना स्व-हिंसा है। दूसरे प्राणियों को पीड़ा एवं हानि पहुँचाना पर-हिंसा है। श्रमण का पहला कर्तव्य स्व-हिंसा से विरत होना है। क्योंकि स्व-हिंसा से विरत हुए बिना पर की हिंसा से बचा नहीं जा सकता। श्रमण-साधक को जगत् के सभी त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा से भी विरत होना होता है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि भिक्षु जगत् में जितने भी प्राणी हैं उनकी हिंसा जान कर अथवा अनजान में न करे, न करावे और न हिंसा करनेवाले का अनुमोदन ही करे।[1] भिक्षु प्राणवध क्यों न करे इसके प्रति उत्तर में कहा गया है कि हिंसा से, दूसरे के घात करने के विचार से, न केवल दूसरे को पीड़ा पहुँचती है बरन् उससे आत्मा-गुणों का भी घात होता है और आत्मा कर्म-मल से मलिन होती है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में हिंसा का एक नाम गुणविराधिका भी वर्णित है। अहिंसा महाव्रत के परिपालन में श्रमण-जीवन और गृहस्थ जीवन में प्रमुख रूप से अंतर यह है कि जहाँ गृहस्थ साधक केवल त्रस प्राणियों की संकल्पी हिंसा का त्याग करता है, वहाँ श्रमण-साधक त्रस और स्थावर सभी प्राणियों की सभी प्रकार की हिंसा का त्यागी होता है। हिंसा के चार प्रकार—१. आरम्भी, २. उद्योगी, ३. विरोधी और ४. संकल्पी, में से गृहस्थ केवल संकल्पी हिंसा का त्यागी होता है और श्रमण चारों ही प्रकार की हिंसा का त्यागी होता है। श्रमण-जीवन में अहिंसा महाव्रत का परिपालन किस प्रकार होना चाहिए इसकी संक्षिप्त रूपरेखा दशवैकालिकसूत्र में मिलती है। उसमें कहा गया है कि समाधिवंत संयमी साधु तीन करण एवं तीन योग से पृथ्वी आदि सचित्त मिट्टी के ढेले आदि न तोड़े, न उन्हें पीसे, सजीव पृथ्वी पर, एवं सचित्त धूलि से भरे हुए आसन पर नहीं बैठे; यदि उसे बैठना हो तो अचित्त भूमि पर आसन आदि को यतना से प्रमार्जित करके बैठे। संयमी साधु सचित्त जल, वर्षा, ओले, बर्फ और ओस के जल को भी नहीं पीवे, किन्तु जो तपा हुआ या सौवीर आदि अचित्त धोवन (पानी) को ही ग्रहण करे। किसी प्रकार की अग्नि को साधु उत्तेजित नहीं करे, छुए नहीं, सुलगावे नहीं तथा उसको बुझाये भी नहीं। इसी प्रकार साधु किसी प्रकार की हवा नहीं करे तथा गरम पानी, दूध या आहार आदि को फूंक से ठंढा भी न करे। साधु तृणों, वृक्षों तथा उनके फल, फूल, पत्ते आदि को तोड़े नहीं, काटे नहीं, लता-कुंजों में बैठे नहीं। इसी प्रकार साधु त्रस प्राणियों में भी किसी जीव की मन, वचन और काय से हिंसा न करे।[2] पूर्णरूपेण हिंसा से बचने के लिए साधु को यही निर्देश दिया गया है कि वह प्रत्येक कार्य का संपादन करते समय जागृत रहे ताकि किसी प्रकार की हिंसा सम्भव न हो।

---

१. दशवैकालिक, ६।१०। २. वही, ८।३-१३।

अहिंसा महाव्रत के सम्यक् पालन के लिए पाँच भावनाओं का विधान है—१. ईर्या समिति—चलते-फिरते अथवा बैठते उठते समय सावधानी रखना, २. वचन समिति—हिंसक अथवा किसी के मन को दुखाने वाले वचन नहीं बोलना, ३. मन समिति—मन में हिंसक विचारों को स्थान नहीं देना, ४. एषणा समिति—अदीन होकर ऐसा निर्दोष आहार प्राप्त करने का प्रयास करना जिसमें श्रमण के लिए कोई हिंसा न की गयी हो, ५. निक्षेपणा समिति—साधु जीवन के पात्रादि उपकरणों को सावधानीपूर्वक प्रमार्जन करके उपयोग में लेना अथवा उन्हें रखना और उठाना।[1]

अहिंसा महाव्रत के अपवाद—सामान्यतया अहिंसा महाव्रत के सन्दर्भ में मूल आगमों में अधिक अपवादों का कथन नहीं है। मूल आगमों में अहिंसाव्रत सम्बन्धी जो अपवाद हैं उनमें त्रस जीवों की हिंसा के संदर्भ में कोई अपवाद नहीं है, केवल वनस्पति एवं जल आदि को परिस्थितिवश छूने अथवा आवागमन की स्थिति में उनकी होनेवाली हिंसा के अपवादों का उल्लेख है। यद्यपि निशीथचूर्णि आदि परवर्ती ग्रन्थों में मुनिसंघ या साध्वी संघ के रक्षणार्थ सिंह आदि हिंसक प्राणियों एवं दुराचारी मनुष्यों की हिंसा करने सम्बन्धी अपवादों का भी उल्लेख है।[2] वस्तुतः परवर्ती साहित्य में जिन अधिक अपवादों का उल्लेख है, उनके पीछे संघ (समुदाय) की रक्षा का प्रश्न जुड़ा हुआ है। इसी आधार पर धर्म प्रभावना के निमित्त होने वाली जल, वनस्पति एवं पृथ्वी सम्बन्धी हिंसा को भी स्वीकृति प्रदान कर दी गयी।

सत्य-महाव्रत—असत्य का सम्पूर्ण त्याग श्रमण का दूसरा महाव्रत है। श्रमण मन, वचन एवं काय तथा कृत-कारित-अनुमोदन की नव कोटियों सहित असत्य से विरत होने की प्रतिज्ञा करता है। श्रमण को मन, वचन और काय तीनों से सत्य पर आरूढ़ होना चाहिए। मन, वचन और काय में एकरूपता का अभाव ही मृषावाद है।[3] इसके विपरीत मन, वचन और काय की एकरूपता ही सत्य महाव्रत का पालन है। सत्य महाव्रत के संदर्भ में वचन की सत्यता पर भी अधिक बल दिया गया है। साधारणरूप में सत्य महाव्रत से असत्य भाषण का वर्जन समझा जाता है। जैन आगमों में असत्य के चार प्रकार कहे गये हैं १. होते हुए नहीं कहना, २. नहीं होते हुए उसका अस्तित्व बताना, ३. वस्तु कुछ है और उसे कुछ और बताना, ४. हिंसाकारी, पापकारी और अप्रिय वचन बोलना। उपर्युक्त चारों प्रकार का असत्य भाषण श्रमण के लिए वर्जित है।

श्रमण साधक को कैसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए, इसका विस्तृत विवेचन दशवैकालिक सूत्र के सुवाक्यशुद्धि नामक अध्ययन में है। जैन आगमों के अनुसार भाषा चार प्रकार की होती है—१. सत्य, २. असत्य, ३. मिश्र और ४. व्याव-

---

१. आचारांग सूत्र, २।१५।१७९। २. देखिए, निशीथचूर्णि, २८९।
३. वही, ३९८८।

हारिक ।[1] इनमें असत्य और मिश्र भाषा का व्यवहार श्रमण के लिए वर्जित है । इतना ही नहीं, सत्य और व्यावहारिक भाषा भी यदि पाप और हिंसा की संभावना से युक्त है तो उसका व्यवहार भी श्रमण के लिए वर्जित है । श्रमण केवल अहिंसक एवं निर्दोष सत्य तथा व्यावहारिक भाषा बोल सकता है । दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि प्रज्ञावान् भिक्षु अवक्तव्य (न बोलनेयोग्य) सत्य भाषा भी न बोले । इसी प्रकार वह भाषा जो थोड़ी सत्य और थोड़ी असत्य (नरो वा कुंजरो वा) है ऐसी मिश्र भाषा का व्यवहार भी वाक्संयमी साधु न करे । बुद्धिमान् भिक्षु केवल असत्य-अमृषा (व्यावहारिक) भाषा तथा सत्य भाषा को भी पापरहित, अकर्कश तथा संदेहरहित होने पर ही विचारपूर्वक बोले। इसी प्रकार साधु निश्चयकारी वचन भी बोले, क्योंकि अघटित भविष्य के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता । जो कथन भूत और वर्तमान के संदर्भ में संदेहरहित हो उसी के विषय में निश्चयात्मक भाषा बोले । जिन शब्दों से दूसरे प्राणियों के हृदय में ठेस पहुँचे ऐसे हिंसक एवं कठोर शब्दों को चाहे वे सत्य ही क्यों न हों भिक्षु न बोले। इसी प्रकार भिक्षु पारिवारिक सम्बन्धों के सूचक शब्द जैसे—हे माता, हे पुत्र आदि तथा अपमानजनक शब्द जैसे—हे मूर्ख आदि का भी प्रयोग न करे । जिस भाषा से हिंसा की संभावना हो ऐसी भाषा का प्रयोग भी न करे । काम, क्रोध, लोभ, भय एवं हास्य के वशीभूत होकर पापकारी, निश्चयकारी, दूसरों के मन को दुःखानेवाली भाषा, चाहे वह मनोविनोद में ही क्यों न कही गयी हो, का बोलना भिक्षु के लिए सर्वथा वर्जित है ।[2] श्रमण को स्वार्थ अथवा परार्थ, क्रोध अथवा भय के वशीभूत होकर असत्य न तो स्वयं बोलना चाहिए और न किसी को असत्य बोलने के लिए प्रेरित ही करना चाहिए । क्योंकि असत्य वचन अविश्वास का कारण है ।[3] इस प्रकार जैन-परम्परा में असत्य और अप्रिय-सत्य दोनों का निषेध है । इस सम्पूर्ण विवेचन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जैन आचार्यो की दृष्टि में भाषा सम्बन्धी सत्य का स्थान अहिंसा के बाद है, उन्होंने सत्य को अहिंसक बनाने का प्रयास किया है । सत्य अहिंसक बना रहे, इसलिए संभाषण के क्षेत्र में विशेष सतर्कता रखने का निर्देश है । निश्चयकारी भाषा का निषेध मात्र इसीलिए किया गया है कि वह अहिंसा और अनेकान्त की कसौटी पर खरी नहीं उतरती ।

लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि जैन आचार्यों की दृष्टि में सत्य का मूल्य अधिक नहीं है अथवा उन्होंने सत्य की अवहेलना की है । जैन आचार्यों ने सत्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है, उनकी दृष्टि में सत्य तो भगवान् है (तं सच्चं भगवं) वही समग्र लोक में सारभूत है ।[4] महावीर स्पष्ट रूप से कहते हैं कि सत्य में मन की स्थिरता

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ९१ । २. दशवैकालिकसूत्र, ७।१–४, ६–११, १४, १५ ।
३. वही, ६।१२, १३ । ४. प्रश्नव्याकरणसूत्र, २।२ ।

करो; जो सत्य का वरण करता है वह बुद्धिमान् समस्त पापकर्मों का क्षय कर देता है। सत्य की आज्ञा में विचरण करने वाला साधक इस संसार से पार हो जाता है।[1]

सत्य-महाव्रत के पालन के लिए पाँच भावनाओं का विधान है—१. विचारपूर्वक बोलना चाहिए, बिना विचारे बोलने से असत्य बोलना सम्भव है; २. क्रोध का त्याग करके बोलना चाहिए क्योंकि क्रोध की अवस्था में विवेक कुंठित हो जाता है और इसलिए असत्य बोलने की सम्भावनाएँ बनी रहती हैं; ३. लोभ का त्याग करके बोलना चाहिए क्योंकि लोभ के वशीभूत होकर असत्य बोलना सम्भव है; ४. भय का त्याग करके बोलना चाहिए क्योंकि भय के कारण असत्य बोलना सम्भव है; ५. हास्य का त्याग करके बोलना चाहिए क्योंकि हास्य के प्रसंग में भी असत्य भाषण की संभावनाएँ रहती हैं। जो श्रमण उपर्युक्त पाँचों भावनाओं का ध्यान रखते हुए बोलता है, तब ही यह कहा जा सकता है कि उसने सत्य-महाव्रत स्वीकार किया है, क्रियान्वित किया है और जिनों की आज्ञा के अनुसार उसका पालन किया है।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-विचारकों ने भाषा-सम्बन्धी विवेक के लिए काफी गहराई से विचार किया है।

सत्य-महाव्रत के अपवाद—सत्य-महाव्रत के सन्दर्भ में मूल आगमों के जिन अपवादों का उल्लेख मिलता है, उनमें प्रमुखतया सत्य को अहिंसक बनाये रखने का दृष्टिकोण ही परिलक्षित होता है। मूल आगमों के अनुसार जिन परिस्थितियों में सत्य और अहिंसा में विरोध खड़ा हो और उनमें किसी एक का पालन ही सम्भव हो, ऐसी स्थिति में अहिंसा के व्रत की रक्षा के लिए सत्य के सन्दर्भ में अपवाद को स्वीकार किया गया है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि यदि भिक्षु मार्ग में जा रहा हो और सामने से कोई शिकारी व्यक्ति आकर उससे पूछे कि—श्रमण क्या तुमने किसी मनुष्य अथवा पशु आदि को इधर आते देखा है? इस प्रसंग में प्रथम तो भिक्षु उसके प्रश्न की उपेक्षा करके मौन रहे। यदि मौन रहने जैसी स्थिति न हो अथवा मौन रहने का अर्थ स्वीकृति लगाये जाने की सम्भावना हो तो जानता हुआ भी यह कह दे कि मैं नहीं जानता।[3] यहाँ पर स्पष्ट रूप से अपवाद मार्ग का उल्लेख है। निशीथचूर्णि में भी इसी दृष्टिकोण का समर्थन है।[4] बृहद्कल्पभाष्य में गीतार्थ के द्वारा नवदीक्षित भिक्षुओं को संयम में स्थिर रखने के लिए भी सत्य महाव्रत में कुछ अपवादों को स्वीकार किया गया है, यद्यपि उस प्रसंग में गीतार्थ द्वारा आचरण सम्बन्धी शिथिलता को दबाने का ही प्रयास परिलक्षित होता है।[5] वस्तुतः जैन-परम्परा का बुनियादी दृष्टिकोण यह नहीं हो सकता कि व्यक्ति अपनी कमजोरियों

---

१. आचारांगसूत्र, १।३।२, १।३।३। २. वही, २।१५।१७९।
३. आचारांग सूत्र, २।१।३।३।१२९, देखिए आचारांगटीका, २।१।३।३।१२९।
४. निशीथचूर्णि, ३२२। ५. बृहद्कल्पभाष्य, २८८२।

को दबाने के लिए असत्य का आश्रय ले। आचारांगसूत्र के उक्त संदर्भ में भी हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि ग्रन्थकार का मूलभूत दृष्टिकोण अहिंसा-महाव्रत की रक्षा है। उसमें भी प्रथमतः साधक को अपने आत्मबल को जाग्रत रखते हुए मौन रहने का ही निर्देश है। महावीर के जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जहाँ उन्होंने सम्भावित आपत्ति को सहन किया, लेकिन असत्य भाषण नहीं करते हुए मौन रहकर ही अहिंसा महाव्रत की मर्यादा का पालन किया। वस्तुतः आगमिक दृष्टिकोण यह है कि यथासंभव सत्य और अहिंसा दोनों का ही पूर्णतया पालन किया जाय, लेकिन यदि साधक में इतना आत्मबल नहीं है कि वह मौन रहकर दोनों का ही पालन कर सके, तो ऐसी स्थिति में उसके लिए अपवाद मार्ग का उल्लेख है। आचार्य शीलांक ने आचारांग के उक्त संदर्भ के समान ही अपनी सूत्रकृतांगवृत्ति में सत्य के अपवाद के सन्दर्भ में स्पष्टरूप से कहा है कि जो प्रवंचना की बुद्धि से रहित मात्र संयम की रक्षा के लिए एवं कल्याण भावना से बोला जाता है वह असत्य दोषरूप नहीं है।

अस्तेय महाव्रत—श्रमण का यह तीसरा महाव्रत है। सामान्यतया भिक्षु को बिना स्वामी की आज्ञा के एक तिनका भी ग्रहण नहीं करना चाहिए।[1] भिक्षु अपनी जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं को तब ही ग्रहण कर सकता है, जब कि वे उनके स्वामी के द्वारा उसे दी गयी हों। अदत्त वस्तु का न लेना ही श्रमण का अस्तेय महाव्रत है। अस्तेय महाव्रत का पालन भी श्रमण को मन, वचन और काय तथा कृत-कारित और अनुमोदन की नव-कोटियों सहित करना चाहिए। श्रमण के लिए सामान्य नियम यही है कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति भिक्षा के द्वारा ही करे। न केवल नगर अथवा गाँव में, वरन् जंगल में भी यदि उसे किसी वस्तु की आवश्यकता हो तो बिना दिये स्वयं ही ग्रहण न करे।[2] भोजन, वस्त्र, निवास, शय्या एवं औषध आदि सभी उनके स्वामी की अनुमति तथा उसके द्वारा प्रदत्त किये जाने पर ही ग्रहण करना चाहिए।

जैन दृष्टिकोण के अनुसार अस्तेय महाव्रत का पालन करना इसलिए आवश्यक है कि चौर्यकर्म भी एक प्रकार की हिंसा है। आचार्य अमृतचन्द्र का कथन है कि अर्थ या सम्पत्ति प्राणियों का बाह्य प्राण है, क्योंकि इस पर उनका जीवन आधारित रहता है, इसलिए किसी की वस्तु का हरण उसके प्राणों के हनन के समान है।[3] प्रश्नव्याकरण-सूत्र में भी कहा गया है कि यह अदत्तादान (चोरी) संताप, मरण एवं भयरूपी पातकों का जनक है, दूसरे के धन के प्रति लोभ उत्पन्न करता है।[4] यह अपयश का कारण और

---

१. दशवैकालिक, ६।१४।
२. मूलाचार, ५।२९०।
३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १०३।
४. प्रश्नव्याकरणसूत्र, ३।

अनार्य कर्म है। साधुजन इसकी सदैव निन्दा करते हैं। इसीलिए दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि श्रमण छोटी अथवा बड़ी, सचित्त अथवा अचित्त कोई भी वस्तु चाहे वह दाँत साफ करने का तिनका ही क्यों न हो, बिना दिये न ले। न स्वयं उसे ग्रहण करे, न अन्य के द्वारा ही उसे ले और न लेनेवाले का अनुमोदन ही करे[1]।

अस्तेय महाव्रत के सम्यक् परिपालन के लिए आचारांगसूत्र में पाँच भावनाओं का विधान है—१. श्रमण विचारपूर्वक परिमित परिमाण में ही वस्तुओं की याचना करे, २. याचित आहारादि वस्तुओं का उपभोग आचार्य की आज्ञा से ही करे, आचार्य को बिना बताये किसी वस्तु का उपभोग न करे, ३. श्रमण अपने लिए निश्चित परिमाण में ही वस्तुओं की याचना करे, ४. श्रमण को जब भी कोई आवश्यकता हो उस वस्तु की मात्रा का परिमाण निश्चित करके ही याचना करे, ५. अपने सहयोगी श्रमणों के लिए भी विचारपूर्वक परिमित परिमाण में ही वस्तुओं की याचना करे।[2] कुछ आचार्यों ने अस्तेय-महाव्रत के पालन के लिए इन पांच बातों को भी आवश्यक माना है—१. हमेशा निर्दोष स्थान पर ही ठहरना चाहिए, २. स्वामी की आज्ञा से ही आहार अथवा ठहरने का स्थान ग्रहण करना चाहिए, ३. ठहरने के लिए जितना स्थान गृहस्थ ने दिया है उससे अधिक का उपयोग नहीं करना चाहिए, ४. गुरु की आज्ञा के पश्चात् ही आहार आदि का उपभोग करना चाहिए, ५. यदि किसी स्थान पर पूर्व में कोई श्रमण ठहरा हो तो उसकी आज्ञा को प्राप्त करके ही ठहरना चाहिए।[3]

अस्तेय महाव्रत के अपवाद—अस्तेय महाव्रत के सन्दर्भ में जिन अपवादों का उल्लेख है उनका सम्बन्ध आवास से है। व्यवहारसूत्र में कहा गया है कि यदि भिक्षु-संघ लम्बा विहार कर किसी अज्ञात ग्राम में पहुँचता है और उसे ठहरने के लिए स्थान नहीं मिल रहा हो तथा बाहर वृक्षों के नीचे ठहरने से भयंकर शीत की वेदना अथवा जंगली पशुओं के उपद्रव की सम्भावना हो तो ऐसी स्थिति में वह बिना आज्ञा प्राप्त किये भी योग्य स्थान पर ठहर जाये और उसके बाद आज्ञा प्राप्त करने का प्रयास करे।[4]

ब्रह्मचर्य-महाव्रत—यह श्रमण का चतुर्थ महाव्रत है। जैन आगमों में अहिंसा के बाद ब्रह्मचर्य का ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। कहा गया है कि जो इस दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है उसे देव, दानव और यक्ष आदि सभी नमस्कार करते हैं[5]। प्रश्न-व्याकरणसूत्र में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व तथा विनय का मूल है। यम और नियमरूप प्रधान गुणों से युक्त है। ब्रह्मचर्य का पालन करने से मनुष्य का अन्तःकरण प्रशस्त, गम्भीर और स्थिर हो जाता है।

१. दशवैकालिक, ६।१४-१५।
२. आचारांगसूत्र, २।१५।१७९।
३. देखिए—प्रश्नव्याकरण, ८।
४. व्यवहारसूत्र, ८।११।
५. उत्तराध्ययन, १६।१६।

ब्रह्मचर्य साधुजनों द्वारा आचरित मोक्ष का मार्ग है। "पाँचों महाव्रतों में अत्यन्त (निरपवाद) पालन किया जाने वाला है।" ब्रह्मचर्य भंग होने पर सभी व्रत तत्काल भंग हो जाते हैं। सभी व्रत-नियम, शील, तप, गुण आदि दही के समान मथित हो जाते हैं, चूर-चूर हो जाते हैं, खंडित हो जाते हैं, उनका विनाश हो जाता है।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन में श्रमण के लिए ब्रह्मचर्य महाव्रत को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। अब्रह्मचर्य आसक्ति और मोह का कारण होने से आत्मा के पतन का महत्त्वपूर्ण कारण है, अतः आत्मविकास के लिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। जैन श्रमण के लिए समस्त प्रकार का मैथुन त्रिकरण और त्रियोग से वर्जित है। ब्रह्मचर्य की साधना में जितनी आंतरिक सावधानी रखना आवश्यक है, उससे कहीं अधिक सावधानी बाह्य जीवन एवं संयोगों के लिए भी आवश्यक है। क्योंकि उच्चकोटि का श्रमण भी निमित्त के मिलने पर बीजरूप में रही हुई वासना के द्वारा कब पतन के मार्ग पर चला जायगा, यह कहना कठिन है। अतः ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए साधक को अपने बाह्य जीवन में उपस्थित होने वाले अवसरों के प्रति भी सदैव जाग्रत रहना आवश्यक है। उत्तराध्ययनसूत्र में ब्रह्मचर्य की रक्षा के निमित्त निम्न बातों से बचने का निर्देश किया गया है— १. स्त्री, पशु और नपुंसक जिस स्थान पर रहते हों भिक्षु वहाँ न ठहरे, २. भिक्षु श्रृंगार-रसोत्पादक स्त्री-कथा न करे, ३. भिक्षु स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे (उनका स्पर्श भी न करे), ४. स्त्रियों के अंगोपांग विषय-बुद्धि से न देखे, ५. आसपास से आते हुए स्त्रियों के कुंजन, गायन, हास्य, क्रन्दित शब्द, रुदन और विरह से उत्पन्न विलाप को न सुने, ६. गृहस्थावस्था में भोगे हुए भोगों (रति-क्रीड़ाओं) का स्मरण न करे, ७. पुष्टिकारक (गरिष्ठ) भोजन न करे, ८. मर्यादा से अधिक भोजन न करे, ९. शरीर का श्रृंगार न करे, १०. इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति न रखे।[2]

मूलाचार में अब्रह्मचर्य के दस कारणों का उल्लेख है—१. विपुलाहार, २. शरीर-श्रृंगार, ३. गन्ध-माल्य धारण, ४. गाना-बजाना, ५. उच्च शय्या, ६. स्त्री-संसर्ग; ७. इन्द्रियों के विषयों का सेवन, ८. पूर्वरति स्मरण, ९. काम भोग की सामग्री का संग्रह और १०. स्त्री सेवा।[3] तत्त्वार्थसूत्र में इनमें से पांच का ही उल्लेख है।[4] वस्तुतः उपर्युक्त प्रसंगों का उल्लेख ब्रह्मचर्य की रक्षा के निमित्त ही किया गया है। सामान्य नियम तो यह है कि भिक्षु को जहाँ भी अपने ब्रह्मचर्य महाव्रत के खंडन की संभावना प्रतीत हो, उन सभी स्थानों का उसे परित्याग कर देना चाहिए।[5] जैन आचार-दर्शन

---

१. प्रश्नव्याकरणसूत्र ९।
२. उत्तराध्ययन, १६।१-१०।
३. मूलाचार, १०।१०५-१०६।
४. तत्त्वार्थ सूत्र, ७।७
५. उत्तराध्ययन; १६।१४।

में श्रमण एवं श्रमणी के पारस्परिक व्यवहार के नियमों का प्रतिपादन करने में भी प्रमुख रूप से यही दृष्टिकोण रहा है कि साधक का ब्रह्मचर्यव्रत अक्षुण्ण रह सके। श्रमण और श्रमणी के पारस्परिक व्यवहार के संदर्भ में ये नियम उल्लेखनीय हैं—१ उपाश्रय अथवा मार्ग में अकेला मुनि किसी श्रमणी अथवा स्त्री के साथ न बैठे, न खड़ा रहे और न उनसे कोई बात-चीत ही करे, २. अकेला श्रमण दिन में भी किसी अकेली साध्वी या स्त्री को अपने आवासस्थान पर न आने दे, ३. यदि श्रमण समुदाय के पास ज्ञानप्राप्ति के निमित्त से कोई साध्वी या स्त्री आयी हो तो किसी प्रौढ़ गृहस्थ उपासक एवं उपासिका की उपस्थिति में ही उसे ज्ञानार्जन करावे, ४. प्रवचन-काल के अतिरिक्त श्रमण अपने आवासस्थान पर साध्वियों एवं स्त्रियों को ठहरने न दे; ५. श्रमण एक दिन की बालिका का भी स्पर्श न करे (साध्वियों के संदर्भ में यह निषेध बालक अथवा पुरुष के लिए समझना चाहिए), ६. जहाँ गुरु अथवा वरिष्ठ मुनि शयन करते हों, उसी स्थान पर शयन करे, एकान्त में नहीं सोवे।

इस प्रकार जैन आचार-विधि में जहाँ ब्रह्मचर्य-पालन को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है, वहाँ उसकी रक्षा के लिए भी कठोरतम नियमों एवं मर्यादाओं का विधान है। आचारांगसूत्र में ब्रह्मचर्य-महाव्रत की पांच भावनाएँ कही गयी हैं—१. निर्ग्रन्थ स्त्री-सम्बन्धी बातें न करे, क्योंकि ऐसा करने से उसके चित्त की शांति भंग होकर धर्म से भ्रष्ट होना संभव है, २. स्त्रियों के अंगोपांग को विषय-बुद्धि से न देखे, ३. पूर्व में की हुई कामक्रीड़ा का स्मरण न करे, ४. मात्रा से अधिक एवं कामोद्दीपक आहार न करे, ५. स्त्री, मादा पशु एवं नपुंसक के आसन एवं शय्या का उपयोग न करे। जो श्रमण उपर्युक्त सावधानियों को रखते हुए ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन करता है, उसके सम्बन्ध में ही यह कहा जा सकता है कि वह संसार के सभी दुःखों से छूटकर वीतराग अवस्था को प्राप्त कर लेता है।[1]

ब्रह्मचर्यव्रत के अपवाद—सामान्यतया ब्रह्मचर्यव्रत में कोई भी अपवाद स्वीकार नहीं किया गया है। ब्रह्मचर्य महाव्रत का निरपवादरूप से पालन करना ही अपेक्षित है। मूल आगमों में ब्रह्मचर्य के खंडन के लिए किसी भी अपवाद-नियम का उल्लेख उपलब्ध नहीं है। ब्रह्मचर्य महाव्रत के सन्दर्भ में जिन अपवादों का उल्लेख मूल आगमों में पाया जाता है उनका सम्बन्ध मात्र ब्रह्मचर्यव्रत की रक्षा के नियमों से है। सामान्यरूप से श्रमण के लिए स्त्रीस्पर्श वर्जित है, लेकिन अपवादरूप में वह नदी में डूबती हुई अथवा क्षिप्त-चित्त भिक्षुणी को पकड़ सकता है।[2] इसी प्रकार रात्रि में सर्पदंश की स्थिति हो और अन्य कोई उपचार का मार्ग न हो तो श्रमण स्त्री से और साध्वी पुरुष से अवमार्जन

---

१. आचारांग सूत्र, २।१५।१७९। २. बृहद्कल्पसूत्र, ६।७-१२।

आदि स्पर्श सम्बन्धी चिकित्सा कराये तो वह कल्प्य है ।[1] साथ ही साधु या साध्वी के पैर में काँटा लग जाये और अन्य किसी भी तरह निकालने की स्थिति न हो, तो वे परस्पर एक दूसरे से निकलवा सकते हैं ।[2]

अपरिग्रह महाव्रत—यह श्रमण का पाँचवाँ महाव्रत है । श्रमण को समस्त बाह्य (स्त्री, संपत्ति, पशु आदि) तथा आभ्यन्तर (क्रोध, मान आदि) परिग्रह का त्याग करना होता है । दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि श्रमण को सभी प्रकार के परिग्रह का चाहे वह अल्प हो या अधिक हो, चाहे वह जीवनयुक्त (शिष्य आदि पर ममत्व रखना अथवा माता-पिता की आज्ञा के बिना किसी को शिष्य बनाकर अपने पास रखना जीवनयुक्त परिग्रह है) हो अथवा निर्जीव वस्तुओं का हो, त्याग कर देना होता है ।[3] श्रमण मन, वचन और काय तीनों से ही न परिग्रह रखे, न रखवावे और न परिग्रह रखने का अनुमोदन करे । परिग्रह या संचय करने की वृत्ति आन्तरिक लोभ की ही द्योतक है । इसलिए जो श्रमण किसी भी प्रकार का संग्रह करता है वह श्रमण न होकर गृहस्थ ही है ।[4]

जैन आगमों के अनुसार परिग्रह का वास्तविक अर्थ बाह्य वस्तुओं का संग्रह नहीं, वरन् आन्तरिक मूर्छाभाव या आसक्ति ही है ।[5] तत्त्वार्थसूत्र में भी मूर्छा या आसक्ति को ही परिग्रह कहा गया है ।[6] यद्यपि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराएँ परिग्रह की दृष्टि से आसक्ति को ही प्रमुख तत्त्व स्वीकार करती हैं, तथापि श्रमण-जीवन में बाह्य वस्तुओं की दृष्टि से भी परिग्रह के सम्बन्ध में विचार किया गया है । दिगम्बर परम्परा श्रमण के बाह्य परिग्रह को भी अत्यन्त सीमित करने का प्रयास करती है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा श्रमण के बाह्य परिग्रह की दृष्टि से अधिक लोचपूर्ण दृष्टि-कोण रखती है । यही कारण है कि श्वेताम्बर परम्परा में श्रमण के बाह्य परिग्रह के सन्दर्भ में परवर्तीकाल में काफी परिवर्द्धन एवं विकास देखा जाता है ।

जैन आगमों में परिग्रह दो प्रकार का माना गया है—१. बाह्य परिग्रह और २. आभ्यन्तरिक परिग्रह । बाह्य परिग्रह में इन वस्तुओं का समावेश होता है—१. क्षेत्र (खुली भूमि), २. वास्तु (भवन), ३. हिरण्य (रजत), ४. स्वर्ण, ५. धन (सम्पत्ति) ६. धान्य, ७. द्विपद (दास-दासी), ८. चतुष्पद (पशु आदि), और ९. कुप्य (घर, गृहस्थी का सामान) ।[7] जैन श्रमण उक्त सब परिग्रहों का परित्याग करता है । इतना

---

१. व्यवहारसूत्र, ५।२१ ।
२. बृहद्कल्पसूत्र, ६।३ ।
३. दशवैकालिक, ४।५ ।
४. दशवैकाकिक, ६।१९ ।
५. दशवैकालिक, ६।२१, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १११ ।
६. तत्त्वार्थसूत्र, ७।१६ ।
७. श्रमणसूत्र, पृ० ५० ।

ही नहीं, उसे चौदह प्रकार के आभ्यन्तरिक परिग्रह का भी त्याग करना होता है, जैसे—१. मिथ्यात्व, २. हास्य, ३. रति, ४. अरति, ५. भय, ६. शोक, ७. जुगुप्सा, ८. स्त्रीवेद, ९. पुरुषवेद, १०. नपुंसकवेद, ११. क्रोध, १२. मान, १३. माया और १४. लोभ।[1]

यद्यपि श्रमण के लिए सभी प्रकार का आभ्यन्तर एवं बाह्य परिग्रह त्याज्य है तथापि भिक्षु जीवन की आवश्यकताओं की दृष्टि से श्रमण को कुछ वस्तुएँ रखने की अनुमति है। बाह्य परिग्रह की दृष्टि से श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में किंचित मतभेद है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार श्रमण की आवश्यक वस्तुओं (उपधि) को ३ भागों में बाँटा जा सकता है। १. ज्ञानोपधि (शास्त्र-पुस्तक आदि), २. संयमोपधि (मोर के परों से बनी पिच्छि), ३. शौचोपधि (शरीर-शुद्धि के लिए जल ग्रहण करने का पात्र या कमण्डलु)[2]। दिगम्बर परम्परा के अनुसार मुनि को वस्त्र आदि अन्य सामग्री के रखने का निषेध है।

श्वेताम्बर परम्परा के मूल आगमों के अनुसार भिक्षु चार प्रकार की वस्तुएँ रख सकता है—१. वस्त्र, २. पात्र, ३. कम्बल और ४ रजोहरण।[3] आचारांगसूत्र के अनुसार स्वस्थ मुनि एक वस्त्र रख सकता है, साध्वियों को चार वस्त्र रखने का विधान है। इसी प्रकार मुनि एक से अधिक पात्र नहीं रख सकता।[4] आचारांग में मुनि के वस्त्रों के नाप के सन्दर्भ में कोई स्पष्ट वर्णन नहीं है, यद्यपि साध्वी के लिए चार वस्त्रों में एक दो हाथ का, दो तीन हाथ के और एक चार हाथ का होना चाहिए। प्रश्नव्याकरणसूत्र में मुनि के लिए चौदह प्रकार के उपकरणों का विधान है—१. पात्र—जो कि लकड़ी, मिट्टी अथवा तुम्बी का हो सकता है, २. पात्रबन्ध—पात्रों को बाँधने का कपड़ा, ३. पात्र स्थापना—पात्र रखने का कपड़ा, ४. पात्र केसरिका—पात्र पोछने का कपड़ा, ५. पटल—पात्र ढँकने का कपड़ा, ६. रजस्त्राण, ७. गोच्छक, ८-१० प्रच्छादक ओढ़ने की चादर, मुनि विभिन्न नापों की ३ चादरें रख सकता है इसलिये ये तीन उपकरण माने गये हैं, ११. रजोहरण, १२. मुखवस्त्रिका, १३. मात्रक और १४. चोलपट्ट।[5] ये १४ वस्तुएँ रखना श्वेताम्बर मुनि के आवश्यक हैं, क्योंकि इनके अभाव

---

१. वृहद्कल्प, १।८३१ देखिए बोलसंग्रह, भाग ५, पृ० ३३।

२. मूलाचार, १।१४।

३. आचारांग, १।२।५।९०।

४. देखिए—आचारांग, २।५।१।१४१, २।६।१।१५२।

५. देखिए—बोल संग्रह, भाग ५, पृ० २८-२९, प्रश्नव्याकरण, १०

में वह संयम का पालन समुचितरूप से नहीं कर सकता। बृहद्कल्पभाष्य एवं परवर्ती ग्रन्थों में उपर्युक्त सामग्रियों के अतिरिक्त भी चिलमिलिका (पर्दा), दण्ड, छाता, पादप्रोंछन, सूचिका (सुई), आदि अनेक वस्तुओं के रखने की अनुमति है। विस्तार भय से उन सबकी चर्चा में जाना आवश्यक नहीं है। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि जब एक बार मुनि के आवश्यक उपकरणों में अहिंसा एवं संयम की रक्षा के लिए वृद्धि कर दी गई तो परवर्ती आचार्यगण न केवल संयम की रक्षा के लिए, वरन् अपनी सुख-सुविधाओं के लिए भी मुनि के उपकरणों में वृद्धि करते रहे हैं। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो कमजोरियों के दबाने तथा भोजन-वस्त्र की प्राप्ति के निमित्त भी उपकरण रखे जाने लगे। परतीर्थिक उपकरण, गुलिका, खोल आदि इसके उदाहरण हैं।[1]

वस्तुतः जैन श्रमण के लिए जिस रूप में आवश्यक सामग्री रखने का विधान है, उसमें सयम की रक्षा ही प्रमुख है। उसके उपकरण धर्मोपकरण कहे जाते हैं, अतः मुनि को वे ही वस्तुएँ अपने पास रखनी चाहिए जिनके द्वारा वह संयम-यात्रा का निर्वाह कर सके। इतना ही नहीं, उसे उन उपकरणों पर तो क्या अपने शरीर पर भी ममत्व नहीं रखना चाहिए।

अपरिग्रह महाव्रत के लिए जिन पाँच भावनाओं का विधान किया गया है वे पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति का निषेध करती हैं। मुनि को इन्द्रियों के विषयों में आसक्त और कषायों के वशीभूत नहीं होना चाहिए, यही उसकी सच्ची अपरिग्रह-वृत्ति है।

अपरिग्रह महाव्रत के अपवाद—सामान्यतया, दिगम्बर मुनि के पूर्वोक्त ३ तथा श्वे० मुनि के लिए पूर्व निर्दिष्ट १४ उपकरणों केरखने का ही विधान है। विशेष परिस्थितियों में वह उनसे अधिक उपकरण भी रख सकता है। उदाहरणार्थ भिक्षु सेवाभाव की दृष्टि से अतिरिक्त पात्र रख सकता है[1] अथवा विष-निवारण के लिए स्वर्ण घिसकर उसका पानी रोगी को देने के लिए वह स्वर्ण को ग्रहण भी कर सकता है।[2] इसी प्रकार अपवादीय स्थिति में वह छत्र, चर्म-छेदन आदि अतिरिक्त वस्तुएं रख सकता है[3] तथा वृद्धावस्था एवं बीमारी के कारण एक स्थान पर अधिक समय तक ठहर भी सकता है। वर्तमानकाल में जैन श्रमणों द्वारा रखे जाने वाली पुस्तक, लेखनी, कागज, मसि आदि वस्तुएं भी अपरिग्रह व्रत का अपवाद ही है। प्राचीन ग्रन्थों में पुस्तक रखना प्रायश्चित योग्य अपराध था।

---

१. बृहद्कल्पभाष्य, खण्ड ३, २८८३-९२, हिस्ट्री आफ जैन मोनाशिज्म, पृ० २६९-२७७।

२. व्यवहारसूत्र, ८।१५ ३. निशीथभाष्य, ३९४

रात्रि-भोजन परित्याग—रात्रि-भोजन परित्याग दिगम्बर परम्परा के अनुसार श्रमण का मूलगुण है। श्वेताम्बर परम्परा में रात्रि-भोजन परित्याग का उल्लेख छठे महाव्रत के रूप में भी हुआ है। दशवैकालिकसूत्र में इसे छठा महाव्रत कहा गया है।[1] मुनि सम्पूर्ण रूप से रात्रि-भोजन का परित्याग करता है। रात्रि-भोजन का निषेध अहिंसा के महाव्रत की रक्षा एवं संयम की रक्षा दोनों ही दृष्टि से आवश्यक माना गया है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि मुनि सूर्य के अस्त हो जाने पर सभी प्रकार के आहारादि की भोग की इच्छा मन से भी न करे। सभी महापुरुषों ने इसे नित्य-तप का साधन कहा है। यह एक समय भोजन की वृत्ति संयम के अनुकूल है। क्योंकि रात्रि में आहार करने से अनेक सूक्ष्म जीवों की हिंसा की सम्भावना रहती है। रात्रि में पृथ्वी पर ऐसे सूक्ष्म, त्रस एवं स्थावर जीव व्याप्त रहते हैं कि रात्रि-भोजन में उनकी हिंसा से बचा नहीं जा सकता है। यही कारण है कि निर्ग्रन्थ मुनियों के लिए रात्रि-भोजन का निषेध है।[2]

आचार्य अमृतचन्द्र ने रात्रि-भोजन के विषय में दो आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। प्रथम तो यह कि दिन की अपेक्षा रात्रि में भोजन के प्रति तीव्र आसक्ति रहती है और रात्रि-भोजन करने से ब्रह्मचर्य-महाव्रत का निर्विघ्न पालन संभव नहीं होता। दूसरे रात्रि-भोजन में भोजन के पकाने अथवा प्रकाश के लिए जो अग्नि या दीपक प्रज्वलित किया जाता है उसमें भी अनेक जन्तु आकर जल जाते हैं तथा भोजन में भी गिर जाते हैं, अतः रात्रि-भोजन हिंसा से मुक्त नहीं है।[3]

बौद्ध-परम्परा और पंच महाव्रत—

बौद्ध-परम्परा में निम्न दस भिक्षु शील माने गये हैं जो कि जैन परम्परा के पंच महाव्रतों के अत्यधिक निकट हैं। १. प्राणातिपात विरमण, २. अदत्तादान विरमण, ३. अब्रह्मचर्य या कामेसु-मिच्छाचार विरमण, ४. मूसावाद (मृषावाद) विरमण, ५. सुरा-मेरयमद्य (मादक द्रव्य) विरमण, ६. विकालभोजन विरमण, ७. नृत्यगीतवादित्र विरमण, ८. माल्य धारण, गन्ध विलेपन विरमण, ९. उच्च-शय्या, महाशय्या विरमण, १०. जात-रूप रजतग्रहण (स्वर्ण-रजतग्रहण) विरमण[4]। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो इनमें से ६ शील पंच महाव्रत और रात्रि-भोजन परित्याग के रूप में जैन-परम्परा में भी स्वीकृत हैं। शेष चार भिक्षु-शील भी जैन-परम्परा में स्वीकृत हैं यद्यपि महाव्रत के रूप में इनका उल्लेख नहीं है। जैन-परम्परा भी भिक्षु के लिए मद्यपान, माल्य धारण, गंध विलेपन, नृत्यगीतवादित्र एवं उच्चशय्या का वर्जन करती है।

---

१. दशवैकालिक, ६।२३-२४, ४।६। २. वही, ६।२३-२६।
३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १३२।
४. विनयपिटक महावग्ग, १।५६।

जैन-परम्परा के महाव्रतों और बौद्ध-परम्परा के भिक्षु-शीलों में न केवल बाह्य शाब्दिक समानता है, वरन् दोनों की मूलभूत भावना भी समान है। बौद्ध विचारकों ने भी जैन-परम्परा के समान इनके सम्बन्ध में गहराई से विवेचन किया है। तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यह उचित होगा कि हम थोड़ी गहराई से दोनों परम्पराओं की समरूपता को देखने का प्रयास करें।

१. **प्राणातिपात विरमण**—बौद्ध-परम्परा में भी भिक्षु के लिए हिंसा वर्जित है। इतना ही नहीं, वरन् बौद्ध-परम्परा में भिक्षु के लिए मन, वचन, काय और कृत, कारित तथा अनुमोदित हिंसा का निषेध है।[१] बौद्ध-परम्परा भी जैन परम्परा के समान भिक्षु के लिए वनस्पति तक की हिंसा का निषेध करती है। विनयपिटक में वनस्पति का तोड़ना और भूमि का खोदना भी भिक्षु के लिए वर्जित है, क्योंकि इसमें प्राणियों की हिंसा की संभावना है।[२] हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि बौद्ध-परम्परा में भी वनस्पति, पृथ्वी आदि को सूक्ष्म प्राणियों से युक्त माना गया है। यद्यपि वह जैन परम्परा के समान पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु में जीवन को स्वीकार नहीं करती है, तथापि पृथ्वी और पानी में जीव रहते हैं यह उसे स्वीकार है। अतः बौद्ध भिक्षु के लिए सचित्त जल का पीना आदि वर्जित नहीं है। मात्र नियम यह है कि उसे जल छानकर पीना चाहिए।

२. **अदत्तादान विरमण**—जैन और बौद्ध दोनों परम्पराएं यह स्वीकार करती हैं कि भिक्षु को कोई भी वस्तु उसके स्वामी से दिये बिना ग्रहण नहीं करना चाहिए। बौद्ध भिक्षु भी अपनी जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति भिक्षावृत्ति के द्वारा ही करता है। बौद्ध परम्परा ने न केवल उन बाह्य वस्तुओं के संदर्भ में ही अस्तेय व्रत को स्वीकार किया है जिनका कि कोई स्वामी हो, वरन् यह भी स्वीकार करती है कि न केवल नगर में वरन् जंगल में भी बिना दी हुई वस्तु नहीं लेनी चाहिए। विनयपिटक के अनुसार जो भिक्षु बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करता है, वह अपने श्रमण जीवन से च्युत हो जाता है।[३] संयुत्तनिकाय में कहा गया है कि यदि भिक्षु फूल को सूँघता है तो भी वह चोरी करता है।[४]

३. **अब्रह्मचर्य-विरमण**—दोनों परम्पराओं में श्रमण के लिए कामसेवन वर्जित है। बौद्ध-परम्परा भी जैन-परम्परा के समान इस नियम के संदर्भ में काफी सजग प्रतीत होती है। विनयपिटक के अनुसार भिक्षु के लिए स्त्री का स्पर्श भी वर्जित माना गया है।[५] बुद्ध ने भी इस संदर्भ में काफी सतर्कता बरतने का प्रयास किया है यही

---

१. सुत्तनिपात, ३७।२७।
२. विनयपिटक, महावग्ग १।७८।२।
३. विनयपिटक पातिमोक्ख पराजिकधम्म, २।
४. संयुत्तनिकाय, ९।१४।
५. विनयपिटक पातिमोक्ख संघादिसेसधम्म, २।

कारण है कि बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में प्रवेश देने में अनुत्सुकता प्रकट की। अपने अंतिम उपदेश में भी बुद्ध ने भिक्षुओं को स्त्री-संपर्क से बचने के लिए सावधान किया है। बुद्ध के परिनिर्वाण के पूर्व आनन्द ने प्रश्न किया था कि भगवन्, हम किस प्रकार स्त्रियों के साथ बर्ताव करें ? भगवान् ने कहा कि उन्हें मत देखो। आनन्द ने फिर प्रश्न किया कि यदि वे दिखाई दें तो हम उनके साथ कैसे व्यवहार करें ? बुद्ध ने पुनः कहा कि हे आनन्द, आलाप (बातचीत) न करना चाहिए। आनन्द ने पुनः पूछा कि उनके साथ यदि बातचीत का प्रसंग उपस्थित हो जाये तो क्या करें ? बुद्ध ने अंत में यही कहा कि ऐसी स्थिति में भिक्षु को अपनी स्मृति को सम्हाले रखना चाहिए।[१] बौद्ध दर्शन में भिक्षु और भिक्षुणियों के पारस्परिक सम्बन्धों के संदर्भ में जो नियम बनाये गये हैं, उनमें भी इस बात की काफी सावधानी रखी गई है कि भिक्षु और भिक्षुणियों का ब्रह्मचर्य स्खलित न होने पावे। विनयपिटक के अनुसार भिक्षु का एकान्त में भिक्षुणी के साथ बैठना अपराध माना गया है।[२]

४. **मृषावादविरमण**—जैन-परम्परा की भांति बौद्ध-परम्परा में भी भिक्षु के लिए असत्य-भाषण वर्जित है। भिक्षु न स्वयं असत्य बोले, न अन्य से असत्य बोलवावे न किसी को असत्य बोलने की अनुमति दे।[3] बौद्ध-परम्परा के अनुसार भिक्षु को सत्यवादी होना चाहिए। वह मिथ्याभाषण में न पड़े, न किसी की चुगली ही करे, न कपटपूर्ण वचन ही बोले।[४] बुद्ध का कथन है कि जो वचन सत्य हो पर अहितकर हो उसे वे नहीं बोलते हैं, परन्तु जो वचन सत्य हो, वह प्रिय या अप्रिय होते हुए भी हित-दृष्टि से बोलना हो तो उसे बुद्ध बोलते हैं।[५] दीघनिकाय के अनुसार भिक्षु को असत्य वचन नहीं बोलना चाहिए तथा हमेशा शुद्ध, उचित, अर्थपूर्ण, तर्कपूर्ण और मूल्यवान् वचन ही बोलना चाहिए। जानबूझकर असत्य बोलना अथवा अपमानजनक शब्दों का उपयोग करना भिक्षु के लिए प्रायश्चित्त योग्य दोष माना गया है।[६] इतना ही नहीं, बौद्ध भिक्षु को गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी कार्यों में अनुमति हो ऐसी भाषा भी नहीं बोलना चाहिए। गृहस्थोचित भाषा बोलना भी भिक्षु के लिए वर्जित है।[७] भिक्षु को सदैव ही कठोर वचन का परित्याग कर नम्र एवं मधुर वचन ही बोलना चाहिए। बुद्ध ने अनेक सन्दर्भों में भिक्षु कैसी भाषा बोले इसका निर्देश किया है, लेकिन विस्तारभय से यहाँ उसकी समग्र चर्चा में जाना संभव नहीं है।

---

१. दीघनिकाय, २।३।
२. विनयपिटक पातिमोक्ख पाचित्तियधम्म, ३०।
३. सुत्तनिपात, २६।२२।
४. वही, ५३।७, ९।
५. मज्झिमनिकायअभयराज सुत्त।
६. विनयपिटक पातिमोक्ख पाचित्तियधम्म, १-२।
७. संयुत्तनिकाय, ४२।१।

जैन-परम्परा के महाव्रतों और बौद्ध-परम्परा के भिक्षु-शीलों में न केवल बाह्य शाब्दिक समानता है, वरन् दोनों की मूलभूत भावना भी समान है। बौद्ध विचारकों ने भी जैन-परम्परा के समान इनके सम्बन्ध में गहराई से विवेचन किया है। तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से यह उचित होगा कि हम थोड़ी गहराई से दोनों परम्पराओं की समरूपता को देखने का प्रयास करें।

१. **प्राणातिपात विरमण**—बौद्ध-परम्परा में भी भिक्षु के लिए हिंसा वर्जित है। इतना ही नहीं, वरन् बौद्ध-परम्परा में भिक्षु के लिए मन, वचन, काय और कृत, कारित तथा अनुमोदित हिंसा का निषेध है।[१] बौद्ध-परम्परा भी जैन परम्परा के समान भिक्षु के लिए वनस्पति तक की हिंसा का निषेध करती है। विनयपिटक में वनस्पति का तोड़ना और भूमि का खोदना भी भिक्षु के लिए वर्जित है, क्योंकि इसमें प्राणियों की हिंसा की संभावना है।[२] हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि बौद्ध-परम्परा में भी वनस्पति, पृथ्वी आदि को सूक्ष्म प्राणियों से युक्त माना गया है। यद्यपि वह जैन परम्परा के समान पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु में जीवन को स्वीकार नहीं करती है, तथापि पृथ्वी और पानी में जीव रहते हैं यह उसे स्वीकार है। अतः बौद्ध भिक्षु के लिए सचित्त जल का पीना आदि वर्जित नहीं है। मात्र नियम यह है कि उसे जल छानकर पीना चाहिए।

२. **अदत्तादान विरमण**—जैन और बौद्ध दोनों परम्पराएं यह स्वीकार करती हैं कि भिक्षु को कोई भी वस्तु उसके स्वामी से दिये बिना ग्रहण नहीं करना चाहिए। बौद्ध भिक्षु भी अपनी जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति भिक्षावृत्ति के द्वारा ही करता है। बौद्ध परम्परा ने न केवल उन बाह्य वस्तुओं के संदर्भ में ही अस्तेय व्रत को स्वीकार किया है जिनका कि कोई स्वामी हो, वरन् यह भी स्वीकार करती है कि न केवल नगर में वरन् जंगल में भी बिना दी हुई वस्तु नहीं लेनी चाहिए। विनयपिटक के अनुसार जो भिक्षु बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करता है, वह अपने श्रमण जीवन से च्युत हो जाता है।[3] संयुत्तनिकाय में कहा गया है कि यदि भिक्षु फूल को सूँघता है तो भी वह चोरी करता है।[४]

३. **अब्रह्मचर्य-विरमण**—दोनों परम्पराओं में श्रमण के लिए कामसेवन वर्जित है। बौद्ध-परम्परा भी जैन-परम्परा के समान इस नियम के संदर्भ में काफी सजग प्रतीत होती है। विनयपिटक के अनुसार भिक्षु के लिए स्त्री का स्पर्श भी वर्जित माना गया है।[५] बुद्ध ने भी इस संदर्भ में काफी सतर्कता बरतने का प्रयास किया है यही

---

१. सुत्तनिपात, ३७।२७। २. विनयपिटक, महावग्ग १।७८।२।
३. विनयपिटक पातिमोक्ख पराजिकधम्म, २। ४. संयुत्तनिकाय, ९।१४।
५. विनयपिटक पातिमोक्ख संघादिसेसधम्म, २।

कारण है कि बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में प्रवेश देने में अनुत्सुकता प्रकट की। अपने अंतिम उपदेश में भी बुद्ध ने भिक्षुओं को स्त्री-संपर्क से बचने के लिए सावधान किया है। बुद्ध के परिनिर्वाण के पूर्व आनन्द ने प्रश्न किया था कि भगवन्, हम किस प्रकार स्त्रियों के साथ वर्ताव करें? भगवान् ने कहा कि उन्हें मत देखो। आनन्द ने फिर प्रश्न किया कि यदि वे दिखाई दें तो हम उनके साथ कैसे व्यवहार करें? बुद्ध ने पुनः कहा कि हे आनन्द, आलाप (बातचीत) न करना चाहिए। आनन्द ने पुनः पूछा कि उनके साथ यदि बातचीत का प्रसंग उपस्थित हो जाये तो क्या करें? बुद्ध ने अंत में यही कहा कि ऐसी स्थिति में भिक्षु को अपनी स्मृति को सम्हाले रखना चाहिए।[1] बौद्ध दर्शन में भिक्षु और भिक्षुणियों के पारस्परिक सम्बन्धों के संदर्भ में जो नियम बनाये गये हैं, उनमें भी इस बात की काफी सावधानी रखी गई है कि भिक्षु और भिक्षुणियों का ब्रह्मचर्य स्खलित न होने पावे। विनयपिटक के अनुसार भिक्षु का एकान्त में भिक्षुणी के साथ बैठना अपराध माना गया है।[2]

४. **मृषावादविरमण**—जैन–परम्परा की भांति बौद्ध-परम्परा में भी भिक्षु के लिए असत्य-भाषण वर्जित है। भिक्षु न स्वयं असत्य बोले, न अन्य से असत्य बोलवावे न किसी को असत्य बोलने की अनुमति दे।[3] बौद्ध-परम्परा के अनुसार भिक्षु को सत्यवादी होना चाहिए। वह मिथ्याभाषण में न पड़े, न किसी की चुगली ही करे, न कपटपूर्ण वचन ही बोले।[4] बुद्ध का कथन है कि जो वचन सत्य हो पर अहितकर हो उसे वे नहीं बोलते हैं, परन्तु जो वचन सत्य हो, वह प्रिय या अप्रिय होते हुए भी हित-दृष्टि से बोलना हो तो उसे बुद्ध बोलते हैं।[5] दीघनिकाय के अनुसार भिक्षु को असत्य वचन नहीं बोलना चाहिए तथा हमेशा शुद्ध, उचित, अर्थपूर्ण, तर्कपूर्ण और मूल्यवान् वचन ही बोलना चाहिए। जानबूझकर असत्य बोलना अथवा अपमानजनक शब्दों का उपयोग करना भिक्षु के लिए प्रायश्चित योग्य दोष माना गया है।[6] इतना ही नहीं, बौद्ध भिक्षु को गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी कार्यो में अनुमति हो ऐसी भाषा भी नहीं बोलना चाहिए। गृहस्थोचित भाषा बोलना भी भिक्षु के लिए वर्जित है।[7] भिक्षु को सदैव ही कठोर वचन का परित्याग कर नम्र एवं मधुर वचन ही बोलना चाहिए। बुद्ध ने अनेक सन्दर्भो में भिक्षु कैसी भाषा बोले इसका निर्देश किया है, लेकिन विस्तारभय से यहां उसकी समग्र चर्चा में जाना संभव नहीं है।

---

१. दीघनिकाय, २।३।
२. विनयपिटक पातिमोक्ख पाचितियधम्म, ३०।
३. सुत्तनिपात, २६।२२।
४. वही, ५३।७, ९।
५. मज्झिमनिकायअभयराज सुत्त।
६. विनयपिटक पातिमोक्ख पाचितियधम्म, १-२।
७. संयुत्तनिकाय, ४२।१।

५. **सुरामेरयमद्यविरमण**—बौद्ध भिक्षु तथा गृहस्थ दोनों के लिए ही सुरापान, मद्यपान एवं नशैली वस्तुओं का सेवन वर्जित है। जैन-परम्परा में भी गृहस्थ एवं मुनि दोनों के लिए मद्यपान वर्जित है। जैन परम्परा में मद्यपान से विरत होना साधक के लिए आवश्यक है, जबतक कोई भी व्यक्ति इससे विरत नहीं होता है वह धर्म मार्ग में प्रवेश पाने का अधिकारी नहीं है।

६. **विकालभोजनविरमण**—विकाल-भोजनविरमण बौद्ध भिक्षु एवं उपोसथव्रत लेने वाले गृहस्थ के लिए आवश्यक है। भिक्षुओं के लिए विकालभोजन एवं रात्रि-भोजन को त्याज्य बताया गया है। मज्झिमनिकाय में बुद्ध कहते हैं "हे भिक्षुओ, मैंने रात्रि-भोजन को छोड़ दिया है, उससे मेरे शरीर में व्याधि कम हो गई है, जाड्य कम हो गया है, शरीर में बल आया है; चित्त को शांति मिली है। हे भिक्षुओं, तुम भी ऐसा ही आचरण रखो। यदि तुम रात्रि में भोजन करना छोड़ दोगे तो तुम्हारे शरीर में व्याधि कम होगी, जाड्य कम होगा, शरीर में बल आयेगा और तुम्हारे चित्त को शांति मिलेगी[1]।" बौद्ध-परम्परा में दिन के १२ बजे के पश्चात् से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय के पूर्व तक का समय 'विकाल' माना जाता है। इस समय के बीच भोजन करना बौद्ध भिक्षु के लिए वर्जित है। सामान्यतया बौद्ध भिक्षु के लिए भी एक ही समय भोजन करने का विधान है।

७. **नृत्यगानवादित्रविरमण**—नृत्य गान एवं वाद्यवादन बौद्ध भिक्षु के लिए वर्जित हैं। अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध कहते हैं कि भिक्षुओ, यह जो गाना है, वह आर्य-विनय के अनुसार रोना ही है। भिक्षुओ, यह जो नाचना है, वह आर्य-विनय के अनुसार पागलपन ही है। भिक्षुओ, यह जो देर तक दांत निकालकर हँसना है, यह आर्यविनय के अनुसार बचपन ही है। इसलिए भिक्षुओ, यह जो गाना है, यह सेतु (का) घातमात्र ही है, यह जो नाचना है, यह सेतु (का) घातमात्र ही है। धर्मानन्दी सन्त पुरुषों का मुस्कराना ही पर्याप्त है।[2] जैन-परम्परा के अनुसार भी भिक्षु के लिए नृत्य गान आदि वर्जित है, यद्यपि जैन-परम्परा में इसके लिए किसी स्वतन्त्र व्रत की व्यवस्था नहीं है। उत्तराध्ययन में भी कहा है कि सभी गान विलापरूप हैं, सभी नृत्य विडंबनाएँ हैं, सभी आभूषण भाररूप हैं और सभी काम दुःखदायक हैं। अज्ञानियों के प्रिय किन्तु अन्त में दुःख देनेवाले कामगुणों में वह सुख नहीं है जो कामविरत शीलगुण में रत भिक्षु को होता है।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही परम्पराएं भिक्षु के लिए नृत्य-गान आदि को वर्जित मानती हैं।

---

१. मज्झिमनिकाय-कीटागिरि-सुत्त (७०)। २. अंगुत्तरनिकाय, ३।१०३।
३. उत्तराध्ययन, १३।१६–१७।

८. **माल्यगंधधारण विलेपनविरमण**—बौद्ध परम्परा में उपोसथ शील धारण करने वाले गृहस्थ एवं भिक्षु दोनों के लिए ही माला आदि का धारण करना, सुगन्धित पदार्थों का विलेपन करना, शरीर-श्रृंगार और आभूषण धारण करना वर्जित है। जैन परम्परा में भी मुनि एवं प्रोषधव्रती गृहस्थ के लिए इन्हें वर्जित माना गया है। यद्यपि जैन-परम्परा में भिक्षु के लिए इस सम्बन्ध में किसी स्वतन्त्र व्रत की व्यवस्था नहीं है। जैन परम्परा इन्हें ब्रह्मचर्य महाव्रत के अन्तर्गत ही मान लेती है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि ब्रह्मचर्यरत भिक्षु शरीर की विभूषा—शोभा बढ़ाना और श्रृंगार करना आदि न करे।[1] नैतिक जीवन के लिए इनका परित्याग दोनों ही परम्पराओं में आवश्यक है।

९. **उच्चशय्या, महाशय्या विरमण**—बौद्ध भिक्षु के लिए गद्दी-तकियों से युक्त उच्चशय्या पर सोना वर्जित है। बौद्ध और जैन दोनों हो परम्पराएँ भिक्षु के लिए काठ के बने तख्त, भूमि अथवा कुश या पराल की शय्याओं का ही विधान करती हैं। संयुत्तनिकाय में बुद्ध कहते हैं कि भिक्षुओ, इस समय भिक्षु लोग लकड़ी के बने तख्त पर सोते हैं, अपने उद्योग में आतापी और अप्रमत होकर विहार करते हैं। पापी मार इनके विरुद्ध कोई दावपेंच नहीं पा रहा है। भिक्षुओ, भविष्य काल में भिक्षु लोग गद्देदार बिछावन पर गुलगुल तकिये लगाकर दिन चढ़ जाने तक सोये रहेंगें। उनके विरुद्ध पापी मार दावँपेंच कर सकेगा। भिक्षुओ, इसलिए तुम्हें यह लकड़ी के बने हुए तख्त पर सोना, अपने उद्योग में आतापी होकर और अप्रमत्त होकर विहार करना सीखना चाहिए।[2] जैन आगम आचारांगसूत्र में भी मुनि को कैसी शय्या पर सोना चाहिए इसका सुविस्तृत स्पष्ट विवेचन है। सामान्यतया जैन मुनि के लिए भी यह निर्देश है कि उसे तृण की, पत्थर की शिला की या लकड़ी के तख्त की शय्या पर सोना चाहिए[3]।

१०. **जातरूपरजतविरमण**—बौद्ध भिक्षु के लिए भी परिग्रह रखना वर्जित है। सुत्तनिपात में कहा गया है कि मुनि परिग्रह में लिप्त न हो क्योंकि जो मनुष्य खेती, वास्तु, हिरण्य (स्वर्ण एवं रजत), गो, अश्व, दास आदि अनेक पदार्थों की लालसा करता करता है उसे वासनाएँ दबाती हैं और बाधाएँ मर्दन करती हैं। तब वह पानी में टूटी नाव की तरह दुःख में पड़ता है। जो इच्छाओं के वशीभूत हैं, उनकी मुक्ति अति कठिन है।[4] सामान्यतया बौद्ध परम्परा में भी इस शील का प्रमुख उद्देश्य आसक्ति से बचना ही है। बुद्ध ने भी भिक्षुओं के परिग्रह को अत्यन्त सीमित करने का प्रयास किया है।

---

१. उत्तराध्ययन, १६।९।

२. संयुत्तनिकाय, १९।८।

३. आचारांगसूत्र, २।२।३।१०२।

४. सुत्तनिपात, ४०।८२, ३९।४।५, ४०।२।

५. **सुरामेरयमद्यविरमण**—बौद्ध भिक्षु तथा गृहस्थ दोनों के लिए ही सुरापान, मद्यपान एवं नशैली वस्तुओं का सेवन वर्जित है। जैन-परम्परा में भी गृहस्थ एवं मुनि दोनों के लिए मद्यपान वर्जित है। जैन परम्परा में मद्यपान से विरत होना साधक के लिए आवश्यक है, जबतक कोई भी व्यक्ति इससे विरत नहीं होता है वह धर्म मार्ग में प्रवेश पाने का अधिकारी नहीं है।

६. **विकालभोजनविरमण**—विकाल-भोजनविरमण बौद्ध भिक्षु एवं उपोसथव्रत लेने वाले गृहस्थ के लिए आवश्यक है। भिक्षुओं के लिए विकालभोजन एवं रात्रि-भोजन को त्याज्य बताया गया है। मज्झिमनिकाय में बुद्ध कहते हैं "हे भिक्षुओ, मैंने रात्रि-भोजन को छोड़ दिया है, उससे मेरे शरीर में व्याधि कम हो गई है, जाड्य कम हो गया है, शरीर में बल आया है; चित्त को शांति मिली है। हे भिक्षुओं, तुम भी ऐसा ही आचरण रखो। यदि तुम रात्रि में भोजन करना छोड़ दोगे तो तुम्हारे शरीर में व्याधि कम होगी, जाड्य कम होगा, शरीर में बल आयेगा और तुम्हारे चित्त को शांति मिलेगी[1]।" बौद्ध-परम्परा में दिन के १२ बजे के पश्चात् से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय के पूर्व तक का समय 'विकाल' माना जाता है। इस समय के बीच भोजन करना बौद्ध भिक्षु के लिए वर्जित है। सामान्यतया बौद्ध भिक्षु के लिए भी एक ही समय भोजन करने का विधान है।

७. **नृत्यगानवादित्रविरमण**—नृत्य गान एवं वाद्यवादन बौद्ध भिक्षु के लिए वर्जित हैं। अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध कहते हैं कि भिक्षुओ, यह जो गाना है, वह आर्य-विनय के अनुसार रोना ही है। भिक्षुओ, यह जो नाचना है, वह आर्य-विनय के अनुसार पागलपन ही है। भिक्षुओ, यह जो देर तक दांत निकालकर हँसना है, यह आर्यविनय के अनुसार बचपन ही है। इसलिए भिक्षुओ, यह जो गाना है, यह सेतु (का) घातमात्र ही है, यह जो नाचना है, यह सेतु (का) घातमात्र ही है। धर्मानन्दी सन्त पुरुषों का मुस्कराना ही पर्याप्त है।[2] जैन-परम्परा के अनुसार भी भिक्षु के लिए नृत्य गान आदि वर्जित है, यद्यपि जैन-परम्परा में इसके लिए किसी स्वतन्त्र व्रत की व्यवस्था नहीं है। उत्तराध्ययन में भी कहा है कि सभी गान विलापरूप हैं, सभी नृत्य विडंबनाएँ हैं, सभी आभूषण भाररूप हैं और सभी काम दुःखदायक हैं। अज्ञानियों के प्रिय किन्तु अन्त में दुःख देनेवाले कामगुणों में वह सुख नहीं है जो कामविरत शीलगुण में रत भिक्षु को होता है।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही परम्पराएं भिक्षु के लिए नृत्य-गान आदि को वर्जित मानती हैं।

---

१. मज्झिमनिकाय-कीटागिरि-सुत्त (७०)। २. अंगुत्तरनिकाय, ३।१०३।
३. उत्तराध्ययन, १३।१६–१७।

८. **माल्यगंधधारण विलेपनविरमण**—बौद्ध परम्परा में उपोसथ शील धारण करने वाले गृहस्थ एवं भिक्षु दोनों के लिए ही माला आदि का धारण करना, सुगन्धित पदार्थों का विलेपन करना, शरीर-शृंगार और आभूषण धारण करना वर्जित है। जैन परम्परा में भी मुनि एवं प्रोषधव्रती गृहस्थ के लिए इन्हें वर्जित माना गया है। यद्यपि जैन-परम्परा में भिक्षु के लिए इस सम्बन्ध में किसी स्वतन्त्र व्रत की व्यवस्था नहीं है। जैन परम्परा इन्हें ब्रह्मचर्य महाव्रत के अन्तर्गत ही मान लेती है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि ब्रह्मचर्यरत भिक्षु शरीर की विभूषा—शोभा बढ़ाना और शृंगार करना आदि न करे।[1] नैतिक जीवन के लिए इनका परित्याग दोनों ही परम्पराओं में आवश्यक है।

९. **उच्चशय्या, महाशय्या विरमण**—बौद्ध भिक्षु के लिए गद्दी-तकियों से युक्त उच्चशय्या पर सोना वर्जित है। बौद्ध और जैन दोनों हो परम्पराएँ भिक्षु के लिए काठ के बने तख्त, भूमि अथवा कुश या पराल की शय्याओं का ही विधान करती हैं। संयुत्तनिकाय में बुद्ध कहते हैं कि भिक्षुओ, इस समय भिक्षु लोग लकड़ी के बने तख्त पर सोते हैं, अपने उद्योग में आतापी और अप्रमत होकर विहार करते हैं। पापी मार इनके विरुद्ध कोई दावपेंच नहीं पा रहा है। भिक्षुओ, भविष्य काल में भिक्षु लोग गद्देदार बिछावन पर गुलगुल तकिये लगाकर दिन चढ़ जाने तक सोये रहेंगे। उनके विरुद्ध पापी मार दावँपेंच कर सकेगा। भिक्षुओ, इसलिए तुम्हें यह लकड़ी के बने हुए तख्त पर सोना, अपने उद्योग में आतापी होकर और अप्रमत्त होकर विहार करना सीखना चाहिए।[2] जैन आगम आचारांगसूत्र में भी मुनि को कैसी शय्या पर सोना चाहिए इसका सुविस्तृत स्पष्ट विवेचन है। सामान्यतया जैन मुनि के लिए भी यह निर्देश है कि उसे तृण की, पत्थर की शिला की या लकड़ी के तख्त की शय्या पर सोना चाहिए[3]।

१०. **जातरूपरजतविरमण**—बौद्ध भिक्षु के लिए भी परिग्रह रखना वर्जित है। सुत्तनिपात में कहा गया है कि मुनि परिग्रह में लिप्त न हो क्योंकि जो मनुष्य खेती, वास्तु, हिरण्य (स्वर्ण एवं रजत), गो, अश्व, दास आदि अनेक पदार्थों की लालसा करता है उसे वासनाएँ दबाती हैं और बाधाएँ मर्दन करती हैं। तब वह पानी में टूटी नाव की तरह दुःख में पड़ता है। जो इच्छाओं के वशीभूत हैं, उनकी मुक्ति अति कठिन है।[4] सामान्यतया बौद्ध परम्परा में भी इस शील का प्रमुख उद्देश्य आसक्ति से बचना ही है। बुद्ध ने भी भिक्षुओं के परिग्रह को अत्यन्त सीमित करने का प्रयास किया है।

---

१. उत्तराध्ययन, १६।९।
२. संयुत्तनिकाय, १९।८।
३. आचारांगसूत्र, २।२।३।१०२।
४. सुत्तनिपात, ४०।८२, ३९।४।५, ४०।२।

५. **सुरामेरयमद्यविरमण**—बौद्ध भिक्षु तथा गृहस्थ दोनों के लिए ही सुरापान, मद्यपान एवं नशैली वस्तुओं का सेवन वर्जित है। जैन-परम्परा में भी गृहस्थ एवं मुनि दोनों के लिए मद्यपान वर्जित है। जैन परम्परा में मद्यपान से विरत होना साधक के लिए आवश्यक है, जबतक कोई भी व्यक्ति इससे विरत नहीं होता है वह धर्म मार्ग में प्रवेश पाने का अधिकारी नहीं है।

६. **विकालभोजनविरमण**—विकाल-भोजनविरमण बौद्ध भिक्षु एवं उपोसथव्रत लेने वाले गृहस्थ के लिए आवश्यक है। भिक्षुओं के लिए विकालभोजन एवं रात्रि-भोजन को त्याज्य बताया गया है। मज्झिमनिकाय में बुद्ध कहते हैं "हे भिक्षुओ, मैंने रात्रि-भोजन को छोड़ दिया है, उससे मेरे शरीर में व्याधि कम हो गई है, जाड्य कम हो गया है, शरीर में बल आया है; चित्त को शांति मिली है। हे भिक्षुओं, तुम भी ऐसा ही आचरण रखो। यदि तुम रात्रि में भोजन करना छोड़ दोगे तो तुम्हारे शरीर में व्याधि कम होगी, जाड्य कम होगा, शरीर में बल आयेगा और तुम्हारे चित्त को शांति मिलेगी[१]।" बौद्ध-परम्परा में दिन के १२ बजे के पश्चात् से लेकर दूसरे दिन सूर्योदय के पूर्व तक का समय 'विकाल' माना जाता है। इस समय के बीच भोजन करना बौद्ध भिक्षु के लिए वर्जित है। सामान्यतया बौद्ध भिक्षु के लिए भी एक ही समय भोजन करने का विधान है।

७. **नृत्यगानवादित्रविरमण**—नृत्य गान एवं वाद्यवादन बौद्ध भिक्षु के लिए वर्जित हैं। अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध कहते हैं कि भिक्षुओ, यह जो गाना है, वह आर्य-विनय के अनुसार रोना ही है। भिक्षुओ, यह जो नाचना है, वह आर्य-विनय के अनुसार पागलपन ही है। भिक्षुओ, यह जो देर तक दांत निकालकर हँसना है, यह आर्यविनय के अनुसार बचपन ही है। इसलिए भिक्षुओ, यह जो गाना है, यह सेतु (का) घातमात्र ही है, यह जो नाचना है, यह सेतु (का) घातमात्र ही है। धर्मानन्दी सन्त पुरुषों का मुस्कराना ही पर्याप्त है।[२] जैन-परम्परा के अनुसार भी भिक्षु के लिए नृत्य गान आदि वर्जित है, यद्यपि जैन-परम्परा में इसके लिए किसी स्वतन्त्र व्रत की व्यवस्था नहीं है। उत्तराध्ययन में भी कहा है कि सभी गान विलापरूप हैं, सभी नृत्य विडंवनाएँ हैं, सभी आभूषण भाररूप हैं और सभी काम दुःखदायक हैं। अज्ञानियों के प्रिय किन्तु अन्त में दुःख देनेवाले कामगुणों में वह सुख नहीं है जो कामविरत शीलगुण में रत भिक्षु को होता है।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों ही परम्पराएं भिक्षु के लिए नृत्य-गान आदि को वर्जित मानती हैं।

---

१. मज्झिमनिकाय-कीटागिरि-सुत्त (७०)। २. अंगुत्तरनिकाय, ३।१०३।
३. उत्तराध्ययन, १३।१६–१७।

८. **माल्यगंधधारण विलेपनविरमण**—बौद्ध परम्परा में उपोसथ शील धारण करने वाले गृहस्थ एवं भिक्षु दोनों के लिए ही माला आदि का धारण करना, सुगन्धित पदार्थों का विलेपन करना, शरीर-शृंगार और आभूषण धारण करना वर्जित है। जैन परम्परा में भी मुनि एवं प्रोषधव्रती गृहस्थ के लिए इन्हें वर्जित माना गया है। यद्यपि जैन-परम्परा में भिक्षु के लिए इस सम्बन्ध में किसी स्वतन्त्र व्रत की व्यवस्था नहीं है। जैन परम्परा इन्हें ब्रह्मचर्य महाव्रत के अन्तर्गत ही मान लेती है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि ब्रह्मचर्यरत भिक्षु शरीर की विभूषा—शोभा बढ़ाना और शृंगार करना आदि न करे।[1] नैतिक जीवन के लिए इनका परित्याग दोनों ही परम्पराओं में आवश्यक है।

९. **उच्चशय्या, महाशय्या विरमण**—बौद्ध भिक्षु के लिए गद्दी-तकियों से युक्त उच्चशय्या पर सोना वर्जित है। बौद्ध और जैन दोनों हो परम्पराएँ भिक्षु के लिए काठ के बने तख्त, भूमि अथवा कुश या पराल की शय्याओं का ही विधान करती हैं। संयुत्तनिकाय में बुद्ध कहते हैं कि भिक्षुओ, इस समय भिक्षु लोग लकड़ी के बने तख्त पर सोते हैं, अपने उद्योग में आतापी और अप्रमत्त होकर विहार करते हैं। पापी मार इनके विरुद्ध कोई दावपेंच नहीं पा रहा है। भिक्षुओ, भविष्य काल में भिक्षु लोग गद्देदार बिछावन पर गुलगुल तकिये लगाकर दिन चढ़ जाने तक सोये रहेंगे। उनके विरुद्ध पापी मार दावँपेंच कर सकेगा। भिक्षुओ, इसलिए तुम्हें यह लकड़ी के बने हुए तख्त पर सोना, अपने उद्योग में आतापी होकर और अप्रमत्त होकर विहार करना सीखना चाहिए।[2] जैन आगम आचारांगसूत्र में भी मुनि को कैसी शय्या पर सोना चाहिए इसका सुविस्तृत स्पष्ट विवेचन है। सामान्यतया जैन मुनि के लिए भी यह निर्देश है कि उसे तृण की, पत्थर की शिला की या लकड़ी के तख्त की शय्या पर सोना चाहिए[3]।

१०. **जातरूपरजतविरमण**—बौद्ध भिक्षु के लिए भी परिग्रह रखना वर्जित है। सुत्तनिपात में कहा गया है कि मुनि परिग्रह में लिप्त न हो क्योंकि जो मनुष्य खेती, वास्तु, हिरण्य (स्वर्ण एवं रजत), गो, अश्व, दास आदि अनेक पदार्थों की लालसा करता करता है उसे वासनाएँ दबाती हैं और बाधाएँ मर्दन करती हैं। तब वह पानी में टूटी नाव की तरह दुःख में पड़ता है। जो इच्छाओं के वशीभूत हैं, उनकी मुक्ति अति कठिन है।[4] सामान्यतया बौद्ध परम्परा में भी इस शील का प्रमुख उद्देश्य आसक्ति से बचना ही है। बुद्ध ने भी भिक्षुओं के परिग्रह को अत्यन्त सीमित करने का प्रयास किया है।

---

१. उत्तराध्ययन, १६।९।
२. संयुत्तनिकाय, १९।८।
३. आचारांगसूत्र, २।२।३।१०२।
४. सुत्तनिपात, ४०।८२, ३९।४।५, ४०।२।

बौद्ध भिक्षु के लिए स्वर्ण-रजत आदि धातुओं का ग्रहण सर्वथा वर्जित है।[१] इतना ही नहीं, बौद्ध भिक्षु को जीवनयापन के लिए जिन वस्त्र-पात्र आदि वस्तुओं की आवश्यकता होती है उन्हें भी सीमा से अधिक मात्रा में रखना वर्जित है। विनयपिटक के अनुसार यदि भिक्षु आवश्यकता से अधिक वस्त्रों को रखता है अथवा पात्र आदि अन्य वस्तुओं का आवश्यकता से अधिक संग्रह करता है तो वह दोषी माना जाता है। बौद्ध परम्परा में भिक्षु के लिए त्रिचीवर, भिक्षा पात्र, पानी छानने के लिए छनने से युक्त पात्र, उस्तरा आदि सीमित वस्तुओं के रखने का विधान है।[२] बौद्ध-परम्परा भिक्षु की आवश्यक सामग्रियों को भी संघ की सम्पत्ति मानती है। भिक्षु भिक्षु-संघ के द्वारा अथवा गृहस्थ उपासकों के द्वारा प्राप्त वस्तुओं का मात्र उपभोग कर सकता है। वह उनका स्वामी नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध-परम्परा के दस भिक्षु शील जैन-परम्परा के पंचमहाव्रतों एवं रात्रि-भोजन निषेध के अत्यन्त निकट हैं। बौद्ध-परम्परा भी उपर्युक्त दस भिक्षु शीलों के लिए मन, वचन और काय तथा कृत, कारित और अनुमोदित की नव कोटियों का विधान करती है।[3] फिर भी बौद्ध-परम्परा और जैन-परम्परा में कुछ मौलिक अन्तर है, जिसे जान लेना चाहिए। जैन परम्परा के अनुसार भिक्षु न केवल कृत, कारित और अनुमोदित हिंसा से बचते हैं वरन् वे औद्देशिक हिंसा से भी बचते हैं। जैन भिक्षु के लिए मन, वचन और काय से हिंसा करना, करवाना अथवा हिंसा का अनुमोदन करना तो निषिद्ध है ही लेकिन साथ ही यदि कोई भिक्षु के निमित्त से भी हिंसा करता है और भिक्षु को यह ज्ञात हो जाता है कि उसके निमित्त से हिंसा की गई है तो ऐसे आहार आदि का ग्रहण भी भिक्षु के लिए निषिद्ध माना गया है। बौद्ध-परम्परा में भी भिक्षु के निमित्त की गई हिंसा को निषिद्ध माना गया है। स्वय भगवान् बुद्ध ने इसे स्पष्ट किया है। मज्झिमनिकाय के जीवकसुत्त में बुद्ध कहते हैं कि जब मैं अपने लिए प्राणीवध किया हुआ देखता हूँ, सुनता हूँ या मुझे वैसी शंका होती है, तब मैं कहता हूँ कि यह अन्न निषिद्ध है।[४] फिर भी जैन और बौद्ध परम्परा में प्रमुख अन्तर यह है कि बुद्ध निमंत्रित भिक्षा को स्वीकार करते थे जबकि जैन श्रमण किसी भी प्रकार का आमंत्रण स्वीकार नहीं करते थे। बुद्ध औद्देशिक प्राणीवध के द्वारा निर्मित मांस आदि को तो निषिद्ध मानते थे, लेकिन सामान्य भोजन के सम्बन्ध में वे औद्देशिकता का कोई विचार नहीं करते थे। वस्तुतः इसका मूल कारण यह था

---

१. विनयपिटक महावग्ग १।५६, चूलवग्ग १२।१, पातिमोक्ख-निसग्ग पाचितिय १८।

२. विनयपिटक—देखिए—बुद्धिज्म, पृ० ८१-८२।

३. देखिए—सुत्तनिपात, २६।१९।२३, मज्झिमनिकाय, २।४१६।

४. मज्झिमनिकाय-जीवकसुत्त, ५५।

कि बुद्ध अग्नि, पानी आदि को जीवनयुक्त नहीं मानते थे। अतः सामान्य भोजन के निर्माण में उन्हें औद्देशिक हिंसा का कोई दोष परिलक्षित नहीं हुआ और इसलिए निमंत्रित भोजन का निषेध नहीं किया गया। सत्य महाव्रत के संदर्भ में भी जैन परम्परा और बौद्ध परम्परा में मौलिक अन्तर यह है कि बुद्ध अप्रिय सत्य-वचन को हितबुद्धि से बोलना वर्जित नहीं मानते हैं, जबकि जैन-परम्परा अप्रिय सत्य को भी हितबुद्धि से बोलना वर्जित मानती है। अन्य भिक्षु शीलों के सम्बन्ध में सैद्धान्तिकरूप से जैन और बौद्ध परम्परा में कोई मूलभूत अंतर नहीं है, फिर भी जैन परम्परा में उन शीलों का पालन जितनी निष्ठा और कठोरतापूर्वक किया गया, उतना बौद्ध परम्परा में नहीं। यही कारण है कि बौद्ध श्रमण संस्था परवर्ती काल में काफी विकृत हो गयी।

पंच यम और पंच महाव्रत

जैन परम्परा के पंच महाव्रत के समान ही वैदिक परम्परा में पंच यम स्वीकार किये गये हैं। पातंजल योगसूत्र में निम्न पंच यम माने गये हैं—१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य और ५. अपरिग्रह।[1] इन्हें महाव्रत भी कहा गया है। पातंजल योगसूत्र के अनुसार जो जाति, देश, काल और समय की सीमा से रहित हैं तथा सभी अवस्थाओं में पालन करने योग्य हैं, वे महाव्रत हैं। महाव्रतों का पालन सभी के द्वारा निरपेक्ष रूप से किया जाना चाहिए। वेदव्यास का कथन है कि निष्कामयोगी अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का सेवन करे। वैदिक परम्परा के अनुसार संन्यासी को पूर्णरूप से अहिंसा महाव्रत का पालन करना चाहिए। संन्यासी के लिए त्रस और स्थावर दोनों प्रकार की हिंसा निषिद्ध है।[2] इसी प्रकार संन्यासी के लिए असत्य-भाषण और कटु भाषण भी वर्जित हैं।[3] वैदिक परम्परा में संन्यासी के आचार का जो विधान है उसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की दृष्टि से कोई मौलिक मतभेद नहीं है। वैदिक परम्परा के अनुसार भी संन्यासी को ब्रह्मचर्य महाव्रत का का पूर्णरूप से पालन करना चाहिए। वैदिक परम्परा में स्वीकृत मैथुन के आठों अंगों का सेवन उसके लिए वर्जित माना गया है। परिग्रह की दृष्टि से भी वैदिक परम्परा भिक्षु के लिए जलपात्र, पवित्र (जल छानने का वस्त्र), पादुका, आसन एवं कन्था आदि सीमित वस्तुएँ रखने की अनुमति देती है।[4] वायुपुराण में उन सब वस्तुओं के नाम हैं जिन्हें संन्यासी अपने पास रख सकता है।[5] वैदिक परम्परा में भी संन्यासी के लिए धातुपात्र का प्रयोग निषिद्ध है। मनुस्मृति के अनुसार संन्यासी का भिक्षापात्र तथा जल-पात्र मिट्टी, लकड़ी, तुम्बी या बिना छिद्रवाले बांस का होना चाहिए।[6]

---

१. पातंजल योगसूत्र-साधनपाद, ३२।
२. महाभारत शांतिपर्व, ९।१९।
३. मनुस्मृति, ६।४७–४८।
४. देखिए धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४१३।
५. वही, पृ० ४९३।
६. मनुस्मृति, ६।५३–५४।

जहाँ तक अहिंसा-महाव्रत का प्रश्न है, जैन और वैदिक दोनों ही परम्पराएँ त्रस और स्थावर की हिंसा को निषिद्ध मानती हैं। फिर भी वैदिक परम्परा में जल, अग्नि, वायु आदि में जीवन का अभाव माना गया है और इसलिए उनकी हिंसा से बचने का कोई निर्देश वैदिक परम्परा में उपलब्ध नहीं है। वैदिक परम्परा में स्थूल और सूक्ष्म त्रस प्राणियों एवं वनस्पति आदि जंगम या स्थावर की हिंसा का ही निषेध है। सत्य महाव्रत के संदर्भ में वैदिक परम्परा में भी काफी गहराई से विचार किया गया है। वैदिक परम्परा में प्रिय सत्य के बोलने का विधान है। अप्रिय सत्य का बोलना निषिद्ध ही है। महाभारत के अनुसार सत्य बोलना अच्छा है परन्तु सत्य भी ऐसा बोलना अधिक अच्छा है जिससे सब प्राणियों का हित हो।[1] वैदिक परम्परा में भी सत्य को अहिंसामय बनाने का प्रयास हुआ है। जब सत्य और अहिंसा में विरोध उत्पन्न हो जाय और उस स्थिति में बोलना भी आवश्यक हो तथा नहीं बोलने से संदेह उत्पन्न हो तो असत्य बोलना ही श्रेयस्कर माना गया है।[2] महाभारत का यह दृष्टिकोण आचारांगसूत्र के पूर्वोक्त दृष्टिकोण से अत्यन्त साम्य रखता है। मनु ने भी ऐसी अपवादात्मक स्थिति में सामान्यतया मौन रहने का संकेत किया है। मनु के अनुसार यदि हिंसक अन्याय से भी पूछे तो कोई उत्तर नहीं देना चाहिए अथवा पागल के अनुसार अस्पष्ट रूप से हाँ-हूँ कर देना चाहिए।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्य महाव्रत के संदर्भ में जैन परम्परा और वैदिक परम्परा का दृष्टकोण काफी समान है। ब्रह्मचर्य महाव्रत के संदर्भ में भी वैदिक परम्परा में स्वीकृत मैथुन के आठ अंग जैन-परम्परा में बतायी गयी ब्रह्मचर्य की नव बाड़ों से काफी अधिक निकटता रखते हैं।

गुप्ति एवं समिति

पूर्वोक्त महाव्रतों के रक्षण एवं उनकी परिपुष्टि करने के लिए जैन-परम्परा में पांच समितियों और तीन गुप्तियों का विधान है। इन्हें अष्ट प्रवचनमाता भी कहा जाता है।[4] ये आठ गुण श्रमण-जीवन का संरक्षण उसी प्रकार करते हैं जैसे माता अपने पुत्र का करती है। इसीलिए इन्हें माता कहा गया है। इनमें तीन गुप्तियाँ श्रमण साधना का निषेधात्मक पक्ष प्रस्तुत करती हैं और पांच समितियाँ विधेयात्मक पक्ष प्रस्तुत करती हैं।

तीन गुप्तियाँ—गुप्ति शब्द गोपन से बना है जिसका अर्थ है खींच लेना, दूर कर लेना। गुप्ति शब्द का दूसरा अर्थ ढँकने वाला या रक्षा-कवच भी है। प्रथम अर्थ के अनुसार मन, वचन और काया को अशुभ प्रवृत्तियों से हटा लेना गुप्ति है,

---

१. मनुस्मृति, ४।१३८।　　२. महाभारत शान्तिपर्व, ३२६।१३।
३. वही, देखिए पातंजल योगप्रदीप, पृ० ३७७।　　४. मनुस्मृति, २।१२०।

और दूसरे अर्थ के अनुसार आत्मा की अशुभ से रक्षा करना गुप्ति है। गुप्तियाँ तीन हैं– १. मनोगुप्ति, २. वचन-गुप्ति और ३. काय-गुप्ति।[१]

१. **मनोगुप्ति**—मन को अप्रशस्त कुत्सित एवं अशुभ विचारों से दूर रखना मनोगुप्ति है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार श्रमण सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ की हिंसक प्रवृत्तियों में जाते हुए मन को रोके,[2] यही मनोगुप्ति है। श्रमण को दूषित वृत्तियों में जाते हुए मन को रोक कर मनोगुप्ति का अभ्यास करना चाहिए।

२. **वचनगुप्ति**—असत्य, कर्कश, अहितकारी एवं हिंसाकारी भाषा का प्रयोग नहीं करना वचनगुप्ति है। नियमसार के अनुसार स्त्री-कथा, राजकथा, चोर-कथा, भोजन-कथा आदि वचन की अशुभ प्रवृत्ति एवं असत्य वचन का परिहार वचनगुप्ति है।[3] उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि श्रमण अशुभ प्रवृत्तियों में जाते हुये वचन का निरोध करे।[४]

३. **कायगुप्ति**—नियमसार के अनुसार वन्धन, छेदन, मारण, आकुंचन तथा प्रसारण आदि शारीरिक क्रियाओं से निवृत्ति कायगुप्ति है।[५] उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार श्रमण उठने, बैठने, लेटने, नाली आदि लांघने तथा पाँचों इन्द्रियों की प्रवृत्ति में शरीर की क्रियाओं का नियमन करे।[६]

उत्तराध्ययनसूत्र में मुनि-जीवन के लिए इन तीन गुप्तियों का विधान अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्ति होने के लिए है।[७] श्रमण साधक इन तीनों गुप्तियों के द्वारा अपने को अशुभ प्रवृत्तियों से दूर रखे, यही इसका हार्द है। संक्षेप में राग-द्वेष आदि से निवृत्ति मनोगुप्ति है, असत्य वचन से निवृत्ति एवं मौन वचनगुप्ति है और शारीरिक क्रियाओं से निवृत्ति तथा कायोत्सर्ग कायगुप्ति है।[८]

बौद्ध-परम्परा और गुप्ति—बौद्ध परम्परा में मन, वचन और शरीर की गुप्ति का विधान है। सुत्तनिपात में तो जैन-परम्परा के समान ही गुत्ति शब्द का प्रयोग किया गया है।[९] बुद्ध ने भी श्रमण साधक को मन, वचन और शरीर की क्रियाओं के नियमन का निर्देश किया है। बौद्ध-परम्परा में मन, वचन और काया की तीन क्रियाओं के लिए जैन-परम्परा के समान त्रिदण्ड शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। जब कि इनके लिए स्थानांगसूत्र में मनदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड का प्रयोग हुआ है।[१०] बुद्ध भी इन तीनों को स्वीकार तो करते हैं, लेकिन उन्होंने त्रिदण्ड के स्थान पर तीन कर्म शब्द का

---

१. उत्तराध्ययन, २४।१।
२. वही, २४।२।
३. नियमसार, ६७।
४. उत्तराध्ययन, २४।२३।
५. नियमसार, ६८।
६. उत्तराध्ययन, २४।२४–२५।
७. वही, २४।२६।
८. नियमसार, ६९-७०।
९. सुत्तनिपात, ४।३।
१०. स्थानांग, ३।१।२६।

प्रयोग किया है। दोनों परम्पराओं में शाब्दिक अन्तर भले हो, लेकिन मूल मन्तव्य दोनों परम्पराओं का एक ही है। अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध ने तीन शुचि भावों एवं तीन प्रकार के मौन के रूप में वस्तुतः जैन परम्परा की तीन गुप्तियों का ही विधान किया है। बुद्ध कहते हैं—भिक्षुओ, ये तीन शुचि भाव हैं। शरीर की शुचिता, वाणी की शुचिता, मन की शुचिता। भिक्षुओ, आदमी प्राणीहिंसा से विरत रहता है, चोरी से विरत रहता है, कामभोग संबंधी मिथ्याचार से विरत रहता है, यह शरीर की शुचिता है। भिक्षुओ, आदमी झूठ बोलने से विरत रहता है, चुगली खाने से विरत रहता है, व्यर्थ बोलने से विरत रहता है, इसे वाणी की शुचिता कहते हैं। भिक्षुओ, आदमी निर्लोभी होता है, अक्रोधी होता है तथा सम्यक्दृष्टि वाला होता है, यह मन की शुचिता है।[१] वस्तुतः इस प्रकार बुद्ध भी श्रमण साधक के लिए मन, वचन और शरीर की अप्रशस्त प्रवृत्तियों को रोकने का निर्देश करते हैं।[२]

वैदिक परम्परा और गुप्ति—वैदिक परम्परा में संन्यासी के लिए त्रिदण्डी शब्द का प्रयोग हुआ है। दत्त का कहना है कि केवल बांस के डंडी के धारण से कोई संन्यासी या त्रिदण्डी नहीं हो जाता। त्रिदण्डी वही है जो अपने आध्यात्मिक दण्ड रखता है।[3] वस्तुतः तीन आध्यात्मिक दण्डों का तात्पर्य मन, वचन और शरीर के नियंत्रण से ही है। जैन परम्परा में भी इस प्रकार के नियंत्रण के लिए दण्ड शब्द का प्रयोग हुआ है। त्रिदण्डी शब्द का मूल आशय यही है। मन, वचन और शरीर की क्रियाओं का नियमन करनेवाला ही त्रिदण्डी है।

जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओं में शाब्दिक दृष्टि से चाहे अन्तर हो, लेकिन मूल मन्तव्य यही है कि श्रमण अथवा संन्यासी को मन, वचन और शरीर की अप्रशस्त प्रवृत्तियों का नियमन करना चाहिए।

पाँच समितियाँ—समिति शब्द की व्याख्या सम्यक् प्रवृत्ति के रूप में की गयी है। समिति श्रमण-जीवन की साधना का विधायक पक्ष है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार समितियाँ आचरण की प्रवृत्ति के लिए हैं।[४] श्रमण-जीवन में शरीर धारण के लिए अथवा संयम के निर्वाह के लिए जो क्रियाएँ की जाती हैं उनको विवेकपूर्वक संपादित करना ही समिति है। समितियाँ पाँच हैं—१. ईर्या (गमन), २. भाषा, ३. एषणा (याचना), ४. आदानभण्डनिक्षेपण और ५. उच्चारादि प्रतिस्थापन।[५]

---

१. अंगुत्तरनिकाय, ३।११८। २. वही, ३।१२०।

३. उद्धृत धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ४९४, दक्षस्मृति, ७।२७-३१।

४. उत्तराध्ययन, २४।२६। ५. वही, २४।२।

१. ईर्या-समिति—प्राणियों की रक्षा करते हुए सावधानीपूर्वक आवागमन की क्रिया करना ईर्या-समिति है। श्रमण के लिए यह आवश्यक है कि उसकी आवागमन की क्रिया इस प्रकार हो जिसमें यथासंभव प्राणिहिंसा न हो। सामान्यरूप से श्रमण को चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलना चाहिए तथा दिन में ही चलना चाहिए सूर्यास्त के पश्चात् नहीं,[1] क्योंकि यदि वह सामने देखकर नहीं चलेगा और रात्रि में आवागमन की क्रिया करेगा तो उसमें प्राणिहिंसा की सम्भावना रहेगी। मुनि के लिए चलते समय बातचीत करना, पढ़ना, चिंतन करना आदि क्रियाएँ भी निषिद्ध हैं। यदि वह उपर्युक्त क्रियाएँ करते हुए चलेगा तो वह सावधानीपूर्वक आवागमन नहीं कर सकेगा। कहा गया है कि मुनि को चलते समय पांचों इन्द्रियों के विषयों तथा पांचों प्रकार के स्वाध्यायों को छोड़कर मात्र चलने की क्रिया में ही लक्ष रखकर चलना चाहिए।[2] आचारांगसूत्र में इसकी विस्तार से चर्चा है। नीचे उसी आधार पर कुछ प्रमुख नियम प्रस्तुत हैं—

१. चलते समय सावधानीपूर्वक सामने की भूमि को देखते हुए चलना चाहिए।

२. चलते समय हाथ-पैरों को आपस से टकराना नहीं चाहिए।

३ भय और विस्मय तजकर चलना चाहिए।

४. भाग-दौड़ न करके मध्यम गति से चलना चाहिए।

५. चलते समय पाँवों को एक दूसरे से अधिक अन्तर पर रखकर नहीं चलना चाहिए।

६. हरी वनस्पति, तृण-पल्लव आदि से एक हाथ दूर चलना चाहिए।

७. प्राणियों, वनस्पति और जल जीवों की हिंसा की संभावना से युक्त छोटे रास्ते से न चलकर इनसे रहित लम्बे मार्ग से ही जाना चाहिए।

८. यदि वर्षा के कारण मार्ग में छोटे-छोटे जीव-जन्तु और वनस्पति उत्पन्न हो गई हो, अंकुर फूट निकले हों तो मुनि भ्रमण रोक कर चातुर्मास अवधि तक एक ही स्थान पर रहे।

९. वर्षा ऋतु के पश्चात् भी यदि मार्ग जीव, जन्तु और वनस्पति से रहित न हो तो मुनि भ्रमण प्रारम्भ न करे।

१०. सदैव निरापद मार्गों से ही गमन करना चाहिए। जिन मार्गों में चोर, म्लेच्छ एवं अनार्य लोगों के भय की सम्भावना हो अथवा जिस मार्ग में युद्धस्थल पड़ता हो उन मार्गों का परित्याग करके गमन करना चाहिए।

११. यदि प्रसंगवशात् मार्ग में सिंह आदि हिंसक पशु या चोर, डाकू आदि दिखाई दें तो भयभीत होकर न पेड़ों पर चढ़ना चाहिए, न पानी में कूदना चाहिए और न उन्हें

---

१. उत्तराध्ययन, २४।७।   २. वही, २४।८।

मारने के लिए शस्त्र आदि की मन में इच्छा ही करना चाहिए। वरन् शांतिपूर्वक निर्भय होकर गमन करना चाहिए।

१२. दिगम्बर परम्परा के अनुसार मुनि को मार्ग में चलते समय यदि धूप से छाया में या छाया से धूप में जाना पड़े तो अपने शरीर का मोरपिच्छि से प्रमार्जन करके ही जाना चाहिए[1]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन मुनि को आवागमन की क्रिया इस प्रकार संपादित करनी चाहिए कि उसमें किसी भी प्रकार की हिंसा की संभावना न हो। ईर्या-समिति की इस समग्र विवेचना में प्रमुख दृष्टि अहिंसा महाव्रत की रक्षा ही है। हाँ, जैन परम्परा यह भी स्वीकार करती है कि यदि आवागमन की क्रिया आवश्यक हो और उस स्थिति में अहिंसा का पूर्ण पालन संभव न हो तो अपवाद मार्ग का आश्रय लिया जा सकता है।

२. **भाषा-समिति**—विवेकपूर्ण भाषा का प्रयोग करना भाषा-समिति है। मुनि को सदोष, कर्मबन्ध कराने वाली, कर्कश, निष्ठुर, अनर्थकारी, जीवों को आघात और परिताप देनेवाली भाषा नहीं बोलनी चाहिए; वरन् घबराये बिना, विवेकपूर्वक, समभाव रखते हुए, सावधानीपूर्वक बोलना चाहिए। मुनि को अपेक्षा, प्रमाण, नय और निक्षेप से युक्त हित, मित, मधुर एवं सत्य भाषा बोलना चाहिए।[2] वस्तुतः वाणी का विवेक सामाजिक जीवन की महत्त्वपूर्ण मर्यादा है। वर्क का कथन है कि संसार को दुःखमय बनानेवाली अधिकांश दुष्टताएं शब्दों से ही उत्पन्न होती हैं।[3] वाणी का विवेक श्रमण और गृहस्थ दोनों के लिए आवश्यक है। श्रमण तो साधना की उच्च भूमिका पर स्थित होता है, अतः उसे तो अपनी वाणी के प्रति बहुत ही सावधान रहना चाहिए। मुनि कैसी भाषा बोले और कैसी भाषा न बोले, इसकी विस्तृत चर्चा सत्य महाव्रत के संदर्भ में की जा चुकी है।

३. **एषणा-समिति**—एषणा का सामान्य अर्थ आवश्यकता या चाह होता है। साधक गृहस्थ हो या मुनि, जबतक शरीर का बन्धन है, जैविक आवश्यकताएं उसके साथ लगी रहती हैं। जीवन धारण करने के लिए आहार, स्थान आदि की आवश्यकताएँ बनी रहती हैं। मुनि को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति याचना के द्वारा किस

---

१. विस्तृत विवेचना एवं प्रमाण के लिए देखिए—
(अ) आचारांग, २।३। (ब) दशवैकालिक, ५।३-६।
(स) मूलाचार, ५।१०५-१०९।
२. देखिए—आचारांग, २।४।१३३-१४०, दशवैकालिक, अध्ययन, ७।
३. अमरवाणी, पृ० १०७।

प्रकार करना चाहिए, इसका विवेक रखना ही एषणा-समिति है। एषणा का एक अर्थ खोज या गवेषणा भी है। इस अर्थ की दृष्टि से आहार, पानी, वस्त्र एवं स्थान आदि विवेकपूर्वक प्राप्त करना एषणा-समिति है। मुनि को निर्दोष भिक्षा एवं आवश्यक वस्तुएँ ग्रहण करनी चाहिए। मुनि की आहार आदि ग्रहण करने की वृत्ति कैसी होनी चाहिए इसके संबंध में कहा गया है कि जिस प्रकार भ्रमर विभिन्न वृक्षों के फूलों को कष्ट नहीं देते हुए अपना आहार ग्रहण करता है उसी प्रकार मुनि भी किसी को कष्ट नहीं देते हुए थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करे।[1] मुनि की भिक्षाविधि को इसीलिए मधुकरी या गौचरी कहा जाता है। जिस प्रकार भ्रमर फूलों को बिना कष्ट पहुँचाये उनका रस ग्रहण कर लेता है या गाय घास को ऊपर-ऊपर से थोड़ा खाकर अपना निर्वाह करती है, वैसे ही भिक्षुक को भी दाता को कष्ट न हो यह ध्यान रखकर अपनी आहार आदि आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए।[2]

भिक्षा के निषिद्ध स्थान—मुनि को निम्न स्थानों पर भिक्षा के लिए नहीं जाना चाहिए[3]—१. राजा का निवासस्थान, २. गृहपति का निवासस्थान, ३. गुप्तचरों के मंत्रणा-स्थल तथा ४. वेश्याओं के निवासस्थान के निकट का सम्पूर्ण क्षेत्र क्योंकि इन स्थानों पर भिक्षावृत्ति के लिए जाने पर या तो गुप्तचर के संदेह में पकड़े जाने का भय होता है अथवा लोकापवाद का कारण होता है।

भिक्षा के हेतु जाने का निषिद्ध काल—जब वर्षा हो रही हो, कोहरा पड़ रहा हो, आंधी चल रही हो, मक्खी-मच्छर आदि सूक्ष्म जीव उड़ रहे हों, तब मुनि भिक्षा के लिए न जाये।[4] इसी प्रकार विकाल में भी भिक्षा के हेतु जाना निषिद्ध है। जैन आगमों के अनुसार भिक्षुक दिन के प्रथम प्रहर में ध्यान करे, दूसरे प्रहर में स्वाध्याय करे और तीसरे प्रहर में भिक्षा के हेतु नगर अथवा गाँव में प्रवेश करे।[5] इस प्रकार भिक्षा का काल मध्याह्न १२ से ३ बजे तक माना गया है। शेष समय भिक्षा के लिए विकाल माना गया है।

भिक्षा की गमनविधि—मुनि ईर्यासमिति का पालन करते हुए व्याकुलता, लोलुपता एवं उद्वेग से रहित होकर वनस्पति, जीव, प्राणी आदि से बचते हुए मन्द-मन्द गति से विवेकपूर्वक भिक्षा के लिए गमन करे।[6] सामान्यतया मुनि अपने लिए बनाया गया, खरीदा गया, संशोधित एवं संस्कारित कोई भी पदार्थ अथवा भोजन ग्रहण नहीं करे।

४. आदान भण्ड निक्षेपण समिति—मुनि के काम में आने वाली वस्तुओं को साव-

---

१. दशवैकालिक, १।२।
२. वही, १।४।
३. वही, ५।१।९, १६।
४. वही, ५।१।८।
५. उत्तराध्ययन, २६।१२।
६. दशवैकालिक, ५।१।१-२।

मारने के लिए शस्त्र आदि की मन में इच्छा ही करना चाहिए। वरन् शांतिपूर्वक निर्भय होकर गमन करना चाहिए।

१२. दिगम्बर परम्परा के अनुसार मुनि को मार्ग में चलते समय यदि धूप से छाया में या छाया से धूप में जाना पड़े तो अपने शरीर का मोरपिच्छि से प्रमार्जन करके ही जाना चाहिए[१]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन मुनि को आवागमन की क्रिया इस प्रकार संपादित करनी चाहिए कि उसमें किसी भी प्रकार की हिंसा की संभावना न हो। ईर्या-समिति की इस समग्र विवेचना में प्रमुख दृष्टि अहिंसा महाव्रत की रक्षा ही है। हाँ, जैन परम्परा यह भी स्वीकार करती है कि यदि आवागमन की क्रिया आवश्यक हो और उस स्थिति में अहिंसा का पूर्ण पालन संभव न हो तो अपवाद मार्ग का आश्रय लिया जा सकता है।

२. **भाषा-समिति**—विवेकपूर्ण भाषा का प्रयोग करना भाषा-समिति है। मुनि को सदोष, कर्मबन्ध कराने वाली, कर्कश, निष्ठुर, अनर्थकारी, जीवों को आघात और परिताप देनेवाली भाषा नहीं बोलनी चाहिए; वरन् घबराये बिना, विवेकपूर्वक, समभाव रखते हुए, सावधानीपूर्वक बोलना चाहिए। मुनि को अपेक्षा, प्रमाण, नय और निक्षेप से युक्त हित, मित, मधुर एवं सत्य भाषा बोलना चाहिए।[२] वस्तुतः वाणी का विवेक सामाजिक जीवन की महत्त्वपूर्ण मर्यादा है। बर्क का कथन है कि संसार को दुःखमय बनानेवाली अधिकांश दुष्टताएं शब्दों से ही उत्पन्न होती हैं।[३] वाणी का विवेक श्रमण और गृहस्थ दोनों के लिए आवश्यक है। श्रमण तो साधना की उच्च भूमिका पर स्थित होता है, अतः उसे तो अपनी वाणी के प्रति बहुत ही सावधान रहना चाहिए। मुनि कैसी भाषा बोले और कैसी भाषा न बोले, इसकी विस्तृत चर्चा सत्य महाव्रत के संदर्भ में की जा चुकी है।

३. **एषणा-समिति**—एषणा का सामान्य अर्थ आवश्यकता या चाह होता है। साधक गृहस्थ हो या मुनि, जबतक शरीर का बन्धन है, जैविक आवश्यकताएं उसके साथ लगी रहती हैं। जीवन धारण करने के लिए आहार, स्थान आदि की आवश्यकताएँ बनी रहती हैं। मुनि को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति याचना के द्वारा किस

---

१. विस्तृत विवेचना एवं प्रमाण के लिए देखिए—
(अ) आचारांग, २।३। (ब) दशवैकालिक, ५।३-६।
(स) मूलाचार, ५।१०५-१०९।

२. देखिए—आचारांग, २।४।१३३-१४०, दशवैकालिक, अध्ययन, ७।

३. अमरवाणी, पृ० १०७।

"भिक्षुओ, भिक्षु आने-जाने में सचेत रहता है, देखने-भालने में सचेत रहता है। समेटने-पसारने में सचेत रहता है। संघाटी, पात्र और चीवर धारण करने में सचेत रहता है। पाखाना-पेशाब करने में सचेत रहता है। जाते, खड़े होते, बैठते, सोते, जागते, कहते, चुप रहते सचेत रहता है। भिक्षुओ, इस तरह भिक्षु सम्प्रज्ञ होता है[१]।" इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध पाँचों समितियों का विवेचन कर देते हैं। विनयपिटक में एवं सुत्तनिपात में भी अनेक आदेश इस सम्बन्ध में उपलब्ध हैं। मुनि की आवागमन की क्रिया विषय में विनयपिटक में उल्लेख है कि मुनि सावधानीपूर्वक मन्थर गति से गमन करे। गमन करते समय वरिष्ठ भिक्षुओं से आगे न चले, चलते समय दृष्टि नीचे रखे तथा जोर-जोर से हँसता हुआ और बातचीत करता हुआ न चले।[२] सुत्तनिपात में मुनि की भिक्षा वृत्ति के सम्बन्ध में बुद्ध के निर्देश उपलब्ध हैं। वे कहते हैं कि रात्रि के के बीतने पर मुनि गाँव में पैठे, वहाँ न तो किसी का निमन्त्रण स्वीकार करे न किसी के द्वारा गाँव से लाये गये भोजन को; न मुनि गांव में आकर सहसा विचरण करे; चुपचाप भिक्षा करे और (भिक्षा के लिए) किसी भी प्रकार का संकेत करते हुए कोई बात न बोले। यदि कुछ मिले तो अच्छा है और न मिले तो भी ठीक, इस प्रकार दोनों अवस्थाओं में अविचलित रहकर वापस वन की ओर लौटे। गूंगे की तरह मौन हो, हाथ में पात्र लेकर वह मुनि थोड़ा दान मिलने पर उसकी अवहेलना न करे और न दाता का तिरस्कार करे।[३] भिक्षु असमय में विचरण न करे, समय पर ही भिक्षा के लिए गाँव में पैठे। असमय में विचरण करनेवाले को आसक्तियां लग जाती हैं, इसलिए ज्ञानी पुरुष असमय में विचरण नहीं करते हैं।[४] धम्मपद एवं सुत्तनिपात में मुनि की भाषा-समिति के सम्बन्ध में भी उल्लेख है। धम्मपद में कहा है कि जो भिक्षु वाणी में संयत है, मितभाषी है तथा विनीत है वही धर्म और अर्थ को प्रकाशित करता है, उसका भाषण मधुर होता है।[५] सुत्तनिपात में भी इसी प्रकार अविवेकपूर्ण वचन नहीं बोलना चाहिए और विवेकपूर्ण वचन बोलना चाहिए, इसका निर्देश है।

इस प्रकार बुद्ध ने चाहे समिति शब्द का प्रयोग न किया हो, फिर भी उन्होंने जैन परम्परा के समान ही आवागमन, भाषा, भिक्षा एवं वस्तुओं का आदान-प्रदान व मल-मूत्र विसर्जन आदि का विचार किया है। बुद्ध के उपर्युक्त वचन यह स्पष्ट कर देते हैं कि इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण जैन परम्परा के निकट है।

वैदिक परम्परा और पांच समितियां—वैदिक परम्परा में भी संन्यासी को गमनागमन की क्रिया काफी सावधानीपूर्वक करने का विधान है। मनु का कथन है कि

१. संयुत्तनिकाय, ३४।५।१।७। २. विनयपिटक, ८।४।४।
३. सुत्तनिपात, ३७।३२-३५। ४. वही, २६।११।
५. धम्मपद, ३६३।

धानीपूर्वक उठाना या रखना जिससे किसी भी प्राणी की हिंसा न हो, आदान निक्षेपण समिति है। मुनि को वस्तुओं के उठाने-रखने आदि में काफी सजग रहना चाहिए। मुनि सर्वप्रथम वस्तु को अच्छी तरह देखे फिर उसे प्रमार्जित करे और उसके पश्चात् उसे उपयोग में लेवे।[1]

५. **मलमूत्रादिप्रतिस्थापना समिति**—आहार के साथ निहार लगा ही हुआ है। मुनि को शारीरिक मलों को इस प्रकार और ऐसे स्थानों पर डालना चाहिए जिससे न व्रत भंग हो और न लोग ही घृणा करें। मुनि के लिए परिहार्य वस्तुएँ निम्न हैं—मल, मूत्र, कफ, नाक एवं शरीर का मैल, अपथ्य आहार, अनावश्यक पानी, अनुपयोगी वस्त्र एवं मुनि का मृत शरीर।[2] भिक्षुक इन सब परिहार्य वस्तुओं को विवेकपूर्वक उचित स्थानों पर ही डाले।

परिहार के हेतु निषिद्ध स्थान—परिहार के हेतु निषिद्ध स्थान दो दृष्टियों से माने गए हैं—(१) व्रतभंग की दृष्टि से और (२) लोकापवाद की दृष्टि से। व्रतभंग की दृष्टि से मुनि नाली, पाखाने, जीवजन्तुयुक्त प्रदेश, हरी घास, कंदमूलादि वनस्पति से युक्त प्रदेश, खदान और नई फोड़ी हुई भूमि पर मल मूत्र आदि का विसर्जन न करे, क्योंकि ऐसे स्थानों पर मल-मूत्र आदि का विसर्जन करने से जीव-हिंसा होती है और साधु का अहिंसा महाव्रत भंग होता है। लोकापवाद की दृष्टि से भोजन पकाने के स्थान, गाय-बैल आदि पशुओं के स्थान, देवालय, नदी के किनारे, तालाब, स्तूप, श्मशान, सभागृह, उद्यान, उपवन, प्याऊ, किला, नगर के दरवाजे, नगर के मार्ग तथा वह स्थान जहाँ तीन-चार रास्ते मिलते हों, मनुष्यों का आवागमन होता हो, गाँव के अति निकट हो ऐसे स्थानों पर मल-मूत्र आदि का विसर्जन नहीं करना चाहिए।[3] मुनि को मल-मूत्र आदि अशुचि का विसर्जन करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि वह इस प्रकार डाला जावे कि जिससे शीघ्र ही सूख जावे और उसमें कृमि की उत्पत्ति की संभावना न रहे। सामान्यतया इस हेतु कंकरीली, कठोर, अचित्त और खुली हुई धूपयुक्त भूमि ही चुनना चाहिए।[4] उसे ऐसे स्थानों पर भी मल-मूत्र आदि का विसर्जन नहीं करना चाहिए कि उसके मल-मूत्र आदि को दूसरे मनुष्यों को उठाना पड़े। इस प्रकार उसे मल-मूत्र आदि के विसर्जन में काफी सावधानी और विवेक रखना चाहिए।

बौद्ध-परम्परा और पाँच समितियाँ—बौद्ध-परम्परा में यद्यपि समिति शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं हुआ है जिस अर्थ में जैन-परम्परा में व्यवहृत है। फिर भी समिति का आशय बौद्ध परम्परा में भी स्वीकृत है। संयुत्तनिकाय में बुद्ध कहते हैं,

---

१. उत्तराध्ययन, २४।१४।
२. वही, २४।१५।
३. आचारांग, २।१०।
४. उत्तराध्ययन, २४।१७-१८

"भिक्षुओ, भिक्षु आने-जाने में सचेत रहता है, देखने-भालने में सचेत रहता है। समेटने-पसारने में सचेत रहता है। संघाटी, पात्र और चीवर धारण करने में सचेत रहता है। पाखाना-पेशाब करने में सचेत रहता है। जाते, खड़े होते, बैठते, सोते, जागते, कहते, चुप रहते सचेत रहता है। भिक्षुओ, इस तरह भिक्षु सम्प्रज्ञ होता है[1]।" इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध पाँचों समितियों का विवेचन कर देते हैं। विनयपिटक में एवं सुत्तनिपात में भी अनेक आदेश इस सम्बन्ध में उपलब्ध हैं। मुनि की आवागमन की क्रिया विषय में विनयपिटक में उल्लेख है कि मुनि सावधानीपूर्वक मन्थर गति से गमन करे। गमन करते समय वरिष्ठ भिक्षुओं से आगे न चले, चलते समय दृष्टि नीचे रखे तथा जोर-जोर से हँसता हुआ और बातचीत करता हुआ न चले।[2] सुत्तनिपात में मुनि की भिक्षा वृत्ति के सम्बन्ध में बुद्ध के निर्देश उपलब्ध हैं। वे कहते हैं कि रात्रि के के बीतने पर मुनि गाँव में पैठे, वहाँ न तो किसी का निमन्त्रण स्वीकार करे न किसी के द्वारा गाँव से लाये गये भोजन को; न मुनि गांव में आकर सहसा विचरण करे; चुपचाप भिक्षा करे और (भिक्षा के लिए) किसी भी प्रकार का संकेत करते हुए कोई बात न बोले। यदि कुछ मिले तो अच्छा है और न मिले तो भी ठीक, इस प्रकार दोनों अवस्थाओं में अविचलित रहकर वापस वन की ओर लौटे। गूंगे की तरह मौन हो, हाथ में पात्र लेकर वह मुनि थोड़ा दान मिलने पर उसकी अवहेलना न करे और न दाता का तिरस्कार करे।[3] भिक्षु असमय में विचरण न करे, समय पर ही भिक्षा के लिए गांव में पैठे। असमय में विचरण करनेवाले को आसक्तियां लग जाती हैं, इसलिए ज्ञानी पुरुष असमय में विचरण नहीं करते हैं।[4] धम्मपद एवं सुत्तनिपात में मुनि की भाषा-समिति के सम्बन्ध में भी उल्लेख है। धम्मपद में कहा है कि जो भिक्षु वाणी में संयत है, मितभाषी है तथा विनीत है वही धर्म और अर्थ को प्रकाशित करता है, उसका भाषण मधुर होता है।[5] सुत्तनिपात में भी इसी प्रकार अविवेकपूर्ण वचन नहीं बोलना चाहिए और विवेकपूर्ण वचन बोलना चाहिए, इसका निर्देश है।

इस प्रकार बुद्ध ने चाहे समिति शब्द का प्रयोग न किया हो, फिर भी उन्होंने जैन परम्परा के समान ही आवागमन, भाषा, भिक्षा एवं वस्तुओं का आदान-प्रदान व मल-मूत्र विसर्जन आदि का विचार किया है। बुद्ध के उपर्युक्त वचन यह स्पष्ट कर देते हैं कि इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण जैन परम्परा के निकट है।

वैदिक परम्परा और पाँच समितियाँ—वैदिक परम्परा में भी संन्यासी को गमनागमन की क्रिया काफी सावधानीपूर्वक करने का विधान है। मनु का कथन है कि

१. संयुत्तनिकाय, ३४।५।१।७।
२. विनयपिटक, ८।४।४।
३. सुत्तनिपात, ३७।३२-३५।
४. वही, २६।११।
५. धम्मपद, ३६३।

धानीपूर्वक उठाना या रखना जिससे किसी भी प्राणी की हिंसा न हो, आदान निक्षेपण समिति है। मुनि को वस्तुओं के उठाने-रखने आदि में काफी सजग रहना चाहिए। मुनि सर्वप्रथम वस्तु को अच्छी तरह देखे फिर उसे प्रमार्जित करे और उसके पश्चात् उसे उपयोग में लेवे।[1]

५. **मलमूत्रादिप्रतिस्थापना समिति**—आहार के साथ निहार लगा ही हुआ है। मुनि को शारीरिक मलों को इस प्रकार और ऐसे स्थानों पर डालना चाहिए जिससे न व्रत भंग हो और न लोग ही घृणा करें। मुनि के लिए परिहार्य वस्तुएँ निम्न हैं—मल, मूत्र, कफ, नाक एवं शरीर का मैल, अपथ्य आहार, अनावश्यक पानी, अनुपयोगी वस्त्र एवं मुनि का मृत शरीर।[2] भिक्षुक इन सब परिहार्य वस्तुओं को विवेकपूर्वक उचित स्थानों पर ही डाले।

परिहार के हेतु निषिद्ध स्थान—परिहार के हेतु निषिद्ध स्थान दो दृष्टियों से माने गए हैं—(१) व्रतभंग की दृष्टि से और (२) लोकापवाद की दृष्टि से। व्रतभंग की दृष्टि से मुनि नाली, पाखाने, जीवजन्तुयुक्त प्रदेश, हरी घास, कंदमूलादि वनस्पति से युक्त प्रदेश, खदान और नई फोड़ी हुई भूमि पर मल मूत्र आदि का विसर्जन न करे, क्योंकि ऐसे स्थानों पर मल-मूत्र आदि का विसर्जन करने से जीव-हिंसा होती है और साधु का अहिंसा महाव्रत भंग होता है। लोकापवाद की दृष्टि से भोजन पकाने के स्थान, गाय-बैल आदि पशुओं के स्थान, देवालय, नदी के किनारे, तालाब, स्तूप, श्मशान, सभागृह, उद्यान, उपवन, प्याऊ, किला, नगर के दरवाजे, नगर के मार्ग तथा वह स्थान जहाँ तीन-चार रास्ते मिलते हों, मनुष्यों का आवागमन होता हो, गाँव के अति निकट हो ऐसे स्थानों पर मल-मूत्र आदि का विसर्जन नहीं करना चाहिए।[3] मुनि को मल-मूत्र आदि अशुचि का विसर्जन करते समय इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि वह इस प्रकार डाला जावे कि जिससे शीघ्र ही सूख जावे और उसमें कृमि की उत्पत्ति की संभावना न रहे। सामान्यतया इस हेतु कंकरीली, कठोर, अचित्त और खुली हुई धूपयुक्त भूमि ही चुनना चाहिए।[4] उसे ऐसे स्थानों पर भी मल-मूत्र आदि का विसर्जन नहीं करना चाहिए कि उसके मल-मूत्र आदि को दूसरे मनुष्यों को उठाना पड़े। इस प्रकार उसे मल-मूत्र आदि के विसर्जन में काफी सावधानी और विवेक रखना चाहिए।

बौद्ध-परम्परा और पांच समितियां—बौद्ध-परम्परा में यद्यपि समिति शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं हुआ है जिस अर्थ में जैन-परम्परा में व्यवहृत है। फिर भी समिति का आशय बौद्ध परम्परा में भी स्वीकृत है। संयुत्तनिकाय में बुद्ध कहते हैं,

---

१. उत्तराध्ययन, २४।१४।
२. वही, २४।१५।
३. आचारांग, २।१०।
४. उत्तराध्ययन, २४।१७-१८।

"भिक्षुओ, भिक्षु आने-जाने में सचेत रहता है, देखने-भालने में सचेत रहता है। समेटने-पसारने में सचेत रहता है। संघाटी, पात्र और चीवर धारण करने में सचेत रहता है। पाखाना-पेशाब करने में सचेत रहता है। जाते, खड़े होते, बैठते, सोते, जागते, कहते, चुप रहते सचेत रहता है। भिक्षुओ, इस तरह भिक्षु सम्प्रज्ञ होता है[1]।" इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध पाँचों समितियों का विवेचन कर देते हैं। विनयपिटक में एवं सुत्तनिपात में भी अनेक आदेश इस सम्बन्ध में उपलब्ध हैं। मुनि की आवागमन की क्रिया विषय में विनयपिटक में उल्लेख है कि मुनि सावधानीपूर्वक मन्थर गति से गमन करे। गमन करते समय वरिष्ठ भिक्षुओं से आगे न चले, चलते समय दृष्टि नीचे रखे तथा जोर-जोर से हँसता हुआ और बातचीत करता हुआ न चले।[2] सुत्तनिपात में मुनि की भिक्षा वृत्ति के सम्बन्ध में बुद्ध के निर्देश उपलब्ध हैं। वे कहते हैं कि रात्रि के के बीतने पर मुनि गाँव में पैठे, वहाँ न तो किसी का निमन्त्रण स्वीकार करे न किसी के द्वारा गाँव से लाये गये भोजन को; न मुनि गांव में आकर सहसा विचरण करे; चुपचाप भिक्षा करे और (भिक्षा के लिए) किसी भी प्रकार का संकेत करते हुए कोई बात न बोले। यदि कुछ मिले तो अच्छा है और न मिले तो भी ठीक, इस प्रकार दोनों अवस्थाओं में अविचलित रहकर वापस वन की ओर लौटे। गूंगे की तरह मौन हो, हाथ में पात्र लेकर वह मुनि थोड़ा दान मिलने पर उसकी अवहेलना न करे और न दाता का तिरस्कार करे।[3] भिक्षु असमय में विचरण न करे, समय पर ही भिक्षा के लिए गाँव में पैठे। असमय में विचरण करनेवाले को आसक्तियां लग जाती हैं, इसलिए ज्ञानी पुरुष असमय में विचरण नहीं करते हैं।[4] धम्मपद एवं सुत्तनिपात में मुनि की भाषा-समिति के सम्बन्ध में भी उल्लेख है। धम्मपद में कहा है कि जो भिक्षु वाणी में संयत है, मितभाषी है तथा विनीत है वही धर्म और अर्थ को प्रकाशित करता है, उसका भाषण मधुर होता है।[5] सुत्तनिपात में भी इसी प्रकार अविवेकपूर्ण वचन नहीं बोलना चाहिए और विवेकपूर्ण वचन बोलना चाहिए, इसका निर्देश है।

इस प्रकार बुद्ध ने चाहे समिति शब्द का प्रयोग न किया हो, फिर भी उन्होंने जैन परम्परा के समान ही आवागमन, भाषा, भिक्षा एवं वस्तुओं का आदान-प्रदान व मल-मूत्र विसर्जन आदि का विचार किया है। बुद्ध के उपर्युक्त वचन यह स्पष्ट कर देते हैं कि इस सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण जैन परम्परा के निकट है।

वैदिक परम्परा और पांच समितियां—वैदिक परम्परा में भी संन्यासी को गमनागमन की क्रिया काफी सावधानीपूर्वक करने का विधान है। मनु का कथन है कि

---

१. संयुत्तनिकाय, ३४।५।१।७। २. विनयपिटक, ८।४।४।
३. सुत्तनिपात, ३७।३२-३५। ४. वही, २६।११।
५. धम्मपद, ३६३।

संन्यासी को बिना जीवों को कष्ट पहुँचाये चलना चाहिए।[1] महाभारत के शान्तिपर्व में भी मुनि को त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा को बचाकर ही गमनागमन की क्रिया करने का उल्लेख है। भाषासमिति के सन्दर्भ में भी दोनों परम्पराओं में विचारसाम्य है। मनु का कथन है कि मुनि को सदैव सत्य ही बोलना चाहिए।[2] महाभारत के शांति पर्व में भी वचन-विवेक का सुविस्तृत विवेचन है।[3] मुनि की भिक्षावृत्ति के सम्बन्ध में भी वैदिक परम्परा के कुछ नियम जैन-परम्परा के समान ही हैं। वैदिक परम्परा में भिक्षा से प्राप्त भोजन पांच प्रकार का माना गया है (१) माधुकर—जिस प्रकार मधु-मक्खी विभिन्न पुष्पों से उन्हें कोई कष्ट दिए बिना मधु एकत्रित करती है उसी प्रकार दाता को कष्ट दिए बिना तीन, पांच या सात घरों से जो भिक्षा प्राप्त की जाती है वह माधुकर है, (२) प्राक्प्रणीत—शयन स्थान से उठने के पूर्व ही भक्तों के द्वारा भोजन के लिए प्रार्थना कर दी जाती है और उससे जो भोजन प्राप्त होता है, वह प्राक्प्रणीत है, (३) अयाचित—भिक्षाटन करने के लिए उठने के पूर्व ही कोई भोजन के लिए निमन्त्रित कर दे, (४) तात्कालिक—संन्यासी के पहुँचते ही जब कोई ब्राह्मण भोजन करने की सूचना दे दे और (५) उपपन्न—मठ में लाया गया पका भोजन। इन पाँचों में माधुकर भिक्षा-वृत्ति को ही श्रेष्ठ माना गया है। जैन परम्परा की मधुकरी-भिक्षावृति वैदिक परम्परा में भी स्वीकृत की गई है। संन्यासी को भिक्षा के लिए गाँव में केवल एक ही बार जाना चाहिए और वह भी तब, जब कि रसोईघर से धुंआ निकलना बन्द हो चुका हो, अग्नि बुझ चुकी हो, बर्तन आदि अलग रख दिये गये हों।[4] निक्षेपण और प्रतिस्थापना समिति के सन्दर्भ में कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होता, फिर भी इतना निश्चित है कि वैदिक परम्परा का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में जैन परम्परा का विरोधी नहीं है।

इन्द्रियसंयम

जैन आचार-दर्शन में इन्द्रियसंयम श्रमण-जीवन का अनिवार्य कर्तव्य माना गया है। यदि मुनि इन्द्रियों पर संयम नहीं रखेगा तो वह नैतिक-जीवन में प्रगति नहीं कर सकेगा। क्योंकि अधिकांश पतित आचरणों का अवलम्बन व्यक्ति अपने इन्द्रिय-सुखों की प्राप्ति के लिए ही करता है। उत्तराध्ययनसूत्र में इसका सविस्तार विवेचन है कि किस प्रकार व्यक्ति इन्द्रिय-सुखों के पीछे अपने आचरण से पतित हो जाता है।[5] इन्द्रिय-संयम का यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियों को अपने विषयों के ग्रहण करने से रोक दिया जाय वरन् यह है कि

१. मनुस्मृति, ६।४०, देखिए, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४९२, ४९४, महाभारत शां०, ९।१९।
२. मनुस्मृति, ६।४६। ३. महाभारत शां०, १०९।१५-१९।
४. देखिए—धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ४९२, महाभारत शां० ९।२१-२४।
५. देखिए—उत्तराध्ययन, अध्ययन ३२।

हमारे मन में इन्द्रियों के विषयों के प्रति जो रागद्वेष के भाव उत्पन्न होते हैं उनका नियमन किया जाय। उत्तराध्ययनसूत्र एवं आचारांगसूत्र में इसका पर्याप्त स्पष्टीकरण किया गया है।[1] संक्षेप में श्रमण (मुनि) का यह कर्तव्य माना गया है कि वह अपनी पांचों इन्द्रियों पर संयम रखे और जहाँ भी संयम मार्ग से पतन की संभावना हो, वहाँ इन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति का संयम करे। जिस प्रकार कछुवा संकट की स्थिति में अपने अंगों का समाहरण कर लेता है, उसी प्रकार मुनि भी संयम के पतन के स्थानों में इन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति का समाहरण करे।[2] जो मुनि जल में कमल के समान इन्द्रियों के विषयों की प्रवृत्ति को करते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होता वह संसार के दुःखों से मुक्त हो जाता है।[3]

बौद्ध एवं वैदिक परम्परा में इन्द्रिय-निग्रह—बौद्ध-परम्परा में भी भिक्षु के लिए इन्द्रिय-संयम आवश्यक माना गया है। धम्मपद में बुद्ध कहते हैं कि आँख का संयम उत्तम है, कान का संयम उत्तम है, घ्राण और रसना का संयम भी उत्तम है। शरीर और वचन तथा मन का संयम भी उत्तम है। जो भिक्षु सर्वत्र सभी इन्द्रियों का संयम रखता है वह दुःखों से मुक्त हो जाता है।[4] संयुत्तिनिकाय में कछुवे की उपमा देते हुए बुद्ध कहते हैं कि कछुवा जैसे अपने अंगों को अपनी खोपड़ी में समेट लेता है, वैसे ही भिक्षु भी अपने को मन के वितर्कों से समेट ले।[5]

वैदिक परम्परा में भी संन्यासी के लिए इन्द्रियसंयम आवश्यक है। गीता में स्थितप्रज्ञ मुनि के लक्षण में कहा गया है कि जिसकी इन्द्रियाँ वशीभूत हैं वही स्थितप्रज्ञ है।[6] गीता भी जैन और बौद्ध परम्पराओं के समान कछुवे का उदाहरण देते हुए कहती है कि ज्ञाननिष्ठा में स्थित संन्यासी कछुवे के समान अर्थात् जैसे कछुवा भय के कारण सब ओर से अपने अंगों को संकुचित कर लेता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण विषयों से अपनी इन्द्रियों को समेट लेता है और तब ही उसकी बुद्धि स्थिर कही जाती है।[7] गीता भी इन्द्रिय-संयम का अर्थ इन्द्रियों के विषयों के प्रति होने वाले राग-द्वेष के भावों का निग्रह ही मानती है।[8] इस प्रकार जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराएँ मुनि के लिए इन्द्रियसंयम को आवश्यक मानती हैं।

परीषह

परीषह—शब्द का अर्थ है कष्टों को समभावपूर्वक सहन करना। यद्यपि तपश्चर्या

---

१. देखिए—उत्तराध्ययन अध्ययन, ३२। आचारांग, २।१५।१।१८०।
२. सूत्र-कृतांग, १।८।१।१६।
३. उत्तराध्ययन, ३२।९९।
४. धम्मपद, ३६०-३६१।
५. संयुत्तनिकाय, १।२।७।
६. गीता, २।६१।
७. वही, २।५८।
८. वही, २।५९, ६४।

में भी कष्टों को सहन किया जाता है, लेकिन तपश्चर्या और परीषह में अन्तर है। तपश्चर्या में स्वेच्छा से कष्ट सहन किया जाता है, जबकि परीषह में स्वेच्छा से कष्ट सहन नहीं किया जाता, वरन् मुनि जीवन के नियमों का परिपालन करते हुए आकस्मिक रूप से यदि कोई संकट उपस्थित हो जाता है तो उसे सहन किया जाता है। कष्ट-सहिष्णुता मुनि-जीवन के लिए आवश्यक है, क्योंकि यदि वह कष्ट-सहिष्णु नहीं रहता है तो वह अपने नैतिक पथ से कभी भी विचलित हो जायेगा।

जैन मुनि के जीवन में आने वाले कष्टों का विवेचन उत्तराध्ययन और समवायांग में है। जैन परम्परा में २२ परीषह माने गए हैं—[१]

१. क्षुधा परीषह—भूख से अत्यन्त पीड़ित होने पर भी भिक्षु नियम-विरुद्ध आहार ग्रहण न करे, वरन् समभावपूर्वक भूख की वेदना सहन करे।

२. तृषा परीषह—प्यास से व्याकुल होने पर भी मुनि नियम के प्रतिकूल सचित्त जल न पिये वरन् प्यास की वेदना सहन करे।

३. शीत परीषह—वस्त्राभाव या वस्त्रों की न्यूनता के कारण शीत-निवारण न हो तो भी आग से ताप कर अथवा मुनि-मर्यादा के विरुद्ध शय्या को ग्रहण कर उस शीत की वेदना का निवारण नहीं करे।

४. उष्ण परीषह—ग्रीष्म ऋतु में गर्मी के कारण शरीर में व्याकुलता हो तो भी स्नान या पंखे आदि के द्वारा हवा करके गर्मी को शांत करने का यत्न न करे।

५. दंश-मशक परीषह—डांस, मच्छर आदि के काटने के कारण दुःख उत्पन्न हो तो भी उन पर क्रोध न करे, उन्हें त्रास न दे, वरन् उपेक्षाभाव रखे।

६. अचेल परीषह—वस्त्रों के अभाव एवं न्यूनता की स्थिति में मुनि वस्त्राभाव की चिन्ता न करे और न मुनि-मर्यादा के विरुद्ध वस्त्र ग्रहण ही करे।

७. अरति परीषह—मुनि-जीवन में सुख-सुविधाओं का अभाव है इस प्रकार का विचार न करे। संयम में अरुचि हो तो भी मन लगाकर उसका पालन करे।

८. स्त्री परीषह—स्त्री-संग को आसक्ति, वन्धन और पतन का कारण जानकर स्त्री-संसर्ग की इच्छा न करे और उनसे दूर रहे। साध्वियों के संदर्भ में यहाँ पुरुष परीषह समझना चाहिए।

९. चर्या-परीषह—पदयात्रा में कष्ट होने पर भी चातुर्मास काल को छोड़कर गाँव में एक रात्रि और नगर में पाँच रात्रि से अधिक न रुकता हुआ सदैव भ्रमण —— रहे। मुनि के लिए एक स्थान पर मर्यादा से अधिक रुकना निषिद्ध है।

---

४. देखिए—उत्तराध्ययन अध्ययन, २, समवायांग, २२।१।

१०. निषद्या परीषह—स्वाध्याय आदि के हेतु एकासन से बैठना पड़े अथवा बैठने के लिए विषम भूमि उपलब्ध हो तो भी मन में दुःखित न होकर उस कष्ट को सहन करे।

११. शय्या परीषह—ठहरने अथवा सोने के लिए विषम भूमि हो तथा तृण पराल आदि भी उपलब्ध न हो तो उस कष्ट को सहन करे और श्मशान, शून्य गृह या वृक्षमूल में ही ठहर जावे।

१२. आक्रोश परीषह—यदि कोई भिक्षु को कठोर एवं कर्कश शब्द कहे अथवा अपशब्द कहे तो भी उन्हें सहन कर उसके प्रति क्रोध न करे।

१३. वध परीषह—यदि कोई मुनि को लकड़ी आदि से मारे अथवा अन्य प्रकार से उसका वध या ताड़न करे तो भी उस पर समभाव रखे।

१४. याचना परीषह—भिक्षावृत्ति में सम्मान को ठेस लगती है तथा आवश्यक वस्तुएँ सुलभता से प्राप्त नहीं होती हैं ऐसा विचार कर मन में दुःखी न हो, वरन् मुनि मर्यादा का पालन करते हुए भिक्षावृत्ति करे।

१५. अलाभ परीषह—वस्त्र, पात्र आदि सामग्री अथवा आहार प्राप्त नहीं होने पर भी मुनि समभाव रखे और तद्जन्य अभाव के कष्ट को सहन करे।

१६. रोग परीषह—शरीर में व्याधि उत्पन्न होने पर भी भिक्षु चिकित्सा के सम्बन्ध में अधीर न होकर उस रोग की वेदना को समभावपूर्वक सहन करे।

१७. तृण परीषह—तृण आदि की शय्या में सोने से तथा मार्ग में नंगे पैर चलने से तृण या कांटे आदि के चुभने की वेदना को समभाव से सहन करे।

१८—मल परीषह—वस्त्र या शरीर पर पसीने एवं धूल आदि के कारण मैल जम जावे तो भी उद्विग्न न होकर उसे सहन करे।

१९. सत्कार परीषह—जनता द्वारा मान-सम्मान के प्राप्त होने पर भी प्रसन्न या खिन्न न होकर समभाव रखे।

२०. प्रज्ञा परीषह—भिक्षु के बुद्धिमान् होने के कारण लोग आकर उससे विवादादि करें तो भी खिन्न होकर यह विचार नहीं करे कि इससे तो अज्ञानी होना अच्छा था।

२१. अज्ञान परीषह—यदि भिक्षु की बुद्धि मन्द हो और शास्त्र आदि का अध्ययन न कर सके तो भी खिन्न नहीं होते हुए अपनी साधना में लगे रहना चाहिए।

२२. दर्शन परीषह—अन्य सम्प्रदायों और उनके महन्तों का आडम्बर देखकर यह विचार नहीं करना चाहिए कि देखो इनकी कितनी प्रतिष्ठा है और शुद्ध मार्ग पर चलते हुए भी मेरी कोई प्रतिष्ठा नहीं है। इस प्रकार आडम्बरों को देखकर उत्पन्न हुई अश्रद्धा को मिटाना दर्शन परीषह है।

बौद्ध परम्परा और परीषह्—भगवान् बुद्ध ने भी भिक्षु-जीवन में आने वाले कष्टों को समभावपूर्वक सहन करने का निर्देश दिया है। अंगुत्तरनिकाय में वे कहते हैं—भिक्षुओ जो दुःखपूर्ण, तीव्र, प्रखर, कटु, प्रतिकूल, बुरी, प्राणहर शारीरिक वेदनाएँ हों उन्हें सहन करने का प्रयत्न करना चाहिए।[1] सुत्तनिपात में भी वे कहते हैं कि धीर, स्मृतिवान्, संयत आचरणवाला भिक्षु डसने वाली मक्खियों से, सर्पों से, पापी मनुष्यों के द्वारा दी जानेवाली पीड़ा से, तथा चतुष्पदों से भयभीत न हो। दूसरी सभी बाधाओं का सामना करे। रोग-पीड़ा, भूख-वेदना तथा शीत-उष्ण को सहन करे। अनेक प्रकार से पीड़ित होने पर भी वीर्य तथा पराक्रम को दृढ़ करे।[2] संयुत्तनिकाय में भिक्षु के सत्कार परीषह के सम्बन्ध में कहा गया है कि जिस प्रकार केले का फल केले को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार सत्कार-सम्मान कापुरुष को नष्ट कर देता है। अतः सत्कार पाकर भिक्षु प्रसन्न न हो।[3]

इस प्रकार बौद्ध परम्परा में भी भिक्षु का कष्ट सहिष्णु होना आवश्यक है। इतना ही नहीं, बुद्ध ने कष्ट सहिष्णुता के लिए परीषह शब्द का प्रयोग भी किया है।[4] फिर भी परीषह के सम्बन्ध में जैन और बौद्ध परम्पराओं में थोड़ा अन्तर है। जैन परम्परा में परीषह सहन करना निर्वाणमार्ग में एक साधक तत्त्व ही समझा गया है। जबकि बौद्ध परम्परा उसे निर्वाण मार्ग का बाधक तत्त्व समझती है और उन्हें दूर करने का निर्देश भी देती है। बौद्ध आचार्यों ने परीषह (परिस्सया) का अर्थ बाधा ही किया है। सुत्तनिपात में बुद्धवचन है कि निर्वाण की ओर जानेवाले मार्ग में कितनी ही बाधाएँ (परिस्सया) हैं। भिक्षु प्रज्ञापूर्वक कल्याणरत हो, उन बाधाओं को दूर करे।[5] इस प्रकार बुद्ध परीषह सहन करने की अपेक्षा उसे दूर करना उचित समझते हैं। परीषह के मूल मन्तव्य की दृष्टि से तो दोनों ही परम्पराएँ समान हैं। दोनों में मात्र दृष्टिकोण का ही अन्तर है।

वैदिक परम्परा और परीषह्—वैदिक परम्परा में भी मुनि के लिए कष्ट सहिष्णु होना आवश्यक है। वैदिक परम्परा तो यहाँ तक विधान करती है कि मुनि को जानबूझकर अनेक प्रकार के कष्ट सहन करने चाहिए। उसे कठिन तपस्या करनी चाहिए और अपने शरीर को भाँतिभाँति के कष्ट देकर सब कुछ सह सकने का अभ्यासी बने रहना चाहिये। मनु का कहना है कि वानप्रस्थी को पंचाग्नि के बीच खड़े होकर, वर्षा में

---

१. अंगुत्तरनिकाय, ३।४९।
२. सुत्तनिपात, ५४।१०-१२।
३. संयुत्तनिकाय, १।६।१२।
४. सुत्तनिपात, ५४।६।
५. वही, ५४।६,१५।

बाहर खड़े होकर और जाड़े में भीगे वस्त्र धारण कर कष्ट सहन करना चाहिये।[1] उसे खुली भूमि पर सोना चाहिए और रोग हो जाय तो भी चिंता नहीं करनी चाहिए।[2] इस प्रकार वैदिक परम्परा में संन्यासी के लिए कष्ट-सहिष्णु होना आवश्यक है और इस सम्बन्ध में जैन तथा वैदिक परम्पराएँ समान दृष्टिकोण रखती हैं। फिर भी दोनों परम्पराओं में किंचित् अन्तर है। और वह यह है कि वैदिक परम्परा न केवल सहज भाव से उपस्थित हो जाने वाले कष्टों को सहन करने की बात कहती है, वरन् उससे भी आगे बढ़कर वह स्वेच्छापूर्वक कष्टों के आमन्त्रण को भी उचित समझती है।

श्रमण कल्प

जैन आचार-दर्शन में श्रमण के लिए दस कल्पों का विधान है। कल्प (कप्प) शब्द का अर्थ है आचार-विचार के नियम। कल्प शब्द न केवल जैन परम्परा में आचार के नियमों का सूचक है वरन् वैदिक परम्परा में भी कल्प शब्द आचार के नियमों का सूचक है। वैदिक परम्परा में कल्पसूत्र नाम के ग्रन्थ में गृहस्थ और त्यागी ब्राह्मणों के आचारों का वर्णन है।

जैन परम्परा में निम्न दस कल्प माने गये हैं—(१) आचेलक्य कल्प, (२) औद्देशिक कल्प, (३) शय्यातर कल्प, (४) राजपिण्ड कल्प, (५) कृतिकर्म कल्प, (६) व्रत कल्प, (७) ज्येष्ठ कल्प, (८) प्रतिक्रमण कल्प, (९) मास कल्प और (१०) पर्युषण कल्प।[3]

(१) आचेलक्य कल्प—आचेलक्य शब्द की व्युत्पत्ति अचेलक शब्द से हुई है। चेल वस्त्र का पर्यायवाची है, अतः अचेलक का अर्थ है वस्त्र रहित। दिगम्बर परम्परा के अनुसार आचेलक्य कल्प का अर्थ है मुनि को वस्त्र धारण नहीं करना चाहिए। श्वेताम्बर परम्परा अचेल शब्द को अल्पवस्त्र का सूचक मानती है और इसलिये उनके अनुसार आचेलक्य कल्प का अर्थ है कम से कम वस्त्र धारण करना।

(२) औद्देशिक कल्प—औद्देशिक कल्प का अर्थ यह है कि मुनि को उनके निमित्त बनाये गये, लाये गये अथवा खरीदे गये आहार, पेय पदार्थ, वस्त्र, पात्र आदि उपकरण तथा निवासस्थान को ग्रहण नहीं करना चाहिये। इतना ही नहीं, किसी भी श्रमण अथवा श्रमणी के निमित्त बनाये गये या लाये गये पदार्थों का उपभोग सभी श्रमण और श्रमणियों के लिए वर्जित है। महावीर के पूर्व तक परम्परा यह थी कि जैन श्रमण अपने स्वयं के लिए बनाये गये आहार आदि का उपभोग नहीं कर सकता था। लेकिन वह दूसरे श्रमणों के लिए बनाये गये आहार आदि का उपभोग कर सकता था।

१. मनुस्मृति, ६।२३, ३४, देखिए धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४८५।
२. मनुस्मृति, ६।४३,४६, देखिए धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४९४।
३. (अ) भगवतीआराधना, ४२३। (ब) मूलाचार—समयसाराधिकार ११८।
(स) पंचाशक १७।६-४०।

महावीर ने इस नियम को संशोधित कर किसी भी श्रमण के लिए बने औद्देशिक आहार आदि पदार्थों का ग्रहण वर्जित माना।

(३) शय्यातर कल्प—श्रमण अथवा श्रमणी जिस व्यक्ति के आवास (मकान) में निवास करें उसके यहाँ से किसी भी पदार्थ का ग्रहण करना वर्जित है।

(४) राजपिंड कल्प—राजभवन से राजा के निमित्त बनाये गये किसी भी पदार्थ का ग्रहण नहीं करना वर्जित है।

(५) कृतिकर्म कल्प—दीक्षा वय में ज्येष्ठ श्रमणों के आने पर उनके सम्मान में खड़ा हो जाना तथा यथाक्रम ज्येष्ठ मुनियों को वन्दन करना कृतिकर्म कल्प है। यहाँ विशेष स्मरणीय यह है कि साध्वी के लिए अपने से कनिष्ठ श्रमणों को भी वन्दन करने का विधान है। एक दीक्षा-वृद्ध साध्वी के लिए भी नव दीक्षित श्रमण के वन्दन का विधान है। सम्भवत: इसके पीछे हमारे देश की पुरुषप्रधान सभ्यता का ही प्रभाव है।

(६) व्रत कल्प—सभी श्रमण एवं श्रमणियों को पंच महाव्रतों का अप्रमत्त भाव से मन, वचन और काया के द्वारा पालन करना चाहिए। यह उनका व्रत कल्प है। महावीर के पूर्व अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य दोनों एक ही व्रत के अन्तर्गत थे। पार्श्वनाथ तक चातुर्याम धर्म की व्यवस्था थी। महावीर ने पार्श्वनाथ के चातुर्याम के स्थान पर पंच महाव्रत का विधान किया।[1]

(७) ज्येष्ठ कल्प—जैन आचारदर्शन में दीक्षा दो प्रकार की मानी गई है—१. छोटी दीक्षा और २. बड़ी दीक्षा। छोटी दीक्षा परीक्षारूप है। इसमें मुनिवेश धारण किया जाता है, लेकिन व्यक्ति को श्रमण-संघ में प्रवेश नहीं दिया जाता है। व्यक्ति को योग्य पाने पर ही श्रमण संघ में प्रवेश देकर बड़ी दीक्षा दी जाती है। प्रथम को सामायिक चारित्र और दूसरे को छेदोपस्थापनाचारित्र कहा जाता है। छेदोपस्थापनाचारित्र के आधार पर ही मुनि को श्रमण-संस्था में ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ माना जाता है। महावीर के पूर्व इन दो दीक्षाओं का विधान नहीं था। दीक्षा ग्रहण करने के दिन से ही व्यक्ति को श्रमण संस्था में प्रवेश दे दिया जाता था। लेकिन महावीर ने इन दो दीक्षाओं का विधान किया और छेदोपस्थापना चारित्र के आधार पर ही श्रमण-संघ में व्यक्ति की ज्येष्ठता और कनिष्ठता निर्धारित की।

(८) प्रतिक्रमण कल्प—प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमण कल्प है। महावीर के पूर्व तक पार्श्वनाथ की परम्परा में दोष लगने पर ही प्रायश्चित स्वरूप प्रतिक्रमण किया जाता था। महावीर ने दोनों समय प्रतिक्रमण करना अनिवार्य बना दिया।

---

१. देखिए—उत्तराध्ययन अध्ययन, २३, सूत्रकृतांग २।१६।

(९) मास कल्प—श्रमण के लिए सामान्य नियम यह है कि वह ग्राम में एक रात्रि और नगर में पाँच रात्रि से अधिक न ठहरे। लेकिन महावीर ने श्रमण के लिए अधिक से अधिक एक स्थान पर एक मास तक ठहरने की अनुमति प्रदान की और एक मास से अधिक ठहरना निषिद्ध बताया। साध्वियों के लिए यह मर्यादा दो मास मानी गई है। यह मर्यादा चातुर्मास-काल को छोड़कर शेष आठ मास ही के लिए है। वस्तुतः सतत भ्रमण से ही जहां एक ओर अनासक्तवृत्ति बनी रहती है, वहीं दूसरी ओर अधिकाधिक जन संपर्क और जन कल्याण भी संभव होता है।

१०. पर्युषण कल्प—चातुर्मास काल में एक स्थान पर रहकर तप, संयम और ज्ञान की आराधना करना पर्युषण कल्प है। चातुर्मास काल में स्थित मुनि को इसके लिए विशेष प्रयत्न करना चाहिए।

बौद्ध परम्परा और कल्पविधान—जैन परम्परा के दस कल्पों को प्रकारान्तर से बौद्ध परम्परा में भी खोजा जा सकता है। जैन परम्परा के आचेलक्य-कल्प का अर्थ यदि श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार अल्प वस्त्र धारण किया जाता है तो वह बौद्ध परम्परा में भी स्वीकृत है। बौद्ध भिक्षु दीक्षित होने के समय ही यह निश्चय करता है कि मैं अल्प एवं जीर्ण वस्त्रों में ही संतुष्ट रहूँगा।[1] बुद्ध ने भिक्षु के लिए मर्यादा से अधिक वस्त्र रखने का निषेध किया है। जहाँ तक औद्देशिक कल्प का प्रश्न है बुद्ध ने केवल औद्देशिक प्राणिहिंसा से निर्मित मांस आदि के आहार को ही निषिद्ध माना है। सामान्य भोजन, वस्त्र-पात्र तथा आवास के सम्बन्ध में बुद्ध औद्देशिकता को स्वीकार नहीं करते हैं। उन्होंने उसे ऐसे भोजन, वस्त्र-पात्र एवं आवास को ग्रहण योग्य माना है। वे निमंत्रित भोजन को निषिद्ध नहीं मानते हैं। शय्यातर और राज-पिण्ड-कल्प के सम्बन्ध में बौद्ध परम्परा में कोई नियम देखने में नहीं आया। कृतिकर्म कल्प के सम्बन्ध में जैन और बौद्ध परम्पराएँ समान दृष्टिकोण रखती हैं। बौद्ध परम्परा में भी दीक्षा-वय में ज्येष्ठ भिक्षु के आने पर उसके सम्मान में खड़ा होना तथा ज्येष्ठ भिक्षुओं को वंदन करना अनिवार्य है। इतना ही नहीं बुद्ध ने दीक्षावृद्ध श्रमणी के लिए भी छोटे-बड़े सभी भिक्षुओं को वन्दन करने का विधान किया है। भिक्षुणी के आठ गुरु धर्मों में (अट्ठगुरुधम्मा) में सबसे पहला नियम यही है।[2] जिस प्रकार जैन परम्परा में व्रत कल्प के रूप में पांच महाव्रतों के पालन का विधान है उसी प्रकार बौद्ध परम्परा में भी दस भिक्षु शीलों के पालन का विधान है। जैन परम्परा के ज्येष्ठ कल्प के समान बौद्ध परम्परा में भी दो प्रकार की दीक्षाओं का विधान है, जिन्हें श्रामणेर दीक्षा और उपसम्पदा कहा गया है। श्रामणेर दीक्षा परीक्षास्वरूप होती है और उसमें दस भिक्षु-शीलों की प्रतिज्ञा की जाती है। यह दीक्षा कोई भी भिक्षु दे

---

१. विनयपिटक—महावग्ग १।२।६।   २. विनयपिटक—चूलवग्ग १०।१।२।

महावीर ने इस नियम को संशोधित कर किसी भी श्रमण के लिए बने औद्देशिक आहार आदि पदार्थों का ग्रहण वर्जित माना।

(३) शय्यातर कल्प—श्रमण अथवा श्रमणी जिस व्यक्ति के आवास (मकान) में निवास करें उसके यहाँ से किसी भी पदार्थ का ग्रहण करना वर्जित है।

(४) राजपिंड कल्प—राजभवन से राजा के निमित्त बनाये गये किसी भी पदार्थ का ग्रहण नहीं करना वर्जित है।

(५) कृतिकर्म कल्प—दीक्षा वय में ज्येष्ठ श्रमणों के आने पर उनके सम्मान में खड़ा हो जाना तथा यथाक्रम ज्येष्ठ मुनियों को वन्दन करना कृतिकर्म कल्प है। यहाँ विशेष स्मरणीय यह है कि साध्वी के लिए अपने से कनिष्ठ श्रमणों को भी वन्दन करने का विधान है। एक दीक्षा-वृद्ध साध्वी के लिए भी नव दीक्षित श्रमण के वन्दन का विधान है। सम्भवतः इसके पीछे हमारे देश की पुरुषप्रधान सभ्यता का ही प्रभाव है।

(६) व्रत कल्प—सभी श्रमण एवं श्रमणियों को पंच महाव्रतों का अप्रमत्त भाव से मन, वचन और काया के द्वारा पालन करना चाहिए। यह उनका व्रत कल्प है। महावीर के पूर्व अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य दोनों एक ही व्रत के अन्तर्गत थे। पार्श्वनाथ तक चातुर्याम धर्म की व्यवस्था थी। महावीर ने पार्श्वनाथ के चातुर्याम के स्थान पर पंच महाव्रत का विधान किया।[1]

(७) ज्येष्ठ कल्प—जैन आचारदर्शन में दीक्षा दो प्रकार की मानी गई है–१. छोटी दीक्षा और २. बड़ी दीक्षा। छोटी दीक्षा परीक्षारूप है। इसमें मुनिवेश धारण किया जाता है, लेकिन व्यक्ति को श्रमण-संघ में प्रवेश नहीं दिया जाता है। व्यक्ति को योग्य पाने पर ही श्रमण संघ में प्रवेश देकर बड़ी दीक्षा दी जाती है। प्रथम को सामायिक चारित्र और दूसरे को छेदोपस्थापनाचारित्र कहा जाता है। छेदोपस्थापनाचारित्र के आधार पर ही मुनि को श्रमण-संस्था में ज्येष्ठ अथवा कनिष्ठ माना जाता है। महावीर के पूर्व इन दो दीक्षाओं का विधान नहीं था। दीक्षा ग्रहण करने के दिन से ही व्यक्ति को श्रमण संस्था में प्रवेश दे दिया जाता था। लेकिन महावीर ने इन दो दीक्षाओं का विधान किया और छेदोपस्थापना चारित्र के आधार पर ही श्रमण-संघ में व्यक्ति की ज्येष्ठता और कनिष्ठता निर्धारित की।

(८) प्रतिक्रमण कल्प—प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल प्रतिक्रमण करना प्रतिक्रमण कल्प है। महावीर के पूर्व तक पार्श्वनाथ की परम्परा में दोष लगने पर ही प्रायश्चित स्वरूप प्रतिक्रमण किया जाता था। महावीर ने दोनों समय प्रतिक्रमण करना अनिवार्य बना दिया।

---

१. देखिए—उत्तराध्ययन अध्ययन, २३, सूत्रकृतांग २।१६।

प्रतिपादन नहीं है। प्रतिक्रमण-कल्प का एक विशिष्ट नियम के रूप में वैदिक परम्परा में कोई निर्देश नहीं है, यद्यपि प्रायश्चित्त की परम्परा वैदिक परम्परा में भी मान्य है। जहाँ तक चातुर्मासकाल को छोड़कर शेष समय में भ्रमण के विधान का प्रश्न है, जैन और वैदिक परम्पराएँ लगभग समान ही हैं। वैदिक परम्परा के अनुसार भी संन्यासी को आषाढ़ पूर्णिमा से लेकर चार या दो महीने तक एक स्थान पर रुकना चाहिए और शेष समय गाँव में एक रात्रि और नगर में पाँच रात्रि से अधिक न रुकते हुए भ्रमण करना चाहिए।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा के कल्प-विधान की बौद्ध और वैदिक परम्पराओं से बहुत कुछ समानता है, यद्यपि जैन परम्परा में जिस औद्देशिक कल्प पर अधिक जोर दिया जाता है, उसका विधान बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में नहीं मिलता है। इसका मूल कारण यह है कि जैन-परम्परा में अहिंसा के पालन के लिए जितनी सूक्ष्मता से विचार किया गया, इतनी सूक्ष्मता से उसके पालन का विचार बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में नहीं रखा गया। फिर भी मूल मन्तव्य की दृष्टि से उनमें बहुत अधिक दूरी नहीं है, यद्यपि यह निश्चित है कि जैन-परम्परा में मुनि-जीवन के नियमों की जो कठोरता है, वह बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में नहीं है। जैन-परम्परा में यह कठोरता उसके अहिंसा के सूक्ष्म विचार के कारण ही आयी है। अगले पृष्ठों में हम मुनि-जीवन के नियमों की चर्चा करते हुए इसे स्पष्टरूप में देख सकेंगे।

जैन-परम्परा में भिक्षु-जीवन के सामान्य नियम—जैनपरम्परा में भिक्षु-जीवन के नियमों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। उनमें कुछ नियम ऐसे हैं, जिनका भंग करने पर भिक्षु श्रमण-जीवन से च्युत हो जाता है। ऐसे नियमों में इक्कीस शबल दोष तथा बावन अनाचीर्ण प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त कुछ सामान्य नियम ऐसे हैं, जिनका भंग करने से यद्यपि भिक्षु श्रमण-जीवन से च्युत तो नहीं होता फिर भी उसके सामान्य जीवन की पवित्रता मलिन होती है। नीचे हम इन विभिन्न नियमों की चर्चा करेंगे।

शबल दोष—शबल दोष जैन भिक्षु के लिए सर्वथा त्याज्य है। आचार्य अभयदेव के अनुसार जिन कार्यों के करने से चारित्र की निर्मलता नष्ट हो जाती है तथा चारित्र मलक्लिन्न होने के कारण छिन्न-भिन्न हो जाता है, वे कार्य शबल दोष हैं।[1] जैन-परम्परा में शबल दोष इक्कीस हैं[2]—जैसे १. हस्त मैथुन करना, २. स्त्री-स्पर्श एवं मैथुन का सेवन करना, ३. रात्रि में भोजन करना एवं भिक्षा ग्रहण करना, ४. मुनि के

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४९१।

१. समवायांगटीका २१।१। २. समवायांग, २१।१।

सकता है। लेकिन उपसम्पदा देने के लिए पांच अथवा दस भिक्षुओं के भिक्षु-संघ का होना आवश्यक है,[१] क्योंकि उपसम्पदा जैन-परम्परा के छेदोपस्थापनीय चारित्र के समान भिक्षु की संघ में प्रविष्टि है। संघ ही व्यक्ति को संघ में प्रवेश दे सकता है, व्यक्ति नहीं। बौद्ध-परम्परा में भी व्यक्ति की संघ में वरिष्ठता एवं कनिष्ठता उसकी उपसम्पदा की तिथि से ही मानी जाती है। प्रतिक्रमण-कल्प के समान बौद्ध धर्म में प्रवारणा की व्यवस्था है, जिसमें प्रति पन्द्रहवें दिन भिक्षु-संघ एकत्र होकर उक्त समयावधि में आचारित पापों का प्रायश्चित्त करता है। प्रवारणा की विधि बहुत कुछ जैन प्रतिक्रमण से मिलती है, बौद्ध परम्परा में भी जैन परम्परा के मास-कल्प के समान भिक्षुओं का चातुर्मासकाल के अतिरिक्त एक स्थान पर रुकना वर्जित माना गया है। बौद्ध परम्परा भी भिक्षु जीवन में सतत भ्रमण को आवश्यक मानती है। उसके अनुसार भी सतत भ्रमण के द्वारा जन-कल्याण और भिक्षु-जीवन में अनासक्त वृत्ति का निर्माण होता है। जैन, परम्परा के पर्युषण-कल्प के समान बौद्ध-परम्परा में भी चातुर्मास-काल में एक स्थान पर रुककर धर्म की विशेष आराधना को महत्त्व दिया गया है। इस प्रकार भिक्षु-जीवन के उपर्युक्त विधानों के संदर्भ में जैन और बौद्ध परम्पराओं में काफी निकटता है।

वैदिक परम्परा और कल्पविधान—जैन-परम्परा के दस कल्पों में कुछ का विधान वैदिक परम्परा में भी दृष्टिगोचर होता है। जैन-परम्परा के आचेलक्य कल्प के समान वैदिक परम्परा में भी संन्यासी के लिए या तो नग्न रहने का विधान है अथवा जीर्णशीर्ण अल्प वस्त्र धारण करने का विधान है।[२] औद्देशिक कल्प वैदिक परम्परा में स्वीकृत नहीं है, यद्यपि भिक्षावृत्ति को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। उच्चकोटि के संन्यासियों के लिए सभी वर्णों के यहाँ की भिक्षा को ग्राह्य माना गया है। वैदिक-परंपरा में शय्यातर और राजपिण्ड-कल्प का कोई विधान दिखाई नहीं दिया। वैदिक परम्परा में भी जैन-परम्परा के कृतिकर्म-कल्प के समान यह स्वीकार किया गया है कि दीक्षा की दृष्टि से ज्येष्ठ संन्यासी के आने पर उसके सम्मान में खड़ा होना चाहिए तथा ज्येष्ठ संन्यासियों को प्रणाम करना चाहिए। वैदिक परम्परा में अभिवादन के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के नियमों का विधान है,[३] जिसकी विस्तृत चर्चा में जाना यहाँ संभव नहीं है। वैदिक परम्परा में जैन परम्परा के समान मुनि के लिए पंच महाव्रतों का पालन आवश्यक है, जिसकी तुलना व्रत-कल्प से कर सकते हैं। जैन-परम्परा की दो प्रकार की दीक्षाओं की तुलना वैदिक परम्परा में वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम से की जा सकती है। यद्यपि यह स्मरण रखना चाहिए कि वैदिक परम्परा में संन्यासियों के सम्बन्ध में इतना विस्तृत

---

१. बुद्धिज्म, पृ० ७७-७८। २. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४९४।
३. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० २३७-२४१।

प्रतिपादन नहीं है। प्रतिक्रमण-कल्प का एक विशिष्ट नियम के रूप में वैदिक परम्परा में कोई निर्देश नहीं है, यद्यपि प्रायश्चित्त की परम्परा वैदिक परम्परा में भी मान्य है। जहाँ तक चातुर्मासकाल को छोड़कर शेष समय में भ्रमण के विधान का प्रश्न है, जैन और वैदिक परम्पराएँ लगभग समान ही हैं। वैदिक परम्परा के अनुसार भी संन्यासी को आषाढ़ पूर्णिमा से लेकर चार या दो महीने तक एक स्थान पर रुकना चाहिए और शेष समय गाँव में एक रात्रि और नगर में पाँच रात्रि से अधिक न रुकते हुए भ्रमण करना चाहिए।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा के कल्प-विधान की बौद्ध और वैदिक परम्पराओं से बहुत कुछ समानता है, यद्यपि जैन परम्परा में जिस औद्देशिक कल्प पर अधिक जोर दिया जाता है, उसका विधान बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में नहीं मिलता है। इसका मूल कारण यह है कि जैन-परम्परा में अहिंसा के पालन के लिए जितनी सूक्ष्मता से विचार किया गया, इतनी सूक्ष्मता से उसके पालन का विचार बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में नही रखा गया। फिर भी मूल मन्तव्य की दृष्टि से उनमें बहुत अधिक दूरी नहीं है, यद्यपि यह निश्चित है कि जैन-परम्परा में मुनि-जीवन के नियमों की जो कठोरता है, वह बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में नहीं है। जैन-परम्परा में यह कठोरता उसके अहिंसा के सूक्ष्म विचार के कारण ही आयी है। अगले पृष्ठों में हम मुनि-जीवन के नियमों की चर्चा करते हुए इसे स्पष्टरूप में देख सकेंगे।

जैन-परम्परा में भिक्षु-जीवन के सामान्य नियम—जैनपरम्परा में भिक्षु-जीवन के नियमों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। उनमें कुछ नियम ऐसे हैं, जिनका भंग करने पर भिक्षु श्रमण-जीवन से च्युत हो जाता है। ऐसे नियमों में इक्कीस शबल दोष तथा बावन अनाचीर्ण प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त कुछ सामान्य नियम ऐसे हैं, जिनका भंग करने से यद्यपि भिक्षु श्रमण-जीवन से च्युत तो नहीं होता फिर भी उसके सामान्य जीवन की पवित्रता मलिन होती है। नीचे हम इन विभिन्न नियमों की चर्चा करेंगे।

शबल दोष—शबल दोष जैन भिक्षु के लिए सर्वथा त्याज्य है। आचार्य अभयदेव के अनुसार जिन कार्यो के करने से चारित्र की निर्मलता नष्ट हो जाती है तथा चारित्र मलक्लिन्न होने के कारण छिन्न-भिन्न हो जाता है, वे कार्य शबल दोष हैं।[1] जैन-परम्परा में शबल दोष इक्कीस हैं[2]—जैसे १. हस्त मैथुन करना, २. स्त्री-स्पर्श एवं मैथुन का सेवन करना, ३. रात्रि में भोजन करना एवं भिक्षा ग्रहण करना, ४. मुनि के

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृ० ४९१।

२. समवायांगटीका २१।१।

३. समवायांग, २१।१।

निमित्त बनाया गया भोजन आदि लेना (आधाकर्म), ५. शय्यातर अर्थात् निवासस्थान देने वाले के गृहस्वामी का आहार ग्रहण करना, ६. भिक्षु या याचकों के निमित्त बनाया गया (औद्देशिक), खरीदा गया (क्रीत), उनके स्थान पर लाकर दिया गया (आहृत), उनके लिए मांगकर लाया गया (प्रामित्य)–एवं किसी से छीन कर लाया गया आहार आदि पदार्थ ग्रहण करना, ७. प्रतिज्ञाओं का बार-बार भंग करना, ८. छह मास में एक गण से दूसरे गण में चले जाना अर्थात् जल्दी-जल्दी बिना किसी विशेष कारण के गण-परिवर्तन करना, ९. एक मास में तीन बार नाभि या जंघा प्रमाण जल में प्रवेश कर नदी आदि पार करना (उदकलेप), १०. एक मास में तीन बार से अधिक कपट करना अथवा कृत-अपराध को छुपा लेना, ११. राजपिण्ड ग्रहण करना, १२. जानबूझकर असत्य बोलना, १३. जानबूझ कर जीव हिंसा करना, १४. जानबूझ कर चोरी करना, १५. सचित्त पृथ्वी पर बैठना, सोना अथवा खड़े होना, १६. सचित्त जल से सस्निग्ध और सचित्त रज वाली पृथ्वी, शिला अथवा घुन लगी हुई लकड़ी आदि पर बैठना, सोना या कायोत्सर्ग करना, १७. प्राणी, बीज, हरित वनस्पति, कीड़ी नगरा, काई, फफूंदी, पानी, कीचड़ और मकड़ी के जालों वाले स्थान पर बैठना, सोना, १८. जानबूझ कर मूल, कंद, त्वचा (छाल), प्रवाल, पुष्प, फल हरित आदि का सेवन करना, १९. एक वर्ष में दस बार से अधिक पानी का प्रवाह लांघना, २०. एक वर्ष में दस बार मायाचार (कपट) करना, २१. सचित्त जल से गीले हाथ द्वारा अशनादि लेना।

अनाचीर्ण—जो कृत्य श्रमण अथवा श्रमणियों के आचारण के योग्य नहीं हैं वे अनाचीर्ण कहे जाते हैं। जैन परम्परा में ऐसे अनाचीर्ण बावन माने गये हैं। दशवैकालिक-सूत्र के तीसरे अध्याय में इनका सविस्तार विवेचन है।[1] संक्षेप में बावन अनाचीर्ण ये हैं—१. औद्देशिक—श्रमणों के निमित्त बनाये गये भोजन, वस्त्र, पानी, मकान आदि किसी भी पदार्थ का ग्रहण करना, २. नित्यपिण्ड (नियाग)—एक ही घर से नित्य एवं आमन्त्रित आहार ग्रहण करना, ३. अभ्याहृत—भिक्षुक के निवासस्थान पर गृहस्थ के द्वारा लाकर दिया गया आहार ग्रहण करना, ४. क्रीत—मुनि के लिए खरीदी गयी वस्तु को ग्रहण करना, ५. त्रिभक्त—तीन बार भोजन करना। एक समय भोजन करना श्रमण जीवन का उत्तम आदर्श है। दो बार भोजन करना मध्यममार्ग है। लेकिन दो बार से अधिक भोजन करना अनाचीर्ण है। कुछ आचार्यों ने इसका अर्थ रात्रि-भोजन-निषेध माना है, लेकिन रात्रि भोजन निषेध को तो छठे महाव्रत के रूप में पहले ही वर्जित मान लिया गया है। अतः यहाँ त्रिभक्त का अर्थ तीन बार भोजन का निषेध ही समझना चाहिए। ६. स्नान—स्नान करना। (मूलाचार में अस्नान को मुनि का मूल गुण बताया गया है) ७. गंध—इत्र, चंदन आदि सुवासित पदार्थों का उपयोग करना, (८) माल्य—फूलों की माला

१. दशवैकालिक, ३।१-९।

धारण करना, (९) बीजन–पंखे आदि से हवा लेना या करना, (१०) सन्निधि–दूसरे दिन के लिए भोजन आदि का संग्रह करना, (११) गृहीपात्र-गृहस्थों के बर्तन में भोजन ग्रहण करना, (१२) राजपिण्ड–राजा के लिए बनाया गया पौष्टिक भोजन ग्रहण करना, (१३) किमिच्छक दान–दानशाला आदि ऐसे स्थानों से आहार ग्रहण करना जहां पूछ कर इच्छा अनुसार आहार आदि दिये जाते हों। १४. संबाधन–शरीर के सुख के निमित्त तेल मर्दन करवाना, (१५) दन्तधावन–शोभा के लिए मंजन आदि से दांतों को साफ करना या चमकाना, (१६) संप्रश्न–गृहस्थों से उनकी पारिवारिक बातें पूछना अथवा अपनी सुन्दरता के विषय में पूछना, (१७) देह-प्रलोकन–दर्पण आदि में अपना रूप देखना, (१८) अष्टापद–जुआ खेलना, (१९) नालिक–चौपड़ या पासा आदि खेलना, (२०) छत्रधारण–गर्मी या वर्षा आदि से बचने के लिए या सम्मान-प्रतिष्ठा के लिए छत्र आदि धारण करना, (२१) चिकित्सा–रोग या व्याधि के प्रतिकार के लिए चिकित्सा करना, (२२) उपानह–जूते, खड़ाऊ आदि पहनना, (२३) जोत्यारम्भ–दीपक, चूल्हा या ताप आदि सुलगाना (२४) शय्यातर पिण्ड–मुनि जिसके मकान में ठहरा हो उसके यहाँ से आहार आदि ग्रहण करना (२५) आसंदी–बुनी हुई कुर्सी या पलंग आदि पर सोना–बैठना, (२६) निषद्या–बिना किसी आवश्यक परिस्थिति के गृहस्थ के घर में बैठना, (२७) गात्रमर्दन–पीठी–उबटन आदि लगाना, (२८) गृहीवैयावृत्य–गृहस्थों से किसी प्रकार की सेवा लेना, (२९) जात्याजीविका–सजातीय या सगोत्रीय बता कर आहार आदि प्राप्त करना, (३०) तापनिवृत्ति–गर्मी के निवारण के लिए सचित्त जल एवं पंखे आदि का उपयोग करना, (३१) आतुर स्मरण–कष्ट में अपने कुटुम्बीजनों का स्मरण करना, (३२-३८) मूली, अद्रक (शृंगवेर), कन्द, इक्षुखण्ड, मूल (जड़), कच्चे फल और संचित बीजों का उपयोग करना, (३९-४५) सौंचल नमक, सैन्धव नमक, सामान्य नमक, रोमदेशीय नमक, समुद्री नमक एवं पर्वतीय काला नमक का उपयोग करना, (४६) धूपन–शरीर, वस्त्र एवं भवन को धूप आदि से सुवासित करना (४७) वमन–मुख में उँगली आदि डालकर अथवा वमन की औषधि लेकर वमन करना, (४८) वस्तिकर्म–एनीमा आदि लेकर शौच करना, (४९) विरेचन–जुलाब लेना (५०) अंजन–आँखों में अंजन लगाना (५१) दन्त वर्ण–दांत रंगना और (५२) अभ्यंग–व्यायाम करना अथवा कुश्ती लड़ना। सामान्य स्थिति में यह बावन प्रकार का आचरण मुनि के लिए वर्जित है (दशवैकालिक अध्ययन ३)।

समाचारी के नियम

मुनि के लिए विशेष रूप से पालनीय नियम समाचारी कहे जाते हैं। समाचारी का दूसरा अर्थ सम्यक् दिनचर्या भी है। मुनि को अपने दैनिक जीवन के नियमों के प्रति विशेष रूप से सजग रहना चाहिए। समाचारी दस प्रकार की कही गयी है।[1]

निमित्त बनाया गया भोजन आदि लेना (आधाकर्म), ५. शय्यातर अर्थात् निवासस्थान देने वाले के गृहस्वामी का आहार ग्रहण करना, ६. भिक्षु या याचकों के निमित्त बनाया गया (औद्देशिक), खरीदा गया (क्रीत), उनके स्थान पर लाकर दिया गया (आहृत), उनके लिए मांगकर लाया गया (प्रामित्य)–एवं किसी से छीन कर लाया गया आहार आदि पदार्थ ग्रहण करना, ७. प्रतिज्ञाओं का बार-बार भंग करना, ८. छह मास में एक गण से दूसरे गण में चले जाना अर्थात् जल्दी-जल्दी बिना किसी विशेष कारण के गण-परिवर्तन करना, ९. एक मास में तीन बार नाभि या जंघा प्रमाण जल में प्रवेश कर नदी आदि पार करना (उदकलेप), १०. एक मास में तीन बार से अधिक कपट करना अथवा कृत-अपराध को छुपा लेना, ११. राजपिण्ड ग्रहण करना, १२. जानबूझकर असत्य बोलना, १३. जानबूझ कर जीव हिंसा करना, १४. जानबूझ कर चोरी करना, १५. सचित्त पृथ्वी पर बैठना, सोना अथवा खड़े होना, १६. सचित्त जल से सस्निग्ध और सचित्त रज वाली पृथ्वी, शिला अथवा घुन लगी हुई लकड़ी आदि पर बैठना, सोना या कायोत्सर्ग करना, १७. प्राणी, बीज, हरित वनस्पति, कीड़ी नगरा, काई, फफूंदी, पानी, कीचड़ और मकड़ी के जालों वाले स्थान पर बैठना, सोना, १८. जानबूझ कर मूल, कंद, त्वचा (छाल), प्रवाल, पुष्प, फल हरित आदि का सेवन करना, १९. एक वर्ष में दस बार से अधिक पानी का प्रवाह लांघना, २०. एक वर्ष में दस बार मायाचार (कपट) करना, २१. सचित्त जल से गीले हाथ द्वारा अशनादि लेना।

अनाचीर्ण—जो कृत्य श्रमण अथवा श्रमणियों के आचारण के योग्य नहीं हैं वे अनाचीर्ण कहे जाते हैं। जैन परम्परा में ऐसे अनाचीर्ण बावन माने गये हैं। दशवैकालिक-सूत्र के तीसरे अध्याय में इनका सविस्तार विवेचन है।[1] संक्षेप में बावन अनाचीर्ण ये हैं—१. औद्देशिक—श्रमणों के निमित्त बनाये गये भोजन, वस्त्र, पानी, मकान आदि किसी भी पदार्थ का ग्रहण करना, २. नित्यपिण्ड (नियाग)—एक ही घर से नित्य एवं आमन्त्रित आहार ग्रहण करना, ३. अभ्याहृत—भिक्षुक के निवासस्थान पर गृहस्थ के द्वारा लाकर दिया गया आहार ग्रहण करना, ४. क्रीत—मुनि के लिए खरीदी गयी वस्तु को ग्रहण करना, ५. त्रिभक्त—तीन बार भोजन करना। एक समय भोजन करना श्रमण जीवन का उत्तम आदर्श है। दो बार भोजन करना मध्यममार्ग है। लेकिन दो बार से अधिक भोजन करना अनाचीर्ण है। कुछ आचार्यों ने इसका अर्थ रात्रि-भोजन-निषेध माना है, लेकिन रात्रि भोजन निषेध को तो छठे महाव्रत के रूप में पहले ही वर्जित मान लिया गया है। अतः यहाँ त्रिभक्त का अर्थ तीन बार भोजन का निषेध ही समझना चाहिए। ६. स्नान—स्नान करना। (मूलाचार में अस्नान को मुनि का मूल गुण बताया गया है) ७. गंध—इत्र, चंदन आदि सुवासित पदार्थों का उपयोग करना, (८) माल्य--फूलों की माला

---

१. दशवैकालिक, ३।१-९।

धारण करना, (९) वीजन–पंखे आदि से हवा लेना या करना, (१०) सन्निधि–दूसरे दिन के लिए भोजन आदि का संग्रह करना, (११) गृहीपात्र- गृहस्थों के बर्तन में भोजन ग्रहण करना, (१२) राजपिण्ड–राजा के लिए बनाया गया पौष्टिक भोजन ग्रहण करना, (१३) किमिच्छक दान–दानशाला आदि ऐसे स्थानों से आहार ग्रहण करना जहां पूछ कर इच्छा अनुसार आहार आदि दिये जाते हों । १४. संबाधन–शरीर के सुख के निमित्त तेल मर्दन करवाना, (१५) दन्तधावन–शोभा के लिए मंजन आदि से दांतों को साफ करना या चमकाना, (१६) संप्रश्न–गृहस्थों से उनकी पारिवारिक बातें पूछना अथवा अपनी सुन्दरता के विषय में पूछना, (१७) देह-प्रलोकन–दर्पण आदि में अपना रूप देखना, (१८) अष्टापद–जुआ खेलना, (१९) नालिक–चौपड़ या पासा आदि खेलना, (२०) छत्रधारण–गर्मी या वर्षा आदि से बचने के लिए या सम्मान-प्रतिष्ठा के लिए छत्र आदि धारण करना, (२१) चिकित्सा–रोग या व्याधि के प्रतिकार के लिए चिकित्सा करना, (२२) उपानह्–जूते, खड़ाऊ आदि पहनना, (२३) जोत्यारम्भ–दीपक, चूल्हा या ताप आदि सुलगाना (२४) शय्यातर पिण्ड–मुनि जिसके मकान में ठहरा हो उसके यहाँ से आहार आदि ग्रहण करना (२५) आसंदी–बुनी हुई कुर्सी या पलंग आदि पर सोना–बैठना, (२६) निषद्या–बिना किसी आवश्यक परिस्थिति के गृहस्थ के घर में बैठना, (२७) गात्रमर्दन–पीठी–उबटन आदि लगाना, (२८) गृहीवैयावृत्य–गृहस्थों से किसी प्रकार की सेवा लेना, (२९) जात्याजीविका–सजातीय या सगोत्रीय बता कर आहार आदि प्राप्त करना, (३०) तापनिवृत्ति–गर्मी के निवारण के लिए सचित्त जल एवं पंखे आदि का उपयोग करना, (३१) आतुर स्मरण–कष्ट में अपने कुटुम्बीजनों का स्मरण करना, (३२-३८) मूली, अद्रक (शृंगवेर), कन्द, इक्षुखण्ड, मूल (जड़), कच्चे फल और संचित बीजों का उपयोग करना, (३९-४५) सौंचल नमक, सैन्धव नमक, सामान्य नमक, रोमदेशीय नमक, समुद्री नमक एवं पर्वतीय काला नमक का उपयोग करना, (४६) धूपन–शरीर, वस्त्र एवं भवन को धूप आदि से सुवासित करना (४७) वमन–मुख में उँगली आदि डालकर अथवा वमन की औषधि लेकर वमन करना, (४८) वस्तिकर्म–एनीमा आदि लेकर शौच करना, (४९) विरेचन–जुलाब लेना (५०) अंजन–आँखों में अंजन लगाना (५१) दन्त वर्ण–दांत रंगना और (५२) अभ्यंग–व्यायाम करना अथवा कुश्ती लड़ना । सामान्य स्थिति में यह बावन प्रकार का आचरण मुनि के लिए वर्जित है (दशवैकालिक अध्ययन ३) ।

समाचारी के नियम

मुनि के लिए विशेष रूप से पालनीय नियम समाचारी कहे जाते हैं । समाचारी का दूसरा अर्थ सम्यक् दिनचर्या भी है । मुनि को अपने दैनिक जीवन के नियमों के प्रति विशेष रूप से सजग रहना चाहिए । समाचारी दस प्रकार की कही गयी है ।[1]

१. उत्तराध्ययन, २६।२-७ ।

१. आवश्यकीय–साधु आवश्यक कार्य होने पर ही उपाश्रय (निवासस्थान) से बाहर जाये। अनावश्यक रूप से आवागमन नहीं करे।

२. नैषैधिकी–उपाश्रय में आने पर यह विचार करे कि मैं बाहर के कार्यों से निवृत्त होकर आया हूँ। अब नितांत आवश्यक कार्य के सिवाय मेरे लिए बाहर जाना निषिद्ध है।

३. आपृच्छना—अपना कोई भी कार्य करने के लिए गुरु एवं गणनायक की आज्ञा प्राप्त करे।

४. प्रतिपृच्छना—दूसरे के कार्य को गुरु एवं गणनायक से पूछकर करे।

५. छन्दना—अपने उपभोग के निमित्त लाये गये भिक्षादि पदार्थों के लिये अपने सभी साथी-साधुओं को आमंत्रित करे। अकेला चुपचाप उनका उपभोग न करे।

६. इच्छाकार—गण के साधुओं की इच्छा जानकर तदनुकूल आचरण करे।

७. मिथ्याकार—प्रमादवश कोई गलती हो जाए तो उसके लिए पश्चात्ताप करे तथा नियमानुसार प्रायश्चित ग्रहण करे।

८. प्रतिश्रुत तथ्यकार—आचार्य, गणनायक, गुरु एवं बड़े साधुओं की आज्ञा स्वीकार करना और उसे उचित मानना।

९. गुरूपूजा अभ्युत्थान—वंदना आदि के द्वारा गुरु का सत्कार-सम्मान करना।

१०. उपसम्पदा—आचार्य आदि की सेवा में विनम्रभाव से रहते हुए दिनचर्या करना।

दिनचर्या संबंधी नियम—मुनि की दिनचर्या के विधान के लिए दिन एवं रात्रि को चार-चार भागों में विभक्त किया गया है जिन्हें प्रहर कहा जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार मुनि दिन के प्रथम प्रहर में आवश्यक कार्यों के पश्चात् स्वाध्याय करे, दूसरे प्रहर में ध्यान करे, तीसरे प्रहर में भिक्षा द्वारा आहार ग्रहण करे और पुनः चौथे प्रहर में स्वाध्याय करे। इसी प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे प्रहर में ध्यान, तीसरे प्रहर में निद्रा और चौथे प्रहर में पुनः स्वाध्याय करे।[१] इस प्रकार मुनि की दिनचर्या में चार प्रहर स्वाध्याय के लिए, दो प्रहर ध्यान के लिए तथा एक-एक प्रहर आहार और निद्रा के लिए नियत है।

आहार-संबंधी नियम—जैन आचार-दर्शन में श्रमण के आहार के संबंध में कई दृष्टियों से विचार हुआ है तथा विभिन्न नियमों का प्रतिपादन किया गया है। मुनि को आहार संबंधी निम्न नियमों का पालन करना चाहिए—

आहार ग्रहण करने के छः कारण—मुनि को छः कारणों से आहार ग्रहण करना चाहिये—१. वेदना अर्थात् क्षुधा की शान्ति के लिए, २. वैयावृत्य अर्थात् आचार्यादि

---

१. विस्तृत विवेचन के लिये देखिए–उत्तराध्ययन, २६।८–५३।

की सेवा के लिए, ३. ईर्यापथ अर्थात् मार्ग में गमनागमन की निर्दोष प्रवृत्ति के लिए, ४. संयम अर्थात् मुनिधर्म की रक्षा के लिए, ५. प्राणप्रत्यय अर्थात् जीवनरक्षा के लिए और ६. धर्मचिन्ता अर्थात् स्वाध्यायादि के लिए।[1]

आहार-त्याग के छः कारण—छः स्थितियों में मुनि के लिए आहार ग्रहण करना वर्जित माना गया है—१. आतंक अर्थात् भयंकर रोग उत्पन्न होने पर, २. उपसर्ग अर्थात् आकस्मिक संकट आने पर, ३. ब्रह्मचर्य अर्थात् शील की रक्षा के लिए, ४. प्राणिदया अर्थात् जीवों की रक्षा के लिए, ५. तप अर्थात् तपस्या के लिएऔर ६. संलेखना अर्थात् समाधिकरण के लिए।[2] इस प्रकार मुनि संयम के पालन के लिए ही आहार ग्रहण करता है और संयम के पालन के लिए ही आहार का त्याग करता है।

आहार संबंधी दोष—जैन आगमों में मुनि के आहार संबंधी विभिन्न दोषों का विवेचन मिलता है। संक्षेप में वे दोष निम्न हैं।

(अ) **उद्गम के १६ दोष**—१. आधाकर्म विशेष साधु के उद्देश्य से आहार बनाना, २. औद्देशिक—सामान्य भिक्षुओं के उद्देश्य से आहार बनाना, ३. पूतिकर्म-शुद्ध आहार को अशुद्ध आहार से मिश्रित करना, ४. मिश्रजात-अपने लिए व साधु के लिए मिलाकर आहार बनाना, ५. स्थापना-साधु के लिए कोई खाद्य पदार्थ अलग रख देना, ६. प्राभृतिका-साधु को पास के ग्रामादि में आया जानकर विशिष्ट आहार बहराने के लिए जीमणवार आदि का दिन आगे-पीछे कर देना। ७. प्रादुष्करण-अन्धकारयुक्त स्थान में दीपक आदि का प्रकाश करके भोजन देना। ८. क्रीत—साधु के लिए खरीद कर लाना। ९. प्रामित्य—साधु के लिए उधार लाना। १०. परिवर्तित-साधु के लिए अट्टा-सट्टा करके लाना। ११. अभिहृत-साधु के लिए दूर से लाकर देना। १२. उद्भिन्न—साधु के लिए लिप्त-पात्र का मुख खोलकर घृत आदि देना। १३. मालापहृत—ऊपर की मंज्जिल से या छींके वगैरह से सीढ़ी आदि से उतार कर देना। १४. आच्छेद्य-दुर्बल से छीन कर देना। १५. अनिसृष्ट-साझे की चीज दूसरों की आज्ञा के बिना देना। १६. साधु को गाँव में आया जानकर अपने लिए बनाये जानेवाले भोजन में और बढ़ा देना।

(आ) **उत्पादनके १६ दोष**-(१) धात्री-धाय की तरह गृहस्थ के बालकों को खिला-पिला कर, हंसा-रमा कर आहार लेना। (२) दूती-दूत के समान संदेशवाहक बनकर आहार लेना। (३) निमित्त-शुभाशुभ निमित्त बताकर आहार लेना। (४) आजीव-आहार के लिए जाति, कुल आदि बताना। (५) वनीपक-गृहस्थ की प्रशंसा करके भिक्षा लेना। (६) चिकित्सा-औषधिआदि बताकर आहार लेना। (७)क्रोध-क्रोध करना शापादि का भय दिखाना। (८) मान-अपना प्रभुत्व जमाते हुए आहार लेना।

---

[1] उत्तराध्ययन. २६।३३। [2] वही, २६।३५।

(९) माया—छल-कपट से आहार लेना। (१०) लोभ—सरस भिक्षा के लिए अधिक घूमना। (११) पूर्वपश्चात्संस्तव—दान-दाता के माता-पिता अथवा सास-ससुर आदि से अपना परिचय बताकर भिक्षा लेना। (१२) विद्या—जप आदि से सिद्ध होनेवाली विद्या का प्रयोगकरना। (१३) मंत्र—मंत्र-प्रयोग से आहार लेना। (१४) चूर्ण—चूर्ण आदि वशीकरण का प्रयोग करके आहार लेना। (१५) योग—सिद्धि आदि योगविद्या का प्रदर्शन करना। (१६) मूलकर्म—गर्भस्तंभन आदि के प्रयोग बताना।

(इ) **ग्रहणैषणा के १० दोष**—१. शंकित—आधाकर्मादि दोषों की शंका होने पर भी लेना। २. म्रक्षित—सचित्त का संघट्टा होने पर आहार लेना। ३. निक्षिप्त—सचित्त पर रक्खा हुआ आहार लेना। ४. पिहित—सचित्त से ढका हुआ आहार लेना। ५. संहृत—पात्र में पहले से रखे हुए अकल्पनीय पदार्थ को निकाल कर उसी पात्र से लेना। ६. दायक—शराबी, गर्भिणी आदि अनधिकारी से लेना। ७. उन्मिश्र—सचित्त से मिश्रित आहार लेना। ८. अपरिणत—पूरे तौर पर बिना पके शाकादि लेना। ९. लिप्त—दही, घृत आदि से लिप्त पात्र या हाथ से आहार लेना। पहले और पीछे हाथ धोने के कारण क्रमशः पूर्वकर्म तथा पश्चात्कर्म दोष होता है। १०. छर्दित—छींटे नीचे पड़ रहे हों, ऐसा आहार लेना।

(ई) **ग्रासैषणा के ५ दोष**—१. संयोजन—रसलोलुपता के कारण दूध और शक्कर आदि द्रव्यों को परस्पर मिलाना। २. अप्रमाण—प्रमाण से अधिक भोजन करना। ३. अंगार—सुस्वादु भोजन की प्रशंसा करते हुए खाना। यह दोष चारित्र को जलाकर कोयला की तरह निस्तेज बना देता है, अतः अंगार कहलाता है। ४. धूम—नीरस आहार की निन्दा करते हुए खाना। ५. अकारण—आहार करने के छ कारणों के सिवाय बलवृद्धि आदि के लिए आहार करना।[1]

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ अनगार-धर्मामृत में इन सैंतालीस दोषों में से छियालीस पिण्ड दोषों का विवेचन किया गया है, जो निम्नानुसार है—१६ उद्गम दोष, १६ उत्पादन दोष, १० शंकितादि दोप और ४ अंगारादि दोप।

मुनि को अपने भोजन में स्वाद-लोलुपता न रख कर मात्र संयमपालन के लिए आहार आदि ग्रहण करना चाहिए। भोजन के संबंध में मुनि का आदर्श यह होना चाहिए कि जीने के लिए खाना है न कि खाने के लिए जीना है।

वस्त्र मर्यादा—दिगम्बर-परम्परा के अनुसार मुनि को वस्त्र रहित अर्थात् अचेल रहना चाहिए। उसमें मुनि के लिए वस्त्रों का उपयोग सर्वथा निषिद्ध है। यद्यपि श्रमणी के लिए वस्त्र का विधान है। श्वेताम्बर परम्परा में भी वस्त्ररहित जिनकल्पी

---

१. देखिए पिण्डनिर्युक्ति-उद्धृत श्रमणसूत्र, पृ० ४७८-४८१

मुनियों का वर्णन है, लेकिन इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर परम्परा के आचारांगसूत्र में मुनियों के लिए एक से तीन तक के वस्त्रों तक का विधान है। श्रमणी के लिए चार वस्त्रों तक का विधान है। बृहत्कल्पसूत्र के अनुसार मुनि के लिए पाँच प्रकार के वस्त्रों का उपयोग करना कल्प्य माना गया है–१ जांगिक (ऊनादि के वस्त्र), २. भांगिक (अलसी का वस्त्र), ३. सानक (सन का वस्त्र), ४. पोतक (कपास का वस्त्र), ५. तिरीटपट्टक (छाल का वस्त्र)। मुनि के लिए कृत्स्न वस्त्र और अभिन्न वस्त्र का उपयोग वर्जित है। कृत्स्न वस्त्र का अर्थ है रंगीन एवं आकर्षक वस्त्र; अभिन्न वस्त्र का अर्थ है अखण्ड या पूरा वस्त्र। अखण्ड वस्त्र का निषेध इसलिए किया गया है कि वस्त्र का विक्रय मूल्य या साम्पत्तिक मूल्य न रहे। भिक्षु के लिए खरीदा गया, धोया गया आदि दोषों से युक्त वस्त्र ग्रहण करने का भी निषेध है, इसी प्रकार बहुमूल्य वस्त्र भी मुनि के लिए निषिद्ध हैं। प्रसाधन के निमित्त वस्त्र का रंगना, धोना आदि भी मुनि के लिए वर्जित है।

पात्र—श्रमण एवं श्रमणियों के लिए तुम्बी, काष्ठ एवं मिट्टी के पात्र कल्प्य माने गये हैं, किसी भी प्रकार के धातु-पात्र का रखना निषिद्ध है। सामान्यतया मुनि के लिए एक पात्र रखने का विधान है। लेकिन वह अधिक से अधिक तीन पात्र तक रख सकता है। बृहत्कल्पसूत्र में श्रमणियों के लिए घटीमात्रक (घड़ा) रखने का विधान भी है। इसी प्रकार व्यवहारसूत्र में वृद्ध साधु के लिए भाण्ड (घड़ा) और मात्रिका (पेशाब करने का बर्तन) रखना भी कल्प्य है। मुनि के लिए जिस प्रकार बहुमूल्य वस्त्र लेने का निषेध है उसी प्रकार बहुमूल्य पात्र लेने का भी निषेध है। वस्त्र और पात्र की गवेषणा के संबंध में अधिकांश नियम वही हैं जो कि आहार की गवेषणा के लिए हैं।

आवास संबन्धी नियम—मुनि अथवा मुनियों के लिए बनाये गये, खरीदे गये अथवा अन्य ढंग से प्राप्त किये गये मकानों में श्रमण एवं श्रमणियों का रहना निषिद्ध है। बहुत ऊँचे मकान, स्त्री, बालक एवं पशु के निवास से युक्त मकान, वे मकान जिसमें गृहस्थ निवास करते हों, जिनका रास्ता गृहस्थ के घर में से होकर जाता हो एवं चित्र-युक्त मकान में निवास करना मुनि के लिए निषिद्ध है। इसी प्रकार धर्मशाला, बिना छत का खुला हुआ मकान, वृक्षमूल एवं खुली जगह पर रहना भी सामान्यतया मुनि के लिये निषिद्ध है, यद्यपि विशेष परिस्थितियों में वह वृक्षमूल में निवास कर सकता है। श्रमणी के लिए सामान्यतया वे स्थान जिनके आसपास दूकानें हों, जो गली के एक किनारे पर हो, जहाँ अनेक रास्ते मिलते हों तथा जिनमें द्वार नहीं हो, अकल्प्य माने गये हैं।

जैन भिक्षु-जीवन के सामान्य नियमों की बौद्ध नियमों से तुलना :–जैन भिक्षु-जीवन के सामान्य नियमों में ब्रह्मचर्य, अचौर्य आदि नियम जैन और बौद्ध परम्पराओं में समान ही हैं। बौद्ध भिक्षु ग्राम अथवा जंगल में कहीं भी सिवाय पानी और दतौन के कोई भी

अदत्त वस्तु ग्रहण करता है तो पाचित्तिय अथवा पाराजिक अपराध का दोषी माना जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य संबंधी विभिन्न नियमों के तोड़ने पर बौद्ध भिक्षु अपराध की गुरुता के अनुपात में संघादिशेष, अनियत धम्म अथवा पाचितिय धम्म का दोषी माना जाता है विस्तार भय से यहाँ उसकी चर्चा नहीं कर रहे है। जैन परम्परा में जो २१ शबल दोष माने गये हैं उनमें से बहुत कुछ बौद्ध-परम्परा में भी स्वीकृत रहे हैं। केवल औद्देशिक और आधाकर्म आदि का विचार बौद्ध-परम्परा में अनुपलब्ध है। सचित्त जल और भूमि का उपयोग भी बौद्ध परम्परा में वर्जित है। अनाचीर्ण संबंधी नियमों में त्रिभक्त, स्नान, गन्ध, माल्य, सन्निधि, किमिच्छक दान, संप्रश्न, देह प्रलोकन, अष्टापद आसंदी आदि का निषेध बौद्ध-परम्परा में भी है। बौद्ध-परम्परा में त्रिभक्त को निषिद्ध माना गया है। भिक्षु के लिए सामान्यतया एक बार भोजन करने का विधान है। इसी प्रकार स्नान के संबंध में बौद्ध परम्परा में यह नियम है कि गर्मी की ऋतु एवं बीमारी आदि को छोड़कर १५ दिन की अवधि से पूर्व स्नान करना पाचित्तिय दोष है। इसी प्रकार गन्ध, माल्य आदि का उपयोग भी निषिद्ध है। दान-शाला से भोजन लेना भी निषिद्ध है, केवल भिक्षु एक समय दानशालाओं से भोजन प्राप्त कर सकता है। सन्निधि के संबंध में बौद्ध परम्परा में नियम यह है कि भिक्षु औषधि के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं का संग्रह दूसरे दिन के लिए भी नहीं कर सकता। औषधियों को भी सात दिन से अधिक रखना निसग्गीय या पाचित्तिय दोष माना गया है। गर्मी के लिए आग जलाना बौद्ध परम्परा में पाचित्तिय दोष माना गया है।[1] इस प्रकार बौद्ध-परम्परा में भिक्षु जीवन के अनेक नियम जैन परम्परा के समान हैं। आहार, वस्त्र और आवास संबंधी अनेक नियमों में भी समानता खोजी जा सकती है। बौद्ध परम्परा में कुछ नियम ऐसे भी हैं जो जैन परम्परा में नही हैं।

संघ व्यवस्था

जैन आचार-दर्शन में दो प्रकार के श्रमणों का वर्णन उपलब्ध है—(१) जिनकल्पी मुनि और (२) स्थविरकल्पी मुनि। जिनकल्पी मुनि एकांकी रहकर साधना करते हैं, जबकि स्थविरकल्पी मुनि संघ में रहकर साधना करते हैं। स्थविरकल्पी मुनि के लिए संघ से पृथक् रहने पर प्रायश्चित्त का विधान है। संघ के दो प्रमुख विभाग हैं—(१) श्रमण संघ और (२) श्रमणी संघ—यद्यपि जैन परम्परा में श्रमण और श्रमणियों के पृथक्-पृथक् संघों का विधान है, तथापि श्रमणी संघ केवल आन्तरिक व्यवस्था को छोड़कर सामान्यतया श्रमण संघ के निर्देशन में ही चलता है। श्रमण एवं श्रमणी के दोनों संघों में आचार्य का स्थान ही सर्वोपरि है। दोनों संघ आचार्य की आज्ञा में ही रहते हैं। आचार्य की योग्यताओं के विषय में जैन आगमों में विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।

---

१. विनयपिटक—पातिमोक्ख, पाचित्तिय धम्म, ५६।

आचार्य का कार्य संघ का संचालन करना है। आचार्य के पश्चात् श्रमण संघ के अधिकारी मुनियों में दूसरा स्थान उपाध्याय का है जिनका कार्य शिक्षा की व्यवस्था करना है। उपाध्याय के पश्चात् क्रमशः गणी, प्रवर्तक, स्थविर, गणावच्छेदक, रात्निक और रत्नाधिक का स्थान आता है। ये सभी संघ के विभिन्न उपविभागों की व्यवस्थाओं को देखते हैं। व्यवस्था की दृष्टि से संघ अनेक उपविभागों में बँटा होता है, जिन्हें गच्छ, कुल और गण कहा जाता है। गच्छ शब्द का शाब्दिक अर्थ है साथ-साथ रहने वाले। जितने साधु एक साथ रहकर विहार एवं चातुर्मास आदि करते हैं, उनका समूह गच्छ कहा जाता है। गच्छ में साधुओं की संख्या अधिक होने पर उन्हें विभिन्न वर्गों (संघाडों) में विभाजित किया जाता है। सामान्यतया एक वर्ग में २ से ४ साधु होते हैं। वर्गनायक गणावच्छेदक कहा जाता है। गच्छनायक गच्छाचार्य या प्रवर्तक कहा जाता है। विभिन्न गच्छों का समूह कुल कहा जाता है। सामान्यतया एक ही आचार्य के शिष्यों एवं प्रशिष्यों का समूह कुल कहा जाता है। कुल का अधिपति कुलाचार्य कहा जाता है। एक गण में आचार-विचार संबंधी मान्यताओं की एकरूपता होती है। उन सभी कुलों से जो एक ही प्रकार की आचार-विचार-प्रणाली का अनुसरण करते हैं, मिलकर गण बनता है। गण का अधिपति गणी, गणधर या गणाचार्य कहा जाता है। अनेक गणों से मिलकर संघ बनता है। संघ का प्रधान संघाचार्य या प्रधानाचार्य कहा जाता है। जैन आगमों में संघ के विभिन्न अधिकारियों की योग्यताओं एवं उनके सामाजिक दायित्वों का विवरण है, यद्यपि विभिन्न आगमों (ग्रन्थों) में इस विषय में एकरूपता नहीं है। अतः कुछ पदों एवं उनके अधिकारों एवं दायित्वों के संबंध में स्पष्ट विभेद करना सम्भव नहीं। परवर्ती युग में संघ की केन्द्रीय व्यवस्था के समाप्त हो जाने के फलस्वरूप प्रधानाचार्य या संघाचार्य का पद समाप्त हो गया और प्रत्येक गण एवं गच्छ अपनी-अपनी स्वतंत्र रूप में व्यवस्था करने लगा। अतएव गणी, गणधर, गच्छाचार्य तथा प्रधानाचार्य के पदों में कोई स्पष्ट विभेद नहीं रह गया।

बौद्ध एवं जैन संघ-व्यवस्था में अन्तर—जैन श्रमण संघ की व्यवस्था में बुद्ध की संघीय गणतंत्रात्मक शासन-प्रणाली की अपेक्षा राजतंत्रीय शासन-प्रणाली का प्रभाव अधिक रहा है। यद्यपि जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराएं श्रमण संघ अथवा भिक्षु संघ को महत्त्व देती हैं, तथापि जहां जैन परम्परा में आचार्य के रूप में व्यक्ति का शासन स्वीकार किया गया है, वहाँ बौद्ध-परम्परा में सदैव ही संघ-शासन का महत्त्व रहा है। जैन-परम्परा में अधिकांश महत्त्वपूर्ण निर्णय एवं दण्ड प्रायश्चित्त आदि के कार्य आचार्य अथवा किसी वरिष्ठ पदाधिकारी के द्वारा सम्पन्न होते हैं, जबकि बौद्ध-परम्परा में ये सभी कार्य संघ ही करता है। बौद्ध-परम्परा में भिक्षु-संघ की व्यवस्था जनतांत्रिक है, उसमें सर्वोच्च सत्ता संघ में निहित है जबकि जैन परम्परा में अन्तिम निर्णायक आचार्य होता है और सर्वोच्च सत्ता भी उसी में निहित रहती है। बौद्ध-परम्परा में आचार्य की

नियुक्ति आवश्यक नहीं मानी गई है। उसमें संघ ही उस दायित्व का निर्वाह करता है, यद्यपि कुछ छोटे-मोटे प्रश्नों का निर्णय वरिष्ठ भिक्षु कर लेता है। इस प्रकार जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में भिक्षु संघ की व्यवस्था है, लेकिन दोनों में कुछ मौलिक अन्तर भी है। जैन-परम्परा में आचार्य की शरण में जाने का विधान है, जबकि बौद्ध परम्परा में संघ की शरण ही ग्रहण की जाती है। बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण के पश्चात् किसी भी उत्तराधिकारी की नियुक्ति को अनावश्यक बताते हुए संघ को ही अपना उत्तराधिकारी बताया था, जबकि जैन परम्परा में महावीर के पश्चात् संघ के प्रमुख के रूप में सुधर्मा आदि आचार्यों को प्रतिष्ठित किया जाता रहा है। बौद्ध परम्परा ने यह माना था कि बिना किसी नेता (आचार्य) के भी संघ व्यवस्था सुचारू रूप से चल सकती है।

भिक्षुओं के पारस्परिक संबंध—भिक्षु-संघ में भिक्षुओं के पारस्परिक संबंधों को जैन परम्परा में संभोग कहा जाता है। संभोग संबंधी १२ नियम निम्न प्रकार हैं—

१. उपधि संभोग—वस्त्र, पात्र आदि सामग्री उपधि कही जाती है। भिक्षु सामान्यतया संघ के दूसरे भिक्षुओं के साथ इनका परिवर्तन या लेन-देन कर सकते हैं।

२. श्रुत संभोग—परस्पर एक दूसरे को ज्ञान देना एवं शास्त्राध्ययन करवाना।

३. भक्तपान संभोग—एक दूसरे की लाई हुई भिक्षा को आपस में ग्रहण करना।

४. अंजलि-प्रग्रह संभोग—परस्पर एक दूसरे का सम्मान करना।

५. दान संभोग—परस्पर शिष्यों का लेन-देन। एक ही संघ के भिक्षु अपने शिष्यों को आपस में एक दूसरे को दे सकते हैं।

६. निमन्त्रण—एक ही भिक्षु-संघ के भिक्षु आपस में एक-दूसरे को आहार उपधि और शिष्यों के लेन-देन के लिए निमन्त्रित कर सकते हैं। आहार आदि के लिए दूसरे भिक्षुओं को आमन्त्रित करना।

७. अभ्युत्थान—दूसरे वरिष्ठ भिक्षुओं के आगमन पर अपने आसन से उठकर उन्हें सम्मान देना एवं आसन प्रदान करना।

८. कृतिकर्म—दीक्षा-वय की दृष्टि से ज्येष्ठ भिक्षुओं को आपस में वन्दन करना।

९ वैयावृत्य—वृद्ध, रोगी एवं अपंग भिक्षुओं की ससम्मान एवं सावधानीपूर्वक सेवा करना। भिक्षुओं के लिए निम्न दस की सेवा आवश्यक मानी गई हैं—(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) स्थविर, (४) तपस्वी, (५) शैक्ष—छात्र, (६) ग्लान अर्थात् रोगी, (७) सार्धमिक, (८) कुल, (९) गण और (१०) संघ की सेवा।

१०. समवसरण—प्रवचन आदि के अवसर पर परस्पर एक दूसरे के यहां जाना।

११. सन्निषध्या—एक ही संघ के भिक्षु दूसरे भिक्षुओं के साथ एक ही आसन (पाट) पर बैठ सकते हैं। एक ही पाट पर बैठकर प्रवचन आदि कर सकते हैं। भिक्षु के लिए भिक्षुणियों के साथ एक ही पाट पर बैठना निषिद्ध है।

१२. कथाप्रबन्ध—आपस में एक दूसरे के साथ बैठकर धार्मिक विषयों पर विचार करना।[1]

जैन और बौद्ध परम्परा में श्रमणी-संघ व्यवस्था

यद्यपि श्रमणों की संघ-व्यवस्था अति प्राचीन काल से प्रचलित थी, लेकिन श्रमणियों के संघ की व्यवस्था सामान्यतया सर्वप्रथम जैन परम्परा में ही प्रचलित हुई। बुद्ध ने अपने भिक्षु-संघ में स्त्रियों के प्रवेश की अनुमति बहुत ही अनुनय-विनय के पश्चात् प्रदान की। यद्यपि जैन और बौद्ध परम्पराएँ इस विषय में एकमत हैं कि भिक्षुणी संघ को भिक्षु संघ के अधीन ही रहना चाहिए, दोनों ही भिक्षुणी संघों में स्त्री-प्रकृति को ध्यान में रखते हुए कुछ विशिष्ट नियमों का प्रतिपादन हुआ है। बुद्ध ने इस संबंध में अष्टगुरुधर्मों का निर्देश किया है—(१) भिक्षुणी संघ में चाहे जितने वर्षों तक रही हो, तो भी वह छोटे-बड़े सभी भिक्षुओं को प्रणाम करे। (२) जिस गाँव में भिक्षु न हों वहां भिक्षुणी न रहे। (३) हर पखवाड़े में उपोसथ किस दिन है और धर्मोपदेश सुनने के लिए कब आना है, ये बातें भिक्षुणी भिक्षु-संघ से पूछ ले। (४) चातुर्मास्य के बाद भिक्षुणी को भिक्षु-संघ और भिक्षुणी-संघ दोनों में प्रवारणा करनी चाहिए। (५) जिस भिक्षुणी से संघादिशेष आपत्ति हुई हो उसे दोनों संघों में पन्द्रह दिनों का मानत्त लेना चाहिए। (६) जिसने दो वर्ष तक अध्ययन किया हो ऐसी श्रामणेरी को दोनों संघ उपसम्पदा दे दें। (७) किसी भी कारण से भिक्षुणी भिक्षु के साथ गाली-गलौज न करे, (८) भिक्षु ही भिक्षुणी को उपदेश दे।[2]

जैन परम्परा में भी दीक्षा-वृद्ध श्रमणी को नवदीक्षित श्रमण को वन्दन करने का विधान है। इसी प्रकार जैन भिक्षुणी को भिक्षु संघ के निर्देश में चलना होता है। प्रायश्चित्त-विधान की दृष्टि से बड़े अपराधों के लिए आचार्य ही प्रायश्चित्त देता है। यद्यपि जैन परम्परा में श्रमणी वर्ग के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह उन्हीं स्थानों पर रहे जहां भिक्षु निवास करते हों। दीक्षा और आलोचना (प्रवारणा) की दृष्टि से जैन परम्परा में ऐसा कोई नियम नहीं है कि वह श्रमण-वर्ग के द्वारा या उनके सम्मुख ही हो। यद्यपि श्रमण भी श्रमणी को दीक्षित कर सकता है एवं श्रमणी श्रमण के सम्मुख आलोचना कर सकती है।

---

१. जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग ४, पृ० २९२-२९६।

२. भगवान् बुद्ध, पृ० १६८-१६९, विनयपिटक चूलवग्ग, १०।१।२।

श्रमणी-संघ के लिए इन विशिष्ट नियमों के पीछे सामान्यतया पुरुष-प्रधान संस्कृति का हाथ रहा है। यद्यपि कुछ जैन विद्वानों एवं धर्मानन्द कोसम्बी प्रभृति कुछ बौद्ध विद्वानों की यह मान्यता है कि ये नियम भिक्षुणी संघ पर बाद में लादे गये हैं।[1]

भिक्षु एवं भिक्षुणी के पारस्परिक संबंध—सामान्यतया जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में इस बात को विशेष रूप से दृष्टि में रखा गया है कि भिक्षु और भिक्षुणियों के पारस्परिक संबंध ऐसे हों कि उनका चारित्रिक पतन न हो। सामान्यतया श्रमण और श्रमणी का एक ही स्थान पर ठहरना निषिद्ध है। इसी प्रकार श्रमण अथवा भिक्षुक का बिना किसी विशेष परिस्थिति के श्रमणी के आवास पर जाना भी निषिद्ध है। किसी आपवादिक स्थिति को छोड़कर श्रमण एवं श्रमणी की पारस्परिक सेवा भी निषिद्ध मानी गयी है। यद्यपि कुछ विशेष परिस्थितियों में वे एक-दूसरे की सेवा कर सकते हैं। इसी प्रकार एक-दूसरे का स्पर्श एवं एकान्त वार्तालाप भी निषिद्ध है। श्रमण केवल जीवन रक्षा के प्रसंग पर साध्वी का स्पर्श कर सकता है, अन्यथा नहीं। श्रमणी के लिए भी प्रवचन एवं शिक्षण के अवसरों को छोड़कर श्रमण के आवास पर जाना निषिद्ध है। सूर्यास्त के पश्चात् श्रमणी किसी भी स्थिति में श्रमण के आवास पर नहीं जा सकती। दिन में भी श्रमणी उसी स्थिति में श्रमणों के आवास पर रुक सकती है जबकि वहां समझदार अन्य स्त्री-पुरुषों की उपस्थिति हो।

बौद्ध परम्परा में भी भिक्षु और भिक्षुणियों के पारस्परिक संबंध को लेकर दस नियमों का प्रतिपादन हुआ है। यदि भिक्षु इनका भंग करता है तो उसे प्रायश्चित्त का भागी माना जाता है। वे नियम ये हैं—

१. संघ के द्वारा बिना नियुक्त हुए भिक्षुणियों को अष्ट गुरु धर्मो का उपदेश नहीं देना चाहिए।

२. नियुक्त भिक्षु भी सूर्यास्त के पश्चात् भिक्षुणियों को उपदेश न दे।

३. बीमारी आदि अवसर को छोड़कर बिना किसी योग्य अवसर के भिक्षुणियों के आवास पर जाकर उन्हें उपदेश न दे।

४. भोजन एवं औषधि के लाभ के निमित्त भिक्षुणियों को उपदेश न दे।

५. सिवाय बदलने के अपरिचित भिक्षुणी को परिधान आदि न दे।

६. अपरिचित भिक्षुणी से वस्त्र आदि न बनवावे।

७. पूर्व निश्चय के आधार पर भिक्षुणी के साथ यात्रा न करे। यदि मार्ग भयावह हो तो भिक्षु और भिक्षुणी संघ साथ-साथ यात्रा कर सकते हैं।

---

१. भगवान् बुद्ध, पृ० १७०–१७१।

८. केवल नदी पार होने के अतिरिक्त एक ही नौका पर न बैठे।

९. भिक्षुणी के माध्यम से अथवा उनके आहार लाभ में बाधक बनकर भिक्षा प्राप्त न करे।

१०. एकांत में भिक्षुणी के साथ न बैठे। यदि बैठना ही हो तो एक पुरुष और एक स्त्री की उपस्थिति में ही बैठे।[1] इस प्रकार जैन और बौद्ध परम्पराएं भिक्षु और भिक्षुणियों के पारस्परिक संबंध में काफी सतर्कता रखती हैं और विशेष प्रसंगों के अतिरिक्त उनके पारस्परिक संबंधों का नियमन करती हैं।

भिक्षुणी-संघ के पदाधिकारी—जैन-परम्परा में साध्वी-संघ यद्यपि आचार्य की आज्ञा में ही रहता है, तथापि भिक्षुणी-संघ की आन्तरिक व्यवस्था के लिए कुछ पृथक् पदों की व्यवस्था है। भिक्षुणी-संघ में प्रमुखतया प्रवर्तनी गणावच्छेदिनी अभिषेका और प्रतिहारी पदों की व्यवस्था है।

प्रायश्चित्त विधान (दण्ड व्यवस्था)

व्रतों में लगने वाले दोषों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त लिया जाता है। संघ-व्यवस्था के सुचारु संचालन के लिए भी यह आवश्यक है कि संघ एवं भिक्षुजीवन के विभिन्न नियमों के भंग पर प्रायश्चित्त या दण्ड दिया जाय। श्वेताम्बर परम्परा में जीतकल्पसूत्र के अनुसार दस प्रकार के प्रायश्चित्त या दण्ड माने गये हैं—(१) आलोचना, (२) प्रतिक्रमण, (३) उभय, (४) विवेक, (५) व्युत्सर्ग, (६) तप, (७) छेद, (८) मूल (९) अनवस्थाप्य और (१०) पारांचिक।[2] दिगम्बर परम्परा के मूलाचार ग्रंथ में भी दस प्रकार के प्रायश्चित्त वर्णित हैं। प्रारम्भ के आठ वही हैं जो श्वेताम्बर परम्परा में हैं, शेष दो परिहार और श्रद्धान हैं। सम्भवतः अन्तिम दो प्रायश्चित्तों का प्रचलन बन्द हो जाने से नामों का यह अन्तर आया हो। यद्यपि पारांचिक प्रायश्चित्त और परिहार का तात्पर्य एक ही है। उपर्युक्त प्रायश्चित्तों में एक क्रम है जो कि आपराधिक गुरुता को सूचित करता है।

दैनंदिन जीवन की सामान्य प्रवृत्तियों में लगनेवाले दोषों के लिए आलोचना-प्रायश्चित्त का विधान है। आलोचना का अर्थ अपराध को अपराध के रूप में स्वीकार करना है।

प्रमाद, आसातना, अविनय, हास्य, विकथा आदि के लिए प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त का विधान है। प्रतिक्रमण का तात्पर्य है उन दोषों को दोष रूप मान कर पुनः उन्हें नहीं करने का निश्चय करना। आलोचना और प्रतिक्रमण में अन्तर यह है कि आलोचना में

---

१. देखिए विनयपिटक—पाचित्तिय धम्म, २।२१–३०।

अपराध के पुनः सेवन नहीं करने का निश्चय नहीं होता है, जबकि प्रतिक्रमण में ऐसा निश्चय करना होता है।

अनात्मवशता, दुश्चिन्तन, कटु भाषण, दुश्चेष्टा आदि अपराधों के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान है।

आहार, वस्त्र आदि के ग्रहण में लगे हुए दोषों के लिए विवेक प्रायश्चित्त का विधान है। विवेक नामक प्रायश्चित्त का सामान्य अर्थ यह हो सकता है कि भविष्य में उस संबंध में सावधानी रखी जाय। विवेक का दूसरा अर्थ अशुद्ध आहार आदि का सावधानीपूर्वक परिहार कर देना है।

गमनागमन, स्वप्न और श्रुतसंबंधी दोषों के लिए कायोत्सर्ग प्रायश्चित्त का विधान है।

इन सामान्य दोषों के अतिरिक्त विशिष्ट अपराधों के लिए तप प्रायश्चित्त का विधान है। निशीथसूत्र में तप प्रायश्चित्त के चार प्रकार मिलते हैं, १. गुरुमासिक, २. लघु मासिक, ३. गुरु चातुर्मासिक और ४. लघु चातुर्मासिक। लघुमासिक या मासलघु प्रायश्चित्त का अर्थ एकासन और गुरु मासिक का अर्थ उपवास है। इसी प्रकार लघु चातुर्मासिक का अर्थ बेला (लगातार दो दिन तक अन्न-जल का त्याग) और गुरु चातुर्मासिक का अर्थ तेला (लगातार तीन दिन तक अन्न जल का त्याग) है।

लघुमासिक के योग्य अपराध—दारूदण्ड का पादप्रोंछन बनाना, पानी निकलने के लिए नाली बनाना, दानादि लेने के पूर्व अथवा पश्चात् दाता की प्रशंसा करना, निष्कारण परिचित घरों में प्रवेश करना, अन्य तीर्थिक अथवा गृहस्थ की संगति करना, शय्यातर अर्थात् आवास देने वाले मकान मालिक के यहां का आहार, पानी ग्रहण करना आदि क्रियाएँ लघुमासिक प्रायश्चित्त के कारण हैं।

गुरुमासिक योग्य अपराध—अंगादान[1] का मर्दन करना, अंगादान के ऊपर की त्वचा दूर करना, अंगादान को नली में डालना, पुष्पादि सूंघना, पात्र आदि दूसरों से साफ करवाना, सदोष आहार का उपयोग करना आदि क्रियाएँ गुरुमासिक प्रायश्चित्त के कारण हैं।

लघुचातुर्मासिक के योग्य अपराध—प्रत्याख्यान का बार-बार भंग करना गृहस्थ के वस्त्र, पात्र, शय्या आदि का उपयोग करना, प्रथम प्रहर में ग्रहण किया हुआ आहार चतुर्थ प्रहर तक रखना, अर्धयोजन अर्थात् दो कोस से आगे जाकर आहार लाना, विरेचन लेना अथवा औषधि का सेवन करना, शिथिलाचारी को नमस्कार करना, वाटिका आदि सार्वजनिक स्थानों में मल-पेशाब डाल कर गन्दगी करना, गृहस्थ आदि को आहार-पानी देना, दम्पति के शयनागार में प्रवेश करना, समान आचारवाले निर्ग्रन्थ

निर्ग्रन्थी को स्थान आदि की सुविधा न देना, गीत गाना, वाद्ययन्त्र बजाना, नृत्य करना, अस्वाध्याय के काल में स्वाध्याय करना अथवा स्वाध्याय के काल में स्वाध्याय न करना, अयोग्य को शास्त्र पढ़ाना अथवा योग्य को शास्त्र न पढ़ाना, अन्यतीर्थिक अथवा गृहस्थ को पढ़ाना अथवा उससे पढ़ना आदि क्रियाएँ लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त की कारण हैं।

गुरुचातुर्मासिक के योग्य अपराध—स्त्री अथवा पुरुष से मैथुनसेवन के लिए प्रार्थना करना, मैथुनेच्छा से हस्तकर्म करना, नग्न होना, निर्लज्ज वचन बोलना, प्रेमपत्र लिखना, गुदा अथवा योनि में लिंग डालना, स्तन आदि हाथ में पकड़कर हिलाना अथवा मसलना, पशु-पक्षी को स्त्री अथवा पुरुषरूप मानकर उनका आलिंगन करना, मैथुनेच्छा से किसी को आहारादि देना, आचार्य की अवज्ञा करना, लाभालाभ का निमित्त बताना, किसी श्रमण-श्रमणी को बहकाना, किसी दीक्षार्थी को भड़काना, अयोग्य को दीक्षा देना, अचेल होकर सचेल के साथ रहना अथवा सचेल होकर अचेल के साथ रहना आदि क्रियाएँ गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त के योग्य हैं।[1]

छेद का अर्थ दीक्षा-पर्याय में कमी है। इसके कारण अपराधी का श्रमण-संघ में वरीयता की दृष्टि से जो स्थान था वह अपेक्षाकृत नीचा हो जाता है। जो अपराधी तप के अयोग्य है अथवा तप के गर्व से उन्मत्त है अथवा तप प्रायश्चित्त से उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता उसके लिए छेद प्रायश्चित्त का विधान है। विभिन्न अपराधों में उनकी गुरुता के आधार पर विभिन्न समयों की दीक्षा का छेद किया जाता है।

मूल का अर्थ है पूर्व दीक्षा को समाप्त कर नवीन दीक्षा देना। इसके कारण वह संघ में सबसे निम्न स्थान पर आ जाता है। सामान्यतया पंचेन्द्रिय प्राणियों की हिंसा एवं मैथुन सम्बन्धी अपराध इस प्रायश्चित्त के कारण माने जाते हैं।

अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त में अपराधी को तत्काल नवीन दीक्षा नहीं देकर कुछ समय तक उसकी परीक्षा की जाती है और संघ के आश्वस्त हो जाने पर अथवा उसके द्वारा प्रायश्चित्त रूप विशिष्ट तप कर लेने के पश्चात् पुनः उसे दीक्षा दी जाती है। सामान्यतया बार-बार अपराध करने वाले अपराधिक प्रकृति के व्यक्तियों को यह दण्ड दिया जाता है। साधर्मिक स्तैन्य, अन्य धार्मिक स्तैन्य मुष्टिप्रहार आदि अपराधों के लिए इस दण्ड की व्यवस्था है।

पारांचिक प्रायश्चित्त में अपराधी भिक्षु को सदैव के लिए संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता है। जब किसी भी प्रकार अपराधी का सुधार सम्भव नहीं दिखता तो अन्त में पारांचिक प्रायश्चित्त का दण्ड दिया जाता है।

जैन-परम्परा में परिस्थिति की भिन्नता एवं अपराधी की मनोवृत्ति के आधार पर

---

१. निशीथसूत्र के आधार पर—उद्धृत जैनाचार, पृ० २१३–२१४।

अपराध की तीव्रता या मन्दता का निर्णय किया जाता है और तदनुरूप दण्ड दिया जाता है। अतः यह सम्भव है कि ऊपर से समान दिखनेवाले दोष के लिए भी भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त हो सकते हैं। जैन-परम्परा में प्रायश्चित्त प्रदान करने का अधिकार आचार्य को होता है, परिस्थिति विशेष में छोटे या सामान्य अपराधों के लिये अन्य पदाधिकारी भी प्रायश्चित्त प्रदान कर सकते हैं। यदि अपराध एवं अपराधी विशेष प्रकार के हों तो सम्पूर्ण संघ भी प्रायश्चित का विधान करता है। पारांचिक प्रायश्चित्त का विधान सामान्यतया संघ की अनुमति से किया जाता है।[1]

बौद्ध परम्परा में प्रायश्चित्त-विधान—

जैन-परम्परा के समान बौद्ध-परम्परा में भी भिक्षुओं के द्वारा विभिन्न नियमों को भंग करने पर प्रायश्चित्त का विधान है। सामान्यतया बौद्ध-परम्परा में आठ प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान उपलब्ध होता है—१. पाराजिक, २. संघादिशेष, ३. नैसर्गिक और ४. पाचित्तिय ५. अनियत ६. प्रतिदेशनीय ७. सेखिय ८. अधिकरण समय।

पाराजिक प्रायश्चित्त प्रमुख रूप से हिंसा और चोरी के लिए दिया जाता है। बौद्ध-परम्परा में भी पाराजिक प्रायश्चित्त में व्यक्ति भिक्षु संघ से पृथक् कर दिया जाता है। सामान्यतया पाराजिक प्रायश्चित्त के योग्य अपराध निम्न हैं:—१. संघ में रहकर मैथुन सेवन करना, २. बिना दी हुई वस्तु ग्रहण करना जिससे चोर समझा जाये, ३. मनुष्य आदि की हत्या करना और ४. बिना जाने और देखे अलौकिक बातों का दावा करना। जैन और बौद्ध परम्पराओं में पाराचिक एवं पाराजिक प्रायश्चित्त के संबंध में समान दृष्टिकोण है।

जिस प्रकार जैन-परम्परा में अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त का विधान है, उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा में संघादिशेष प्रायश्चित्त का विधान है। बौद्ध-परम्परा में संघादिशेष आपत्ति होने पर भिक्षु को संघ के सन्तोष के लिए भिक्षु आवास के बाहर कुछ रातें बितानी होती हैं और उसके पश्चात् उसे भिक्षु-संघ में पुनः प्रवेश दिया जाता है। इस प्रकार अपने मूल मन्तव्य की दृष्टि से अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त और संघादिशेप प्रायश्चित्त समान ही है। बौद्ध परम्परा में संघादिशेप प्रायश्चित्त के योग्य निम्न १३ आपत्तियाँ मानी गयी हैं।

१. निद्रावस्था को छोड़कर अन्य किसी अवस्था में वीर्यपात करना।

२. वासना के वशीभूत होकर स्त्री-शरीर का स्पर्श करना।

३. वासना के वशीभूत होकर कामुक शब्दों से स्त्री की काम-वासना को प्रदीप्त करना।

---

१. जैन आचार, पृ० २१५.

४. यह कहना कि मुझ जैसे धार्मिक पुरुष से संभोग करना उचित है।

५. स्त्री एवं पुरुषों के मध्य काम-संबंध स्थापित करने के लिए मध्यस्थता करना।

६. भिक्षु-संघ की स्वीकृति के बिना सीमा से बडी, भययुक्त एवं विना खुली जगह में कुटिया निर्माण करना।

७. अपने और दूसरों के लिए बिना भिक्षु संघ की स्वीकृति के भययुक्त एवं विना खुली जगह में भिक्षु आवास का बनवाना।

८. द्वेष एवं घृणा के वशीभूत होकर किसी अन्य भिक्षु पर पाराजिक अपराध का मिथ्या आरोप उसे संघ से बाहर करने के लिये लगाना।

९. किसी भिक्षु के छोटे अपराध को, द्वेष एवं घृणा के वशीभूत होकर और उसे संघ से बाहर करने के लिए, बड़ा पारांचिक अपराध बताना।

१०. भिक्षु-संघ के द्वारा संघ-भेद नहीं करने के लिए प्रार्थना करने पर भी किसी बात पर जोर देकर संघ-भेद करवाना।

११. संघ-भेद करवाने वाले भिक्षु के अतिरिक्त वे भिक्षु जो उसका समर्थन करते हैं, वे भी संघादिशेष के दोषी हैं।

१२. भिक्षु संघ के द्वारा यह समझाने पर भी कि आपस के सहयोग और परामर्श से संघ का विकास होगा, जो भिक्षु अपने को संघीय जीवन से पृथक् रखता है, वह भी संघादिशेष अपराध का दोषी है।

१३. जो भिक्षु अपने दुराचरण के कारण गाँव के लोगों के द्वारा दुराचारी के रूप में जाना जा चुका है और संघ के निवेदन के उपरांत भी गाँव से नहीं हटता है, वह भी संघादिशेष अपराध का दोषी है।

बौद्ध-परम्परा में प्रायश्चित्त के अन्य प्रकार अनियत नैसर्गिक और पाचित्तिय हैं। जिन्हें बौद्ध परम्परा की पारिभाषिक शब्दावलि में निसग्गीय पाचित्तिय धम्म और पाचित्तिय धम्म कहा जाता है, उनकी तुलना जैन-परम्परा के सामान्यतया आलोचना और प्रतिक्रमण से की जा सकती है। निसग्गीय पाचित्तिय धम्म में सामान्यतया वस्त्र पात्र संबंधी ३० नियम आते हैं और उनका उल्लंघन करने पर श्रमण निसग्गीय पाचित्तिय अपराध का दोषी माना जाता है। अन्य भाषण, निवास, आहार, आदि संबंधी ९२ नियम पाचित्तिय धम्म कहे जाते हैं और उनका उल्लंघन करने पर भिक्षु पाचितिय धम्म का दोषी माना जाता है। प्रतिदेशनीय, सेखिय और अधिकरण समथ-शिक्षाएँ हैं।[1]

इस प्रकार जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं में भिक्षु-जीवन एवं श्रमण-संस्था को पवित्र बनाये रखने के लिए विभिन्न नियमों और प्रायश्चित्तों का विधान है। आदर्श श्रमण के जीवन का सुन्दर विवेचन जैन और बौद्ध परम्पराओं में है। जैनों के दशवैकालिक

१. विस्तृत विवेचन के लिए देखिए विनयपिटक–पातिमोक्ख के नियम।

और उत्तराध्यनसूत्र में तथा बौद्धों के धम्मपद और सुत्तनिपात में इसका सविस्तार विवेचन है कि आदर्श भिक्षु कैसा होना चाहिए। आगे के पृष्ठों में हम उन्हीं आधारों पर आदर्श श्रमण की जीवन-शैली का विवेचन करेंगे। यह विवेचना न केवल आदर्श श्रमण के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है वरन् दोनों परम्पराओं में जो साम्य है उसे अभिव्यक्त करने के लिए भी आवश्यक है।

आदर्श जैन श्रमण का स्वरूप

बुद्धिमान् पुरुषों के उपदेश से अथवा अन्य किसी निमित्त से गृहस्थाश्रम को छोड़कर जो त्यागी भिक्षु सदैव ज्ञानी महापुरुषों के वचनों में लीन रहता है, उनकी आज्ञानुसार ही आचरण करता है, नित्य चित्त समाधि में लगाता है, स्त्रियों के मोहजाल में नहीं फँसता और वमन किये हुए भोगों को फिर भोगने की इच्छा नहीं करता, वही आदर्श भिक्षु है। जो साधु ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर के उत्तम वचनों में रुचि रखते हुए सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों प्रकार के षट् जीवनिकायों (प्रत्येक प्राणिसमूह) को आत्मवत् मानता है, पांच महाव्रतों का धारक होता है और पांच प्रकार के पापाचारों (मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, प्रमाद तथा अशुभयोग के व्यापार) से रहित होता है, वही आदर्श साधु है। जो ज्ञानी साधु, क्रोध, मान, माया और लोभ का सदैव वमन करता रहता है, ज्ञानी पुरुषों के वचनों में अपने चित्त को स्थिर लगाये रहता है, और सोना, चांदी, इत्यादि धनको छोड़ देता है वही आदर्श साधु है। जो मूढ़ता को छोड़कर अपनी दृष्टि को शुद्ध (सम्यग्दृष्टि) रखता है; मन, वचन और कायका संयम रखता है; ज्ञान, तप और संयम में रह कर तप द्वारा पूर्व संचित कर्मो का क्षय करने का प्रयत्न करता है, वही आदर्श भिक्षु है। तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के आहार, पानी, खाद्य तथा स्वाद्य आदि सुन्दर पदार्थो की भिक्षा को कल या परसों के लिए संचय करके नहीं रखता और न दूसरों से रखवाता ही है, वही आदर्श भिक्षु है। जो साधु कलहकारिणी, द्वेषकारिणी तथा पीड़ाकारिणी कथा नहीं कहता, निमित्त मिलने पर भी किसी पर क्रोध नहीं करता, इन्द्रियों को निश्चल रखता है, मन को शान्त रखता है, संयम में सर्वदा लीन रहता है तथा उपशम भाव को प्राप्त कर किसी का तिरस्कार नहीं करता, वही आदर्श भिक्षु है। जो कानों को काँटे के समान दुःख देनेवाले आक्रोश वचनों, प्रहारों और अयोग्य उपालम्भों (उलाहनों) को शान्तिपूर्वक सह लेता है, भयंकर एवं प्रचंड गर्जना के स्थानों में भी जो निर्भय रहता है और सुख तथा दुःख को समभावपूर्वक भोग लेता है, वही आदर्श भिक्षु है। जो साधु मास आदि की प्रतिमा याने अभिग्रह स्वीकार कर श्मशान में अत्यन्त भयंकर दृश्यों को देखकर भी नहीं डरता है, तथा मूलगुण आदि में और तपों में रत रहता है, और ममता से शरीर को भी वर्तमान और भविष्य के लिए नहीं चाहता है, वह भाव-भिक्षु है। जो साधु अनेक वार कायोत्सर्ग करता है, अर्थात् शरीर की ममता को छोड़कर

शोभा को त्यागता है, तथा गाली सुनकर, मार खाकर, या कुत्ते आदि के काटनेपर भी जो पृथ्वी के समान क्षमाशील सब कुछ सह लेनेवाला होता है, तथा जो किसी प्रकार का निदान-नियाण नहीं करता है और कुतूहल देखने-सुनने की तीव्र इच्छा से दूर रहता है, वह मुनि भावसाधु है। फिर शरीर से परीषहों को जीतकर जो साधु जन्ममरणरूप संसारमार्ग से अपनी आत्मा को ऊपर उठा लेता है और जन्ममरण को अत्यन्त भयंकर समझकर श्रमणाचार व तप में लगा रहता है, वही भावभिक्षु है। जो साधु हाथों से संयत है, चरणों से संयत है, तथा वचनों से संयत है, और संयतेन्द्रिय—इन्द्रियोंसे संयत है, तथा जो धर्मध्यान में लगा रहने वाला और समाधियुक्त आत्मा वाला है, तथा जो सूत्रार्थो को समझता है, वह भावसाधु है। जो साधु अपने वस्त्र-पात्र आदि भण्डोपकरणों में भी ममता और प्रतिबन्धरूप लोभ से रहित है, तथा बिना परिचय के घरों में भिक्षा के लिए जाता है, व संयम को निस्सार बनानेवाले पुलाक व निष्पुलाक दोषों से दूर रहता है, तथा खरीद, बिक्री व संचय आदि से विरत रहता है, और जो सब प्रकार के संगों से मुक्त है, वह साधु भावभिक्षु है। जो साधु नहीं मिली हुई चीजों में लोलुपता नहीं रखता तथा मिले हुए रसों में आसक्ति भी नहीं रखता है और भावविशुद्ध गोचरी करता है, तथा जो असंयमी-जीवन को नहीं चाहता है, और जो स्थिरचित होकर लब्धिरूप ऋद्धि, वस्त्रादि के सत्कार तथा स्तुति आदि से पूजा की भी आशा नहीं रखता है, वह भावसाधुहै। फिर जो साधु दूसरे को यह कुशील है ऐसा नहीं कहता, और जिससे कोई क्रुद्ध हो ऐसा वचन नहीं बोलता है, जो गुणों के होते हुए भी अभिमान नहीं करता है, वह भावभिक्षु है। जोसाधु न जाति से मत्त बनता और न रूप से, तथा जो लाभ में भी मद नहीं करता व श्रुतज्ञानका भी अभिमान नहीं रखता है, और जो सब प्रकार के गर्वो को छोड़कर धर्मध्यान में लगा रहता है, वह भावभिक्षु है। जो महामुनि सच्चे धर्म का ही मार्ग बताता है, जो स्वयं सद्धर्म पर स्थिर रहकर दूसरों को भी सद्धर्म पर स्थिर करता है, त्याग मार्ग ग्रहण कर दुराचारों के चिह्नों को त्याग देता है (अर्थात् कुसाधु का संग नहीं करता) तथा किसी के साथ ठिठोली, मसखरी आदि नहीं करता वही सच्चा भिक्षु है। (ऐसा भिक्षु क्या प्राप्त करता है?) ऐसा आदर्श भिक्षु सदैव कल्याणमार्ग में अपनी आत्मा को स्थिर रखकर नश्वर एवं अपवित्र देहावास को छोड़कर तथा जन्मरण के बंधनों को सर्वथा काटकर अपुनरागति मोक्ष को प्राप्त होता है।[1]

इसी प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र में भी 'सभिक्षु' नामक अध्ययन में आदर्श भिक्षु जीवन का परिचय वर्णित है। जिसने विचारपूर्वक मुनि वृत्ति अंगीकार की, जो सम्यग्दर्शनादि से युक्त, सरल, निदानरहित, संसारियों के परिचय का त्यागी, विषयों की अभिलाषारहित और अज्ञात कुलों की गोचरी करता हुआ विचरता है वही भिक्षु कहलाता है। राग-

---

१. दसवैकालिक, अध्ययन १०।

रहित, संयम में दृढ़तापूर्वक विचरने वाला, असंयम से निवृत्त, शास्त्रज्ञ, आत्मरक्षक, बुद्धिमान्, परीषहजयी, समदर्शी, किसी भी वस्तु में मूर्च्छा नहीं करनेवाला भिक्षु कहलाता है। कठोर वचन और प्रहार को जानकर समभाव से सहे, सदाचरण में प्रवृत्ति करे, सदा आत्मगुप्त रहे, जो अव्यग्र मन से संयममार्ग में आनेवाले कष्टों को समभाव से सहन करता है, वही भिक्षु है। जीर्ण शय्या और आसन तथा शीत, उष्ण, डांस, मच्छर आदि अनेक प्रकार के परीषहों के उत्पन्न होने पर अव्यग्र मन से सब कष्टों को सहन करता है, वही भिक्षु है। जो पूजा-सत्कार नहीं चाहता, वन्दना-प्रशंसा का इच्छुक नहीं है, वह संयती, सुव्रती, तपस्वी, आत्मगवेषी और सम्यग्ज्ञानी ही भिक्षु कहलाता है। जिनकी संगति से संयमी जीवन का नाश और महामोह का बंध होता है, ऐसे स्त्री-पुरुषों की संगति को जो तपस्वी सदा के लिए छोड़ देता है, जो कुतूहल को प्राप्त नहीं होता, वही भिक्षु है। जो छेदन विद्या, स्वर विद्या, भूकम्प, अंतरिक्ष, स्वप्न लक्षण, दंड, वास्तु, अंगविचार, पशुपक्षियों की बोली जानना, इन विद्याओं से अपनी आजीविका नहीं करता—वही भिक्षु है। जो मंत्र, जड़ी-बूटी, विविध वैद्य-प्रयोग, वमन, विरेचन धूम्रयोग, आंख का अंजन, स्नान, आतुरता, माता-पितादि का शरण और चिकित्सा इन सबको ज्ञान से हेय जानकर छोड़ देते हैं; क्षत्रिय, मल्ल, उग्रकुल, राजपुत्र, ब्राह्मण, भोगिक और विविध प्रकार के शिल्पी, इनकी प्रशंसा और पूजा नहीं करता, इनकी सदोषता जानकर त्याग देता है, वही भिक्षु है। जो दीक्षा लेने के बाद या पहले जिन गृहस्थों को देखा हो, परिचय हुआ हो, उनके साथ इहलौकिक फल की प्राप्ति के लिए विशेष परिचय नहीं करता, वही भिक्षु है। गृहस्थ के यहाँ आहार, पानी, शय्या, आसन तथा अनेक प्रकार के खादिम-स्वादिम होते हुए भी वह नहीं दे और इनकार कर दे तो भी उस पर द्वेष न करे, वही निर्ग्रन्थ भिक्षु है। गृहस्थों के यहाँ से आहार-पानी और अनेक प्रकार के खादिम स्वादिम प्राप्त करके जो बाल-वृद्धादि साधुओं पर अनुकम्पा करता है, मन, वचन और काया को वश में रखता है, ओसामण, जौ का दलिया, ठंडा आहार, कांजी का पानी, जौ का पानी और नीरस आहारादि के मिलने पर जो निन्दा नहीं करता तथा प्रान्तकुल में गोचरी करता है, वही भिक्षु है। लोक में देव-मनुष्य और तिर्यंच संबंधी अनेक प्रकार के महान् भयोत्पादक शब्द होते हैं, उन्हें सुनकर जो चलित नहीं होता, वही भिक्षु है। लोक में प्रचलित अनेक प्रकार के वादों को जानकर जो विद्वान् साधु आत्महित में स्थिर होकर संयम में दृढ़ रहता है और परीषहों को सहन करता है तथा सब जीवों को अपने समान देखता हुआ उपशान्त रहकर किसी का बाधक नहीं बनता, वही भिक्षु है। अशिल्पजीवी, गृह-रहित, मित्र और शत्रु से रहित, जितेन्द्रिय, सर्वथा मुक्त, अल्पकषायी, अल्पाहारी, परिग्रहत्यागी होकर जो एकाकी राग-द्वेष रहित विचरता है, वही भिक्षु है।[1]

१. उत्तराध्ययन, १५।१-१६।

बौद्ध परम्परा में आदर्श श्रमण का स्वरूप

बौद्ध परम्परा में सुत्तनिपात और धम्मपद में आदर्श श्रमण के स्वरूप का वर्णन है। सुत्तनिपात का कथन है—संगति से भय उत्पन्न होता है और गृहस्थी से राग। इसलिए मुनि ने पसन्द किया एकान्त और गृहहीन जीवन। जो उत्पन्न (पाप) को उच्छिन्न कर फिर उसे होने नहीं देता, जो उत्पन्न होते पाप को बढ़ने नहीं देता, उस एकान्तचारी शान्तिपद द्रष्टा महर्षि को मुनि कहते हैं। वस्तुस्थिति का बोधकर जिसने (संसार के) बीज को नष्ट कर दिया है, जो उसकी वृद्धि के लिए तरावट नहीं पहुँचाता, जो बुरे वितर्कों को त्याग कर अलौकिक हो गया है, आवागमन से मुक्त उस महात्मा को मुनि कहते हैं। मुनि सभी सांसारिक अवस्थाओं को जानकर उनमें से किसी एक की भी आशा नहीं करता। तृष्णा और लोलुपता से रहित वह मुनि पुण्य और पाप का संचय नहीं करता, क्योंकि वह संसार से परे हो गया है। जिसने सबको अविभूत किया है, जान लिया है, जो बुद्धिमान् है, जो सब बातों में अलिप्त रहता है, जिसने सबको त्यागा है और तृष्णा का क्षय कर मुक्त हुआ है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। एकचारी, अप्रमत्त, निन्दा-प्रशंसा से अविचलित, शब्द से त्रस्त न होने वाले, सिंह की तरह किसी से भी त्रस्त न होनेवाले, जाल में न फँसने वाली वायु की तरह कहीं भी न फँसनेवाले, जल से अलिप्त पद्म पत्र की तरह कहीं भी लिप्त न होने वाले, दूसरों को मार्ग दिखाने वाले, दूसरों के अनुयायी न बनने वाले, उस ज्ञानीजन को मुनि कहते हैं। जो खम्भे की तरह स्थिर है, जिस पर औरों की निन्दा-प्रशंसा का प्रभाव नहीं पड़ता, जो वीतराग और संयत-इन्द्रिय है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो तसर की तरह ऋजु और स्थिर चितवाला है, जो पापकर्मों से परहेज करता है, और जो विषमता तथा समता का ख्याल रखता है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो संयमी है और पाप नहीं करता, जो आरम्भ और मध्यम वय में संयत रहता है, जो न स्वयं चिढ़ता है और न दूसरों को चिढ़ाता है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो अग्रभाग, मध्यभाग या अवशेषभाग से भिक्षा लेता है, जिसकी जीविका दूसरों के दिये पर निर्भर है, और जो दायक की निन्दा या प्रशंसा नहीं करता, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो मैथुन से विरक्त हो एकाकी विचरण करता है, जो यौवन में भी कहीं आसक्त नहीं होता और मद-प्रमाद से विरक्त तथा विप्रमुक्त है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जिसने संसार को जान लिया है, जो परमार्थदर्शी है, जो संसार रूपी बाढ़ और समुद्र को पारकर स्थिर हो गया है, उस छिन्न ग्रंथिवाले को ज्ञानीजन मुनि कहते हैं।[1]

जैन श्रमणाचार पर आक्षेप और उनका उत्तर

अहिंसा पर निर्मित जैन नैतिक नियमों को अत्यन्त कठोर, अव्यावहारिक और

---

१. सुत्तनिपात, १२।१-१३।

रहित, संयम में दृढ़तापूर्वक विचरने वाला, असंयम से निवृत्त, शास्त्रज्ञ, आत्मरक्षक, बुद्धिमान्, परीषहजयी, समदर्शी, किसी भी वस्तु में मूर्च्छा नहीं करनेवाला भिक्षु कहलाता है। कठोर वचन और प्रहार को जानकर समभाव से सहे, सदाचरण में प्रवृत्ति करे, सदा आत्मगुप्त रहे, जो अव्यग्र मन से संयममार्ग में आनेवाले कष्टों को समभाव से सहन करता है, वही भिक्षु है। जीर्ण शय्या और आसन तथा शीत, उष्ण, डांस, मच्छर आदि अनेक प्रकार के परीषहों के उत्पन्न होने पर अव्यग्र मन से सब कष्टों को सहन करता है, वही भिक्षु है। जो पूजा-सत्कार नहीं चाहता, वन्दना-प्रशंसा का इच्छुक नहीं है, वह संयती, सुव्रती, तपस्वी, आत्मगवेषी और सम्यग्ज्ञानी ही भिक्षु कहलाता है। जिनकी संगति से संयमी जीवन का नाश और महामोह का बंध होता है, ऐसे स्त्री-पुरुषों की संगति को जो तपस्वी सदा के लिए छोड़ देता है, जो कुतूहल को प्राप्त नहीं होता, वही भिक्षु है। जो छेदन विद्या, स्वर विद्या, भूकम्प, अंतरिक्ष, स्वप्न लक्षण, दंड, वास्तु, अंगविचार, पशुपक्षियों की बोली जानना, इन विद्याओं से अपनी आजीविका नहीं करता—वही भिक्षु है। जो मंत्र, जड़ी-बूटी, विविध वैद्य-प्रयोग, वमन, विरेचन धूम्रयोग, आंख का अंजन, स्नान, आतुरता, माता-पितादि का शरण और चिकित्सा इन सबको ज्ञान से हेय जानकर छोड़ देते हैं; क्षत्रिय, मल्ल, उग्रकुल, राजपुत्र, ब्राह्मण, भोगिक और विविध प्रकार के शिल्पी, इनकी प्रशंसा और पूजा नहीं करता, इनकी सदोपता जानकर त्याग देता है, वही भिक्षु है। जो दीक्षा लेने के बाद या पहले जिन गृहस्थों को देखा हो, परिचय हुआ हो, उनके साथ इहलौकिक फल की प्राप्ति के लिए विशेष परिचय नहीं करता, वही भिक्षु है। गृहस्थ के यहाँ आहार, पानी, शय्या, आसन तथा अनेक प्रकार के खादिम-स्वादिम होते हुए भी वह नहीं दे और इनकार कर दे तो भी उस पर द्वेष न करे, वही निर्ग्रन्थ भिक्षु है। गृहस्थों के यहाँ से आहार-पानी और अनेक प्रकार के खादिम स्वादिम प्राप्त करके जो बाल-वृद्धादि साधुओं पर अनुकम्पा करता है, मन, वचन और काया को वश में रखता है, ओसामण, जौ का दलिया, ठंडा आहार, कांजी का पानी, जौ का पानी और नीरस आहारादि के मिलने पर जो निन्दा नहीं करता तथा प्रान्तकुल में गोचरी करता है, वही भिक्षु है। लोक में देव-मनुष्य और तिर्यंच संबंधी अनेक प्रकार के महान् भयोत्पादक शब्द होते हैं, उन्हें सुनकर जो चलित नहीं होता, वही भिक्षु है। लोक में प्रचलित अनेक प्रकार के वादों को जानकर जो विद्वान् साधु आत्महित में स्थिर होकर संयम में दृढ़ रहता है और परीपहों को सहन करता है तथा सब जीवों को अपने समान देखता हुआ उपशान्त रहकर किसी का बाधक नहीं बनता, वही भिक्षु है। अशिल्पजीवी, गृह-रहित, मित्र और शत्रु से रहित, जितेन्द्रिय, सर्वथा मुक्त, अल्पकषायी, अल्पाहारी, परिग्रहत्यागी होकर जो एकाकी राग-द्वेष रहित विचरता है, वही भिक्षु है।[1]

१. उत्तराध्ययन, १५।१–१६।

बौद्ध परम्परा में आदर्श श्रमण का स्वरूप

बौद्ध परम्परा में सुत्तनिपात और धम्मपद में आदर्श श्रमण के स्वरूप का वर्णन है। सुत्तनिपात का कथन है—संगति से भय उत्पन्न होता है और गृहस्थी से राग। इसलिए मुनि ने पसन्द किया एकान्त और गृहहीन जीवन। जो उत्पन्न (पाप) को उच्छिन्न कर फिर उसे होने नहीं देता, जो उत्पन्न होते पाप को बढ़ने नहीं देता, उस एकान्तचारी शान्तिपद द्रष्टा महर्षि को मुनि कहते हैं। वस्तुस्थिति का बोधकर जिसने (संसार के) बीज को नष्ट कर दिया है, जो उसकी वृद्धि के लिए तरावट नहीं पहुँचाता, जो बुरे वितर्कों को त्याग कर अलौकिक हो गया है, आवागमन से मुक्त उस महात्मा को मुनि कहते हैं। मुनि सभी सांसारिक अवस्थाओं को जानकर उनमें से किसी एक की भी आशा नहीं करता। तृष्णा और लोलुपता से रहित वह मुनि पुण्य और पाप का संचय नहीं करता, क्योंकि वह संसार से परे हो गया है। जिसने सबको अविभूत किया है, जान लिया है, जो बुद्धिमान् है, जो सब बातों में अलिप्त रहता है, जिसने सबको त्यागा है और तृष्णा का क्षय कर मुक्त हुआ है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। एकचारी, अप्रमत्त, निन्दा-प्रशंसा से अविचलित, शब्द से त्रस्त न होने वाले, सिंह की तरह किसी से भी त्रस्त न होनेवाले, जाल में न फँसने वाली वायु की तरह कहीं भी न फँसनेवाले, जल से अलिप्त पद्म पत्र की तरह कहीं भी लिप्त न होने वाले, दूसरों को मार्ग दिखाने वाले, दूसरों के अनुयायी न बनने वाले, उस ज्ञानीजन को मुनि कहते हैं। जो खम्भे की तरह स्थिर है, जिस पर औरों की निन्दा-प्रशंसा का प्रभाव नहीं पड़ता, जो वीतराग और संयत-इन्द्रिय है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो तसर की तरह ऋजु और स्थिर चित्तवाला है, जो पापकर्मों से परहेज करता है, और जो विषमता तथा समता का ख्याल रखता है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो संयमी है और पाप नहीं करता, जो आरम्भ और मध्यम वय में संयत रहता है, जो न स्वयं चिढ़ता है और न दूसरों को चिढ़ाता है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो अग्रभाग, मध्यभाग या अवशेषभाग से भिक्षा लेता है, जिसकी जीविका दूसरों के दिये पर निर्भर है, और जो दायक की निन्दा या प्रशंसा नहीं करता, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो मैथुन से विरक्त हो एकाकी विचरण करता है, जो यौवन में भी कहीं आसक्त नहीं होता और मद-प्रमाद से विरक्त तथा विप्रमुक्त है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जिसने संसार को जान लिया है, जो परमार्थदर्शी है, जो संसार रूपी बाढ़ और समुद्र को पारकर स्थिर हो गया है, उस छिन्न ग्रंथिवाले को ज्ञानीजन मुनि कहते हैं।[1]

जैन श्रमणाचार पर आक्षेप और उनका उत्तर

अहिंसा पर निर्मित जैन नैतिक नियमों को अत्यन्त कठोर, अव्यावहारिक और

---

१. सुत्तनिपात, १२।१-१३।

अत्यधिक बौद्धिक कहकर, उनकी आलोचना की गयी है।

जहाँ तक अहिंसा के सिद्धान्त की बात है, वह अत्यधिक बौद्धिकता पर आधारित नहीं माना जा सकता। अहिंसा का मूल करुणा, अनुकम्पा, समानता की भावना और प्रेम है जो बौद्धिकता की अपेक्षा अनुभूति का विषय है, फिर इन पर आधारित नियम अतिबौद्धिक कैसे हो सकते हैं ?

अहिंसा के आधार पर निर्मित जैनसाधु-जीवन के नैतिक नियमों की कठोरता के विषय में जो आक्षेप है उसका परिमार्जन आवश्यक है। जहाँ तक जैन आचार विधि के नैतिक नियमों की कठोरता की बात है, उससे इनकार नहीं किया जा सकता। आलोचकों के इस कथन में सत्यता का अंश अवश्य है। भगवान् बुद्ध ने भी गृधनाम पर्वत पर जैन भिक्षुओं के कठोर आचरण तथा तपस्यादि देखकर उन भिक्षुओं के सम्मुख ही इस शारीरिक कष्ट देने की पद्धति की आलोचना की थी।

इस आक्षेप का उत्तर कठोर आचरण के मूल्य को समझे बिना नहीं दिया जा सकता, यद्यपि इस प्रयास में हम आक्षेप के मुद्दे से थोड़े दूर होगें लेकिन यह आवश्यक है।

जैन आचार-पद्धति के इतिहास में हमने देखा था कि मध्यवर्ती जैन तीर्थकरों के युग में आचरण के नियमों में इतनी कठोरता नहीं थी, लेकिन जब मनुष्य में छल और प्रवंचना की वृत्ति अधिक विकसित हो गयी तब महावीर को कठोर नियमों का विधान करना पड़ा। मनुष्य भोगों में आसक्ति रखता है और यदि उस ओर जाने के लिए थोड़ा-सा भी मार्ग मिला तो वह भोगों में गृद्ध हो आध्यात्मिक साधना तज देता है। बुद्ध ने आचरण के कठोर नैतिक नियम नहीं दिये, किन्तु इसका जो परिणाम बौद्ध श्रमण संस्था पर हुआ वह हमारे सामने है। उसी पवित्र बौद्ध संघ की संतान के रूप में वामाचार मार्ग जैसे अनैतिक और आचारभ्रष्ट सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ। व्यवस्थित कठोर नैतिक नियमों के अभाव में वैदिक साधु-समाज की क्या स्थिति है, यह छिपा नहीं है। यदि जैन संघ व्यवस्था में कठोर नैतिक नियमों का अभाव होता तो वह भी पतन के मार्ग में इनसे आगे निकल गयी होती।

मन की चंचलवृत्ति जब छल और प्रवंचना से युक्त हो जाती है तो उसके निरोध के लिए कठोर नैतिक नियम आवश्यक हो जाते हैं। इन्द्रियाँ अपने विषयों की प्राप्ति के लिए बिना विवेक के प्रयत्न करती रहती हैं। यदि कठोर नैतिक नियमों के पालन के द्वारा उन पर संयम नहीं रखा जाय तो वे व्यक्ति का अहित कर डालती हैं।

कठोर आचार या शारीरिक कष्ट सहने का दूसरा पहलू है आत्मा और शरीर के एक मानने की भ्रान्ति को दूर करना। आध्यात्मिक साधना में यह आवश्यक है कि आत्मा को शरीर से भिन्न समझा जाय। सामान्य रूप से लोग शरीर और आत्मा को पृथक् नहीं मानते और शरीरिक पीड़ा और सुख को वास्तविक मान बैठते है। आत्म-

विकास की आचार पद्धतियों में आत्मा को शरीर से परे माना जाना आवश्यक है। साधक कठोर नैतिक नियमों के पालन से उत्पन्न कष्टों को इसलिए सहन करता है कि शारीरिक कष्ट का उसकी आत्मा से कोई संबंध नहीं, वे उसकी आत्मा को सुखी-दु:खी नहीं कर सकते इस तथ्य को समझ सके। वह कष्टों को निमंत्रण देकर इस बात की परीक्षा करता रहता है कि वह कितने अधिक रूप में शरीर और आत्मा के द्वैत की बात अपना सका है।

आचरण की कठोरता सापेक्ष है। आचरण का कौन सा नियम कठोर है, यह नहीं कहा जा सकता। जो आचरण का नियम एक व्यक्ति को कठोर लगता है वह दूसरे के लिए सरल हो सकता है। जैन साधुओं का यह नियम होता है कि वे वाहन का उपयोग नहीं करते, वरन् सभी ऋतुओं में नंगे पांव पैदल चलते हैं। अब यह नियम उस व्यक्ति के लिए, जिसने गृहस्थ जीवन में एक मील भी पैदल यात्रा नहीं की हो, कठोर होगा और उस किसान के लिए, जो रात-दिन पैदल चलता था, आसान होगा।

एक प्रकार का आचरण व्यक्ति को उस प्रकार के अभ्यास के पूर्व कठोर लगता है, लेकिन वही आचरण अभ्यास के बाद उसी व्यक्ति को सरल लगता है। जैन साधु अपने केशों का मुण्डन नहीं करवाते वरन् अपने हाथों से उखाड़ते हैं। नवदीक्षित साधु इसमें पीड़ा का अनुभव करते हैं, लेकिन २-४ वर्षों के पश्चात् देखने में आता है कि उन्हें किसी प्रकार की पीड़ा का अनुभव नहीं होता। वे हँसते-हँसते केश लुंचन कर लेते हैं। सामान्य व्यक्ति के लिए एक समय का भोजन छोड़ देना कठिन मालूम होता है, लेकिन ऐसे लोग भी देखने में आते हैं, जो ८-१० दिनतक निराहार और निर्जल रहकर भी जीवन के सामान्य क्रमों का यथावत् सम्पादन करते हैं। कठोरता का मापदंड स्थिर नहीं रखा जा सकता, वह तो व्यक्ति के साहस, अभ्यास और क्षमता पर निर्भर है।

जो लोग जैनाचार विधि को अत्यन्त कठोर बताते हैं उनका मापदंड अपना है। वे अभ्यास या आत्मसाहस की हीनता में ऐसा समझ बैठे हैं। वे स्वयं को उस परिस्थिति में रखने के बाद विचार करें तो उन्हें कठिन नहीं लगेगा।

जैनाचार विधि में श्रमण के सामान्य आचरणात्मक सिद्धान्तों पर किये जाने वाले आक्षेपों में प्रथम आक्षेप उसकी निवृत्तिपरकता पर किया जाता है। पाश्चात्य विचारकों ने इस वैराग्यवादी धारणा की कटु आलोचना की है। उसे व्यक्ति की सांसारिक परिस्थितियों से समायोजित करने की क्षमता का अभाव माना है। उनकी दृष्टि में निवृत्तिपरक आचार-व्यवस्था एक प्रकार की नैराश्यवादी मान्यता है, जो व्यक्ति के साहस को कुंठित करती है। इसे मानव जाति के विकास के हेतु घातक माना गया है और पलायनवादी मनोवृत्ति कहकर इसकी आलोचना की गयी है।

इस आक्षेप के उत्तर के पूर्व हमें निवृत्ति के वास्तविक रूप को जानना होगा। निवृत्ति का अर्थ है अशुभ, पापकारी या हिंसक कार्यों से दूर होना। जैन ही क्यों, किसी भी निवृत्तिपरक आचार- व्यवस्था ने कभी शुभ, अहिंसक, परोपकारी कार्यों का निषेध नहीं किया है। निवृत्ति का अर्थ संसार से या समाज से पलायन नहीं है। सामान्य विचारक को वह संसार से पलायन इसलिए दिखाई देता है कि इस जगत् में प्रवृत्ति के नाम पर जो स्वार्थ एवं स्वहित की धारणा और हिंसक आचरण का वर्चस्व है, साधक उससे अपने को दूर कर लेता है। दूसरे निवृत्तिपरक आचरण साधक की सामंजस्य-क्षमता के अभाव का परिचायक नहीं है, वरन् साधक स्वयं उसे करना नहीं चाहता है, क्योंकि वह उसे विकास की सही दिशा नहीं मानता।

इसे निराशावादिता भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि साधक चरम लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है। साथ ही पूर्णता-प्राप्ति का यह लक्ष्य सहज प्राप्य नहीं है। अतएव ऐसे मार्ग के पथिक में साहस का अभाव नहीं हो सकता, वरन् उसके हृदय में तो साहस का सागर हिलोरें मारता है। वैराग्यवादी धारणा को सामाजिक हित में घातक मानना भी उचित नहीं, क्योंकि प्रथम तो वैराग्य का लक्ष्य आत्म-विकास के साथ ही जन कल्याण भी रहता है। साधक का एक काम यह भी है कि वह साधना के द्वारा जिस सत्य को प्राप्त करे, उसे उस समाज को भी बताये जिसके द्वारा अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। जैन साधु के लिए यह आवश्यक है कि वह लोगों को सन्मार्ग बताये।

समाज में नैतिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए ये साधक प्रहरी और प्रेरणासूत्र होते हैं, जो समाज से अल्पतम लेकर नैतिक मूल्यों को जीवित रखते हैं। इस प्रकार श्रमण-साधक समाज-हित के घातक नहीं हैं, वरन् वे समाज व्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण सेवा अर्पित करते हैं। वे समाज के सामने कठोर यातनाएँ सहकर कर्तव्यच्युत नहीं होते हुए अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उनका जीवन 'सादा जीवन उच्च विचार' का प्रतीक बन, समाज के प्राणियों में सद्भावना-सहयोग और परोपकार की वृत्ति जाग्रत् करता है, वे लोगों को स्वार्थ के लिए जीना नहीं सिखाते, वरन् स्व-पर कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

यदि हम समाज में नैतिक व्यवस्था चाहते हैं, सद्गुणों का विकास चाहते हैं, आपस में छीना-झपटी समाप्त करना चाहते हैं, तो इन निवृत्तिपरक जीवन बिताने वाले साधकों के महत्त्व को समझना होगा।

लोग निवृत्तिपरक जीवन जीने वाले साधकों को समाज पर भार समझते हैं। उन्हें सामाजिक श्रम का शोषक कहा जाता है। उन लोगों को छोड़कर, जो केवल साधुवृत्ति के नाम पर पेट पालते हैं, सच्चे साधु या साधक को समाज के श्रम का शोषक नहीं कहा जा

सकता। हम अपराधों के रोकने, या धन सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए करोड़ों रुपये व्यय करते हैं, पुलिस, चौकीदार और बड़े-बड़े न्यायाधीश रखते हैं, उन्हें सामाजिक श्रम का शोषक नहीं कहा जाता। लेकिन जो रोटी का टुकड़ा और कपडा लेकर समाज में सद्‌गुणों के विकास के लिए प्रयास करे, उपदेश दे, लोगों को अनैतिक आचरण से विमुख रखे और स्वयं के आचरण से आदर्श उपस्थित करे, उसे हम सामाजिक श्रम का शोषक कहें यह बात बुद्धिगम्य नहीं लगती। यह सबसे बड़ी मूर्खता है कि हम सदाचार के वृक्ष को लगाने वाले की अपेक्षा दुराचार की घास खोदने वाले को अधिक महत्त्व देते हैं, जिसका परिणाम स्थायी नहीं है।

सामाजिक विकास के लिए सभी सदस्यों का सहयोग अपेक्षित होता है। यही नहीं वरन् समाज के प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य भी होता है कि वह सामाजिक विकास में अपना भाग अदा करे, किन्तु श्रमण वर्ग समाज के विकास में अपना योगदान नहीं देता है और सामाजिक विकास में बाधक है। इस आक्षेप का मूल कारण यह है कि हम केवल भौतिक विकास को ही विकास मान लेते हैं और नैतिक और आध्यात्मिक विकास को भूल जाते हैं। भौतिक विकास सामाजिक विकास का एक अंग हो सकता है लेकिन वह पूर्ण सामाजिक विकास नहीं है। दूसरे भौतिक विकास को नैतिक और सामाजिक विकास से अधिक मूल्यवान् भी नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में जैन साधु वर्ग, जो नैतिक और आध्यात्मिक विकास में सहयोग देता है, सामाजिक विकास का बाधक नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आचार दर्शन में श्रमण संस्था वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में नैतिकता की प्रहरी है। उसके मूल्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

■

इस आक्षेप के उत्तर के पूर्व हमें निवृत्ति के वास्तविक रूप को जानना होगा। निवृत्ति का अर्थ है अशुभ, पापकारी या हिंसक कार्यों से दूर होना। जैन ही क्यों, किसी भी निवृत्तिपरक आचार-व्यवस्था ने कभी शुभ, अहिंसक, परोपकारी कार्यो का निषेध नहीं किया है। निवृत्ति का अर्थ संसार से या समाज से पलायन नहीं है। सामान्य विचारक को वह संसार से पलायन इसलिए दिखाई देता है कि इस जगत् में प्रवृत्ति के नाम पर जो स्वार्थ एवं स्वहित की धारणा और हिंसक आचरण का वर्चस्व है, साधक उससे अपने को दूर कर लेता है। दूसरे निवृत्तिपरक आचरण साधक की सामंजस्य–क्षमता के अभाव का परिचायक नहीं है, वरन् साधक स्वयं उसे करना नहीं चाहता है, क्योंकि वह उसे विकास की सही दिशा नहीं मानता।

इसे निराशावादिता भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि साधक चरम लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है। साथ ही पूर्णता-प्राप्ति का यह लक्ष्य सहज प्राप्य नहीं है। अतएव ऐसे मार्ग के पथिक में साहस का अभाव नहीं हो सकता, वरन् उसके हृदय में तो साहस का सागर हिलोरें मारता है। वैराग्यवादी धारणा को सामाजिक हित में घातक मानना भी उचित नहीं, क्योंकि प्रथम तो वैराग्य का लक्ष्य आत्म-विकास के साथ ही जन कल्याण भी रहता है। साधक का एक काम यह भी है कि वह साधना के द्वारा जिस सत्य को प्राप्त करे, उसे उस समाज को भी बताये जिसके द्वारा अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। जैन साधु के लिए यह आवश्यक है कि वह लोगों को सन्मार्ग बताये।

समाज में नैतिक व्यवस्था बनाये रखने के लिए ये साधक प्रहरी और प्रेरणासूत्र होते हैं, जो समाज से अल्पतम लेकर नैतिक मूल्यों को जीवित रखते हैं। इस प्रकार श्रमण-साधक समाज-हित के घातक नहीं हैं, वरन् वे समाज व्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण सेवा अर्पित करते हैं। वे समाज के सामने कठोर यातनाएँ सहकर कर्तव्यच्युत नहीं होते हुए अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उनका जीवन 'सादा जीवन उच्च विचार' का प्रतीक बन, समाज के प्राणियों में सद्भावना-सहयोग और परोपकार की वृत्ति जाग्रत् करता है, वे लोगों को स्वार्थ के लिए जीना नहीं सिखाते, वरन् स्व-पर कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

यदि हम समाज में नैतिक व्यवस्था चाहते हैं, सद्गुणों का विकास चाहते हैं, आपस में छीना-झपटी समाप्त करना चाहते हैं, तो इन निवृत्तिपरक जीवन बिताने वाले साधकों के महत्त्व को समझना होगा।

लोग निवृत्तिपरक जीवन जीने वाले साधकों को समाज पर भार समझते हैं। उन्हें सामाजिक श्रम का शोषक कहा जाता है। उन लोगों को छोड़कर, जो केवल साधुवृत्ति के नाम पर पेट पालते हैं, सच्चे साधु या साधक को समाज के श्रम का शोषक नहीं कहा जा,

सकता। हम अपराधों के रोकने, या धन सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए करोड़ों रुपये व्यय करते हैं, पुलिस, चौकीदार और बड़े-बड़े न्यायाधीश रखते हैं, उन्हें सामाजिक श्रम का शोषक नहीं कहा जाता। लेकिन जो रोटी का टुकड़ा और कपड़ा लेकर समाज में सद्गुणों के विकास के लिए प्रयास करे, उपदेश दे, लोगों को अनैतिक आचरण से विमुख रखे और स्वयं के आचरण से आदर्श उपस्थित करे, उसे हम सामाजिक श्रम का शोषक कहें यह बात बुद्धिगम्य नहीं लगती। यह सबसे बड़ी मूर्खता है कि हम सदाचार के वृक्ष को लगाने वाले की अपेक्षा दुराचार की घास खोदने वाले को अधिक महत्त्व देते हैं, जिसका परिणाम स्थायी नहीं है।

सामाजिक विकास के लिए सभी सदस्यों का सहयोग अपेक्षित होता है। यही नहीं वरन् समाज के प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य भी होता है कि वह सामाजिक विकास में अपना भाग अदा करे, किन्तु श्रमण वर्ग समाज के विकास में अपना योगदान नहीं देता है और सामाजिक विकास में बाधक है। इस आक्षेप का मूल कारण यह है कि हम केवल भौतिक विकास को ही विकास मान लेते हैं और नैतिक और आध्यात्मिक विकास को भूल जाते हैं। भौतिक विकास सामाजिक विकास का एक अंग हो सकता है लेकिन वह पूर्ण सामाजिक विकास नहीं है। दूसरे भौतिक विकास को नैतिक और सामाजिक विकास से अधिक मूल्यवान् भी नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में जैन साधु वर्ग, जो नैतिक और आध्यात्मिक विकास में सहयोग देता है, सामाजिक विकास का बाधक नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आचार दर्शन में श्रमण संस्था वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में नैतिकता की प्रहरी है। उसके मूल्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

■

१७ जैन आचार के सामान्य नियम

जैन आचारदर्शन में आचरण के कुछ सामान्य नियम ऐसे हैं, जिनका पालन करना गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए आवश्यक है। इन नियमों को निम्नलिखित उपशीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है—१. षट् आवश्यक कर्म, २. दस धर्मों का परिपालन, ३. दान, शील, तप और भाव, ४. बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ), ५. समाधिमरण।

षट् आवश्यक कर्म

आवश्यक शब्द के अनेक अर्थ हैं। प्रथम जो अवश्य किया जाय, वह आवश्यक[१]। दूसरे जो आध्यात्मिक सद्गुणों का आश्रय है, वह आवस्सय (आपाश्रय) है[२] (संस्कृत के आपाश्रय का प्राकृतरूप भी आवस्सय होता है)। तीसरे जो आत्मा को दुर्गुणों से हटा कर सद्गुणों के वश्य (अधीन) करता है, उसे भी आवश्यक कहते हैं।[३] इसी प्रकार जो आत्मा को ज्ञानादि गुणों से आवासित,[४] अनुरंजित[५] अथवा आच्छादित[६] करता है, उसे भी आवश्यक कहा है। (संस्कृत के 'आवासक' का प्राकृत रूप भी आवस्सय बन जाता है)।

अनुयोगद्वारसूत्र के अनुसार षट् आवश्यक गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए आवश्यक माने गये हैं।[७] उसमें आवश्यक के निम्न पर्यायवाची नाम भी बताये गये हैं—(१) आवश्यक, (२) अवश्यकरणीय, (३) ध्रुवनिग्रह (अनादि कर्मो का निग्रह करने वाला, (४) विशोधि (आत्मा की विशुद्धि करनेवाला), (५) षट्क अध्ययन वर्ग. (६) न्याय, (७) आराधना और (८) मार्ग (मोक्ष का उपाय)।

जैनागमों में आवश्यक कर्म छह माने गये हैं। वे छह आवश्यक कर्म इस प्रकार हैं—(१) सामायिक, (२) स्तवन, (३) वन्दन, (४) प्रतिक्रमण, (५) कायोत्सर्ग और (६) प्रत्याख्यान (त्याग)। षडावश्यकों का साधनात्मक जीवन के लिए क्या महत्त्व है, इस विषय में पं० सुखलालजी कहते हैं[८]—जिन तत्त्वों के होने से ही मनुष्य का जीवन अन्य प्राणियों के जीवन से उच्च समझा जा सकता है और अन्त में विकास की पराकाष्ठा तक पहुँच सकता है, वे तत्त्व ये हैं—(१) समभाव अर्थात् शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का सम्मिश्रण, (२) जीवन को विशुद्ध बनाने के लिए सर्वोपरि जीवनवाले महात्माओं को आदर्श के रूप में पसन्द करके उनकी ओर सदा दृष्टि रखना, (३) गुणवानों का बहुमान

१-६. विशेषावश्यकभाष्य टीका (कोट्याचार्य)–उद्धृत श्रमणसूत्र, पृ० ६१-६२।

७. अनुयोगद्वारसूत्र उद्धृत श्रमणसूत्र पृ० ६३।

८. दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० १८३-१८४।

एवं विनय करना, (४) कर्तव्य की स्मृति तथा कर्तव्य-पालन में होने वाली गलतियों का अवलोकन करके निष्कपट भाव से उनका संशोधन करना और पुनः वैसी गलतियाँ न हों, इसके लिए आत्मा को जाग्रत करना, (५) ध्यान का अभ्यास करके प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रीति से समझने के लिए विवेक-शक्ति का विकास करना और (६) त्याग-वृत्ति द्वारा सन्तोष व सहनशीलता बढ़ाना। शास्त्र कहता है कि आवश्यक-क्रिया आत्मा को प्राप्त भावशुद्धि से गिरने नहीं देती, गुणों की वृद्धि के लिए तथा प्राप्त गुणों से स्खलित न होने के लिए आवश्यक-क्रिया का आचरण अत्यन्त उपयोगी है।[1]

सामायिक [समता]

सामायिक समत्व वृत्ति की साधना है। जैनाचारदर्शन में समत्व की साधना नैतिक जीवन का अनिवार्य तत्त्व है। वह नैतिक साधना का अथ और इति दोनों है। समत्व साधना के दो पक्ष हैं, बाह्य रूप में वह सावद्य (हिंसक) प्रवृत्तियों का त्याग है[2], तो आन्तरिक रूप में वह सभी प्राणियों के प्रति आत्मभाव (सर्वत्र आत्मवत् प्रवृत्ति) तथा सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशंसा में समभाव रखना है।[3] लेकिन दोनों पक्षों से भी ऊपर वह विशुद्ध रूप में आत्मरमण या आत्म-साक्षात्कार का प्रयत्न है। सम का अर्थ आत्मभाव (एकीभाव) और अय का अर्थ है गमन। जिसके द्वारा पर-परिणति (बाह्यमुखता) से आत्म-परिणति (अन्तर्मुखता) की ओर जाया जाता है, वही सामायिक है।[4] सामायिक समभाव में है, वह राग-द्वेष के प्रसंगों में मध्यस्थता रखना है। माध्यस्थ वृत्ति ही सामायिक है। सामायिक कोई रूढ़ क्रिया नहीं, वह तो समत्ववृत्तिरूप पावन आत्म-गंगा में अवगाहन है, जो समग्र राग-द्वेषजन्य कलुष को आत्मा से अलग कर मानव को विशुद्ध बनाती है। संक्षेप में सामायिक एक ओर चित्तवृत्ति का समत्व है तो दूसरी ओर पाप विरति।

समत्व-वृत्ति की यह साधना सभी वर्ग, सभी जाति और सभी धर्म वाले कर सकते हैं। किसी वेशभूषा और धर्म-विशेष से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। भगवतीसूत्र में कहा है, कोई भी मनुष्य चाहे गृहस्थ हो या श्रमण, जैन हो या अजैन, समत्ववृत्ति की आराधना कर सकता है। वस्तुतः जो समत्ववृत्ति की साधना करता है वह जैन ही है चाहे वह किसी जाति, वर्ग या धर्म का क्यों न हो।[5] एक आचार्य कहते हैं कि चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या अन्य कोई, जो भी समत्ववृत्ति का आचरण करेगा वह मोक्ष प्राप्त करेगा, इसमें सन्देह नहीं है।[6]

बौद्ध दर्शन में भी यह समत्व वृत्ति स्वीकृत है। धम्मपद में कहा गया है कि सब

---

१. ज्ञानसार, क्रियाष्टक, ५-७। २. नियमसार, १२५।
३. उत्तराध्ययन, १९।९०-९१। ४. गोम्मटसार, जीवकाण्ड (टीका), ३६८।
५. भगवतीसूत्र, २५।७।२१-२३। ६. जिनवाणी, सामायिक अंक, पृ० ५७।

१७ जैन आचार के सामान्य नियम

जैन आचारदर्शन में आचरण के कुछ सामान्य नियम ऐसे हैं, जिनका पालन करना गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए आवश्यक है । इन नियमों को निम्नलिखित उपशीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है—१. षट् आवश्यक कर्म, २. दस धर्मों का परिपालन, ३. दान, शील, तप और भाव, ४. बारह अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ), ५. समाधिमरण ।

षट् आवश्यक कर्म

आवश्यक शब्द के अनेक अर्थ हैं । प्रथम जो अवश्य किया जाय, वह आवश्यक[1] । दूसरे जो आध्यात्मिक सद्गुणों का आश्रय है, वह आवस्सय (आपाश्रय) है[2] (संस्कृत के आपाश्रय का प्राकृतरूप भी आवस्सय होता है) । तीसरे जो आत्मा को दुर्गुणों से हटा कर सद्गुणों के वश्य (अधीन) करता है, उसे भी आवश्यक कहते हैं ।[3] इसी प्रकार जो आत्मा को ज्ञानादि गुणों से आवासित,[4] अनुरंजित[5] अथवा आच्छादित[6] करता है, उसे भी आवश्यक कहा है । (संस्कृत के 'आवासक' का प्राकृत रूप भी आवस्सय बन जाता है) ।

अनुयोगद्वारसूत्र के अनुसार षट् आवश्यक गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए आवश्यक माने गये हैं ।[7] उसमें आवश्यक के निम्न पर्यायवाची नाम भी बताये गये हैं—(१) आवश्यक, (२) अवश्यकरणीय, (३) ध्रुवनिग्रह (अनादि कर्मों का निग्रह करने वाला, (४) विशोधि (आत्मा की विशुद्धि करनेवाला), (५) षट्क अध्ययन वर्ग, (६) न्याय, (७) आराधना और (८) मार्ग (मोक्ष का उपाय) ।

जैनागमों में आवश्यक कर्म छह माने गये हैं । वे छह आवश्यक कर्म इस प्रकार हैं-(१) सामायिक, (२) स्तवन, (३) वन्दन, (४) प्रतिक्रमण, (५) कायोत्सर्ग और (६) प्रत्याख्यान (त्याग) । षडावश्यकों का साधनात्मक जीवन के लिए क्या महत्त्व है, इस विषय में पं० सुखलालजी कहते हैं[8]—जिन तत्त्वों के होने से ही मनुष्य का जीवन अन्य प्राणियों के जीवन से उच्च समझा जा सकता है और अन्त में विकास की पराकाष्ठा तक पहुँच सकता है, वे तत्त्व ये हैं—(१) समभाव अर्थात् शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का सम्मिश्रण, (२) जीवन को विशुद्ध बनाने के लिए सर्वोपरि जीवनवाले महात्माओं को आदर्श के रूप में पसन्द करके उनकी ओर सदा दृष्टि रखना, (३) गुणवानों का बहुमान

१-६. विशेषावश्यकभाष्य टीका (कोट्याचार्य)–उद्धृत श्रमणसूत्र, पृ० ६१-६२ ।

७. अनुयोगद्वारसूत्र उद्धृत श्रमणसूत्र पृ० ६३ ।

८. दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० १८३-१८४ ।

एवं विनय करना, (४) कर्तव्य की स्मृति तथा कर्तव्य-पालन में होने वाली गलतियों का अवलोकन करके निष्कपट भाव से उनका संशोधन करना और पुनः वैसी गलतियाँ न हों, इसके लिए आत्मा को जाग्रत करना, (५) ध्यान का अभ्यास करके प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रीति से समझने के लिए विवेक-शक्ति का विकास करना और (६) त्याग-वृत्ति द्वारा सन्तोष व सहनशीलता बढ़ाना। शास्त्र कहता है कि आवश्यक-क्रिया आत्मा को प्राप्त भावशुद्धि से गिरने नहीं देती, गुणों की वृद्धि के लिए तथा प्राप्त गुणों से स्खलित न होने के लिए आवश्यक-क्रिया का आचरण अत्यन्त उपयोगी है।[1]

सामायिक [समता]

सामायिक समत्व वृत्ति की साधना है। जैनाचारदर्शन में समत्व की साधना नैतिक जीवन का अनिवार्य तत्त्व है। वह नैतिक साधना का अथ और इति दोनों है। समत्व साधना के दो पक्ष हैं, बाह्य रूप में वह सावद्य (हिंसक) प्रवृत्तियों का त्याग है[2], तो आन्तरिक रूप में वह सभी प्राणियों के प्रति आत्मभाव (सर्वत्र आत्मवत् प्रवृत्ति) तथा सुख-दुःख, जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, निन्दा-प्रशंसा में समभाव रखना है।[3] लेकिन दोनों पक्षों से भी ऊपर वह विशुद्ध रूप में आत्मरमण या आत्म-साक्षात्कार का प्रयत्न है। सम का अर्थ आत्मभाव (एकीभाव) और अय का अर्थ है गमन। जिसके द्वारा पर-परिणति (बाह्यमुखता) से आत्म-परिणति (अन्तर्मुखता) की ओर जाया जाता है, वही सामायिक है।[4] सामायिक समभाव में है, वह राग-द्वेष के प्रसंगों में मध्यस्थता रखना है। माध्यस्थ वृत्ति ही सामायिक है। सामायिक कोई रूढ़ क्रिया नहीं, वह तो समत्ववृत्तिरूप पावन आत्म-गंगा में अवगाहन है, जो समग्र राग-द्वेषजन्य कलुष को आत्मा से अलग कर मानव को विशुद्ध बनाती है। संक्षेप में सामायिक एक ओर चित्तवृत्ति का समत्व है तो दूसरी ओर पाप विरति।

समत्व-वृत्ति की यह साधना सभी वर्ग, सभी जाति और सभी धर्म वाले कर सकते हैं। किसी वेशभूषा और धर्म-विशेष से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। भगवतीसूत्र में कहा है, कोई भी मनुष्य चाहे गृहस्थ हो या श्रमण, जैन हो या अजैन, समत्ववृत्ति की आराधना कर सकता है। वस्तुतः जो समत्ववृत्ति की साधना करता है वह जैन ही है चाहे वह किसी जाति, वर्ग या धर्म का क्यों न हो।[5] एक आचार्य कहते हैं कि चाहे श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या अन्य कोई, जो भी समत्ववृत्ति का आचरण करेगा वह मोक्ष प्राप्त करेगा, इसमें सन्देह नहीं है।[6]

बौद्ध दर्शन में भी यह समत्व वृत्ति स्वीकृत है। धम्मपद में कहा गया है कि सब

---

१. ज्ञानसार, क्रियाष्टक, ५-७।
२. नियमसार, १२५।
३. उत्तराध्ययन, १९।९०-९१।
४. गोम्मटसार, जीवकाण्ड (टीका), ३६८।
५. भगवतीसूत्र, २५।७।२१-२३।
६. जिनवाणी, सामायिक अंक, पृ० ५७।

पापों को नहीं करना और चित्त को समत्ववृत्ति में स्थापित करना ही बुद्ध का उपदेश है ।[1] गीता के अनुसार सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि,[2] सुख-दुःख, लौह-कंचन, प्रिय-अप्रिय और निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, शत्रु-मित्र में समभाव और सावद्य (आरम्भ) का परित्याग ही नैतिक जीवन का लक्षण है ।[3] श्रीकृष्ण अर्जुन को यही उपदेश देते हैं कि हे अर्जुन, तू अनुकूल और प्रतिकूल सभी स्थितियों में समभाव धारण कर ।[4]

गृहस्थ साधक सामायिक-व्रत सीमित समय (४८ मिनिट) के लिए ग्रहण करता है । आवश्यक कृत्यों में इसको स्थान देने का प्रयोजन यही है कि साधक चाहे वह गृहस्थ हो या श्रमण, सदैव यह स्मृति बनाए रखे कि वह समत्व-योग की साधना के लिए साधनापथ में प्रस्थित हुआ है । अपने निषेधात्मक रूप में सामायिक सावद्य कार्यों अर्थात् पाप कार्यों से विरति है, तो अपने विधायक रूप में वह समत्व भाव की साधना है ।

स्तवन [भक्ति]

यह दूसरा आवश्यक है । जैन आचार दर्शन के अनुसार प्रत्येक साधक का यह कर्तव्य है कि वह नैतिक एवं साधनात्मक जीवन के आदर्श पुरुष के रूप में जैन तीर्थंकरों की स्तुति करे । जैन साधना में स्तुति का स्वरूप बहुत कुछ भक्तिमार्ग की जपसाधना या नामस्मरण से मिलता है । स्तुति अथवा भक्ति के माध्यम से साधक अपने अहंकार का नाश और सद्गुणों के प्रति अनुराग की वृद्धि करता है । फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि जैन-विचारधारा के अनुसार साधना के आदर्श के रूप में जिसकी स्तुति की जाती है, उन आदर्श पुरुषों से किसी प्रकार की उपलब्धि की अपेक्षा नहीं होती । तीर्थंकर एवं सिद्ध परमात्मा किसी को कुछ नहीं दे सकते, वे मात्र साधना के आदर्श हैं । तीर्थंकर न तो किसी को संसार से पार कर सकते हैं और न किसी प्रकार की उपलब्धि में सहायक होते हैं । फिर भी स्तुति के माध्यम से साधक उनके गुणों के प्रति अपनी श्रद्धा को सजीव बना लेता है । साधक के सामने उनका महान् आदर्श जीवन्त रूप में उपस्थित हो जाता है । साधक भी अपने हृदय में तीर्थंकरों के आदर्श का स्मरण करता हुआ आत्मा में एक आध्यात्मिक पूर्णता की भावना प्रकट करता है । वह विचार करता है कि आत्मतत्त्व के रूप में मेरी आत्मा और तीर्थंकरों की आत्मा समान ही है, यदि मैं स्वयं प्रयत्न करूं तो उनके समान ही बन सकता हूँ । मुझे अपने पुरुषार्थ से उनके समान बनने का प्रयत्न करना चाहिए । जैन-तीर्थंकर गीता के कृष्ण के समान यह उद्घोषणा नहीं करते कि तुम मेरी भक्ति करो मैं तुम्हें सब पापों

---

१. धम्मपद, १८३ ।
२. गीता, ६।३२ ।
३. वही, १४।२४-२५ ।
४. वही, २।४८ ।

से मुक्त कर दूँगा,[१] यद्यपि महावीर ने सूत्रकृतांग में यह कहा है कि मैं भय से रक्षा करने वाला हूँ।[२] बुद्ध ने भी मज्झिमनिकाय में कहा है कि जो मुझे देखता है वह धर्म को देखता है।[3] फिर भी जैन और बौद्ध मान्यता तो यह है कि व्यक्ति अपने ही प्रयत्नों से आध्यात्मिक उत्थान या पतन कर सकता है। स्वयं पाप से मुक्त होने का प्रयत्न न करके केवल भगवान् से मुक्ति की प्रार्थना करना जैन-विचारणा की दृष्टि से सर्वथा निरर्थक है। ऐसी विवेकशून्य प्रार्थनाओं ने मानव जाति को सब प्रकार से हीन, दीन एवं परापेक्षी बनाया है। जब मनुष्य किसी ऐसे उद्धारक में विश्वास करने लगता है, जो उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे पाप से उबार लेगा तो ऐसी निष्ठा से सदाचार की मान्यताओं को गहरा धक्का लगता है। जैन विचारकों की यह स्पष्ट मान्यता है कि केवल तीर्थंकरों की स्तुति करने से मोक्ष एवं समाधि की प्रप्ति नहीं होती, जब तक कि मनुष्य स्वयं उसके लिए प्रयास न करे।[४]

जैन विचार के अनुसार तीर्थंकर तो साधना मार्ग के प्रकाशस्तम्भ हैं। जिस प्रकार गति करना जहाज का कार्य है, उसी प्रकार साधना की दिशा में आगे बढ़ना साधक का कार्य है। जैसे प्रकाश-स्तम्भ की उपस्थिति में भी जहाज समुद्र में बिना गति के उस पार नहीं पहुँचता, वैसे ही केवल नाम-स्मरण या भक्ति साधक को निर्वाण-लाभ नहीं करा सकती, जब तक कि उसके लिए सम्यक् प्रयत्न न हो। डॉ० राधाकृष्णन् ने भी विष्णुपुराण एवं बाइबिल के अधार पर इस कथन की पुष्टि की है।[५] विष्णुपुराण में कहा है कि जो लोग अपने कर्तव्य को छोड़ बैठते हैं और केवल 'कृष्ण-कृष्ण' कहकर भगवान् का नाम जपते हैं, वे वस्तुतः भगवान् के शत्रु हैं और पापी हैं, क्योंकि धर्म की रक्षा के लिए तो स्वयं भगवान् ने भी जन्म लिया था। बाइबिल में भी कहा है कि वह हर कोई, जो 'ईसा-ईसा' पुकारता है, स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं पायेगा, अपितु वह पायेगा, जो परमपिता की इच्छा के अनुसार काम करता है। महावीर ने कहा है कि एक मेरा नाम-स्मरण करता है और दूसरा मेरी आज्ञाओं का पालन करता है, उनमें जो मेरी आज्ञाओं के अनुसार आचरण करता है, वही यथार्थतः मेरी उपासना करता है।[६] बुद्ध भी कहते हैं कि जो धर्म को देखता है, वही मुझे देखता है।[७]

फिर भी हमें स्मरण रखना चाहिए कि जैन परम्परा में भक्ति का लक्ष्य आत्म-स्व-

---

१. गीता, १८।६६।
२. सूत्रकृतांग, १।१६।
३. मज्झिमनिकाय—उद्धृत भगवद् गीता—(रा०), पृ० ७१, इतिवुत्तक ३।४३।
४. आवश्यकचूर्णि—उद्धृत श्रमणसूत्र, पृ० ८०।
५. देखिए—भगवद्गीता (रा०), पृ० ७१—विष्णुपुराण, बाइबिल, जोन २।९-११।
६. आवश्यकवृत्ति, पृ०६६१-६६२ उद्धृत अनुत्तरापातिकदशा भूमिका, पृ० २४।
७. इतिवुत्तक ३।४३।

पापों को नहीं करना और चित्त को समत्ववृत्ति में स्थापित करना ही बुद्ध का उपदेश है।[१] गीता के अनुसार सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि,[२] सुख-दुःख, लौह-कंचन, प्रिय-अप्रिय और निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, शत्रु-मित्र में समभाव और सावद्य (आरम्भ) का परित्याग ही नैतिक जीवन का लक्षण है।[3] श्रीकृष्ण अर्जुन को यही उपदेश देते हैं कि हे अर्जुन, तू अनुकूल और प्रतिकूल सभी स्थितियों में समभाव धारण कर।[४]

गृहस्थ साधक सामायिक-व्रत सीमित समय (४८ मिनिट) के लिए ग्रहण करता है। आवश्यक कृत्यों में इसको स्थान देने का प्रयोजन यही है कि साधक चाहे वह गृहस्थ हो या श्रमण, सदैव यह स्मृति बनाए रखे कि वह समत्व-योग की साधना के लिए साधनापथ में प्रस्थित हुआ है। अपने निषेधात्मक रूप में सामायिक सावद्य कार्यों अर्थात् पाप कार्यों से विरति है, तो अपने विधायक रूप में वह समत्व भाव की साधना है।

स्तवन [भक्ति]

यह दूसरा आवश्यक है। जैन आचार दर्शन के अनुसार प्रत्येक साधक का यह कर्तव्य है कि वह नैतिक एवं साधनात्मक जीवन के आदर्श पुरुष के रूप में जैन तीर्थंकरों की स्तुति करे। जैन साधना में स्तुति का स्वरूप बहुत कुछ भक्तिमार्ग की जप-साधना या नामस्मरण से मिलता है। स्तुति अथवा भक्ति के माध्यम से साधक अपने अहंकार का नाश और सद्‌गुणों के प्रति अनुराग की वृद्धि करता है। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि जैन-विचारधारा के अनुसार साधना के आदर्श के रूप में जिसकी स्तुति की जाती है, उन आदर्श पुरुषों से किसी प्रकार की उपलब्धि की अपेक्षा नहीं होती। तीर्थंकर एवं सिद्ध परमात्मा किसी को कुछ नहीं दे सकते, वे मात्र साधना के आदर्श हैं। तीर्थंकर न तो किसी को संसार से पार कर सकते हैं और न किसी प्रकार की उपलब्धि में सहायक होते हैं। फिर भी स्तुति के माध्यम से साधक उनके गुणों के प्रति अपनी श्रद्धा को सजीव बना लेता है। साधक के सामने उनका महान् आदर्श जीवन्त रूप में उपस्थित हो जाता है। साधक भी अपने हृदय में तीर्थंकरों के आदर्श का स्मरण करता हुआ आत्मा में एक आध्यात्मिक पूर्णता की भावना प्रकट करता है। वह विचार करता है कि आत्मतत्त्व के रूप में मेरी आत्मा और तीर्थंकरों की आत्मा समान ही है, यदि मैं स्वयं प्रयत्न करूं तो उनके समान ही बन सकता हूँ। मुझे अपने पुरुषार्थ से उनके समान बनने का प्रयत्न करना चाहिए। जैन-तीर्थंकर गीता के कृष्ण के समान यह उद्‌घोषणा नहीं करते कि तुम मेरी भक्ति करो मैं तुम्हें सब पापों

---

१. धम्मपद, १८३।
२. गीता, ६।३२।
३. वही, १४।२४-२५।
४. वही, २।४८।

से मुक्त कर दूँगा,[१] यद्यपि महावीर ने सूत्रकृतांग में यह कहा है कि मैं भय से रक्षा करने वाला हूँ।[२] बुद्ध ने भी मज्झिमनिकाय में कहा है कि जो मुझे देखता है वह धर्म को देखता है।[३] फिर भी जैन और बौद्ध मान्यता तो यह है कि व्यक्ति अपने ही प्रयत्नों से आध्यात्मिक उत्थान या पतन कर सकता है। स्वयं पाप से मुक्त होने का प्रयत्न न करके केवल भगवान् से मुक्ति की प्रार्थना करना जैन-विचारणा की दृष्टि से सर्वथा निरर्थक है। ऐसी विवेकशून्य प्रार्थनाओं ने मानव जाति को सब प्रकार से हीन, दीन एवं परापेक्षी बनाया है। जब मनुष्य किसी ऐसे उद्धारक में विश्वास करने लगता है, जो उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे पाप से उबार लेगा तो ऐसी निष्ठा से सदाचार की मान्यताओं को गहरा धक्का लगता है। जैन विचारकों की यह स्पष्ट मान्यता है कि केवल तीर्थंकरों की स्तुति करने से मोक्ष एवं समाधि की प्रप्ति नहीं होती, जब तक कि मनुष्य स्वयं उसके लिए प्रयास न करे।[४]

जैन विचार के अनुसार तीर्थंकर तो साधना मार्ग के प्रकाशस्तम्भ हैं। जिस प्रकार गति करना जहाज का कार्य है, उसी प्रकार साधना की दिशा में आगे बढ़ना साधक का कार्य है। जैसे प्रकाश-स्तम्भ की उपस्थिति में भी जहाज समुद्र में बिना गति के उस पार नहीं पहुँचता, वैसे ही केवल नाम-स्मरण या भक्ति साधक को निर्वाण-लाभ नहीं करा सकती, जब तक कि उसके लिए सम्यक् प्रयत्न न हो। डॉ० राधाकृष्णन् ने भी विष्णुपुराण एवं बाइबिल के अधार पर इस कथन की पुष्टि की है।[५] विष्णुपुराण में कहा है कि जो लोग अपने कर्तव्य को छोड़ बैठते हैं और केवल 'कृष्ण-कृष्ण' कहकर भगवान् का नाम जपते हैं, वे वस्तुतः भगवान् के शत्रु हैं और पापी हैं, क्योंकि धर्म की रक्षा के लिए तो स्वयं भगवान् ने भी जन्म लिया था। बाइबिल में भी कहा है कि वह हर कोई, जो 'ईसा-ईसा' पुकारता है, स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं पायेगा, अपितु वह पायेगा, जो परमपिता की इच्छा के अनुसार काम करता है। महावीर ने कहा है कि एक मेरा नाम-स्मरण करता है और दूसरा मेरी आज्ञाओं का पालन करता है, उनमें जो मेरी आज्ञाओं के अनुसार आचरण करता है, वही यथार्थतः मेरी उपासना करता है।[६] बुद्ध भी कहते हैं कि जो धर्म को देखता है, वही मुझे देखता है।[७]

फिर भी हमें स्मरण रखना चाहिए कि जैन परम्परा में भक्ति का लक्ष्य आत्म-स्व-

---

१. गीता, १८।६६।
२. सूत्रकृतांग, १।१६।
३. मज्झिमनिकाय–उद्धृत भगवद् गीता–(रा०), पृ० ७१, इतिवुत्तक ३।४३।
४. आवश्यकचूर्णि–उद्धृत श्रमणसूत्र, पृ० ८०।
५. देखिए—भगवद्गीता (रा०), पृ० ७१–विष्णुपुराण, बाइबिल, जोन २।९-११।
६. आवश्यकवृत्ति, पृ०६६१-६६२ उद्धृत अनुत्तरापातिकदशा भूमिका, पृ० २४।
७. इतिवुत्तक ३।४३।

पापों को नहीं करना और चित्त को समत्ववृत्ति में स्थापित करना ही बुद्ध का उपदेश है ।[1] गीता के अनुसार सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि,[2] सुख-दुःख, लौह-कंचन, प्रिय-अप्रिय और निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, शत्रु-मित्र में समभाव और सावद्य (आरम्भ) का परित्याग ही नैतिक जीवन का लक्षण है ।[3] श्रीकृष्ण अर्जुन को यही उपदेश देते हैं कि हे अर्जुन, तू अनुकूल और प्रतिकूल सभी स्थितियों में समभाव धारण कर ।[4]

गृहस्थ साधक सामायिक-व्रत सीमित समय (४८ मिनिट) के लिए ग्रहण करता है । आवश्यक कृत्यों में इसको स्थान देने का प्रयोजन यही है कि साधक चाहे वह गृहस्थ हो या श्रमण, सदैव यह स्मृति बनाए रखे कि वह समत्व-योग की साधना के लिए साधनापथ में प्रस्थित हुआ है । अपने निषेधात्मक रूप में सामायिक सावद्य कार्यों अर्थात् पाप कार्यो से विरति है, तो अपने विधायक रूप में वह समत्व भाव की साधना है ।

स्तवन [भक्ति]

यह दूसरा आवश्यक है । जैन आचार दर्शन के अनुसार प्रत्येक साधक का यह कर्तव्य है कि वह नैतिक एवं साधनात्मक जीवन के आदर्श पुरुष के रूप में जैन तीर्थंकरों की स्तुति करे । जैन साधना में स्तुति का स्वरूप बहुत कुछ भक्तिमार्ग की जप-साधना या नामस्मरण से मिलता है । स्तुति अथवा भक्ति के माध्यम से साधक अपने अहंकार का नाश और सद्गुणों के प्रति अनुराग की वृद्धि करता है । फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि जैन-विचारधारा के अनुसार साधना के आदर्श के रूप में जिसकी स्तुति की जाती है, उन आदर्श पुरुषों से किसी प्रकार की उपलब्धि की अपेक्षा नहीं होती । तीर्थंकर एवं सिद्ध परमात्मा किसी को कुछ नहीं दे सकते, वे मात्र साधना के आदर्श हैं । तीर्थंकर न तो किसी को संसार से पार कर सकते हैं और न किसी प्रकार की उपलब्धि में सहायक होते हैं । फिर भी स्तुति के माध्यम से साधक उनके गुणों के प्रति अपनी श्रद्धा को सजीव बना लेता है । साधक के सामने उनका महान् आदर्श जीवन्त रूप में उपस्थित हो जाता है । साधक भी अपने हृदय में तीर्थंकरों के आदर्श का स्मरण करता हुआ आत्मा में एक आध्यात्मिक पूर्णता की भावना प्रकट करता है । वह विचार करता है कि आत्मतत्त्व के रूप में मेरी आत्मा और तीर्थंकरों की आत्मा समान ही है, यदि मैं स्वयं प्रयत्न करूं तो उनके समान ही बन सकता हूँ । मुझे अपने पुरुषार्थ से उनके समान बनने का प्रयत्न करना चाहिए । जैन-तीर्थंकर गीता के कृष्ण के समान यह उद्घोषणा नहीं करते कि तुम मेरी भक्ति करो मैं तुम्हें सब पापों

---

१. धम्मपद, १८३ ।
२. गीता, ६।३२ ।
३. वही, १४।२४-२५ ।
४. वही, २।४८ ।

से मुक्त कर दूँगा,[१] यद्यपि महावीर ने सूत्रकृतांग में यह कहा है कि मैं भय से रक्षा करने वाला हूँ।[२] बुद्ध ने भी मज्झिमनिकाय में कहा है कि जो मुझे देखता है वह धर्म को देखता है।[३] फिर भी जैन और बौद्ध मान्यता तो यह है कि व्यक्ति अपने ही प्रयत्नों से आध्यात्मिक उत्थान या पतन कर सकता है। स्वयं पाप से मुक्त होने का प्रयत्न न करके केवल भगवान् से मुक्ति की प्रार्थना करना जैन-विचारणा की दृष्टि से सर्वथा निरर्थक है। ऐसी विवेकशून्य प्रार्थनाओं ने मानव जाति को सब प्रकार से हीन, दीन एवं परापेक्षी बनाया है। जब मनुष्य किसी ऐसे उद्धारक में विश्वास करने लगता है, जो उसकी स्तुति से प्रसन्न होकर उसे पाप से उबार लेगा तो ऐसी निष्ठा से सदाचार की मान्यताओं को गहरा धक्का लगता है। जैन विचारकों की यह स्पष्ट मान्यता है कि केवल तीर्थंकरों की स्तुति करने से मोक्ष एवं समाधि की प्रप्ति नहीं होती, जब तक कि मनुष्य स्वयं उसके लिए प्रयास न करे।[४]

जैन विचार के अनुसार तीर्थंकर तो साधना मार्ग के प्रकाशस्तम्भ हैं। जिस प्रकार गति करना जहाज का कार्य है, उसी प्रकार साधना की दिशा में आगे बढ़ना साधक का कार्य है। जैसे प्रकाश-स्तम्भ की उपस्थिति में भी जहाज समुद्र में बिना गति के उस पार नहीं पहुँचता, वैसे ही केवल नाम-स्मरण या भक्ति साधक को निर्वाण-लाभ नहीं करा सकती, जब तक कि उसके लिए सम्यक् प्रयत्न न हो। डॉ० राधाकृष्णन् ने भी विष्णुपुराण एवं बाइबिल के अधार पर इस कथन की पुष्टि की है।[५] विष्णुपुराण में कहा है कि जो लोग अपने कर्तव्य को छोड़ बैठते हैं और केवल 'कृष्ण-कृष्ण' कहकर भगवान् का नाम जपते हैं, वे वस्तुतः भगवान् के शत्रु हैं और पापी हैं, क्योंकि धर्म की रक्षा के लिए तो स्वयं भगवान् ने भी जन्म लिया था। बाइबिल में भी कहा है कि वह हर कोई, जो 'ईसा-ईसा' पुकारता है, स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं पायेगा, अपितु वह पायेगा, जो परमपिता की इच्छा के अनुसार काम करता है। महावीर ने कहा है कि एक मेरा नाम-स्मरण करता है और दूसरा मेरी आज्ञाओं का पालन करता है, उनमें जो मेरी आज्ञाओं के अनुसार आचरण करता है, वही यथार्थतः मेरी उपासना करता है।[६] बुद्ध भी कहते हैं कि जो धर्म को देखता है, वही मुझे देखता है।[७]

फिर भी हमें स्मरण रखना चाहिए कि जैन परम्परा में भक्ति का लक्ष्य आत्म-स्व-

---

१. गीता, १८।६६। २. सूत्रकृतांग, १।१।६।
३. मज्झिमनिकाय—उद्धृत भगवद् गीता—(रा०), पृ० ७१, इतिवुत्तक ३।४३।
४. आवश्यकचूर्णि—उद्धृत श्रमणसूत्र, पृ० ८०।
५. देखिए—भगवद्गीता (रा०), पृ० ७१—विष्णुपुराण, बाइबिल, जोन २।९-११।
६. आवश्यकवृत्ति, पृ० ६६१-६६२ उद्धृत अनुत्तरापातिकदशा भूमिका, पृ० २४।
७. इतिवुत्तक ३।४३।

रूप का बोध या साक्षात्कार है, अपने में निहित परमात्म शक्ति को अभिव्यक्त करना है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि सम्यक्ज्ञान और आचरण से युक्त हो निर्वाणाभिमुख होना ही गृहस्थ और श्रमण की वास्तविक भक्ति है। मुक्ति को प्राप्त पुरुषों के गुणों का कीर्तन करना व्यावहारिक भक्ति है। वास्तविक भक्ति तो आत्मा को मोक्ष-पथ में योजित करना है, जो राग-द्वेष एवं सर्व विकल्पों का परिहार करके विशुद्ध आत्मतत्त्व से योजित होना है, यही वास्तविक भक्ति-योग है। ऋषभ आदि सभी तीर्थंकर इसी भक्ति के द्वारा परमपद को प्राप्त हुए हैं।[१] इस प्रकार भक्ति या स्तवन मूलतः आत्मबोध है, वह अपना ही कीर्तन और स्तवन है। जैन दर्शन में भक्ति के सच्चे स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उपाध्याय देवचन्द्रजी लिखते हैं।[२]

अज-कुल-गत केशरी लहेरे, निज पद सिंह निहाल।
तिम प्रभु भक्ति भवी लहेरे, आतम शक्ति संभाल।।

जिस प्रकार अज कुल में पालित सिंहशावक वास्तविक सिंह के दर्शन से अपने प्रसुप्त सिंहत्व को प्रकट कर लेता है, उसी प्रकार साधक तीर्थंकरों के गुणकीर्तन या स्तवन के द्वारा निज में जिनत्व की शोध कर लेता है, स्वयं में निहित परमात्मशक्ति को प्रकट कर लेता है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि जैन-साधना में भगवान् की स्तुति निरर्थक है। जैन साधना यह स्वीकार करती है कि भगवान् की स्तुति प्रसुप्त अन्तश्चेतना को जाग्रत करती है और हमारे सामने साधना के आदर्श का एक जीवन्त चित्र उपस्थित करती है। इतना ही नहीं, वह उस आदर्श की प्राप्ति के लिए प्रेरणा भी बनती है। जैन विचारकों ने यह भी स्वीकार किया है कि भगवान् की स्तुति के माध्यम से मनुष्य अपना आध्यत्मिक विकास कर सकता है। यद्यपि प्रयत्न व्यक्ति का ही होता है, तथापि साधना के आदर्श उन महापुरुषों का जीवन उसकी प्रेरणा का निमित्त होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि स्तवन से व्यक्ति की दर्शन-विशुद्धि होती है।[3] यह भी कहा है कि भगवद्भक्ति के फलस्वरूप पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होता है। यद्यपि इसका कारण परमात्मा की कृपा नहीं, वरन् व्यक्ति के दृष्टिकोण की विशुद्धि ही है। आचार्य भद्रबाहु ने इस बात को बड़े ही स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है कि भगवान् के नाम-स्मरण से पापों का पुंज नष्ट होता है।[४] आचार्य विनयचन्द्र भगवान् की स्तुति करते हुए कहते हैं।[५]

पाप-पराल को पुंज वण्यो अति, मानो मेरू आकारो।
ते तुम नाम हुताशन सेती, सहज ही प्रजलत सारो।।

---

१. नियमसार, १३४-१४०। २. अजित-जिनस्तवन।
३. उत्तराध्ययन, २९।१९। ४. आवश्यकनिर्युक्ति, १०७६।
५. विनयचन्द्रचौबीसी।

जैन विचार में स्तुति के दो रूप माने गये हैं। १. द्रव्य और २. भाव। सात्विक वस्तुओं द्वारा तीर्थंकर की प्रतिमा की पूजा करना द्रव्यस्तव है और भगवान् के गुणों का स्मरण करना भावस्तव है। जैनों के अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय द्रव्यस्तव के महत्त्व को स्वीकार नहीं करते हैं। द्रव्यस्तव के पीछे मूलतः यही भावना रही होगी कि उसके माध्यम से मनुष्य ममत्व का त्याग करे। वस्तुओं अथवा संग्रह के ममत्व का त्याग कर देना ही द्रव्यपूजा का प्रयोजन है। द्रव्यपूजा केवल गृहस्थ उपासकों के लिए है। क्योंकि साधु को न तो ममत्व होता है और न उसके पास कोई संग्रह होता है, अतः उसके लिए भावस्तव ही मुख्य माना गया है। वस्तुतः स्तवन का मूल्य आदर्श को उपलब्ध करनेवाले महापुरुषों की जीवनगाथा के स्मरण के द्वारा साधना के क्षेत्र में प्रेरणा प्राप्त करना है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं—

> न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्त वैरे।
> तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चेतो दुरितांजनेभ्यः ॥-स्वयम्भूस्तोत्र

हे नाथ, आप तो वीतराग हैं। आपको अपनी पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है। आप न पूजा करनेवालों से खुश होते हैं और न निन्दा करने वालों से नाखुश, क्योंकि आपने तो वैर का पूरी तरह वमन कर दिया है। तो भी यह निश्चित है कि आपके पवित्र गुणों का स्मरण हमारे चित्त को पापरूप कलंकों से हटाकर पवित्र बना देता है।

३. वन्दन

यह तीसरा आवश्यक वन्दन है। साधना के आदर्श के रूप में तीर्थंकर देव की उपासना के पश्चात् साधनामार्ग के पथ-प्रदर्शक गुरु की विनय करना वन्दन है। वन्दन मन, वचन और काया का वह प्रशस्त व्यापार है जिससे पथ-प्रदर्शक गुरु एवं विशिष्ट साधनारत साधकों के प्रति श्रद्धा और आदर प्रकट किया जाता है। इसमें उन व्यक्तियों को प्रणाम किया जाता है जो साधना-पथ पर अपेक्षाकृत आगे बढ़े हुए हैं।

वन्दन के सम्बन्ध में यह भी जान लेना आवश्यक है कि वन्दन किसे किया जाये? आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट रूप से यह निर्देश किया है कि गुणहीन एवं दुराचारी अवंद्य व्यक्ति को वन्दन करने से न तो कर्मों की निर्जरा होती है न कीर्ति ही, प्रत्युत् असंयम और दुराचार का अनुमोदन होने से कर्मों का बंध होता है। ऐसा वन्दन व्यर्थ का काय क्लेश है।[1] आचार्य ने यह भी निर्देश किया है कि जो व्यक्ति अपने से श्रेष्ठजनों द्वारा वन्दन कराता है, वह असंयम में वृद्धि करके अपना अधःपतन करता है।[2] जैन-विचारधारा के अनुसार जो चारित्र एवं गुणों से सम्पन्न हैं, वे ही वन्दनीय हैं। द्रव्य

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, ११०८। २. वही, ११०९।

(बाह्य) और भाव (आंतर) दोनों दृष्टियों से शुद्ध संयमी पुरुष ही वन्दनीय है। आचार्य भद्रबाहु ने यह निर्देश किया है कि जिस प्रकार वही सिक्का ग्राह्य होता है जिसकी धातु भी शुद्ध हो और मुद्रांकन भी ठीक हो, उसी प्रकार द्रव्य और भाव दोनों दृष्टियों से शुद्ध व्यक्ति ही वन्दन का अधिकारी होता है ।[१]

वन्दन करनेवाला व्यक्ति विनय के द्वारा लोकप्रियता प्राप्त करता है ।[२] भगवतीसूत्र के अनुसार वन्दन के फलस्वरूप गुरुजनों के सत्संग का लाभ होता है । सत्संग से शास्त्र-श्रवण, शास्त्र-श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान और फिर क्रमशः प्रत्याख्यान, सयम-अनास्रव, तप, कर्मनाश, अक्रिया एवं अन्त में सिद्धि की उपलब्धि हो जाती है ।[३]

वन्दन का मूल उद्देश्य है जीवन में विनय को स्थान देना । विनय को जिन-शासन का मूल कहा गया है । सम्पूर्ण संघ-व्यवस्था विनय पर आधारित है । अविनीत न तो संघ-व्यवस्था में सहायक होता है और न आत्मकल्याण ही कर सकता है । आवश्यक निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि जिनशासन का मूल विनय है, विनीत ही सच्चा संयमी होता है । जो विनयशील नहीं है उसका कैसा तप और कैसा धर्म ?[४] दशवैकालिक सूत्र के अनुसार जिस प्रकार वृक्ष के मूल से स्कन्ध, स्कन्ध से शाखाएँ, शाखाओं से प्रशाखाएँ और फिर क्रम से पत्र, पुष्प, फल एवं रस उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार धर्म-वृक्ष का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल एवं रस मोक्ष है ।[५] श्रमण साधकों में दीक्षापर्याय के आधार पर वन्दन किया जाता है । सभी पूर्व-दीक्षित साधक वन्दनीय होते हैं । जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में श्रमण-जीवन की वरिष्ठता और कनिष्ठता ही वन्दन का प्रमुख आधार है । यद्यपि दोनों परम्पराओं में दीक्षा या उपसम्पदा की दृष्टि से वरिष्ठ श्रमणी को भी कनिष्ठ या नवदीक्षित श्रमण को वंदन करने का विधान है । गृहस्थ साधकों के लिए सभी श्रमण, श्रमणी तथा आयु में बड़े गृहस्थ वंदनीय हैं ।

वन्दन के सम्बन्ध में बुद्ध-वचन है कि पुण्य की अभिलाषा करता हुआ व्यक्ति वर्ष भर जो कुछ यज्ञ व हवन लोक में करता है, उसका फल पुण्यात्माओं के अभिवादन के फल का चौथा भाग भी नहीं होता । अतः सरलवृत्ति महात्माओं को अभिवादन करना ही अधिक श्रेयस्कर है ।[६] सदा वृद्धों की सेवा करने वाले और अभिवादनशील पुरुष की चार वस्तुएँ वृद्धि को प्राप्त होती हैं—आयु, सौन्दर्य, सुख तथा बल ।[७] धम्मपद का यह श्लोक किंचित् परिवर्तन के साथ मनुस्मृति में भी पाया जाता है । उसमें कहा है कि अभिवादन-

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, ११३८ ।
२. उत्तराध्ययन, २९।१० ।
३. भगवतीसूत्र, २।५।११२ ।
४. आवश्यकनिर्युक्ति, १२१६ ।
५. दशवैकालिक, ९।२।१-२ ।
६. धम्मपद, १०८ ।
७. वही, १०९ ।

शील और वृद्धों की सेवा करनेवाले व्यक्ति की आयु, विद्या, कीर्ति और बल ये चारों बातें सदैव बढ़ती रहती हैं ।[1]

गीता भी वन्दन (प्रणाम) को साधना का आवश्यक अंग मानती है, तभी तो गीताशास्त्र के अन्त में 'मां नमस्कुरु (१८।६५)' कहकर श्रीकृष्ण ने वंदन का निर्देश किया है। भागवतपुराण के अनुसार नवधा भक्ति में वंदन भी भक्ति का एक प्रकार है ।[2]

वन्दन क्रिया के सम्बन्ध में जैन आचार्यों ने काफी गहराई से विचार किया है। आवश्यकनिर्युक्ति में वन्दन के ३२ दोष वर्णित हैं[3]—१. अनादृत, २. स्तब्ध, ३. प्रविद्ध, ४. परिपिण्डित, ५. टोलगति, ६. अंकुश, ७. कच्छ परिगत, ८. मत्स्योद्‌वृत्त, ९. मनसाप्रद्विष्ट १०. वेदिकाबद्ध, ११. भय, १२. भजमान, १३. मैत्री, १४. गौरव, १५. कारण, १६. स्तैन्य, १७. प्रत्यनीक, १८. रुष्ट, १९. तर्जित, २०. शठ, २१. हीलित, २२. विपरिकुंचित, २३. दृष्टादृष्ट, २४. शृंग, २५. कर, २६. मोचन, २७. आश्लिष्ट-अनाश्लिष्ट, २८. ऊन, २९. उत्तरचूड़ा, ३०. मूक, ३१. ढड्डर, ३२. चुड्ली। विस्तारभय से इनकी व्याख्या सम्भव नहीं है। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि वन्दन करते समय स्वार्थभाव, आकांक्षा, भय और अनादर का भाव होना, योग्य सम्मानसूचक वचनों का सम्यक् प्रकार से उच्चारण नहीं करना तथा शारीरिक रूप से सम्मान विधि का परिपालन नहीं करना आदि वन्दन के दोष हैं। उपर्युक्त दोषों से रहित वन्दन के लिए निर्दिष्ट अवसरों पर वंदन करना यह साधक का आवश्यक कर्तव्य है।

४. प्रतिक्रमण

मन, वचन और काय से जो अशुभ आचरण किया जाता है अथवा दूसरों के द्वारा कराया जाता है, और दूसरे लोगों के द्वारा आचरित पापाचरण का जो अनुमोदन किया जाता है, उन सबकी निवृत्ति के लिए कृतपापों की आलोचना करना प्रतिक्रमण है। आचार्य हेमचन्द्र प्रतिक्रमण का निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि शुभ-योग से अशुभयोग की ओर गये हुए अपने आपको पुनः शुभयोग में लौटा लाना प्रतिक्रमण है।[4] आचार्य हरिभद्र ने प्रतिक्रमण की व्याख्या में इन तीन अर्थों का निर्देश किया है—(१) प्रमादवश स्वस्थान से परस्थान (स्वधर्म से परस्थान, परधर्म) में गये हुए साधक का पुनः स्वस्थान पर लौट आना यह प्रतिक्रमण है। अप्रमत्त चेतना का स्व-चेतना केन्द्र में स्थित होना स्वस्थान है, जबकि चेतना का बहिर्मुख होकर पर-वस्तु पर केन्द्रित होना पर-स्थान है। इस प्रकार बाह्यदृष्टि से अन्तदृष्टि की ओर आना प्रतिक्रमण है। (२) क्षयोपशमिक भाव से औदयिक भाव में परिणत हुआ साधक जब पुनः औदयिकभाव से क्षयोपशमिक

१. मनुस्मृति, २।१२१। २. भागवतपुराण, ७।५।२३।
३. आवश्यकनिर्युक्ति, १२०७-१२११, प्रवचनसारोद्धार—वन्दनाद्वार।
४. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति, ३।

(बाह्य) और भाव (आंतर) दोनों दृष्टियों से शुद्ध संयमी पुरुष ही वन्दनीय है। आचार्य भद्रबाहु ने यह निर्देश किया है कि जिस प्रकार वही सिक्का ग्राह्य होता है जिसकी धातु भी शुद्ध हो और मुद्रांकन भी ठीक हो, उसी प्रकार द्रव्य और भाव दोनों दृष्टियों से शुद्ध व्यक्ति ही वन्दन का अधिकारी होता है ।[1]

वन्दन करनेवाला व्यक्ति विनय के द्वारा लोकप्रियता प्राप्त करता है ।[2] भगवतीसूत्र के अनुसार वन्दन के फलस्वरूप गुरुजनों के सत्संग का लाभ होता है। सत्संग से शास्त्र-श्रवण, शास्त्र-श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान और फिर क्रमशः प्रत्याख्यान, सयम-अनास्रव, तप, कर्मनाश, अक्रिया एवं अन्त में सिद्धि की उपलब्धि हो जाती है ।[3]

वन्दन का मूल उद्देश्य है जीवन में विनय को स्थान देना। विनय को जिन-शासन का मूल कहा गया है। सम्पूर्ण संघ-व्यवस्था विनय पर आधारित है। अविनीत न तो संघ-व्यवस्था में सहायक होता है और न आत्मकल्याण ही कर सकता है। आवश्यक निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि जिनशासन का मूल विनय है, विनीत ही सच्चा संयमी होता है। जो विनयशील नहीं है उसका कैसा तप और कैसा धर्म ?[4] दशवैकालिक सूत्र के अनुसार जिस प्रकार वृक्ष के मूल से स्कन्ध, स्कन्ध से शाखाएँ, शाखाओं से प्रशाखाएँ और फिर क्रम से पत्र, पुष्प, फल एवं रस उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार धर्म-वृक्ष का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल एवं रस मोक्ष है।[5] श्रमण साधकों में दीक्षापर्याय के आधार पर वन्दन किया जाता है। सभी पूर्व-दीक्षित साधक वन्दनीय होते हैं। जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं में श्रमण-जीवन की वरिष्ठता और कनिष्ठता ही वन्दन का प्रमुख आधार है। यद्यपि दोनों परम्पराओं में दीक्षा या उपसम्पदा की दृष्टि से वरिष्ठ श्रमणी को भी कनिष्ठ या नवदीक्षित श्रमण को वंदन करने का विधान है। गृहस्थ साधकों के लिए सभी श्रमण, श्रमणी तथा आयु में बड़े गृहस्थ वंदनीय हैं।

वन्दन के सम्बन्ध में बुद्ध-वचन है कि पुण्य की अभिलाषा करता हुआ व्यक्ति वर्ष भर जो कुछ यज्ञ व हवन लोक में करता है, उसका फल पुण्यात्माओं के अभिवादन के फल का चौथा भाग भी नहीं होता। अतः सरलवृत्ति महात्माओं को अभिवादन करना ही अधिक श्रेयस्कर है।[6] सदा वृद्धों की सेवा करने वाले और अभिवादनशील पुरुष की चार वस्तुएँ वृद्धि को प्राप्त होती हैं—आयु, सौन्दर्य, सुख तथा बल।[7] धम्मपद का यह श्लोक किंचित् परिवर्तन के साथ मनुस्मृति में भी पाया जाता है। उसमें कहा है कि अभिवादन-

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, ११३८।
२. उत्तराध्ययन, २९।१०।
३. भगवतीसूत्र, २।५।११२।
४. आवश्यकनिर्युक्ति, १२१६।
५. दशवैकालिक, ९।२।१-२।
६. धम्मपद, १०८।
७. वही, १०९।

शील और वृद्धों को सेवा करनेवाले व्यक्ति की आयु, विद्या, कीर्ति और बल ये चारों बातें सदैव बढ़ती रहती हैं।[1]

गीता भी वन्दन (प्रणाम) को साधना का आवश्यक अंग मानती है, तभी तो गीताशास्त्र के अन्त में 'मां नमस्कुरु (१८।६५)' कहकर श्रीकृष्ण ने वंदन का निर्देश किया है। भागवतपुराण के अनुसार नवधा भक्ति में वंदन भी भक्ति का एक प्रकार है।[2]

वन्दन क्रिया के सम्बन्ध में जैन आचार्यों ने काफी गहराई से विचार किया है। आवश्यकनिर्युक्ति में वन्दन के ३२ दोष वर्णित हैं[3]—१. अनादृत, २. स्तब्ध, ३. प्रविद्ध, ४. परिपिण्डित, ५. टोलगति, ६. अंकुश, ७. कच्छ परिगत, ८. मत्स्योद्वृत्त, ९. मनसाप्रद्विष्ट १०. वेदिकाबद्ध, ११. भय, १२. भजमान, १३. मैत्री, १४. गौरव, १५. कारण, १६. स्तैन्य, १७. प्रत्यनीक, १८. रुष्ट, १९. तर्जित, २०. शठ, २१. हीलित, २२. विपरिकुंचित, २३. दृष्टादृष्ट, २४. शृंग, २५. कर, २६. मोचन, २७. आश्लिष्ट-अनाश्लिष्ट, २८. ऊन, २९. उत्तरचूडा, ३०. मूक, ३१. ढड्ढर, ३२. चुड्ली। विस्तारभय से इनकी व्याख्या सम्भव नहीं है। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि वन्दन करते समय स्वार्थभाव, आकांक्षा, भय और अनादर का भाव होना, योग्य सम्मानसूचक वचनों का सम्यक् प्रकार से उच्चारण नहीं करना तथा शारीरिक रूप से सम्मान विधि का परिपालन नहीं करना आदि वन्दन के दोष हैं। उपर्युक्त दोषों से रहित वन्दन के लिए निर्दिष्ट अवसरों पर वंदन करना यह साधक का आवश्यक कर्तव्य है।

४. प्रतिक्रमण

मन, वचन और काय से जो अशुभ आचरण किया जाता है अथवा दूसरों के द्वारा कराया जाता है, और दूसरे लोगों के द्वारा आचरित पापाचरण का जो अनुमोदन किया जाता है, उन सबकी निवृत्ति के लिए कृतपापों की आलोचना करना प्रतिक्रमण है। आचार्य हेमचन्द्र प्रतिक्रमण का निर्वचन करते हुए लिखते हैं कि शुभ-योग से अशुभयोग की ओर गये हुए अपने आपको पुनः शुभयोग में लौटा लाना प्रतिक्रमण है।[4] आचार्य हरिभद्र ने प्रतिक्रमण की व्याख्या में इन तीन अर्थों का निर्देश किया है—(१) प्रमादवश स्वस्थान से परस्थान (स्वधर्म से परस्थान, परधर्म) में गये हुए साधक का पुनः स्वस्थान पर लौट आना यह प्रतिक्रमण है। अप्रमत्त चेतना का स्व-चेतना केन्द्र में स्थित होना स्वस्थान है, जबकि चेतना का बहिर्मुख होकर पर-वस्तु पर केन्द्रित होना पर-स्थान है। इस प्रकार बाह्यदृष्टि से अन्तदृष्टि की ओर आना प्रतिक्रमण है। (२) क्षयोपशमिक भाव से औदयिक भाव में परिणत हुआ साधक जब पुनः औदयिकभाव से क्षयोपशमिक

---

१. मनुस्मृति, २।१२१।
२. भागवतपुराण, ७।५।२३।
३. आवश्यकनिर्युक्ति, १२०७-१२११, प्रवचनसारोद्धार—वन्दनाद्वार।
४. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति, ३।

भाव में लौट आता है, तो यह भी प्रतिकूल गमन के कारण प्रतिक्रमण कहलाता है। (३) अशुभ आचरण से निवृत्त होकर मोक्षफलदायक शुभ आचरण में निःशल्य भाव से प्रवृत्त होना प्रतिक्रमण है।[1]

आचार्य भद्रबाहु ने प्रतिक्रमण के निम्न पर्यायवाची नाम दिये हैं—(१) प्रतिक्रमण–पापाचरण के क्षेत्र से प्रतिगामी होकर आत्मशुद्धि के क्षेत्र में लौट आना अथवा परस्थान में गये हुए साधक का पुनः स्वस्थान में लौट आना। (२) प्रतिचरण–हिंसा, असत्य आदि से निवृत्त होकर अहिंसा, सत्य एवं संयम के क्षेत्र में अग्रसर होना। (३) परिहरण—सब प्रकार से अशुभ प्रवृत्तियों एवं दुराचरणों का त्याग करना (४) वारण—निषिद्ध आचरण की ओर प्रवृत्ति नहीं करना। बौद्ध धर्म में प्रतिक्रमण के समान की जाने वाली क्रिया को प्रवारणा कहा गया है। (५) निवृत्ति—अशुभ भावों से निवृत्त होना। (६) निन्दा—गुरुजन, वरिष्ठ-जन अथवा स्वयं अपनी ही आत्मा की साक्षी से पूर्वकृत अशुभ आचरणों को बुरा समझना तथा उसके लिए पश्चाताप करना। (७) गर्हा–अशुभ आचरण को गर्हित समझना, उससे घृणा करना। (८) शुद्धि—प्रतिक्रमण आलोचना, निन्दा आदि के द्वारा आत्मा पर लगे दोषों से आत्मा को शुद्ध बनाता है, इसलिए उसे शुद्धि कहा गया है।

प्रतिक्रमण किसका—स्थानांगसूत्र में इन छह बातों के प्रतिक्रमण का निर्देश है—(१) उच्चार प्रतिक्रमण—मल आदि का विसर्जन करने के बाद ईर्या (आने-जाने में हुई जीवहिंसा) का प्रतिक्रमण करना उच्चार प्रतिक्रमण है। (२) प्रश्रवण प्रतिक्रमण—पेशाब करने के बाद ईर्या का प्रतिक्रमण करना प्रश्रवण प्रतिक्रमण है। (३) इत्वर प्रतिक्रमण—स्वल्पकालीन प्रतिक्रमण करना इत्वर प्रतिक्रमण है। (४) यावत्कथिक प्रतिक्रमण—सम्पूर्ण जीवन के लिए पाप से निवृत्त होना यावत्कथिक प्रतिक्रमण है। (५) यत्किंचिन्मिथ्या प्रतिक्रमण—सावधानी पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए भी प्रमाद अथवा असावधानी से किसी भी प्रकार का असंयमरूप आचरण हो जाने पर तत्काल उस भूल को स्वीकार कर लेना और उसके प्रति पश्चाताप करना यत्किंचिन्मिथ्या प्रतिक्रमण है। (६) स्वप्नांतिक प्रतिक्रमण—विकार-वासना रूप कुस्वप्न देखने पर उसके सम्बन्ध में पश्चाताप करना स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण है।[2] यह विवेचना प्रमुखतः साधुओं की जीवनचर्या से सम्बन्धित है। आचार्य भद्रबाहु ने जिन-जिन तथ्यों का प्रतिक्रमण करना चाहिए इसका निर्देश आवश्यकनिर्युक्ति में किया है।[3] उनके अनुसार (१) मिथ्यात्व, (२) असंयम, (३) कषाय एवं (४) अप्रशस्त कायिक, वाचिक एवं मानसिक व्यापारों का प्रतिक्रमण करना चाहिए। प्रकारान्तर से आचार्य ने निम्न बातों

---

१. आवश्यक टीका, उद्धृत श्रमणसूत्र, पृ० ८७।

२. स्थानांग सूत्र, ६।५३८। ३. आवश्यकनिर्युक्ति, १२५०–१२६८।

का प्रतिक्रमण करना भी अनिवार्य माना है—(१) गृहस्थ एवं श्रमण उपासक के लिए निषिद्ध कार्यों का आचरण कर लेने पर, (२) जिन कार्यों के करने का शास्त्र में विधान किया गया है उन विहित कार्यों का आचरण न करने पर, (३) अश्रद्धा एवं शंका के उपस्थित हो जाने पर और (४) असम्यक् एवं असत्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने पर अवश्य प्रतिक्रमण करना चाहिए।

जैन परम्परा के अनुसार जिनका प्रतिक्रमण किया जाना चाहिए, उनका संक्षिप्त वर्गीकरण इस प्रकार है—

(अ) २५ मिथ्यात्वों, १४ ज्ञानातिचारों और १८ पापस्थानों का प्रतिक्रमण सभी को करना चाहिए।

(ब) पंच महाव्रतों, मन, वाणी और शरीर के असंयम तथा गमन, भाषण, याचना, ग्रहण-निक्षेप एवं मलमूत्र विसर्जन आदि से सम्बन्धित दोषों का प्रतिक्रमण श्रमण-साधकों को करना चाहिए।

(स) पांच अणुव्रतों, ३ गुणव्रतों, ४ शिक्षाव्रतों में लगने वाले ७५ अतिचारों का प्रतिक्रमण व्रती श्रावकों को करना चाहिए।

(द) संलेखणा के पाँच अतिचारों का प्रतिक्रमण उन साधकों के लिए है जिन्होंने संलेखणा व्रत ग्रहण किया हो।

श्रमण प्रतिक्रमण सूत्र और श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र में सम्बन्धित सम्भावित दोषों की विवेचना विस्तार से की गयी है। इसके पीछे मूल दृष्टि यह है कि उनका पाठ करते हुए आचरित सूक्ष्मतम दोष भी विचार-पथ से ओझल न हों।

प्रतिक्रमण के भेद—साधकों के आधार पर प्रतिक्रमण के दो भेद हैं—१. श्रमण प्रतिक्रमण और २. श्रावक प्रतिक्रमण। कालिक आधार पर प्रतिक्रमण के पाँच भेद हैं—(१) **दैवसिक**—प्रतिदिन सायंकाल के समय पूरे दिवस में आचरित पापों का चिन्तन कर उनकी आलोचना करना दैवसिक प्रतिक्रमण है। (२) **रात्रिक**—प्रतिदिन प्रातःकाल के समय सम्पूर्ण रात्रि के आचरित पापों का चिन्तन कर उनकी आलोचना करना रात्रिक प्रतिक्रमण है। (३) **पाक्षिक**—पक्षान्त में अमावस्या एवं पूर्णिमा के दिन सम्पूर्ण पक्ष में आचरित पापों का विचार कर उनकी आलोचना करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है। (४) **चातुर्मासिक**—कार्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा एवं अषाढ़ी पूर्णिमा को चार महीने के आचरित पापों का विचार कर उनकी आलोचना करना चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है। (५) **सांवत्सरिक**—प्रत्येक वर्ष संवत्सरी महापर्व के दिन वर्ष भर के पापों का चिन्तन कर उनकी आलोचना करना सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण और महावीर

प्रतिक्रमण जैन आचार-दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण परम्परा है। महावीर की

साधना प्रणाली में प्रतिक्रमण नामक आवश्यक कर्म पर अत्यधिक जोर दिया गया है। महावीर की धर्म-देशना सप्रतिक्रमण-धर्म कही जाती है। ऐसा माना जाता है कि पार्श्वनाथ की परम्परा में असंयम अथवा पाप का आचरण होने पर साधक उसकी आलोचना के रूप में प्रतिक्रमण कर लेता था, लेकिन महावीर ने साधकों के प्रमाद को दृष्टिगत रखते हुए इस बात पर अधिक बल दिया कि चाहे पापाचरण हुआ हो या न हुआ हो, फिर भी नियमित रूप से प्रतिक्रमण करना चाहिए। साधनात्मक जीवन में सतत जागृति के लिए महावीर ने इसे अनिवार्य माना और साधकों को यह निर्देश दिया कि प्रतिदिन दोनों संध्याओं में अर्थात् सूर्यास्त और सूर्योदय के समय अपने सम्पूर्ण आचार-व्यवहार का चिन्तन किया जाये और उसमें लगे हुए दोषों का आलोचन किया जाये। श्वेताम्बर परम्परा में जो प्रतिक्रमण विधि सम्प्रति प्रचलित है, उस पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि महावीर की साधना-प्रणाली में क्यों प्रतिक्रमण विधि पर बहुत जोर दिया गया है? इस विधि के अनुसार साधक को प्रथम ध्यान में समग्र आचरण का परिशीलन करना होता है। तत्पश्चात् वह ग्रहण किये हुए व्रतों एवं उनमें होने वाले सम्भावित दोषों (अतिचारों) का स्मरण करता है और फिरदूसरे ध्यान में उनके आधार पर अपने आचरण का विश्लेषण कर प्रत्याख्यान के द्वारा उनसे निवृत्त हो स्वस्थान पर लौट आता है। वर्तमान परम्परा में ध्यान में जो 'लोगस्स' का पाठ किया जाता है, वह बहुत ही परवर्ती युग की घटना है। जब ध्यान में साधक का मन अत्यधिक चंचल रहने लगा होगा और वह अपने आचरण का विश्लेषण करने में सक्षम नहीं रहा होगा तो ऐसी स्थिति में आचार्यों ने 'लोगस्स' का पाठ करने का निर्देश दिया होगा।

बौद्ध परम्परा और प्रतिक्रमण

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर ऐसा लगता है कि प्रतिक्रमण की परम्परा न्यूनाधिक रूप में सभी परम्पराओं में रही है। बौद्ध धर्म में प्रतिक्रमण के स्थान पर प्रतिकर्म, प्रवारणा और पाप-देशना नाम मिलते हैं। बुद्ध की दृष्टि में पापदेशना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे कहते हैं खुला हुआ पाप लगा नहीं रहता अर्थात् पापाचरण की आलोचना करने पर व्यक्ति पाप के भार से हल्का हो जाता है।[१] बौद्ध आचार-दर्शन में प्रवारणा के नाम से पाक्षिक प्रतिक्रमण की परम्परा स्वीकार की गयी है। बोधिचर्यावतार में तो आचार्य शान्तिदेव ने पापदेशना के रूप में दिन और रात्रि में तीन-तीन बार प्रतिक्रमण का निर्देश किया है। वे लिखते हैं कि तीन बार रात में और तीन बार दिन में त्रिस्कन्ध (पापदेशना, पुण्यानुमोदना और बोधि परिणामना) की आवृत्ति करनी चाहिए। इससे अनजान में हुई आपत्तियों का उससे शमन हो जाता है।[२]

जैन-परम्परा के समान बौद्ध-परम्परा में प्रकृति सावद्य और प्रज्ञप्ति सावद्य की

---

१. उदान, ५।५।   २. बोधिचर्यावतार, ५।९८।

पापदेशना बतायी गयी है। प्रकृति-सावद्य स्वभाव से निन्दनीय जैसे हिंसा, असत्य, चोरी आदि और प्रज्ञप्ति सावद्य व्रत ग्रहण करने पर उसका भंग करना जैसे विकाल भोजन, परिग्रह आदि। आचार्य शान्तिदेव कहते हैं—'जो भी प्रकृतिसावद्य और प्रज्ञप्तिसावद्य पापं मुझ अबोध मूढ़ ने कमाये, उन सबकी देशना, दुःख से घबराकर, मैं प्रभुओं के सामने हाथ जोड़ बारम्बार प्रणाम कर, करता हूँ। हे नायको, अपराध को अपराध के रूप में ग्रहण करो। हे प्रभुओ, मैं यह पाप फिर न करूँगा। जैन-परम्परा के अनुसार २५ मिथ्यात्व, १४ ज्ञानातिचार और १८ पापस्थान का आचरण अथवा मूलगुण का भंग प्रकृति सावद्य हैं, क्योंकि इनसे दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप साधना मार्ग का मूलोच्छेद होता है। गृहस्थ और श्रमण-जीवन के गृहीत व्रतों एवं प्रतिज्ञाओं में लगनेवाले दोष या स्खलनाएँ प्रज्ञप्ति-सावद्य हैं।[1]

बौद्ध आचार-दर्शन में प्रवारणा के लिए यह भी आवश्यक माना गया कि वह संघ के सान्निध्य में ही होना चाहिए। जैन-परम्परा में भी वर्तमान में सामूहिक प्रतिक्रमण की प्रणाली देखने में आती है। दोनों परम्पराओं में प्रतिक्रमण के समय आचार नियमों का पाठ किया जाता है और नियमभंग या दोषाचरण के लिए पश्चात्ताप प्रकट किया जाता है। बौद्ध-परम्परा की विशेषता यह है कि उसमें प्रवारणा के समय वरिष्ठ भिक्षु आचरण के नियमों का पाठ करता है, और प्रत्येक नियम के पाठ के पश्चात् उपस्थित भिक्षुओं से इस बात की अपेक्षा करता है कि जिस भिक्षु ने उस नियम का भंग किया हो वह संघ के समक्ष उसे प्रकट कर दे। जैन-परम्परा में आचरित दोषों के प्रायश्चित्त के लिए गुरु अथवा गीतार्थ मुनि से निवेदन तो किया जाता है, लेकिन संघ के समक्ष अशुभाचरण को प्रकट करने की परम्परा उसमें नहीं है। सम्भवतः संघ के समक्ष दोषों को प्रकट करने से दूसरे लोगों के द्वारा उसका गलत रूप में फायदा उठाने अथवा संघ की बदनामी की सम्भावना को ध्यान में रखकर ही ऐसा किया गया होगा। जैन-परम्परा संघ की अपेक्षा किसी परिपक्व बुद्धि के योग्य साधक के समक्ष ही पापालोचन की अनुमति देती है। जिसके समक्ष आलोचना की जाये वह व्यक्ति कैसा हो इसका निर्देश भी जैन-आचार्यों ने किया है।

वैदिक तथा अन्य धर्म परम्पराएँ और प्रतिक्रमण

वैदिक परम्परा में संध्या कृत्य में जिस यजुर्वेद के मंत्र का उच्चारण किया जाता है वह भी जैन प्रतिक्रमण विधि का एक संक्षिप्त रूप ही है। संध्या के संकल्प-वाक्य में ही साधक यह संकल्प करता है कि मैं आचरित पापों के क्षय के लिए परमेश्वर के प्रति इस

---

१. बोधिचर्यावतार, २।६४-६६।

उपासना को सम्पन्न करता हूँ। यजुर्वेद के उस मन्त्र का मूल आशय भी यही है कि मेरे मन, वाणी, शरीर से जो भी दुराचरण हुआ हो उसका मैं विसर्जन करता हूँ।[1]

पारसी धर्म में भी पाप-आलोचन की प्रणाली स्वीकार की गयी है। खोरदेह-अवस्ता में कहा गया है कि मैंने मन से जो बुरे विचार किये, वाणी से जो तुच्छ भाषण किया और शरीर से जो हलका काम किया, इत्यादि प्रकार से जो जो गुनाह किये, उन सबके लिए मैं पश्चात्ताप करता हूँ। अभिमान, गर्व, मरे हुए लोगों की निन्दा करना, लोभ, लालच, वेहद गुस्सा, किसी की बढ़ती देखकर जलना, किसी पर बुरी निगाह करना, स्वच्छन्दता, आलस्य, कानाफूसी, पवित्रता का भंग, झूठी गवाही, चोरी, लूट-खसोट, व्यभिचार, वेहद शौक करना, इत्यादि जो गुनाह मुझसे जाने-अनजाने हुए हों और जो गुनाह साफ दिल से मैंने प्रकट न किये हों, उन सबसे मैं पवित्र होकर अलग होता हूँ।[2] ईसाई धर्म में भी पापदेशना आवश्यक मानी गयी है। जेम्स ने 'धार्मिक अनुभूति की विविधताएँ' नामक पुस्तक में इसका विवेचन किया है।[3] जैन, बौद्ध, वेदान्त, खिस्ती और पारसी धर्म की परम्पराओं में इस सम्बन्ध में बहुत साम्य है।

५. कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग शब्द का शाब्दिक अर्थ है शरीर का उत्सर्ग करना। लेकिन जीवित रहते हुए शरीर का त्याग सम्भव नहीं। यहाँ शरीर-त्याग का अर्थ है शारीरिक चंचलता एवं देहासक्ति का त्याग। किसी सीमित समय के लिए शरीर के ऊपर रहे हुए ममत्व का परित्याग कर शारीरिक क्रियाओं की चंचलता को समाप्त करने का जो प्रयास किया जाता है, वह कायोत्सर्ग है। जैन-साधना में कायोत्सर्ग का महत्त्व बहुत अधिक है। प्रत्येक अनुष्ठान के पूर्व कायोत्सर्ग की परम्परा है। वस्तुतः देहाध्यास को समाप्त करने के लिए कायोत्सर्ग आवश्यक है। कायोत्सर्ग शरीर के प्रति ममत्व भाव को कम करता है। प्रतिदिन जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह चेष्टा-कायोत्सर्ग है अर्थात् उसमें एक निश्चित समय के लिए समग्र शारीरिक चेष्टाओं का निरोध किया जाता है एवं उस समय में शरीर पर होनेवाले उपसर्गों को समभावपूर्वक सहन किया जाता है। आचार्य भद्रबाहु आवश्यकनिर्युक्ति में शुद्ध कायोत्सर्ग के स्वरूप के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि चाहे कोई भक्ति भाव से चन्दन लगाए, चाहे कोई द्वेषवश वसूले से छीले, चाहे जीवन रहे, चाहे उसी क्षण मृत्यु आ जाए, परन्तु जो साधक देह

१ कृष्णयजुर्वेद—उद्धृत दर्शन और चिन्तन भाग २, पृ० १९३।

२. खोरदेह अवस्ता, पृ० ७।२३–२४; देखिए, दर्शन और चिन्तन भाग २, पृ० १९३–१९४।

३. वेराइठीज आफ रिलिजीयस एक्सपीरियन्स, पृ० ४५२।

में आसक्ति नहीं रखता है, उक्त सब स्थितियों में समभाव रखता है, वस्तुतः उसी का कायोत्सर्ग शुद्ध होता है।[1] देहव्युत्सर्ग के बिना देहाध्यास का छूटना संभव नहीं, जब तक देहाध्यास या देह भाव नहीं छूटता तब तक मुक्ति भी सम्भव नहीं। इस प्रकार मुक्ति के लिए देहाध्यास का छूटना आवश्यक है और देहाध्यास छोड़ने के लिए कायोत्सर्ग भी आवश्यक है।

कायोत्सर्ग की मुद्रा—कायोत्सर्ग तीन मुद्राओं में किया जा सकता है—१. जिनमुद्रा में खड़े होकर, २. पद्मासन या सुखासन से बैठकर और ३. लेटकर। कायोत्सर्ग की अवस्था मे शरीर को शिथिल करने का प्रयास करना चाहिए।

कायोत्सर्ग के प्रकार—जैन-परम्परा में कायोत्सर्ग के दो प्रकार हैं—१. द्रव्य और २. भाव। द्रव्य कायोत्सर्ग शारीरिक चेष्टा-निरोध है और भाव कायोत्सर्ग ध्यान है। इस आधार पर जैन आचार्यों ने कायोत्सर्ग की एक चौभंगी दी है। १. उत्थित-उत्थित—काय-चेष्टा के निरोध के साथ ध्यान में प्रशस्त विचार का होना। २. उत्थित-निविष्टकाय-चेष्टा का निरोध तो हो लेकिन विचार (ध्यान) अप्रशस्त हो। ३. उपविष्ट उत्थित—शारीरिक चेष्टाओं का पूरी तरह निरोध नहीं हो पाता हो लेकिन विचार विशुद्धि हो। ४. उपविष्ट निविष्ट—न तो विचार (ध्यान) विशुद्धि हो और न शारीरिक चेष्टओं का निरोध ही हो। इनमें पहला और तीसरा प्रकार ही आचरणीय है।

कायोत्सर्ग के दोष—कायोत्सर्ग सम्यक् प्रकार से सम्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि कायोत्सर्ग के दोषों से बचा जाय। प्रवचनसारोद्धार में कायोत्सर्ग के १९ दोष वर्णित हैं—१. घोटक दोष, २. लता दोष, ३. स्तंभकुड्य दोष, ४. माल दोष, ५. शवरी दोष, ६. वधू दोष, ७. निगड दोष, ८. लम्बोत्तर दोष, ९. स्तन दोष, १०. उद्धिका दोप, ११. संयती दोष, १२. खलीन दोष, १३. वायस दोष, १४. कपित्थ दोष, १५. शीर्षोत्कम्पित दोप, १६. मूक दोष, १७. अंगुलिका भ्रूदोष, १८. वारुणी दोष और १९. प्रज्ञा दोप। इन दोषों का सम्बन्ध शारीरिक एवं आसनिक अवस्थाओं से है। इन दोपों के प्रति सावधानी रखते हुए कायोत्सर्ग करना चाहिए।

बौद्ध परम्परा में कायोत्सर्ग—बौद्ध-परम्परा में भी देह व्युत्सर्ग की धारणा स्वीकृत है। आचार्य शान्तिरक्षित कहते हैं कि सब देहधारियों को जैसे सुख हो वैसे यह शरीर मैंने (निछावर) कर दिया है। वे अब चाहे इसको हत्या करें, निन्दा करें अथवा इस पर धूल फेकें, चाहे खेलें, हंसें और विलास करें। मुझे इसकी क्या चिन्ता? मैंने शरीर उन्हें दे ही डाला है।[2] वस्तुतः कायोत्सर्ग ध्यान-साधना का आवश्यक अंग है।

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, १५४८–उद्‌धृत श्रमणसूत्र, पृ० ९९।
२. बोधिचर्यावतार, ३।१२–१३।

गीता में कायोत्सर्ग—गीता में कायोत्सर्ग की विधि ध्यान-योग के सन्दर्भ में देखी जा सकती है। गीता में कहा गया है कि शुद्ध भूमि में कुशा, मृगछाला और वस्त्र हैं उपरोपरि जिसके ऐसे अपने आसन को, न अति ऊँचा और न अति नीचा स्थिर स्थापित करके काया, शिर और ग्रीवा को समान और अचल धारण किये हुए दृढ़ होकर अपने नासिका के अग्रभाग को देखकर अन्य दिशाओं को न देखता हुआ और ब्रह्मचर्य के व्रत में स्थिर रहता हुआ भयरहित तथा अच्छी प्रकार शान्त अन्तःकरण वाला और सावधान होकर, मन को वश में करके मेरे में लगे हुए चित्तवाला और मेरे परायण हुआ स्थित होवे।[1]

कायोत्सर्ग के लाभ—आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के पाँच लाभ बताये हैं[2]—(१) देहजाड्यशुद्धि—श्लेष्म आदि के द्वारा देह में जड़ता आती है। कायोत्सर्ग से श्लेष्म आदि नष्ट होते हैं। अतः उनसे उत्पन्न होनेवाली जड़ता भी नष्ट हो जाती है। (२) मतिजाड्यशुद्धि—कायोत्सर्ग में मन की प्रवृत्ति केन्द्रित हो जाती है, उससे बौद्धिक जड़ता क्षीण होती है। (३) सुख-दुःख तितिक्षा, (४) कायोत्सर्ग में स्थित व्यक्ति अनु-प्रेक्षाओं या भावनाओं का स्थिरतापूर्वक अभ्यास कर सकता है। (५) ध्यान—कायोत्सर्ग में शुभ ध्यान का अभ्यास सहज हो जाता है।

कायोत्सर्ग के लाभ के सन्दर्भ में शरीर-शास्त्रीय दृष्टिकोण—आधुनिक शरीर-शास्त्र की दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि कायोत्सर्ग एक प्रकार से शारीरिक क्रियाओं की निवृत्ति है। शरीर-शास्त्र की दृष्टि से, शरीर को विश्राम देना आवश्यक है, क्योंकि शारीरिक प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप शरीर में निम्न विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। १. स्नायुओं में स्नायु शर्करा कम होती है। २. लेक्टिव एसिड स्नायुओं में जमा होती है। ३. लेक्टिव एसिड की वृद्धि होने पर उष्णता बढ़ती है। ४. स्नायु-तंत्र में थकान आती है। ५. रक्त में प्राणवायु की मात्रा कम होती है। कायोत्सर्ग के द्वारा शारीरिक क्रियाओं में शिथिलता आती है और परिणामस्वरूप शारीरिक तत्त्व जो श्रम के कारण विषम स्थिति में हो जाते हैं वे पुनः सम स्थिति में आ जाते हैं। (१) एसिड पुनः स्नायु-शर्करा में परिवर्तन होता है। (२) लेक्टिक एसिड का जमाव कम होता है। (३) लेक्टिक एसिड की कमी से उष्णता में कमी होती है। (४) स्नायुतन्त्र में ताजगी आती है। (५) रक्त में प्राणवायु की मात्रा बढ़ती है। मन, मस्तिष्क और शरीर में गहरा सम्बन्ध है। उनके असमंजस से उत्पन्न अवस्था ही स्नायविक तनाव है। मानसिक आवेग उसके मुख्य कारण हैं। हम जब द्रव्यक्रिया करते हैं, अर्थात् शरीर को किसी दूसरे काम में लगाते हैं और मन कहीं दूसरी ओर भटकता है, तब स्नायविक

१. गीता, ६।११, १३-१४। २. आवश्यकनिर्युक्ति, १४६२।

तनाव बढ़ता है। हम भाव क्रिया करना सीख जायें, शरीर और मन को साथ-साथ काम में संलग्न करने का अभ्यास कर लें तो स्नायविक तनाव बढ़ने का अवसर ही न मिले।

जो लोग इस स्नायविक तनाव के शिकार होते हैं, वे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य से वंचित रहते हैं। वे लोग अधिक भाग्यशाली हैं, जो इस तनाव से मुक्त रहते हैं। कायोत्सर्ग इसी तनाव मुक्ति का प्रयास है।[1]

६. प्रत्याख्यान

इच्छाओं के निरोध के लिए प्रत्याख्यान एक आवश्यक कर्तव्य है। प्रत्याख्यान का अर्थ है प्रवृत्ति को मर्यादित अथवा सीमित करना।[2] संयमपूर्ण जीवन के लिए त्याग आवश्यक है, इस रूप में प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग भी माना जा सकता है। नित्य कर्मों में प्रत्याख्यान का समावेश इसलिए किया गया है कि साधक आत्मशुद्धि के लिए प्रति-दिन यथाशक्ति किसी न किसी प्रकार का त्याग करता है। नियमित त्याग करने से अभ्यास होता है, साधना परिपुष्ट होती है और जीवन में अनासक्ति का विकास और तृष्णा मंद होती है। दैनिक प्रत्याख्यान में सामान्यतया उस दिवस विशेष के लिए कुछ प्रतिज्ञाएँ ग्रहण की जाती हैं जैसे सूर्य उदय के पश्चात् एक प्रहर अथवा दो प्रहर आदि तक कुछ नहीं खाना या सम्पूर्ण दिवस के लिए आहार का परित्याग करना अथवा केवल नीरस या रूखा भोजन करना आदि-आदि। प्रत्याख्यान के दो रूप हैं—१. द्रव्य प्रत्याख्यान—आहार सामग्री, वस्त्र, परिग्रह आदि बाह्य पदार्थों में से कुछ को छोड़ देना द्रव्य-प्रत्याख्यान है। २. भाव प्रत्याख्यान—राग, द्वेष, कषाय आदि अशुभ मानसिक वृत्तियों का परित्याग करना भावप्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान के मूलगुण प्रत्या-ख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान ऐसे दो भेद भी किये हैं। नैतिक जीवन के विकास में मुख्य व्रतों का ग्रहण मूलगुण प्रत्याख्यान कहलाता है और नैतिक जीवन के विकास में सहायक व्रतों का ग्रहण उत्तरगुण-प्रत्याख्यान कहलाता है। मूलगुण और उत्तरगुण प्रत्या-ख्यान भी सर्व अर्थात् पूर्णरूप मेंपालनीय और देश अर्थात् आंशिक रूप से पालनीय होते हैं। इस आधार पर चार भाग हो जाते हैं–१. सर्वमूल-गुण प्रत्याख्यान-श्रमण के पाँच महा-व्रतों की प्रतिज्ञा, २. देश मूलगुण प्रत्याख्यान—गृहस्थ जीवन के पाँच अणुव्रतों की प्रतिज्ञा, ३. सर्व उत्तरगुण प्रत्याख्यान—उपवास आदि की प्रतिज्ञाएँ जो गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए हैं, ४. देश उत्तरगुण प्रत्याख्यान—गृहस्थ के गुणव्रतों एवं शिक्षा-व्रतों की प्रतिज्ञाएँ।

प्रकारान्तर से भगवतीसूत्र में प्रत्याख्यान के दस भेद वर्णित हैं–१. अनागत–पर्व की तपसाधना को पूर्व में ही कर लेना, २. अतिक्रान्त—पर्व तिथि के पश्चात् पर्व तिथि

---

१. तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो, पृ० २७-२८।

२. योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति–उद्धृत श्रमणसूत्र, पृ० १०४।

का तप करना, ३. कोटि सहित—पूर्व गृहीत नियम की अवधि समाप्त होते ही बिना व्यवधान के भविष्य के लिए प्रतिज्ञा ग्रहण कर लेना; ४. नियंत्रित—विघ्न-बाधाओं के होने पर पूर्व संकल्पित व्रत आदि का प्रतिज्ञा कर लेना; ५. साकार (सापवाद), ६. निराकार (निरपवाद), ७. परिमाण कृत (मात्रा सम्बन्धी), ८. निरवशेष (पूर्ण), ९. सांकेतिक—संकेत चिह्न से सम्बन्धित, १०. अद्धा प्रत्याख्यान—समय-विशेष के लिए किया गया प्रत्याख्यान। आचार्य भद्रबाहु ने प्रत्याख्यान का महत्त्व बताते हुए कहा है कि प्रत्याख्यान करने से संयम होता है। संयम से आस्रव का निरोध होता है और आस्रव-निरोध से तृष्णा का क्षय होता है।[1] वस्तुतः प्रत्याख्यान अमर्यादित जीवन को मर्यादित या अनुशासित बनाता है। जैन परम्परा के अनुसार आस्रव एवं बन्धन का एक कारण अविरति भी कहा गया है। प्रत्याख्यान अविरति का निरोध करता है। प्रत्याख्यान त्याग के संबंध में ली गयी प्रतिज्ञा या आत्म-निश्चय है। जब दुराचरण से विरत होने के लिए केवल उसे नहीं करना, इतना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् उसके नहीं करने का आत्म-निश्चय भी आवश्यक है। जैन-धर्म की मान्यता के अनुसार दुराचरण नहीं करने-वाला व्यक्ति भी जब तक दुराचरण नहीं करने की प्रतिज्ञा नहीं लेता, तब तक दुरा-चरण के दोष से मुक्त नहीं है। प्रतिज्ञा के अभाव में मात्र परिस्थितिगत विवशताओं के कारण जो दुराचार में प्रवृत्त नहीं है, वह वस्तुतः दुराचरण के दोष से मुक्त नहीं है। वृद्ध वेश्या के पास कोई नहीं जाता तो इतने मात्र से यह वेश्यावृत्ति से निवृत्ति नहीं मानी जा सकती। कारागार में पड़ा हुआ चोर चौर्य-कर्म से निवृत्त नहीं है। प्रत्याख्यान दुराचार से निवृत्त होने के लिए किया जानेवाला दृढ़ संकल्प है। उसके अभाव में नैतिक जीवन में प्रगति सम्भव नहीं है। स्थानांगसूत्र में प्रत्याख्यान-शुद्धि के लिए पाँच बातों का विधान है—१. श्रद्धान--शुद्ध, २. विनय--शुद्ध, ३. अनुभाषण--शुद्ध ४. अनुपालन--शुद्ध और ५. भाव--शुद्ध।[2] इन पाँचों की उपस्थिति में ही ग्रहीत प्रतिज्ञा शुद्ध होती है और नैतिक प्रगति में सहायक होती है।

गीता में त्याग—गीता में प्रत्याख्यान के स्थान पर त्याग के सम्बन्ध में कुछ विवेचन उपलब्ध है। गीता में तीन प्रकार का त्याग कहा गया है—१. सात्त्विक, २. राजस और ३. तामस। १. **तामस**—नियत कर्म का त्याग करना योग्य नहीं है, इसलिए मोह से उसका त्याग करना तामस-त्याग है। २. **राजस**—सभी कर्म दुःख रूप हैं ऐसा समझकर शारीरिक क्लेश के भय से कर्मों का त्याग करना राजस त्याग है। ३. **सात्त्विक**—शास्त्र-विधि से नियत किया हुआ कर्तव्य-कर्म करते हुए उसमें आसक्ति और फल का त्याग कर देना सात्त्विक त्याग है।[3]

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, १५९४। २. स्थानांगसूत्र ५।३।४६६।
३. गीता, १८।४, ७–९।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध एवं गीता के आचारदर्शनों में षट् आवश्यकों का विवेचन प्रकारान्तर से वर्णित है।

दशविध धर्म (सद्गुण)

जैन-आचार्यों ने दस प्रकार के धर्मों (सद्गुणों) का वर्णन किया है जो कि गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए समान रूप से आचरणीय हैं। आचारांग, मूलाचार, बारस्स-अणुवेक्खा, स्थानांग, समवायांग और तत्त्वार्थ के साथ-साथ परवर्ती अनेक ग्रन्थों में भी इन धर्मों का वर्णन विस्तार से उपलब्ध होता है।

यहां धर्म शब्द का अर्थ सद्गुण या नैतिकगुण ही अभिप्रेत है। सर्वप्रथम हमें आचरांग सूत्र में आठ सामान्य धर्मों का उल्लेख उपलब्ध होता है। उसमें कहा गया है कि जो धर्म में उत्थित अर्थात् तत्पर है उनको और जो धर्म में उत्थित नहीं है उनको भी निम्न बातों का उपदेश देना चाहिए—शांति, विरति (विरक्ति), उपशम, निवृत्ति, शौच (पवित्रता), आर्जव, मार्दव और लाघव[1]। इस प्रकार उसमें इनकी साधना गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए अपेक्षित है। स्थानांग[2] और समवायांग[3] में दस श्रमण धर्मों के रूप में इन्हीं सद्गुणों का उल्लेख हुआ है यद्यपि स्थानांग और समवायांग की सूची आचारांग से थोड़ी भिन्न है। उसमें दसधर्म हैं—क्षांति (क्षमा), मुक्ति, आर्जव, मार्दव, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्यवास। इस सूची में शौच का अभाव है। शांति, विरति, उपशम और निवृत्ति के स्थान पर नामान्तर से क्षांति, मुक्ति, संयम और त्याग का उल्लेख हुआ है। जबकि सत्य, त्याग और ब्रह्मचर्यवास इस सूची में नये हैं। बारस-अनुवेक्खा एवं तत्त्वार्थ में भी श्रमणाचार के प्रसंग में ही दस धर्मों का उल्लेख हुआ है। तत्त्वार्थ की सूची में लाघव के स्थान पर आकिंचन्य का उल्लेख हुआ है यद्यपि दोनों का अर्थ समान ही है। दूसरे तत्त्वार्थ में मुक्ति के स्थान पर शौच का उल्लेख हुआ है। इन दोनों में अर्थ भेद भी है। चाहे इन धर्मों (सद्गुणों) का उल्लेख श्रमणाचार के प्रसंग में ही अधिक हुआ है किन्तु आचारांग (१।६।५) और पद्मनन्दीकृत पंचविंशतिका (६।५९) के अनुसार इनका पालन गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए अपेक्षित है। इनके क्रम और नामों को लेकर जैन आचार ग्रन्थों में थोड़ा-बहुत मतभेद पाया जाता है। फिर भी इनकी मूलभावना में कोई विशेष अन्तर नहीं है। प्रस्तुत विवेचन तत्त्वार्थ के आधार पर कर रहे हैं। तत्त्वार्थ में निम्न दस धर्मों का उल्लेख है[4] (१) क्षमा, (२) मार्दव, (३) आर्जव, (४) शौच, (५) सत्य, (६) संयम, (७) तप, (८) त्याग, (९) अकिंचनता और (१०) ब्रह्मचर्य।

---

१. आचारांग, १।६।५।
२. स्थानांग, १०।१४।
३. समवायांग १०।१।
४. तत्त्वार्थ, ९।६।

का तप करना, ३. कोटि सहित—पूर्व गृहीत नियम की अवधि समाप्त होते ही बिना व्यवधान के भविष्य के लिए प्रतिज्ञा ग्रहण कर लेना; ४. नियंत्रित—विघ्न-बाधाओं के होने पर पूर्व संकल्पित व्रत आदि का प्रतिज्ञा कर लेना; ५. साकार (सापवाद), ६. निराकार (निरपवाद), ७. परिमाण कृत (मात्रा सम्बन्धी), ८. निरवशेष (पूर्ण), ९. सांकेतिक—संकेत चिह्न से सम्बन्धित, १०. अद्धा प्रत्याख्यान—समय-विशेष के लिए किया गया प्रत्याख्यान। आचार्य भद्रबाहु ने प्रत्याख्यान का महत्त्व बताते हुए कहा है कि प्रत्याख्यान करने से संयम होता है। संयम से आस्रव का निरोध होता है और आस्रव-निरोध से तृष्णा का क्षय होता है।[1] वस्तुतः प्रत्याख्यान अमर्यादित जीवन को मर्यादित या अनुशासित बनाता है। जैन परम्परा के अनुसार आस्रव एवं बन्धन का एक कारण अविरति भी कहा गया है। प्रत्याख्यान अविरति का निरोध करता है। प्रत्याख्यान त्याग के संबंध में ली गयी प्रतिज्ञा या आत्म-निश्चय है। जब दुराचरण से विरत होने के लिए केवल उसे नहीं करना, इतना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् उसके नहीं करने का आत्म-निश्चय भी आवश्यक है। जैन-धर्म की मान्यता के अनुसार दुराचरण नहीं करनेवाला व्यक्ति भी जब तक दुराचरण नहीं करने की प्रतिज्ञा नहीं लेता, तब तक दुराचरण के दोष से मुक्त नहीं है। प्रतिज्ञा के अभाव में मात्र परिस्थितिगत विवशताओं के कारण जो दुराचार में प्रवृत्त नहीं है, वह वस्तुतः दुराचरण के दोष से मुक्त नहीं है। वृद्ध वेश्या के पास कोई नहीं जाता तो इतने मात्र से यह वेश्यावृत्ति से निवृत्ति नहीं मानी जा सकती। कारागार में पड़ा हुआ चोर चौर्य-कर्म से निवृत्त नहीं है। प्रत्याख्यान दुराचार से निवृत्त होने के लिए किया जानेवाला दृढ़ संकल्प है। उसके अभाव में नैतिक जीवन में प्रगति सम्भव नहीं है। स्थानांगसूत्र में प्रत्याख्यान-शुद्धि के लिए पाँच बातों का विधान है—१. श्रद्धान--शुद्ध, २. विनय--शुद्ध, ३. अनुभाषण--शुद्ध ४. अनुपालन--शुद्ध और ५. भाव--शुद्ध।[2] इन पाँचों की उपस्थिति में ही ग्रहीत प्रतिज्ञा शुद्ध होती है और नैतिक प्रगति में सहायक होती है।

गीता में त्याग—गीता में प्रत्याख्यान के स्थान पर त्याग के सम्बन्ध में कुछ विवेचन उपलब्ध है। गीता में तीन प्रकार का त्याग कहा गया है—१. सात्त्विक, २. राजस और ३. तामस। १. **तामस**—नियत कर्म का त्याग करना योग्य नहीं है, इसलिए मोह से उसका त्याग करना तामस-त्याग है। २. **राजस**—सभी कर्म दुःख रूप हैं ऐसा समझकर शारीरिक क्लेश के भय से कर्मों का त्याग करना राजस त्याग है। ३. **सात्त्विक**—शास्त्र-विधि से नियत किया हुआ कर्तव्य-कर्म करते हुए उसमें आसक्ति और फल का त्याग कर देना सात्त्विक त्याग है।[3]

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, १५९४। २. स्थानांगसूत्र ५।३।४६६।

३. गीता, १८।४, ७–९।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध एवं गीता के आचारदर्शनों में षट् आवश्यकों का विवेचन प्रकारान्तर से वर्णित है।

दशविध धर्म (सद्गुण)

जैन-आचार्यों ने दस प्रकार के धर्मों (सद्गुणों) का वर्णन किया है जो कि गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए समान रूप से आचरणीय हैं। आचारांग, मूलाचार, बारस्स-अणुवेक्खा, स्थानांग, समवायांग और तत्त्वार्थ के साथ-साथ परवर्ती अनेक ग्रन्थों में भी इन धर्मों का वर्णन विस्तार से उपलब्ध होता है।

यहाँ धर्म शब्द का अर्थ सद्गुण या नैतिकगुण ही अभिप्रेत है। सर्वप्रथम हमें आचरांग सूत्र में आठ सामान्य धर्मों का उल्लेख उपलब्ध होता है। उसमें कहा गया है कि जो धर्म में उत्थित अर्थात् तत्पर है उनको और जो धर्म में उत्थित नहीं हैं उनको भी निम्न बातों का उपदेश देना चाहिए—शांति, विरति (विरक्ति), उपशम, निवृत्ति, शौच (पवित्रता), आर्जव, मार्दव और लाघव[1]। इस प्रकार उसमें इनकी साधना गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए अपेक्षित है। स्थानांग[2] और समवायांग[3] में दस श्रमण धर्मों के रूप में इन्हीं सद्गुणों का उल्लेख हुआ है यद्यपि स्थानांग और समवायांग की सूची आचारांग से थोड़ी भिन्न है। उसमें दसधर्म हैं—क्षांति (क्षमा), मुक्ति, आर्जव, मार्दव, लाघव, सत्य, संयम, तप, त्याग और ब्रह्मचर्यवास। इस सूची में शौच का अभाव है। शांति, विरति, उपशम और निवृत्ति के स्थान पर नामान्तर से क्षांति, मुक्ति, संयम और त्याग का उल्लेख हुआ है। जबकि सत्य, त्याग और ब्रह्मचर्यवास इस सूची में नये हैं। बारस-अनुवेक्खा एवं तत्त्वार्थ में भी श्रमणाचार के प्रसंग में ही दस धर्मों का उल्लेख हुआ है। तत्त्वार्थ की सूची में लाघव के स्थान पर आकिंचन्य का उल्लेख हुआ है यद्यपि दोनों का अर्थ समान ही है। दूसरे तत्त्वार्थ में मुक्ति के स्थान पर शौच का उल्लेख हुआ है। इन दोनों में अर्थ भेद भी है। चाहे इन धर्मों (सद्गुणों) का उल्लेख श्रमणाचार के प्रसंग में ी अधिक हुआ है किन्तु आचारांग (१।६।५) और पद्मनन्दीकृत पंचविंशतिका (६।५९) ़ अनुसार इनका पालन गृहस्थ और श्रमण दोनों के लिए अपेक्षित है। इनके क्रम और ामों को लेकर जैन आचार ग्रन्थों में थोड़ा-बहुत मतभेद पाया जाता है। फिर भी इनकी मूलभावना में कोई विशेष अन्तर नहीं है। प्रस्तुत विवेचन तत्त्वार्थ के आधार पर कर रहे हैं। तत्त्वार्थ में निम्न दस धर्मों का उल्लेख है[4] (१) क्षमा, (२) मार्दव, (३) आर्जव, (४) शौच, (५) सत्य, (६) संयम, (७) तप, (८) त्याग, (९) अकिंचनता और (१०) ब्रह्मचर्य।

---

१. आचारांग, १।६।५। २. स्थानांग, १०।१४।
३. समवायांग १०।१। ४. तत्त्वार्थ, ९।६।

पारमिता (क्षमा-धर्म) का सविस्तार सजीव विवेचन किया है, वे लिखते हैं—द्वेष के समान पाप नहीं है और क्षमा के समान तप नहीं है, इसलिए विविध प्रकार के यत्नों से क्षमा-भावना करनी चाहिए।[१]

वैदिक परम्परा में क्षमा—वैदिक परम्परा में भी क्षमा का महत्त्व माना गया है। मनु ने दस धर्मों में क्षमा को धर्म माना है। गीता में क्षमा को दैवी-सम्पदा एवं भगवान् की ही एक वृत्ति कहा गया है।[२] महाभारत के उद्योग पर्व में क्षमा के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन है। उसमें कहा गया है कि क्षमा असमर्थ मनुष्यों का गुण है, तथा समर्थ मनुष्यों का भूषण है। हे राजन्, ये दो प्रकार के पुरुष स्वर्ग के भी ऊपर स्थान पाते हैं—एक शक्तिशाली होने पर भी क्षमा करनेवाला और दूसरा निर्धन होने पर भी दान देने वाला। क्षमा द्वेष को दूर करती है, इसलिए वह एक महत्त्वपूर्ण सद्गुण है[3]।

२. मार्दव

मार्दव का अर्थ विनीतता या कोमलता है। मान कषाय या अहंकार को उपशान्त करने के लिए मार्दव (विनय) धर्म के पालन का निर्देश है। विनय अहंकार का प्रतियोगी है व उससे अहंकार पर विजय प्राप्त की जाती है।[४] उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि धर्म का मूल विनय है।[५] उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक में विनय का विस्तृत विवेचन है। जैन-परम्परा में अविनय का कारण अभिमान कहा गया है। अभिमान आठ प्रकार का है—(१) जाति मद—जाति का अहंकार करना, जैसे मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ अथवा उच्च वर्ण का हूँ, उच्च जाति के अहंकार के कारण निम्न जाति केलोगों के प्रति घृणा की वृत्ति उत्पन्न होती है और परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में एक प्रकार की दुर्भावना और विषमता उत्पन्न होती है। (२) कुलमद—परिवार की कुलीनता का अहंकार करना। कुलमद व्यक्ति को दो तरह से नीचे गिराता है। एक तो यह कि जब व्यक्ति में कुल का अभिमान जागृत होता है तो वह दूसरों को अपने से निम्न समझने लगता है और इस प्रकार सामाजिक जीवन में असमानता की वृत्ति को जन्म देता है। दूसरे कुल के अहंकार के कारण वह कठिन परिस्थितियों में भी श्रम करने से जी चुराता है, जैसे कि मैं राजकुल का हूँ अतः अमुक निम्न श्रेणी का व्यवसाय या कार्य कैसे करूँ। इस प्रकार झूठी प्रतिष्ठा के व्यामोह में अपने कर्तव्य से विमुख होता है व समाज पर भार बनकर रहता है। (३) बलमद—शारीरिक शक्ति का अहंकार करना। शक्ति का अहम् व्यक्ति में भावावेश उत्पन्न करता है, और परिणामस्वरूप व्यक्ति में सहनशीलता

---

१. बोधिचर्यावतार, ६।२।
२. गीता, १०।४, १६।३।
३. महाभारत, उद्योगपर्व, ३३।४९,५८।
४. दशवैकालिक, ८।३९।
५. उत्तराध्ययन, १।४५।

१. क्षमा—

क्षमा प्रथम धर्म है। दशवैकालिकसूत्र के अनुसार क्रोध प्रीति का विनाशक है।[१] क्रोध कषाय के उपशमन के लिए क्षमा धर्म का विधान है। क्षमा के द्वारा ही क्रोध पर विजय प्राप्त की जा सकती है[२]। जैन-परम्परा में अपराधी को क्षमा करना और स्वयं के अपराधों के लिए, जिसके प्रति अपराध किया गया है, उससे क्षमा याचना करना साधक का परम कर्तव्य है। जैन साधक का प्रतिदिन यह उद्घोष होता है कि मैं सभी प्राणियों को क्षमा करता हूं और सभी प्राणी मेरे अपराधों के लिए मुझे क्षमा करें। सभी प्राणियों से मेरी मित्रता है, किसी से मेरा वैर नहीं है।[3] महावीर का श्रमण साधकों के लिए यह आदेश था कि साधुओ, यदि तुम्हारे द्वारा किसी का अपराध हो गया है, तो सबसे पहले क्षमा मांगो। जब तक क्षमायाचना न कर लो भोजन मत करो, स्वाध्याय मत करो, शौचादि कर्म भी मत करो, यहाँ तक कि अपने मुँह का थूक भी गले से नीचे मत उतारो। अपने प्रधान शिष्य गौतम को लाये हुए आहार को रखवा कर पहले आनन्द श्रावक से क्षमा-याचना के लिए भेजना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि महावीर की दृष्टि में क्षमा-धर्म का कितना अधिक महत्त्व था।[४] जैन-परम्परा के अनुसार प्रत्येक साधक को प्रातःकाल एवं सायंकाल, पक्षान्त में, चातुर्मास के अन्त में और संवत्सरी पर्व पर सभी प्राणियों से क्षमा-याचना करनी होती है। जैन समाज का वार्षिक पर्व 'क्षमा-वणी' के नाम से ही प्रसिद्ध है। जैन आचार-दर्शन की मान्यता है कि यदि श्रमण साधक पक्षान्त तक अपने क्रोध को शान्त कर क्षमायाचना नहीं कर लेता है तो उसका श्रमणत्व समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार गृहस्थ उपासक यदि चार महीने से अधिक अपने हृदय में क्रोध के भाव बनाये रखता है और जिसके प्रति अपराध किया है उससे क्षमा-याचना नहीं करता तो वह गृहस्थ-धर्म का अधिकारी नहीं रह पाता है। इतना ही नहीं, जो व्यक्ति एक वर्ष से अधिक तक अपने क्रोध की तीव्रता को बनाये रखता है और क्षमा-याचना नहीं करता वह सम्यक्-श्रद्धा का अधिकारी भी नहीं होता है और इस प्रकार जैनत्व से भी च्युत हो जाता है।

बौद्ध-परम्परा में क्षमा—बौद्ध-परम्परा में भी क्षमा का महत्त्व निर्विवाद है। कहा गया है कि आर्य विनय के अनुसार इससे उन्नति होती है जो अपने अपराध को स्वीकार करता है और भविष्य में संयत रहता है।[५] संयुत्तनिकाय में कहा है कि क्षमा से बढ़-कर अन्य कुछ नहीं है।[६] क्षमा ही परम तप है।[७] आचार्य शान्तिरक्षित ने क्षान्ति

१. दशवैकालिक, ८।३८।
२. वही ८।३९।
३. आवश्यकसूत्र-क्षमापणा पाठ।
४. उपासकदशांग, १।८४।
५. अगुंत्तरनिकाय १।१२।
६. संयुत्तनिकाय, १०।१२।
७. धम्मपद, १८४।

पारमिता (क्षमा-धर्म) का सविस्तार सजीव विवेचन किया है, वे लिखते हैं—द्वेष के समान पाप नहीं है और क्षमा के समान तप नहीं है, इसलिए विविध प्रकार के यत्नों से क्षमा-भावना करनी चाहिए।[1]

वैदिक परम्परा में क्षमा—वैदिक परम्परा में भी क्षमा का महत्त्व माना गया है। मनु ने दस धर्मों में क्षमा को धर्म माना है। गीता में क्षमा को दैवी-सम्पदा एवं भगवान् की ही एक वृत्ति कहा गया है।[2] महाभारत के उद्योग पर्व में क्षमा के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन है। उसमें कहा गया है कि क्षमा असमर्थ मनुष्यों का गुण है, तथा समर्थ मनुष्यों का भूषण है। हे राजन्, ये दो प्रकार के पुरुष स्वर्ग के भी ऊपर स्थान पाते हैं—एक शक्तिशाली होने पर भी क्षमा करनेवाला और दूसरा निर्धन होने पर भी दान देने वाला। क्षमा द्वेष को दूर करती है, इसलिए वह एक महत्त्वपूर्ण सद्गुण है[3]।

२. मार्दव

मार्दव का अर्थ विनीतता या कोमलता है। मान कषाय या अहंकार को उपशान्त करने के लिए मार्दव (विनय) धर्म के पालन का निर्देश है। विनय अहंकार का प्रतियोगी है व उससे अहंकार पर विजय प्राप्त की जाती है।[4] उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि धर्म का मूल विनय है।[5] उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक में विनय का विस्तृत विवेचन है। जैन-परम्परा में अविनय का कारण अभिमान कहा गया है। अभिमान आठ प्रकार का है—(१) जाति मद—जाति का अहंकार करना, जैसे मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ अथवा उच्च वर्ण का हूँ, उच्च जाति के अहंकार के कारण निम्न जाति के लोगों के प्रति घृणा की वृत्ति उत्पन्न होती है और परिणामस्वरूप सामाजिक जीवन में एक प्रकार की दुर्भावना और विषमता उत्पन्न होती है। (२) कुलमद—परिवार की कुलीनता का अहंकार करना। कुलमद व्यक्ति को दो तरह से नीचे गिराता है। एक तो यह कि जब व्यक्ति में कुल का अभिमान जागृत होता है तो वह दूसरों को अपने से निम्न समझने लगता है और इस प्रकार सामाजिक जीवन में असमानता की वृत्ति को जन्म देता है। दूसरे कुल के अहंकार के कारण वह कठिन परिस्थितियों में भी श्रम करने से जी चुराता है, जैसे कि मैं राजकुल का हूँ अतः अमुक निम्न श्रेणी का व्यवसाय या कार्य कैसे करूँ। इस प्रकार झूठी प्रतिष्ठा के व्यामोह में अपने कर्तव्य से विमुख होता है व समाज पर भार बनकर रहता है। (३) बलमद—शारीरिक शक्ति का अहंकार करना। शक्ति का अहम् व्यक्ति में भावावेश उत्पन्न करता है, और परिणामस्वरूप व्यक्ति में सहनशीलता

१. बोधिचर्यावतार, ६।२।
२. गीता, १०।४, १६।३।
३. महाभारत, उद्योगपर्व, ३३।४९,५८।
४. दशवैकालिक, ८।३९।
५. उत्तराध्ययन, १।४५।

का अभाव हो जाता है। राष्ट्रों में जब यह शक्तिमद तीव्र होता है तो वे दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण के लिए बड़े ही आतुर हो जाते हैं और न कुछ बात के लिए आक्रमण कर देते हैं। (४) तपमद—तपस्या का अहंकार करना। व्यक्ति में जब तप का अहंकार जागृत होता है तो वह साधना से गिर जाता है। जैन कथा-साहित्य में कुरुगुडुक केवली की कथा इस बात को बड़े ही सुन्दर रूप में चित्रित करती है कि तप का अहंकार करनेवाले साधना के क्षेत्र में कितने पीछे रह जाते हैं। (५) रूपमद—शारीरिक सौन्दर्य का अहंकार करना। रूपमद भी व्यक्ति में अहंकार की वृत्ति जागृत कर दूसरे को अपने से निम्न समझने की भावना उत्पन्न करता है और इस प्रकार एक प्रकार की असमानता का बीज बोता है। पाश्चात्य राष्ट्रों में श्वेत और काली जातियों के बीच चलने वाले संघर्ष के मूल में रूप और जाति का अभिमान ही प्रमुख है। (६) ज्ञानमद—बुद्धि अथवा विद्या का अहंकार करना। ज्ञान का अहंकार जब व्यक्ति में आता है तो वह दूसरे लोगों को अपने से छोटा मानने लगता है, और इस प्रकार एक ओर तो वह दूसरों के अनुभवों से लाभ उठाने से वंचित रहता है और दूसरी ओर बुद्धि का अभिमान स्वयं उसके ज्ञान-उपलब्धि के प्रयत्नों में बाधक बनता है। इस प्रकार उसके ज्ञान का विकास कुण्ठित हो जाता है। (७) ऐश्वर्यमद–धन-सम्पदा और प्रतिष्ठा का अहंकार करना। यह भी समाज में वर्ग-विद्वेष का कारण और व्यक्ति के अन्दर एक प्रकार की असमानता की वृत्ति को जन्म देता है। (८) सत्तामद–पद, अधिकार का घमण्ड करना जैसे गृहस्थ वर्ग में राजा, सेनापति, मंत्री आदि के पद, वैसे ही श्रमण–संस्था में आचार्य, उपाध्याय, गणि आदि के पद। जैन परम्परा के अनुसार जब तक अहंभाव का विगलन होकर विनम्रता नहीं आती तब तक व्यक्ति नैतिक विकास की दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता। उत्तराध्ययन-सूत्र में कहा है कि विनय के स्वरूप को जानकर नम्र बनाने वाले बुद्धिमान् की लोक में प्रशंसा होती है, जिस प्रकार प्राणियों के लिए पृथ्वी आधारभूत है, उसी प्रकार वह भी सद्गुणों का आधार होता है।[1]

बौद्ध परम्परा में अहंकार की निन्दा—बौद्ध-परम्परा में अहंकार को साधना की दृष्टि से अनुचित माना गया है। अंगुत्तरनिकाय में तीन मदों का विवेचन उपलब्ध है। भिक्षुओ, यौवन-मद में, आरोग्य-मद में, जीवन-मद में, मत्त अज्ञानी सामान्य जन शरीर से दुष्कर्म करता है, वाणी से दुष्कर्म करता है तथा मन से दुष्कर्म करता है। वह शरीर, वाणी तथा मन से दुष्कर्म करके शरीर के छूटने पर, मरने के अनन्तर अपाय, दुर्गति, पतन, एवं नरक को प्राप्त होता है। भिक्षुओ, यौवन-मद से मत्त भिक्षु शिक्षा का त्याग कर पतनोन्मुख होता है। भिक्षुओ, आरोग्य-मद से मत्त भिक्षु शिक्षा का त्याग कर पतनोन्मुख

---

१. उत्तराध्ययन, १।४५।

होता है। भिक्षुओ, जीवन मद से मत्त भिक्षु शिक्षा का त्यागकर पतनोन्मुख होता है।[1] सुत्तनिपात में कहा है कि जो मनुष्य जाति, धन और गोत्र का गर्व करता है वह उसकी अवनति का कारण है।[2] इस प्रकार बौद्ध धर्म में १. यौवन, २. आरोग्य, ३. जीवन, ४. जाति, ५ धन और ६. गोत्र इन छह मदों से बचने का निर्देश है।

गीता में अहंकार वृत्ति की निन्दा—गीता के अनुसार अहंकार को पतन का कारण माना गया है। जो यह अहंकार करता है कि मैं अधिपति हूँ, मैं ऐश्वर्य का भोग करनेवाला हूँ, मैं सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ, मैं बड़ा धनवान् और कुलवान हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है—वह अज्ञान से विमोहित है।[3] जो धन और सम्मान के मद से युक्त है वह भगवान् की पूजा का ढोंग करता है।[4] गीता की दृष्टि में अहंकार और घमण्ड करने वाला भगवान् का दोषी है। महाभारत में कहा है कि जब व्यक्ति पर रूप का और धन का मद सवार हो जाता है तो वह ऐसा मानने लगता है कि मैं बड़ा कुलीन हूँ, सिद्ध हूँ, साधारण मनुष्य नहीं हूँ। रूप, धन और कुल इन तीनों के अभिमान के कारण चित्त में प्रमाद भर जाता है, वह भोगों में आसक्त होकर बाप-दादों द्वारा संचित सम्पत्ति खो बैठता है।[5]

इस प्रकार जैन, बौद्ध और हिन्दू आचार-दर्शन अभिमान का त्याग करना और विनम्रता को अंगीकार करना आवश्यक मानते हैं। जिस प्रकार नदी के मध्य रही हुई घास, भयंकर प्रवाह में भी अपना अस्तित्व बनाये रखती है, जबकि बड़े-बड़े वृक्ष उस संघर्ष में धराशायी हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवन-संघर्ष में विनीत व्यक्ति ही निरापद रूप से पार होते हैं।

३. आर्जव

निष्कपटता या सरलता आर्जव गुण है। इसके द्वारा माया (कपट वृत्ति) कषाय पर विजय प्राप्त की जाती है। कुटिल वृत्ति (कपट) सद्भाव की विनाशक है, वह सामाजिक और वैयक्तिक दोनों जीवन के लिए हानिकर है। व्यक्ति की दृष्टि से कपट-वृत्ति एक प्रकार की आत्म-प्रवंचना है, वह स्वयं अपने आपको धोखा देने की प्रवृत्ति है। जबकि सामाजिक दृष्टि से कपट-वृत्ति व्यवहार में शंका को जन्म देती है और पारस्परिक सद्भाव का नाश करती है।[6] यही शंका और कुशंका, भय और असद्भाव सामाजिक जीवन में विवाद और संघर्ष के प्रमुख कारण बनते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार आर्जव गुण के द्वारा ही व्यक्ति विश्वासपात्र बनता है।[7] जिसमें आर्जव गुण का अभाव है वह

१. अंगुत्तरनिकाय, ३।३९
२. सुत्तनिपात, १।६।१४।
३. गीता, १६।१४–१५।
४. वही, १६।१७।
५. महाभारत, शांतिपर्व, १७६।१७–१८।
६. दशवैकालिक, ८।३८।
७. उत्तराध्ययन, २९।४८।

का अभाव हो जाता है। राष्ट्रों में जब यह शक्तिमद तीव्र होता है तो वे दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण के लिए बड़े ही आतुर हो जाते हैं और न कुछ बात के लिए आक्रमण कर देते हैं। (४) तपमद—तपस्या का अहंकार करना। व्यक्ति में जब तप का अहंकार जागृत होता है तो वह साधना से गिर जाता है। जैन कथा-साहित्य में कुरुगुडुक केवली की कथा इस बात को बड़े ही सुन्दर रूप में चित्रित करती है कि तप का अहंकार करनेवाले साधना के क्षेत्र में कितने पीछे रह जाते हैं। (५) रूपमद—शारीरिक सौन्दर्य का अहंकार करना। रूपमद भी व्यक्ति में अहंकार की वृत्ति जागृत कर दूसरे को अपने से निम्न समझने की भावना उत्पन्न करता है और इस प्रकार एक प्रकार की असमानता का बीज बोता है। पाश्चात्य राष्ट्रों में श्वेत और काली जातियों के बीच चलने वाले संघर्ष के मूल में रूप और जाति का अभिमान ही प्रमुख है। (६) ज्ञानमद—बुद्धि अथवा विद्या का अहंकार करना। ज्ञान का अहंकार जब व्यक्ति में आता है तो वह दूसरे लोगों को अपने से छोटा मानने लगता है, और इस प्रकार एक ओर तो वह दूसरों के अनुभवों से लाभ उठाने से वंचित रहता है और दूसरी ओर बुद्धि का अभिमान स्वयं उसके ज्ञान-उपलब्धि के प्रयत्नों में बाधक बनता है। इस प्रकार उसके ज्ञान का विकास कुण्ठित हो जाता है। (७) ऐश्वर्यमद–धन-सम्पदा और प्रतिष्ठा का अहंकार करना। यह भी समाज में वर्ग-विद्वेष का कारण और व्यक्ति के अन्दर एक प्रकार की असमानता की वृत्ति को जन्म देता है। (८) सत्तामद–पद, अधिकार का घमण्ड करना जैसे गृहस्थ वर्ग में राजा, सेनापति, मंत्री आदि के पद, वैसे ही श्रमण–संस्था में आचार्य, उपाध्याय, गणि आदि के पद। जैन परम्परा के अनुसार जब तक अहंभाव का विगलन होकर विनम्रता नहीं आती तब तक व्यक्ति नैतिक विकास की दिशा में आगे नहीं बढ़ सकता। उत्तराध्ययन-सूत्र में कहा है कि विनय के स्वरूप को जानकर नम्र बनाने वाले बुद्धिमान् की लोक में प्रशंसा होती है, जिस प्रकार प्राणियों के लिए पृथ्वी आधारभूत है, उसी प्रकार वह भी सद्गुणों का आधार होता है।[1]

बौद्ध परम्परा में अहंकार की निन्दा—बौद्ध-परम्परा में अहंकार को साधना की दृष्टि से अनुचित माना गया है। अंगुत्तरनिकाय में तीन मदों का विवेचन उपलब्ध है। भिक्षुओ, यौवन-मद में, आरोग्य-मद में, जीवन-मद में, मत्त अज्ञानी सामान्य जन शरीर से दुष्कर्म करता है, वाणी से दुष्कर्म करता है तथा मन से दुष्कर्म करता है। वह शरीर, वाणी तथा मन से दुष्कर्म करके शरीर के छूटने पर, मरने के अनन्तर अपाय, दुर्गति, पतन, एवं नरक को प्राप्त होता है। भिक्षुओ, यौवन-मद से मत्त भिक्षु शिक्षा का त्याग कर पतनोन्मुख होता है। भिक्षुओ, आरोग्य-मद से मत्त भिक्षु शिक्षा का त्याग कर पतनोन्मुख

---

१. उत्तराध्ययन, १।४५।

होता है। भिक्षुओ, जीवन मद से मत्त भिक्षु शिक्षा का त्यागकर पतनोन्मुख होता है।[1] सुत्तनिपात में कहा है कि जो मनुष्य जाति, धन और गोत्र का गर्व करता है वह उसकी अवनति का कारण है।[2] इस प्रकार बौद्ध धर्म में १. यौवन, २. आरोग्य, ३. जीवन, ४. जाति, ५. धन और ६. गोत्र इन छह मदों से बचने का निर्देश है।

गीता में अहंकार वृत्ति की निन्दा—गीता के अनुसार अहंकार को पतन का कारण माना गया है। जो यह अहंकार करता है कि मै अधिपति हूँ, मैं ऐश्वर्य का भोग करनेवाला हूँ, मैं सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ, मैं बड़ा धनवान् और कुलवान हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है—वह अज्ञान से विमोहित है।[3] जो धन और सम्मान के मद से युक्त है वह भगवान् की पूजा का ढोंग करता है।[4] गीता की दृष्टि में अहंकार और घमण्ड करने वाला भगवान् का दोषी है। महाभारत में कहा है कि जब व्यक्ति पर रूप का और धन का मद सवार हो जाता है तो वह ऐसा मानने लगता है कि मैं बड़ा कुलीन हूँ, सिद्ध हूँ, साधारण मनुष्य नहीं हूँ। रूप, धन और कुल इन तीनों के अभिमान के कारण चित्त में प्रमाद भर जाता है, वह भोगों में आसक्त होकर बाप-दादों द्वारा संचित सम्पत्ति खो बैठता है।[5]

इस प्रकार जैन, बौद्ध और हिन्दू आचार-दर्शन अभिमान का त्याग करना और विनम्रता को अंगीकार करना आवश्यक मानते हैं। जिस प्रकार नदी के मध्य रही हुई घास, भयंकर प्रवाह में भी अपना अस्तित्व बनाये रखती है, जबकि बड़े-बड़े वृक्ष उस संघर्ष में धराशायी हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवन-संघर्ष में विनीत व्यक्ति ही निरापद रूप से पार होते हैं।

३. आर्जव

निष्कपटता या सरलता आर्जव गुण है। इसके द्वारा माया (कपट वृत्ति) कषाय पर विजय प्राप्त की जाती है। कुटिल वृत्ति (कपट) सद्भाव की विनाशक है, वह सामाजिक और वैयक्तिक दोनों जीवन के लिए हानिकर है। व्यक्ति की दृष्टि से कपट-वृत्ति एक प्रकार की आत्म-प्रवंचना है, वह स्वयं अपने आपको धोखा देने की प्रवृत्ति है। जबकि सामाजिक दृष्टि से कपट-वृत्ति व्यवहार में शंका को जन्म देती है और पारस्परिक सद्भाव का नाश करती है।[6] यही शंका और कुशंका, भय और असद्भाव सामाजिक जीवन में विवाद और संघर्ष के प्रमुख कारण बनते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार आर्जव गुण के द्वारा ही व्यक्ति विश्वासपात्र बनता है।[7] जिसमें आर्जव गुण का अभाव है वह

---

१. अंगुत्तरनिकाय, ३।३९
२. सुत्तनिपात, १।६।१४।
३. गीता, १६।१४–१५।
४. वही, १६।१७।
५. महाभारत, शांतिपर्व, १७६।१७–१८।
६. दशवैकालिक, ८।३८।
७. उत्तराध्ययन, २९।४८।

सामाजिक जीवन में विश्वासपात्र नहीं बन पाता। किसी भी प्रकार दंभ (ढोंग) चाहे वह साधना से सम्बन्धित हो या जीव के अन्य व्यवहार से, अनुचित ही है। दशवैकालिकसूत्र के अनुसार जो तपस्वी न होकर तपस्वी होने का ढोंग करता है वह तप का चोर है, जो पंडित न होने पर भी वाक्पटुता के द्वारा पाण्डित्य का प्रदर्शन करता है वह वचन-चोर है, जो व्यक्ति इस प्रकार के ढोंग करता है वह निम्न योनियों को प्राप्त करता है और संसार में भटकता रहता है, उसे यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती।[१] इसीलिए कहा गया है कि बुद्धिमान् व्यक्ति कपट के इन दोषों को जानकर निष्कपट आचरण करे।[2]

बौद्ध दृष्टिकोण—बुद्ध ने ऋजुता को कुशल धर्म कहा है। उनकी दृष्टि में माया या शठता (ठगी), दुर्गति, नरक की कारण है, जबकि ऋजुता (सरलता) सुख, सुगति, स्वर्ग और शैक्ष भिक्षु के लाभ का कारण है।[3]

महाभारत और गीता का दृष्टिकोण—महाभारत के अनुसार सरलता एक आवश्यक सद्गुण है।[४] गीता में आर्जव को दैवी सम्पदा,[५] तप[६] और ब्राह्मण का स्वाभाविक गुण कहा गया है। आर्जव और अदम्भ सद्गुणों की गीताकार ने ज्ञान में गणना की है और इनके विरोधी भावों को अज्ञान कहा है।[७]

४. शौच (पवित्रता)

शौच पवित्रता का सूचक है। सामान्यतया शौच का अर्थ दैहिक पवित्रता से लगाया जाता है। किन्तु जैन परम्परा में शौच शब्द का प्रयोग मानसिक पवित्रता के अर्थ में ही हुआ है। समवायांग और स्थानांग की सूची में शौच के स्थान पर 'लाघव' उल्लेख मिलता है। वस्तुतः साधना के लिए मानसिक कालुष्य या वासनारूपी मल की शुद्धि आवश्यक है। विषय-वासनाओं या कषायों की गंदगी हमारे चित्त को कलुषित करती है अतः उसकी शुद्धि ही शौच धर्म है। पं० सुखलालजी ने शौच का अर्थ निर्लोभता किया है[८] किन्तु यह उचित नहीं लगता है, क्योंकि फिर इसका आकिञ्चन्य से भेद करना कठिन होगा। जैन परम्परा के अनुसार शौच का अर्थ मानसिक शुद्धि करना ही अधिक युक्तिसंगत है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि अकलुष मनोभावों से युक्त धर्मरूपी सरोवर में स्नान कर विमल एवं विशुद्ध बना जाता है।[९]

---

१. दशवैकालिक, ५।२।४६। २. वही, ५।२।४९।
३. अंगुत्तरनिकाय, २।१५-१६। ४. महाभारत, शांतिपर्व, १७५।३७।
५. गीता, १६।१। ६. वही, १७।१४।
७. वही, १३।७-११। ८. तत्त्वार्थसूत्र (सुखलालजी की विवेचनासहित), पृ० २१०।
९. उत्तराध्ययन, १२।४६।

गीता का दृष्टिकोण—गीता में शौच की गणना दैवी सम्पदा, ब्रह्मकर्म एवं तप में की गई है[1]। आचार्य शंकर ने अपने गीता भाष्य में शौच का अर्थ प्रतिपक्ष भावना के द्वारा अन्तःकरण के रागादि मलों का दूर करना भी किया है, जो कि जैन परम्परा के शौच के अर्थ के निकट है।[2]

५. सत्य

सत्यधर्म से तात्पर्य है सत्यता को अपनाना। असत्य भाषण से किस प्रकार विरत होना, सत्य किस प्रकार बोलना यह विवेचन व्रत-प्रकरण में किया गया है। धर्म के प्रसंग में 'सत्य' का कथन यह व्यक्त करता है कि साधक को अपने व्रतों एवं मर्यादाओं की प्रतिज्ञा के प्रति निष्ठावान रहकर उनका उसी रूप में पालन करना सत्यधर्म है। इस प्रकार यहां यह कर्तव्य-निष्ठा को व्यवत करता है, जैसे हरिश्चन्द्र के प्रसंग में कर्तव्य-निष्ठा को ही सत्यधर्म के रूप में माना गया है। साधक का अपने प्रति सत्य (ईमानदार) होना ही सत्यधर्म का पालन है। आचरण के सभी क्षेत्रों में पवित्रता ही सत्य धर्म है। कहा भी गया हैं कि मन, बचन और काया की एक रूपता सत्य है, अर्थात् जैसा विचार वैसी ही वाणी और आचारण रखे यही सत्यता है। वास्तव में यही नैतिक जीवन की पहचान भी है।

महावीर कहते हैं कि जो निष्ठापूर्वक सत्य की आज्ञा का पालन करता है, वह बन्धन से मुक्त हो जाता है सत्य के सन्दर्भ में महावीर का दृष्टिकोण यही है कि व्यक्ति के जीवन में (अन्तस् और बाह्य) एक रूपता होनी चाहिए।[3] अन्तरात्मा के प्रति निष्ठावान् होना ही सत्यधर्म है।

६. संयम

जैन दर्शन के अनुसार पूर्व-संचित कर्मो के क्षय के लिए तप आवश्यक है और संयम से भावी कर्मो के आस्रव का निरोध होता है। संयम मनोवृत्तियों, कामनाओं और इन्द्रिय व्यवहार का नियम न करता है। संयम का अर्थ दमन नहीं, वरन् उनको सम्यक् दिशा में योजित करना है। संयम एक ओर अकुशल, अशुभ एवं पाप जनक व्यवहारों से निवृत्ति है तो दूसरी ओर शुभ में प्रवृत्ति है। दशवैकालिकसूत्र में कहा है कि अहिसा, संयम और तपयुक्त धर्म ही सर्वोच्च शुभ (मंगल) है।[4] जैन आचार्यों ने संयम के अनेक भेद बताये हैं विस्तार भय से उनका विवेचन संभव नही है। पांच आस्रव-स्थान, चार कषाय, पाँच इन्द्रियाँ एवं मन, वाणी और शरीर का संयम प्रमुख है।[5]

---

१. गीता, १६।३,१७।१४,१८।४२।
२. गीता शांकरभाष्य १३।७।
३. आचारांग १।३।३।११९।
४. दशवैकालिक, १।१
५. अभिधानराजेन्द्र, खण्ड ७, पृ० ८७।

भौतिक वस्तुओं की कामना ही नहीं, वरन् यश, कीर्ति, पूजा, सम्मान आदि की लालसा भी मनुष्य को अधःपतन की ओर ले जाती है। दशवैकालिक सूत्र के अनुसार जो पूजा, प्रतिष्ठा, मान और सम्मान की कामना करते हैं, वे अनेक छद्म पापों का सृजन करते हैं।[१] कामना चाहे भौतिक वस्तुओं की हो या मान-सम्मान आदि अभौतिक तत्त्वों की, वह एक बोझ है जिससे मुक्त होना आवश्यक है। सूत्रों में लाघव के साथ ही साथ मुक्ति (मुत्ती) शब्द का प्रयोग भी हुआ है। सद्गुण के रूप में मुक्ति का अर्थ दुश्चिन्ताओं, कामनाओं और वासनाओं से मुक्त मनःस्थिति ही है। उपलक्षण से मुत्ती का अर्थ संतोष भी होता है। सन्तोष की वृत्ति आवश्यक सद्गुण है। उसके अभाव में जीवन की शान्ति चौपट हो जाती है। बौद्ध धर्म और गीता की दृष्टि में निर्लोभता मनुष्य का आवश्यक सद्गुण है। बुद्ध का कथन है कि 'सन्तोष ही परम धन है।'[२] गीता में कृष्ण कहते हैं, 'सन्तुष्ट व्यक्ति मेरा प्रिय है।'[३]

८. ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन महाव्रतों एवं अणुव्रतों के सन्दर्भ में किया गया है। श्रमण के लिए समस्त प्रकार के मैथुन का त्याग आवश्यक माना गया है। गृहस्थ उपासक के लिए स्वपत्नी-सन्तोष में ही ब्रह्मचर्य की मर्यादा स्थापित की गयी है। विषयासक्ति चित्त को कलुषित करती है, मानसिक शान्ति भंग करती है, एक प्रकार के मानसिक तनाव को उत्पन्न करती है और शारीरिक दृष्टि से रोग का कारण बनती है। इसलिए यह माना गया कि अपनी-अपनी मर्यादा के अनुकूल गृहस्थ और श्रमण को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए।

बौद्ध परम्परा में ब्रह्मचर्य—बौद्ध परम्परा में भी ब्रह्मचर्य धर्म का महत्त्व स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है। उसमें भी श्रमण साधक के लिए पूर्ण ब्रह्मचर्य और गृहस्थ साधक के लिए स्वपत्नी-संतोष की मर्यादाएँ स्थापित की गयी हैं।[४]

गीता में ब्रह्मचर्य—गीता में ब्रह्मचर्य को शारीरिक तप कहा गया है।[५] परमतत्त्व की उपलब्धि के लिए ब्रह्मचर्य को आवश्यक माना गया और यह बताया गया है कि जो ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित होकर मेरी उपासना करता है, वह शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त कर लेता है।[६]

---

१. दशवैकालिक, ५।२।३७। २. धम्मपद, २०४।
३. गीता, १२।१४, १९। ४. सुत्तनिपात, २६।२१।
५. गीता, १७।१४। ६. वही, ६।१४।

वैदिक परम्परा में दस धर्म (सद्गुण)

वैदिक परम्परा में भी थोड़े-बहुत अन्तर से इन सद्गुणों का विवेचन पाया जाता है। हिन्दू धर्म में हमें दो प्रकार के धर्मों का विवेचन उपलब्ध होता है—एक सामान्य धर्म और दूसरे विशेष धर्म। सामान्य धर्म वे हैं जिनका पालन सभी वर्ण एवं आश्रमों के लोगों को करना चाहिए, जबकि विशेष धर्म वे हैं जिनका पालन वर्ण विशेष या आश्रम विशेष के लोगों को करना होता है। सामान्य धर्म की चर्चा अति प्राचीन काल से होती आयी है। मनु ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय निग्रह इन पांच को सभी वर्णाश्रम वालों का धर्म बताया है।[1] प्रसंगान्तर से उन्होंने इन दस सामान्य धर्मों की भी चर्चा की है यथा—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध।[2] इस सूची में क्षमा, शौच, इन्द्रियनिग्रह और सत्य ही ऐसे हैं जो जैन परम्परा के नामों से पूरी तरह मेल खाते हैं, शेष नाम भिन्न ही हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में अक्रोध, सत्यवचन, संविभाग, क्षमा, प्रजनन, शौच, अद्रोह, आर्जव एवं भृत्य-भरण इन नौ सद्गुणों का विवेचन है। वामनपुराण में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, दान, क्षान्ति, दम, शम, अकार्पण्य, शौच और तप इन दस सद्गुणों का विवेचन है। विष्णु धर्म सूत्र में १४ गुणों का वर्णन है, जिनमें अधिकांश यही हैं। महाभारत के आदिपर्व में धर्म की निम्न दस पत्नियों का उल्लेख है—कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा और मति।[3] इसी प्रकार श्रीमद्भागवत में भी धर्म की श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्वी और मूर्ति इन तेरह पत्नियों का उल्लेख है।[4] वस्तुतः इन्हें गुणों, धर्म की पत्नियां कहने का अर्थ इतना ही है कि इनके बिना धर्म अपूर्ण रहता है। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत में धर्म के पुत्रों का भी उल्लेख है। धर्म के पुत्र हैं— शुभ, प्रसाद, अभय, सुख, मुद, स्मय, योग, दर्प, अर्थ, स्मरण, क्षेम और प्रश्रय।[5] वस्तुतः सद्गुणों का एक परिवार है और जहां एक सद्गुण भी पूर्णता के साथ प्रकट होता है वहां उससे सम्बन्धित दूसरे सद्गुण भी प्रकट हो जाते हैं।

बौद्ध धर्म और दस सद्गुण

जैसा कि हमने देखा जैन धर्मसम्मत क्षमा आदि दस धर्मों (सद्गुण) की अलग-अलग चर्चा उपलब्ध हो जाती है, किन्तु उसमें जिन दस धर्मों का उल्लेख हुआ है, इनसे

---

१. मनुस्मृति, १०।६३।
२. वही, ६।९२।
३. महाभारत, आदिपर्व, ६६।१५।
४. श्रीमद्भागवत, ४।४९।
५. वही, ४।१।५०–५३।

भिन्न हैं। अंगुत्तरनिकाय में सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-वाचा, सम्यक्-कर्मान्त, सम्यक्-आजीव, सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति, सम्यक्-समाधि, सम्यक्-ध्यान और सम्यक्-विमुक्ति ये दस धर्म बताये गये हैं।[1] वस्ततुः इसमें अष्टांग आर्य मार्ग में सम्यक्-ध्यान और सम्यक्-विमुक्ति ये दो चरण जोड़कर दस की संख्या पूरी की गई है। यद्यपि अशोक के शिलालेखों में जिन नौ धर्मों या सद्गुणों की चर्चा की गई है, वे जैन परम्परा और हिन्दू परम्परा के काफी निकट आते हैं। वे गुण निम्न हैं—दया, उदारता, सत्य, शुद्धि (शौच), भद्रता, शान्ति, प्रसन्नता, साधुता और आत्मसंयम।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रम और नामों के अवान्तर एवं परम्परागत मतभेदों के होते हुए भी सद्गुण सम्बन्धी मूलभूत दृष्टि में तीनों परम्परा में विशेष अन्तर नहीं है। यद्यपि यह एक अलग प्रश्न है कि जब इन सद्गुणों के पालन में अन्तर्विरोध हो तो किसे सद्गुण की प्रमुखता दी जाए। उदाहरणार्थ जब दया और न्याय या अहिंसा (दया) और सत्य का एक साथ पालन सम्भव न हो तो किस सद्गुण का पालन किया जाए और किसकी उपेक्षा की जाए। इस सम्बन्ध में तीनों परम्पराओं में और उनके विचारकों में मतभेद होना स्वाभाविक है। वस्तुतः यह एक प्रश्न है जिस पर ऐकान्तिक निर्णय सम्भव नहीं है। ऐसे निर्णय देश, काल, व्यक्ति, समाज और परिस्थिति पर निर्भर करते हैं अतः उनमें विविधता का होना स्वाभाविक ही है।

धर्म के चार चरण

जैन-परम्परा में धर्म के चार अंग माने गये हैं जिनमें दान, शील, तप और भाव आते हैं। इनकी साधना गृहस्थ और श्रमण दोनों ही प्रकारान्तर से कर सकते हैं। वस्तुतः धर्म के ये चारों अंग धर्म के सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक पक्षों को अभिव्यक्त करते हैं। दान का सम्बन्ध सामाजिक जीवन से है और शील का सम्बन्ध नैतिक जीवन से। तप और भाव आध्यात्मिक पक्ष से सम्बन्धित हैं। बौद्ध परम्परा में भी दान पारमिता और शील पारमिता की साधना आवश्यक कही गयी है। बोधिसत्व सबसे पहले इन्हीं पारमिताओं की साधना करता है।

दान

जैन आचार्यो के अनुसार दान का अर्थ है अनुग्रहपूर्वक अपनी वस्तु का परहित के लिए उत्सर्ग (त्याग) करना। वैसे भारतीय परम्परा में दान के लिए सम्-विभाग (संविभाग) शब्द का प्रयोग हुआ है। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं में दान को संविभाग कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि दान देकर दाता किसी व्यक्ति

---

१. अंगुत्तरनिकाय, १०। २. अशोक के शिलालेख स्तंभ, २ एवं ७।

पर अनुग्रह नहीं करता है, वरन् जिसका जो अधिकार है, वही देता है। संविभाग शब्द का मूलाशय यही है कि व्यक्ति पर समाज का कुछ अधिकार है अथवा समाज के प्रति उसका कुछ दायित्व है। दान के रूप में वह अपने उस दायित्व का निर्वाह करता है, किसी पर अनुग्रह नहीं। 'दान' शब्द का प्रयोग संविभाग शब्द के बाद में होने लगा है। इसका अर्थ यह है कि प्राचीन समाज व्यवस्था में अपने अधिकार में रही हुई वस्तु पर भी व्यक्ति के साथ समाज का भी अधिकार माना जाता था। संविभाग शब्द यही बतलाता है कि व्यक्ति के पास जो कुछ है वह उसका अकेला स्वामी नहीं है, वरन् समाज के दूसरे सदस्यों का भी उस पर अधिकार है। अतः समाज के दूसरे सदस्यों के हित में उस सम्पत्ति के एक भाग को उत्सर्ग करना ही संविभाग है। वस्तुतः संविभाग शब्द की मूल ध्वनि दान शब्द में नहीं मिलती। प्राचीन ऋषियों के द्वारा इस शब्द का प्रयोग उनकी गहन सामाजिक दृष्टि का ही परिचायक है। उन्होंने न केवल विभाग शब्द का उपयोग किया, वरन् उसके आगे सम् उपसर्ग का भी प्रयोग किया, सम् उपसर्ग इस बात का परिचायक है कि विभाग समान रूप से होना चाहिए। वर्तमान समाजवादी व्यवस्था की जो मूल दृष्टि है उसका पूर्व परिचय हमें इस संविभाग शब्द की योजना में मिल जाता है। प्राचीन युग में इस संविभाग शब्द का प्रयोग यही बताता है कि दान अनुग्रह नहीं, वरन् एक सामाजिक अधिकार था।

दान के प्रकार—जैन-परम्परा में दान चार प्रकार का कहा गया है—(१) ज्ञान दान (२) अभय दान (३) धर्मोपकरण दान और (४) अनुकम्पा दान। इन चारों दानों में ज्ञानदान और अभयदान मुनि के लिए विशेष रूप से पालनीय हैं। धर्मोपकरण दान गृहस्थ के लिए विशेष रूप से आचरणीय है। यद्यपि गृहस्थ उपासक आंशिक रूप में अभयदान और ज्ञानदान भी दे सकता है। जहां तक मुनि-जीवन का प्रश्न है, वह तो स्वयं भिक्षुक है, अतः वह मात्र ज्ञानदान और अभयदान ही करता है, धर्मोपकरणदान और अनुकम्पा दान नहीं। ज्ञानदान का अर्थ है विद्या पढ़ाना और इसी प्रकार अभयदान का अर्थ है स्वयं का आचरण इस प्रकार से रखना कि दूसरों को भय न हो। पूर्ण अहिंसा का पालन ही अभयदान का सर्वोच्च आदर्श है। धर्मोपकरणदान का अर्थ है मुनि या भिक्षुक को उसकी आवश्यकताओं की वस्तुएँ प्रदान करना। अनुकम्पादान का तात्पर्य है दीन, दुःखी, अनाथ, रोगी या संकटग्रस्त व्यक्ति की सहायता करना। गृहस्थ मुनि को भिक्षा देना और दीन-दुःखियों की सहायता करना गृहस्थ के आवश्यक कर्तव्य हैं। जैन-परम्परा में दान के सम्बन्ध में देश, काल और पात्र का भी विचार किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार दान की विधि, देय वस्तु, दाता और पात्र की विशेषता से ही दान की विशेषता है[1]। दान के सम्बन्ध में इन चारों ही बातों का विवेक रखना आवश्यक

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ७।३४।

शील

शील का सम्बन्ध सदाचरण से है। शील के सम्बन्ध में सामान्य रूप से विवेचना सम्यक्-चारित्र नामक अध्याय में और सदाचरण के विभिन्न नियमों के रूप में गृहस्थ धर्म और श्रमण आचार-पद्धति में की गयी है।

तप

तप नैतिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। अपने व्यापक अर्थों में तप नैतिक आचरण के सभी पक्षों का समावेश कर लेता है। सामान्य रूप से तप की विवेचना 'सम्यक्-तप' नामक अध्याय में की गयी है।

भावना (अनुप्रेक्षा)

जैन परम्परा में गृहस्थ और श्रमण दोनों उपासकों के लिए कुछ चिन्तन करने का विधान है। इस चिन्तन को अनुप्रेक्षा या भावना कहा गया है। जैन दर्शन में भावना मन का वह भावात्मक पहलू है, जो साधक को उसकी वस्तु-स्थिति का बोध कराता है। जैन परम्परा में भावनाओं का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि दान, शील, तप एवं भावना के भेद से धर्म चार प्रकार का है, किन्तु इन चतुर्विध धर्मों में भावना ही महा-प्रभावी है। अर्थात् संसार में जितने भी सुकृत्य हैं, धर्म हैं, उनमें केवल भावना ही प्रधान है, भावनाविहीन धर्म शून्य है। वास्तव में भावना ही परमार्थस्वरूप है। भाव ही धर्म का साधक कहा गया है और तीर्थंकरों ने भी भाव को ही सम्यक्त्व का मूलमंत्र बताया है।[1] कोई भी पुरुष कितना ही दान करे, चाहे समग्र जिन-प्रवचन का अध्ययन कर डाले, उग्र से उग्र तपस्या करे, भूमि पर शयन करे, दीर्घकाल तक मुनि-धर्म का पालन करे, लेकिन यदि उसके मानस में भावनाओं की उद्भावना नहीं होती तो उसकी समस्त क्रियाएँ उसी प्रकार निष्फल होती हैं, जिस प्रकार से धान्य के छिलके का बोना निष्फल है।[2] आचार्य कुन्दकुन्द भावपाहुड में कहते हैं कि चाहे व्यक्ति श्रमण हो अथवा गृहस्थ, भाव ही उसके विकास में कारणभूत है। भावरहित अध्ययन से और श्रवण से क्या लाभ ?[3] जैन आचार्यों ने भावनाओं को मोक्ष का सोपान कहा है।

जैन धर्म में भावनाएँ या अनुप्रेक्षाएँ १२ कही गयी हैं—१. अनित्य, २. अशरण, ३. एकत्व, ४. अन्यत्व, ५. संसार, ६. लोक, ७. अशुचि, ८. आस्रव, ९. संवर, १०. निर्जरा, ११. धर्म और १२. बोधि।

१. **अनित्य-भावना**—संसार के प्रत्येक पदार्थ को अनित्य एवं नाशवान् मानना अनित्य भावना है। धन, सम्पत्ति, कुटुम्ब, परिवार, अधिकार, वैभव सभी कुछ क्षण-

---

१. प्राकृत सूक्ति सरोज, भावनाधिकार, ३, १६। २. सूक्ति संग्रह, ४१।
३. भावपाहुड, ६६।

भंगुर है। लक्ष्मी संध्याकालीन लालिमा के समान अनित्य है। यह जीवन भी कमल-पत्र पर पड़े हुए ओस-बिन्दु के समान अल्प समय में ही समाप्त हो जानेवाला है। आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में समग्र सांसारिक वैभव, इन्द्रियाँ, रूप, यौवन, बल, आरोग्य सभी इन्द्र-धनुष के समान क्षणिक है, संयोगजन्य है और इसलिए व्यक्ति को समग्र सांसारिक उपलब्धियों की अनित्यता एवं संयोगजन्यता को समझकर उनके प्रति आसक्त नहीं रहना चाहिए।[१]

बौद्ध एवं वैदिक परम्पराओं में अनित्य भावना—बुद्ध ने अपने उपासकों को अनेक प्रकार से अनित्यता का बोध कराया है। संयुत्तनिकाय में अनित्य वर्ग में भगवान् बुद्ध कहते हैं—'भिक्षुओ, चक्षु अनित्य है, श्रोत्र अनित्य है, घ्राण अनित्य है, जिह्वा अनित्य है, काया अनित्य है, मन अनित्य है। जो अनित्य है वह दुःख है।[२] धम्मपद में कहा है कि संसार के सब पदार्थ अनित्य हैं, इस तरह जब बुद्धिमान् पुरुष जान जाता है, तब वह दुःख नहीं पाता। यही मार्ग विशुद्धि का है।[३] महाभारत में कहा है कि जीवन अनित्य है इसलिए युवा अवस्था में ही धर्म का आचरण कर लेना चाहिए।[४]

२. **एकत्वभावना**—प्राणी अकेला जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। अपने शुभाशुभ कर्मों को भी वह अकेला ही भोगता है।[५] मृत्यु के समय समस्त सांसारिक धन-वैभव को तथा कुटुम्ब को छोड़कर व्यक्ति अकेला ही प्रयाण करता है। एक संस्कृत कवि ने कहा है कि धन भूमि में, पशु पशुशाला में रह जाते हैं, स्त्री गृहद्वार तक, स्नेही जन श्मशान तक और देह चिता तक रहती है। प्राणी अकेला ही अपने शुभाशुभ कर्मों के साथ परलोक गमन करता है।[६] एक जैनाचार्य कहते हैं कि मैं अकेला हूँ, मेरा और कोई नहीं, मैं भी किसी का नहीं इस प्रकार अदीन मन होकर आत्मा को अनुशासित करे। इस प्रकार एकत्वभावना एक ओर साधक के आत्मविश्वास को जागृत करती है और पराङ्मुखता को समाप्त करती है तथा दूसरी ओर यह भी बोध कराती है कि जिन कुटुम्ब-परिवार के लोगों के लिए वह पाप-कर्म का संचय करता है, वे सभी उसके सहायक नहीं हो सकते। इस प्रकार एकत्वभावना का मूल लक्ष्य व्यक्ति को यह बताना है है कि पुरुषार्थ ही उसका एकमात्र सहायक है, अपना हित और अहित दोनों ही उसके अपने हाथ में है। उत्तराध्ययनसूत्र में इसका अत्यन्त ही सुन्दर विवेचन उपलब्ध है। उसमें कहा है कि आत्मा ही सुखों और दुःखों का कर्ता है और यही कर्म क्षय करने वाला है। श्रेष्ठ आचार वाली आत्मा मित्र और दुराचारवाली आत्मा शत्रु है। दुरा-

---

१. भावपाहुड। २. संयुत्तनिकाय, ३४।१।१।१।
३. धम्मपद, २७७। ४. महाभारत, शांतिपर्व, १७५।१६।
५. देखिए—कुन्दकुन्दाचार्य की सूक्तियाँ। ६. सूक्ति संग्रह।

चार में प्रवृत्त आत्मा अपना जितना अनिष्ट करती है उतना अनर्थ गला काटनेवाला शत्रु भी नहीं करता। ऐसा दयाविहीन पुरुष मृत्यु के मुख में जाने पर अपने दुराचार को जानेगा और फिर पश्चात्ताप करेगा।[1]

बौद्ध परम्परा में एकत्व भावना—बौद्ध धर्म में भी एकत्व भावना का विचार उपलब्ध है। धम्मपद में कहा गया है कि अपने से किया हुआ, अपने से उत्पन्न हुआ, पाप ही दुर्बुद्धि मनुष्य को विदीर्ण कर देता है, जैसे वज्र पत्थर की मणि को काट देता है।[2] अपने पाप का फल मनुष्य स्वयं भोगता है। पाप न करने पर वह स्वयं शुद्ध रहता है। प्रत्येक पुरुष का शुद्ध अथवा अशुद्ध रहना उसी पर निर्भर है। कोई किसी दूसरे को शुद्ध नहीं कर सकता।[3]

गीता एवं महाभारत में एकत्व भावना—गीता में कहा है कि मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुँचाए, क्योंकि वह जीवात्मा आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है अर्थात् और कोई दूसरा शत्रु या मित्र नहीं है। जिस जीवात्मा द्वारा मन और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है, वह आप ही अपना मित्र है और जिसके द्वारा मन और इन्द्रियों सहित शरीर नहीं जीता गया है, वह आप ही शत्रु के सदृश शत्रुता में वर्तता है।[4] महाभारत में भी एकत्व भावना के संबंध में सुन्दर विचार उपलब्ध है। कहा गया है कि मैं तो अकेला हूँ। न तो दूसरा कोई मेरा है और न मैं किसी दूसरे का हूँ। मैं उस पुरुष को नहीं देखता, जिसका मैं होऊँ तथा उसको भी नहीं देखता, जो मेरा हो। यह शरीर भी मेरा नहीं अथवा सारी पृथ्वी भी मेरी नहीं है। ये सब वस्तुएँ जैसे मेरी हैं वैसे ही दूसरों की भी हैं। ऐसा सोचकर इनके लिए मेरे मन में कोई व्यथा नहीं होती, ऐसी बुद्धि को पाकर न मुझे हर्ष होता है, न शोक। मनुष्य स्त्री-पुत्र आदि कुटुम्ब के लिए चोरी आदि पाप-कर्मों का संग्रह करता है, किन्तु इस लोक और परलोक में उसे अकेले ही उन समस्त कर्मों का क्लेशमय फल भोगना पड़ता है।[5]

३. **अन्यत्वभावना**—जगत् के समस्त पदार्थों से अपने को अलग मानना और उस भिन्नता का बार-बार विचार करना ही अन्यत्व भावना है। अन्यत्व भावना का मुख्य लक्ष्य भेद-विज्ञान के द्वारा आत्मानात्म का विवेक उत्पन्न कर देना है। बौद्ध दर्शन में अन्यत्व भावना का सुन्दर चित्रण नैरात्म्य दर्शन के रूप में हुआ है। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन सम्यक्-ज्ञान के प्रसंग में भेद विज्ञान सम्बन्धी चर्चा में हो चुका है, अतः यहां विस्तार में

---

१. उत्तराध्ययन, २०।३७,४८।
२. धम्मपद, १६१।
३. वही, १६५।
४. गीता, ६।५,६।
५. महाभारत, शान्तिपर्व, १७४।१४,२५।

जाना अपेक्षित नहीं है। अन्यत्व भावना का मुख्य लक्ष्य साधक की बाह्य आसक्ति को कम करना है। एक आचार्य ने कहा है कि 'हे आत्मन्, तू प्रति समय ऐसा विचार कर कि पुत्र, मित्र, स्त्री, परिवार, सांसारिक पदार्थ और वैभव तुझसे भिन्न हैं।'[1] जो आत्मा अपने को शरीर आदि से भिन्न देखता है, उसे शोकरूप शल्य तनिक भी दुःख नहीं देते, क्योंकि शोक का कारण ममता है। जिसे कोई ममत्व नहीं उसे कोई दुःख भी नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि 'माता-पिता, बन्धु-बांधव एवं पुत्र आदि सभी इष्ट जन मेरे नहीं हैं। यह आत्मा उनसे सम्बन्धित नहीं है। वे सभी अपने-अपने कर्मवशात् संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं।'[2]

गीता एवं महाभारत में अन्यत्व भावना—महाभारत में कहा गया है कि पुत्र-पौत्र, जाति-बांधव सभी संयोगवश मिल जाते हैं, उनके प्रति कभी आसक्ति नहीं बढ़ाना चाहिए, क्योंकि उनसे विछोह होना निश्चित है।[3] गीता के १४वें अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के माध्यम से अन्यत्व भावना का सुन्दर बोध कराया गया है।

४. **अशुचि-भावना**—शरीर-सम्बन्धी मोह को नष्ट करने के लिए जैन विचारकों ने अशुचि भावना का विधान किया है। अशुचि भावना में प्रमुख रूप से साधक यह विचार करता है कि जिस देह के रूप और सौन्दर्य का हमें अभिमान है, जिस पर हम ममत्व करते हैं वह अशुचि का भण्डार है। आचार्य कुन्दकुन्द इस देह की अशुचिता का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि यह शरीर कृमियों से भरा हुआ, दुर्गंधित, बीभत्स रूप वाला, मल और मूत्र से पूरित, स्खलन एवं गलन स्वभाव से युक्त, रुधिर, मांस, मज्जा, अस्थि आदि अनेक अपवित्र वस्तुओं से बना हुआ है। अस्थियों पर मांस से लिप्त एवं त्वचा से आच्छादित सदाकाल अपावन है।[4] उत्तराध्ययनसूत्र में भी शरीर की अशुचिता एवं अशाश्वतता का निर्देश (१९।१३–१५) है।

बौद्ध परम्परा में अशुचि भावना—शरीर की अशुचिता का वर्णन बौद्ध ग्रन्थों में भी है। विशुद्धि-मार्ग में कहा गया है, "यदि इस शरीर के अन्दर का भाग बाहर आ जाए तो अवश्य ही डण्डा लेकर कौवों और कुत्तों को रोकना पड़े।[5]" धम्मपद में भी आचार्य कुन्दकुन्द की शैली में शरीर की अशुचिता के बारे में कहा है, "यह शरीर जराजीर्ण रोगों का घर है, क्षण-भंगुर है, दुर्गन्ध का ढेर है और किसी समय खण्ड-खण्ड हो जाएगा, क्योंकि जीवन का अन्त ही मरण है। इन कबूतर के रंगवाली हड्डियों के जाल को देखकर जो शरद् ऋतु में फेंकी हुई अपथ्य लौकी के समान है—कौन उनमें

१. सूक्ति-संग्रह।
२. कुन्दकुन्दाचार्य की सूक्तियाँ।
३. महाभारत, शांतिपर्व।
४. कुन्दकुन्दाचार्य की सूक्तियाँ (अखिल विश्व जैन मिशन अलीगंज एटा से प्रकाशित)
५. विसुद्धिमग्ग, ६।९३।

मोह-ममता कर सकता है ? यह शरीर हड्डियों का घर है, जिसे मांस और रुधिर से लेपा गया है, जिसमें बुढ़ापा, मृत्यु, अभिमान और मोह निवास करते हैं।[१]

महाभारत में अशुचि भावना—*आचार्य शंकर ने भी चर्पटपंजरिकास्तोत्र में कहा* है, "यह देह मांस एवं वसादि विकारों का संग्रह है, हे मन ! तू बार-बार विचार कर।"[२] महाभारत के अनुसार यह शरीर जरामरण एवं व्याधि के कारण होने वाले दुःखों से युक्त है, फिर (बिना आत्म-साधना के) निश्चिन्त होकर कैसे बैठा जा सकता है।[३] इस प्रकार बौद्ध एवं वेदान्त मतों में शरीर की अशुचिता एवं अशाश्वतता का विचार देहासक्ति को कम कर विरागता की वृत्ति के उदय के लिए किया गया है। तत्त्वार्थसूत्र के अनुसार भी काय-स्वभाव का चिन्तन संवेग और वैराग्य के लिए है।[४]

५. अशरण भावना—अशरण भावना का तात्पर्य यह है कि विकराल मृत्यु के पाश से कोई भी बचाने में समर्थ नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि जिस प्रकार मृग को सिंह पकड़कर ले जाता है उसी प्रकार अन्त समय में मृत्यु भी मनुष्य को ले जाती है। उस समय माता, पिता, भाई आदि कोई भी नहीं बचा सकते।[५]

बौद्ध परम्परा में अशरण भावना—धम्मपद में भी यही बात कही गयी है। पुत्र तथा पशुओं में आसक्त मन वाले मनुष्य को लेकर मृत्यु इस तरह चली जाती है, जैसे सोये हुए गांव को महान् जल-प्रवाह बहा ले जाता है। मृत्यु से पकड़े हुए मनुष्य की रक्षा के लिए न पुत्र, न पिता, न बन्धु आ सकते हैं। किसी सम्बन्धी से रक्षा नहीं हो सकती। इस तरह मृत्यु के वश में सबको जानकर सम्यक् अनुष्ठान करने वाला बुद्धिमान् पुरुष शीघ्र ही निर्वाण के मार्ग को साफ करे।[६] अंगुत्तरनिकाय में कहा है कि अल्प-आयु जीवन को (खींचकर) ले जाती है। बुढ़ापे द्वारा (खींचकर) ले जाये जाने वाले के लिए कोई शरण स्थान नहीं है। मृत्यु के इस भय-भीत स्वरूप को देखकर मनुष्य को चाहिए कि वह सुखदायक पुण्य कर्म करे।[७]

महाभारत में अशरण भावना—महाभारत में भी अशरणता का वर्णन उपलब्ध है। जैसे सोये हुए मृग को बाघ उठा ले जाता है, उसी प्रकार पुत्र और पशुओं से सम्पन्न एवं उन्हीं में मन को फँसाये रखने वाले मनुष्य को एक दिन मृत्यु आकर उठा ले जाती है। जब तक मनुष्य भोगों से तृप्त नहीं होता, संग्रह ही करता रहता है, तभी उसे मौत आकर ले जाती है वैसे ही, जैसे व्याघ्र पशु को ले जाता है।[८] अशरण भावना

---

१. धम्मपद, १४८–१५०।
२. चर्पटपंजरिका स्तोत्र, ११।
३. महाभारत, शांतिपर्व, १७५।२३।
४. तत्त्वार्थसूत्र, ७।७।
५. उत्तराध्ययन, १३।२२।
६. धम्मपद २८७-२८९।
७. अंगुत्तरनिकाय, ३।५१।
८. महाभारत, शांतिपर्व, १७५।१८,१९।

का प्रमुख उद्देश्य धन, पुत्र, परिवार की आसक्ति को समाप्त कर आत्म-साधना की दिशा में आगे बढ़ने का संदेश देती है।

६ **संसार भावना**—संसार की दुःखमयता का विचार करना संसार भावना है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है, 'जन्म दुःखमय है, बुढ़ापा दुःखमय है, रोग और मरण भी दुःखमय हैं, यह सम्पूर्ण संसार दुःखमय है जिसमें प्राणी क्लेश को प्राप्त हो रहे हैं।[१] यह लोक मृत्यु से पीड़ित है, जरा से घिरा हुआ है और रात-दिन रूपी शस्त्र धारा से त्रुटित कहा गया है।'[२]

बौद्ध परम्परा में संसार भावना—बुद्ध का वचन है कि जैसे मनुष्य पानी के बुलबुले को देखता है, और जैसे वह मृगमरीचिका को देखता है वैसे वह इस संसार को देखे। इस प्रकार देखनेवाले को यमराज नहीं देखता।[३] यह हँसना कैसा और यह आनन्द कैसा, जब चारों तरफ बराबर आग लगी हुई है? अंधकार से घिरे हुए तुम लोग प्रकाश को क्यों नहीं खोजते हो?[४]

महाभारत में संसार भावना—महाभारत में भीष्म पितामह ने कहा है कि वत्स, जब धन नष्ट हो जाय अथवा स्त्री, पुत्र या पिता की मृत्यु हो जाय, तब यह संसार कैसा दुःखमय है यह सोचकर मनुष्य शोक को दूर करने वाले शम-दम आदि साधनों का अनुष्ठान करें।[५] यह सम्पूर्ण जगत् मृत्यु के द्वारा मारा जा रहा है। बुढ़ापे ने इसे चारों ओर से घेर रखा है और ये दिन-रात प्राणियों की आयु का अपहरण करके व्यतीत हो रहे हैं, इस बात को आप समझते क्यों नहीं हैं?[६]

इस दुःखपूर्ण स्थिति को देखकर संसार के आवागमन से मुक्त होने का प्रयास करना ही इस भावना का सार है। लोक की दुःखमयता मनुष्य को दुःखद परिस्थिति में भी धैर्य प्रदान करती है। जब साधक विचारपूर्वक संसार में व्याप्त दुःख और कष्टों के विकराल स्वरूप को देखता है, तो अपेक्षाकृत रूप में उसे अपना दुःख कम दिखाई देता है। इस प्रकार उसे एक प्रकार का आत्म-संतोष और धैर्य मिल जाता है। दूसरे जरा और मृत्यु से घिरे हुए संसार का स्वरूप साधक को 'भविष्य में धर्माचरण करेंगे' ऐसे मिथ्याविश्वास छुड़ाकर सदैव ही धर्म-साधना में तत्पर रहने का संदेश देता है। महाभारत में कहा गया है कि 'जिस रात के बीतने पर मनुष्य कोई शुभ कर्म न करे, उस दिन को विद्वान् पुरुष व्यर्थ ही गया समझे, कल किया जानेवाला काम आज ही

---

१. उत्तराध्ययन, १९।१६। २. वही, १४।२३।
३. धम्मपद, १७०। ४. वही, १४६।
५. महाभारत, शांतिपर्व, १७४।७। ६. वही, १७५।९।

पूरा कर लेना चाहिए। जिसे सायंकाल में करना है, उसे प्रातःकाल में ही कर लेना चाहिए, क्योंकि मौत यह नहीं देखती कि इसका काम अभी पूरा हुआ या नहीं।[1] उत्तराध्ययनसूत्र में भी यही कहा गया है कि जो रात्रियाँ बीत रही हैं, वे वापस नहीं आतीं, धर्म करनेवालों की वे रात्रियाँ सफल ही होती हैं और अधर्म करनेवालों की वे रात्रियाँ व्यर्थ जाती हैं। जिसकी मृत्यु से मित्रता हो, जिसमें मृत्यु से भागकर छूटने की शक्ति हो अथवा जो यह भी जानता हो कि मैं नहीं मरूँगा, वह मनुष्य कल की इच्छा कर सकता है।[2] संसार की दुःखमयता का यह चिन्तन ही बौद्ध दर्शन का प्रथम आर्य सत्य (सर्वदुःखम्) है।

७. आस्रव भावना— बंधन के कारणों पर विचार करना आस्रव भावना है। कर्मबन्ध का मूल कारण आस्रव है और आस्रव कायिक-वाचिक, और मानसिक प्रवृत्ति, राग-द्वेष के भाव, कषाय, विषय-भोग, प्रमाद, अविरति, मिथ्यात्व और आर्तरौद्र ध्यान है।[3] साधक इस सम्बन्ध में विचार करे कि अशुभ वृत्तियाँ एवं आचरण आत्मा को किस प्रकार विकार-युक्त बना देते हैं। आस्रव के कारण का विचार और उन कारणों के निरोध का प्रयास ही आस्रव भावना का मुख्य लक्ष्य है। आस्रव भावना का साधक पच्चीस मिथ्यात्व, सोलह कषाय, नौ उपकषाय, बारह अव्रत, पांच प्रमाद, पंद्रह योग आदि आस्रव के कारणों के स्वरूप का विचार करता हुआ उनसे दूर रहने का प्रयत्न करता है।

बौद्ध परम्परा में आस्रव भावना :—आस्रव भावना के सम्बन्ध में बुद्ध का कहना है कि जो कर्तव्य को बिना किये छोड़ देते हैं और अकर्तव्य करते हैं, ऐसे उद्धत तथा प्रमत्त लोगों के आस्रव बढ़ जाते हैं। परन्तु जिनकी चेतना शरीर के प्रति जागरूक रहती है, जो अकरणीय आचरण नहीं करते और निरन्तर सदाचरण करते हैं, ऐसे स्मृतिमान् और सचेत मनुष्यों के आस्रव नष्ट हो जाते हैं।[4] आस्रव भावना की तुलना बौद्ध आचार दर्शन के द्वितीय आर्यसत्य दुःख के कारण के विचार से की जा सकती है।

८. संवर भावना—संवर भावना में आस्रव के विपरीत कर्मों के आगमन को रोकने के उपायों पर विचार किया जाता है। संवर-भावना आस्रव भावना का विधायक पक्ष है। आचार्य हेमचन्द्र का कथन है कि जो-जो आस्रव जिस-जिस उपाय से रोका जा सके, उसे रोकने के लिए विवेकवान् पुरुष उस-उस उपाय को काम में लाये। संवर की प्राप्ति के लिए उद्योग करनेवाले पुरुष को चाहिए कि वह क्षमा से क्रोध को, नम्रता से मान को, सरलता से माया को और निस्पृहता से लोभ को रोके। अखण्ड संयम-साधना के द्वारा इन्द्रियों की स्वच्छंद प्रवृत्ति से बलवान् बनने वाले, विष के समान

---

१. महाभारत, शांतिपर्व, १७५।१२,१५। २. उत्तराध्ययन, १४।२४,२७।
३. योगशास्त्र, ४।७४,७८। ४. धम्मपद, २९२–२९३।

विषयों को तथा विषयों की कामना को रोक दे। इसी प्रकार तीनों गुप्तियों द्वारा तीनों योगों को, अप्रमाद से प्रमाद को और सावद्य-योग (पाप-पूर्ण व्यापारों) के त्याग से अव्रतों को दूर करे। सम्यग्दर्शन के द्वारा मिथ्यात्व को तथा शुभ भावना में चित्त की स्थिरता करके आर्त्त-रौद्र ध्यान को जीतना चाहिए। किस आस्रव का किस उपाय से निरोध किया जा सकता है, ऐसा चिन्तन बार-बार करना संवर भावना है।[1]

बौद्ध परम्परा में संवर भावना—बुद्ध का कथन है कि आँख का संवर उत्तम है, कान का संवर उत्तम है, घ्राण का संवर उत्तम है, जीभ का संवर उत्तम है। काया, वाणी और मन का संवर भी उत्तम है। सब इन्द्रियों का संवर भी उत्तम है। जो सर्वत्र संवर करता है, वह दुःखों से छूट जाता है।[2] इसलिए भिक्षु को सदैव इस सम्बन्ध में स्मृतिवान् रहना चाहिए।

९. निर्जरा भावना—जिन कर्मों का बन्ध पहले हो चुका है उनको नष्ट करने के उपायोंका विचार करना निर्जरा भावना है। निर्जरा भावना का साधक उपस्थित होने वाले सुख-दुःखों को पूर्व कर्मबन्ध का प्रतिफल मानकर अनासक्त-भाव से धैर्यपूर्वक उन्हें भोगता है। दुःखों के कारण को निमित्त मात्र मानकर उसके प्रति द्वेष नहीं करता। उसी प्रकार सुख की दशा में उसे पूर्व-कर्म का प्रतिफल मानकर किसी प्रकार का अहंकार नहीं करता। इस प्रकार राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठकर मात्र सावधानीपूर्वक पूर्व कर्मों का क्षय करता है और उनके परिपाक के अवसर पर नये कर्मों का बन्ध नहीं होने देता। दूसरे रूप में निर्जरा भावना का साधक बाह्य और आभ्यन्तर तपों के माध्यम से पूर्व-संचित कर्मों के नाश का विचार करता है। तप के सम्बन्ध में विस्तृत तुलनात्मक विवेचन पूर्व में किया जा चुका है, उसे वहाँ देखा जा सकता है।

१०. धर्म भावना—धर्म के स्वरूप और उसकी आत्मविकास की शक्ति का विचार करना धर्म-भावना है। धर्म के वास्तविक स्वरूप का विचार करना आवश्यक है। एक जैनाचार्य धर्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिसमें राग और द्वेष न हो, स्वार्थ और ममत्व का अभाव हो वही सत्य एवं कल्याणकारी धर्म है। इस प्रकार धर्म के वास्तविक स्वरूप का विचार करना और उसका पालन करना ही धर्म-भावना है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि संसार में एकमात्र शरण धर्म ही है, इसके सिवाय अन्य कोई रक्षक नहीं है।[3] जरा और मृत्यु के प्रवाह में वेग डूबते हुए प्राणियों के लिए धर्म-द्वीप ही उत्तम स्थान और शरणरूप है।[4] आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं कि दुर्गति में गिरते हुए जीवों को जो धारण करता है, बचाता है, वह धर्म है। सर्वज्ञ के

---

१. योगशास्त्र, ४।८१–८५।
२. धम्मपद, ३६०–३६१।
३. उत्तराध्ययन, १४।४०।
४. वही, २३।६३।

द्वारा कथित, संयम आदि के भेद से दस प्रकार का धर्म ही मोक्ष प्राप्त कराता है।[१] धर्म उनका बन्धु है, जिनका संसार में कोई बन्धु नहीं है। धर्म उनका सखा है, जिनका कोई सखा नहीं है। धर्म उनका नाथ है, जिनका कोई नाथ नहीं है। अखिल जगत् के लिए एकमात्र धर्म ही रक्षक है।[२]

बौद्ध-परम्परा में धर्म-भावना—धम्मपद में कहा गया है कि धर्म के अमृतरस का पान करनेवाला सुख की नींद सोता है। चित्त प्रसन्न रहता है। पण्डित पुरुष आर्यों द्वारा प्रतिपादित धर्म मार्ग पर चलता हुआ आनन्द पूर्वक रहता है।[3] मनुष्य सदाचार धर्म का पालन करे, बुरा आचरण न करे, धर्म का आचरण करनेवाला इस लोक में और परलोक में सुखपूर्वक रहता है।[४]

महाभारत में धर्म-भावना—महाभारत का वचन है कि धर्म से ही ऋषियों ने संसार-समुद्र को पार किया है। धर्म पर ही सम्पूर्ण लोक टिके हुए हैं। धर्म से ही देवताओं की उन्नति हुई है और धर्म में ही अर्थ की भी स्थिति है।[५] अतः मन को वश में करके धर्म को अपना प्रधान ध्येय बनाना चाहिए और सम्पूर्ण प्राणियों के साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए, जैसा हम अपने लिए चाहते हैं।[६]

११. लोक-भावना—लोक की रचना, आकृति, स्वरूप आदि पर विचार करने के लिए लोक-भावना है। जैन दर्शन के अनुसार यह लोक किसी का बनाया हुआ नहीं है और अनादि काल से चला आ रहा है। आत्माएँ भी अनादि काल से अपने शुभाशुभ कार्यों के अनुसार परिभ्रमण कर रही हैं। इस लोक के अग्रभाग पर सिद्ध स्थान है। सिद्ध स्थान के नीचे ऊपर के भाग में स्वर्ग और अधोभाग में नरक हैं। इसके मध्यभाग में तिर्यच एवं मनुष्यों का निवास है। लोक की इस आकृति एवं स्थिति पर विचार करते हुए साधक सदैव यही सोचे कि उसका आचार ऐसा हो जिससे उसकी आत्मा पतन के स्थानों को छोड़कर ऊर्ध्वलोक में जन्म ले या लोकाग्र पर जाकर मुक्ति प्राप्त कर सके। यही इस भावना का सार है।

१२. बोधिदुर्लभ भावना—बोधिदुर्लभ भावना के द्वारा यह चिन्तन किया जाता है कि सन्मार्ग का जो बोध प्राप्त हुआ है उसका सम्यक् आचरण करना अत्यन्त दुष्कर है। इस दुर्लभ बोध को पाकर भी सम्यक् आचरण के द्वारा आत्मविकास अथवा निर्वाण को प्राप्त नहीं किया तो पुनः ऐसा बोध प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। जैन-विचार में चार चीजों की उपलब्धि अत्यन्त दुर्लभ कही गयी है—संसार में प्राणी को मनुष्यत्व की प्राप्ति, धर्म-श्रवण, शुद्ध श्रद्धा और संयम मार्ग में पुरुषार्थ।[७] प्रथम तो अत्यन्त

---

१. योगशास्त्र, २।११। २. वही, ४।१००।
३. धम्मपद, १७९। ४. महाभारत, शांतिपर्व, १६७।७।
५. वही, १६७।९। ६. धम्मपद, १६९।
७. उत्तराध्ययन ३।१।

कठिनाई से मानव-शरीर की उपलब्धि होती है। जैनागमों में मानव-जीवन की दुर्लभता का अनेक उदाहरणों द्वारा चित्रण किया गया है। कल्पना कीजिए कि समग्र भारतवर्ष की धान्य-राशि एक जगह एकत्र की जाय और उसके उस विशाल ढेर में एक सेर सरसों मिला दी जाय। पुनः सौ वर्ष की बुढ़िया जिसके हाथ कांपते हों, गर्दन हिलती हो, और आँखों से भी कम दिखाई देता हो, उसे छाज देकर कहा जाय कि इस ढेर में से वह मिली हुई एक सेर सरसों अलग कर दे। क्या वह बुढ़िया एक-एक दाना बीनकर उस एक सेर सरसों को अलग निकाल सकेगी ? यह असम्भव है। परन्तु यदि यह किसी प्रकार से सम्भव हो जाय तो भी एक बार मनुष्य जन्म को पाकर उसे खो देने पर पुनः उसको प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है। एक दूसरे उदाहरण में यह कल्पना की गई है कि स्वयंभूरमण समुद्र में पूर्व दिशा के किनारे से एक जुआ पानी में तैर रहा था और पश्चिम किनारे से एक कीली। क्या कभी हवा के झोकों से लहरों पर तैरती हुई कीली जुए के छेद में अपने आप आकर लग सकती है ? काश यह अघटित भी घटित हो जाय, परन्तु एक बार खो देने पर मनुष्य जन्म का पुनः प्राप्त कर लेना अत्यन्त कठिन है। जैन परम्परा के अनुसार मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति केवल मानव-जीवन से सम्भव है। बौद्ध परम्परा ने मानव योनि से निर्वाण की प्राप्ति मानी है। सद्भाग्य से मानव जन्म उपलब्ध भी हो जाय तो भी सत्य धर्म का श्रवण होना अत्यन्त कठिन है। सत्य धर्म का श्रवण करने का अवसर मिल भी जाय, लेकिन फिर ऐसी अनेक आत्माएँ हैं जिन्हें धर्म श्रवण के पश्चात् भी उस पर श्रद्धा नहीं होती। श्रद्धा हो जाने पर भी उसके अनुकूल आचरण करना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार सत्य धर्म की उपलब्धि और उस पर आचरण अत्यन्त दुर्लभ है। अतः साधक को इनकी दुर्लभता का विचार करते हुए हमेशा यह प्रयास करना चाहिए कि यह जो स्वर्ण-अवसर उसे उपलब्ध हो गया है, वह उसके हाथ से न निकल जावे। बोधि-दुर्लभता का सन्देश देते हुए महावीर कहते हैं— मनुष्यों, बोध को प्राप्त करो, बोध को प्राप्त क्यों नहीं करते हो ? मृत्यु के बाद बोध प्राप्त होना कठिन है, बीती हुई रात्रियाँ पुनः नहीं लौटतीं और फिर मनुष्य-जन्म मिलना भी दुर्लभ है।[1]

बौद्ध-परम्परा में बोधि-दुर्लभ भावना—बौद्ध-धर्म में भी धर्म-बोध की दुर्लभता को स्वीकार किया गया है। धम्मपद में कहा गया है कि मनुष्यत्व की प्राप्ति दुर्लभ है, मानव जन्म पाकर भी जीवित रहना दुर्लभ है, कितने अकाल में मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। मनुष्य बनकर सद्धर्म का श्रवण दुर्लभ है और बुद्ध होकर उत्पन्न होना तो अत्यन्त दुर्लभ है।[2]

---

१. सूत्रकृतांग, २।१।१।

२. धम्मपद, १८२।

चार भावनाएँ

प्रकारान्तर से जैन-परम्परा में चार भावनाओं का विवेचन भी उपलब्ध है। आचार्य उमास्वाति ने तत्वार्थसूत्र में[1], आचार्य हरिभद्र ने योगशतक[2] में, आचार्य अमितगति[3] ने सामायिक पाठ में तथा आचार्य हेमचन्द्र[4] ने योगशास्त्र में (१) मैत्री, (२) प्रमोद, (३) कारुण्य और (४) माध्यस्थ, इन चार भावनाओं का उल्लेख किया है। मूल आगमों में भी इन भावनाओं के विचार बिखरे हुए हैं। परवर्ती जैन आचार्यों ने भी इनका सविस्तार विवेचन किया है।

१. मैत्री भावना—मैत्री भावना पर-हित चिन्ता के रूप में है।[5] अन्य प्राणियों के कल्याण की चिन्ता करना ही मैत्री भावना है। कोई भी प्राणी दुःख का भाजन न बने, समस्त प्राणी दुःख से मुक्त हो जायें इस प्रकार चिन्ता करना मैत्री भावना है।[6] मैत्री भावना अद्वेष की भावना है। सम्यक् रूप से इसकी भावना करने पर द्वेष का उपशम होता है। यह वैर को उपशांत करने का उपाय है। मैत्री भावना से वैमनस्य और शत्रुता समाप्त होती हैं। साधक प्रतिदिन यही उद्घोष करता है कि सभी प्राणियों से मेरी मित्रता है, किसी से मेरा वैर नहीं है।[7]

२. प्रमोद—दूसरों की प्रसन्नता में स्वयं को प्रसन्न मानना यह मुदिता या प्रमोद भावना है।[8] आचार्य हेमचन्द्र तथा आचार्य अमितगति के अनुसार प्रमोद भावना का तात्पर्य गुणीजनों के प्रति आदरभाव, उनकी प्रशंसा और उनको देखकर मन में प्रसन्नता का होना है। प्रमोदभावना का अर्थ है दूसरे के सुख अथवा दूसरों की उन्नति को देखकर मन में प्रसन्न भाव का आना।[9] प्रमोद भावना से साधक ईर्ष्या, असूया या अप्रीति से दूर होता है और अरति का उपशम होता है। प्रमोद भावना जन्य हर्ष साधारण जन को होने वाले हर्ष से भिन्न होता है। यह हर्ष प्रशान्त होता है, उसमें मन साम्यावस्था में रहता है, जबकि सामान्य हर्ष उद्वेग या क्षोभयुक्त होता है। उद्वेगयुक्त हर्ष से तो उल्टे यह भावना नष्ट होती है।

३. करुणा—दूसरों के दुःख दूर करने का विचार ही करुणा है।[10] दीन, दुःखी, भयभीत और प्राणों की याचना करने वाले प्राणियों के दुःखों को दूर करने का विचार उत्पन्न

---

१. तत्वार्थसूत्र, ७।६।
२. योगशतक, ७९।
३. सामायिक पाठ, १।
४. योगशास्त्र, ४।११७।
५. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ४, पृ० २६७२।
६. योगशास्त्र, ४।११८।
७. प्रतिक्रमण सूत्र—क्षमापणा पाठ—तुलनीय-खुद्दक पाठ, मैतसुत्त, १।
८. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ४, पृ० २६७२।
९. योगशास्त्र, ४।११९।
१०. अभिधान राजेन्द्र, खण्ड ४, पृ० २६७२।

२८

होना ही करुणा भावना है ।[1] यही परदुःखकातरता है । दूसरे के दुःख को देखकर हृदय का द्रवित हो जाना यही करुणा है। करुणा से हिंसक वृत्ति का उपशम होता है और अहिंसक वृत्ति का उदय होता है । खेदज्ञता करुणा का लक्षण है । जैन दर्शन के अहिंसा-सिद्धान्त का आधार यही करुणा है । करुणा अहिंसा से अधिक व्यापक है । करुणा से संयोजित होकर ही अहिंसा विधायक एवं पूर्ण बनती है ।

४ **माध्यस्थ (उपेक्षा)**—दूसरों के दोषों की उपेक्षा करना माध्यस्थ भावना है ।[2] क्रूर कर्म करने वाले, देव और गुरु के निन्दक, आत्मप्रशंसा में रत मनुष्यों के प्रति किसी भी प्रकार का दुर्विचार न लाते हुए समभाव रखना ही माध्यस्थ भावना है ।[3] माध्यस्थ भावना राग-द्वेष से ऊपर उठने के लिए है ।

बौद्ध-परम्परा में चार भावनाएँ—बौद्ध-परम्परा में मैत्री, प्रमोद (मुदिता), करुणा और उपेक्षा (माध्यस्थ) भावना का सविस्तार विवेचन उपलब्ध है ।[4] बुद्ध ने इन्हें 'ब्रह्म विहार' कहा है । ये चारों भावनाएँ चित्त की सर्वोत्कृष्ट और दिव्य अवस्थाएँ हैं, चित्त-विशुद्धि का उत्तम साधन हैं । जो इनकी भावना करता है, वह सद्गति अथवा निर्वाण प्राप्त करता है । महायान-सम्प्रदाय में इनके विषय में जैन-दर्शन की अपेक्षा काफी गहराई से विचार हुआ है । इन भावनाओं का सर्वोच्च विकास आचार्य शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार में मिलता है । प्रत्येक भावना की साधना में कितनी सजगता की आवश्यकता है, इसका भी बौद्ध दार्शनिकों ने प्रतिपादन किया है । प्रत्येक भावना के दो शत्रु माने गये हैं—१. समीपवर्ती और २. दूरवर्ती । निकटवर्ती शत्रु छद्मरूप में उस भावना के समान ही प्रतीत होते हैं, जैसे राग और मैत्री; करुणा और शोक । इन भावनाओं की साधना करते समय ये शत्रु साधक के चित्त पर बिना पता चले ही अधिकार कर लेते हैं, अतः इनसे विशेष सतर्क रहने की आवश्यकता है । दूरवर्ती शत्रु उस भावना के विरोधी होते हैं । दोनों ही शत्रुओं से भावनाओं की रक्षा करनी चाहिए। मैत्रीभावना का निकटवर्ती शत्रु राग है, क्योंकि यह मैत्री के समान है जबकि द्वेष उसका दूरवर्ती शत्रु है । प्रमोदभावना का निकटतम शत्रु सौमनस्यता या रति है । संसार के प्राणियों की सुख-सुविधाओं को देखकर जैसे प्रमोद होता है, वैसे ही उनमें रति भी उत्पन्न हो सकती है, अतः प्रमोद भावना के समय यह सावधानी रखनी होती है, प्रमोद के होते हुए रति (प्रीति) न हो । अरति या अप्रीति प्रमोद का दूरवर्ती शत्रु है । करुणा का निकटवर्ती शत्रु शोक है, क्योंकि जिनके दुःखों को देखकर चित्त में करुणा का उदय होता है, उनके सम्बन्ध में तद्विषयक शोक भी हो सकता है । करुणा का दूरवर्ती

---

१. योगशास्त्र, १।१२० । २. अभिधानराजेन्द्र, खण्ड ४, पृ० २६७८

३. योगशास्त्र, ४।१२१ । ५. संयुत्तनिकाय, ३९।७ तथा ४०।८ ।

शत्रु विहिंसा है। अज्ञानयुक्त उपेक्षा माध्यस्थ भावना का निकटवर्ती शत्रु है जबकि राग और द्वेष, उसके दूरवर्ती शत्रु हैं।

वैदिक परम्परा में चार भावनाएँ—पातंजल योगसूत्र में भी इन्हीं चार भावनाओं का उल्लेख है।[1] उनके अनुसार उपर्युक्त चारों भावनाओं का तात्पर्य वही है जो कि जैन-परम्परा में वर्णित हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराएँ इन भावनाओं के विवेचन में अति निकट हैं। तीनों ही परम्पराओं का यह साम्य पारस्परिक निकटता का परिचायक है।

समाधि-मरण (संलेखना)

जैन-परम्परा के सामान्य आचार-नियमों में संलेखना या संथारा (स्वेच्छापूर्वक मृत्यु-वरण) एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। जैन गृहस्थ उपासकों एवं श्रमण साधकों, दोनों के लिए स्वेच्छापूर्वक मृत्यु-वरण का विधान जैन आगमों में उपलब्ध है। जैनागम-साहित्य ऐसे साधकों की जीवन-गाथाओं से भरा पड़ा है, जिन्होंने स्वेच्छया मरण का व्रत अंगीकार किया था। अन्तकृतदशांग एवं अनुत्तरोपपातिक सूत्रों में उन श्रमण साधकों का और उपासक दशांगसूत्र में आनन्द आदि उन गृहस्थ साधकों का जीवन-दर्शन वर्णित है, जिन्होंने जीवन की सांध्य-वेला में स्वेच्छा-मरण का व्रत स्वीकारा था। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार मृत्यु के दो रूप हैं— १. स्वेच्छा-मरण या निर्भयतापूर्वक मृत्युवरण और २. अनिच्छापूर्वक या भयपूर्वक मृत्यु से ग्रसित होना[2]। स्वेच्छा-मरण में मनुष्य का मृत्यु पर शासन होता है, जबकि अनिच्छापूर्वक मरण में मृत्यु मनुष्य पर शासन करती है। पहले को पण्डितमरण या समाधिमरण भी कहा गया है और दूसरे को बाल (अज्ञानी) मरण या असमाधिमरण कहा गया है। एक ज्ञानीजन की मौत है और दूसरी अज्ञानीकी, अज्ञानी विषयासक्त होता है और इसलिए वह बार-बार मरता है, जबकि यथार्थ ज्ञानी अनासक्त होता है इसलिए वह एक ही बार मरता है।[3] जो मृत्यु से भय खाता है, उससे बचने के लिए भागा-भागा फिरता है, मृत्यु भी उसका बराबर पीछा करती रहती है, लेकिन जो निर्भय होकर मृत्यु का स्वागत करता है और उसका आलिंगन करता है, मृत्यु भी उसका पीछा नहीं करती। जो मृत्यु से भय खाता है वही मृत्यु का शिकार होता है, लेकिन जो मृत्यु से निर्भय हो जाता है वह अमरता की दिशा में आगे बढ़ जाता है। साधकों के प्रति महावीर का सन्देश यही था कि मृत्यु के उपस्थित होने पर शरीरादि से अनासक्त होकर उसका आलिंगन करो।[4] महावीर के दर्शन में अना-

---

१. पातंजल योगसूत्र, १।३३।
२. उत्तराध्ययन, ५।२।
३. वही, ५।३।
४. वही, ५।३२।

सक्त जीवन-शैली की यही महत्त्वपूर्ण कसौटी है। जो साधक मृत्यु से भागता है वह सच्चे अर्थ में अनासक्त जीवन जीने की कला से अनभिज्ञ है। जिसे अनासक्त मृत्यु की कला नहीं आती, उसे अनासक्त जीवन की कला भी नहीं आ सकती। इसी अनासक्त मृत्यु की कला को संलेखना व्रत कहा गया है। जैन-परम्परा में संथारा, संलेखना, समाधि-मरण, पण्डित-मरण और सकाम-मरण[1] आदि स्वेच्छापूर्वक मृत्यु-वरण के ही पर्यायवाची नाम हैं। आचार्य समन्तभद्र सलेखना की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि आपत्तियों, अकालों, अतिवृद्धावस्था एवं असाध्य रोगों में शरीर त्याग करना संलेखना है।[2] अर्थात् जब मृत्यु अनिवार्य-सी हो गयी हो उन स्थितियों में निर्भय होकर देहासक्ति का विसर्जन कर मृत्यु का स्वागत करना ही संलेखना-व्रत है।

समाधि-मरण के भेद

जैनागमों में मृत्यु-वरण के अवसरों की अपेक्षा के आधार पर समाधि-मरण के दो प्रकार कहे गये हैं—१. सागारी संथारा और २. सामान्य संथारा।

सागारी संथारा—अकस्मात् जब कोई ऐसी विपत्ति उपस्थित हो जाय कि जिसमें से जीवित बच निकलना सम्भव न हो, जैसे आग में घिर जाना, जल में डूबने जैसी स्थिति हो जाना अथवा हिंसक पशु या किसी ऐसे दुष्ट व्यक्ति के अधिकार में फँस जाना जहाँ सदाचार से पतित होने की संभावना हो। ऐसे संकटपूर्ण अवसरों पर जो संथारा ग्रहण किया जाता है उसे सागारी संथारा कहते हैं। यदि व्यक्ति उस विपत्ति या संकटपूर्ण स्थिति से बाहर हो जाता है तो वह पुनः देहरक्षण तथा जीवन के सामान्य क्रम को चालू रख सकता है। सागारी संथारा मृत्यु पर्यन्त के लिए नहीं, वरन् परिस्थिति-विशेष के लिए होता है, अतः परिस्थिति विशेष के समाप्त हो जाने पर उस व्रत की मर्यादा भी समाप्त हो जाती है।

सामान्य संथारा—जब स्वाभाविक जरावस्था अथवा असाध्य रोग के कारण पुनः स्वस्थ होकर जीवित रहने की समस्त आशाएँ धूमिल हो गयी हों, तब यावज्जीवन तक जो देहासक्ति एवं शरीर-पोषण के प्रयत्नों का त्याग किया जाता है वह सामान्य संथारा है। यह यावज्जीवन के लिए होता है अर्थात् देहपात पर ही पूर्ण होता है। सामान्य संथारा ग्रहण करने के लिए जैनागमों में निम्न स्थितियाँ आवश्यक मानी गयी हैं—जब सभी इन्द्रियाँ अपने कार्यों का सम्पादन करने में अक्षम हो गयी हों, जब शरीर सूख कर अस्थिपंजर रह गया हो, पचन-पाचन, आहार-विहार आदि शारीरिक क्रियाएँ शिथिल हो गयी हों और इनके कारण साधना और संयम का परिपालन सम्यक् रीति से होना सम्भव न रहा हो, तभी अर्थात् मृत्यु के उपस्थित हो जाने पर ही सामान्य संथारा

---

१. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, अध्याय ५।

२. सकाम का अर्थ स्वेच्छापूर्वक है, न कि कामवासनायुक्त।

ग्रहण किया जा सकता है। सामान्य संथारा तीन प्रकार का है—(अ) भक्त-प्रत्याख्यान—आहार आदि का त्याग कर देना (ब) इंगितमरण–एक निश्चित भू-भाग पर हलन-चलन आदि शारीरिक क्रियाएँ करते हुए आहार आदि का त्याग करना, (स) पादोपगमन—आहार आदि के त्याग के साथ-साथ शारीरिक क्रियाओं का निरोध करते हुए मृत्युपर्यन्त निश्चल रूप से लकड़ी के तख्ते के समान स्थिर पड़े रहना। उपर्युक्त सभी प्रकार के समाधि-मरणों में मन का समभाव में स्थित होना अनिवार्य है।

समाधि-मरण ग्रहण करने की विधि

जैनागमों में समाधि-मरण ग्रहण करने की विधि भी बतायी गयी है। सर्वप्रथम मल-मूत्रादि अशुचि विसर्जन के स्थान का अवलोकन कर नरम तृणों की शय्या तैयार कर ली जाती है। तत्पश्चात् सिद्ध, अरहन्त और धर्माचार्यो को विनयपूर्वक नमस्कार कर पूर्व-ग्रहीत प्रतिज्ञाओं में लगे हुए दोषों की आलोचना और उनका प्रायश्चित्त ग्रहण किया जाता है। इसके बाद समस्त प्राणियों से क्षमा-याचना की जाती है और अन्त में अठारह पापस्थानों, अन्नादि चतुर्विध आहारों का त्याग करके शरीर के ममत्व एवं पोषण-क्रिया का विसर्जन किया जाता है। साधक प्रतिज्ञा करता है कि मैं पूर्णतः हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ यावत् मिथ्यादर्शन शल्य से विरत होता हूँ, अन्न आदि चारों प्रकार के आहार का यावज्जीवन के लिए त्याग करता हूँ। मेरा यह शरीर, जो मुझे अत्यन्त प्रिय था, मैंने इसकी बहुत रक्षा की थी, कृपण के धन के समान इसे संभालता रहा था, इस पर मेरा पूर्ण विश्वास था (कि यह मुझे कभी नहीं छोड़ेगा), इसके समान मुझे अन्य कोई प्रिय नहीं था, इसलिए मैंने इसे शीत, गर्मी, क्षुधा, तृषा आदि अनेक कष्टों से एवं विविध रोगों से बचाया और सावधानीपूर्वक इसकी रक्षा करता रहा, अब मैं इस देह का विसर्जन करता हूँ और इसके पोषण एवं रक्षण के प्रयासों का परित्याग करता हूँ।[1]

बौद्ध-परम्परा में मृत्यु-वरण

यद्यपि बुद्ध ने जैन-परम्परा के समान ही धार्मिक आत्महत्याओं को अनुचित माना है, तथापि बौद्ध-वाङ्मय में कुछ ऐसे सन्दर्भ अवश्य हैं जो स्वेच्छापूर्वक मृत्यु-वरण का समर्थन करते हैं। संयुत्तनिकाय में असाध्य रोग से पीड़ित भिक्षु वक्कलि कुलपुत्र[2] तथा भिक्षु छन्न[3] द्वारा की गयी आत्महत्या का समर्थन बुद्ध ने किया था और उन्हें निर्दोष कहकर दोनों ही भिक्षुओं को परिनिर्वाण प्राप्त करनेवाला बताया था। जापानी बौद्धों में तो आज भी 'हरीकरी' की प्रथा मृत्यु-वरण की सूचक है।

---

१ प्रतिक्रमणसूत्र-संलेखना पाठ।

२. संयुत्तनिकाय, २१।२।४।५,।

३. वही, ३४।२।४।४।

फिर भी जैन और बौद्ध परम्पराओं में मृत्युवरण के प्रश्न को लेकर कुछ अन्तर भी है। प्रथम तो यह कि जैन-परम्परा के विपरीत बौद्ध परम्परा में शस्त्रवध से तत्काल ही मृत्यु-वरण कर लिया जाता है। जैन आचार्यों ने शस्त्रवध आदि के द्वारा तात्कालिक मृत्यु-वरण का विरोध इसलिए किया था कि उन्हें उसमें मरणाकांक्षा की सम्भावना प्रतीत हुई। यदि मरणाकांक्षा नहीं है, तो फिर मरण के लिए इतनी आतुरता क्यों? इस प्रकार जहाँ बौद्ध-परम्परा शस्त्र के द्वारा की गयी आत्महत्या का समर्थन करती है, वहाँ जैन-परम्परा उसे अस्वीकार करती है। इस सन्दर्भ में बौद्ध-परम्परा वैदिक-परम्परा के अधिक निकट है।

वैदिक परम्परा मे मृत्यु-वरण

सामान्यतया हिन्दू धर्म-शास्त्रों में आत्महत्या को महापाप माना गया है। पाराशर-स्मृति में कहा गया है कि जो क्लेश, भय, घमण्ड और क्रोध के वशीभूत होकर आत्म-हत्या करता है, वह साठ हजार वर्ष तक नरकवास करता है।[1] महाभारत के आदिपर्व के अनुसार भी आत्महत्या करनेवाला कल्याणप्रद लोकों में नहीं जा सकता है।[2] लेकिन इनके अतिरिक्त हिन्दू धर्म-शास्त्रों में ऐसे भी अनेक उल्लेख हैं जो स्वेच्छा-पूर्वक मृत्युवरण का समर्थन करते हैं। प्रायश्चित्त के निमित्त से मृत्युवरण का समर्थन मनुस्मृति (११।९०-९१), याज्ञवल्क्यस्मृति (३।२५३), गौतमस्मृति (२३।१), वसिष्ठ धर्मसूत्र (२०।२२, १३।१४) और आपस्तम्बसूत्र (१।९।२५।१-३, ६) में भी है। इतना ही नहीं, हिन्दू धर्म-शास्त्रों में ऐसे भी अनेक स्थल हैं जहाँ मृत्युवरण को पवित्र एवं धार्मिक आचरण के रूप में देखा गया है। महाभारत के अनुशासनपर्व (२५।६२-६४), वनपर्व (८५।८३) एवं मत्स्यपुराण (१८६।३४।३५) में अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, गिरिपतन, विषप्रयोग या उपवास आदि के द्वारा देह त्याग करने पर ब्रह्मलोक या मुक्ति प्राप्त होती है ऐसा माना गया है। अपरार्क ने प्राचीन आचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है कि यदि कोई गृहस्थ असाध्य रोग से पीड़ित हो, अतिवृद्ध हो, किसी इन्द्रिय से उत्पन्न आनन्द का अभिलाषी न हो, जिसने अपने कर्तव्य कर लिये हों वह महाप्रस्थान, अग्नि या जल में प्रवेश करके अथवा पर्वतशिखर से गिरकर अपने प्राणों का विसर्जन कर सकता है। ऐसा करके वह कोई पाप नहीं करता। उसकी मृत्यु तो तपों से भी बढ़कर है। शास्त्रानुमोदित कर्तव्यों के पालन में अशक्त होने पर जीने की इच्छा रखना व्यर्थ है।[3] श्रीमद्भागवत के ११वें स्कन्ध के १८वें अध्याय में भी स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण को स्वीकार किया गया है। वैदिक परम्परा में स्वेच्छा मृत्युवरण का समर्थन न केवल

---

१. पाराशरस्मृति, ४।१।२। २. महाभारत, आदिपर्व, १७९।२०।

३. अपरार्क, पृ० ५३६ उद्धृत धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ४८८।

शास्त्रीय आधारों पर हुआ है, वरन् व्यावहारिक जीवन में इसके अनेक उदाहरण भी वैदिक परम्परा में उपलब्ध हैं। महाभारत में पाण्डवों के द्वारा हिमालय-यात्रा में किया गया देहपात मृत्यु-वरण का ही उदाहरण है। डॉ० पाण्डुरंग वामन काणे ने वाल्मीकि रामायण एवं अन्य वैदिक धर्म ग्रन्थों तथा शिलालेखों के आधार पर शरभंग, महाराजा रघु, कलचुरी के राजा गांगेय, चन्देलकुल के राजा धंगदेव, चालुक्यराज सोमेश्वर आदि के स्वेच्छा मृत्यु-वरण का उल्लेख किया है।[1] मेगस्थनीज ने भी ईसवी पूर्व चतुर्थ शताब्दी में प्रचलित स्वेच्छामरण का उल्लेख किया है। प्रयाग में अक्षयवट से कूदकर गंगा में प्राणान्त करने की प्रथा तथा काशी में करौत लेने की प्रथा वैदिक परम्परा में मध्य युग तक प्रचलित थी। यद्यपि ये प्रथाएँ आज नामशेष हो गयी हैं, तथापि वैदिक संन्यासियों द्वारा जीवित समाधि लेने की प्रथा आज भी जनमानस में श्रद्धा का केन्द्र है।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल जैन और बौद्ध परम्पराओं में, बल्कि वैदिक परम्परा में भी मृत्यु-वरण का समर्थन है। लेकिन जैन और वैदिक परम्पराओं में प्रमुख अन्तर यह है कि जहाँ वैदिक परम्परा में जल एवं अग्नि में प्रवेश, गिरि-शिखर से गिरना, विष या शस्त्र प्रयोग आदि विविध साधनों में मृत्यु-वरण का विधान है, वहाँ जैन-परम्परा में सामान्यतया केवल उपवास द्वारा ही देहत्याग का विधान है। जैन परम्परा शस्त्र आदि से होने वाली तात्कालिक मृत्यु की अपेक्षा उपवास द्वारा होनेवाली क्रमिक मृत्यु को ही अधिक प्रशस्त मानती है। यद्यपि ब्रह्मचर्य की रक्षा आदि कुछ प्रसंगों में तात्कालिक मृत्यु-वरण को स्वीकार किया गया है, तथापि सामान्यतया जैन आचार्यों ने मृत्यु-वरण जिसे प्रकारान्तर से आत्महत्या भी कहा जा सकता है, की आलोचना की है। आचार्य समन्तभद्र ने गिरिपतन या अग्निप्रवेश के द्वारा किये जाने वाले मृत्युवरण को लोकमूढ़ता कहा है।[3] जैन आचार्यों की दृष्टि में समाधिमरण का अर्थ मृत्यु की कामना नहीं, वरन् देहासक्ति का परित्याग है। जिस प्रकार जीवन की आकांक्षा दूषित है, उसी प्रकार मृत्यु की आकांक्षा भी दूषित कही गयी है।

समाधि-मरण के दोष—जैन आचार्यों ने समाधिमरण के लिए निम्न पांच दोषों से बचने का निर्देश किया है—(१) जीवन की आकांक्षा, (२) मृत्यु की आकांक्षा (३) ऐहिक सुखों की कामना, (४) पारलौकिक सुखों की कामना और (५) इन्द्रिय-विषयों के भोगों की आकांक्षा।

बुद्ध ने भी जीवन की तृष्णा और मृत्यु की तृष्णा दोनों को ही अनैतिक माना है। बुद्ध के अनुसार भवतृष्णा और विभव तृष्णा क्रमशः जीविताशा और मरणाशा की प्रतीक हैं और जब तक ये आशाएँ या तृष्णाएँ उपस्थित हैं, तब तक नैतिक पूर्णता

१. देखिए—धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ४८७। २. वही, पृ० ४८९।
३. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, २२।

सम्भव नहीं है । अत. साधक को इनसे बचते ही रहना चाहिए । फिर भी यह पूछा जा सकता है कि क्या समाधि-मरण मृत्यु की आकांक्षा नहीं है ?

समाधि-मरण और आत्महत्या

जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परंपराओं में जीविताशा और मरणाशा दोनों को ही अनुचित कहा गया है ।[1] तो यह प्रश्न सहज ही उठता है कि क्या समाधि-मरण मरणाकांक्षा या आत्महत्या नहीं है ? वस्तुतः समाधि-मरण न तो मरणाकांक्षा है और न आत्महत्या ही । व्यक्ति आत्महत्या या तो क्रोध के वशीभूत होकर करता है या फिर सम्मान या हितों को गहरी चोट पहुँचने पर अथवा जीवन से निराश हो जाने पर करता है, लेकिन यह सभी चित्त की सांवेगिक अवस्थाएँ हैं, जबकि समाधिमरण तो चित्त की समत्व अवस्था है । अतः उसे आत्महत्या नहीं कह सकते । दूसरे, आत्महत्या या आत्मबलिदान में मृत्यु को निमन्त्रण दिया जाता है । व्यक्ति के अन्तस् में मरने की इच्छा छिपी रहती है, लेकिन समाधिमरण में मरणाकांक्षा का न रहना ही अपेक्षित है, क्योंकि समाधिमरण के प्रतिज्ञासूत्र में ही साधक यह प्रतिज्ञा करता है कि मृत्यु की आकांक्षा से रहित होकर आत्मरमण करूँगा (काल अकंखमाणे विहरामि) यदि समाधिमरण में मरने की इच्छा ही प्रमुख होती तो उसके प्रतिज्ञासूत्र में इन शब्दों के रखने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी । जैन विचारकों ने तो मरणाशंसा को समाधि-मरण का दोष ही कहा है । अतः समाधिमरण को आत्महत्या नहीं कह सकते । जैन विचारकों ने इसीलिए सामान्य स्थिति में शस्त्रवध, अग्निप्रवेश या गिरिपतन आदि के द्वारा तात्कालिक मृत्युवरण को अनुचित ही माना है, क्योंकि ऐसा करने में मरणाकांक्षा की सम्भावना है । समाधि-मरण में आहारादि के त्याग में मृत्यु की चाह नहीं होती, मात्र देहपोषण का विसर्जन किया जाता है । मृत्यु उसका परिणाम अवश्य है, लेकिन उसकी आकांक्षा नहीं । जैसे फोड़े की चीरफाड़ से वेदना अवश्य होती है, लेकिन उसमें वेदना की आकांक्षा नहीं होती है । एक जैन आचार्य का कहना है कि समाधिमरण की क्रियाकरण के निमित्त नहीं होकर उसके प्रति कार के लिए है । जैसे व्रण का चीरना वेदना के लिए न होकर वेदना के प्रतिकार के लिए होता है ।[2] यदि आपरेशन की क्रिया में हो जाने वाली मृत्यु हत्या नहीं है तो फिर समाधिमरण में हो जाने वाली मृत्यु भी आत्महत्या कैसे हो सकती है ? एक दैहिक जीवन की रक्षा के लिए है तो दूसरी आध्यात्मिक जीवन की रक्षा के लिए है । समाधिमरण और आत्महत्या में मौलिक अन्तर है । आत्महत्या में व्यक्ति जीवन के संघर्षों से ऊबकर जीवन से भागना

---

१. दर्शन और चिन्तन, पृ०५३६ तथा परमसखा मृत्यु, पृ० २४ ।

२. दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० ३६ पर उद्धृत ।

चाहता है। उसके मूल में कायरता है, जब कि समाधिमरण में देह और संयम की रक्षा के अनिवार्य विकल्पों में से संयम की रक्षा के विकल्प को चुनकर मृत्यु का साहसपूर्वक सामना किया जाता है। समाधिमरण में जीवन से भागने का प्रयास नहीं वरन् जीवन संध्या वेला में द्वार पर खड़ी मृत्यु का स्वागत है। आत्महत्या में जीवन से भय होता है, जबकि समाधिमरण में मृत्यु से निर्भयता होती है। आत्महत्या असमय में मृत्यु का आमन्त्रण है, जबकि संथारा या समाधिमरण मात्र मृत्यु के उपस्थित होने पर उसका सहर्ष आलिंगन है। आत्महत्या के मूल में या तो भय होता है या कामना होती है, जबकि समाधिमरण में भय और कामना दोनों की ही अनुपस्थिति आवश्यक होती है।

समाधिमरण आत्म-बलिदान भी नहीं है। शैव और शाक्त सम्प्रदायों में पशुबलि के समान आत्मबलि की प्रथा रही है, लेकिन समाधिमरण आत्म-बलिदान नहीं है क्योंकि आत्म-बलिदान भी भावना का अतिरेक है। भावातिरेक आत्म-बलिदान की अनिवार्यता है जबकि समाधिमरण में विवेक का प्रकटन आवश्यक है।

समाधिमरण के प्रत्यय के आधार पर आलोचकों ने यह कहने का प्रयास भी किया है कि जैन-दर्शन जीवन से इकरार नहीं करता, वरन् जीवन से इनकार करता है, लेकिन गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह धारणा भ्रान्त सिद्ध होती है। उपाध्याय अमर मुनिजी लिखते हैं—"वह (जैन दर्शन) जीवन से इनकार नहीं करता, अपितु जीवन के मिथ्या मोह से इनकार करता है। जीवन जीने में यदि कोई महत्त्वपूर्ण लाभ है और वह स्वपर की हित-साधना में उपयोगी है तो जीवन सर्वतोभावेन संरक्षणीय है।"[१] आचार्य भद्रबाहु कहते हैं—"साधक की देह संयम की साधना के लिए है। यदि देह ही नहीं रही तो संयम कैसे रहेगा, अतः संयम की साधना के लिए देह का परिपालन इष्ट है। देह का परिपालन संयम के निमित्त है, अतः देह का ऐसा परिपालन जिसमें संयम ही समाप्त हो किस काम का ?"[२] साधक का जीवन न तो जीने के लिए है न मरण के लिए है। वह तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सिद्धि के लिए है। यदि जीवन से ज्ञानादि की सिद्धि एवं वृद्धि हो तो जीवन की रक्षा करते हुए वैसा करना चाहिए और यदि मरण से ही ज्ञानादि की अभीष्ट सिद्धि होती हो तो वह मरण भी साधक के लिए शिरसा श्लाघनीय है।[३]

समाधि-मरण का मूल्यांकन

स्वेच्छा-मरण के विषय में पहला प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य को प्राणान्त करने का नैतिक अधिकार है ? पं० सुखलालजी ने जैन-दृष्टि से इस प्रश्न का जो उत्तर दिया है

---

१. अमरभारती, मार्च, १९६५, पृ० २६। २. ओघनिर्युक्ति, ४७

३. अमरभारती, मार्च, १९६५, पृ० २६ तुलना कीजिए विसुद्धिमग्ग, १।१३३।

उसका संक्षिप्त सार यह है कि जैन धर्म सामान्य स्थितियों में चाहे वह लौकिक हो या धार्मिक, प्राणान्त करने का अधिकार नहीं देता है, लेकिन जब देह और आध्यात्मिक सद्गुण इनमें से किसी एक को चुनने का समय आ गया हो तो देह का त्याग करके भी अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक स्थिति को बचाना चाहिए; जैसे सती स्त्री दूसरा मार्ग न देखकर देहनाश के द्वारा भी अपने सतीत्व की रक्षा करती है। देह और संयम दोनों की समान भाव से रक्षा हो सके तो दोनों की ही रक्षा कर्तव्य है, पर जब एक की ही रक्षा का प्रश्न आवे तो सामान्य व्यक्ति देह की रक्षा पसन्द करेंगे और आध्यात्मिक संयम की उपेक्षा करेंगे, जबकि समाधिमरण का अधिकारी संयम की रक्षा को महत्व देगा। जीवन तो दोनों ही हैं–दैहिक और आध्यात्मिक। आध्यात्मिक जीवन जीने के लिए प्राणान्त या अनशन की इजाजत है। पामरों, भयभीतों और लालचियों के लिए नहीं। भयंकर दुष्काल आदि आपत्तियों में देह–रक्षा के निमित्त से संयम से पतित होने का अवसर आ जावे या अनिवार्य रूप से मरण लाने वाली बीमारियों के कारण खुद को और दूसरों को निरर्थक परेशानी होती हो और संयम और सद्गुण की रक्षा सम्भव न हो तब मात्र समभाव की दृष्टि से संथारे या स्वेच्छामरण का विधान है।[1] यदि सद्गुणों की रक्षा के निमित्त देह का विसर्जन किया जाता है तो वह अनैतिक नहीं है। नैतिकता की रक्षा के लिए किया गया देह-विसर्जन अनैतिक कैसे होगा ?

जैन दर्शन के इस दृष्टिकोण का समर्थन गीता भी करती है। उसमें कहा है कि यदि जीवित रहकर (आध्यात्मिक सद्गुणों के विनाश के कारण) अपकीर्ति की सम्भावना हो तो उस जीवन से मरण ही श्रेष्ठ है।[2]

काका कालेलकर लिखते हैं कि मृत्यु शिकारी के समान हमारे पीछे पड़े और हम बचने के लिए भागते जावें, यह दृश्य मनुष्य को शोभा नहीं देता। जीवन का प्रयोजन समाप्त हुआ, ऐसा देखते ही मृत्यु को आदरणीय अतिथि समझकर उसे आमन्त्रण देना, उसका स्वागत करना और इस तरह से स्वेच्छा-स्वीकृत मरण के द्वारा जीवन को कृतार्थ करना यह एक सुन्दर आदर्श है। आत्महत्या को नैतिक दृष्टि से उचित मानते हुए वे कहते हैं कि इसे हम आत्महत्या न कहें। निराश होकर, कायर हो कर या डर के मारे शरीर छोड़ देना एक किस्म की हार ही है। उसे हम जीवन-द्रोह भी कह सकते हैं। सब धर्मों ने आत्महत्या की निन्दा की है, लेकिन जब मनुष्य सोचता है कि उसके जीवन का प्रयोजन पूर्ण हुआ, ज्यादा जीने की आवश्यकता नहीं रही तब वह आत्म-साधना के अन्तिम रूप के तौर पर अगर शरीर छोड़ दे तो वह उसका हक है। मैं स्वयं व्यक्तिशः इस अधिकार का समर्थन करता हूँ।[3]

---

१. दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० ५३३–३४। २. गीता, २।३४।
३. परमसखा मृत्यु, पृ० ३१, २७।

समकालीन विचारों में धर्मानन्द कोसम्बी और महात्मा गांधी ने भी मनुष्य को प्राणान्त करने के अधिकार का समर्थन नैतिक दृष्टि से किया था। महात्मा जी का कथन है कि जब मनुष्य पापाचार का वेग बलवत्तर हुआ देखता है और आत्महत्या के बिना अपने को पाप से नहीं बचा सकता, तब होने वाले पाप से बचने के लिए उसे आत्महत्या करने का अधिकार है।[1] कोसम्बीजी ने भी स्वेच्छामरण का समर्थन किया था और उसकी भूमिका में पं० सुखलाल जी ने कोसम्बी जी की इच्छा को भी अभिव्यक्त किया था।[2]

काका कालेलकर स्वेच्छामरण को महत्त्वपूर्ण मानते हुए जैन परम्परा के समान ही कहते हैं कि "जब तक यह शरीर मुक्ति का साधन हो सकता है तब तक अपरिहार्य हिंसा को सहन करके भी इसे जलाना चाहिए। जब हम यह देखें कि आत्मा के अपने विकास के प्रयत्न में शरीर बाधारूप ही होता है तब हमें उसे छोड़ना ही चाहिए। जो किसी भी हालत में जीना चाहता है उसकी शरीरनिष्ठा तो स्पष्ट है ही, लेकिन जो जीवन से ऊबकर अथवा केवल मरने के लिए मरना चाहता है, तो उसमें भी विकृत शरीर-निष्ठा है। जो मरण से डरता है और जो मरण ही चाहता है, वे दोनों जीवन का रहस्य नहीं जानते। व्यापक जीवन में जीना और मरना दोनों का अन्तर्भाव होता है। जिस तरह उन्मेष और निमेष दोनों क्रियाएँ मिलकर ही देखने की एक क्रिया पूरी होती है।[3]

भारतीय नैतिक चिन्तन में केवल जीवन जीने की कला पर ही नहीं, वरन् उसमें जीवन की कला के साथ-साथ मरण की कला पर भी विचार हुआ है। नैतिक चिन्तन की दृष्टि से जीवन को कैसे जीना चाहिए यही महत्त्वपूर्ण नहीं है, वरन् कैसे मरना चाहिए यह भी महत्त्वपूर्ण है। मृत्यु की कला जीवन की कला से भी महत्त्वपूर्ण है। आदर्श मृत्यु ही नैतिक जीवन की कसौटी है। जीना तो विद्यार्थी के सत्रकालीन अध्ययन के समान है, जबकि मृत्यु परीक्षा का अवसर है। हम जीवन की कमाई का अन्तिम सौदा मृत्यु के समय करते हैं। यहाँ चूके तो फिर पछताना होता है और इसी अपेक्षा से कहा जा सकता है कि जीवन की कला की अपेक्षा मृत्यु की कला अधिक मूल्यवान् है। भारतीय नैतिक चिन्तन के अनुसार मृत्यु का अवसर ऐसा अवसर है जब अधिकांश जन अपने भावी जीवन का चुनाव करते हैं। गीता का कथन है कि मृत्यु के समय जैसी भावना होती है वैसी ही योनि जीव प्राप्त करता है (१८।५-६)। जैन-परम्परा में खन्धक मुनि की कथा यही बताती है कि जीवन भर कठोर साधना करनेवाला महान् साधक जिसने अपनी प्रेरणा एवं उद्बोधन से अपने सहचारी पांच सौ साधक शिष्यों को उपस्थित

---

१. परमसखा मृत्यु, पृ० २६ पर उद्धृत। २. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म भूमिका।
३. परमसखा मृत्यु, पृ० १९।

उसका संक्षिप्त सार यह है कि जैन धर्म सामान्य स्थितियों में चाहे वह लौकिक हो या धार्मिक, प्राणान्त करने का अधिकार नहीं देता है, लेकिन जब देह और आध्यात्मिक सद्गुण इनमें से किसी एक को चुनने का समय आ गया हो तो देह का त्याग करके भी अपनी विशुद्ध आध्यात्मिक स्थिति को बचाना चाहिए; जैसे सती स्त्री दूसरा मार्ग न देखकर देहनाश के द्वारा भी अपने सतीत्व की रक्षा करती है। देह और संयम दोनों की समान भाव से रक्षा हो सके तो दोनों की ही रक्षा कर्तव्य है, पर जब एक की ही रक्षा का प्रश्न आवे तो सामान्य व्यक्ति देह की रक्षा पसन्द करेंगे और आध्यात्मिक संयम की उपेक्षा करेंगे, जबकि समाधिमरण का अधिकारी संयम की रक्षा को महत्व देगा। जीवन तो दोनों ही हैं–दैहिक और आध्यात्मिक। आध्यात्मिक जीवन जीने के लिए प्राणान्त या अनशन की इजाजत है। पामरों, भयभीतों और लालचियों के लिए नहीं। भयंकर दुष्काल आदि आपत्तियों में देह–रक्षा के निमित्त से संयम से पतित होने का अवसर आ जावे या अनिवार्य रूप से मरण लाने वाली बीमारियों के कारण खुद को और दूसरों को निरर्थक परेशानी होती हो और संयम और सद्गुण की रक्षा सम्भव न हो तब मात्र समभाव की दृष्टि से संथारे या स्वेच्छामरण का विधान है।[1] यदि सद्गुणों की रक्षा के निमित्त देह का विसर्जन किया जाता है तो वह अनैतिक नहीं है। नैतिकता की रक्षा के लिए किया गया देह-विसर्जन अनैतिक कैसे होगा ?

जैन दर्शन के इस दृष्टिकोण का समर्थन गीता भी करती है। उसमें कहा है कि यदि जीवित रहकर (आध्यात्मिक सद्गुणों के विनाश के कारण) अपकीर्ति की सम्भावना हो तो उस जीवन से मरण ही श्रेष्ठ है।[2]

काका कालेलकर लिखते हैं कि मृत्यु शिकारी के समान हमारे पीछे पड़े और हम बचने के लिए भागते जावें, यह दृश्य मनुष्य को शोभा नहीं देता। जीवन का प्रयोजन समाप्त हुआ, ऐसा देखते ही मृत्यु को आदरणीय अतिथि समझकर उसे आमन्त्रण देना, उसका स्वागत करना और इस तरह से स्वेच्छा-स्वीकृत मरण के द्वारा जीवन को कृतार्थ करना यह एक सुन्दर आदर्श है। आत्महत्या को नैतिक दृष्टि से उचित मानते हुए वे कहते हैं कि इसे हम आत्महत्या न कहें। निराश होकर, कायर हो कर या डर के मारे शरीर छोड़ देना एक किस्म की हार ही है। उसे हम जीवन-द्रोह भी कह सकते हैं। सब धर्मों ने आत्महत्या की निन्दा की है, लेकिन जब मनुष्य सोचता है कि उसके जीवन का प्रयोजन पूर्ण हुआ, ज्यादा जीने की आवश्यकता नहीं रही तब वह आत्म-साधना के अन्तिम रूप के तौर पर अगर शरीर छोड़ दे तो वह उसका हक है। मैं स्वयं व्यक्तिशः इस अधिकार का समर्थन करता हूँ।[3]

---

१. दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० ५३३–३४। २. गीता, २।३४।
३. परमसखा मृत्यु, पृ० ३१, २७।

समकालीन विचारों में धर्मानन्द कोसम्बी और महात्मा गांधी ने भी मनुष्य को प्राणान्त करने के अधिकार का समर्थन नैतिक दृष्टि से किया था। महात्मा जी का कथन है कि जब मनुष्य पापाचार का वेग बलवत्तर हुआ देखता है और आत्महत्या के बिना अपने को पाप से नहीं बचा सकता, तब होने वाले पाप से बचने के लिए उसे आत्महत्या करने का अधिकार है।[1] कोसम्बीजी ने भी स्वेच्छामरण का समर्थन किया था और उसकी भूमिका में पं० सुखलाल जी ने कोसम्बी जी की इच्छा को भी अभिव्यक्त किया था।[2]

काका कालेलकर स्वेच्छामरण को महत्त्वपूर्ण मानते हुए जैन परम्परा के समान ही कहते हैं कि "जब तक यह शरीर मुक्ति का साधन हो सकता है तब तक अपरिहार्य हिंसा को सहन करके भी इसे जलाना चाहिए। जब हम यह देखें कि आत्मा के अपने विकास के प्रयत्न में शरीर बाधारूप ही होता है तब हमें उसे छोड़ना ही चाहिए। जो किसी भी हालत में जीना चाहता है उसकी शरीरनिष्ठा तो स्पष्ट है ही, लेकिन जो जीवन से ऊबकर अथवा केवल मरने के लिए मरना चाहता है, तो उसमें भी विकृत शरीर-निष्ठा है। जो मरण से डरता है और जो मरण ही चाहता है, वे दोनों जीवन का रहस्य नहीं जानते। व्यापक जीवन में जीना और मरना दोनों का अन्तर्भाव होता है। जिस तरह उन्मेष और निमेष दोनों क्रियाएँ मिलकर ही देखने की एक क्रिया पूरी होती है।[3]

भारतीय नैतिक चिन्तन में केवल जीवन जीने की कला पर ही नहीं, वरन् उसमें जीवन की कला के साथ-साथ मरण की कला पर भी विचार हुआ है। नैतिक चिन्तन की दृष्टि से जीवन को कैसे जीना चाहिए यही महत्त्वपूर्ण नहीं है, वरन् कैसे मरना चाहिए यह भी महत्त्वपूर्ण है। मृत्यु की कला जीवन की कला से भी महत्त्वपूर्ण है। आदर्श मृत्यु ही नैतिक जीवन की कसौटी है। जीना तो विद्यार्थी के सत्रकालीन अध्ययन के समान है, जबकि मृत्यु परीक्षा का अवसर है। हम जीवन की कमाई का अन्तिम सौदा मृत्यु के समय करते हैं। यहाँ चूके तो फिर पछताना होता है और इसी अपेक्षा से कहा जा सकता है कि जीवन की कला की अपेक्षा मृत्यु की कला अधिक मूल्यवान् है। भारतीय नैतिक चिन्तन के अनुसार मृत्यु का अवसर ऐसा अवसर है जब अधिकांश जन अपने भावी जीवन का चुनाव करते हैं। गीता का कथन है कि मृत्यु के समय जैसी भावना होती है वैसी ही योनि जीव प्राप्त करता है (८।५-६)। जैन-परम्परा में खन्धक मुनि की कथा यही बताती है कि जीवन भर कठोर साधना करनेवाला महान् साधक जिसने अपनी प्रेरणा एवं उद्बोधन से अपने सहचारी पांच सौ साधक शिष्यों को उपस्थित

---

१. परमसखा मृत्यु, पृ० २६ पर उद्धृत। २. पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म भूमिका।
३. परमसखा मृत्यु, पृ० १९।

मृत्यु की विषम परिस्थिति में समत्व की साधना के द्वारा निर्वाण का अमृत पान कराया वही साधक स्वयं की मृत्यु के अवसर पर क्रोध के वशीभूत हो किस प्रकार अपने साधना पथ से विचलित हो गया। वैदिक परम्परा में जड़भरत का कथानक भी यही बताता है कि इतने महान् साधक को भी मरण वेला में हरिण पर आसक्ति रखने के कारण पशु-योनि में जाना पड़ा। ये कथानक हमारे सामने मृत्यु का मूल्य उपस्थित कर देते हैं। मृत्यु जीवन की साधना का परीक्षाकाल है। इस जीवन में लक्ष्योपलब्धि का अन्तिम अवसर और भावी जीवन की साधना का आरम्भ बिन्दु है। इस प्रकार वह अपने में दो जीवनों का मूल्य सँजोए हुए है। मरण जीवन का अवश्यम्भावी अंग है। उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। वह जीवन का उपसंहार है, जिसे सुन्दर बनाना एक आवश्यक कर्तव्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्प्रति युग के प्रबुद्ध विचारक भी समाधिमरण को अनैतिक नहीं मानते हैं। अतः जैन धर्म पर लगाया जाने वाला यह आक्षेप कि वह जीवन के मूल्य को अस्वीकार करता है, उचित नहीं है। वस्तुतः समाधिमरण पर जो आक्षेप लगाये जाते हैं उनका सम्बन्ध समाधि-मरण से न होकर आत्महत्या से है। कुछ विचारकों ने समाधि-मरण और आत्महत्या के वास्तविक अन्तर को नहीं समझा और इसी आधार पर समाधि-मरण को अनैतिक कहने का प्रयास किया, लेकिन समाधिमरण या स्वेच्छा-मरण आत्महत्या नहीं है और इसलिए उसे अनैतिक भी नहीं कह सकते। जैन आचार्यों ने स्वयं ही आत्महत्या को अनैतिक माना है लेकिन उनके अनुसार आत्महत्या समाधि-मरण से भिन्न है।

डॉ० ईश्वरचन्द्र ने जीवन्मुक्त व्यक्ति के स्वेच्छा-मरण को तो आत्महत्या नहीं माना है, लेकिन उन्होंने संथारे को आत्महत्या की कोटि में रखकर उसे अनैतिक भी बताया है।[1] इस सम्बन्ध में उनके तर्क का पहला भाग यह है कि स्वेच्छा-मरण का व्रत लेने वाले सामान्य जैन मुनि जीवन्मुक्त एवं अलौकिक शक्ति से युक्त नहीं होते और अपूर्णता की दशा में लिया गया आमरण व्रत (संथारा) नैतिक नहीं हो सकता। अपने तर्क के दूसरे भाग में वे कहते हैं कि जैन-परम्परा में स्वेच्छा मृत्यु-वरण (संथारा) करने में यथार्थता की अपेक्षा आडम्बर अधिक होता है, इसलिए वह अनैतिक भी है। जहाँ तक उनके इस दृष्टिकोण का प्रश्न है कि जीवन्मुक्त एवं अलौकिक शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति ही स्वेच्छा-मरण का अधिकारी है, हम सहमत नहीं हैं। वस्तुतः स्वेच्छा-मरण उस व्यक्ति के लिए आवश्यक नहीं है जो जीवन्मुक्त है और जिसकी देहासक्ति समाप्त हो गयी है, वरन् उस व्यक्ति के लिए है जिसमें देहासक्ति शेष है, क्योंकि समाधि-मरण तो इसी देहासक्ति को समाप्त करने के लिए है। समाधि-मरण एक साधना है, इसलिए वह

१. पश्चिमीय आचार विज्ञान का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० २७३।

जीवन्मुक्त (सिद्ध) के लिए आवश्यक नहीं है। जीवन्मुक्त को तो समाधि-मरण सहज ही प्राप्त होता है। जहां तक उनके इस आक्षेप की बात है कि समाधि-मरण में यथार्थता की अपेक्षा आडम्बर ही अधिक परिलक्षित होता है, उसमें आंशिक सत्यता अवश्य हो सकती है लेकिन इसका सम्बन्ध संथारे या समाधि-मरण के सिद्धान्त से नहीं, वरन् उसके वर्तमान में प्रचलित विकृत रूप से है, लेकिन इस आधार पर उसके सैद्धान्तिक मूल्य में कोई कमी नहीं आती है। यदि व्यावहारिक जीवन में अनेक व्यक्ति असत्य बोलते हैं तो क्या उससे सत्य के मूल्य पर कोई आँच आती है? वस्तुतः स्वेच्छा-मरण के सैद्धान्तिक मूल्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

स्वेच्छा-मरण तो मृत्यु की वह कला है, जिसमें न केवल जीवन ही सार्थक होता है, वरन् मरण भी सार्थक हो जाता है। काका साहब कालेलकर ने खलील जिब्रान का यह वचन उद्धृत किया है कि 'एक आदमी ने आत्मरक्षा के हेतु खुदकुशी की, आत्महत्या की,' यह वचन सुनने में विचित्र-सा लगता है।[1] आत्महत्या से आत्मरक्षा का क्या संबंध हो सकता है? वस्तुतः यहाँ आत्मरक्षा का अर्थ आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों का संरक्षण है और आत्महत्या का मतलब है शरीर का विसर्जन। जब नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के संरक्षण के लिए शारीरिक मूल्यों का विसर्जन आवश्यक हो, तो उस स्थिति में देह-विसर्जन या स्वेच्छा मृत्यु वरण ही उचित है। आध्यात्मिक मूल्यों की रक्षा प्राण-रक्षा से श्रेष्ठ है। गीता ने स्वयं अकीर्तिकर जीवन की अपेक्षा मरण को श्रेष्ठ मानकर ऐसा ही संकेत दिया है।[2] काका साहब कालेलकर के शब्दों में जब मनुष्य देखता है कि विशिष्ट परिस्थिति में जीना है तो हीन स्थिति और हीन विचार या सिद्धान्त मान्य रखना ही जरूरी है। तब श्रेष्ठ पुरुष कहता है कि जीने से नहीं, मरकर ही आत्मरक्षा होती है।[3]

वस्तुतः समाधि-मरण का व्रत हमारे आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों के संरक्षण के लिए ही लिया जाता है और इसलिए पूर्णतः नैतिक भी है।

---

१. परमसखा मृत्यु, पृ० ४३। २. गीता, २।३४।
३. परमसखा मृत्यु, पृ० ४३।

१८ आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास

आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास का प्रत्यय भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितनी महत्त्वपूर्ण पूर्णता की धारणा है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों में आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास के विभिन्न स्तरों का विवेचन हुआ है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि इन विभिन्न स्तरों का विवेचन व्यवहार दृष्टि से ही किया गया है। पारमार्थिक (तत्त्व) की दृष्टि से तो परमतत्त्व या आत्मा सदैव ही अविकारी है। उसमें विकास की कोई प्रक्रिया होती ही नहीं है। वह तो बन्धन और मुक्ति, विकास और पतन से परे या निरपेक्ष है। आचार्य कुंदकुंद कहते हैं—आत्मा गुणस्थान, मार्गणास्थान और जीवस्थान नामक विकासपतन की प्रक्रियाओं से भिन्न है।[1] इसी बात का समर्थन प्रोफेसर रमाकांत त्रिपाठी ने अपनी पुस्तक स्पीनोज़ा इन दि लाइट ऑफ वेदान्त में किया है। स्पीनोजा के अनुसार आध्यात्मिक मूल तत्त्व न तो विकास की स्थिति में है और न प्रयास की स्थिति में है।[2] लेकिन जैन-विचारणा में तो व्यवहार-दृष्टि भी उतनी ही यथार्थ है जितनी कि परमार्थ या निश्चयदृष्टि, जब समस्त आचार-दर्शन ही व्यवहारनय का विषय है तब नैतिक विकास की प्रक्रियाएँ भी व्यवहारनय (पर्यायदृष्टि) का ही विषय होंगी; लेकिन इससे उसकी यथार्थता की कोई कमी नहीं होती है।

आत्मा की तीन अवस्थाएँ

जैन आचारदर्शन में आध्यात्मिक पूर्णता अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति ही साधन का लक्ष्य माना गया है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधक को साधना की विभिन्न श्रेणियों में से गुजरना होता है। ये श्रेणियाँ साधक की साधना की ऊँचाइयों की मापक हैं। लेकिन विकास तो एक मध्य अवस्था है। उसके एक ओर अविकास की अवस्था है और दूसरी ओर पूर्णता की अवस्था है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए जैनाचार्यों ने आत्मा की तीन अवस्थाओं का विवेचन किया है—१. बहिरात्मा, २. अन्तरात्मा और ३. परमात्मा।[3]

---

१. नियमसार, ७७।

२. स्पीनोज़ा इन दि लाइट ऑफ वेदान्त, पृ० ३८ टिप्पणी, १९९, २०४।

३. (अ) अध्यात्ममत परीक्षा, गा० १२५।
   (ब) योगावतार, द्वात्रिंशिका, १७-१८।
   (स) मोक्खपाहुड, ४।

आत्मा के इन तीन प्रकारों की चर्चा जैन साहित्य में प्राचीनकाल से उपलब्ध है। सर्वप्रथम हमें आचार्य कुन्दकुन्द के मोक्षप्राभृत (मोक्खपाहुड़) में आत्मा की तीन अवस्थाओं की स्पष्ट चर्चा उपलब्ध होती है। यद्यपि इसके बीज हमें आचारांग जैसे प्राचीनतम आगम में भी उपलब्ध होते हैं। आचारांग में यद्यपि स्पष्ट रूप से बहिरात्मा, अन्तरात्मा जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं है किन्तु उसमें इन तीनों ही प्रकार के आत्माओं के लक्षणों का विवेचन उपलब्ध हो जाता है।[१] बहिर्मुखी आत्मा को आचारांग में बाल, मन्द और मूढ़ के नाम से अभिहित किया गया है। ये आत्माएँ ममत्व से युक्त होती हैं और बाह्य विषयों में रस लेती हैं। अन्तर्मुखी आत्मा को पण्डित, मेधावी, धीर, सम्यक्त्वदर्शी और अनन्यदर्शी के नाम से चित्रित किया गया है। अनन्यदर्शी शब्द ही उनकी अन्तर्मुखता को स्पष्ट कर देता है। इनके लिए मुनि शब्द का प्रयोग भी हुआ है। आचारांग के अनुसार ये वे लोग हैं जिन्होंने संसार के स्वरूप को जानकर लोकैषणा का त्याग कर दिया है। पापविरत एवं सम्यक्दर्शी होना ही अन्तरात्मा का लक्षण है। इसी प्रकार आचारांग में मुक्त आत्मा के स्वरूप का विवेचन भी उपलब्ध होता है। उसे विमुक्त, पारगामी तथा तर्क और वाणी से अगम्य बताया गया है।

आत्मा के इस त्रिविध वर्गीकरण का प्रमुख श्रेय तो आचार्य कुन्दकुन्द को ही जाता है। परवर्ती सभी दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यों ने इन्हीं का अनुकरण किया है। कार्तिकेय, पूज्यपाद, योगीन्दु, हरिभद्र, आनन्दघन और यशोविजय आदि सभी ने अपनी रचनाओं में आत्मा के उपर्युक्त तीन प्रकारों का उल्लेख किया है—[२]

१. **बहिरात्मा**—जैनाचार्यों ने उस आत्मा को बहिरात्मा कहा है, जो सांसारिक विषय-भोगों में रुचि रखता है। परपदार्थों में अपनत्व का आरोपण कर उनके भोगों में आसक्त बना रहता है। बहिरात्मा देहात्म बुद्धि और मिथ्यात्व से युक्त होता है।[३] यह चेतना की विषयाभिमुखी प्रवृत्ति है।

२. **अन्तरात्मा**—बाह्य विषयों से विमुख होकर अपने अन्तर में झांकना अन्तरात्मा का लक्षण है। अन्तरात्मा आत्माभिमुख होता है एवं स्व-स्वरूप में निमग्न रहता है। यह ज्ञाता-द्रष्टा भाव की स्थिति है। अन्तर्मुखी आत्मा देहात्म बुद्धि से रहित होता है क्योंकि वह आत्मा और शरीर अर्थात् स्व और पर की भिन्नता को भेदविज्ञान के द्वारा जान लेता है।[४] अन्तरात्मा के भी तीन भेद किये गये हैं। अविरत सम्यक्दृष्टि सबसे निम्न प्रकार का अन्तरात्मा है। देशविरत गृहस्थ, उपासक और प्रमत्त मुनि मध्यम प्रकार के अन्तरात्मा हैं और अप्रमत्त योगी या मुनि उत्तम प्रकार के अन्तरात्मा हैं।

---

१. देखिए—आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध अध्ययन, ३–५। २. मोक्खपाहुड, ४।
३. मोक्खपाहुड, ५, ८, १०, ११। ४. वही, ५, ९।

३. **परमात्मा**—कर्म मल से रहित राग-द्वेष का विजेता, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी आत्मा को परमात्मा कहा गया है। परमात्मा के दो भेद किये गये हैं—अर्हत् और सिद्ध। जीवन-मुक्त आत्मा अर्हत् कहा जाता है और विदेहमुक्त आत्मा सिद्ध कहा जाता है।[1]

कठोपनिषद् में भी इसी प्रकार आत्मा के तीन भेद किये गये हैं—उसमें ज्ञानात्मा, महदात्मा और शान्तात्मा ऐसे तीन भेद किये गये हैं। तुलनात्मक दृष्टि से ज्ञानात्मा, बहिरात्मा, महदात्मा, अन्तरात्मा और शान्तात्मा परमात्मा है।

मोक्षप्राभृत, नियमसार, रयणसार, योगसार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि सभी में तीनों प्रकार की आत्माओं के यही लक्षण किये गये हैं।

आत्मा की इन तीनों अवस्थाओं को क्रमशः १. मिथ्यादर्शी आत्मा, २. सम्यग्दर्शी आत्मा और ३. सर्वदर्शी आत्मा भी कहते हैं। साधना की दृष्टि से हम इन्हें क्रमशः पतित अवस्था, साधक अवस्था और सिद्धावस्था भी कह सकते हैं। अपेक्षा-भेद से नैतिकता के आधार पर इन तीनों अवस्थाओं को १. अनैतिकता की अवस्था, २. नैतिकता की अवस्था और ३. अतिनैतिकता की अवस्था भी कहा जा सकता है। पहली अवस्थावाला व्यक्ति दुराचारी या दुरात्मा है, दूसरी अवस्थावाला सदाचारी या महात्मा है और तीसरी अवस्था-वाला आदर्शात्मा या परमात्मा है। जैन दर्शन के गुणस्थान सिद्धान्तों में प्रथम से तीसरे गुण-स्थान तक बहिरात्मा की अवस्था का चित्रण है। चतुर्थ से बारहवें गुणस्थान तक अन्तरात्मा की अवस्था का विवेचन है। शेष दो गुणस्थान आत्मा के परमात्मस्वरूप को अभिव्यक्त करते हैं। पण्डित सुखलालजी इन्हें क्रमशः आत्मा की (१) आध्यात्मिक अविकास की अवस्था (२) आध्यात्मिक विकास-क्रम की अवस्था और (३) आध्यात्मिक पूर्णता या मोक्ष की अवस्था कहते हैं।[2]

प्राचीन जैनागमों में आत्मा की इस नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की यात्रा को गुणस्थान की पद्धति द्वारा बड़ी सुन्दरतापूर्वक स्पष्ट किया गया है, जो न केवल साधक की विकासयात्रा की विभिन्न मनोभूमियों का चित्रण करती है, वरन् विकासयात्रा के पूर्व की भूमिका से लेकर गन्तव्य आदर्श तक की समुचित व्याख्या भी प्रस्तुत करती है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा के स्वगुणों या यथार्थ स्वरूप को आवरण करने वाले कर्मों में मोह का आवरण ही प्रधान है। इस आवरण के हटते ही शेष आवरण सरलता से हटाये जा सकते हैं। अतः जैनाचार्यों ने आध्यात्मिक उत्क्रान्ति को अभिव्यक्त करनेवाले गुणस्थान-सिद्धान्त की विवेचना इसी मोहशक्ति की उत्कटता, मन्दता तथा अभाव के आधार पर की है। आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास का अर्थ है आध्यात्मिक या

---

१. वही, ५, ६, १२। २. विशेष विवेचन एवं सन्दर्भ के लिए देखिए—
(अ) दर्शन और चिन्तन, पृ० २७६-२७७,। (ब) जैन धर्म, पृ० १४७।

नैतिक पूर्णता की प्राप्ति। पारिभाषिक शब्दों में यह आत्मा का स्वरूप में स्थित हो जाना है। इसके लिए साधना के लक्ष्य या स्वरूप का यथार्थ बोध आवश्यक है। मोह की वह शक्ति जो स्वस्वरूप या आदर्श का यथार्थ बोध नहीं होने देती और जिसके कारण कर्तव्य-अकर्तव्य का यथार्थभान नहीं हो पाता, उसे जैन दर्शन में दर्शन-मोह कहते हैं, और जिसके कारण आत्मा स्वस्वरूप में स्थित होने के लिए प्रयास नहीं कर पाता अथवा नैतिक आचरण नहीं कर पाता, उसे चरित्रमोह कहते हैं। दर्शन-मोह विवेक बुद्धि का कुण्ठन है और चारित्र-मोह सत्प्रवृत्ति का कुण्ठन है। जिस प्रकार व्यवहार-जगत् में वस्तु का यथार्थ बोध हो जाने पर ही उसकी प्राप्ति का प्रयास सफल होता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक-जगत् में भी सत्य का यथार्थ बोध होने पर उसकी प्राप्ति का प्रयास सफल होता है। आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया में आत्मा के दो प्रमुख कार्य हैं—पहला स्वस्वरूप और पर-स्वरूप या आत्म और अनात्म का यथार्थ विवेक करना और दूसरा स्वस्वरूप में स्थिति। दर्शन-मोह को समाप्त करने से यथार्थ बोध प्रकट होता है और चारित्रमोह पर विजय पाने से यथार्थ प्रयास का उदय होकर स्वस्वरूप में स्थिति हो जाती है। दर्शनमोह और चारित्रमोह में दर्शनमोह ही प्रबल है—यदि आत्मा इस दर्शनमोह अर्थात् यथार्थबोध के अवरोधक तत्त्व को भेदकर एक बार स्वस्वरूप का दर्शन कर लेता है अर्थात् आत्मा को अपने गन्तव्य लक्ष्य का बोध हो जाता है, तो फिर वह स्वशक्ति से इस चारित्रमोह को भी परास्त कर स्वरूप लाभ या आदर्श की उपलब्धि कर ही लेता है।

जैन दर्शन यह मानता है कि आत्मा को स्वस्वरूप के लाभ या आध्यात्मिक आदर्श की उपलब्धि के लिए दर्शनमोह और चारित्रमोह से संघर्ष करना होता है। अशुभ वृत्तियों से संघर्ष विकास के लिए आवश्यक है इसी संघर्ष से आत्मा की विजय यात्रा प्रारम्भ होती है। जैन विचारणा के अनुसार आत्मा स्वभाव से विकास के लिए प्रयत्नशील है। फिर भी इस संघर्ष में सदैव जयलाभ ही नहीं करता है, वरन् कभी परास्त होकर पुनः पतनोन्मुख हो जाता है। दूसरे, इस संघर्ष में सभी आत्माएँ विजय लाभ नहीं कर पाती हैं। कुछ आत्माएँ संघर्ष-विमुख हो जाती हैं, तो कुछ इस आध्यात्मिक संघर्ष के मैदान में डटी रहती हैं और कुछ विजय लाभ कर स्वस्वरूप को प्राप्त कर लेती हैं। विशेषावश्यक भाष्य में इन तीनों अवस्थाओं का सोदाहरण विवेचन है।[१] तीन प्रवासी अपने गन्तव्य की ओर जा रहे थे। मार्ग में भयानक अटवी में उन्हें चोर मिल गये। चोरों को देखते ही उन तीनों में से एक भाग खड़ा हुआ। दूसरा उनसे डरकर भागा तो नहीं, लेकिन संघर्ष में विजय लाभ न कर सका और परास्त होकर उनके द्वारा पकड़ा गया। लेकिन तीसरा असाधारण बल और कौशल्य से उन्हें परास्त कर अपने गन्तव्य की ओर बढ़ गया। विकासोन्मुख आत्मा ही प्रवासी है। अटवी मनुष्य-जीवन है। राग और द्वेष ये दो चोर

---

१. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १२११–१२१४।

हैं। जो आत्मा इन चोरों पर विजयलाभ करती है, वही अपने गन्तव्य को प्राप्त करने में सफल होती है। यहाँ पर हमें तीन प्रकार के व्यक्तियों का चित्र मिलता है। एक वे जो आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधना के युद्धस्थल पर आते तो हैं, लेकिन साहस के अभाव में शत्रु की चुनौती का सामना न कर साधनारूपी युद्धस्थल से भाग खड़े होते हैं। दूसरे वे जो साधनारूपी युद्धक्षेत्र में डटे रहते हैं, संघर्ष भी करते है, फिर भी कौशल के अभाव में शत्रु पर विजय-लाभ करने में असफल होते हैं। तीसरे, वे जो साहस के साथ कुशलतापूर्वक प्रयास करते हुए साधना के क्षेत्र में विजय-श्री का लाभ करते हैं। वैदिक चिन्तन में भी इस बात को इस प्रकार प्रकट किया गया है कि कुछ साधक साधना का प्रारम्भ ही नहीं कर पाते, कुछ उसे मध्य में ही छोड़ देते हैं लेकिन कुछ उसका अन्त तक निर्वाह करते हुए अपने साध्य को प्राप्त करते हैं।[1] लक्ष्य-उपलब्धि की यह प्रक्रिया जैन-साधना में ग्रन्थि-भेद कहलाती है। ग्रंथि-भेद का तात्पर्य आध्यात्मिक विकास में बाधक प्रगाढ़ मोह एवं राग-द्वेष की वृत्तियों का छेदन करना है। अगले पृष्ठों में हम इसी विषय पर विचार करेंगे।

आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया और ग्रन्थि-भेद

जैन नैतिक साधना का लक्ष्य स्वस्वरूप में स्थित होना या आत्म-साक्षात्कार करना है, लेकिन आत्म-साक्षात्कार के लिए मोहविजय आवश्यक है, क्योंकि आत्मा का शुद्ध स्वरूप इसी मोह से आवरित है। मोह के आवरण को दूर करने के लिए साधक को तीन मानसिक ग्रन्थियों का भेदन करना होता है। एक सरल उदाहरण लें। यह आत्मा जिस प्रासाद में रहता है उस पर मोह का आधिपत्य है, मोह ने आत्मा को बन्दी बना रखा है। प्रासाद के तीन द्वारों पर उसने अपने प्रहरी लगा रखे हैं। प्रथम द्वार पर निःशस्त्र प्रहरी है। दूसरे द्वार पर सशस्त्र, सबल और दुर्जेय प्रहरी है और तीसरे द्वार पर पुनः निःशस्त्र प्रहरी है। वहाँ जाकर आत्म-देव के दर्शन लाभ के लिए व्यक्ति को तीनों द्वारों से उनके प्रहरियों पर विजय-लाभ करते हुए गुजरना होता है। यह आत्म-देव का दर्शन ही आत्म-साक्षात्कार है। और यह तीन द्वार ही तीन ग्रन्थियाँ हैं और इन पर विजय-लाभ करने की प्रक्रिया ग्रन्थि-भेद कहलाती है, जिसके क्रमशः नाम हैं—
१. यथाप्रवृत्तिकरण[2] २. अपूर्वकरण और ३. अनिवृत्तिकरण।

(अ) **यथाप्रवृत्तिकरण**—पंडित सुखलालजी के शब्दों में अज्ञानपूर्वक दुःख-संवेदना जनित अत्यल्प आत्म शुद्धि को जैन शास्त्र में यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं।[3] यथाप्रवृत्ति-

---

१. भर्तृहरि–उद्धृत पाश्चात्य आचारविज्ञान का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० ४०।
२. दिगम्बर मान्यता में इसे 'अथाप्रवृत्तिकरण' कहते हैं।
देखिए—तत्त्वार्थराजवार्तिक–९।१–१३।
३. दर्शन और चिन्तन, पृ० २६९।

करण आत्मदेव के राजप्रासाद का वह द्वार है जिस पर निर्बल एवं निःशस्त्र द्वारपाल होता है। अनेक आत्माएँ इस संसाररूपी वन में भ्रमण करते हुए संयोगवश इस द्वार के समीप पहुंच जाती हैं और यदि मन नामक वस्त्र से सुसज्जित होती हैं तो वह इस निर्बल, निःशस्त्र द्वारपाल को पराजित कर इस द्वार में प्रवेश पा लेती हैं। यथाप्रवृत्तिकरण प्रयास और साधना का परिणाम नहीं होता है, वरन् एक संयोग है, एक प्राकृतिक उपलब्धि है, फिर भी यह एक महत्त्वपूर्ण घटना है क्योंकि आत्म-शक्ति के प्रकटन को रोकनेवाले या उसे कुण्ठित करनेवाले कर्म-परमाणुओं में जैन विचारकों के अनुसार सर्वाधिक ७० क्रोड़ा-क्रोड़ी सागरोपम की काल-स्थिति मोहकर्म की मानी गयी है और यह अवधि जब गिरि-नदी-पाषाण न्याय से घटकर मात्र १ क्रोड़ा-क्रोड़ी सागरोपम रह जाती है, तब यथाप्रवृत्तिकरण होता है। अर्थात् जैसे पहाड़ी नदी के प्रवाह में गिरा हुआ पाषाण खण्ड प्रवाह के कारण अचेतन रूप में ही आकृति को धारण कर लेता है, वैसे ही शारीरिक एवं मानसिक दुःखों की संवेदना को झेलते-झेलते इस संसार में परिभ्रमण करते हुए जब कर्मावरण का बहुलांश शिथिल हो जाता है तो आत्मा यथाप्रवृत्तिकरण रूप शक्ति को प्राप्त होती है। यथाप्रवृत्तिकरण वस्तुतः एक स्वाभाविक घटना के परिणामस्वरूप होता है, लेकिन इस अवस्था को प्राप्त करने पर आत्मा में स्वनियंत्रण की क्षमता प्राप्त हो जाती है। जिस प्रकार एक बालक प्रकृति से ही चलने की शक्ति पाकर फिर उसी शक्ति के सहारे वांछित लक्ष्य की ओर प्रयाण कर उसे पा सकता है, वैसे ही आत्मा भी स्वाभाविक रूप में स्वनियंत्रण की क्षमता को प्राप्त कर आगे प्रयास करे तो आत्मसंयम के द्वारा आत्मलाभ कर लेता है। यथाप्रवृत्तिकरण अर्धविवेक की अवस्था में किया गया आत्मसंयम है जिसमें व्यक्ति तीव्रतम (अनन्तानुबन्धी) क्रोध, मान, माया एवं लोभ पर अंकुश लगाता है। जैन विचारणा के अनुसार केवल पंचेन्द्रिय समनस्क (मन सहित) प्राणी ही यथाप्रवृत्तिकरण करने की योग्यता रखते हैं और प्रत्येक समनस्क प्राणी अनेक बार यथाप्रवृत्तिकरण करता भी है। जब प्राणी मन जैसी नियंत्रक शक्ति को पा लेता है तो स्वाभाविक रूप से ही वह उसके द्वारा अपनी वासनाओं पर नियंत्रण का प्रयास करने लगता है। प्राणीय विकास में मन की उपलब्धि से ही बौद्धिकता एवं विवेक की क्षमता जागृत होती है और बौद्धिकता एवं विवेक की क्षमता से प्राणी वासनाओं पर अधिशासन करने लगता है। वासनाओं के नियंत्रण का यह प्रयास विवेक-बुद्धि का स्वाभाविक लक्षण है और यहीं से प्राणीय विकास में स्वतंत्रता का उदय होता है। यहाँ प्राणी नियति का दास न होकर उस पर शासन करने का प्रयास करता है। यहीं से चेतना को जड़ (कर्म) पर विजय-यात्रा एवं संघर्ष की कहानी प्रारम्भ होती है। इस अवस्था में चेतन आत्मा और जड़कर्म संघर्ष के लिए एक दूसरे के सामने डट जाते हैं। आत्मा ग्रन्थि के सम्मुख हो जाता है। यथाप्रवृत्तिकरण की प्रक्रिया करने के पूर्व आत्मा जिन चार शक्तियों (लब्धियों) को उपलब्ध कर लेता है,

वे हैं—१. *क्षयोपशम—पूर्वबद्ध कर्मों में कुछ कर्मों के फल का क्षीण हो जाना अथवा उनकी* विपाक शक्ति का शमन हो जाना, २. विशुद्धि, ३. देशना—ज्ञानीजनों के द्वारा मार्ग-दर्शन प्राप्त करना और ४. प्रयोग—आयुष्य कर्म को छोड़कर शेष कर्मों की स्थिति का एक क्रोड़ा-क्रोड़ी सागरोपम से कम हो जाना। जो आत्मा इस प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण नामक ग्रन्थि-भेद की क्रिया में सफल हो जाता है, वह मुक्ति की यात्रा के योग्य हो जाता है और जल्दी या देर से मुक्ति अवश्य प्राप्त कर लेता है। जो सिपाही शत्रु सेना के सामने डटने का साहस कर लेता है वह कभी न कभी तो विजय—लाभ भी कर ही लेता है। विजय यात्रा के अग्रिम दो चरण अपूर्वकरण और अनावृत्तिकरण कहे जाते हैं। वस्तुतः यथाप्रवृत्तिकरण में आत्मा वासनाओं की शक्ति के सामने संघर्ष के लिए खड़ी होने का साहस करती है, जबकि अन्य दो प्रक्रियाओं में वह वासनाओं और तद्जनित कर्मों के ऊपर विजय-श्री का लाभ करती है। यथाप्रवृत्तिकरण की अवस्था में आत्मा अशुभ कर्मों का अल्प स्थिति का एवं रुक्ष बन्ध करती है। यह नैतिक चेतना के उदय की अवस्था है। यह एक प्रकार की आदर्शाभिमुखता है।

(आ) **अपूर्वकरण**—यथाप्रवृत्तिकरण के द्वारा आत्मा में नैतिक चेतना का उदय होता है; विवेक-बुद्धि और संयम-भावना का प्रस्फुटन होता है। वस्तुतः यथाप्रवृत्तिकरण में वासनाओं से संघर्ष करने के लिए पूर्व-पीठिका तैयार होती है। आत्मा में इतना नैतिक साहस (वीर्योल्लास) उत्पन्न हो जाता है कि वह संघर्ष की पूर्व तैयारी कर वासनाओं से युद्ध करने के लिए सामने डट जाती है। कभी शत्रु को युद्ध के लिए ललकारने का भी प्रयास करती है, लेकिन वास्तविक संघर्ष प्रारम्भ नहीं होता। अनेक बार तो ऐसा प्रसंग आता है कि वासनारूपी शत्रुओं के प्रति मिथ्यामोह के जागृत हो जाने से अथवा उनकी दुर्जेयता के अचेतन भय के वश अर्जुन के समान यह आत्मा पलायन या दैन्यवृत्ति को ग्रहण कर मैदान से भाग जाने का प्रयास करती है। लेकिन जिन आत्माओं में वीर्योल्लास या नैतिक साहस की मात्रा का विकास होता है वे कृतसंकल्प हो संघर्ष-रत हो जाती हैं और वासनारूपी शत्रुओं के राग और द्वेषरूपी सेनापतियों के व्यूह का भेदन कर देती हैं। भेदन करने की क्रिया ही अपूर्वकरण है। राग और द्वेषरूपी शत्रुओं के सेनापतियों के परास्त हो जाने से आत्मा जिस आनन्द का लाभ करती है, वह सभी पूर्व अनुभूतियों से विशिष्ट प्रकार का या अपूर्व होता है। वस्तुतः इस अवस्था में मानसिक तनाव और संशय पूरी तरह समाप्त हो जाते हैं अतः आत्मा को एक अनुपम शान्ति का अनुभव होता है, यही अपूर्वकरण है। अब आत्मा अपनी शक्ति को बटोरकर विकास के अग्रिम चरण के लिए प्रस्थित हो जाती है। वस्तुतः यह अवस्था ऐसी है जहां मानवीय आत्मा जड़ प्रकृति पर विजय प्राप्त करती है। मनोविज्ञान की भाषा में चेतन अहं (Ego) वासनात्मक अहं (Id) पर विजय प्रात कर लेता है। यहीं से अनात्म पर विजय-यात्रा प्रारम्भ होती है। विकासगामी आत्मा को यहाँ प्रथम बार शान्ति का अनुभव होता है, इसलिए यह

प्रक्रिया अपूर्वकरण कही जाती है। इस अपूर्वकरण की प्रक्रिया का प्रमुख कार्य राग और द्वेष की ग्रन्थियों का छेदन करना है क्योंकि यही तनाव या दुःख के मूल कारण हैं। साधना के क्षेत्र में यही कार्य अत्यन्त दुष्कर है। क्योंकि यही वास्तविक संघर्ष की अवस्था है। मोह राजा के राजप्रासाद का यही वह द्वितीय द्वार है जहाँ सबसे अधिक बलवान् एवं सशस्त्र अंगरक्षक दल तैनात हैं। यदि इन पर विजय प्राप्त कर ली जाती है तो फिर मोहरूपी राजा पर विजय पाना सहज होता है। अपूर्वकरण की अवस्था में आत्मा कर्म-शत्रुओं पर विजय पाते हुए निम्न पांच प्रक्रियाएँ करती है—(१) स्थितिघात, २. रसघात, ३. गुणश्रेणी, ४. गुण-संक्रमण और ५. अपूर्वबंध।

१. स्थितिघात—कर्मविपाक की अवधि में परिवर्तन करना।

२. रसघात—कर्म-विपाक एवं बन्धन की प्रगाढ़ता (तीव्रता) में कमी।

३. गुणश्रेणी—कर्मों को ऐसे क्रम में रख देना ताकि विपाककाल के पूर्व ही उनका फलभोग किया जा सके।

४. गुण-संक्रमण—कर्मों का अवान्तर प्रकृतियों में रूपान्तर अर्थात् जैसे दुःखद वेदना को सुखद वेदना में रूपान्तरित कर देना।

५. अपूर्वबंध—क्रियमाण क्रियाओं के परिणामस्वरूप होने वाले बन्ध का अत्यन्त अल्पकालिक एवं अल्पतर मात्रा में होना।

(इ) **अनावृत्तिकरण**—आत्मा अपूर्वकरण की प्रक्रिया के द्वारा राग और द्वेष की ग्रन्थियों का भेदन कर विकास की दिशा में अपना अगला चरण रखती है, यह प्रक्रिया अनावृत्तिकरण कहलाती है। इस भूमिका में आकर आत्मा शुद्ध आत्मस्वरूप पर रहे हुए मोह के आवरण को अनावरित कर अपने ही यथार्थ स्वरूप का दर्शन करती है। यही सम्यग्दर्शन के बोध की भूमिका है, जिसमें सत्य अपने यथार्थ स्वरूप में साधक के सामने अभिव्यक्त हो जाता है। अनावृत्तिकरण में पुनः १. स्थितिघात, २. रसघात, ३. गुणश्रेणी, ४. गुणसंक्रमण और ५. अपूर्वबन्ध नामक प्रक्रिया सम्पन्न होती है, जिसे अन्तरकरण कहा जाता है। अन्तरकरण की इस प्रक्रिया में आत्मा दर्शनमोहनीय कर्म को प्रथमत. दो भागों में विभाजित करती है। साथ ही अनावृत्तिकरण के अन्तिम चरण में दूसरे भागों को भी तीन उपविभागों में विभाजित करती है, जिन्हें क्रमशः १. सम्यक्त्व मोह, २ मिथ्यात्व मोह और ३. मिश्र मोह कहते हैं। सम्यक्त्व मोह सत्य के ऊपर श्वेत कांच का आवरण है, जबकि मिश्र मोह हल्के रंगीन कांच का और मिथ्यात्व मोह गहरे रंग के कांच का आवरण है। पहले में सत्य के स्वरूप का दर्शन वास्तविक रूप में होता है, दूसरे में विकृत रूप में होता है, लेकिन तीसरे में सत्य पूरी तरह आवरित रहता है। सम्यग्दर्शन के काल में भी आत्मा गुण संक्रमण नामक क्रिया करता है और मिथ्यामोह की कर्मप्रकृतियों को मिश्रमोह तथा सम्यक्त्वमोह में रूपान्तरित करता रहता है। सम्यग्दर्शन में उदयकाल की एक अन्तमूहूर्त की समय-सीमा समाप्त होने पर पुनः

दर्शनमोह के पूर्व में विभाजित तीन वर्गों में से किसी भी वर्ग की कर्मप्रकृति का गुणश्रेणी के अनुसार उदय हो सकता है। यदि प्रथम (उदय) फलभोग सम्यत्व मोह का होता है तो आत्मा विशुद्धाचरण करता हुआ विकासोन्मुख हो जाता है, लेकिन यदि मिश्रमोह अथवा मिथ्यात्वमोह का विपाक होता है तो आत्मा पुनः पतनोन्मुख हो जाता है और अपने अग्रिम विकास के लिए उसे पुनः ग्रन्थि-भेद की प्रक्रिया करनी होती है। फिर भी इतना तो निश्चित है कि वह एक सीमित समयावधि में अपने आदर्श को उपलब्ध कर ही लेती है।

ग्रन्थि-भेद की प्रक्रिया का द्विविध रूप—यहाँ यह शंका हो सकती है कि ग्रन्थि-भेद की यह प्रक्रिया तो सम्यग्दर्शन नामक चतुर्थ गुणस्थान की उपलब्धि के पूर्व प्रथम गुणस्थान में ही हो जाती है, फिर सप्तम, अष्टम और नवम गुणस्थानों में होनेवाले यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनावृत्तिकरण कौन से हैं ? वस्तुतः 'ग्रन्थि-भेद की यह प्रक्रिया साधना के क्षेत्र में दो बार होती है। पहली प्रथम गुणस्थान के अन्तिम चरण में और दूसरी सातवें, आठवें और नवें गुणस्थान में। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि यह दो बार क्यों होती है ? और पहली और दूसरी बार की प्रक्रिया में क्या अन्तर है ? वास्तविकता यह है कि जैन-दर्शन में बन्धन के प्रमुख कारण मोह की दो शक्तियाँ मानी गयी हैं—१. दर्शनमोह और २. चारित्रमोह। दर्शनमोह यथार्थ दृष्टिकोण (सम्यक्-दर्शन) का आवरण करता है और चारित्रमोह नैतिक आचरण (सम्यक्चारित्र) में बाधा डालता है। मोह के इन दो भेदों के आधार पर ही ग्रन्थिभेद की यह प्रक्रिया भी दो बार होती है। प्रथम गुणस्थान के अन्त में होने वाली ग्रन्थि-भेद की प्रक्रिया का सम्बन्ध दर्शनमोह के आवरण को समाप्त करने से है, जबकि सातवें, आठवें और नवें गुणस्थानों में होने वाली ग्रन्थि-भेद की प्रक्रिया का सम्बन्ध चारित्रमोह अर्थात् अनैतिकता को समाप्त करने से है। पहली बार प्रक्रिया के अन्त में सम्यक्दर्शन का लाभ होता है, जबकि दूसरी बार प्रक्रिया के अन्त में सम्यक्चारित्र का उदय होता है। एक में वासनात्मक वृत्तियों का निरोध होता है, दूसरी में दुराचरण का निरोध। एक में दर्शन (दृष्टिकोण) शुद्ध होता है, दूसरी से चारित्र शुद्ध होता है। जैन साधना की पूर्णता दर्शनविशुद्धि में न होकर चारित्रविशुद्धि में है, यद्यपि यह एक स्वीकृत तथ्य है कि दर्शनविशुद्धि के पश्चात् यदि उसमें टिकाव रहा तो चारित्रविशुद्धि अनिवार्यतया होती है। सत्य के दर्शन के पश्चात् उसकी उपलब्धि एक अवश्यता है। यह बात इस प्रकार भी कही जा सकती है कि सम्यग्दर्शन का स्पर्श कर लेने पर आत्मा की मुक्ति अवश्य ही होती है।

गुणस्थान का सिद्धान्त

जैन-विचारधारा में नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास क्रम की १४ अवस्थाएँ मानी

गयी हैं—१. मिथ्यात्व, २. सास्वादन, ३. मिश्र, ४. अविरत सम्यग्दृष्टि, ५. देश-विरत सम्यग्दृष्टि, ६. प्रमत्तसंयत, ७. अप्रमत्तसंयत (अप्रमत्तविरत), ८ अपूर्वकरण, ९. अनिवृत्तिकरण, १०. सूक्ष्मसम्पराय, ११. उपशान्तमोह, १२. क्षीणमोह, १३. सयोगीकेवली और १४. अयोगीकेवली। प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान तक का क्रम दर्शन की अवस्थाओं को प्रकट करता है, जबकि पाँचवें से बारहवें गुणस्थान तक का विकासक्रम सम्यग्चारित्र से सम्बन्धित है। १३वाँ एवं १४वाँ गुणस्थान आध्यात्मिक पूर्णता का द्योतक है। इनसे भी दूसरे और तीसरे गुणस्थानों का सम्बन्ध विकास क्रम से न होकर वे मात्र चतुर्थ गुणस्थान से प्रथम गुणस्थान की ओर होने वाले पतन को सूचित करते हैं। इन गुणस्थानों का संक्षिप्त परिचय यहाँ आवश्यक प्रतीत होता है।

१. मिथ्यात्व गुणस्थान

इस अवस्था में आत्मा यथार्थ ज्ञान और सत्यानुभूति से वंचित रहती है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह आत्मा की बहिर्मुखी अवस्था है। इसमें प्राणी यथार्थबोध के अभाव के कारण बाह्य पदार्थों से सुखों की प्राप्ति की कामना करता है और उसे आध्यात्मिक या आत्मा के आन्तरिक सुख का रसास्वादन नहीं हो पाता। अयथार्थ दृष्टिकोण के कारण वह असत्य को सत्य और अधर्म को धर्म मानकर चलता है। वह दिग्भ्रमित व्यक्ति की तरह लक्ष्य-विमुख हो भटकता रहता है और अपने गन्तव्य को प्राप्त नहीं कर पाता। यह आत्मा की अज्ञानमय अवस्था है। नैतिक दृष्टि से इस अवस्था में प्राणी को शुभाशुभ या कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक नहीं होता है। वह नैतिक विवेक से तो शून्य होता ही है, नैतिक आचरण से भी शून्य होता है। इसी बात को पारिभाषिक शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि मिथ्यात्व गुणस्थान में आत्मा दर्शनमोह और चारित्रमोह की कर्म प्रवृत्तियों से प्रगाढ़ रूप से जकड़ी होती है। मानसिक दृष्टि से मिथ्यात्व गुणस्थान में प्राणी तीव्रतम क्रोध, मान, माया और लोभ (अनन्तानुबन्धी कषाय) के वशीभूत रहता है। वासनात्मक प्रवृत्तियाँ उस पर पूर्ण रूप से हावी होती हैं जिनके कारण वह सत्य दर्शन एवं नैतिक आचरण से वंचित रहता है। जैन विचारधारा के अनुसार संसार की अधिकांश आत्माएँ मिथ्यात्व गुणस्थान में ही रहती हैं, यद्यपि ये भी दो प्रकार की आत्माएँ हैं—१. भव्य आत्मा—जो भविष्य में कभी न कभी यथार्थ दृष्टिकोण से युक्त हो नैतिक आचरण के द्वारा अपना आध्यात्मिक विकास कर पूर्णत्व को प्राप्त कर सकेंगी और २. अभव्य आत्मा—वे आत्माएँ जो कभी भी आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास नहीं कर सकेंगी, न यथार्थ बोध ही प्राप्त करेंगी। मिथ्यात्व गुणस्थान में आत्मा १. एकान्तिक धारणाओं, २. विपरीत धारणाओं, ३. वैनयिकता (रूढ़ परम्पराओं), ४. संशय और ५ अज्ञान से युक्त रहती है।[1] इसलिए उसमें यथार्थ दृष्टिकोण के प्रति उसी प्रकार रुचि का अभाव होता है, जैसे ज्वर

---

१. विशेष विवेचन के लिए देखिए—मिथ्यात्व प्रकरण।

से पीड़ित व्यक्ति को मधुर भोजन रुचिकर नहीं लगता।[1] व्यक्ति को यथार्थ दृष्टिकोण या सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए जो करना है वह यही है कि वह ऐकान्तिक एवं विपरीत धारणाओं का परित्याग कर दे, स्वयं को पक्षाग्रह के व्यामोह से मुक्त रखे। जब व्यक्ति इतना कर लेता है, तो यथार्थ दृष्टिकोण वाला बन जाता है। वस्तुतः यथार्थ या सत्य प्राप्त करने की वस्तु नहीं है। वह सदैव उसी रूप में उपस्थित है, केवल हम अपने पक्षाग्रह और एकान्तिक व्यामोह के कारण उसे देख पाते हैं। जो आत्माएँ दुराग्रहों से मुक्त नहीं हो पाती हैं, वे अनन्तकाल इसी वर्ग में बनी रहती हैं और अपना आध्यात्मिक विकास नहीं कर पाती हैं। फिर भी इस प्रथम वर्ग की सभी आत्माएँ आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से समान नहीं हैं। उनमें भी तारतम्य है। पण्डित सुखलालजी के शब्दों में–प्रथम गुणस्थान में रहने वाली ऐसी अनेक आत्माएँ होती हैं जो राग-द्वेष के तीव्रतम वेग को थोड़ा-सा दबाये हुए होती हैं। वे यद्यपि आध्यात्मिक लक्ष्य के सर्वदा अनुकूलगामी नहीं होतीं, तो भी उनका बोध व चारित्र अन्य अविकसित आत्माओं की अपेक्षा अच्छा ही होता है। यद्यपि ऐसी आत्माओं की अवस्था आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वथा आत्मोन्मुख न होने के कारण मिथ्यादृष्टि, विपरीतदृष्टि या असत्‌दृष्टि कहलाती है, तथापि वह सद्‌दृष्टि के समीप ले जाने वाली होने के कारण उपादेय मानी गयी है। आचार्य हरिभद्र ने मार्गाभिमुख अवस्था के चार विभाग किये हैं, जिन्हें क्रमशः मित्रा, तारा, बला और दीपा कहा गया है। यद्यपि इन वर्गों में रहने वाली आत्माओं की दृष्टि असत् होती है, तथापि उनमें मिथ्यात्व की वह प्रगाढ़ता नहीं होती जो अन्य आत्माओं में होती है। मिथ्यात्व की अल्पता होने पर इसी गुणस्थान के अन्तिम चरण में आत्मा पूर्ववर्णित यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनावृत्तिकरण नामक ग्रन्थि-भेद की प्रक्रिया करता है और उसमें सफल होने पर विकास के अगले चरण सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान को प्राप्त करता है।

२. सास्वादन गुणस्थान

यद्यपि सास्वादन गुणस्थान क्रम की अपेक्षा से विकासशील कहा जा सकता है, लेकिन वस्तुतः यह गुणस्थान आत्मा की पतनोन्मुख अवस्था का द्योतक है। कोई भी आत्मा इसमें प्रथम गुणस्थान से विकास करके नहीं आती, वरन् जब आत्मा ऊपर की श्रेणियों से पतित होकर प्रथम गुणस्थान की ओर जाती है तो इस अवस्था से गुजरती है। पतनोन्मुख आत्मा को गुणस्थान तक पहुँचने की मध्यावधि में जो क्षणिक (६ अवली) समय लगता है वही इस गुणस्थान का स्थिति-काल है। जिस प्रकार फल को वृक्ष से टूटकर पृथ्वी पर पहुँचने में समय लगता है, उसी प्रकार आत्मा की गिरावट में जो समय लगता है वही समयावधि सास्वादन गुणस्थान के नाम से जानी जाती है। जिस

---

१. गोम्मटसार, जीवकाण्ड—१७।

प्रकार मिष्ठान्न खाने के अनन्तर वमन होने पर वमित वस्तु का एक विशेष प्रकार का आस्वादन होता है, उसी प्रकार यथार्थ बोध हो जाने पर मोहासक्ति के कारण जब पुनः अयथार्थता (मिथ्यात्व) का ग्रहण किया जाता है तो उसे ग्रहण करने के पूर्व थोड़े समय के लिए उस यथार्थता का एक विशिष्ट प्रकार का अनुभव बना रहता है। यही पतनोन्मुख अवस्था में होने वाला यथार्थता का क्षणिक आभास या आस्वादन 'सास्वादन गुणस्थान' है।

३. सम्यक्-मिथ्यादृष्टि गुणस्थान या मिश्र गुणस्थान (ढुलमुल यकीन)

यह गुणस्थान भी विकास श्रेणी का सूचक न होकर पतनोन्मुख अवस्था का ही सूचक है, जिसमें अवक्रान्ति करनेवाली पतनोन्मुख आत्मा चतुर्थ गुणस्थान से पतित होकर आती है। यद्यपि उत्क्रान्ति करनेवाली आत्माएँ भी प्रथम गुणस्थान से निकलकर तृतीय गुणस्थान को प्राप्त कर सकते हैं यदि उन्होंने कभी भी चतुर्थ गुणस्थान का स्पर्श किया हो। जो चतुर्थ गुणस्थान में यथार्थ का बोध कर पुनः पतित होकर प्रथम गुणस्थान को प्राप्त करती हैं, वे ही आत्माएँ अपने उत्क्रान्तिकाल में प्रथम गुणस्थान से सीधे तृतीय गुणस्थान में आती हैं, लेकिन जिन आत्माओं ने कभी सम्यक्त्व (यथार्थ बोध) का स्पर्श नहीं किया है वे अपने विकास में प्रथम गुणस्थान से सीधे चतुर्थ गुणस्थान में जाती हैं। क्योंकि संशय उसे हो सकता है जिसे यथार्थता का कुछ अनुभव हुआ है। यह एक अनिश्चय की अवस्था है, जिससे साधक यथार्थ बोध के पश्चात् संशयावस्था को प्राप्त हो जाने के कारण सत्य और असत्य के मध्य झूलता रहता है। नैतिक दृष्टि से कहें तो यह एक ऐसी स्थिति है जबकि व्यक्ति वासनात्मक जीवन और कर्तव्यशीलता के मध्य अथवा दो परस्पर विरोधी कर्तव्यों के मध्य उसे क्या करना श्रेय है इसका निर्णय नहीं कर पाता। वस्तुतः जब व्यक्ति सत्य और असत्य के मध्य किसी एक का चुनाव न कर अनिर्णय की अवस्था में होता है, तब ही यह अनिश्चय की स्थिति उत्पन्न होती है। इस अनिर्णय की स्थिति में व्यक्ति को न सम्यक्दृष्टि कहा जा सकता है, न मिथ्यादृष्टि। यह भ्रान्ति की एक ऐसी अवस्था है जिसमें सत्य और असत्य ऐसे रूप में प्रस्तुत होते हैं कि व्यक्ति यह पहचान नहीं पाता कि इनमें से सत्य कौन है? फिर भी इस वर्ग में रहा हुआ व्यक्ति असत्य को सत्य रूप में स्वीकार नहीं करता है। यह अस्वीकृत भ्रान्ति है, जिसमें व्यक्ति को अपने भ्रान्त होने का ज्ञान रहता है, अतः वह पूर्णतः न तो भ्रान्त कहा जा सकता है न अभ्रान्त। जो साधक सन्मार्ग या मुक्ति-पथ में आगे बढ़ते हैं, लेकिन जब उन्हें अपने लक्ष्य के प्रति संशय उत्पन्न हो जाता है, वे चौथी श्रेणी से गिरकर इस अवस्था में आ जाते हैं। अपने अनिश्चय की अल्प कालावधि में इस वर्ग में रहकर, सन्देश के नष्ट होने पर या तो पुनः चौथे सम्यक्दृष्टि गुणस्थान में चले जाते हैं या पथ-भ्रष्ट होने से पहले मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में चले जाते हैं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह पाशविक एवं वासनात्मक जीवन के प्रतिनिधि इदम् (अदो-

धात्मा) और आदर्श एवं मूल्यात्मक जीवन के प्रतिनिधि नैतिक मन (आदर्शात्मा) के मध्य संघर्ष की वह अवस्था है जिसमें चेतन मन (बोधात्मा) अपना निर्णय देने में असमर्थता का अनुभव करता है और निर्णय को स्वल्प समय के लिए स्थगित रखता है। यदि चेतन मन वासनात्मकता का पक्ष लेता है तो व्यक्ति भोगमय जीवन की ओर मुड़ता है अर्थात् मिथ्यादृष्टि हो जाता है और यदि चेतन मन आदर्शों या नैतिक मूल्यों के पक्ष में अपना निर्णय देता है, तो व्यक्ति आदर्शों की ओर मुड़ता है अर्थात् सम्यक्दृष्टि हो जाता है। मिश्र गुणस्थान जीवन के संघर्ष की अवस्था का द्योतक है, जिसमें सत्य और असत्य, शुभ और अशुभ, अथवा मानव में निहित पाशविक वृत्तियाँ और आध्यात्मिक वृत्तियों के मध्य संघर्ष चलता है। लेकिन जैन-विचारधारा के अनुसार यह वैचारिक या मानसिक संघर्ष की अवस्था अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट) से अधिक नहीं रहती। यदि आध्यात्मिक एवं नैतिक पक्ष विजयी होता है तो व्यक्ति आध्यात्मिक विकास की दिशा में आगे बढ़कर यथार्थ दृष्टिकोण को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् वह चतुर्थ अविरत सम्यक्दृष्टि गुणस्थान में चला जाता है, किन्तु जब पाशविक वृत्तियाँ विजयी होती हैं तो व्यक्ति वासनाओं के प्रबलतम आवेगों के फलस्वरूप यथार्थ दृष्टिकोण से वंचित हो पुनः पतित होकर प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान में चला जाता है। इस प्रकार नैतिक प्रगति की दृष्टि से यह तीसरा गुणस्थान भी अविकास की अवस्था ही है; क्योंकि जब तक व्यक्ति में यथार्थ बोध या शुभाशुभ के सम्बन्ध में सम्यक् विवेक जागृत नहीं हो जाता है, तब तक वह नैतिक आचरण नहीं कर पाता है। इस तीसरे गुणस्थान में शुभ और अशुभ के सन्दर्भ में अनिश्चय की अवस्था अथवा सन्देहशीलता की स्थिति रहती है, अतः इस अवस्था में नैतिक आचरण की सम्भावना नहीं मानी जा सकती। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस तृतीय मिश्र गुणस्थान में अथवा अनिश्चय की अवस्था में मृत्यु नहीं होती क्योंकि आचार्य नेमिचन्द्र[1] का कथन है कि मृत्यु उसी स्थिति में सम्भव है जिसमें भावी आयुकर्म का बन्ध हो सके। इस तृतीय गुणस्थान में भावी आयुकर्म का बंध नहीं होता अतः मृत्यु भी नहीं हो सकती। इस सन्दर्भ में डाक्टर कलघाटकी कहते हैं कि इस अवस्था में मृत्यु सम्भव नहीं हो सकती, क्योंकि मृत्यु के समय में इस संघर्ष की शक्ति चेतना में नहीं होती है, अतः मृत्यु के समय यह संघर्ष समाप्त होकर या तो व्यक्ति मिथ्या दृष्टिकोण को अपना लेता है या सम्यक् दृष्टिकोण को अपना लेता है।[2] यह अवस्था अल्पकालिक होती है, लेकिन अल्पकालिकता केवल इसी आधार पर है कि मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की सीमा-रेखाओं का स्पर्श नहीं करते हुए संशय की स्थिति में अधिक नहीं रहा जा सकता। लेकिन मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की सीमाओं का स्पर्श

---

१. गोम्मटसार, जीवकाण्ड—२५।

२. सम प्राबलेम्स आफ जैन साइकोलाजी—पृ० १५६, गोम्मटसार, जीवकाण्ड—२४।

करते हुए यह अनिश्चय की स्थिति दीर्घकालिक भी हो सकती है। गीता अर्जुन के चरित्र के द्वारा इस अनिश्चय की अवस्था का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती है। आंग्ल साहित्य में शेक्सपीयर ने अपने हेमलेट नामक नाटक में राजपुत्र हेमलेट के चरित्र का जो शब्दांकन किया है वह भी सत् और असत् के मध्य अनिश्चयावस्था का अच्छा उदाहरण है।

४. अविरत सम्यक् दृष्टि गुणस्थान

अविरत सम्यक्-दृष्टि गुणस्थान आध्यात्मिक विकास की वह अवस्था है जिसमें साधक को यथार्थता का बोध या सत्य का दर्शन हो जाता है। वह सत्य को सत्य के रूप में और असत्य को असत्य के रूप में जानता है। उसका दृष्टिकोण सम्यक् होता है। फिर भी उसका आचरण नैतिक नहीं होता है। वह अशुभ को अशुभ तो मानता है, लेकिन अशुभ के आचरण से बच नहीं पाता। दूसरे शब्दों में वह बुराई को बुराई के रूप में जानता तो है, फिर भी पूर्व संस्कारों के कारण उन्हें छोड़ नहीं पाता है। उसका ज्ञानात्मक पक्ष सम्यक् (यथार्थ) होने पर भी आचरणात्मक पक्ष असम्यक् होता है। ऐसे साधक में वासनाओं पर अंकुश लगाने की या संयम की क्षमता क्षीण होती है। वह सत्य, शुभ या न्याय के पक्ष को समझते हुए भी असत्य, अन्याय या अशुभ का साथ छोड़ने नहीं पाता। महाभारत में ऐसा चरित्र हमें भीष्म पितामह का मिलता है जो कौरवों के पक्ष को अन्याययुक्त, अनुचित और पाण्डवों के पक्ष को न्यायपूर्ण और उचित मानते हुए भी कौरवों के पक्ष में ही रहने को विवश हैं। जैन विचार इसी को अविरत सम्यक् दृष्टित्व कहता है। इस स्थिति की जैन व्याख्या यह है कि दर्शनमोह कर्म को शक्ति के दब जाने या उसके आवरण के विरल या क्षीण हो जाने के कारण व्यक्ति को यथार्थ बोध तो हो जाता है लेकिन चारित्रमोह कर्म की सत्ता के बने रहने के कारण व्यक्ति नैतिक आचरण नहीं कर पाता। वह एक अपंग व्यक्ति की भांति है, जो देखते हुए भी चल नहीं पाता। अविरत सम्यक्दृष्टि आत्मा नैतिक मार्ग को, श्रेय के मार्ग को, जानते हुए भी उस पर आचरण नहीं कर पाता। वह हिंसा, झूठ, अब्रह्मचर्य आदि को अनैतिक मानते हुए भी उनसे विरत नहीं होता। फिर भी अविरत सम्यक्दृष्टि आत्मा में भी किसी अंश तक आत्म-संयम या वासनात्मक वृत्तियों पर संयम होता है, क्योंकि अविरत सम्यक्दृष्टि में भी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों के स्थायी तथा तीव्रतम आवेगों का अभाव होता है। क्योंकि जब तक कषायों के इस तीव्रतम आवेगों अर्थात् अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का क्षय या उपशम नहीं होता तब तक वह सम्यक्दर्शन भी प्राप्त नहीं होता। जैन-विचार के अनुसार सम्यक्-अविरत सम्यक्-दृष्टि गुणस्थानवर्ती आत्मा को निम्न सात कर्म प्रकृतियों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम करना होता है—

१. अनन्तानुबन्धी क्रोध (स्थायी तीव्रतम क्रोध) २. अनन्तानुबन्धी मान (स्थायी

तीव्रतम मान) ३. अनन्तानुबन्धी माया (स्थायी तीव्रतम कपट) ४. अनन्तानुबन्धी लोभ (स्थायी तीव्रतम लोभ) ५. मिथ्यात्व मोह, ६. मिश्र मोह और ७. सम्यक्त्व मोह।

आत्मा जब इन सात कर्म-प्रकृतियों को पूर्णतः नष्ट (क्षय) करके इस अवस्था को प्राप्त करता है तो उसका सम्यक्त्व क्षायिक कहलाता है और ऐसा आत्मा इस गुणस्थान से वापस गिरता नहीं है, वरन् अग्रिम विकास-श्रेणियों में होकर अन्त में परमात्म स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। उसका सम्यक्त्व स्थायी होता है, लेकिन जब आत्मा उपर्युक्त कर्म-प्रकृतियों का दमन कर आगे बढ़ता है और इस अवस्था को प्राप्त करता है तब उसका सम्यक्त्व **औपशमिक सम्यक्त्व** कहलाता है। इसमें वासनाओं को नष्ट नहीं किया जाता, वरन् उन्हें दबाया जाता है, अतः ऐसे यथार्थ दृष्टिकोण में अस्थायित्व होता है और आत्मा अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनिट) के अन्दर ही दमित वासनाओं के पुनः प्रकटीकरण पर उनके प्रबल आवेगों के वशीभूत हो यथार्थता से विमुख हो जाता है। इसी प्रकार जब वासनाओं को आंशिक रूप में क्षय करने पर और आंशिक रूप में दबाने पर यथार्थता का जो बोध या सत्य-दर्शन होता है उसमें भी अस्थायित्व होता है क्योंकि दमित वासनाएँ पुनः प्रकट होकर व्यक्ति को यथार्थ दृष्टि के स्तर में गिरा देती हैं। वासनाओं के आंशिक क्षय और आंशिक दमन (उपशम) पर आधृत यथार्थ दृष्टिकोण **क्षायोपशमिक सम्यक्त्व** कहलाता है

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर स्थविरवादी बौद्ध परम्परा में इस अवस्था की तुलना स्रोतापन्न अवस्था से की जा सकती है। जिस प्रकार औपशमिक एवं क्षायोपशमिक की अवस्था से सम्यक्मार्ग से पराङ्मुख होने की सम्भावना रहती है, उसी प्रकार स्रोतापन्न साधक भी मार्गच्युत हो सकता है। महायानी बौद्ध साहित्य में इस अवस्था की तुलना 'बोधि प्रणिधिचित्त' से की जा सकती है। जिस प्रकार चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आत्मा यथार्थ मार्ग को जानती है, उस पर चलने की भावना भी रखती है, लेकिन वास्तविक रूप में उस मार्ग पर चलना प्रारम्भ नहीं कर पाती, उसी प्रकार 'बोधि प्रणिधिचित्त' में भी यथार्थ मार्ग गमन की या लोकपरित्राण की भावना का उदय हो जाता है, लेकिन वह उस कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। आचार्य हरिभद्र ने सम्यक्दृष्टि अवस्था की तुलना महायान के बोधिसत्व के पद से की है।[१] बोधिसत्व का साधारण अर्थ है—ज्ञान-प्राप्ति का इच्छुक।[२] इस अर्थ में बोधिसत्व सम्यक्दृष्टि से तुलनीय है, लेकिन यदि बोधिसत्व के लोक-कल्याण के आदर्श को सामने रखकर तुलना की जाय तो बोधिसत्व पद उस सम्यक्दृष्टि आत्मा से तुलनीय है जो तीर्थंकर होनेवाला है।[३]

---

१. योगबिन्दु, २७०। २. बोधिपंजिका, पृ० ४२१, उद्धृत बौद्धदर्शन, पृ० ११९।
३. योगबिन्दु, २७३—२७४।

५. देशविरति सम्यक्दृष्टि गुणस्थान

वैसे यह आध्यात्मिक विकास की पाँचवीं श्रेणी है, लेकिन नैतिक आचरण की दृष्टि से यह प्रथम स्तर ही है, जहाँ से साधक नैतिकता के पथ पर चलना प्रारम्भ करता है। चतुर्थ अविरत सम्यक्दृष्टि गुणस्थान में साधक कर्तव्याकर्तव्य का विवेक रखते हुए भी कर्तव्य पथ पर आरूढ़ नहीं हो पाता जबकि इस पाँचवें देशविरति सम्यक्दृष्टि गुणस्थान में साधक कर्तव्यपथ पर यथाशक्ति चलने का प्रारम्भिक प्रयास प्रारम्भ कर देता है। इसे देशविरति सम्यक्दृष्टि गुणस्थान कहा जा सकता है। देशविरति का अर्थ है– वासनामय जीवन से आंशिक रूप में निवृत्ति। हिंसा, झूठ, परस्त्रीगमन आदि अशुभाचार तथा क्रोध लोभ आदि कषायों से आंशिक रूप में विरत होना ही देशविरति है। इस गुणस्थान में साधक यद्यपि गृहस्थाश्रमी रहता है, फिर भी वासनाओं पर थोड़ा-बहुत यथाशक्ति नियंत्रण करने का प्रयास करता है। जिसे वह उचित समझता है उस पर आचरण करने की कोशिश भी करता है। इस गुणस्थान में स्थित साधक श्रावक के १२ व्रतों का आचरण करता है।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती में व्यक्तियों में वासनाओं एवं कषायों के आवेगों का प्रकटन तो होता है और वे उन पर नियंत्रण करने की क्षमता नहीं रखते हैं, मात्र उनकी वासनाओं एवं कषायों में स्थायित्व नहीं होता। वे एक अवधि के पश्चात् उपशान्त हो जाती हैं। जैसे तृणपुंज में अग्नि तीव्रता से प्रज्वलित होती है और उस पर काबू पाना भी कठिन होता है, फिर भी एक समय के पश्चात् वह स्वयं ही उपशान्त हो जाती है। किन्तु जब तक व्यक्ति में कषायों पर नियंत्रण की क्षमता नहीं आ जाती, तब तक वह पाँचवें गुणस्थान को प्राप्त नहीं कर सकता है। इस गुणस्थान की प्राप्ति के लिए अप्रत्याख्यानी (अनियंत्रणीय) कषायों का उपशान्त होना आवश्यक है। जिस व्यक्ति में वासनाओं एवं कषायों, पर नियंत्रण करने की क्षमता नहीं होती वह नैतिक आचरण नहीं कर सकता। इसी कारण नैतिक आचरण की इस भूमिका में वासनाओं एवं कषायों पर आंशिक नियंत्रण की क्षमता का विकास होना आवश्यक समझा गया। पंचम गुणस्थानवर्ती साधक साधना-पथ पर फिसलता तो है, लेकिन उसमें संभलने की क्षमता भी होती है। यदि साधक प्रमाद के वशीभूत न हो और फिसलने के अवसरों पर इस क्षमता का समुचित उपयोग करता रहे तो वह विकास-क्रम में आगे बढ़ता जाता है, अन्यथा प्रमाद के वशीभूत होने पर इस क्षमता का समुचित उपयोग न कर पाने के कारण अपने स्थान से गिर भी सकता है। ऐसे साधक के लिए यह आवश्यक है कि क्रोधादि कषायों का आन्तरिक एवं बाह्य अभिव्यक्ति होने पर उनका नियंत्रण करे एवं अपनी मानसिक विकृति का परिशोधन एवं विशुद्धिकरण करे। जो व्यक्ति चार मास के अन्दर उनका परिशोधन तथा परिमार्जन नहीं कर लेता, वह इस श्रेणी से गिर जाता है।

६. प्रमत्त सर्वविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—

(प्रमत्त-संयत गुणस्थान)–यथार्थ बोध के पश्चात् जो साधक हिंसा, झूठ, मैथुन आदि अनैतिक आचरण से पूरी तरह निवृत्त होकर नैतिकता के मार्ग पर दृढ़ कदम रखकर बढ़ना चाहते हैं, वे इस वर्ग में आते हैं। यह गुणस्थान सर्वविरति गुणस्थान कहा जाता है, अर्थात् इस गुणस्थान में स्थित साधक अशुभाचरण अथवा नैतिक आचरण से पूर्ण-रूपेण विरत हो जाता है। ऐसे साधक में क्रोधादि कषायों की बाह्य अभिव्यक्ति का भी अभाव-सा होता है, यद्यपि आन्तरिक रूप में एवं बीज रूप में वे बनी रहती हैं। उदाहरण के रूप में क्रोध के अवसर पर ऐसा साधक बाह्य रूप से तो शान्त बना रहता है, तथा क्रोध को बाहर अभिव्यक्त भी नहीं होने देता और इस रूप में वह उस पर नियंत्रण भी करता है, फिर भी क्रोधादि कषाय वृत्तियाँ उनके अन्तर-मानस को झकोरती रहती हैं, ऐसी दशा में भी साधक अशुभाचरण और अशुभ मनोवृत्तियों पर पूर्णतः विजय प्राप्त करने के लिए दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ने का प्रयास करता रहता है। जब-जब वह कषायादि प्रमादों पर अधिकार कर लेता है तब-तब वह आगे की श्रेणी (अप्रमत्त संयत गुणस्थान) में चला जाता है और जब-जब कषाय आदि प्रमाद उस पर हावी होते हैं तब-तब वह उस आगे की श्रेणी से पुनः लौटकर इस श्रेणी में आ जाता है। वस्तुतः यह उन साधकों का विश्रान्तिस्थल है जो साधना पथ पर प्रगति तो करना चाहते हैं, लेकिन यथेष्ट शक्ति के अभाव में आगे बढ़ नहीं पाते, अतः इस वर्ग में रहकर विश्राम करते हुए शक्ति संचय करते हैं। इस प्रकार यह गुणस्थान अशुभाचरण से अधिकांश रूप में विरति है। इसमें अशुभ मनोवृत्तियों को क्षीण करने का भरसक प्रयास किया जाता है। इस अवस्था में प्रायः आचरण शुद्धि तो हो जाती है, लेकिन विचार (भाव) शुद्धि का प्रयास चलता रहता है।

इस गुणस्थानवर्ती साधक साधनापथ में परिचारण करते हुए आगे बढ़ना तो चाहता है, लेकिन प्रमाद उसमें अवरोधक बना रहता है। ऐसे साधकों को साधना के लक्ष्य का भान तो रहता है, लेकिन लक्ष्य के प्रति जिस सतत जागरूकता की अपेक्षा है उसका उनमें अभाव होता है।

श्रमण छठे और सातवें गुणस्थान के मध्य परिचारण करते रहते हैं। गमनागमन, भाषण, आहार, निद्रा आदि जैविक आवश्यकताओं एवं इन्द्रियों की अपने विषय की ओर चंचलता के कारण जब-जब वे लक्ष्य के प्रति सतत जागरूकता नहीं रख पाते तब-तब वे इस गुणस्थान में आ जाते हैं और पुनः लक्ष्य के प्रति जागरूक बनकर सातवें गुणस्थान में चले जाते हैं। वस्तुतः इस गुणस्थान में रहने का कारण देहभाव होता है। जब भी साधक में देहभाव आता है, वह सातवें से इस छठे गुणस्थान में आ जाता है। फिर भी इस गुणस्थानवर्ती आत्मा में मूर्च्छा या आसक्ति नहीं होती।

गुणस्थान में आने के लिए साधक को मोह-कर्म की १५ प्रकृतियों का क्षय, उपशम, क्षयोपशम करना होता है।

१. स्थायी प्रबलतम (अनन्तानुबंधी) क्रोध, मान, माया और लोभ	४
२. अस्थायी किन्तु अनियंत्रणीय (अप्रत्याख्यानी) क्रोध, मान, माया और लोभ	४
३. नियंत्रणीय (प्रत्याख्यानी) क्रोध, मान, माया और लोभ	४
४. मिथ्यात्वमोह, मिश्र मोह और सम्यक्त्व मोह	३

इस अवस्था में आत्मकल्याण के साथ लोक-कल्याण की भावना और तदनुकूल प्रवृत्ति भी होती है। यहाँ आत्मा पुद्गलासक्ति या कर्तृत्व भाव का त्याग कर विशुद्ध ज्ञाता एवं दृष्टा के स्वस्वरूप में अवस्थिति का प्रयास तो करती है, लेकिन देह-भाव या प्रमाद अवरोध उपस्थित करता रहता है, अतः इस अवस्था में पूर्ण आत्म-जागृति सम्भव नहीं होती है, इसलिए साधक को प्रमाद के कारणों का उन्मूलीकरण या उपशमन करना होता है और जब वह उसमें सफल हो जाता है तो विकास की अग्रिम श्रेणी में प्रविष्ट हो जाता है।

७. अप्रमत्त-संयत गुणस्थान

आत्म-साधना में सजग, वे साधक इस वर्ग में आते हैं, जो देह में रहते हुए भी देहातीतभाव से युक्त हो आत्मस्वरूप में रमण करते हैं और प्रमाद पर नियन्त्रण कर लेते हैं। यह पूर्ण सजगता की स्थिति है। साधक का ध्यान अपने लक्ष्य पर केन्द्रित रहता है, लेकिन यहाँ पर दैहिक उपाधियाँ साधक का ध्यान विचलित करने का प्रयास करती रहती हैं। कोई भी सामान्य साधक ४८ मिनिट से अधिक देहातीत भाव नहीं रह पाता। दैहिक उपाधियाँ उसे विचलित कर देती हैं, अतः इस गुणस्थान में साधक का निवास अल्पकालिक ही होता है। इस श्रेणी में कोई भी साधक एक अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनिट) से अधिक नहीं रह पाता है। इसके पश्चात् भी यदि वह देहातीतभाव में रहता है तो विकास की अग्रिम श्रेणियों की ओर प्रस्थान कर जाता है या देहभाव की जागृति होने पर लौटकर पुनः नीचे के छठे दर्जे में चला जाता है। अप्रमत्त-संयत गुणस्थान में साधक समस्त प्रमाद के अवसरों (जिनकी संख्या ३७५०० मानी गयी है)[1] से बचता है।

सातवें गुणस्थान में आत्मा अनैतिक आचरण की सम्भावनाओं को समूल नष्ट करने के लिए शक्ति-संचय करती है। यह गुणस्थान नैतिकता और अनैतिकता के मध्य होने वाले संघर्ष की पूर्व तैयारी का स्थान है। साधक अनैतिक जीवन के कारणों की शत्रु-सेना के सम्मुख युद्धभूमि में पूरी सावधानी एवं जागरुकता के साथ डट जाता है। अग्रिम गुणस्थान उसी संघर्ष की अवस्था के द्योतक हैं। आठवाँ गुणस्थान संघर्ष के उस रूप

---

१. २५ विकथाएँ, २५ कषाय और नोकषाय, ६ मन सहित पाँचों इन्द्रियाँ, ५ निद्राएँ, २ राग और द्वेष, इन सबके गुणनफल से यह ३७५०० की संख्या बनती है।

को सूचित करता है जिसमें प्रवल शक्ति के साथ शत्रु सेना के राग द्वेष आदि सेना प्रमुखों के साथ ही साथ वासनारूपी शत्रु-सेना को भी वहुत कुछ जीत लिया जाता है। नवें गुणस्थान में अवशिष्ट वासनारूपी शत्रु-सेना पर भी विजय प्राप्त कर ली जाती है, फिर भी उनका राजा (सूक्ष्म लोभ) छद्मरूप से बच निकलता है। दसवें गुणस्थान में उस पर विजय पाने का प्रयास किया जाता है। लेकिन यह विजय यात्रा दो रूपों में चलती है। एक तो वह जिसमें शत्रु-सेना को नष्ट करते हुए आगे बढ़ा जाता है, दूसरी वह जिसमें शत्रु-सेना के अवरोध को दूर करते हुए प्रगति की जाती है। दूसरी अवस्था में शत्रु-सैनिकों को पूर्णतः विनष्ट नहीं किया जाता, मात्र उनके अवरोध को समाप्त कर दिया जाता है, वे तितर-बितर कर दिये जाते हैं, जिन्हें जैन पारिभाषिक शब्दावली में क्रमशः क्षायिक श्रेणी और उपशम श्रेणी कहा जाता है। क्षायिक श्रेणी में मोह कषाय एवं वासनाओं को निर्मूल करते हुए आगे बढ़ा जाता है, जबकि उपशम श्रेणी में उनको निर्मूल नहीं किया जाता, मात्र उन्हें दमित कर दिया जाता है। लेकिन यह दूसरे प्रकार की विजय-यात्रा अहितकर ही सिद्ध होती है। वे वासनारूपी शत्रु सैनिक समय पाकर एकत्र हो उस विजेता पर उस वक्त हमला बोल देते हैं जबकि विजेता विजय के वाद की विश्रान्ति की दशा में होता है और उसे पराजित कर उस पर अपना अधिकार जमा लेते हैं। यह ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती उपशान्त मोह की अवस्था है, जहाँ से साधक पुनः पतित हो जाता है। लेकिन जो विजेता शत्रु-सेना को निर्मूल करता हुआ आगे बढ़ता है, उसकी विजय के बाद की विश्रान्ति उसके अग्रिम विकास का कारण बनती है। इस अवस्था को क्षीण-मोह नामक बारहवाँ गुणस्थान कहा जाता है। इस प्रकार सातवें गुणस्थान के वाद साधक की विजय यात्रा दो रूपों में चलती है।

८. अपूर्वकरण

यह आध्यात्मिक साधना की एक विशिष्ट अवस्था है। इस अवस्था में कर्मावरण के काफी हलका हो जाने के कारण आत्मा एक विशिष्ट प्रकार के आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति करती है। ऐसी अनुभूति पूर्व में कभी नहीं हुई होती है, अतः यह अपूर्व कही जाती है। इस अवस्था में साधक अधिकांश वासनाओं से मुक्त होता है। मात्र बीजरूप (संज्वलन) माया और लोभ ही शेष रहते हैं। शेष अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी और अप्रत्याख्यानी कषायों की तीनों चौकड़ियाँ तथा संज्वलन की चौकड़ी में से भी संज्वलन क्रोध एवं संज्वलन मान भी या तो क्षीण हो जाते हैं अथवा दमित (उपशमित) कर दिये जाते हैं और इस प्रकार साधक वासनाओं से काफी ऊपर उठ जाता है। अतः न केवल वह एक आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति करता है, वरन् उसमें एक प्रकार की आत्मशक्ति का प्रकटन भी हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वह पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति और तीव्रता को कम कर सकता है और साथ ही उसके नवीन कर्मों का बंध भी

अल्पकालिक एवं अल्पमात्रा में हो होता है। इस अवसर का लाभ उठाकर इस अवस्था में साधक उस प्रकटित आत्मशक्ति के द्वारा पूर्वबद्ध कर्मों की कालस्थिति एवं तीव्रता को कम करता है तथा कर्म-वर्गणाओं को ऐसे क्रम में रख देता है जिसके फलस्वरूप उनका समय के पूर्व ही फलभोग किया जा सके। साथ ही वह अशुभ फल देनेवाली कर्म-प्रकृतियों को शुभ फल देनेवाली कर्म-प्रकृतियों में परिवर्तित करता है एवं उनका मात्र अल्पकालीन बंध करता है। इस प्रक्रिया को जैन पारिभाषिक शब्दों में १. स्थितिघात, २. रसघात, ३. गुण-श्रेणी, ४. गुण-संक्रमण और ५. अपूर्व स्थिति बंध कहा जाता है और यह समस्त प्रक्रिया 'अपूर्वकरण' के नाम से जानी जाती है। इस गुणस्थान का यह नामकरण इसी अपूर्वकरण नामक प्रक्रिया के आधार पर हुआ है। बंधनों से बँधा हुआ कोई व्यक्ति उन बंधनों में से अधिकांश के जीर्ण-शीर्ण हो जाने पर प्रसन्नता का अनुभव करता है। साथ ही पहले वह जहाँ अपनी स्वशक्ति से उन बंधनों को तोड़ने में असमर्थ था, वहीं अब वह अपनी स्वशक्ति से उन शेष रहे हुए बंधनों को तोड़ने की कोशिश करता है और बंधन-मुक्ति की निकटता से प्रसन्न होता है। ठीक इसी प्रकार इस गुणस्थान में आने पर आत्मा कर्म रूप बंधनों का अधिकांश भाग में नाश हो जाने से एवं कषायों के विनष्ट होने से भावों की विशुद्धि रूप अपूर्व आनन्द की अनुभूति करता है तथा स्वतः ही शेष कर्मावरणों को नष्ट करने का सामर्थ्य अनुभव कर उनके नष्ट करने के प्रयास करता है। इस अवस्था में साधक मुक्ति को अपने अधिकारक्षेत्र की वस्तु मान लेता है। सदाचरण की दृष्टि से वस्तुतः सच्चे पुरुषार्थ भाव का प्रकटीकरण इसी अवस्था में होता है। यद्यपि जैन दर्शन नियति (देव) और पुरुषार्थ के सिद्धान्तों के सन्दर्भ में एकान्तिक दृष्टिकोण नहीं अपनाता है, फिर भी यदि पुरुषार्थ और नियति के प्राधान्य की दृष्टि से गुणस्थान-सिद्धान्त पर विचार किया जाय तो प्रथम से सातवें गुणस्थान तक की सात श्रेणियों में नियति की प्रधानता प्रतीत होती है और आठवें से चौदहवें गुणस्थान तक की सात श्रेणियों में पुरुषार्थ का प्राधान्य प्रतीत होता है। जैन परम्परा यह स्वीकार करती है कि यथाप्रवृत्तिकरण की पूर्व अवस्था तक जो कि सम्यक् आचरण को दृष्टि से सातवें गुणस्थान में होती है, नैतिक या चारित्रगत विकास मात्र गिरि-नदी-पाषाण न्याय से होता है। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि इस गुणस्थान तक आध्यात्मिक विकास में संयोग की ही प्रधानता रहती है। उसमें आत्मा का स्वतः का प्रयास सापेक्षतया अल्प ही होता है। आत्मा कर्मों की शृंखला तथा तज्जनित वासनाओं में इतनी बुरी तरह जकड़ी होती है कि उसे स्वशक्ति के उपयोग का अवसर ही प्राप्त नहीं होता है। यहाँ तक कर्म आत्मा को शासित करते हैं। लेकिन आठवें गुणस्थान से यह स्थित बदल जाती है। अपूर्वकरण की प्रक्रिया के द्वारा अब आत्मा कर्मों पर शासन करने लगती है। अन्तिम सात गुणस्थानों में कर्मों पर आत्मा का प्राधान्य होता है। दूसरे शब्दों में प्राणिविकास की चौदह श्रेणियों में प्रथम

सात श्रेणियों तक अनात्म का आत्म पर अधिशासन होता है और अन्तिम में सात श्रेणियों आत्मा का अनात्म पर अधिशासन होता है। गुणस्थान का सिद्धान्त आत्म और अनात्मा के व्यावहारिक संयोग की अवस्थाओं का निदर्शन है। विशुद्ध अनात्म और विशुद्ध आत्म दोनों ही उसके क्षेत्र से परे हैं। ऐसे किसी उपनिवेश की कल्पना कीजिए जिस पर किसी विदेशी जाति ने अनादिकाल से आधिपत्य कर रखा हो और वहाँ की जनता को गुलाम बना लिया हो—यही प्रथम गुणस्थान है। उस पराधीनता की अवस्था में ही शासक वर्ग के द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का लाभ उठा कर वहीं की जनता में स्वतन्त्रता की चेतना का उदय हो जाता है—यही चतुर्थ गुणस्थान है। बाद में वह जनता कुछ अधिकारों की माँग प्रस्तुत करती है और कुछ प्रयासों और परिस्थितियों के आधार पर उनकी यह माँग स्वीकृत होती है—यही पाँचवाँ गुणस्थान है। इसमें सफलता प्राप्त कर जनता अपने हितों की कल्पना के सक्रिय होने पर औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति का प्रयास करती है और संयोग उसके अनुकूल होने से उनकी वह माँग भी स्वीकृत हो जाती है—यह छठा गुणस्थान है। औपनिवेशक स्वराज्य की इस अवस्था में जनता पूर्ण स्वतन्त्रता-प्राप्ति का प्रयास करती है, उसके हेतु सजग होकर अपनी शक्ति का संचय करती है—यही सातवाँ गुणस्थान है। आगे वह अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता का उद्घोष करती हुई उन विदेशियों से संघर्ष प्रारम्भ कर देती है। संघर्ष की प्रथम स्थिति में यद्यपि उसकीशक्ति सीमित होती है और शत्रु-वर्ग भयंकर होता है, फिर भी अपने अद्भुत साहस और शौर्य से उसको परास्त करती है—यही आठवाँ गुणस्थान है। नवाँ गुणस्थान वैसा ही है जैसे युद्ध के बाद आन्तरिक अवस्था को सुधारने और छिपे हुए शत्रुओं का उन्मूलन किया जाता है।

९. अनिवृत्तिकरण (अनिवृत्ति बादर सम्पराय गुणस्थान)

आध्यात्मिक विकास के मार्ग पर गतिशील साधक जब कषायों में केवल बीजरूप सूक्ष्म लोभ (संज्वलन) को छोड़कर शेष सभी कषायों का क्षय या उपशमन कर देता है तथा उसके कामवासनात्मक भाव, जिन्हें जैन परिभाषा में 'वेद' कहते हैं, समूलरूपेण नष्ट हो जाते हैं, तब आध्यात्मिक विकास की यह अवस्था प्राप्त होती है। इस अवस्था में साधक में मात्र सूक्ष्म लोभ तथा हास्य, रति अरति, भय, शोक और घृणा के भाव शेष रहते हैं। ये भाव नोकषाय कहे जाते हैं। साधना की इस अवस्था में भी इन भावों या नोकषायों की समुपस्थिति से कषायों के पुनः उत्पन्नहोने की सम्भावना रहती है, क्योंकि उनके कारण अभी शेष हैं। यद्यपि साधक का उच्चस्तरीय आध्यात्मिक विकास हो जाने से यह सम्भावना भी अत्यल्प ही होती है।

१०. सूक्ष्म सम्पराय–

आध्यात्मिक साधना की इस अवस्था में साधक कषायों के कारणभूत हास्य, रति, अरति, भय, शोक और घृणा इन पूर्वोक्त ६ भावों को भी नष्ट (क्षय) अथवा दमित

(उपशान्त) कर देता है और उसमें मात्र सूक्ष्म लोभ शेष रहता है। जैन पारिभाषिक शब्दों में मोहनीय कर्म की २८ कर्म-प्रकृतियों में से २७ कर्म-प्रकृतियों के क्षय या उपशम हो जाने पर जब मात्र संज्वलन लोभ शेष रहता है तब साधक इस गुणस्थान में पहुँचता है। इस गुणस्थान को सूक्ष्म सम्पराय इसलिए कहा जाता है कि इसमें आध्यात्मिक पतन के कारणों में मात्र सूक्ष्म लोभ ही शेष रहता है। लोभ के सूक्ष्म अंश के रहने के कारण ही इसका नाम सम्पराय है। डाक्टर टाँटिया के शब्दों में आध्यात्मिक विकास की उच्चता में रहे हुए इस सूक्ष्मलोभ की व्याख्या अवचेतन रूप में शरीर के प्रति रहे हुए राग के अर्थ में की जा सकती है।[1]

११. उपशान्त-मोह गुणस्थान–

जब अध्यात्म-मार्ग का साधक पूर्व अवस्था में रहे हुए सूक्ष्म लोभ को भी उपशान्त कर देता है, तब वह इस विकास-श्रेणी पर पहुँचता है। लेकिन आध्यात्मिक विकास में अग्रसर साधक के लिए यह अवस्था बड़ी खतरनाक है। विकास की इस श्रेणी में मात्र वे ही आत्माएँ आती हैं जो वासनाओं का दमन कर या उपशम श्रेणी से विकास करती हैं। जो आत्माएँ वासनाओं को सर्वथा निर्मूल करते हुए क्षायिक की श्रेणी से विकास करती हैं, वे इस श्रेणी में न आकर सीधे बारहवें गुणस्थान में जाती हैं। यद्यपि यह नैतिक विकास की एक उच्चतम अवस्था है, लेकिन निर्वाण के आदर्श से संयोजित नहीं होने के कारण साधक का यहाँ से लौटना अनिवार्य हो जाता है। यह आत्मोत्कर्ष की वह अवस्था है, जहाँ से पतन निश्चित होता है। प्रश्न है, ऐसा क्यों होता है ? वस्तुतः नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास की दो विधियाँ हैं। एक क्षायिक विधि दूसरी उपशम विधि। क्षायिक विधि में वासनाओं एवं कषायों को नष्ट करते हुए आगे बढ़ा जाता है और उपशम विधि में उनको दबाकर आगे बढ़ा जाता है। एक तीसरी विधि इन दोनों के मेल से बनती है, जिसे क्षयोपशम विधि कहते हैं, जिसमें आंशिक रूप में वासनाओं एवं कषायों को नष्ट करके और आंशिक रूप में उन्हें दबाकर आगे बढ़ा जाता है। सातवें गुणस्थान तक तो साधक क्षायिक, औपशमिक अथवा उनके संयुक्त रूप क्षयोपशम विधि में से किसी एक द्वारा अपनी विकास यात्रा कर लेता है, लेकिन आठवें गुणस्थान से इन विधियों का तीसरा संयुक्त रूप समाप्त हो जाता है और साधक को क्षय और उपशम विधि में से किसी एक को अपनाकर आगे बढ़ना होता है। जो साधक उपशम विधि से वासनाओं एवं कषायों को दबाकर आगे बढ़ते हैं वे क्रमशः विकास करते हुए इस ग्यारहवीं उपशान्त मोह नामक श्रेणी में आते हैं। उपशम अथवा दमन के द्वारा आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास की यह अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था में वासनाओं एवं कषायों का पूर्ण निरोध हो जाता है। लेकिन उपशम या निरोध साधना का सच्चा मार्ग नहीं है। उसमें स्थायित्व नहीं होता। दुष्प्रवृत्तियाँ यदि नष्ट नहीं हुई हैं

१. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २७८।

तो उन्हें कितना ही दबाकर आगे बढ़ा जाये उनके प्रकटन को अधिक समय के लिए रोका नहीं जा सकता, वरन् जैसे-जैसे दमन बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उनके अधिक वेग से विस्फोटित होने की सम्भावना बढ़ती जाती है। यही कारण है कि जो साधक उपशम या दमन मार्ग से आध्यात्मिक विकास करता, है उसके पतन की सम्भावना निश्चित होती है। यह श्रेणी वासनाओं के दमन की पराकाष्ठा है, अतः उपशम या निरोध-मार्ग का साधक स्वल्पकाल (४८ मिनट) तक इस श्रेणी में रहकर निरुद्ध वासनाओं एवं कषायों के पुनः प्रकटन के फलस्वरूप नीचे गिर जाता है। आचार्य नेमीचन्द्र गोम्मटसार में लिखते हैं कि जिस प्रकार शरद् ऋतु में सरोवर का पानी मिट्टी के नीचे जम जाने से स्वच्छ दिखाई देता है, लेकिन उसकी निर्मलता स्थायी नहीं होती, मिट्टी के कारण समय आने पर वह पुनः मलिन हो जाता है, इसी प्रकार जो आत्माएँ मिट्टी के समान कर्ममल के दब जाने से नैतिक प्रगति एवं आत्म-शुद्धि की इस अवस्था को प्राप्त करती हैं वे एक समयावधि के पश्चात् पुनः पतित हो जाती है।[1] अथवा जिस प्रकार राख में दबी हुई अग्नि वायु के योग से राख के उड़ जाने पर पुनः प्रज्वलित होकर अपना काम करने लगती है, उसी प्रकार दमित वासनाएँ संयोग पाकर पुनः प्रज्वलित हो जाती हैं और साधक पुनः पतन की ओर चला जाता है। इस सम्बन्ध में गीता और जैनाचारदर्शन का मतैक्य है। दमन अथवा निरोध एक सीमा के पश्चात् अपना मूल्य खो देते हैं। गीता कहती है-दमन या निरोध से विषयों का निर्वतन तो हो जाता है, लेकिन विषयों का रस अर्थात् वैषयिक वृत्ति का निर्वतन नहीं होता। वस्तुतः उपशमन की प्रक्रिया में संस्कार निर्मूल नहीं होते हैं, संस्कारों के सर्वथा निर्मूल न होने से उनकी परम्परा समय पाकर पुनः प्रवृद्ध हो जाती है, । इसलिए कहा गया है कि उपशम श्रेणी या दमन के द्वारा आध्यात्मिक विकास करनेवाला साधक साधना के उच्चस्तर पर पहुँचकर भी पतित हो जाता हैं। यह ग्यारहवाँ गुणस्थान पुनः पतन का है।

१२. क्षीणमोह गुणस्थान–

जो साधक उपशम या दमन विधि से आगे बढ़ते हैं वे ११वें गुणस्थान तक पहुँच-कर पुनः पतित हो जाते हैं, लेकिन जो साधक क्षायिक विधि अर्थात् वासनाओं एवं कषायों का क्षय करते हुए, उन्हें निर्मूल करते हुए विकास करते हैं, वे १०वें गुणस्थान में रहे हुए अवशिष्ट सूक्ष्म लोभ को भी नष्ट कर सीधे १२वें गुणस्थान में आ जाते हैं। इस वर्ग में आनेवाला साधक मोह-कर्म की २८ प्रवृतियों को पूर्णरूपेण समाप्त कर देता है और इसी कारण इस गुणस्थान को क्षीणमोह गुणस्थान कहा गया है। यह नैतिक विकास की पूर्ण अवस्था है। यहाँ पहुँचने पर साधक के लिए कोई नैतिक कर्तव्य शेष नहीं रहता

---

१. गोम्मटसार, गाथा ६१।

है। उसके जीवन में नैतिकता और अनैतिकता के मध्य होनेवाला संघर्ष सदैव के लिए समाप्त हो जाता है, क्योंकि संघर्ष का कारण कोई भी वासना शेष नहीं रहती। उसकी समस्त वासनाएँ, समस्त आकांक्षाएँ क्षीण हो चुकी होती हैं। ऐसा साधक राग-द्वेष से भी पूर्णतः मुक्त हो जाता है, क्योंकि राग-द्वेष का कारण मोह समाप्त हो जाता है। इस नैतिक पूर्णता की अवस्था को यथाख्यातचारित्र कहते हैं। जैन विचारणा के अनुसार मोह-कर्म अष्टकर्मों में प्रधान है। यह बन्धन में डालनेवाले कर्मों की सेना का प्रधान सेनापति है। इसके परास्त हो जाने पर शेष कर्म भी भागने लग जाते हैं। मोह कर्म के नष्ट हो जाने के पश्चात् थोड़े ही समय में दर्शनावरण, ज्ञानावरण, अन्तराय ये तीनों कर्म भी नष्ट होने लगते हैं। क्षायिक मार्ग पर आरूढ़ साधक १०वें गुणस्थान के अन्तिम चरण में उस अवशिष्ट सूक्ष्म लोभांश को नष्ट कर इस १२वें गुणस्थान में आते हैं और एक अन्तर्मुहूर्त जितने अल्प काल तक इसमें स्थित रहते हुए इसके अन्तिम चरण में ज्ञानवरण, दर्शनावरण और अन्तराय नामक तीनों कर्मों के आवरणों को नष्ट कर अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तशक्ति से युक्त हो विकास की अग्रिम श्रेणी में चले जाते हैं।

विकास की इस श्रेणी में पतन का कोई भय ही नहीं रहता। व्यक्ति विकास की अग्रिम कक्षाओं में ही बढ़ता जाता है। यह नैतिक पूर्णता की अवस्था है और व्यक्ति जब यथार्थ नैतिक पूर्णता को प्राप्त कर लेता है तो आध्यात्मिक पूर्णता को भी उपलब्ध हो जाती है। विकास की शेष दो श्रेणियाँ उसी आध्यात्मिक पूर्णता की उपलब्धि से सम्बन्धित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन नैतिकता में आध्यात्मिकता, धर्म और नैतिकता तीनों अलग-अलग तथ्य न होकर एक दूसरे से संयोजित हैं। नैतिकता क्रिया है, आचरण है और आध्यात्मिकता उसकी उपलब्धि या फल है। विकास की यह अवस्था नैतिकता के जगत् से आध्यात्मिक के जगत् में संक्रमित होने की है। यहाँ नैतिकता की सीमा परिसमाप्त होती है और विशुद्ध आध्यात्मिकता का क्षेत्र प्रारम्भ हो जाता है।

१३. सयोगीकेवली गुणस्थान—

इस श्रेणी में आनेवाला साधक अब साधक नहीं रहता, क्योंकि उसके लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता। लेकिन उसे सिद्ध भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसकी आध्यात्मिक पूर्णता में अभी कुछ कमी है। अष्ट कर्मों में से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह और अन्तराय ये चार घाती कर्म तो क्षय हो ही जाते हैं, लेकिन चार अघाती कर्म शेष रहते हैं। आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय इन चार कर्मों के बने रहने के कारण आत्मा देह से अपने सम्बन्ध का परित्याग नहीं कर पाती। यहाँ बंधन के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद और योग इन पाँच कारणों में योग के अतिरिक्त शेष चार कारण तो समाप्त हो जाते हैं, लेकिन आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध बना रहने के कारण कायिक, वाचिक, और मानसिक व्यापार, जिन्हें जैन दर्शन में 'योग' कहा जाता है, होते रहते हैं। इस अवस्था

में मानसिक, वाचिक और कायिक क्रियाएँ होती हैं और उनके कारण बन्धन भी होता है, लेकिन कषायों के अभाव के कारण टिकाव नहीं होता। पहले क्षण में बन्ध होता है, दूसरे क्षण में उसका विपाक (प्रदेशोदय के रूप में) होता है और तीसरे क्षण में वे कर्म परमाणु निर्जरित हो जाते हैं। इस अवस्था में योगों के कारण होनेवाले बन्धन और विपाक की प्रक्रिया को कर्म-सिद्धान्त की मात्र औपचारिकता ही समझना चाहिए। इन योगों के अस्तित्व के कारण ही इस अवस्था को सयोगीकेवली गुणस्थान कहा जाता है। यह साधक और सिद्ध के बीच की अवस्था है। इस अवस्था में स्थित व्यक्ति को जैन-दर्शन में अर्हत्, सर्वज्ञ एवं केवली कहा जाता है। यह वेदान्त के अनुसार जीवनमुक्ति या सदेह-मुक्ति की अवस्था है।

१४. अयोगीकेवली गुणस्थान—

सयोगी केवली गुणस्थान में यद्यपि आत्मा आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त कर लेती है, फिर भी आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध बना रहने से शारीरिक उपाधियाँ तो लगी रहती हैं। प्रश्न होता है कि इन शारीरिक उपाधियों को समाप्त करने का प्रयास क्यों नहीं किया जाता? इसका एक उत्तर यह है कि १२वें गुणस्थान में साधक की सारी इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं, उसमें न जीने की कामना होती है, न मृत्यु की। वह शारीरिक उपाधियों को नष्ट करने का भी कोई प्रयास नहीं करता। दूसरे साधना के द्वारा उन्हीं कर्मों का क्षय हो सकता है जो उदय में नहीं आये हैं अर्थात् जिनका फल-विपाक प्रारम्भ नहीं हुआ है। जिन कर्मों का फलभोग प्रारम्भ हो जाता है उनको फल-भोग की मध्यावस्था में परिवर्तित या क्षीण नहीं किया जा सकता। वेदान्तिक विचारणा में भी यह तथ्य स्वीकृत है। लोकमान्य तिलक लिखते हैं—'जिन कर्म-फलों का उपभोग आरम्भ होने से यह शरीर एवं जन्म मिला उनके भोगे बिना छुटकारा नहीं है—प्रारब्ध-कर्मणा भोगादेव क्षय.।' नाम (शरीर), गोत्र एवं आयुष्य कर्म का विपाक साधक के जन्म से ही प्रारम्भ हो जाता है। साथ ही शरीर की उपस्थिति तक शारीरिक अनु-भूतियों (वेदनीय) का भी होना आवश्यक है। अतः पुरुषार्थ एवं साधना के द्वारा इनमें कोई परिवर्तन करना सम्भव नहीं। यही कारण है कि जीवन्मुक्त भी शारीरिक उपाधियों का निष्काम भाव से उनकी उपस्थिति तक भोग करता रहता है। लेकिन जब वह इन शारीरिक उपाधियों की समाप्ति को निकट देखता है तो शेष कर्मावरणों को समाप्त करने के लिए यदि आवश्यक हो तो प्रथम केवली समुद्घात करता है और तत्पश्चात् सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान के द्वारा मानसिक, वाचिक एवं कायिक व्यापारों का निरोध कर लेता है तथा समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान द्वारा निष्प्रकम्प स्थिति को प्राप्त करके शरीर त्याग कर निरुपाधि सिद्धि या मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस गुणस्थान का स्थितिकाल अत्यन्त अल्प होता है। जितना समय पाँच ह्रस्व स्वरों अ,

इ, उ, ऋ, ऌ, को मध्यम स्वर से उच्चारित करने में लगता है उतने ही समय तक इस गुणस्थान में आत्मा रहती है। यह गुणस्थान अयोग केवली गुणस्थान कहा जाता है, इसका अर्थ यह है कि इस अवस्था में समग्र कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार अर्थात् योग का पूर्णतः निरोध हो जाता है। वह योग संन्यास है, यही सर्वांगीण पूर्णता है, चरम आदर्श की उपलब्धि है। बाद की जो अवस्था है उसे जैन विचारकों ने मोक्ष, निर्वाण, शिवपद एवं निर्गुण-ब्रह्म-स्थिति कहा है।[1]

बौद्ध-साधना में आध्यात्मिक विकास की भूमियाँ

जैन और बौद्ध साधना पद्धतियों में निर्वाण एवं मुक्ति के स्वरूप को लेकर मतवैभिन्नय भले ही हो, फिर भी दोनों का आदर्श है निर्वाण की उपलब्धि। साधक जितना अधिक निर्वाण की भूमिका के समीप होता है, उतना ही अधिक आध्यात्मिक विकास की सीमा का स्पर्श करता है। जैन-परम्परा में आध्यात्मिक विकास की १४ भूमियाँ मानी गयी हैं। बौद्ध परम्परा में आध्यात्मिक विकास की इन भूमियों की मान्यता को लेकर उसके अपने ही सम्प्रदायों में मत-वैभिन्नय है। श्रावकयान अथवा हीनयान सम्प्रदाय, जिसका लक्ष्य वैयक्तिक निर्वाण अथवा अर्हत्-पद की प्राप्ति है, आध्यात्मिक विकास की चार भूमियाँ मानता है; जबकि महायान सम्प्रदाय, जिसका चरम लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति के द्वारा लोक-मंगल की साधना है, आध्यात्मिक विकास की दस भूमियाँ मानता है। यहाँ हम दोनों ही सम्प्रदायों के दृष्टिकोणों को देखने का प्रयास करेंगे।

हीनयान और आध्यात्मिक विकास–

प्राचीन बौद्ध धर्म में भी जैनधर्म के समान संसारी प्राणियों की दो श्रेणियाँ मानी गयी हैं—१. पृथक् जन या मिथ्यादृष्टि तथा २. आर्य या सम्यक्दृष्टि। मिथ्या-दृष्टित्व अथवा पृथक्जन अवस्था का काल प्राणी के अविकास का काल है। विकास का काल तो तभी प्रारम्भ होता है, जब साधक सम्यक् दृष्टिकोण को ग्रहण कर निर्वाणगामी मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है। फिर भी सभी पृथक् जन या मिथ्यादृष्टि प्राणी समान नहीं होते। उनमें तारतम्य होता है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनका दृष्टिकोण मिथ्या होने पर भी आचरण कुछ सम्यक् प्रकार का होता है तथा वे यथार्थ दृष्टि के अतिनिकट होते हैं। अतः पृथक्जन भूमि को दो भागों में बाँटा गया है–१. प्रथम अंध पृथक्जन भूमि, यह अज्ञान एवं मिथ्या दृष्टित्व की तीव्रता की अवस्था है एवं २. कल्याण पृथक्जन भूमि। मज्झिम निकाय में इस भूमि का निर्देश है, जिसे धर्मानुसारी या श्रद्धानुसारी भूमि भी कहा गया है। इस भूमि में साधक निर्वाण-मार्ग की ओर अभिमुख तो होता है, लेकिन उसे प्राप्त नहीं करता। इसकी तुलना जैनधर्म में साधक की मार्गानुसारी

---

१. ज्ञानसार त्यागाष्टक (दर्शन और चिन्तन, भाग २, पृ० २७५ पर उद्धृत)।

अवस्था से की जा सकती है[1]। हीनयान सम्प्रदाय के अनुसार सम्यक्‌दृष्टिसम्पन्न निर्वाण-मार्ग पर आरूढ़ साधक को अपने लक्ष्य अर्हत् अवस्था को प्राप्त करने तक इन चार भूमियों (अवस्थाओं) को पार करना होता है– १. स्रोतापन्न भूमि, २. सकृदागामी भूमि, ३. आनागामी भूमि और ४. अर्हत् भूमि। प्रत्येक भूमि में दो अवस्थाएँ होती हैं– १. साधक की अवस्था या मार्गावस्था तथा २, सिद्धावस्था या फलावस्था।

१. स्रोतापन्न भूमि–स्रोतापन्न का शाब्दिक अर्थ होता है धारा में पड़नेवाला, अर्थात् साधक साधना अथवा कल्याणमार्ग के प्रवाह में गिरकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है। बौद्ध-विचारधारा के अनुसार जब साधक निम्न तीन संयोजनों (बंधनों) का क्षय कर देता है, तब वह इस अवस्था को प्राप्त करता है—१. सत्काय दृष्टि—देहात्म-बुद्धि अर्थात् शरीर को आत्मा मानना, उसके प्रति ममत्व या मेरापन रखना (स्वकाये दृष्टिः—चन्द्रकीर्ति)(२) विचिकित्सा—सन्देहात्मकता तथा (३)शीलव्रत परामर्श—अर्थात् व्रत उपवास आदि में आसक्ति। दूसरे शब्दों में मात्र कर्मकाण्ड के प्रति रुचि। इस प्रकार जब साधक दार्शनिक मिथ्या दृष्टिकोण (सत्कायदृष्टि) एवं कर्मकाण्डात्मक मिथ्यादृष्टिकोण (शीलव्रत परामर्श) का त्याग कर सर्व प्रकार के संशयों (विचिकित्सा) की अवस्था को पार कर जाता है, तब वह इस स्रोतापन्न भूमि पर आरूढ़ हो जाता है। दार्शनिक एवं कर्मकाण्डात्मक मिथ्या दृष्टिकोणों एवं सन्देहशीलता के समाप्त हो जाने के कारण इस भूमि से पतन की सम्भावना नहीं रहती है और साधक निर्वाण की दिशा में अभिमुख हो आध्यात्मिक दिशा में प्रगति करता है। स्रोतापन्न साधक निम्न चार अंगों से सम्पन्न होता है–

१. बुद्धानुस्मृति–बुद्ध में निर्मल श्रद्धा से युक्त होता है।
२. धर्मानुस्मृति–धर्म में निर्मल श्रद्धा से युक्त होता है।
३. संघानुस्मृति–संघ में निर्मल श्रद्धा से युक्त होता है।
४. शील एवं समाधि से युक्त होता है।

स्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त साधक विचार (दृष्टिकोण) एवं आचार दोनों से शुद्ध होता है। जो साधक इस स्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त कर लेता है, वह अधिक से अधिक सात जन्मों में निर्वाण-लाभ कर ही लेता है।

जैन-विचारधारा के अनुसार क्षायिक-सम्यक्त्वसे युक्त चतुर्थसम्यक्‌दृष्टि गुणस्थान से सातवें अप्रमत्त-संयतगुणस्थान तक की जो अवस्थाएँ हैं, उनकी तुलना स्रोतापन्न अवस्था से की जा सकती है, क्योंकि जैन-विचारधारा के अनुसार भी इन अवस्थाओं में साधक दर्शन (दृष्टिकोण) विशुद्धि एवं चारित्र (आचार) विशुद्धि से युक्त होता है। इन अवस्थाओं में सातवें गुणस्थान तक वासनाओं का प्रकटन तो समाप्त हो जाता है लेकिन उनके बीज (राग-द्वेष एवं मोह) सूक्ष्म रूप में बने रहते हैं अर्थात् कषायों के तीनों चौक समाप्त

---

१. पं० सुखलालजी ने भी इसे मार्गानुसारी अवस्था से तुलनीय माना है।

होकर मात्र संज्वलन चौक शेष रहता है। जैन परम्परा की इसी बात को बौद्ध परम्परा यह कहकर प्रकट करती है कि स्रोतापन्न अवस्था में कामधातु (वासनाएँ) तो समाप्त हो जाती हैं, लेकिन रूपधातु (आस्रव अर्थात् राग-द्वेष एवं मोह) शेष रहती है।

२. **सकृदागामी भूमि**—इस भूमि में साधना का मुख्य लक्ष्य 'आस्रव-क्षय' ही होता है। सकृदागामी भूमि के अन्तिम चरण में साधक पूर्ण रूप से कामराग (वासनाएँ) और प्रतिघ (द्वेष) को समाप्त कर देता है और अनागामी भूमि की दिशा में आगे बढ़ जाता है।

सकृदागामी भूमि की तुलना जैन-दर्शन के आठवें गुणस्थान से की जा सकती है। दोनों दृष्टिकोणों के अनुसार साधक इस अवस्था में बन्धन के मूल कारण राग-द्वेष-मोह का प्रहाण करता है और विकास की अग्रिम अवस्था, जिसे जैन धर्म क्षीण-मोह गुणस्थान और बौद्ध विचार अनागामी भूमि कहता है, में प्रविष्ट हो जाता है। जैनधर्म के अनुसार जो साधक इन गुणस्थानों की साधनावस्था में ही आयु पूर्ण कर लेता है, वह अधिक से अधिक तीसरे जन्म में निर्वाण प्राप्त कर लेता है, जब कि बौद्धधर्म के अनुसार सकृदागामी भूमि के साधनाकाल में मृत्यु को प्राप्त साधक एक बार ही पुनः संसार में जन्म ग्रहण करता है। दोनों विचारधाराओं का इस सन्दर्भ में मतैक्य है कि जो साधक इस साधना को पूर्ण कर लेता है वह अनागामी या क्षीणमोह गुणस्थान की भूमिका को प्राप्त कर उसी जन्म में अर्हत्व एवं निर्वाण की प्राप्ति कर लेता है।

३. **अनागामीभूमि**—जब साधक प्रथम स्रोतापन्न भूमि में सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा और शीलव्रत परामर्श इन तीनों संयोजनों तथा सकृदागामी भूमि में कामराग और प्रतिघ इन दो संयोजनों को, इस प्रकार पाँच भूभागीय संयोजनों को नष्ट कर देता है, तब वह अनागामी भूमि को प्राप्त हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्त साधक यदि विकास की दिशा में आगे नहीं बढ़ता है तो मृत्यु के प्राप्त होने पर ब्रह्मलोक में जन्म लेकर वहीं से सीधे निर्वाण प्राप्त करता है।

वैसे साधनात्मक दिशा में आगे बढ़नेवाले साधक का कार्य इस अवस्था में यह होता है कि वह शेष पाँच उड्ढभागीय संयोजन—१. रूप राग, २. अरूप राग, ३. मान, ४. औद्धत्य और ५. अविद्या के नाश का प्रयास करे। जब साधक इन पाँचों संयोजनों का भी नाश कर देता है, तब वह विकास की अग्रिम भूमिका अर्हतावस्था को प्राप्त करता है। जो साधक इस अग्रिम भूमि को प्राप्त करने के पूर्व ही साधनाकाल में मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, वे ब्रह्मलोक में जन्म लेकर वहाँ शेष पाँच संयोजनों के नष्ट हो जाने पर निर्वाण प्राप्त करते हैं। उन्हें पुनः इस लोक में जन्म लेने की आवश्यकता नहीं रहती। अनागामी भूमि की तुलना जैनों के क्षीणमोहगुणस्थान से की जा सकती है लेकिन यह तुलना अनागामी भूमि के उस अन्तिम चरण में ही समुचित होती है जब अनागामी भूमि का साधक दसों संयोजनों के नष्ट हो जाने पर आगे की अर्हत् भूमि में

अवस्था से की जा सकती है[1]। हीनयान सम्प्रदाय के अनुसार सम्यक्दृष्टिसम्पन्न निर्वाण-मार्ग पर आरूढ़ साधक को अपने लक्ष्य अर्हत् अवस्था को प्राप्त करने तक इन चार भूमियों (अवस्थाओं) को पार करना होता है– १. स्रोतापन्न भूमि, २. सकृदागामी भूमि, ३. आनागामी भूमि और ४. अर्हत् भूमि। प्रत्येक भूमि में दो अवस्थाएँ होती हैं– १. साधक की अवस्था या मार्गावस्था तथा २. सिद्धावस्था या फलावस्था।

१. स्रोतापन्न भूमि–स्रोतापन्न का शाब्दिक अर्थ होता है धारा में पड़नेवाला, अर्थात् साधक साधना अथवा कल्याणमार्ग के प्रवाह में गिरकर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है। बौद्ध-विचारधारा के अनुसार जब साधक निम्न तीन संयोजनों (बंधनों) का क्षय कर देता है, तब वह इस अवस्था को प्राप्त करता है–१. सत्काय दृष्टि–देहात्म-बुद्धि अर्थात् शरीर को आत्मा मानना, उसके प्रति ममत्व या मेरापन रखना (स्वकाये दृष्टिः–चन्द्रकीर्ति)(२) विचिकित्सा–सन्देहात्मकता तथा (३)शीलव्रत परामर्श–अर्थात् व्रत उपवास आदि में आसक्ति। दूसरे शब्दों में मात्र कर्मकाण्ड के प्रति रुचि। इस प्रकार जब साधक दार्शनिक मिथ्या दृष्टिकोण (सत्कायदृष्टि) एवं कर्मकाण्डात्मक मिथ्यादृष्टिकोण (शीलव्रत परामर्श) का त्याग कर सर्व प्रकार के संशयों (विचिकित्सा) की अवस्था को पार कर जाता है, तब वह इस स्रोतापन्न भूमि पर आरूढ़ हो जाता है। दार्शनिक एवं कर्मकाण्डात्मक मिथ्या दृष्टिकोणों एवं सन्देहशीलता के समाप्त हो जाने के कारण इस भूमि से पतन की सम्भावना नहीं रहती है और साधक निर्वाण की दिशा में अभिमुख हो आध्यात्मिक दिशा में प्रगति करता है। स्रोतापन्न साधक निम्न चार अंगों से सम्पन्न होता है–

१. बुद्धानुस्मृति–बुद्ध में निर्मल श्रद्धा से युक्त होता है।
२. धर्मानुस्मृति–धर्म में निर्मल श्रद्धा से युक्त होता है।
३. संघानुस्मृति–संघ में निर्मल श्रद्धा से युक्त होता है।
४. शील एवं समाधि से युक्त होता है।

स्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त साधक विचार (दृष्टिकोण) एवं आचार दोनों से शुद्ध होता है। जो साधक इस स्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त कर लेता है, वह अधिक से अधिक सात जन्मों में निर्वाण-लाभ कर ही लेता है।

जैन-विचारधारा के अनुसार क्षायिक-सम्यक्त्वसे युक्त चतुर्थसम्यक्दृष्टि गुणस्थान से सातवें अप्रमत्त-संयतगुणस्थान तक की जो अवस्थाएँ हैं, उनकी तुलना स्रोतापन्न अवस्था से की जा सकती है, क्योंकि जैन-विचारधारा के अनुसार भी इन अवस्थाओं में साधक दर्शन (दृष्टिकोण) विशुद्धि एवं चारित्र (आचार) विशुद्धि से युक्त होता है। इन अवस्थाओं में सातवें गुणस्थान तक वासनाओं का प्रकटन तो समाप्त हो जाता है लेकिन उनके बीज (राग-द्वेष एवं मोह) सूक्ष्म रूप में बने रहते हैं अर्थात् कषायों के तीनों चौक समाप्त

---

१. पं० सुखलालजी ने भी इसे मार्गानुसारी अवस्था से तुलनीय माना है।

होकर मात्र संज्वलन चौक शेष रहता है। जैन परम्परा की इसी बात को बौद्ध परम्परा यह कहकर प्रकट करती है कि स्रोतापन्न अवस्था में कामधातु (वासनाएँ) तो समाप्त हो जाती हैं, लेकिन रूपधातु (आस्रव अर्थात् राग-द्वेष एवं मोह) शेष रहती है।

२. **सकृदागामी भूमि**—इस भूमि में साधना का मुख्य लक्ष्य 'आस्रव-क्षय' ही होता है। सकृदागामी भूमि के अन्तिम चरण में साधक पूर्ण रूप से कामराग (वासनाएँ) और प्रतिघ (द्वेष) को समाप्त कर देता है और अनागामी भूमि की दिशा में आगे बढ़ जाता है।

सकृदागामी भूमि की तुलना जैन-दर्शन के आठवें गुणस्थान से की जा सकती है। दोनों दृष्टिकोणों के अनुसार साधक इस अवस्था में बन्धन के मूल कारण राग-द्वेष-मोह का प्रहाण करता है और विकास की अग्रिम अवस्था, जिसे जैन धर्म क्षीण-मोह गुणस्थान और बौद्ध विचार अनागामी भूमि कहता है, में प्रविष्ट हो जाता है। जैनधर्म के अनुसार जो साधक इन गुणस्थानों की साधनावस्था में ही आयु पूर्ण कर लेता है, वह अधिक से अधिक तीसरे जन्म में निर्वाण प्राप्त कर लेता है, जब कि बौद्धधर्म के अनुसार सकृदागामी भूमि के साधनाकाल में मृत्यु को प्राप्त साधक एक बार ही पुनः संसार में जन्म ग्रहण करता है। दोनों विचारधाराओं का इस सन्दर्भ में मतैक्य है कि जो साधक इस साधना को पूर्ण कर लेता है वह अनागामी या क्षीणमोह गुणस्थान की भूमिका को प्राप्त कर उसी जन्म में अर्हत्व एवं निर्वाण की प्राप्ति कर लेता है।

३. **अनागामीभूमि**—जब साधक प्रथम स्रोतापन्न भूमि में सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा और शीलव्रत परामर्श इन तीनों संयोजनों तथा सकृदागामी भूमि में कामराग और प्रतिघ इन दो संयोजनों को, इस प्रकार पाँच भूभागीय संयोजनों को नष्ट कर देता है, तब वह अनागामी भूमि को प्राप्त हो जाता है। इस अवस्था को प्राप्त साधक यदि विकास की दिशा में आगे नहीं बढ़ता है तो मृत्यु के प्राप्त होने पर ब्रह्मलोक में जन्म लेकर वहीं से सीधे निर्वाण प्राप्त करता है।

वैसे साधनात्मक दिशा में आगे बढ़नेवाले साधक का कार्य इस अवस्था में यह होता है कि वह शेष पाँच उड्डभागीय संयोजन—१. रूप राग, २. अरूप राग, ३. मान, ४. औद्धत्य और ५. अविद्या के नाश का प्रयास करे। जब साधक इन पाँचों संयोजनों का भी नाश कर देता है, तब वह विकास की अग्रिम भूमिका अर्हतावस्था को प्राप्त करता है। जो साधक इस अग्रिम भूमि को प्राप्त करने के पूर्व ही साधनाकाल में मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, वे ब्रह्मलोक में जन्म लेकर वहाँ शेष पाँच संयोजनों के नष्ट हो जाने पर निर्वाण प्राप्त करते हैं। उन्हें पुनः इस लोक में जन्म लेने की आवश्यकता नहीं रहती। अनागामी भूमि की तुलना जैनों के क्षीणमोहगुणस्थान से की जा सकती है लेकिन यह तुलना अनागामी भूमि के उस अन्तिम चरण में ही समुचित होती है जब अनागामी भूमि का साधक दसों संयोजनों के नष्ट हो जाने पर आगे की अर्हत् भूमि में

प्रस्थान करने की तैयारी में होता है। साधारण रूप में आठवें से बारहवें गुणस्थान तक की सभी अवस्थाएँ इस भूमि के अन्तर्गत् आती हैं।

४. **अर्हतावस्था**—जब साधक (भिक्षु) उपर्युक्त दसों संयोजनों या बन्धनों को तोड़ देता है, तब वह अर्हतावस्था को प्राप्त कर लेता है। सम्पूर्ण संयोजनों के समाप्त हो जाने के कारण वह कृतकार्य हो जाता है अर्थात् उसे कुछ करणीय नहीं रहता, यद्यपि वह संघ की सेवा के लिए क्रियाएँ करता है।[1] समस्त बन्धनों या संयोजनों के नष्ट हो जाने के कारण उसके समस्त क्लेशों या दुःखों का प्रहाण हो जाता है। वस्तुतः यह जीवन्मुक्ति की अवस्था है। जैन-विचारणा में इस अर्हतावस्था की तुलना सयोगीकेवली गुणस्थान से की जा सकती है। दोनों विचारधाराएँ इस भूमि के सम्बन्ध में काफी निकट हैं।

महायान और आध्यात्मिक विकास—

महायान सम्प्रदाय में दशभूमिशास्त्र के अनुसार आध्यात्मिक विकास की निम्न दस भूमियाँ (अवस्थाएँ) मानी गयी हैं—१. प्रमुदिता, २. विमला, ३. प्रभाकरी ४. अर्चिष्मती, ५. सुदुर्जया, ६. अभिमुक्ति, ७. दूरंगमा, ८. अचला, ९. साधुमति और १०. धर्ममेधा। हीनयान से महायान की ओर संक्रमण-काल में लिखे गये महावस्तु नामक ग्रन्थ में १. दुरारोहा, २. बद्धमान, ३. पुष्पमण्डिता, ४. रुचिरा ५. चित्त विस्तार ६. रूपमति, ७. दुर्जया, ८. जन्मनिदेश, ९. यौवराज और १०. अभिषेक नामक जिन दस भूमियों का विवेचन है, वे महायान की पूर्वोक्त दस भूमियों से भिन्न हैं। यद्यपि महायान का दस भूमियों का सिद्धान्त इसी मूलभूत धारणा के आधार पर विकसित हुआ है, तथापि महायान ग्रन्थों में कहीं दस से अधिक भूमियों का विवेचन मिलता है। असंग के महायान सूत्रालंकार में और लंकावतारसूत्र में इन भूमियों की संख्या ११ है। महायान सूत्रालंकार में प्रथम भूमि को अविमुक्ति चर्याभूमि कहा गया है और अन्तिम बुद्धभूमि या धर्ममेधा का भूमियों की संख्या में परिगणन नहीं किया गया है। इसी प्रकार लंकावतारसूत्र में धर्ममेधा और तथागत भूमियों (बुद्धभूमि) को अलग-अलग माना गया है।

१. **अधिमुक्तचर्याभूमि**—यों तो अन्य ग्रन्थों में प्रमुदिता को प्रथम भूमि माना गया है, लेकिन असंग प्रथम अधिमुक्त-चर्या भूमि का विवेचन करते हैं, तत्पश्चात् प्रमुदिता भूमि का अधिमुक्त चर्याभूमि में साधक को पुद्गल नैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य का अभिसमय (यथार्थज्ञान) होता है। यह दृष्टि-विशुद्धि की अवस्था है। इस भूमि की तुलना जैन-विचारधारा में चतुर्थ अविरत सम्यक्दृष्टि गुणस्थान से की जा सकती है। इसे बोधि-प्रणिधिचित्त की अवस्था कहा जा सकता है। बोधिसत्व इस भूमि में दान-पारमिता का अभ्यास करता है।

---

१. देखिए-विनयपिटक, चुल्लवग्ग, ४।४।

२. **प्रमुदिता**–इसमें अधिशील शिक्षा होती है। यह शीलविशुद्धि के प्रयास की अवस्था है। इस भूमि में बोधिसत्व लोकमंगल की साधना करता है। इसे बोधि प्रस्थान चित्त की अवस्था कहा जा सकता है। बोधिप्रणिधिचित्त मार्गज्ञान है, लेकिन बोधि प्रस्थानचित्त मार्ग में गमन की प्रक्रिया है। जैन परम्परा में इस भूमि की तुलना पंचम एवं षष्ठ विरताविरत एवं सर्वविरत सम्यक्दृष्टि नामक गुणस्थान से की जा सकती है। इस भूमि का लक्षण है कर्मों की अविप्रणाशव्यवस्था अर्थात् यह ज्ञान कि प्रत्येक कर्म का भोग अनिवार्य है, कर्म अपना फल दिये बिना नष्ट नहीं होता। बोधिसत्व इस भूमि में शील-पारमिता का अभ्यास करता है। वह अपने शील को विशुद्ध करता है, सूक्ष्म से सूक्ष्म अपराध भी नहीं करता। पूर्णशीलविशुद्धि की अवस्था में वह अग्रिम विमला विहार-भूमि में प्रविष्ट हो जाता है।

३. **विमला**–इस अवस्था में बोधिसत्व (साधक) अनैतिक आचरण से पूर्णतया मुक्त होता है। दुःखशीलता के मनोविकार का मल पूर्णतया नष्ट हो जाता है, इसलिए इसे विमला कहते हैं। यह आचरण की पूर्ण शुद्धि की अवस्था है। इस भूमि में बोधिसत्व शान्ति पारमिता का अभ्यास करता है। यह अधिचित्त शिक्षा है। इस भूमि का लक्षण है–ध्यान-प्राप्ति; इसमें अच्युत समाधि का लाभ होता है। जैन विचारणा में इस भूमि की तुलना अप्रमत्तसंयत गुणस्थान नामक सप्तम गुणस्थान से की जा सकती है।

४. **प्रभाकरी**–इस भूमि में अवस्थित साधक को समाधिबल से अप्रमाण धर्मों का अवभास या साक्षात्कार प्राप्त होता है एवं साधक बोधि पाक्षीय धर्मों की परिणामना लोकहितके लिए संसार में करता है अर्थात् वह बुद्ध का ज्ञानरूपी प्रकाश लोक में फैलाता है, इसलिए इस भूमि को प्रभाकरी कहा जाता है। यह भी जैनों के अप्रमत्तसंयत नामक सातवें गुणस्थान के समकक्ष है।

५. **अर्चिष्मती**–इस भूमि में क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का दाह होता है। आध्यात्मिक विकास की यह भूमि अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान से तुलनीय है, क्योंकि जिस प्रकार इस भूमि में साधक क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का दाह करता है, उसी प्रकार आठवें गुणस्थान में भी साधक ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों का रसघात एवं संक्रमण करता है, इसमें साधक वीर्य पारमिता का अभ्यास करता है।

६. **सुदुर्जया**—इस भूमि में सत्त्वपरिपाक अर्थात् प्राणियों के धार्मिक भावों को परिपुष्ट करते हुए एवं स्वचित्त की रक्षा करते हुए दुःख पर विजय प्राप्त की जाती है। यह कार्य अति दुष्कर होने से इस भूमि को 'दुर्जया' कहते हैं। इस भूमि में प्रतीत्यसमुत्पाद के साक्षात्कार के कारण भवापत्ति (ऊर्ध्व लोकों में उत्पत्ति) विषयक संक्लेशों से अनुरक्षण हो जाता है। बोधिसत्व इस भूमि में ध्यान पारमिता का अभ्यास करता है। इस भूमि की तुलना ८वें से ११वें गुणस्थान तक की अवस्था से की जा सकती है। जैन

और बौद्ध दोनों विचारणाओं के अनुसार साधना के विकास की यह अवस्था अत्यन्त ही दुष्कर होती है।

७. अभिमुखी–प्रज्ञापारमिता के आश्रय से बोधिसत्व (साधक) संसार और निर्वाण दोनों के प्रति अभिमुख होता है। यथार्थ प्रज्ञा के उदय से उसके लिए संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं होता। अब संसार उसके लिए बन्धक नहीं रहता। निर्वाण के अभिमुख होने से यह भूमि अभिमुखी कही जाती है। इस भूमि में प्रज्ञापारमिता की साधना पूर्ण होती है। चौथी, पाँचवीं और छठी भूमियों में अधिप्रज्ञा शिक्षा होती है अर्थात् प्रज्ञा का अभ्यास होता है, जो इस भूमि में पूर्णता को प्राप्त होता है। तुलना की दृष्टि से यह भूमि सूक्ष्म सम्पराय नामक बारहवें गुणस्थान की पूर्वावस्था के समान है।

८. दूरंगमा—इस भूमि में बोधिसत्व साधक एकान्तिक मार्ग अर्थात् शाश्वतवाद उच्छेदवाद आदि से बहुत दूर हो जाता है। ऐसे विचार उसके मन में उठते नहीं है। जैन परिभाषा में यह आत्मा की पक्षातिक्रान्त अवस्था है, संकल्पशून्यता है, साधना की पूर्णता है, जिसमें साधक को आत्म-साक्षात्कार होता है। बौद्ध-विचार के अनुसार भी इस अवस्था में बोधिसत्व की साधना पूर्ण हो जाती है। वह निर्वाण-प्राप्ति के सर्वथा योग्य हो जाता है। इस भूमि में बोधिसत्व का कार्य प्राणियों को निर्वाण-मार्ग में लगाना होता है। इस अवस्था में वह सभी पारमिताओं का पालन करता है एवं विशेष रूप से उपाय कौशल्य पारमिता का अभ्यास करता है। यह भूमि जैन-विचारणा के बारहवें गुणस्थान के अन्तिम चरण की साधना को अभिव्यक्त करती है, क्योंकि जैन विचारणा के अनुसार भी इस अवस्था में आकर साधक निर्वाण-प्राप्ति के सर्वथा योग्य होता है।

९. अचला—संकल्पशून्यता एवं विषयरहित अनिमित्त विहारी समाधि की उपलब्धि से यह भूमि अचल कहलाती है। विषयों के अभाव से चित्त संकल्पशून्य होता है और संकल्पशून्य होने से अविचल होता है, क्योंकि विचार एवं विषय ही चित्त की चंचलता के कारण होते हैं, जबकि इस अवस्था में उनका पूर्णतया अभाव होता है। चित्त के संकल्पशून्य होने से इस अवस्था में तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। यह भूमि तथा अग्रिम साधुमती और धर्ममेधा भूमि जैन-विचारधारा के सयोगीकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान के समकक्ष मानी जा सकती है।

१०. साधुमती—इस भूमि में बोधिसत्त्व का हृदय सभी प्राणियों के प्रति शुभ भावनाओं से परिपूर्ण होता है। इस भूमि का लक्षण है सत्वपाक अर्थात् प्राणियों के बोधिबीज को परिपुष्ट करना। इस भूमि में समाधि की विशुद्धता एवं प्रतिसंविन्मति (विश्लेषणात्मक अनुभव करनेवाली बुद्धि) की प्रधानता होती है। इस अवस्था में बोधिसत्त्व में दूसरे प्राणियों के मनोगत भावों को जानने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

११. **धर्ममेघा**—जैसे मेघ आकाश को व्याप्त करता है, वैसे ही इस भूमि में समाधि धर्माकाश व्याप्त कर लेती है। इस भूमि में बोधिसत्त्व दिव्य शरीर को प्राप्त कर रत्नजड़ित दैवीय कमल पर स्थित दिखाई देते हैं। यह भूमि जैनधर्म के तीर्थंकर के समवसरण-रचना के समान प्रतीत होती है।

आजीवक सम्प्रदाय एवं आध्यात्मिक विकास की अवधारणा[1]

बुद्ध और महावीर के समकालीन विचारक मंखली गोशालक के आजीवक सम्प्रदाय में आध्यात्मिक विकास की कोई अवधारणा अवश्य थी, जिसका उल्लेख 'मज्झिमनिकाय' की बुद्धघोष कृत सुमंगलविलासिनी टीका में मिलता है। बुद्धघोष ने आजीवक सम्प्रदाय की आध्यात्मिक विकास की आठ क्रमिक अवस्थाओं का उल्लेख किया है। ये आठ अवस्थाएँ निम्न हैं—

१. **मन्द**—बुद्धघोष के अनुसार जन्म से लेकर सात दिन तक यह 'मन्द-अवस्था' होती है किन्तु मेरी दृष्टि में 'मन्द-अवस्था' का अर्थ भिन्न ही होना चाहिए। यद्यपि वर्तमान में आजीवक सम्प्रदाय के ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, इसलिए इस सम्बन्ध में वास्तविक अर्थ बता पाना तो कठिन है। किन्तु यह भूमि जैन दर्शन के मिथ्यात्व गुणस्थान के समान ही होनी चाहिए, जिसमें प्राणी का आध्यात्मिक विकास कुण्ठित रहता है।

२. **खिड्डा**—बुद्धघोष ने इसे बालक की रुदन और हास्य मिश्रित क्रीड़ा की अवस्था माना है। किन्तु मेरी दृष्टि में यह अवस्था जैन परम्परा के अविरत सम्यक्दृष्टि गुण-स्थान के समान होना चाहिए, जिसमें साधक आत्मरमण या आध्यात्मिक क्रीड़ा की अवस्था में रहता है।

३. **पदवीमांसा**—बुद्धघोष के अनुसार जिस प्रकार बालक माता-पिता के हाथ का सहारा लेकर चलने का प्रयास करता है उसी प्रकार इस अवस्था में साधक गुरु का आश्रय लेकर साधना के क्षेत्र में अपना कदम रखता है। इसे हम जैन दर्शन के पाँचवें विरत सम्यक्दृष्टि गुणस्थान के समकक्ष मान सकते हैं। पदवीमांसा का अर्थ है कदम रखना, अतः यह आध्यात्मिक क्षेत्र में कदम रखना है।

४. **ऋजुगत**—बुद्धघोप ने यह माना है कि जब बालक पैरों पर बिना सहारे के चलने लगता है तब ऋजुगत अवस्था होती है। किन्तु मेरी दृष्टि में यह गृहस्थ साधना में ही एक आगे बढ़ा हुआ चरण है, जिसमें साधक स्वतन्त्र रूप से आध्यात्मिक साधना में आगे बढ़ता है। जैन परम्परा में जो श्रावक प्रतिमाओं की भूमि है, सम्भवत. यह वैसी ही कोई अवस्था है।

---

१. दर्शन और चिन्तन (गुजराती), पृ० १०२२।

और बौद्ध दोनों विचारणाओं के अनुसार साधना के विकास की यह अवस्था अत्यन्त ही दुष्कर होती है।

७. **अभिमुखी**–प्रज्ञापारमिता के आश्रय से बोधिसत्व (साधक) संसार और निर्वाण दोनों के प्रति अभिमुख होता है। यथार्थ प्रज्ञा के उदय से उसके लिए संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं होता। अब संसार उसके लिए बन्धक नहीं रहता। निर्वाण के अभिमुख होने से यह भूमि अभिमुखी कही जाती है। इस भूमि में प्रज्ञापारमिता की साधना पूर्ण होती है। चौथी, पाँचवीं और छठी भूमियों में अधिप्रज्ञा शिक्षा होती है अर्थात् प्रज्ञा का अभ्यास होता है, जो इस भूमि में पूर्णता को प्राप्त होता है। तुलना की दृष्टि से यह भूमि सूक्ष्म सम्पराय नामक बारहवें गुणस्थान की पूर्वावस्था के समान है।

८. **दूरंगमा**—इस भूमि में बोधिसत्व साधक एकान्तिक मार्ग अर्थात् शाश्वतवाद उच्छेदवाद आदि से बहुत दूर हो जाता है। ऐसे विचार उसके मन में उठते नहीं है। जैन परिभाषा में यह आत्मा की पक्षातिक्रान्त अवस्था है, संकल्पशून्यता है, साधना की पूर्णता है, जिसमें साधक को आत्म-साक्षात्कार होता है। बौद्ध-विचार के अनुसार भी इस अवस्था में बोधिसत्व की साधना पूर्ण हो जाती है। वह निर्वाण-प्राप्ति के सर्वथा योग्य हो जाता है। इस भूमि में बोधिसत्व का कार्य प्राणियों को निर्वाण-मार्ग में लगाना होता है। इस अवस्था में वह सभी पारमिताओं का पालन करता है एवं विशेष रूप से उपाय कौशल्य पारमिता का अभ्यास करता है। यह भूमि जैन-विचारणा के बारहवें गुणस्थान के अन्तिम चरण की साधना को अभिव्यक्त करती है, क्योंकि जैन विचारणा के अनुसार भी इस अवस्था में आकर साधक निर्वाण-प्राप्ति के सर्वथा योग्य होता है।

९. **अचला**—संकल्पशून्यता एवं विषयरहित अनिमित्त विहारी समाधि की उपलब्धि से यह भूमि अचल कहलाती है। विषयों के अभाव से चित्त संकल्पशून्य होता है और संकल्पशून्य होने से अविचल होता है, क्योंकि विचार एवं विषय ही चित्त की चंचलता के कारण होते हैं, जबकि इस अवस्था में उनका पूर्णतया अभाव होता है। चित्त के संकल्पशून्य होने से इस अवस्था में तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है। यह भूमि तथा अग्रिम साधुमती और धर्ममेधा भूमि जैन-विचारधारा के सयोगीकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान के समकक्ष मानी जा सकती है।

१०. **साधुमती**—इस भूमि में बोधिसत्त्व का हृदय सभी प्राणियों के प्रति शुभ भावनाओं से परिपूर्ण होता है। इस भूमि का लक्षण है सत्वपाक अर्थात् प्राणियों के बोधिबीज को परिपुष्ट करना। इस भूमि में समाधि की विशुद्धता एवं प्रतिसंविन्मति (विश्लेषणात्मक अनुभव करनेवाली बुद्धि) की प्रधानता होती है। इस अवस्था में बोधिसत्त्व में दूसरे प्राणियों के मनोगत भावों को जानने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है।

दशा का प्रतिपादन है।[1] जिससे नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास को समझा जा सकता है। जब राजसगुण और सत्त्वगुण को दबाकर तमोगुण हावी होता है, तो जीवन में निष्क्रियता एवं जड़ता बढ़ती है। प्राणी परिवेश के सम्मुख झुकता रहता है। यह अविकास की अवस्था है। जब सत्त्व और तम को दबाकर राजस प्रधान होता है तो जीवन में अनिश्चयता, तृष्णा और लालसा बढ़ती है। इसमें अन्ध एवं आवेशपूर्ण प्रवृत्तियों का बाहुल्य होता है, यह अनिश्चय की अवस्था है। यह दोनों ही अविकास की सूचक हैं। जब रजस् और तमस् को दबाकर सत्त्व प्रबल होता है तो जीवन में ज्ञान का प्रकाश अलोकित होता है। जीवन यथार्थ आचरण की दिशा में बढ़ता है। यह विकास की भूमिका है। जब सत्त्व के ज्ञानप्रकाश में आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को पहचान लेती है, तो वह गुणातीत हो द्रष्टामात्र रह जाती है। इन गुणों की प्रवृत्तियों में उसकी ओर से मिलनेवाला सहयोग बन्द हो जाता है। त्रिगुण भी संघर्ष के लिए मिलनेवाले सहयोग के अभाव में संघर्ष से विरत हो साम्यावस्था में स्थित हो जाते हैं। तब सत्त्व ज्ञान-ज्योति बन जाता है। रजस् स्वस्वरूप में रमण बन जाता है और तमस् शान्ति का प्रतीक होता है। यह त्रिगुणातीत दशा ही आध्यात्मिक पूर्णता की अवस्था है। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों के आधार पर ही गीता में व्यक्तित्व, श्रद्धा, ज्ञान, बुद्धि कर्म, कर्ता आदि का त्रिविध वर्गीकरण है। प्रश्न यह उठता है कि हम गीता में इस त्रिगुणात्मकता की धारणा को ही नैतिक विकास-क्रम का आधार क्यों मानते हैं? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार जैन दर्शन में बन्धन का प्रमुख कारण मोह कर्म है और उसके दो भेद दर्शन मोह और चारित्र मोह के आवरणों की तारतम्यता के आधार पर प्रमुख रूप से नैतिक विकास की कक्षाओं की विवेचना की जाती है, उसी प्रकार गीता के आचार दर्शन में बन्धन का मूल कारण त्रिगुण है।[2] गीता स्पष्ट रूप से कहती है कि सत्त्व, रज और तम इन गुणों से प्रत्युत्पन्न त्रिगुणात्मक भावों से मोहित होकर जगत् के जीव उस परम अव्यय परमात्मस्वरूप को नहीं जान पाते हैं।[3] अतः गीता की दृष्टि से नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास-क्रम की चर्चा करते समय इन गुणों को आधारभूत मानना पड़ता है। यद्यपि सभी गुण बन्धन हैं, तथापि उनमें तारतम्य है। जहाँ तमोगुण विकास में बाधक होता है, वहाँ सत्त्व गुण उसमें ठीक उसी प्रकार सहायक होता है, जिस प्रकार जैनदृष्टि में सम्यक्त्व मोह विकास में सहायक होता है। यदि हम नैतिक विकास दृष्टि से इस सिद्धान्त की चर्चा करना चाहते हैं तो हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि जिन नैतिक विवेचनाओं में भौतिक दृष्टिकोण के स्थान पर आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्वीकृत किया जाता है, उनमें नैतिक मूल्यांकन की दृष्टि से व्यक्ति का आचरण

---

१. गीता, १४।१०। २. गीता, १४।५।
३. गीता ७।१३।

५. **शैक्ष**—बुद्धघोष के अनुसार यह अवस्था शिल्प कला के अध्ययन की अवस्था है, जबकि मेरी दृष्टि में इसे बौद्ध परम्परा के श्रामणेर या जैन परम्परा के सामायिक-चारित्र जैसी भूमि के समकक्ष मानना चाहिए। जैन गुणस्थान सिद्धान्त से इस अवस्था की तुलना छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान से भी की जा सकती है।

६. **श्रमण**—बुद्धघोष ने इसे संन्यास ग्रहण की अवस्था माना है। जैन परम्परा में इसे अप्रमत्तसंयत गुणस्थान के समकक्ष अवस्था माना जा सकता है।

७. **जिन**—बुद्धघोष ने इसे ज्ञान प्राप्त करने की भूमि माना है। किन्तु मेरी दृष्टि में यह भूमि जैन परम्परा के सयोगीकेवली गुणस्थान या बौद्ध परम्परा की अर्हत् अवस्था के समकक्ष होनी चाहिए।

८. **प्राज्ञ**—बुद्धघोष ने इसे वह अवस्था माना है, जिसमें भिक्षु (जिन) कुछ भी नहीं बोलता। वस्तुतः यह अवस्था जैन परम्परा के अयोगीकेवली गुणस्थान के समान ही होना चाहिए। जब साधक शारीरिक और मानसिक गतिविधियों का पूर्णतया निरोध कर लेता है।

वस्तुतः बुद्धघोष ने प्रथम से लेकर पाँचवीं भूमिका तक के जो अर्थ किये हैं वे युक्ति-संगत नहीं हैं। इस बात का उल्लेख पं० सुखलालजी और प्रो० होर्नले ने भी किया था। क्योंकि बुद्धघोष की व्याख्या का सम्बन्ध आध्यात्मिक विकास के साथ नहीं बैठता था। यद्यपि मैंने इनका जो अर्थ किया है वह भी विद्वानों की दृष्टि में क्लिष्ट कल्पना तो होगी किन्तु फिर भी वह आजीवक सम्प्रदाय की मूल भावना के अधिक निकट होगा। वस्तुतः बुद्धघोष के समय तक इन शब्दों का मूल अर्थ विलुप्त हो गया होगा और इसलिए इनके सम्बन्ध में उन्होंने अपनी बुद्धि के अनुसार ही कल्पना की होगी। इस प्रसंग में मैंने जो व्याख्या की है वह असंगत नहीं मानी जा सकती है।

गीता के त्रिगुण सिद्धान्त और गुणस्थान-सिद्धान्त की तुलना

यद्यपि गीता में नैतिक एवं आध्यात्मिक विकासक्रम का उतना विस्तृत विवेचन नहीं मिलता, जितना जैन-विचार में मिलता है, तथापि गीता में उसकी एक मोटी रूपरेखा अवश्य है। गीता में इस वर्गीकरण का प्रमुख आधार त्रिगुण की धारणा है। डॉ० राधाकृष्णन् भगवद्गीता की टीका में लिखते हैं—'आत्मा का विकास तीन सोपानों से होता है। यह निष्क्रिय, जड़ता और अज्ञान (तमोगुणप्रधान अवस्था) से भौतिक सुखों के लिए संघर्ष (रजोगुणात्मक प्रवृत्ति) के द्वारा ऊपर उठती हुई ज्ञान और आनन्द की ओर बढ़ती है।'[1] गीता के अनुसार आत्मा तमोगुण से रजोगुण और सत्त्वगुण की ओर बढ़ती हुई अन्त में गुणातीत अवस्था को प्राप्त हो जाती है। गीता में इन गुणों के संघर्ष की

१. भगवद्गीता—डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ३१३।

दशा का प्रतिपादन है।[1] जिससे नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास को समझा जा सकता है। जब राजसगुण और सत्त्वगुण को दबाकर तमोगुण हावी होता है, तो जीवन में निष्क्रियता एवं जड़ता बढ़ती है। प्राणी परिवेश के सम्मुख झुकता रहता है। यह अविकास की अवस्था है। जब सत्त्व और तम को दबाकर राजस प्रधान होता है तो जीवन में अनिश्चयता, तृष्णा और लालसा बढ़ती है। इसमें अन्ध एवं आवेशपूर्ण प्रवृत्तियों का बाहुल्य होता है, यह अनिश्चय की अवस्था है। यह दोनों ही अविकास की सूचक हैं। जब रजस् और तमस् को दबाकर सत्त्व प्रबल होता है तो जीवन में ज्ञान का प्रकाश अलोकित होता है। जीवन यथार्थ आचरण की दिशा में बढ़ता है। यह विकास की भूमिका है। जब सत्त्व के ज्ञानप्रकाश में आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को पहचान लेती है, तो वह गुणातीत हो द्रष्टामात्र रह जाती है। इन गुणों की प्रवृत्तियों में उसकी ओर से मिलनेवाला सहयोग बन्द हो जाता है। त्रिगुण भी संघर्ष के लिए मिलनेवाले सहयोग के अभाव में संघर्ष से विरत हो साम्यावस्था में स्थित हो जाते हैं। तब सत्त्व ज्ञान-ज्योति बन जाता है। रजस् स्वस्वरूप में रमण बन जाता है और तमस् शान्ति का प्रतीक होता है। यह त्रिगुणातीत दशा ही आध्यात्मिक पूर्णता की अवस्था है। सत्त्व, रज ओर तम इन तीन गुणों के आधार पर ही गीता में व्यक्तित्व, श्रद्धा, ज्ञान, बुद्धि कर्म, कर्त्ता आदि का त्रिविध वर्गीकरण है। प्रश्न यह उठता है कि हम गीता में इस त्रिगुणात्मकता की धारणा को ही नैतिक विकास-क्रम का आधार क्यों मानते हैं? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार जैन दर्शन में बन्धन का प्रमुख कारण मोह कर्म हैं और उसके दो भेद दर्शन मोह और चारित्र मोह के आवरणों की तारतम्यता के आधार पर प्रमुख रूप से नैतिक विकास की कक्षाओं की विवेचना की जाती है, उसी प्रकार गीता के आचार दर्शन में बन्धन का मूल कारण त्रिगुण है।[2] गीता स्पष्ट रूप से कहती है कि सत्त्व, रज और तम इन गुणों से प्रत्युत्पन्न त्रिगुणात्मक भावों से मोहित होकर जगत् के जीव उस परम अव्यय परमात्मस्वरूप को नहीं जान पाते हैं।[3] अतः गीता की दृष्टि से नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास-क्रम की चर्चा करते समय इन गुणों को आधारभूत मानना पड़ता है। यद्यपि सभी गुण बन्धन हैं, तथापि उनमें तारतम्य है। जहाँ तमोगुण विकास में बाधक होता हैं, वहाँ सत्त्व गुण उसमें ठीक उसी प्रकार सहायक होता है, जिस प्रकार जैनदृष्टि में सम्यक्त्व मोह विकास में सहायक होता है। यदि हम नैतिक विकास दृष्टि से इस सिद्धान्त की चर्चा करना चाहते हैं तो हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि जिन नैतिक विवेचनाओं में भौतिक दृष्टिकोण के स्थान पर आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्वीकृत किया जाता है, उनमें नैतिक मूल्यांकन की दृष्टि से व्यक्ति का आचरण

---

१. गीता, १४।१०।
२. गीता, १४।५।
३. गीता ७।१३।

प्राथमिक तथ्य न होकर उसकी जीवनदृष्टि ही प्राथमिक तथ्य होती है; आचरण का स्थान द्वितीय होता है। उनमें यथार्थ दृष्टिकोण के अभाव में किया गया आचरण अधिक मूल्यवान् नहीं होता। उसका जो कुछ भी मूल्य है वह उसके यथार्थ दृष्टि की ओर उन्मुख होने में ही है। अतः हम गीता की दृष्टि से नैतिक विकास की श्रेणियों की चर्चा जैन और बौद्ध परम्पराओं के समान ही श्रद्धा को प्राथमिक और आचरण को द्वितीयक मानकर ही करेंगे। गीता में भी यह कहा गया है कि दुराचारी भी सम्यक् निश्चयवाला होने से साधु ही माना जाना चाहिए।[1] इस कथन में उपर्युक्त विचारणा की पुष्टि की गयी है। अतः नैतिक विकास की श्रेणियों का विवेचन करते समय प्रथम जीवन-दृष्टि, श्रद्धा एवं ज्ञान (बुद्धि) का सत्त्व, रज एवं तमोगुण के आधार पर त्रिविध वर्गीकरण करना होगा। तत्पश्चात् उस सत्त्वप्रधान जीवन-दृष्टि का आचरण की दृष्टि से त्रिविध विवेचन करना होगा। यद्यपि प्रत्येक गुण में भी तारतम्य की दृष्टि से अनेक अवान्तर वर्ग हो सकते हैं, लेकिन प्रस्तुत सन्दर्भ में अधिक भेद-प्रभेदों की ओर जाना इष्ट नहीं है।

१. प्रथम वर्ग वह है जहाँ श्रद्धा एवं आचरण दोनों ही तामस हैं। जीवन-दृष्टि अशुद्ध है। गीता के अनुसार इस वर्ग में रहनेवाला प्राणी परमात्मा की उपलब्धि में असमर्थ होता है, क्योंकि उसके जीवन की दिशा पूरी तरह असम्यक् है। गीता के अनुसार इस अविकास दशा की प्रथम कक्षा में प्राणी की ज्ञान-शक्ति माया के द्वारा कुण्ठित रहती है, उसकी वृत्तियाँ आसुरी और आचरण पापकर्मा होता है।[2] यह अवस्था जैन विचारणा के मिथ्यात्व गुणस्थान एवं बौद्ध विचारणा की अन्धपृथक्जन भूमि के समान है। गीता के अनुसार इस तमोगुण भूमि में मृत्यु होने पर प्राणी मूढ़ योनियों में जन्म लेता है; (प्रलीनस्तमसि मूढ़योनिषु जायते १४.१५) अधोगति को प्राप्त होता है।

२. दूसरा वर्ग हो सकता है, जहाँ श्रद्धा अथवा जीवनदृष्टि तो तामस हो' लेकिन आचरण सात्विक हो। इस वर्ग के अन्दर गीता में वर्णित वे भक्त आते हैं, जो आर्त भाव एवं किसी कामना को लेकर (अर्थार्थी) भक्ति (धर्माचरण) करते हैं। गीताकार ने इनको सुकृति (सदाचारी) एवं उदार कहा है।[3] लेकिन साथ ही साथ यह भी स्वीकार किया है कि ऐसे व्यक्ति परमात्मा, मोक्ष या परमगति को प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं। गीता का स्पष्ट निर्देश है कि कामनाओं के कारण जिनका ज्ञान अपहृत हो गया वे सम्यक्दृष्टि पुरुष के समान आचरण करते हुए भी अस्थायी फल को प्राप्त होते हैं, जबकि यथार्थदृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति उसी आचरण के फलस्वरूप परमात्मस्वरूप की प्राप्ति करते हैं।[4] इसका तात्पर्य यह है कि गीता के अनुसार भी ऐसे व्यक्तियों की दृष्टि या

१. गीता, ९।३०

२. वही १।१५

३. वही ७।१६, ७।१८ (इसमें उदारे शब्द का प्रयोग अपेक्षाकृत है)

४. वही ७।२०

श्रद्धा यथार्थ नहीं हो सकती है, क्योंकि वह बन्धन का कारण ही होती है, मुक्ति का नहीं ।[1] अतः पारमार्थिक दृष्टि से उन्हें मिथ्या दृष्टि ही मानना होगा। चाहे सदाचरण के कारण उन्हें स्वर्गादि सुख ही क्यों न मिलता हो, फिर भी वे निर्वाण मार्ग से तो विमुख ही हैं। यह वर्ग जैन विचारणा के अनुसार सम्यक्त्व गुणस्थान के निकटवर्ती मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीवों का है। बौद्ध दृष्टि से यह अवस्था कल्याणपृथक्जनभूमि या धर्मानुसारी भूमि से तुलनीय है। तीसरा वर्ग वह है जहाँ श्रद्धा अथवा बुद्धि राजस हो। श्रद्धा अथवा बुद्धि के राजस होने का तात्पर्य उसकी चंचलता या अस्थिरता है। श्रद्धा या बुद्धि की अस्थिर या संशयपूर्ण अवस्था में आचरण सम्भव नहीं होता। अस्थिरबुद्धि किसी भी स्थायित्वपूर्ण आचरण का निर्णय नहीं ले पाता। अतः यह भूमिका जीवनदृष्टि और आचरण दोनों ही अपेक्षा से राजस होती है। गीता में अर्जुन का व्यक्तित्व इसी धर्म से मूढ़ चेतना की भूमिका को लेकर प्रस्तुत होता है ।[2] गीता के अनुसार यह संशयात्मक एवं अस्थिरता की भूमिका नैतिक एवं आध्यात्मिक अविकास की अवस्था है। गीता के अनुसार अज्ञानी एवं अश्रद्धालु (मिथ्यादृष्टि) जिस प्रकार विनाश को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार संशयात्मा भी विनाश को प्राप्त होती है। यही नहीं, संशयात्मा की अवस्था तो उनसे अधिक बुरी बनती है, क्योंकि वह भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार के सुखों से वंचित रहता है, जब कि मिथ्यादृष्टि प्राणी कम से कम भौतिक सुखों का तो उपभोग कर ही लेता है।[3] यह अवस्था जैन विचारणा के मिश्र गुणस्थान से मिलती हुई है, क्योंकि मिश्रगुणस्थान भी यथार्थ दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के मध्य अनिश्चय की अवस्था है। यद्यपि जैन दर्शन के अनुसार इस मिश्र अवस्था में मृत्यु नहीं होती, लेकिन गीता के अनुसार रजोगुण की भूमिका में मृत्यु होने पर प्राणी आसक्तिप्रधान योनियों को प्राप्त करता हुआ (रजसि प्रलयं गत्वा कर्म संगिषु जायते) मध्य लोक में जन्म-मरण करता रहता है (मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः २४.१८)। चतुर्थ भूमिका वह है जिसमें दृष्टिकोण सात्त्विक अर्थात् यथार्थ होता है, लेकिन आचरण तामस एवं राजस होता है, इस भूमिका का चित्रण गीता के छठे एवं नवें अध्याय में है। छठे अध्याय में 'अयतिः श्रद्धयोपेतो' कह कर इस वर्ग का निर्देश किया गया है।[4] नवें अध्याय में जहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं कि उन दुराचारवान् (सुदुराचारी) व्यक्तियों को भी, जो अनन्यभाव से मेरी उपासना करते हैं, साधु (सात्त्विक प्रकृतिवाला) ही माना जाना चाहिए क्योंकि उनका दृष्टिकोण सम्यक्रूपेण व्यवस्थित हो चुका है।[5] गीता में वर्णित नैतिक विकास-क्रम की यह अवस्था जैन-विचार में अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से मिलती है। जैन विचार के समान गीता भी यह स्वीकार करती है कि ऐसा व्यक्ति जिसका दृष्टिकोण सम्यक् हो

---

१. गीता, २।४३ २।४४ २. वही, २।७ ३. वही, २।४०
४. वही, ६।३७ ५. वही, ९।३०

गया है, वह वर्तमान में चाहे दुराचारी ही क्यों न हो, वह शीघ्र ही सदाचारी बनकर शाश्वत शान्ति (मुक्ति) प्राप्त करता है।[1] क्योंकि वह साधना की यथार्थ दिशा की ओर मुड़ गया है। इसी बात को बौद्ध-विचार में स्रोतापन्न भूमि अर्थात् निर्वाण-मार्ग के प्रवाह में गिरा हुआ कहकर प्रकट किया गया है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन समवेत रूप से यह स्वीकार करते हैं कि ऐसा साधक मुक्ति अवश्य प्राप्त कर लेता है।[2]

गीता के अनुसार नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास की पाँचवीं भूमिका यह हो सकती है जिसमें श्रद्धा एवं बुद्धि तो सात्त्विक हो, लेकिन आचरण में रजोगुण सत्त्वोन्मुख होता है। फिर भी वह चित्तवृत्ति की चंचलता का कारण होता है। साथ ही पूर्वावस्था के तमोगुण के संस्कार भी पूर्णतः विलुप्त नहीं हो जाते हैं। तमोगुण एवं रजोगुण की तरतमता के आधार पर इस भूमिका के अनेक उप-विभाग किये जा सकते हैं। जैन-विचार में इस प्रकार के विभाग किये गये हैं, लेकिन गीता में इतनी गहन विवेचना उपलब्ध नहीं है। फिर भी इस भूमिका का चित्रण गीता के छठे अध्याय में मिल जाता है। वहाँ अर्जुन शंका उपस्थित करते हैं कि हे कृष्ण, जो व्यक्ति श्रद्धायुक्त (सम्यग्दृष्टि) होते हुए भी (रजोगुण के कारण) चंचल मन होने से योग की पूर्णता को प्राप्त नहीं होता उसकी क्या गति होती है? क्या वह ब्रह्म (निर्वाण) की ओर जानेवाले मार्ग से पूर्णतया भ्रष्ट तो नहीं हो जाता?[3] श्रीकृष्ण कहते हैं कि चित्त की चंचलता के कारण साधना के परम लक्ष्य से पतित हुआ ऐसा साधक भी सम्यक्श्रद्धा से से युक्त एवं सम्यक् आचरण में प्रयत्नशील होने से अपने कर्मों के कारण ब्रह्म-प्राप्ति की यथार्थ दिशा में रहता है। अनेक शुभ योनियों में जन्म लेता हुआ पूर्व-संस्कारों से साधना के योग्य अवसरों को उपलब्ध कर जन्मान्तर में पापों से शुद्ध होकर अध्यवसायपूर्वक प्रयासों के फलस्वरूप परमगति (निर्वाण) प्राप्त कर लेता है।[4] जैन-विचार से तुलना करने पर यह अवस्था पाँचवें देशविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से प्रारम्भ होकर ग्यारहवें उपशान्तमोह गुणस्थान तक जाती है। पाँचवें एवं छठे गुणस्थान तक श्रद्धा के सात्त्विक होते हुए भी आचरण में सत्त्वोन्मुख रजोगुण तमोगुण से समन्वित होता है। उसमें प्रथम की अपेक्षा दूसरी अवस्था में रजोगुण की सत्त्वोन्मुखता बढ़ती है, वहीं सत्त्व की प्रबलता से उसकी मात्रा क्रमशः कम होते हुए समाप्त हो जाती है। वस्तुतः साधना की इस कक्षा में व्यक्ति सात्त्विक (सम्यक्) जीवन दृष्टि से सम्पन्न होकर आचरण को भी वैसा ही बनाने का प्रयास करता है, लेकिन तमोगुण और रजोगुण के पूर्वसंस्कार बाधा उपस्थित करते हैं। फिर भी यथार्थ बोध के कारण व्यक्ति में आचरण की सम्यक् दिशा के लिए अनवरत प्रयास का प्रस्फुटन होता है जिसके फलस्वरूप तमोगुण और रजोगुण

---

१. गीता, ९।३१
२. वही, ६।४५
३. वही, ६।३७, ६।३८
४. वही, ६।४०

धीरे-धीरे कम होकर अन्त में विलीन हो जाते हैं और साधक विकास की एक अग्रिम श्रेणी में प्रस्थित हो जाता है। गीता के अनुसार विकास की अग्रिम कक्षा वह है जहाँ श्रद्धा, ज्ञान और आचरण तीनों ही सात्त्विक होते हैं। यहाँ व्यक्ति की जीवन-दृष्टि और आचरण दोनों में पूर्ण तादात्म्य एवं सामंजस्य स्थापित हो जाता है। उसके मन, वचन और कर्म में एकरूपता होती है। गीता के अनुसार इस अवस्था में व्यक्ति सभी प्राणियों में उसी आत्मतत्त्व के दर्शन करता है;[1] आसक्तिरहित होकर मात्र अवश्य (नियत) कर्मों का आचरण करता है।[2] उसका व्यक्तित्व, आसक्ति एवं अहंकार से शून्य धैर्य एवं उत्साह से युक्त एवं निर्विकार होता है।[3] उसके समग्र शरीर से ज्ञान का प्रकाश प्रस्फुटित होता है[6] अर्थात् उसका ज्ञान अनावरित होता है।

इस सत्त्वप्रधान भूमिका में मृत्यु प्राप्त होने पर प्राणी उत्तम ज्ञान वाले विशुद्ध निर्मल ऊर्ध्व लोकों में जन्म लेता है। यह विकास-कक्षा जैनधर्म के १२वें क्षीणमोह गुणस्थान के समान है। ज्ञानावरण का नष्ट होना इसी गुणस्थान का अन्तिम चरण है। यह नैतिक पूर्णता की अवस्था है, लेकिन नैतिक पूर्णता साधना की इतिश्री नहीं है। डा० राधाकृष्णन् कहते हैं--सर्वोच्च आदर्श नैतिक स्तर से ऊपर उठकर आध्यात्मिक स्तर पर पहुंचता है। अच्छे (सात्त्विक) मनुष्य को सन्त (त्रिगुणातीत) बनना चाहिए। सात्त्विक अच्छाई भी अपूर्ण है, क्योंकि इस अच्छाई के लिए भी इसके विरोधी के साथ संघर्ष की शर्त लगी हुई है, ज्यों ही संघर्ष समाप्त हो जाता है और अच्छाई पूर्ण बन जाती है, त्यों ही वह अच्छाई नहीं रहती, वह सब नैतिक बाधाओं से ऊपर उठ जाती है। सत्त्व की प्रकृति का विकास करने के द्वारा हम उससे ऊपर उठ जाते हैं। जिस प्रकार हम कांटे के द्वारा कांटे को निकालते हैं (फिर उस निकालने वाले कांटे का भी त्याग कर देते हैं) उसी प्रकार सांसारिक वस्तुओं का त्याग करने के द्वारा त्याग को भी त्याग देना चाहिए। सत्त्व गुण के द्वारा रजस् और तमस् पर विजय पाते हैं और उसके बाद स्वयं सत्त्व से भी ऊपर उठ जाते हैं।[४]

विकास की अग्रिम तथा अन्तिम कक्षा वह है, जहाँ साधक इस त्रिगुणात्मक जगत् में रहते हुए भी इसके ऊपर उठ जाता है। गीता के अनुसार यह गुणातीत अवस्था ही साधना की चरम परिणति है, गीता के उपदेश का सार है।[५] गीता में विकास की अन्तिम कक्षा का वर्णन इस प्रकार मिलता है--जब देखने वाला (ज्ञानगुणसम्पन्न आत्मा) इन गुणों (कर्म प्रकृतियों) के अतिरिक्त किसी को कर्ता नहीं देखता और इनसे परे आत्म-स्वरूप को जान लेता है तो वह मेरे ही स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् परमात्मा

---

१. गीता, १८।२०। २. वही, १८।२३।

३. वही, १८।२६ वही, १४।११।

४. भगवद्गीता (हिन्दी) डा० राधाकृष्णन्, पृ० ११४। ५. गीता २।४५।

हो जाता है। ऐसा शरीरधारी आत्मा शरीरके कारणभूत एवं उस शरीर से उत्पन्न होने वाले त्रिगुणात्मक भावों से ऊपर उठकर गुणातीत अवस्था को प्राप्त हो जन्म, जरा, मृत्यु के दुःखों से मुक्त होकर अमृत तत्त्व को प्राप्त हो जाता है। वह इन गुणों से विचलित नहीं होता; वह प्रकृति (कर्मों) के परिवर्तनों को देखता है, लेकिन उनमें उलझता नहीं, वह सुख-दुःख एवं लोह-कांचन को समान समझता है, सदैव आत्मस्वरूप में स्थिर रहता है। प्रिय के वियोग और अप्रिय के संयोग में तथा निन्दा स्तुति में वह सम रहता है। उसका मन सदैव स्थिर रहता है। मानापमान तथा शत्रु-मित्र उसके लिए समान हैं। ऐसा सर्व-आरम्भों (पापकर्मों) का त्यागी महापुरुष गुणातीत कहा जाता है। तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर यह अवस्था जैन विचारणा के १३वें सयोगीकेवली गुणस्थान एवं बौद्ध विचारणा की अर्हतभूमि के समान है। यह पूर्ण वीतरागदशा है, जिसके स्वरूप के सम्बन्ध में भी सभी समालोच्य आचार-दर्शनों में काफी निकटता है।

त्रिगुणात्मक देह से मुक्त होकर विशुद्ध परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेना साधना की अन्तिम कक्षा है। इसे जैन-विचार में अयोगीकेवली गुणस्थान कहा गया है। गीता में उसके समतुल्य ही इस दशा का चित्रण उपलब्ध है। गीता के आठवें अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं—मैं तुझे उस परमपद अर्थात् प्राप्त करने योग्य स्थान को बताता हूँ, जिसे विद्वज्जन 'अक्षर' कहते हैं; वीतराग मुनि जिसकी प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं और जिसमें प्रवेश करते हैं।[१] आगे वीतराग मुनि द्वारा उसकी प्राप्ति के अन्तिम उपाय की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं कि 'शरीर के सब द्वारों का संयम करके (काया एवं वाणी के व्यापारों को रोककर) मन को हृदय में रोककर (मन के व्यापारों का निरोध कर) प्राण-शक्ति को मूर्धा (शीर्ष) में स्थिर कर योग को एकाग्र कर ओ३म् इस अक्षर का उच्चारण करता हुआ मेरे अर्थात् विशुद्ध आत्मतत्त्व के स्वरूप का स्मरण करता हुआ अपने शरीर का त्याग कर संसार से प्रयाण करता है, वह उस परमगति को प्राप्त कर लेता है।[२] इसके पूर्व भी इसी तथ्य का विवेचन उपलब्ध होता है। जो व्यक्ति इस संसार से प्रस्थान के समय मन को भक्ति और योगबल से स्थिर करके (अर्थात् मन के व्यापारों को रोक करके) अपनी प्राणशक्ति को भौंहों के मध्य सम्यक् प्रकार से स्थापित कर देहत्याग करता है, वह उस परमदिव्य पुरुष को प्राप्त होता है।[3] कालिदास ने भी योग के द्वारा अन्त में शरीर त्यागने का निर्देश किया।[४] यह समग्र प्रक्रिया जैन-विचार के चतुर्दश अयोगीकेवली गुणस्थान के अति निकट है। इस प्रकार यद्यपि गीता में आध्यात्मिक विकास क्रम का व्यवस्थित एवं विशद विवेचन उपलब्ध

---

१. गीता, ८।११

२. वही ८।१२, ८।१३।

३. वही, ८।१०।

४. कालिदास, रघुवंश १।८।

नहीं है, तथापि जैन विचारणा के गुणस्थान प्रकरण में वर्णित आध्यात्मिक विकास-क्रम की महत्त्वपूर्ण अवस्थाओं का चित्रण उसमें उपलब्ध है, जिन्हें यथाक्रम संजोकर नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास का क्रम प्रस्तुत किया जा सकता है।

जैन आचार-दर्शन के १४ गुणस्थानों का गीता के दृष्टिकोण से विचार करने के लिए सर्वप्रथम हमें यह निश्चय करना होगा कि गीता में वर्णित तीनों गुणों का स्वरूप क्या है और वे जैन-विचारणा के किन-किन शब्दों से मेल खाते हैं। गीता के अनुसार तमोगुण के लक्षण हैं–अज्ञान, जाड्यता, निष्क्रियता, प्रमाद, आलस्य, निद्रा और मोह। रागात्मकता, तृष्णा, लोभ, क्रियाशीलता, अशान्ति और ईर्ष्या रजोगुण के लक्षण हैं। सत्त्वगुण ज्ञान के प्रकाश, निर्मलयता और निर्विकार अवस्था और सुखों का उत्पादक है। इन तीनों गुणों की प्रकृतियों पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि जैन विचार में बन्धन के पाँच कारणों–१. अज्ञान (मिथ्यात्व), २. प्रमाद, ३. अविरति, ४. कषाय और ५. योग से इनकी तुलना की जा सकती है। तमोगुण को मिथ्यात्व और प्रमाद, रजोगुण को अविरति, कषाय और योग तथा सत्त्वगुण को विशुद्ध ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग, चारित्रोपयोग के तुल्य माना जा सकता है। इन तुल्य आधारों के द्वारा तुलना करने पर गुणस्थान की धारणा का गीता के अनुसार निम्न स्वरूप होगा।

१. मिथ्यात्व गुणस्थान में तमोगुण प्रधान होता है और रजोगुण तमोन्मुखी प्रवृत्तियों में संलग्न होता है। सत्वगुण इस अवस्था में पूर्णतया तमोगुण और रजोगुण के अधीन होता है। यह रज समन्वित तमोगुण-प्रधान अवस्था है।

२. सास्वादन गुणस्थान की अवस्था में भी तमोगुण प्रधान होता है। रजोगुण तमोन्मुखी होता है, फिर भी किंचित् रूप में सत्त्वगुण का प्रकाश रहता है। यह सत्वरज समन्वित तमोगुण प्रधान अवस्था है।

३. मिश्र गुणस्थान में रजोगुण प्रधान होता है। सत्त्व और तम दोनों ही रजोगुण के अधीन होते हैं। यह सत्त्व-तम समन्वित रजोगुण प्रधान अवस्था है।

४. सम्यक्त्व गुणस्थान में व्यक्ति के विचार-पक्ष में सत्त्वगुण का प्राधान्य होता है। विचार की दृष्टि से तमस् और रजस् गुण सत्त्वगुण से शासित होते हैं, लेकिन आचार की दृष्टि से सत्त्वगुण तमस् और रजस् गुणों से शासित होता है। यह विचार की दृष्टि से रज समन्वित सत्त्वगुण प्रधान और आचार की दृष्टि से रजसमन्वित तमोगुणप्रधान अवस्था है।

५. देशविरत सम्यक्त्व गुणस्थान में विचार की दृष्टि से तो सत्त्वगुण प्रधान होता है, साथ ही आचार की दृष्टि से भी सत्त्व का विकास प्रारम्भ हो जाता है। यद्यपि रज और तम पर उसका प्राधान्य स्थापित नहीं हो पाता है। यह तमोगुण समन्वित सत्वोन्मुखी रजोगुण की अवस्था है।

कृष्णन् के शब्दों में, 'तब सत्त्व उन्नयन के द्वारा चेतना का प्रकाश या ज्योति बन जाता है, रजस् तप बन जाता है और तमस् प्रशान्तता या शान्ति बन जाता है ।[1]

१४. गीता की दृष्टि से तुलना करने पर अयोगीकेवली गुणस्थान त्रिगुणातीत और देहातीत अवस्था माना जा सकता है । जब गीता का जीवन्मुक्त साधक योग प्रक्रिया द्वारा अपने शरीर का परित्याग करता है, तो वही अवस्था जैन परम्परा में अयोगीकेवली गुणस्थान कही जाती है । इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि गीता की त्रिगुणात्मक धारणा जैन परम्परा के गुणस्थान सिद्धान्त के निकट है ।

योगवसिष्ठ और गुणस्थान-सिद्धान्त

इस प्रसिद्ध ग्रन्थ में जैन परम्परा के चौदह गुणस्थानों के समान ही आध्यात्मिक विकास की चौदह सीढ़ियाँ मानी गयी हैं[2], जिनमें सात आध्यात्मिक विकास की अवस्था को और सात आध्यात्मिक पतन की अवस्था को सूचित करती हैं । यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो जैन परम्परा के गुणस्थान-सिद्धान्त में भी आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से विकास का सच्चा स्वरूप अप्रमत्त चेतना के रूप में सातवें स्थान से ही प्रारम्भ होता है । इस प्रकार जैन परम्परा में भी चौदह गुणस्थानों में सात अवस्थाएँ आध्यात्मिक विकास की और सात अवस्थाएँ आध्यात्मिक अविकास की हैं । योगवसिष्ठ की उपर्युक्त मान्यता की जैन परम्परा से कितनी निकटता है इसका निर्देश पं० सुखलाल जी ने भी किया है ।[3]

योग वसिष्ठ में जो १४ भूमिकाएँ हैं, उनमें सात का सम्बन्ध अज्ञान से और सात का सम्बन्ध ज्ञान से है । अज्ञान की सात भूमिकाएँ निम्न हैं—

१. बीज जाग्रत—यह चेतना की प्रसुप्त अवस्था है । यह वनस्पति जगत् की अवस्था है ।

२. जाग्रत—इसमें अहं और ममत्व का अत्यल्प विकास होता है । यह पशुजगत् की अवस्था है ।

३. महाजाग्रत—इस अवस्था में अहं और ममत्व पूर्ण विकसित हो जाते हैं । यह आत्मचेतना की अवस्था है । यह अवस्था मनुष्य जगत् से सम्बन्धित है ।

४. जाग्रत स्वप्न—यह मनोकल्पना की अवस्था है । इसे आधुनिक मनोविज्ञान में दिवास्वप्न की अवस्था कह सकते हैं । यह व्यक्ति की भ्रमयुक्त अवस्था है ।

५. स्वप्न—यह स्वप्न चेतना की अवस्था है । यह निद्रित अवस्था की अनुभूतियों को निद्रा के पश्चात् जानना है ।

---

१. भगवद्गीता (हिन्दी) डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ३१० ।

२. योगवशिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण सर्ग ११७।२–२४ उद्धृत- दर्शन और चिन्तन भाग २ पृ० २८२-२८३ ।

३. देखिए– दर्शन और चिन्तन भाग २ पृ० २८२-२८३ ।

६. स्वप्न जाग्रत—यह स्वप्निल चेतना है। स्वप्न देखती हुई जो चेतना है वह स्वप्न जाग्रत है। यह स्वप्न दशा का बोध है।

७. सुषुप्ति—यह स्वप्न रहित निद्रा की अवस्था है। जहाँ आत्मचेतनता की सत्ता होते हुए भी जड़ता की स्थिति है।

ज्ञान की सात भूमिकाएँ निम्न हैं—

१. शुभेच्छा—यह कल्याण कामना है।

२. विचारणा—यह सदाचार में प्रवृत्ति का निर्णय है।

३. तनुमानसा—यह इच्छाओं और वासनाओं के क्षीण होने की अवस्था है।

४. सत्त्वापत्ति—शुद्धात्म स्वरूप में अवस्थिति है।

५. असंसक्ति—यह आसक्ति के विनाश की अवस्था है। यह राग-भाव का नाश होने से सन्तोषरूपी निरतिशय आनन्द की अनुभूति की अवस्था है।

६. पदार्थभावनी—यह भोगेच्छा के पूर्णतः विनाश की अवस्था है, इसमें कोई भी चाह या अपेक्षा नहीं रहती है, केवल देह यात्रा दूसरों के प्रयत्न को लेकर चलती है।

७. तूर्यगा—यह देहातीत विशुद्ध आत्मरमण की अवस्था है। इसे मुक्तावस्था भी कहा जा सकता है।

योग दर्शन में आध्यात्मिक विकास क्रम

योग साधना का अन्तिम लक्ष्य चित्तवृत्ति निरोध है। योगदर्शन में योग की परिभाषा है—'योगः चित्तवृत्तिनिरोधः'। योगदर्शन में चित्तवृत्ति निरोध को इसलिए साध्य माना गया कि सारे दुःखों का मूल चित्त-विकल्प है। चित्त-विकल्प राग या आसक्ति-जनित है। जब राग या आसक्ति होगी तो चित्त-विकल्प होंगे और जब चित्त-विकल्प होंगे तो मानसिक तनाव होगा और जब मानसिक तनाव होंगे तो समाधि सम्भव नहीं होगी। समाधि के लिए चित्त का निर्विकल्प या निरुद्ध होना आवश्यक है। योगदर्शन में चित्त की जो पाँच अवस्थाएँ बतायी गयी हैं, वे क्रमशः साधना के विकास क्रम की ही सूचक हैं। चित्त की ये पाँच अवस्थाएँ निम्न हैं—

१. **मूढ़**—यह चित्त की तमोगुण प्रधान जड़ता की अवस्था है। इसमें अज्ञान और आलस्य की प्रमुखता रहती है। आत्माभिरुचि और ज्ञानाभिरुचि का अभाव होता है। यह अवस्था जैनधर्म के मिथ्यात्व गुणस्थान और बौद्धधर्म के अंधपृथक्जन के समान है।

२. **क्षिप्त**—यह चित्त की रजोगुण प्रधान अवस्था है। इसमें रजोगुण की प्रमुखता के कारण चित्त में चंचलता बनी रहती है। सांसारिक विषय-वासनाओं में अभिरुचि होने के कारण मन केन्द्रित नहीं रहता। इस अवस्था में व्यक्ति अनेक चित्त होता है। वह वासनाओं का दास होता है और अपनी तीव्र आकांक्षाओं के कारण दुःखी बना रहता है। यद्यपि उसमें सत्त्वगुण का संयोग होने से कभी-कभी तत्त्व जिज्ञासा और संसार की

दुःखमयता का आभास होने लगता है। यह अवस्था भी मिथ्यात्व गुणस्थान से ही तुलनीय है। किन्तु यह उस व्यक्ति की अवस्था है जो सम्यक्त्व का स्पर्श कर मिथ्यात्व में गिरा है। अतः किसी सीमा तक इसे सास्वादन और मिश्र गुणस्थान से भी तुलनीय माना जा सकता है।

३. **विक्षिप्त**–इसमें सत्त्वगुण की प्रधानता होती है किन्तु रजोगुण और तमोगुण की उपस्थिति के कारण सत्त्वगुण का इनसे संघर्ष चलता रहता है। यह शुभ और अशुभ के संघर्ष की अवस्था है। सत्त्वगुण तमोगुण और रजोगुण अर्थात् प्रमाद और वासना को दबाने का प्रयत्न तो करता है, किन्तु वे भी अपना प्रभाव दिखाते रहते हैं। चित्त अन्तर्मुख होने का प्रयत्न करता है किन्तु प्रमाद और वासना के तत्त्व उसे विक्षोभित करते रहते हैं। इस अवस्था को जैन परम्परा के अनुसार अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चौथे गुण स्थान से तुलनीय माना जा सकता है। यद्यपि सत्त्वगुण की प्रधानता होने से यह दशा पाँचवें और छठे गुणस्थानों से भी कुछ निकटता रखती है। इसकी तुलना बौद्ध परम्परा की स्रोतापन्न भूमि से भी की जा सकती है।

४. **एकाग्र**–यह चित्त की एकाग्रता की अवस्था है। वस्तुतः यह पूर्ण आत्मचेतना या जागरूकता की अवस्था है। इसमें चित्त का विषयाभिमुख हो इधर-उधर भटकना समाप्त हो जाता है। व्यक्ति की इच्छाएँ और आकांक्षाएँ क्षीण हो जाती हैं और चित्त वृत्ति स्थिर हो जाती है। इसकी तुलना जैन परम्परा के सातवें से बारहवें गुणस्थान तक की भूमिकाओं से की जा सकती है।

५. **निरुद्ध**–चित्तवृत्तियों के निरुद्ध हो जाने का अर्थ है—चेतना पूर्ण निर्विकल्पदशा को प्राप्त हो गयी है। इसे स्वरूपावस्थान भी कहा गया है क्योंकि यहाँ साधक विषयों का चिन्तन छोड़कर स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस अवस्था को जैनधर्म के तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान के समान माना जा सकता है।

जैन-योग परम्परा में आध्यात्मिक विकास

योग परम्परा से प्रभावित होकर जैन परम्परा में भी आचार्य हरिभद्र ने आध्यात्मिक विकास की भूमियों की चर्चा की है। जिस प्रकार योग परम्परा में योग के आठ अंग माने गये हैं, उसी प्रकार आचार्य हरिभद्र ने योगदृष्टिसमुच्चय में आठ दृष्टियों का विधान किया है जो इस प्रकार हैं–१. मित्रा, २. तारा, ३. बला, ४. दीप्रा, ५. स्थिरा, ६. कान्ता, ७. प्रभा और ८. परा। इन आठ दृष्टियों में चार दृष्टियाँ प्रतिपाती और चार दृष्टियाँ अप्रतिपाती हैं। प्रथम चार दृष्टियों से पतन की संभावना बनी रहती है। इसलिए उन्हें प्रतिपाती कहा गया है, जबकि अन्तिम चार दृष्टियों से पतन की संभावना नहीं होती, अतः वे अप्रतिपाती कही जाती हैं। योग के आठ अंगों से इन दृष्टियों की तुलना इस प्रकार की जा सकती है–

१. **मित्रादृष्टि और यम**–मित्रा-दृष्टि योग के प्रथम अंग यम के समकक्ष है। इस अवस्था में अहिंसा आदि पाँच महाव्रतों अथवा पाँच यमों का पालन होता है। इस दृष्टि में स्थित व्यक्ति शुभ कार्यो के सम्पादन में रुचि रखता है और अशुभ कार्य करनेवालों के प्रति अद्वेषवृत्ति रखता है। इस अवस्था में आत्मबोध तृण की अग्नि के समान स्थायी नहीं होता है।

२. **तारादृष्टि और नियम**–तारादृष्टि योग के द्वितीय अंग नियम के समान है। इसमें शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय आदि नियमों का पालन होता है। जिस प्रकार मित्रा दृष्टि में शुभ कार्यो के प्रति अद्वेप गुण होता है, उसी प्रकार तारादृष्टि में जिज्ञासा गुण होता है, व्यक्ति में तत्त्वज्ञान के प्रति जिज्ञासा बलवती होती है।

३. **बलादृष्टि और आसन**–इस दृष्टि में स्थित व्यक्ति की तृष्णा शांत हो जाती है और स्वभाव या मनोवृत्ति में स्थिरता होती है। इस अवस्था की तुलना आसन नामक तृतीय योगांग से की जा सकती है। क्योंकि इसमें शारीरिक, वाचिक और मानसिक स्थिरता पर जोर दिया जाता है। इस अवस्था का प्रमुख गुण शुश्रूषा अर्थात् श्रवणेच्छा माना गया है। इस अवस्था में प्रारम्भ किये गये शुभ कार्य निर्विघ्न पूरे होते हैं। इस अवस्था में प्राप्त होनेवाला तत्त्वबोध काष्ठ की अग्नि के समान कुछ स्थायी होता है।

४. **दीप्रादृष्टि और प्राणायाम**–दीप्रा-दृष्टि योग के चतुर्थ अंग प्राणायम के समान है। जिस प्रकार प्राणायाम में रेचक, पूरक एवं कुंभक ये तीन अवस्थाएँ होती हैं, उसी प्रकार बाह्य भावनियंत्रण रूप रेचक, आन्तरिक भाव नियंत्रण रूप पूरक एवं मनोभावों की स्थिरता रूप कुंभक की अवस्था होती है। यह एक प्रकार का आध्यात्मिक प्राणायाम है। इस दृष्टि में स्थित व्यक्ति सदाचरण या चरित्र को अत्यधिक महत्व देता है। वह आचरण का मूल्य शरीर की अपेक्षा भी अधिक मानता है। इस अवस्था में होने वाला आत्मबोध दीपक की ज्योति के समान होता है। यहाँ नैतिक विकास होते हुए भी आध्यात्मिक दृष्टि का पूर्ण विकास नहीं हो पाता है. अतः इस अवस्था से पतन की संभावना बनी रहती है।

५. **स्थिरादृष्टि और प्रत्याहार**–पूर्वोक्त चार दृष्टियों में अभिनिवेश या आसक्ति विद्यमान रहती है। अतः व्यक्ति को सत्य का यथार्थ बोध नहीं होता। उपर्युक्त अवस्थाओं तक सत्य का मान्यता के रूप में ग्रहण होता है, सत्य का साक्षात्कार नहीं होता। लेकिन इस अवस्था में आसक्ति या राग के अनुपस्थित होने से सत्य का यथार्थ रूप में बोध हो जाता है। तुलनात्मक दृष्टि से यह अवस्था प्रत्याहार के समान है जिस प्रकार प्रत्याहार में विषयविकार का परित्याग होकर आत्मा विषयोन्मुख न होते हुए स्वस्वरूप की ओर उन्मुख होता है, उसी प्रकार इस अवस्था में भी विषय-विकारों का त्याग होकर आत्मा स्वभावदशा की ओर उन्मुख होती है। इस अवस्था में

व्यक्ति का आचरण सामान्यतया निर्दोष होता है। इस अवस्था में होने वाले तत्त्व-बोध की तुलना रत्न की प्रभा से की जाती है, जो निर्दोष तथा स्थायी होती है।

६. **कान्तादृष्टि और धारणा**–कान्तादृष्टि योग के धारणा अंग के समान है। जिस प्रकार धारणा में चित्त की स्थिरता होती है, उसी प्रकार इस अवस्था में भी चित्तवृत्ति स्थिर होती है। उसमें चंचलता का अभाव होता है। इस अवस्था में व्यक्ति में सद्-असत् का विवेक पूर्णतया स्पष्ट होता है। उसमें किंकर्तव्य के विषय में कोई अनिश्चयात्मक स्थिति नहीं होती है। आचरण पूर्णतया शुद्ध होता है। इस अवस्था में तत्त्वबोध तारे की प्रभा के समान एक-सा स्पष्ट और स्थिर होता है।

७. **प्रभादृष्टि और ध्यान**–प्रभादृष्टि की तुलना ध्यान नामक सातवें योगांग से की जा सकती है। धारणा में चित्तवृत्ति की स्थिरता एकदेशीय और अल्पकालिक होती है, जबकि ध्यान में चित्तवृत्ति की स्थिरता प्रभारूप एवं दीर्घकालिक होती है। इस अवस्था में चित्त पूर्णतया शांत होता है। पातंजल योग-दर्शन की परिभाषा में यह प्रशांतवाहिता की अवस्था है। इस अवस्था में रागद्वेषात्मक वृत्तियों का पूर्णतया अभाव होता है। इस अवस्था में होनेवाला तत्त्वबोध सूर्य की प्रभा के समान दीर्घकालिक और अति स्पष्ट होता है और कर्ममल क्षीणप्राय हो जाते हैं।

८. **परादृष्टि और समाधि**–परादृष्टि की तुलना योग के आठवें अंग समाधि से की गयी है। इस अवस्था में चित्तवृत्तियाँ पूर्णतया आत्म-केन्द्रित होती हैं। विकल्प, विचार आदि का पूर्णतया अभाव होता है। इस अवस्था में आत्मा स्वस्वरूप में ही रमण करती है और अन्त में निर्वाण या मोक्ष प्राप्त कर लेती है इस प्रकार यह नैतिक साध्य की उपलब्धि की अवस्था है, आत्मा के पूर्ण समत्व की अवस्था है जोकि समग्र आचार दर्शन का सार है। परादृष्टि में होनेवाले तत्त्वबोध की तुलना चन्द्रप्रभा से की जाती है। जिस प्रकार चन्द्रप्रभा शांत और आल्हादजनक होती है, उसी प्रकार इस अवस्था में होने वाला तत्त्वबोधभी शांत एवं आनन्दमय होता है।[1]

योगबिन्दु मे आध्यात्मिक विकास–

आचार्य हरिभद्र ने योगबिन्दु में आध्यात्मिक विकास-क्रम की भूमिकाओं को निम्न पाँच भागों में विभक्त किया है –१. अध्यात्म, २. भावना, ३. ध्यान, ४. समता, और ५. वृत्तिसंक्षय। आचार्य ने स्वयं ही इन भूमिकाओं की तुलना योग-परम्परा की सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात नामक भूमिकाओं से की है। प्रथम चार भूमिकाएँ सम्प्रज्ञात हैं और अन्तिम असम्प्रज्ञात।[2] इन पाँच भूमिकाओं में समता चित्तवृत्ति की समत्व की अवस्था है और वृत्तिसंक्षय आत्मरमण की। समत्व हमारी आध्यात्मिक साधना का प्रथम चरण है और वृत्तिसंक्षय आध्यात्मिक साध्य की उपलब्धि।

---

१. देखिए–जैन आचार पृ० ४०-४७।

२. योगबिन्दु, ३१. उद्धृत–समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० १००-१०१।

प्रेरक का है। इस प्रकार उन्होंने नैतिक जीवन में आचरण के प्रेरक और आचरण के परिणाम दोनों पर ही बल दिया।

मानव मात्र की समानता का उद्‌घोष—उस युग की सामाजिक समस्याओं में वर्ण-व्यवस्था एक महत्त्वपूर्ण समस्या थी। वर्ण का आधार कर्म और स्वभाव को छोड़कर जन्म मान लिया गया था। परिणामस्वरूप वर्ण-व्यवस्था विकृत हो गयी थी और ऊँच-नीच का भेद हो गया था, जिसके कारण सामाजिक स्वास्थ्य विषमता के ज्वर से आक्रान्त था। जैन विचारधारा ने जन्मना जातिवाद का विरोध किया और समस्त मानवों की समानता का उद्‌घोष किया। एक ओर उसने हरिकेशी बल जैसे निम्न कुलोत्पन्न को तो दूसरी ओर गौतम जैसे ब्राह्मण कुलोत्पन्न साधकों को अपने साधना-मार्ग में समान रूप से दीक्षित किया। न केवल जातिगत विभेद वरन् आर्थिक विभेद भी साधना की दृष्टि से उसके सामने कोई मूल्य नहीं रखता। जहाँ एक ओर मगध सम्राट् तो दूसरी ओर पुणिया जैसे निर्धन श्रावक उसकी दृष्टि में समान थे। इस प्रकार उसने जातिगत आधार पर ऊँच-नीच का भेद अस्वीकार कर मानव मात्र की समानता पर बल दिया।

ईश्वरवाद से मुक्ति—उस युग की दूसरी समस्या यह थी कि मानवीय स्वतंत्रता का मूल्य लोगों की दृष्टि से कम आँका जाने लगा था। एक ओर ईश्वरवादी धारणाएँ तो दूसरी ओर कालवादी एवं नियतिवादी धारणाएँ मानवीय स्वतन्त्रता को अस्वीकार करने लगी थीं। जैन आचार-दर्शन ने इस कठिनाई को समझा और मानवीय स्वतंत्रता की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा की। उसने यह उद्‌घोष किया कि न तो ईश्वर और न अन्य शक्तियाँ मानव की निर्धारक हैं, वरन् मनुष्य स्वयं ही अपना निर्माता है। इस प्रकार उसने मनुष्य को ईश्वरवाद की उस धारणा से मुक्ति दिलाई जो मानवीय स्वतंत्रता का अपहरण कर रही थी और यह प्रतिपादित किया कि मानवीय स्वतन्त्रता में निष्ठा ही नैतिक-दर्शन का सच्चा आधार बन सकती है।

रूढ़िवाद से मुक्ति—जैन आचार-दर्शन ने रूढ़िवाद से भी मानव जाति को मुक्त किया। उसने उस युग की अनेक रूढ़ियों जैसे पशु-यज्ञ, श्राद्ध, पुरोहितवाद आदि से मानव-समाज को मुक्त करने का प्रयास किया था और इसलिए इन सबका खुला विरोध भी किया। ब्राह्मण-वर्ग ने अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि बताकर सामाजिक शोषण का जो सिलसिला प्रारम्भ किया था उसे समाप्त करने के लिए जैन एवं बौद्ध परम्पराओं ने खुला विद्रोह किया। लेकिन जैन परम्परा का यह विद्रोह पूर्णतया अहिंसक था। जैन और बौद्ध आचार्यों ने अपने इस विरोध में सबसे महत्त्वपूर्ण काम यह किया कि अनेक प्रत्ययों को नई परिभाषाएँ दी गयीं। यहाँ जैन दर्शन के द्वारा प्रस्तुत ब्राह्मण, यज्ञ आदि की कुछ नई परिभाषाएँ दी जा रही हैं।

ब्राह्मण का नया अर्थ–जैन-परम्परा ने सदाचरण को ही मानवीय जीवन में उच्चता और निम्नता का प्रतिमान माना। अर्थात् सदाचरण को ही ब्राह्मणत्व का आधार बताया। उत्तराध्ययनसूत्र के पच्चीसवें अध्याय एवं धम्मपद के ब्राह्मण-वर्ग नामक अध्याय में सच्चा ब्राह्मण कौन है, इसका सविस्तार विवेचन उपलब्ध है। विस्तार भय से उसकी समग्र चर्चा में न जाकर केवल एक दो पद्यों को प्रस्तुत कर ही विराम लेंगे। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है कि जो जल में उत्पन्न हुए कमल के समान भोगों में उत्पन्न होते हुए भी भोगों में लिप्त नहीं रहता, वही सच्चा ब्राह्मण है। जो राग द्वेष और भय से मुक्त होकर अन्तर में विशुद्ध है, वही सच्चा ब्राह्मण है।[1] धम्मपद में भी कहा है कि जैसे कमलपत्र पर पानी होता है, जैसे आरे की नोक पर सरसों का दाना होता है वैसे ही जो कामों में लिप्त नहीं होता, जिसने अपने दुःखों के क्षय को यहीं पर देख लिया है, जिसने जन्म-मरण के भार को उतार दिया है, जो सर्वथा अनासक्त है, जो मेधावी है, स्थितप्रज्ञ है, जो सन्मार्ग तथा कुमार्ग को जानने में कुशल है और जो निर्वाण की उत्तम स्थिति को पहुँच चुका है–उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं ने ही ब्राह्मणत्व की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए भी ब्राह्मण की एक नई परिभाषा प्रस्तुत की जो कि श्रमणिक परम्परा के अनुकूल थी। न केवल जैन परम्परा एवं बौद्ध परम्परा में, वरन् महाभारत में भी ब्राह्मणत्व की यही परिभाषा है। जैन परम्परा के उत्तराध्ययनसूत्र, बौद्ध-परम्परा के धम्मपद और महाभारत के शान्तिपर्व में सच्चे ब्राह्मण के स्वरूप का जो विवरण मिलता है, वह न केवल वैचारिक साम्यता रखता है, वरन् उसमें शाब्दिक साम्यता भी बहुत अधिक है, जो कि तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

यज्ञ का नया अर्थ—जिस प्रकार समालोच्य आचार दर्शनों में ब्राह्मण की नई परिभाषा प्रस्तुत की गयी उसी प्रकार यज्ञ को भी एक नये अर्थ में पारिभाषित किया गया। महावीर ने न केवल हिंसक यज्ञों के विरोध में अपने मन्तव्य प्रस्तुत किया, वरन् उन्होंने यज्ञ की आध्यात्मिक एवं तपस्यापरक नई परिभाषा भी प्रस्तुत की है। उत्तराध्ययनसूत्र में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का सविस्तार विवेचन है। बताया गया है कि तप अग्नि है, जीवात्मा अग्निकुंड है, मन वचन और काया की प्रवृत्तियाँ ही कलछी (चम्मच) है और कर्मों (पापों) का नष्ट करना ही आहुति है, यही यज्ञ संयम से युक्त होने से शान्तिदायक और सुखकारक है। ऋषियों ने ऐसे ही यज्ञ की प्रशंसा की है।[3] न केवल जैन परम्परा में वरन् बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में भी यज्ञ-याग की बाह्य परम्परा का खण्डन

---

१. उत्तराध्ययन, २५।२७, २१। २. धम्मपद ४०१-४०३।

३. उत्तराध्ययन १२।४४।

प्रेरक का है। इस प्रकार उन्होंने नैतिक जीवन में आचरण के प्रेरक और आचरण के परिणाम दोनों पर ही बल दिया।

मानव मात्र की समानता का उद्घोष—उस युग की सामाजिक समस्याओं में वर्ण-व्यवस्था एक महत्त्वपूर्ण समस्या थी। वर्ण का आधार कर्म और स्वभाव को छोड़कर जन्म मान लिया गया था। परिणामस्वरूप वर्ण-व्यवस्था विकृत हो गयी थी और ऊँच-नीच का भेद हो गया था, जिसके कारण सामाजिक स्वास्थ्य विषमता के ज्वर से आक्रान्त था। जैन विचारधारा ने जन्मना जातिवाद का विरोध किया और समस्त मानवों की समानता का उद्घोष किया। एक ओर उसने हरिकेशी बल जैसे निम्न कुलोत्पन्न को तो दूसरी ओर गौतम जैसे ब्राह्मण कुलोत्पन्न साधकों को अपने साधना-मार्ग में समान रूप से दीक्षित किया। न केवल जातिगत विभेद वरन् आर्थिक विभेद भी साधना की दृष्टि से उसके सामने कोई मूल्य नहीं रखता। जहाँ एक ओर मगध सम्राट् तो दूसरी ओर पुणिया जैसे निर्धन श्रावक उसकी दृष्टि में समान थे। इस प्रकार उसने जातिगत आधार पर ऊँच-नीच का भेद अस्वीकार कर मानव मात्र की समानता पर बल दिया।

ईश्वरवाद से मुक्ति—उस युग की दूसरी समस्या यह थी कि मानवीय स्वतंत्रता का मूल्य लोगों की दृष्टि से कम आँका जाने लगा था। एक ओर ईश्वरवादी धारणाएँ तो दूसरी ओर कालवादी एवं नियतिवादी धारणाएँ मानवीय स्वतन्त्रता को अस्वीकार करने लगी थीं। जैन आचार-दर्शन ने इस कठिनाई को समझा और मानवीय स्वतंत्रता की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा की। उसने यह उद्घोष किया कि न तो ईश्वर और न अन्य शक्तियाँ मानव की निर्धारक हैं, वरन् मनुष्य स्वयं ही अपना निर्माता है। इस प्रकार उसने मनुष्य को ईश्वरवाद की उस धारणा से मुक्ति दिलाई जो मानवीय स्वतंत्रता का अपहरण कर रही थी और यह प्रतिपादित किया कि मानवीय स्वतन्त्रता में निष्ठा ही नैतिक-दर्शन का सच्चा आधार बन सकती है।

रूढ़िवाद से मुक्ति—जैन आचार-दर्शन ने रूढ़िवाद से भी मानव जाति को मुक्त किया। उसने उस युग को अनेक रूढ़ियों जैसे पशु-यज्ञ, श्राद्ध, पुरोहितवाद आदि से मानव-समाज को मुक्त करने का प्रयास किया था और इसलिए इन सबका खुला विरोध भी किया। ब्राह्मण-वर्ग ने अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि बताकर सामाजिक शोषण का जो सिलसिला प्रारम्भ किया था उसे समाप्त करने के लिए जैन एवं बौद्ध परम्पराओं ने खुला विद्रोह किया। लेकिन जैन परम्परा का यह विद्रोह पूर्णतया अहिंसक था। जैन और बौद्ध आचार्यों ने अपने इस विरोध में सबसे महत्त्वपूर्ण काम यह किया कि अनेक प्रत्ययों को नई परिभाषाएँ दी गयीं। यहाँ जैन दर्शन के द्वारा प्रस्तुत ब्राह्मण, यज्ञ आदि की कुछ नई परिभाषाएँ दी जा रही हैं।

ब्राह्मण का नया अर्थ—जैन-परम्परा ने सदाचरण को ही मानवीय जीवन में उच्चता और निम्नता का प्रतिमान माना। अर्थात् सदाचरण को ही ब्राह्मणत्व का आधार बताया। उत्तराध्ययनसूत्र के पच्चीसवें अध्याय एवं धम्मपद के ब्राह्मण-वर्ग नामक अध्याय में सच्चा ब्राह्मण कौन है, इसका सविस्तार विवेचन उपलब्ध है। विस्तार भय से उसकी समग्र चर्चा में न जाकर केवल एक दो पद्यों को प्रस्तुत कर ही विराम लेंगे। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है कि जो जल में उत्पन्न हुए कमल के समान भोगों में उत्पन्न होते हुए भी भोगों में लिप्त नहीं रहता, वही सच्चा ब्राह्मण है। जो राग द्वेष और भय से मुक्त होकर अन्तर में विशुद्ध है, वही सच्चा ब्राह्मण है।[1] धम्मपद में भी कहा है कि जैसे कमलपत्र पर पानी होता है, जैसे आरे की नोक पर सरसों का दाना होता है वैसे ही जो कामों में लिप्त नहीं होता, जिसने अपने दुःखों के क्षय को यहीं पर देख लिया है, जिसने जन्म-मरण के भार को उतार दिया है, जो सर्वथा अनासक्त है, जो मेधावी है, स्थितप्रज्ञ है, जो सन्मार्ग तथा कुमार्ग को जानने में कुशल है और जो निर्वाण की उत्तम स्थिति को पहुँच चुका है—उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं ने ही ब्राह्मणत्व की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए भी ब्राह्मण की एक नई परिभाषा प्रस्तुत की जो कि श्रमणिक परम्परा के अनुकूल थी। न केवल जैन परम्परा एवं बौद्ध परम्परा में, वरन् महाभारत में भी ब्राह्मणत्व की यही परिभाषा है। जैन परम्परा के उत्तराध्ययनसूत्र, बौद्ध-परम्परा के धम्मपद और महाभारत के शान्तिपर्व में सच्चे ब्राह्मण के स्वरूप का जो विवरण मिलता है, वह न केवल वैचारिक साम्यता रखता है, वरन् उसमें शाब्दिक साम्यता भी बहुत अधिक है, जो कि तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है।

यज्ञ का नया अर्थ—जिस प्रकार समालोच्य आचार दर्शनों में ब्राह्मण की नई परिभाषा प्रस्तुत की गयी उसी प्रकार यज्ञ को भी एक नये अर्थ में पारिभाषित किया गया। महावीर ने न केवल हिंसक यज्ञों के विरोध में अपने मन्तव्य प्रस्तुत किया, वरन् उन्होंने यज्ञ की आध्यात्मिक एवं तपस्यापरक नई परिभाषा भी प्रस्तुत की है। उत्तराध्ययनसूत्र में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का सविस्तार विवेचन है। बताया गया है कि तप अग्नि है, जीवात्मा अग्निकुंड है, मन वचन और काया की प्रवृत्तियाँ ही कलछी (चम्मच) है और कर्मों (पापों) का नष्ट करना ही आहुति है, यही यज्ञ संयम से युक्त होने से शान्तिदायक और सुखकारक है। ऋषियों ने ऐसे ही यज्ञ की प्रशंसा की है।[3] न केवल जैन परम्परा में वरन् बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में भी यज्ञ-याग की बाह्य परम्परा का खण्डन

१. उत्तराध्ययन, २५।२७, २१। २. धम्मपद ४०१-४०३।
३. उत्तराध्ययन १२।४४।

और उसके आध्यात्मिक स्वरूप का चित्रन उपलब्ध है। बुद्ध ने भी आध्यात्मिक यज्ञ के स्वरूप का चित्रण लगभग उसी रूप में किया है जिस रूप में उसका विवेचन उत्तराध्ययनसूत्र में किया गया है। अंगुत्तरनिकाय में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का वर्णन करते हुए बुद्ध कहते हैं कि हे ब्राह्मण, ये तीन अग्नियाँ त्याग करने, परिवर्जन करने के योग्य हैं, इनका सेवन नहीं करना चाहिए। वे कौन सी हैं ? कामाग्नि, द्वेषाग्नि और मोहाग्नि। जो मनुष्य कामाभिभूत होता है वह कायावाचा-मनसा कुकर्म करता है और उससे मरणोत्तर दुर्गति पाता है। इसी प्रकार द्वेष एवं मोह से अभिभूत भी काया-वाचा-मनसा कुकर्म करके दुर्गति को पाता है। इसलिए ये तीन अग्नियाँ त्याग करने और परिवर्तन के योग्य हैं, उनका सेवन नहीं करना चाहिए। हे ब्राह्मण, इन तीन अग्नियों का सत्कार करें, इहें सम्मान प्रदान करें इनकी पूजा और परिचर्या भलीभाँति सुख से करें ये अग्नियाँ कौन, सी हैं ? आह्वनीयाग्नि (आहुनेहय्यग्गि), गार्हपत्याग्नि (गहपत्तग्गि) और दक्षिणाग्नि। (दक्खिणाय्यग्नि)। मां-बाप को आह्वनीयाग्नि समझना चाहिए और सत्कार से उनकी पूजा करनी चाहिए। पत्नी और बच्चे, दास तथा कर्मकार को गार्हपत्याग्नि समझना चाहिए और आदरपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिए और श्रमण ब्राह्मणों को दक्षिणाग्नि समझना चाहिए और सत्कारपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिए। हे ब्राह्मण, यह लकड़ियों की अग्नि कभी जलानी पड़ती हैं, कभी उसकी उपेक्षा करनी पड़ती है और कभी उसे बुझाना पड़ता है।[1] इस प्रकार बुद्ध ने भी हिंसक यज्ञों के स्थान पर यज्ञ के आध्यात्मिक एवं सामाजिक स्वरूप को प्रकट किया। इतना ही नहीं, उन्होंने सच्चे यज्ञ का अर्थ सामाजिक जीवन से बेकारी का नाश करना बताया।[2] न केवल जैन एवं बौद्ध परम्परा में वरन् गीता में भी यज्ञ-याग की निन्दा की गयी और यज्ञ के सम्बन्ध में उसने भी सामाजिक एवं आध्यात्मिकदृष्टि से विवेचना की। सामाजिक सन्दर्भ में यज्ञ का अर्थ समाज-सेवा माना गया है। निष्कामभाव से समाज की सेवा करना गीता में यज्ञ का सामाजिक पहलू था, दूसरी ओर गीता में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का विवेचन भी किया गया है। गीताकार कहता है कि योगीजन संयमरूप अग्नि में श्रोत्रादि इन्द्रियों का हवन करते हैं या इन्द्रियों के विषयों का इन्द्रियों में हवन करते हैं। दूसरे कुछ साधक इन्द्रियों के सम्पूर्ण कर्मों को और शरीर के भीतर रहने वाला वायु जो प्राण कहलाता है उसके "संकुचित होने" "फैलने" आदि कर्मों को, ज्ञान से प्रकाशित हुई आत्मसंयमरूप योगाग्नि में हवन करते हैं। आत्मविषयक संयम का नाम आत्मसंयम है, वही यहाँ योगाग्नि है। घृतादि चिकनी वस्तुसे प्रज्वलित हुई अग्नि की भाँति विवेकविज्ञान से

१. अंगुत्तरनिकाय-सुत्तकनिपात-उद्धृत भगवान् बुद्ध, पृ० २६।
२. देखिए भगवान् बुद्ध २३६-२३९।

उज्ज्वलता को प्राप्त हुई (धारणा-ध्यान समाधि रूप) उस आत्म-संयम-योगाग्नि में (प्राण और इन्द्रियों के कर्मो को) विलीन कर देते हैं।[1] इस प्रकार जैन आचार-दर्शन में यज्ञ के जिस आध्यात्मिक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, उसका अनुमोदन बौद्ध परम्परा और गीता में भी है।

तत्कालीन अन्य नैतिकता सम्बन्धी विचारों के प्रति नया दृष्टिकोण–जैन विचारकों ने अन्य नैतिकता सम्बन्धी विचारों को भी नई दृष्टि प्रदान की। बाह्य शौच या स्नान जो कि उस समय धर्म और नैतिक जीवन का एक मुख्य रूप मान लिया गया था, को भी एक नया आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया गया। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि धर्म जलाशय है और ब्रह्मचर्य घाट (तीर्थ) है, उसमें स्नान करने से आत्मा शांत निर्मल और शुद्ध हो जाती है। इसी प्रकार बौद्ध-दर्शन में भी सच्चे स्नान का अर्थ मन, वाणी और काया से सद्गुणों का सम्पादन माना गया है।[2] न केवल जैन और बौद्ध परम्परा में वरन् वैदिक परम्परा में भी यह विचार प्रबल हो गया कि यथार्थ शुद्धि आत्मा के सद्गुणों के विकास में निहित है।

इसी प्रकार ब्राह्मणों को दी जाने वाली दक्षिणा के प्रति भी एक नई दृष्टि प्रदान की गई और यह बताया गया कि दान की अपेक्षा संयम ही श्रेष्ठ है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि प्रतिमास सहस्रों गायों का दान करने की अपेक्षा भी जो बाह्य रूप से दान नहीं करता, वरन् संयम का पालन करता है, उस व्यक्ति का संयम ही अधिक श्रेष्ठ है।[3] धम्मपद में भी कहा गया है कि एक तरफ मनुष्य यदि सौ वर्षों तक हजारों की दक्षिणा देकर प्रतिमास यज्ञ करता जाय और दूसरी तरफ यदि वह पुण्यात्मा की क्षण भर भी सेवा करे, तो यह सेवा कहीं उत्तम है, न कि सौ वर्षों तक किया हुआ यज्ञ।[4] इस प्रकार समालोच्य आचार-दर्शन ने तत्कालीन नैतिक मान्यताओं को एक नई दृष्टि प्रदान की और उन्हें आध्यात्मिक स्वरूप दिया। साथ ही नैतिकता का जो बहिर्मुखी दृष्टिकोण था उसे आध्यात्मिक संस्पर्श द्वारा अन्तर्मुखी बनाया। इससे उस युग के नैतिक चिन्तन में एक क्रांतिकारी परिवर्तन उपस्थित हुआ। उन्होंने केवल अपने युग की समस्याओं का समाधान ही प्रस्तुत नहीं किया, वरन् समालोच्य आचार-दर्शनों में वर्तमान युग की समस्याओं के समाधान की भी सामर्थ्य है। अतः यह विचार अपेक्षित है कि युगीन परिस्थितियों में समालोच्य आचार दर्शनों का और विशेष रूप से जैन दर्शन का क्या स्थान हो सकता है?

---

१. गीता ४।३३, २६-२८। २. उत्तराध्ययन १२।४६।
३. उत्तराध्ययन ९।४०। देखिए गीता (शां.) ४।२६-२७।
४. धम्मपद १०६।

समकालीन परिस्थितियों में जैन आचार दर्शन का मूल्यांकन

जैन आचार-दर्शन ने न केवल अपने युग की समस्याओं का समाधान किया है, वरन् वह वर्तमान युग की समस्याओं के समाधान में भी पूर्णतया सक्षम है। प्राचीन युग हो या वर्तमान युग, मानव-जीवन की समस्याएँ सभी युगों में लगभग समान रही हैं। समग्र समस्याएँ विषमता जनित ही हैं। **वस्तुतः विषमता ही समस्या है और समता ही समाधान है।** ये विषमताएँ अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती हैं। प्रमुख रूप से वर्तमान मानव जीवन की विषमताएँ चार हैं—१. सामाजिक वैषम्य, २. आर्थिक वैषम्य, ३. वैचारिक वैषम्य, ४. मानसिक वैषम्य। क्या जैन आचार-दर्शन इन विषमताओं का निराकरण कर समत्व की संस्थापना करने में समर्थ है? नीचे हम प्रत्येक प्रकार की विषमताओं के कारणों का विश्लेषण कर जैन दर्शन द्वारा प्रस्तुत उनके समाधानों पर विचार करेंगे।

१. सामाजिक विषमता—चेतन जगत् के अन्य प्राणियों के साथ जीवन जीना होता है। यह सामुदायिक जीवन है। सामुदायिक जीवन का आधार सम्बन्ध है और नैतिकता उन सम्बन्धों की शुद्धि का विज्ञान है। पारस्परिक सम्बन्ध निम्न प्रकार के हैं—१. व्यक्ति और परिवार, २. व्यक्ति और जाति, ३. व्यक्ति और समाज, ४. व्यक्ति और राष्ट्र और ५. व्यक्ति और विश्व। इन सम्बन्धों की विषमता के मूल में व्यक्ति की राग-भावना ही काम करती है। सामान्यतया राग द्वेष का सहगामी होता है। जब तक सम्बन्ध राग-द्वेष के आधार पर खड़ा होता है तब तक इन सम्बन्धों में विषमता स्वाभाविक रूप से उपस्थित रहती है। जब राग द्वेष का सहगामी होकर काम करने लगता है तो पारस्परिक सम्बन्धों में संघर्ष और टकराहट प्रारम्भ हो जाती है। राग के कारण 'मेरा' या ममत्व का भाव उत्पन्न होता है। मेरे संबंधी, मेरी जाति, मेरा धर्म, मेरा राष्ट्र ये विचार विकसित होते हैं। परिणामस्वरूप भाई-भतीजावाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद और राष्ट्रवाद का जन्म होता है। आज के हमारे सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों में ये ही तत्त्व सबसे अधिक बाधक हैं। ये मनुष्य को पारिवारिक, जातीय, साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर नहीं उठने देते हैं। यही आज की सामाजिक विषमता के मूलकारण हैं। अनैतिकता का मूल 'स्व' की संकुचित सीमा है। व्यक्ति जिसे अपना मानता है उसके हित की कामना करता है और जिसे पराया मानता है उसके हित की उपेक्षा करता है। सामाजिक जीवन में शोषण, क्रूर व्यवहार, घृणा आदि सभी उन्हीं के प्रति किये जाते हैं जिन्हें हम अपना नहीं मानते। यद्यपि यह बड़ा कठिन कार्य है कि हम अपनी रागात्मकता या ममत्व वृत्ति का पूर्णतया विसर्जन कर सकें। लेकिन यह भी उतना ही सत्य है कि उसका एक सीमा तक विसर्जन किये बिना अपेक्षित नैतिक जीवन का विकास नही हो सकता। व्यक्ति का 'स्व' चाहे वह व्यक्तिगत जीवन तक, पारिवारिक जीवन तक या राष्ट्र की सीमा तक विस्तृत

हो, स्वार्थ-भावना से ऊपर नहीं उठने देता। स्वार्थ-वृत्ति चाहे वह परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति, समान रूप से नैतिकता की विरोधी सिद्ध होती है। उसके होते हुए सच्चा नैतिक जीवन फलित नहीं हो सकता। मुनि नथमलजी लिखते हैं कि "परिवार के प्रति ममत्व का सघन रूप जैसे जाति या राष्ट्र के प्रति बरती जाने वाली अनैतिकता का नियमन नहीं करता वैसे ही जाति या राष्ट्र के प्रति ममत्व राष्ट्रों के प्रति बरती जाने वाली अनैतिकता का नियामक नहीं होता। लगता है कि राष्ट्रीय अनैतिकता की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय अनैतिकता कहीं अधिक है। जिन राष्ट्रों में व्यावहारिक सच्चाई है, प्रामाणिकता है, वे भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सत्य-निष्ठ और प्रामाणिक नहीं हैं।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्ति का जीवन जब तक राग या ममत्व से ऊपर नहीं उठता, तब तक नैतिकता का सद्भाव सम्भव ही नहीं होता। रागयुक्त नैतिकता चाहे उसका आधार राष्ट्र अथवा मानव जाति ही क्यों न हो, सच्चे अर्थों में नैतिकता नहीं है। सच्चा नैतिक जीवन वीतराग अवस्था में ही सम्भव है और जैन आचार-दर्शन इसी वीतराग जीवन दृष्टि को ही नैतिक साधना का आधार बनाता है। यही एक ऐसा आधार है जिस पर नैतिकता खड़ी की जा सकती है और सामाजिक जीवन के वैषम्यों को समाप्त किया जा सकता है।

दूसरे, इन सामाजिक सम्बन्धों में व्यक्ति का अहम्भाव भी बहुत महत्त्वपूर्ण रूप से कार्य करता है। शासन की इच्छा या आधिपत्य की भावना इसके प्रमुख तत्त्व हैं। इनके कारण भी सामाजिक जीवन में विषमता उत्पन्न होती है। शासक और शासित अथवा जातिभेद एवं रंगभेद आदि की श्रेष्ठता के मूल में यही कारण है। वर्तमान युग में बड़े राष्ट्रों में जो अपने प्रभावक क्षेत्र बनाने की प्रवृत्ति है उसके मूल में भी अपने राष्ट्रीय अहं की पुष्टि का प्रयत्न है। स्वतंत्रता के अपहार का प्रश्न इसी स्थिति में उठता है। जब व्यक्ति में आधिपत्य की वृत्ति या शासन की भावना होती है तो वह दूसरे के अधिकारों का हनन करता है। जैन आचार-दर्शन अहं के प्रत्यय के विगलन के द्वारा सामाजिक जीवन में परतंत्रता को समाप्त करता है। दूसरी ओर जैन-दर्शन का अहिंसा सिद्धान्त भी सभी प्राणियों के समान अधिकार को स्वीकार करता है। [अ]धिकारों का हनन एक प्रकार की हिंसा है। अतः अहिंसा का सिद्धान्त स्वतंत्रता के [स]ाथ जुड़ा हुआ है। जैन एवं बौद्ध आचारदर्शन इसी अहिंसा-सिद्धान्त के आधार पर [स्]वतंत्रता का समर्थन करते हैं।

यदि सामाजिक सम्बन्धों में उत्पन्न होने वाली विषमता के कारणों का विश्लेषण [कि]या जाय तो ज्ञात होगा कि उसके मूल में राग ही है। यही राग जब जीवन पर [के]न्द्रित होता है तो अपने और पराये के भेद उत्पन्न कर सामाजिक सम्बन्धों को

---

१. नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ० ३-४।

अशुद्ध बनाता है। दूसरी ओर यही राग जब स्व-केन्द्रित होता है तो अहं या मान का प्रत्यय उत्पन्न करता है, जिसके कारण सामाजिक जीवन में ऊँच-नीच भावनाओं का निर्माण होता है। इस प्रकार राग का तत्त्व ही मान के रूप में एक दूसरी दिशा ग्रहण कर लेता है जिससे सामाजिक विषमता उत्पन्न होती है। राग की वृत्ति ही संग्रह (लोभ) और कपट की भावनाओं को विकसित करती है। इस प्रकार सामाजिक विषमता के उत्पन्न होने के चार मूल-भूत कारण हैं—१. संग्रह, २. आवेश ३. गर्व (बड़ा मानना) और ४. माया (छिपाना) जिन्हें जैन परम्परा में चार कषाय कहते हैं। यही चारों कारण अलग-अलग रूप में सामाजिक जीवन में विषमता, संघर्ष एवं अशान्ति के कारण बनते हैं। १. संग्रह की मनोवृत्ति के कारण शोषण, अप्रामाणिकता, निरपेक्ष-व्यवहार, क्रूर—व्यवहार, विश्वासघात आदि विकसित होते हैं। २ आवेश की मनोवृत्ति के कारण संघर्ष, युद्ध, आक्रमण एवं हत्याएँ आदि होती हैं। ३. वर्ग की मनोवृत्ति के कारण घृणा, अमैत्रीपूर्ण व्यवहार और क्रूर व्यवहार होता है। इसी प्रकार माया की मनोवृत्ति के कारण अविश्वास एवं अमैत्रीपूर्ण व्यवहार उत्पन्न होता है।[1] जैन दर्शन इन्हीं कषायों के निरोध को नैतिक साधना का आधार बनाता है। अतः यह कहना उचित ही होगा कि जैन दर्शन साधना मार्ग के रूप में सामाजिक विषमताओं को समाप्त कर सामाजिक समत्व की स्थापना का प्रयत्न करता है।

२. **आर्थिक वैषम्य**—आर्थिक वैषम्य व्यक्ति और भौतिक जगत् के सम्बन्धों से उत्पन्न विषमता है। चेतना का जब भौतिक जगत् से सम्बन्ध होता है तो उसे अनेक वस्तुएँ अपने प्राणमय जीवन के लिए आवश्यक प्रतीत होती हैं। यही आवश्यकता जब आसक्ति में बदल जाती है तो एक ओर संग्रह होता जाता है, दूसरी ओर संग्रह की लालसा बढ़ती जाती है। इसी से सामाजिक जीवन में आर्थिक विषमता का बीज पड़ता है। एक ओर संग्रह बढ़ता है तो दूसरी ओर गरीबी बढ़ती है। परिणामस्वरूप आर्थिक विषमता बढ़ती जाती है।

आर्थिक वैषम्य के मूल में संग्रह-भावना ही अधिक है। यह कहा जाता है कि अभाव के कारण संग्रह की चाह उत्पन्न होती है, लेकिन वस्तुस्थिति कुछ और ही है। स्वाभाविक अभाव की पूर्ति सम्भव है और शायद विज्ञान हमें इस दिशा में सहयोग भी दे सकता है, लेकिन कृत्रिम अभाव की पूर्ति सम्भव नहीं। उपाध्याय अमरमुनिजी लिखते हैं, 'गरीबी स्वयं में कोई समस्या नहीं, किन्तु अमीरी ने उसे समस्या बना दिया है। गड्ढा स्वयं में कोई बहुत चीज नहीं, किन्तु पहाड़ों की असीम ऊँचाइयों ने इस धरती पर जगह-जगह गड्ढे पैदा कर दिये हैं। पहाड़ टूटेंगे, तो गड्ढे अपने आप भर-

१. देखिए—नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ० १

जायेंगे, सम्पत्ति का विसर्जन होगा, तो गरीबी अपने आप दूर हो जाएगी'।[1] वस्तुतः आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति में परिग्रह के विसर्जन की भावना उद्भूत हो। परिग्रह के विसर्जन से ही आर्थिक वैषम्य समाप्त हो सकता है। जब तक संग्रह की वृत्ति समाप्त नहीं होती, आर्थिक समानता नहीं आ सकती।

आर्थिक वैषम्य का निराकरण असंग्रह की वृत्ति से ही सम्भव है और जैन-दर्शन अपरिग्रह के सिद्धान्त के द्वारा इस आर्थिक वैषम्य के निराकरण का प्रयास करता है। जैन आचार-दर्शन में गृहस्थ-जीवन के लिए भी जिस परिग्रह के सीमांकन का विधान है, वह आर्थिक वैषम्य के निराकरण का एक प्रमुख साधन हो सकता है। आज हम जिस समाजवाद एवं साम्यवाद की चर्चा करते हैं, उसका दिशा-संकेत महावीर ने व्रत-व्यवस्था में किया था।

आर्थिक विषमता का निराकरण अनासक्ति और अपरिग्रह की साधना के द्वारा ही सम्भव है। यदि हम सामाजिक जीवन में आर्थिक समानता लाना चाहते हैं तो हमें व्यक्तिगत सम्पत्ति की सीमा निर्धारित करनी ही होगी। परिग्रह का विसर्जन ही आर्थिक जीवन में समत्व का सृजन कर सकता है। जैन दर्शन का अपरिग्रह सिद्धान्त इस सम्बन्ध में पर्याप्त सहायक है। वर्तमान युग में मार्क्स ने आर्थिक विषमता को दूर करने का जो सिद्धान्त साम्यवादी समाज की रचना के रूप में प्रस्तुत किया, वह यद्यपि आर्थिक विषमताओं के निराकरण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है, लेकिन उसकी मूलभूत कमी यह है कि वह मानव-समाज पर ऊपर से थोपा जाता है, उसके अन्तर से सहज उभारा नहीं जाता है। जिस प्रकार बाह्य दबावों से वास्तविक नैतिकता प्रकट नहीं होती, उसी प्रकार केवल कानून के बल पर लाया गया आर्थिक साम्य सच्चे आर्थिक समत्व का प्रकटन नहीं करता है। आवश्यक यह है कि मनुष्य में स्वतः ही त्यागवृत्ति का उदय हो और वह स्वेच्छा से सम्पत्ति-विसर्जन की दिशा में आगे बढ़े। भारतीय परम्परा और विशेषकर जैन परम्परा न केवल सम्पत्ति के विसर्जन की बात करती है, वरन् उसके समवितरण पर भी जोर देती है। हमारे प्राचीन साहित्य में दान के स्थान पर संविभाग शब्द का ही अधिक प्रयोग हुआ है। इससे स्पष्ट है कि जो कुछ हमारे पास है उसका समविभाजन आवश्यक है। महावीर का यह उद्घोष कि 'असंविभागी न हु तस्स मोक्खं' यह स्पष्ट बताता है कि जैन आचार-दर्शन आर्थिक विषमता के निराकरण के लिए समवितरण की धारणा को प्रतिपादित करता है। जैन-दर्शन के इन सिद्धान्तों को यदि उन्हें युगीन सन्दर्भों में नवीन दृष्टि से उपस्थित किया जाय तो समाज की आर्थिक समस्याओं का निराकरण खोजा जा सकता है।

---

१. जैन प्रकाश, ८ अप्रैल, १९६९, पृ० ११।

वर्तमान युग में समाज के आर्थिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार की जो बुराई पनप रही है, उसके मूल में भी या तो व्यक्ति की संग्रहेच्छा है या भोगेच्छा। भ्रष्टाचार केवल अभाव-जनित बीमारी नहीं है, वरन् वह एक मानसिक बीमारी है जिसके मूल में संग्रहेच्छा एवं भोगेच्छा के कीटाणु हैं। यह बीमारी आवश्यकताओं के कारण नहीं, वरन् तृष्णा से उत्पन्न होती है। आवश्यकताओं की पूर्ति पदार्थ उपलब्ध करके की जा सकती है, लेकिन तृष्णा का निराकरण पदार्थों के द्वारा सम्भव नहीं है। इसीलिए जैन-दर्शन ने अनासक्ति की वृत्ति को नैतिक जीवन में प्रमुख स्थान दिया है। तृष्णाजनित विकृतियाँ केवल अनासक्ति से ही दूर की जा सकती है। वर्तमान युग की प्रमुख कठिनाई यह नहीं है कि हमें जीने के साधन उपलब्ध नहीं है, अथवा उनका अभाव है। कठिनाई यह है कि आज का मानव तृष्णा से इतना अधिक ग्रसित है कि वह एक अच्छा सुखद एवं शान्तिपूर्ण जीवन जी नहीं सकता है। वासनाएँ ही अच्छा जीवन जीने में बाधक हैं।

३. **वैचारिक वैषम्य**—विभिन्न वाद और उनके कारण उत्पन्न वैचारिक विषमता सामाजिक जीवन का एक बड़ा अभिशाप है। वर्तमान युग में राष्ट्रों के संघर्ष के मूल में आर्थिक और राजनैतिक प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना कि वैचारिक साम्राज्यवाद की स्थापना। आज न तो राजनैतिक अधिकार-लिप्सा से उत्पन्न साम्राज्यवाद की भावना पाई जाती है और न आर्थिक साम्राज्यों की स्थापना का प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण है, वरन् बड़े राष्ट्र अपने वैचारिक साम्राज्यों की स्थापना के लिए प्रयत्नशील देखे जाते हैं। जैन आचार-दर्शन अनेकांतवाद और अनाग्रह के सिद्धान्त के आधार पर इस वैचारिक विषमता का निराकरण प्रस्तुत करता है। अनेकांत का सिद्धान्त वैचारिक आग्रह के विसर्जन की बात करता है और वैचारिक क्षेत्र में दूसरे के विचारों एवं अनुभूतियों को भी उतना ही महत्त्व देता है जितना कि स्वयं के विचारों एवं अनुभूतियों को।

उपर्युक्त तीनों प्रकार की विषमताएँ हमारे सामाजिक जीवन से संबंधित हैं। जैन आचार-दर्शन इन तीनों विषमताओं के निराकरण के लिए अपने आचार-दर्शन में तीन सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। सामाजिक विषमता के निराकरण के लिए उसने अहिंसा का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। आर्थिक विषमता के निराकरण के लिए वह अपरिग्रह का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार बौद्धिक एवं वैचारिक विषमता के निराकरण के लिए अनाग्रह और अनेकान्त के सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये। ये सभी नैतिकता के बाह्य एवं सामाजिक आधार हैं। नैतिकता का आन्तरिक आधार तो हमारा मनोजगत् ही है। जैन आचार-दर्शन मानसिक विषमता के निराकरण के लिए भी विशेष रूप से विचार करता है।

४. **मानसिक वैषम्य**—मानसिक विषमता मनोजगत् में तनाव की अवस्था की सूचक है। जैन आचार-दर्शन ने चतुर्विध कषायों को मनोजगत् के वैषम्य का मूल कारण माना

है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों आवेग या कषाय मानसिक समत्व को भंग करते हैं। यदि व्यक्तिमूलक विघटनकारी तत्त्वों का मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे विश्लेषण किया जाय तो उनके मूल में कहीं न कहीं जैन दर्शन में प्रस्तुत कषायों एवं नो-कषायों (आवेगों और उप-आवेगों) की उपस्थिति ही दिखाई देती है। जैन आचार-दर्शन कषाय-त्याग के रूप में मानसिक विषमता के निराकरण का सन्देश देता है। वह बताता है कि हम जैसे-जैसे इन कषायों के ऊपर विजय-लाभ करते हुए आगे बढ़ेंगे वैसे ही वैसे हमारे व्यक्तित्व की पूर्णता प्रकट होगी। जैन-दर्शन में साधकों की चार श्रेणियाँ मानी गयी हैं, वे इन पर क्रमिक विजय को प्रकट करती हैं। इनके प्रथम तीव्रतम रूप पर विजय पाने पर साधक में यथार्थ दृष्टिकोण का उद्भव होता है। द्वितीय मध्यम रूप पर विजय प्राप्त करने से साधक श्रावक या गृहस्थ उपासक की श्रेणी में आता है। तृतीय अल्प रूप पर विजय करने पर वह श्रमणत्व का लाभ करता है और उनके सम्पूर्ण विजय पर वह आत्मपूर्णता को प्रकट कर लेता है। कषायों की पूर्ण-समाप्ति पर एक पूर्ण व्यक्तित्व प्रकट होता है। इस प्रकार जैन आचार-दर्शन कषाय के रूप में हमारी मानसिक विषमताओं का कारण प्रस्तुत करता है और कषाय-जय के रूप में मानसिक समता के निर्माण की धारणा को स्थापित करता है।

मानव-मन की अशान्ति और दुःख के कारणों के मूल में मानसिक तनाव या मनोवेग ही हैं। मानव-मन की अशान्ति एवं उसके अधिकांश दुःख कषाय-जनित हैं। अतः शान्त और सुखी जीवन के लिए मानसिक तनावों एवं मनोवेगों से मुक्ति पाना आवश्यक है। क्रोधादि कषायों पर विजय प्राप्त करके ही हम शान्त मानसिक जीवन जी सकते हैं अतः मानसिक विषमता के निराकरण और मानसिक समता के सृजन के लिए हमें मनोवेगों से ऊपर उठना होगा। जैसे-जैसे हम मनोवेगों या कषाय-चतुष्क से ऊपर उठेंगे, वैसे-वैसे ही सच्ची शान्ति प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार जैन आचार-दर्शन जीवन से विषमताओं के निराकरण और समत्व स्थापना के लिए एक ऐसी आचार विधि प्रस्तुत करता है, जिसके सम्यक् परिपालन से सामाजिक और वैयक्तिक जीवन में सच्ची शान्ति और वास्तविक सुख प्राप्त किया जा सकता है।

वैषम्य-निराकरण के सूत्र—

विषमताएँ	विषमताओं के निराकरण के सिद्धान्त	निराकरण का परिणाम	पुरुषार्थ-चतुष्टय से सम्बन्ध
१. आर्थिक विषमता	अपरिग्रह (परिग्रह का परिसीमन)	साम्यवाद (सम-वितरण)	अर्थ पुरुषार्थ

२. सामाजिक विषमता	अहिंसा	शान्ति एवं अभय (युद्ध एवं संघर्ष का अभाव)	धर्म (नैतिकता) पुरुषार्थ
३. वैचारिक विषमता	अनाग्रह (अनेकांत)	वैचारिक समन्वय एवं समाधि	धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ का समन्वित रूप
४. मानसिक विषमता	अनासक्ति	आनन्द (वीतरागावस्था)	काम पुरुषार्थ मोक्ष पुरुषार्थ

इन सूत्रों के मूल्यों और उनके परिणामों का विस्तृत विवेचन पीछे किया जा चुका है। संक्षेप में समालोच्य आचार-दर्शन द्वारा प्रस्तुत विषमता निराकरण के सभी सूत्र सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवन में समत्व, शान्ति एवं सन्तुलन स्थापित कर व्यक्ति को दुःखों एवं विषमताओं से मुक्त करते हैं।

वर्तमान युग में नैतिकता की जीवन-दृष्टि—इन विषमताओं के कारणों एवं उनके निराकरण के सूत्रों के विश्लेषण के अन्त में यह पाते हैं कि इन सब के मूल में मानसिक विषमता है। मानसिक विषमता आसक्तिजन्य है, आसक्ति का ही दूसरा नाम है। वैयक्तिक जीवन में आसक्ति के एक रूप (जिसे दृष्टि राग कहा जाता है) से ही साम्प्रदायिकता, धर्मान्धता और विभिन्न राजनैतिक मतवादों एवं आर्थिक विचारणों का जन्म होता है, जो सामाजिक जीवन में वर्ग भेद एवं संघर्ष पैदा करते हैं। आसक्ति के दूसरे रूप संग्रहवृत्ति और विषयासक्ति से असमान वितरण और भोगवाद का जन्म होता है, जिसमें वैयक्तिक एवं सामाजिक विषमताओं और सामाजिक अस्वास्थ्य (रोग) के कीटाणु जन्म लेते हैं और उसी में पलते हैं।

वर्तमान युग के अनेक विचारकों ने आसक्ति के बदले अभाव को ही सारी विषमताओं का कारण माना और उसकी भौतिक पूर्ति के प्रयास को ही वैयक्तिक एवं सामाजिक विषमता के निराकरण का आवश्यक साधन माना, इसमें आंशिक सत्य है, फिर भी इसे नैतिक जीवन का अन्तिम सत्य नहीं माना जा सकता। मनुष्य केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बल पर नहीं जी सकता। ईसा ने ठीक ही कहा था कि केवल रोटी पर्याप्त नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह बिना रोटी के जी सकता है। रोटी के बिना तो नहीं जी सकता, लेकिन अकेली रोटी से भी नहीं जी सकता है। रोटी के बिना जीना असम्भव है और अकेली रोटी पर या रोटी के लिए जीना व्यर्थ है। जैसे पौधों के लिए जड़ें होती हैं, वैसे ही मनुष्य के लिए रोटी या भौतिक वस्तुएँ हैं। जड़ें स्वयं अपने लिए नहीं हैं, वे फूलों और फलों के लिए हैं। फूल और फल न आवें तो उनका होना निरर्थक है। यद्यपि फूल और फल उनके बिना नहीं आ सकते हैं, तब भी फूल और फल उनके लिए नहीं हैं। जीवन में निम्न आवश्यक हैं,

उच्च के लिए; लेकिन उच्च के होने में ही वह सार्थक है। मनुष्य को रोटी या भौतिक वस्तुओं की जरूरत है, ताकि वह जी सके और जीवन के सत्य और सौन्दर्य की भूख को भी तृप्त कर सके। रोटी, रोटी से भी बड़ी भूखों के लिए आवश्यक है। लेकिन यदि कोई बड़ी भूख नहीं है, तो रोटी व्यर्थ हो जाती है। रोटी, रोटी के ही लिए नहीं है। अपने आप में उसका कोई मूल्य और अर्थ नहीं है। उसका अर्थ हैं उसके अतिक्रमण में। कोई जीवन-मूल्य जो कि उसके पार निकल जाता है, उसमें ही उसका अर्थ है।[1]

वस्तुतः हमने भौतिक मूल्यों की पूर्ति को ही अन्तिम मानकर बहुत बड़ी गलती की है। भौतिक पूर्ति अन्तिम नहीं है, यदि वही अन्तिम होती तो आज मनुष्य में उच्च मूल्यों का विकास पहले की अपेक्षा अधिक होना चाहिए था, क्योंकि वर्तमान युग में हमारी भौतिक सुख-सुविधाएँ पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ी हैं, फिर भी उच्च मूल्यों का विकास उस परिमाण में नहीं हो पाया है। आर्थिक विकास और व्यवस्था होने पर भी आज का सम्पन्न मनुष्य उतना ही अर्थ-लोलुप है जितना पहले था। वैज्ञानिक विकास अपने चरम शिखर पर है, फिर भी आज का विज्ञानजीवी मनुष्य उतना ही आक्रामक है, जितना पहले था। शिक्षा का स्तर बहुत ऊँचा होने पर भी आज का शिक्षित मनुष्य उतना ही स्वार्थी है, जितना पहले था। आर्थिक, वैज्ञानिक और शैक्षणिक विकास ने मनुष्य के व्यवहार को बदला है, पर उसी को बदला है, जो उनसे सम्बन्धित है। मनुष्य में ऐसी अनेक मूल प्रवृत्तियाँ हैं, जिन्हें ये नहीं बदल सकते हैं। क्रोध, अभिमान, कपट, लोभ, भय, शोक, घृणा, काम-वासना, कलह ये मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ हैं। आर्थिक अभाव तथा अज्ञान के कारण जो सामाजिक दोष उत्पन्न होते हैं, वे आर्थिक और शैक्षणिक विकास से मिट जाते हैं किन्तु मूल प्रवृत्तियों से उत्पन्न दोष उनसे नहीं मिटते। मूल प्रवृत्तियों का नियन्त्रण या शोधन आध्यात्मिकता से ही हो सकता है, इस लिए समाज में उसका अस्तित्व अनिवार्य है।[2]

जो विचारक यह मानते हैं कि आधुनिक विज्ञान की सहायता से मनुष्य की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति कर दी जायेगी और इस प्रकार इस संसार में एक स्वर्ग का अवतरण हो सकेगा, वे वस्तुतः भ्रान्ति में हैं। वस्तुतः मनुष्य के लिए जिस आनन्द और शान्तिमय जीवन की अपेक्षा है, वह मात्र भोगों की पूर्ति में विकसित नहीं हो सकता जिन्हें सन्तुष्टि के अल्प साधन उपलब्ध हैं, वे अधिक आनन्दित हैं, अपेक्षाकृत उनके जो भौतिक सुख सुविधाओं की विपुलता के बावजूद उतने आनन्दित नहीं हैं।[3] आज अमेरिका भौतिक सुख-सुविधाओं की दृष्टि से सम्पन्न है, पर उसके नागरिक मानसिक तनावों से सर्वाधिक पीड़ित हैं। आज का मानव जिस भयावह एवं तनावपूर्ण स्थिति

---

१. नये संकेत, पृ० ५७। २. नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ० २५।
३. दी कान्सेप्ट आफ मारल्स, पृ० १४३।

में हैं, उसका कारण साधनों का अभाव नहीं है, वरन् उनके उपयोग की योग्यता एवं मनोवृत्ति है। यह ठीक है कि वैज्ञानिक उपलब्धियाँ मनुष्य को सुख और सुविधाएँ प्रदान कर सकती हैं, लेकिन यह इसी बात पर निर्भर है कि मनुष्य की जीवन-दृष्टि क्या है। विज्ञान में मानव को जहाँ एक ओर सुखी और सम्पन्न करने की क्षमता है, वहीं दूसरी ओर वह उसका विनाश भी कर सकता है। यह तो उसके उपयोग करनेवालों पर निर्भर है कि वे उसका कैसा उपयोग करते हैं और यह बात उनकी जीवन दृष्टि पर ही आधारित होगी। विज्ञान आध्यात्मिक एवं उच्च मानवीय मूल्यों से समन्वित होकर ही मनुष्य का कल्याण साध सकता है, अन्यथा वह उसका संहारक ही सिद्ध होगा। अतः आवश्यकता यह है कि मनुष्य में आध्यात्मिक जीवन दृष्टि एवं उच्च मूल्यों के प्रति निष्ठा जाग्रत की जाय।

आज यह धारणा बल पकड़ रही है कि नैतिक एवं उच्च मूल्यों के प्रति निष्ठा रखने-वाला मनुष्य सुख-सुविधा की दृष्टि से घाटे में रहता है, इसीलिए नैतिकता एवं आध्यात्मिक जीवन के प्रति मनुष्य में सहज आकर्षण नहीं है। जीवन की आवश्यकताएँ जितनी अधिक होती हैं, उतनी ही सामाजिक उन्नति होती है, इस मान्यता ने समाज में भोग की स्पर्धा खड़ी कर दी है। अब कोई भी व्यक्ति इस दौड़ में पीछे रहना नहीं चाहता। हम भ्रष्टाचार करनेवाले को दोष देते हैं, पर कितना आश्चर्य है कि भ्रष्टा-चार की प्रेरणा जहाँ से फूटती है, उस ओर हमारा ध्यान नहीं जाता। नैतिक मूल्यों की पुनः प्रतिस्थापना के लिए आवश्यक है कि जीवन की आवश्यकताओं को कम करने, सादा-सरल जीवन बिताने एवं त्याग व निःस्वार्थवृत्ति को राष्ट्रीय संस्कृति का अभिन्न अंग माना जाये। समाज की एक मान्यता थी—चाहे जितने कष्ट आ जाएँ, पर सत्य और प्रामाणिकता अखण्ड रहनी चाहिए। इस मान्यता ने सच्चे और प्रामाणिक लोगों की सृष्टि की। आज समाज की मान्यता में परिवर्तन हुआ है। जन-मानस बड़ी तेजी से ऐसा बनता जा रहा है कि सत्य और प्रामाणिकता खंडित हों तो भले हों, सुख-सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। इस मान्यता ने सत्य और प्रामाणिकता का मूल्य कम कर दिया है।[1] यदि हम नैतिक मूल्यों के ह्रास को रोकना चाहते हैं, तो हमें भौतिक मूल्यों के साथ-साथ आध्यात्मिक मूल्यों को भी स्वीकार करना होगा और एक ऐसी जीवन-दृष्टि का निर्माण करना होगा जो मनुष्य में उच्च मूल्यों के विकास के साथ ही मानव जाति को भय, संघर्ष, तनाव और अप्रामाणिकता से मुक्त कर सके। इन सब के मूल में मानसिक विषमता के रूप में आसक्ति ही मूल कारण है, अतः वैयक्तिक एवं सामाजिक विषमताओं को पूर्णतया समाप्त करने के लिए जिस जीवन-दृष्टि की आवश्य-कता है वह है अनासक्त जीवन दृष्टि।

---

१. नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ० ६,१३–१४।

अनासक्त जीवन-दृष्टि का निर्माण

जैसा कि हमने देखा, जैन बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का अन्तिम नैतिक सिद्धान्त यदि कोई है तो वह अनासक्त जीवन दृष्टि का निर्माण है। जैन दर्शन में राग के प्रहाण का, बौद्ध दर्शन में तृष्णा-क्षय का और गीता में आसक्ति के नाश का जो उपदेश है, उसका लक्ष्य है अनासक्त जीवन-दृष्टि का निर्माण। जैन आचार-दर्शन के समग्र नैतिक विधि-निषेध राग के प्रहाण के लिए हैं, बौद्ध दर्शन के सभी उपदेशों का अन्तिम हार्द है तृष्णा का क्षय और गीता में कृष्ण के उपदेश का सार है फलासक्ति का त्याग। इस प्रकार तीनों आचारदर्शनों का सार एवं उनकी अन्तिम फलश्रुति है, अनासक्त जीवन जीने की कला का विकास। यही समग्र नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन का सार है और यही नैतिक पूर्णता की अवस्था है।

●

सहायक ग्रन्थ सूची

अभिधान राजेन्द्र कोश (सात खण्ड)	श्री विजय राजेन्द्र सूरिजी,—रतलाम
अनुयोगद्वारसूत्र	आगमोदय समिति, वीर सं० २४५०
अन्ययोगव्यवच्छेदिका (स्याद्वाद मञ्जरी)	हेमचन्द्र
अथर्ववेद	संस्कृति संस्थान, बरेली, १९६२
अंगुत्तरनिकाय, (तीन भाग)	अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन्, महाबोधि सभा, कलकत्ता
अष्टपाहुड	कुन्दकुन्दाचार्य—देहली से प्रकाशित
अभिधम्मत्थसंगहो	आचार्य अनुरुद्ध, अनु० भदन्त आनन्द कौशल्यायन्, बुद्ध विहार, लखनऊ–१९६०
अष्टसहस्री	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९१५
अरस्तू	शिवानन्द शर्मा, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश–१९६०
अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म	नलिनाक्ष दत्त, ओरियन्टल बुक एजेन्सी, कलकत्ता–१९६०
अत्रिस्मृति	संस्कृति संस्थान, बरेली (२० स्मृतियाँ) १९६६
अध्यात्मयोग और चित्त विकलन	वेंकटेश्वर शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना–१९५७
आचारांगसूत्र	आगमोदय समिति, सूरत
आचारांगसूत्र, दो भाग	आचार्य आत्माराम जी जैन, आगम प्रकाशन समिति, लुधियाना–१९६३
आचारांग (हिन्दी)	स्था० जैन कान्फरेन्स, बम्बई–१९३८
आचारांगसूत्र (संतवाल-गुजराती अनुवाद)	महावीर साहित्य प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, सं० १९९२
आचारांगनिर्युक्ति	भद्रबाहु, रतलाम–सं० १९४१
आचारांगचूर्णि	जिणदासगणी-रतलाम सं० १९४१
आवश्यकनिर्युक्ति	भद्रबाहु, आगमोदय समिति, वीर निर्वाण सं० २४५४
आवश्यकटीका	मलयगिरी, आगमोदय समिति, वीर निर्वाण सं० २४५४

आत्मसिद्धिशास्त्र	श्रीमद् राजचन्द्र, निर्णय सागर प्रेस में मुद्रित सं० १९६४
आत्मानुशासन	गुणभद्राचार्य, अजिताश्रम, लखनऊ(१९२८ई०)
अध्यात्मतत्वालोक	मुनि न्यायविजयजी, श्री हेमचन्द्राचार्य जैन सभा (पाटण), १९४३ ई०
आत्मसाधना-संग्रह	मोतीलाल माण्डोत सैलाना (म० प्र०) सं० २०१९
आउटलाइन्स आफ इण्डियन फिलासफी	एच० हिरियन्ना जार्ज एलन एण्ड अनविन, लन्दन १९५१ ई०एवं १९५७ ई०
आगमयुग का जैन-दर्शन	पं० दलसुख मालवणिया, सन्मति ज्ञानपीठ आगरा (१९६६ ई०)
आउटलाइन्स आफ झूलाजी	थामसन
आभास और सत्	एफ०एच० ब्रेडले अनुदित, डा०फतहसिंह-हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश—१९६४ ई०
आस्पेक्ट्स आफ महायान बुद्धिज्म एण्ड इटस् रिलेशन टू हीनयान	नलिनाक्ष दत्त
आई बिइंग क्रियेटिव	इरविंग बबिट, हाउटन मिफलिन कम्पनी बोस्टन १९३२
आत्ममीमांसा	पं० दलसुख मालवणिया, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, बनारस १९५३
इण्डियन फिलासफी (राधाकृष्णन) भाग १ एवं २	जार्ज एलन एण्ड अनविन, लन्दन
इसिभासियम् (ऋषिभाषित)	सूरत १९२७
इष्टोपदेश	पूज्यपाद बम्बई १९५४
इतिवुत्तक	धर्मरक्षित महाबोधि सभा सारनाथ बुद्धाब्द २४९९
ईशावास्योपनिषद्	गीता प्रेस गोरखपुर सं० २०१७
इण्यिन थाट्स एण्ड इट्स डेव्हलपमेन्ट	श्वेट्ज़र, Adam & Charles Black 4, 5 & 6 Soho Squore, London W-1, १९५१
इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स	जेम्स हैस्टिंग टी० एण्ड टी० क्लार्क, एडिनबर्ग
इण्डिविज्वलिज्म	डब्ल्यू० फिटे, लागमेन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी

	कम्पनी, न्यूयार्क १९२४
उत्तराध्ययन सूत्र	सम्पादक–रतलाल डोशी, श्रमणोपासक जैन पुस्तकालय सैलाना वीर सं० २४७८
उत्तराध्ययनसूत्रचूर्णि	जिणदासगणी रतलाम १९३३ ई०
उदान	अनु०जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा सारनाथ
उपासकदशांगसूत्र	अनुवादक–आत्मारामजी म० सा० लुधियाना १९६४ ई०
उपासकदशांगवृति	अभयदेव
उपदेशसहस्री	शंकराचार्य, भार्गव पुस्तकालय वाराणसी १९५४ ई०
ए हिस्ट्री आफ फिलासफी	फ्रेंकथिली, सेन्ट्रल बुक डिपो इलाहाबाद १९६५ ई०
एथिकल स्टडीज	ब्रेडले आक्सफोर्ड १९२७ ई० तथा १९६२ ई०
ए क्रिटीकल सर्वे आफ इण्डियन फिलासफी	सी० डी० शर्मा, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस
एथिक्स फार टूडे	हेराल्ड एच० टाइटस, यूरेशिया पब्लिशिंग हाउस न्यू देहली १९६६
ए कम्परेटिव स्टडी आफ दि कान्सेन्ट आफ लिबरेशन इन इण्डियन फिलासफी	डा० अशोक कुमार लाड, गिरधारीलाल केशवदास बरहानपुर (म०प्र०)
एन इन्ट्रोडक्टरी स्टडी आफ एथिक्स	डब्ल्यू० फिटे, लांगमेन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी न्यूयार्क १९०६
एथिकल फिलासफीज आफ इण्डिया	आइ० सी० शर्मा, जार्ज एलन एण्ड अनविन लन्दन १९६५
ऋग्वेद	संस्कृति संस्थान बरेली–१९६२
ओघनिर्युक्ति	भद्रबाहु स्वामी, आगमोदय समिति, सं १९२७
कठोपनिषद्	
कठोपनिषद् शांकर भाष्य	गीता प्रेस, गोरखपुर–सं २०१७
कर्मग्रन्थ (कर्मविपाक)	देवेन्द्र सूरी, श्री आत्मानंद–जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, २४४४
कर्म प्रकृति	शिवशर्माचार्य, श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वीर सं० २४४३
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	स्वामी कार्तिकेय, टीका शुभचन्द्र, सम्पादक

	ए० एन० उपाध्ये, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास १९६० ई०
केनोपनिषद्	संस्कृति संस्थान, बरेली (१०८ उपनिषदें)
कौटलीय अर्थशास्त्र	गुप्ता प्रेस, मुजफ्फरपुर–सं० २०१०
कासमोलाजी ओल्ड एण्ड न्यू	जी० आर० जैन, जे० एल० जैनी ट्रस्ट, इन्दौर–१९४२ ई०
कान्टस् सिलेक्शन	माडर्न स्टूडेन्ट लायब्रेरी
कन्टेम्परर्रि एथिकल थ्योरीज	थामस इंग्लिश हिल, मेकमिलन कंपनी, न्यूयार्क–१९६०
खुद्दक पाठ	धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ
श्रीमद्भगवदगीता	गीता प्रेस, गोरखपुर
गीता (शांकर भाष्य)	गीता प्रेस, गोरखपुर–सं० २०१८
गीता (रामानुज भाष्य)	गीता प्रेस, गोरखपुर–सं० २००८
गोम्मटसार	आचार्य नेमिचन्द्र, श्री परस श्रुत प्रभावक
गोम्मटसार	श्रीमद् राजचन्द्र जैन, शास्त्रमाला आगास सं० २०१६
श्रीमद्भगवदगीतारहस्य	तिलक बाल गंगाधर, तिलक मंदिर, पूना १९६२ ई०
गीता	डब्ल्यू० डी० पी० हिल आक्सफोर्ड-१९५३ ई०
गणधरवाद	जिनभद्र, सम्पादक-पं० दलसुखभाई मालवणिया, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद–१९५२ ई०
गौतम बुद्ध	आदन्द के०कुमार स्वामी एवं आई० बी० हानर सूचना प्रकाशन विभाग, देहली
ग्रेट ट्रेडीशन्स इन इथिक्स	अल्बर्ट यूरेशिया, पब्लिशिंग, न्यू देहली
चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा	सर्वानन्द पाठक, चौखम्बा, वाराणसी
चूलनिद्देस पालि	भिक्षु जगदीश, नव नालंदा संस्करण
चर्पटपंजरिकास्तोत्र	शंकराचार्य, देखिए–स्तोत्र रत्नावली, गीता प्रेस २०२२
छान्दोग्योपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर
जाबालोपनिषद्	संस्कृति संस्थान बरेली, देखिए–१०८ उपनिषदें
जातिभेद और बुद्ध	भिक्षुधर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ
जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि	राधाकृष्णन्, अनु० कृष्णचन्द्र, राजकमल प्रकाशन, देहली–१९६२ ई०

जीवन साहित्य, द्वितीय भाग	काका कालेलकर
जैन धर्म	मुनि सुशीलकुमार, श्री अ० भा० श्वे० स्थानकवासी, जैन कान्फरेन्स, देहली
जैन दर्शन	मोहनलाल मेहता, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा १९५९ ई०
जैन साइकोलाजी	मोहनलाल मेहता, सोहनलाल, जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर
जैन धर्म का प्राण	पं० सुखलाल जी, सस्ता साहित्य मण्डल, देहली
जैनागमों में अष्टांग योग	आत्माराम जी म० सा०, मुन्शीराम सोमनाथ फिरोजपुर, वि० सं० २०००
जैन आचार	मोहनलाल मेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस १९६६ ई०
जैन एथिक्स	दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास-१९६८
जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग १–८	अगरचन्द भैरोदान सेठिया, बीकानेर
जैन थ्योरीज आफ रीयलिटी एण्ड नालेज	व्हाय० जी० पद्मराजे, जैन साहित्य, विकास मण्डल, बम्बई–१९६३
डेटा आफ एथिक्स	स्पेन्सर
डेव्हलपमेन्ट आफ मारल फिलासफी इन इण्डिया	सुश्री सूर्मादास गुप्ता, Orient Longmans, Bombay, 1961
तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति)	सन्मति ज्ञानपीठ आगरा
तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि टीका	पूज्यपाद, शोलापुर, शक सं० १८३९
तत्त्वार्थसूत्र राजवार्तिक टीका	अकलंक, कलकत्ता, १९२९ ई०
तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो	मुनि नथमल, भारतीय ज्ञानपीठ-१९६४ ई०
तट दो प्रवाह एक	मुनि नथमल, आदर्श साहित्य संघ, चुरू १९६७ ई०
तैत्तरीयोपनिषद्	संस्कृति संस्थान, बरेली, १०८ उपनिषदें
तेजोबिन्दूपनिषद्	संस्कृति संस्थान, बरेली, १०८ उपनिषदें
थ्री लेक्चरस् आन वेदान्त फिलासफी	मैक्समूलर, लांगमन्स ग्रीन एण्ड को लन्दन १९११ ई०
थेरगाथा	भिक्षुधर्मरत्न, महाबोधि सभा सारनाथ १९५५ ई०
दशवैकालिक	(संस्कृत छाया सहित) मुनि हस्तीमल जी, मोतीलाल बालमुकुन्द मुथा

	ए० एन० उपाध्ये, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास १९६० ई०
केनोपनिषद्	संस्कृति संस्थान, बरेली (१०८ उपनिषदें)
कौटलीय अर्थशास्त्र	गुप्ता प्रेस, मुजफ्फरपुर—सं० २०१०
कासमोलाजी ओल्ड एण्ड न्यू	जी० आर० जैन, जे० एल० जैनी ट्रस्ट, इन्दौर—१९४२ ई०
कान्टस् सिलेक्शन	माडर्न स्टूडेन्ट लायब्रेरी
कन्टेम्परिर एथिकल थ्योरीज	थामस इंग्लिश हिल, मेकमिलन कंपनी, न्यूयार्क—१९६०
खुद्दक पाठ	धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ
श्रीमद्भगवदगीता	गीता प्रेस, गोरखपुर
गीता (शांकर भाष्य)	गीता प्रेस, गोरखपुर—सं० २०१८
गीता (रामानुज भाष्य)	गीता प्रेस, गोरखपुर—सं० २००८
गोम्मटसार	आचार्य नेमिचन्द्र, श्री परम श्रुत प्रभावक
गोम्मटसार	श्रीमद् राजचन्द्र जैन, शास्त्रमाला आगास सं० २०१६
श्रीमद्भगवदगीतारहस्य	तिलक बाल गंगाधर, तिलक मंदिर, पूना १९६२ ई०
गीता	डब्ल्यू० डी० पी० हिल आक्सफोर्ड-१९५३ ई०
गणधरवाद	जिनभद्र, सम्पादक-पं० दलसुखभाई मालवणिया, गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद—१९५२ ई०
गौतम बुद्ध	आदन्द के०कुमार स्वामी एवं आई० बी० हानर सूचना प्रकाशन विभाग, देहली
ग्रेट ट्रेडीशन्स इन इथिक्स	अल्बर्ट यूरेशिया, पब्लिशिंग, न्यू देहली
चार्वाक दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा	सर्वानन्द पाठक, चौखम्बा, वाराणसी
चूलनिद्देस पालि	भिक्षु जगदीश, नव नालंदा संस्करण
चर्पटपंजरिकास्तोत्र	शंकराचार्य, देखिए—स्तोत्र रत्नावली, गीता प्रेस २०२२
छान्दोग्योपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर
जाबालोपनिषद्	संस्कृति संस्थान बरेली, देखिए—१०८ उपनिषदें
जातिभेद और बुद्ध	भिक्षुधर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ
जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि	राधाकृष्णन्, अनु० कृष्णचन्द्र, राजकमल प्रकाशन, देहली—१९६२ ई०

जीवन साहित्य, द्वितीय भाग	काका कालेलकर
जैन धर्म	मुनि सुशीलकुमार, श्री अ० भा० श्वे० स्थानकवासी, जैन कान्फरेन्स, देहली
जैन दर्शन	मोहनलाल मेहता, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा १९५९ ई०
जैन साइकोलाजी	मोहनलाल मेहता, सोहनलाल, जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर
जैन धर्म का प्राण	पं० सुखलाल जी, सस्ता साहित्य मण्डल, देहली
जैनागमों में अष्टांग योग	आत्माराम जी म० सा०, मुन्शीराम सोमनाथ फिरोजपुर, वि० सं० २०००
जैन आचार	मोहनलालमेहता, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस १९६६ ई०
जैन एथिक्स	दयानन्द भार्गव, मोतीलाल बनारसीदास-१९६८
जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग १-८	अगरचन्द भैरोदान सेठिया, बीकानेर
जैन थ्योरीज आफ रीयलिटी एण्ड नालेज	व्हाय० जी० पद्मराजे, जैन साहित्य, विकास मण्डल, बम्बई-१९६३
डेटा आफ एथिक्स	स्पेन्सर
डेव्हलपमेन्ट आफ मारल फिलासफी इन इण्डिया	सुश्री सूर्मादास गुप्ता, Orient Longmans, Bombay, 1961
तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति)	सन्मति ज्ञानपीठ आगरा
तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि टीका	पूज्यपाद, शोलापुर, शक सं० १८३९
तत्त्वार्थसूत्र राजवार्तिक टीका	अकलंक, कलकत्ता, १९२९ ई०
तुम अनन्त शक्ति के स्रोत हो	मुनि नथमल, भारतीय ज्ञानपीठ-१९६४ ई०
तट दो प्रवाह एक	मुनि नथमल, आदर्श साहित्य संघ, चुरू १९६७ ई०
तैत्तरीयोपनिषद्	संस्कृति संस्थान, बरेली, १०८ उपनिषदें
तेजोबिन्दूपनिषद्	संस्कृति संस्थान, बरेली, १०८ उपनिषदें
थ्री लेक्चरस् आन वेदान्त फिलासफी	मैक्समूलर, लांगमन्स ग्रीन एण्ड को लन्दन १९११ ई०
थेरगाथा	भिक्षुधर्मरत्न, महाबोधि सभा सारनाथ १९५५ई०
दशवैकालिक	(संस्कृत छाया सहित) मुनि हस्तीमल जी, मोतीलाल बालमुकुन्द मुथा

दशवैकालिक	(हिन्दी अनुवाद) स्था० जैन कान्फरेन्स बम्बई
दशवैकालिकनिर्युक्ति	बम्बई सं० १९९३ ई०
दर्शन पाहुड	कुन्दकुन्द, देखिए–अष्ट पाहुड
दर्शन और चिन्तन	पं० सुखलालजी, गुजरात विद्यासभा अहमदाबाद १९५७ ई०
दर्शन दिग्दर्शन	राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद १९४७ ई०
द्रव्य संग्रह	नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, देहली १९५६ ई०
दि थ्योरी आफ गुड एण्ड इविल	एच० एस० रशडाल, आक्सफोर्ड १९०७ ई०
दि नेचर आफ सेल्फ	ए० सी० मुकर्जी, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद
दीघनिकाय	सं०–भिक्षु जगदीश काश्यप, नवनालन्दामहाविहार
दि क्वेस्ट आफटर परफेक्शन	प्रो० एम० हरियन्ना, Kavyalaya Publishers, Mysore, 1952
दि भगवद्गीता एण्ड चैंजिग वर्ल्ड	नागराजराव
दि बुद्धिस्ट फिलासफी आफ युनिवर्सल फलक्स	एस० मुकर्जी, University of Calcutta, 1935
दि एथिक्स आफ हिन्दूज	एस० के० मैत्र, कलकत्ता युनिवरसिटी प्रेस १९२५ ई०
दि इलेमेन्ट्स आफ एथिक्स	म्यूरहेड, लन्दन १९१०
धम्मपद	अनुवादक–राहुलजी, बुद्ध विहार, लखनऊ
धम्मपद	संस्कृत अनुवाद–हिन्दी अर्थ सहित इन्द्र देहली
धर्म व्याख्या	जवाहरलालजी महाराज, हितेच्छुक श्रावक मण्डल, रतलाम
धर्म दर्शन	शुक्लचन्द्र जी महाराज, काशीराम स्मृति ग्रन्थमाला देहली १९५५
धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग	पाण्डुरंग वामन काणे, अनु० अर्जुन चौबे काश्यप, हिन्दी समिति सूचना विभाग उ० प्र०
नयचक्र	देवसेन सूरि
नयवाद	मुनि फूलचंद जी श्रमण, सन्मति, ज्ञानपीठ आगरा १९५८
नये संकेत	आचार्य रजनीश, जीवन जागृति केन्द्र, बम्बई १९६७

नन्दिसूत्र	मुनि हस्तीमल जी द्वारा सम्पादित, जैन आगम ग्रंथमाला
नन्दिसूत्र (मूलपाठ)	धर्मदास जैन मित्र मण्डल, रतलाम सं० २००५
निशीथचूर्णि	जिणदास गणी, सन्मति ज्ञानपीठ आगरा सन् १९५७
निशीथचूर्णि एक अध्ययन	पं०दलसुख मालवणिया, सन्मति ज्ञानपीठ आगरा
नियमसार	कुन्दकुन्द, अनु० अगरसेन, अजिताश्रम लखनऊ १९६३
नवपदार्थ ज्ञानसार	पुष्फभिक्खु, अमरचन्द नाहर, कलकत्ता १९३७ ई०
निर्ग्रन्थ प्रवचन	संग्राहक एवं अनुवादक—मुनि चौथमल जी म० सा०, जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति रतलाम वीर सं २४६४
नीतिशतक	भर्तहरि व्यंकटेश्वर प्रेस, बम्बई १९१४ ई०
नीतिप्रवेशिका	मैकेन्जी (हिन्दी अनुवाद) राजकमल प्रकाशन देहली
नीतिशास्त्र की रूपरेखा	डा० रामनाथ शर्मा, रामनाथ केदारनाथ मेरठ
नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण	मुनि नथमल, आदर्श साहित्य संघ चुरू १९६७
नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण	संगमलाल पाण्डे, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद १९६२
नीतिशास्त्र	जे० एन० सिन्हा, जय प्रकाशनाथ, मेरठ १९६४ ई०
नीतिशास्त्र का परिचय	वी० जी० तिवारी, पुस्तक भवन आगरा १९६३ ई०
नीतिशास्त्र का परिचय	डा० श्रीचन्द, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल आगरा १९६८
नीति की ओर	मनसुख, पूर्वोदय प्रकाशन दरियागंज देहली १९५५
नैतिक जीवन के सिद्धान्त	जान ड्यूई, आत्माराम एण्ड सन्स देहली १९६३
नैषधीय चरित्र	निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९५२

परमसखा मृत्यु — काका कालेलकर, सस्ता साहित्य मण्डल नई देहली १९६६
प्रवचनसार — कुन्दकुन्दाचार्य, परमश्रुत प्रभावक मन्डल, बम्बई, १९३५ ई०
प्रवचनसारोद्धार — नेनिचन्द्र सूरी, श्री देवचन्द लालचन्द पुस्तकोद्धार फंड बम्बई, वी० सं० २४४८
प्रज्ञापना सूत्र — सम्पादक आचार्य अमोलखऋषिजी, लाला ज्वाला प्रसाद हैदराबाद
पंचास्तिकायसार — कुन्दकुन्दाचार्य, बम्बई वि० सं० १९७२
प्रश्नव्याकरणसूत्र — सम्पादक–मुनि हस्तिमल जी, हस्तीमल सुराणा पाली १९५० ई०
प्रतिक्रमण सूत्र सार्थ — तिलोक रत्न परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी
प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार — राधाकृष्णन्, राज्यपाल एण्ड सन्स देहली १९६७ ई०
पश्चिमी आचार विज्ञान का आलोचनात्मक अध्ययन — ईश्वरचन्द शर्मा, राज्यपाल एण्ड सन्स देहली १९६१ ई०
पुरुषार्थसिद्धयुपाय — अमृतचन्द्र, सेन्ट्रल जैन पब्लिक हाउस लखनऊ १९३३ ई०
प्रमाणनयतत्त्वालोक — वादिदेव सूरी, आत्मजागृति कार्यालय, ब्यावर
पाराशर स्मृति — संस्कृति संस्थान बरेली (देखिए २० स्मृतियां)
पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म — धर्मानन्द कौसम्बी, हिन्दी रत्नाकर ग्रन्थालय बम्बई
पंचतंत्र — भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्सटीट्यूट पूना १९३८ ई०
पश्चिमी दर्शन — दीवानचन्द्र, सूचना विभाग उ०प्र० १९५७ ई०
पश्चिमी दर्शन — जे० एन० सिन्हा, जय प्रकाशनाथ एण्ड को० मेरठ १९६० ई०
फण्डामेन्टल्स आफ एथिक्स — अरबन
फाइव टाइप्स आफ एथिकल थ्योरीज — सी० डी० ब्राड
फर्स्ट प्रिंसीपल्स — हर्बर्ट स्पेन्सर, छठा संस्करण वाट्स एण्ड को०, लन्दन
बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन दो भाग — भरतसिंह उपाध्याय, बंगाल हिन्दी मण्डल सं० २०११

बौद्धधर्मदर्शन — आचार्य नरेन्द्र देव, विहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना
बौद्धदर्शन मीमांसा — बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा वाराणसी १९५४
बृहद्कल्पभाष्य — सम्पादित पुण्यविजय जी आत्मानंद जैन सभा भावनगर, १९३३
बृहद्कल्पनिर्युक्ति — सम्पादित पुण्यविजय जी आत्मानंद जैनसभा भावनगर, १९३३
बृहदारण्यक उपनिषद् — गीता प्रेस २०१४
ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य — गोविन्द मठ टेढ़ी नीम वाराणसी प्रथम संस्करण २०२२
ब्रह्मबिन्दूपनिषद् — संस्कृति संस्थान बरेली (देखिए १०८, उपनिषद्)
बुद्धिज्म इट्स कनेक्शन विथ ब्राह्मणिज्म एण्ड हिन्दूज्म — मोनियर विलीयम्स चौखम्बा वाराणसी १९६४ ई०
बाइबल (धर्मशास्त्र) — भारत लंका बाइबल समिति, बंगलोर
भारतीय नीतिशास्त्र का इतिहास — भीखनलाल आत्रेय, हिन्दी समिति सूचना विभाग उत्तर प्रदेश १९६४
भगवद्गीता — राधाकृष्णन्, अनुवाद विराज, एम० ए०, राज्यपाल एण्ड सन्स देहली १९६२ ई०
भगवान् बुद्ध — धर्मानन्द कौसम्बी, राजकमल प्रकाशन देहली १९५६
भारतीय दर्शन भाग १ — राधाकृष्णन् राज्यपाल एण्ड सन्स देहली १९६६
भारतीय दर्शन की रूपरेखा — एम० हरियन्ना, राजकमल प्रकाशन देहली, १९६५.
भारतीय दर्शन — सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं धीरेन्द्रमोहन दत्त पुस्तक भण्डार पटना, १९६१
भाव पाहुड — आचार्य कुन्दकुन्द (देखिए—अष्टपाहुड)
भावना शतक — शतावधानी मुनि रत्नचन्द्र जी, वृन्दावनदास दयाल कोर्ट बाजार गेट, बम्बई, वीर सं० २४४७
भगवती आराधना — शिवकोट्याचार्य, सखाराम नेमिचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर १९३५

मज्झिमनिकाय	भिक्षु जगदीश काश्यप, नव नालंदा महाविहार संस्करण
मज्झिमनिकाय (हिन्दी)	महाबोधि सभा सारनाथ
मनुस्मृति	पुस्तक मन्दिर मथुरा, २०१५
महाभारत	गीता प्रेस, गोरखपुर
महानारायणोपनिषद्	संस्कृति संस्थान, बरेली (१०८ उपनिषदें)
माध्यमिकारिका	पुसें द्वारा सम्पादित
मीमांसा दर्शन	जैमिनी, बनारस, १९२९ ई०
मोक्ख पाहुड	कुन्दकुन्दाचार्य (देखिए–अष्टपाहुड)
मुण्डकोपनिषद्	गीता प्रेस गोरखपुर सं० २०१६
मूलाचार	वट्टकेराचार्य, जैन मन्दिर शक्कर बाजार, इन्दौर की पत्राकार प्रति
महायान	भदन्त शान्तिभिक्षु, विश्व भारतीय ग्रन्थालय, कलकत्ता
मनोविज्ञान	उडवर्थ एण्ड मार्क्विस; दि अपर इण्डिया पब्लिशिंग हाउस लखनऊ
मैत्राण्युपनिषद्	संस्कृति संस्थान बरेली, (१०८ उपनिषदें)
महानिद्देसपालि	सम्पादक–भिक्षु जगदीश काश्यप, नव नालन्दा महाविहार संस्करण
मारल फिलासफी	डब्ल्यू० फिटे, दि डियल प्रेस, न्यूयार्क, १९२५
मिलिन्द प्रश्न	मोतीलाल बनारसीदास, देहली, १९६५ ई०
योगशास्त्र	हेमचन्द्र, सम्पादक–मुनि समदर्शी, सन्मति ज्ञानपीठ आगरा १९६३
योगशास्त्र	स्वोपज्ञवृत्तिसहित, हेमचन्द्र, श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर, २४५२
योगवासिष्ठ	निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९१८
योगसूत्र	देखिए–पातंजल योग प्रदीप, गीता प्रेस सं० २०१८
योगबिन्दु	जैन ग्रंथ प्रकाशक सभा, अहमदाबाद, १९४०
यजुर्वेद	संस्कृति संस्थान, बरेली
यशस्तिलक चम्पू	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९०१
	समन्तभद्र, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२६

लंकावतार सूत्र	
लैंग्वेज लाजिक एण्ड ट्रुथ	ए० जे० अयर, डोवर पब्लिकेशन १९३६
लैंग्वेज आफ मारल्स	आर० एम० हेयर, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस १९५२
वसुनन्दि श्रावकाचार	संपादन हीरालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी १९५२
व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र)	संपादक—पं० वेचरदास दोशी, श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, १९७४ ई०
विशेषावश्यक भाष्य	श्री जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण टीका हेमचन्द, हर्ष-चन्द्र, भूराभाई, बनारस २४४१
विशुद्धिमार्ग दो भाग (हिन्दी)	आचार्य बुद्धघोष, अनुवादक—भिक्षु धर्मरक्षित महाबोधिसभा, बनारस १९५६-५७
विसुद्धिमग्ग	धर्मानन्द कौसम्बी द्वारा संपादित, भारतीय विद्या भवन, बम्बई
व्यवहार भाष्य	श्री भद्रबाहु स्वामी, केशवलाल प्रेमचन्द्र, अहमदाबाद
वैशेषिक सूत्र	कणाद, इलाहाबाद १९२३ ई०
विवेक चूडामणि	आचार्य शंकर, गीता प्रेस गोरखपुर, सं. २०२०
विनयपिटक	मोतीलाल बनारसीदास, देहली
विदुरनीति	चौखम्बा वाराणसी, १९४१
वैराइटीज आफ रिलीजियस एक्सपीरियन्सेस	जेम्स, लांगमन्स ग्रीन एण्ड को०, लन्दन १९३५
विज़डम इन कन्डक्ट	सी० बी० गरनेट, हारकोर्ट ब्रेस एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क, १९४०
शंकराचार्य का आचार दर्शन	रामानन्द तिवारी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००६
श्वेताश्वेतरोपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१६
श्वेताश्वेतरोपनिषद् भाष्य	गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१६
शंकरस् ब्रह्मवाद	आर० एस० नवलखा, किताब घर, कानपुर १९६४
शास्त्रवार्तासमुच्चय	हरिभद्रसूरि, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद-९, १९६८ई०
शुक्रनीति	चौखम्बा, वाराणसी, १९६८ ई०

स्थानांग सूत्र	टीका अभयदेवसूरी, आगमोदय समिति
स्थानांग सूत्र टीका	टीका अभयदेव सूरी, आगमोदय समिति
समयसार	कुन्दकुन्द, अंग्रेजी अनुवाद अजिताश्रम लखनऊ
समयसार	कुन्दकुन्द, अहिंसा प्रकाशन मन्दिर, दरियागंज, देहली १९५९
समयसार टीका	अमृतचन्द्र, अहिंसा प्रकाशन मन्दिर,दरियागंज, देहली १९५९
समवायांग	संपादक—मुनि कन्हैयालाल कमल, आगम अनुयोग प्रकाशन, १९६६
सूत्रकृतांग सूत्र	स्था० जैन कान्फरेन्स, बम्बई, १९३८
सूत्रकृतांग टीका	शीलंकाचार्य,आगमोदय समिति,वीर सं.२४४२
सर्वदर्शन संग्रह	माध्वाचार्य, चौखम्बा, वाराणसी, १९६४
समाज और संस्कृति	अमर मुनि, सन्मति ज्ञानपीठ आगरा, १९६६
सन्मतितर्क प्रकरण	आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर, अमदाबाद वि० सं० १९८०
सर्वोदय दर्शन	दादाधर्माधिकारी, सर्व सेवा संघ प्रकाशन १९५७
सामायिक सूत्र	अमरमुनिजी की व्याख्या सहित, सन्मति ज्ञान-पीठ आगरा १९५६
संयुत्तनिकाय	नवनालन्दा महाविहार
संयुत्तनिकाय (हिन्दी)	अनु० जगदीश काश्यप एवं धर्मरक्षित महा-बोधिसभा, सन् १९५४
सुत्तनिपात	अनु० भिक्षु धर्मरत्न, महोबोधिसभा, बनारस, १९५० ई०
सागारधर्मामृत	पं० आशाधर, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थ-माला, सन् १९१७
समकालीन दार्शनिक चिन्तन	डा० हृदयनारायण मिश्र, किताबघर, कानपुर, १९६६
सांख्यकारिका	साहित्य निकेतन, कानपुर, १९५०
सेन्ट्रल फिलासफी आफ बुद्धिज्म	टी० आर० व्ही० मूर्ति, जार्ज एलन एण्ड अनविन १९५५
स्पीनोजा नीति	अनु० दीवानचन्द, हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश
स्पीनोजा और उसका दर्शन	माधव चिंगले, स्वाध्याय मण्डल, औंध सं० २००२

सहायक ग्रन्थ सूची

स्पीनोजा इन दी लाइट आफ वेदान्त	डॉ० आर० के० त्रिपाठी बी०एच०यू० १९५७
स्टडीज इन जैन फिलासफी	नथमल टाँटिया, जैन कल्चरल सोसाइटी, बनारस १९५१
सइकालोजी एण्ड मारल्स	जे० ए० हैडफील्ड १९३६
समदर्शी आचार्य हरिभद्र	व्याख्याता पं० सुखलालजी, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान १९६३
सामायिक पाठ	अमितगति, देहली १९६६
सम प्राब्लम्स इन जैन साइकोलाजी	डा० कलघाटगी, कर्नाटक यूनिवर्सिटी धारवाड़ १९६१
सौन्दरानन्द	अश्वघोष, सम्पादक सूर्यनारायण चौधरी, कठौतिया
श्रमणसूत्र	(अमरमुनि जी की व्याख्या सहित) सन्मति ज्ञानपीठ आगरा १९६६
श्रावक कर्त्तव्य	मुनि सुमत कुमार, काशीराम ग्रन्थमाला अम्बाला सं० २०२२
श्रावक धर्म	महासती उज्जवल कुमारी सन्मति ज्ञानपीठ आगरा १९५४
श्री तिलोक शताब्दि अभिनन्दन ग्रन्थ	रत्न जैन पुस्तकालय, पाथर्डी १९६१
श्री मद्भागवत महापुराण	गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २००६
षट्दर्शनसमुच्चय	टीका सहित, चौखम्बा, वाराणसी
त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र	हेमचन्द्राचार्य, जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर
ज्ञानसागर	यशोविजय जी भावनगर वि० सं० १९६९
हितोपदेश	चौखम्बा, वाराणसी १९५४
हिन्दू एथिक्स	मेकन्जी, लन्दन १९२२
हिन्दुओं का जीवन दर्शन	राधाकृष्णन्
हिस्ट्री आफ जैन मोनोशिज्म	एस०बी० देव, कस्तूरभाई लालभाई अहमदाबाद

पत्र-पत्रिकाएँ

श्री अमर भारती	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
जैन सत्य प्रकाश	महावीर निर्वाण विशेषांक १९६३, श्री जैन धर्म सत्य प्रकाशक समिति, अहमदाबाद
नई दुनिया दैनिक	इन्दौर

श्रमणोपासक	रागड़ी मोहल्ला, बीकानेर
दि फिलासफीकल क्वार्टरली	दि इन्डियन इन्स्टीट्यूट आफ फिलासफी अमलनेर (पूर्व खानदेश)
जिनवाणी (सामायिक अंक)	जिनवाणी कार्यालय, लाल भवन चौड़ा रास्ता, जयपुर
जैन प्रकाश	१२ लेडी हार्डिग रोड, नई देहली
संकलन	
सुभाषित संग्रह	
प्राकृत सूक्ति सरोज	विनयमुनि धर्मदास मित्रमण्डल, रतलाम सं० १९९६
सूक्ति संग्रह	अगरचन्द भैरोदास सेठिया, बीकानेर
सूक्ति त्रिवेणी	श्री अमरमुनि सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, १९६७
अमोल सूक्ति रत्नाकर	मुनि कल्याण ऋषि अमोल ज्ञानालय, धुलिया

डॉ० सागरमल जैन का जन्म सन् १९३२ में शाजापुर में हुआ। १८ वर्ष की अवस्था में ही आप व्यावसायिक कार्य में संलग्न होगये। व्यवसाय के साथ-साथ आपका अध्ययन भी कुछ व्यवधानों के साथ चलता रहा। आपने व्यापार विशारद, जैन सिद्धान्त विशारद, साहित्यरत्न और एम० ए० की उपाधियाँ प्राप्त की। एम० ए० (दर्शन) में आपने वरीयता सूची में प्रथम स्थान प्राप्त किया और कला संकाय में द्वितीय स्थान प्राप्त कर रजत पदक प्राप्त किया। उसके पश्चात् अध्ययन की रुचि को निरन्तर जागृत बनाये रखने हेतु व्यवसाय से पूर्ण निवृत्ति लेकर शासकीय सेवा में प्रवेश किया और रीवां, ग्वालियर और इन्दौर के महाविद्यालयों में दर्शनशास्त्र के अध्यापक तथा हमीदिया महाविद्यालय भोपाल में दर्शन विभाग के अध्यक्ष रहे। सम्प्रति आप पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी के निदेशक; अ० भा० जैन विद्वत् परिषद् के उपाध्यक्ष, अ० भा० दर्शन परिषद् के कोषाध्यक्ष एवं 'दार्शनिक' तथा 'श्रमण' के क्रमशः प्रबन्ध-सम्पादक एवं सम्पादक हैं। विद्या के क्षेत्र में भी आपकी प्रतिभा को सदैव सम्मान मिला है। आप अनेक विश्वविद्यालयों में अध्ययन-परिषद्, कलासंकाय एवं विद्यापरिषद् के सदस्य रहे हैं।

आपने जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शन पर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की है। आपके ६ ग्रन्थ एवं ७० उच्चस्तरीय लेख प्रकाशित हो चुके हैं। साथ ही आपने अनेक ग्रन्थों का कुशल सम्पादन भी किया है।